स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचनावली

3

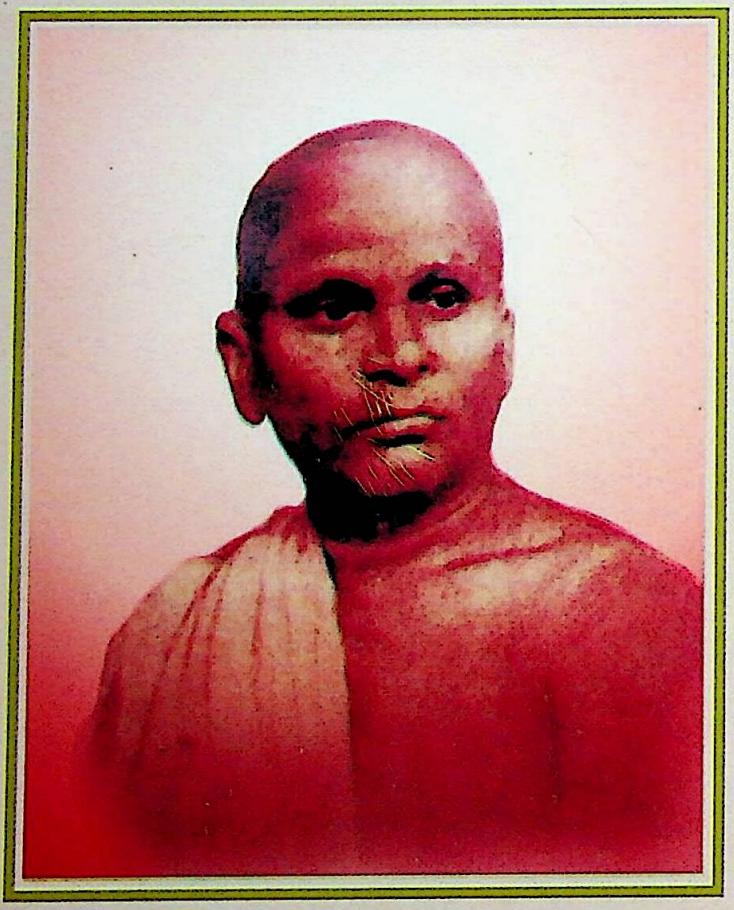

सम्पादक

राघव शरण शर्मा

स्वामी सहजानन्द सरस्वती प्रथम वर्ग आधारित, संगठित, अखिल भारतीय किसान के संस्थापक थे। ये उग्र किसान संघर्ष के सिद्धान्तकार भी थे, सूत्रकार भी थे और संघर्षकार भी थे। इनके स्वराज्य का असली मतलब किसान–मजदूर राज्य था। इन्होंने सामन्त विरोधी संघर्ष चलाकर राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम को नयी भाषा, नया आवेग, नया तेवर और धारदार अग्रगति प्रदान किया। सुभाष चन्द्र बोस के साथ मिलकर समझौताविहीन साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष चलाया। इन्होंने राष्ट्रीय नेताओं द्वारा चाहा गया औपनिवेशिक स्वराज्य की मंजिल की जगह भगतसिंह के पूर्ण स्वराज्य के दावे को अपनी किसान रजनीति का पाथ फाइन्डर माना। इनके उग्र किसान संघर्षों में राहुल सांकृत्यायन, रामवृक्ष बेनीपुरी, दिनकर, महाश्वेता देवी, भीष्म साहनी, प्रभाकर माचवे,अज्ञेय, मुल्कराज आनन्द, पं. पद्म सिंह शर्मा, चन्दद्रेव शर्मा, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, नागार्जुन जैसे समर्थ साहित्यकार सक्रिय भाग लिये और योगेन्द्र शुक्ला, बैकुण्ठ शुक्ला, किशोरी प्रसन्न सिंह, सियाराम सिंह, केशव प्रसाद शर्मा, सूरजनारायण सिंह, नक्षत्रमालाकार, झारखण्डे राय अम्बिका सिंह, धनराज शर्मा, शीलभद्रयाजी, के.एन. शांडिल्य जैसे राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी, शरीक हुए। इन्होंने कर्म और ज्ञान के बीच मार्क्स और वेदान्त के बीच पुल बनाकर उनकी दूरी को अपने क्रियात्मक व्यवहार से पाट दिया और इस तरह वेदान्त को सक्रिय और मार्क्स को ग्राह्य बनाकर नये अन्दाज में झोंपड़ी–झोंपडी जाकर उसे अमली जामा दिया। यही विलक्षण्ता उन्हें भारतीय परिवेश में अतुलनीय बना देती है।

7·3

स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचनावली-3

स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचनावली

3

सम्पादक

राघव शरण शर्मा

प्रकाशन संस्थान

नयी दिल्ली-110002

प्रकाशक
प्रकाशन संस्थान
4268-B/3, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

मूल्य : 5600.00 रुपये (छह खंड)
प्रथम संस्करण : सन् 2003
द्वितीय संस्करण : सन् 2010
ISBN : 81-7714-097-3
आवरण : जगमोहन सिंह रावत

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032
मुद्रक : बी.के. ऑफसेट, दिल्ली-110032

अनुक्रम

गीता-हृदय

गीता-सप्तश्लोकी
प्रारम्भिक शब्द

पहला : अन्तरंग भाग

1. गीता के मुख्य मन्तव्य / 7
कर्त्तव्याकर्त्तव्य के प्रश्न
अध्यात्मवाद और भौतिकवाद
गीता का समन्वय
श्रद्धा, दिल और दिमाग़
कर्म के भेद
यज्ञार्थ कर्म
ईश्वरार्पण और मदर्थ कर्म
कर्तव्य कर्म
स्वभाव के प्रभाव
महात्मा और दुरात्मा
संन्यास और लोक-संग्रह
आरुरुक्ष और आरूढ़
पूजा के भेद
गीता का योग
संन्यास और त्याग
आत्मा का स्वरूप
सांख्य और योग में अन्तर
व्यवसायात्मक बुद्धि

2. गीता धर्म और मार्क्सवाद / 56
1. गीता धर्म / 56
कर्म का पचड़ा

श्रद्धा का स्थान
धर्म व्यक्तिगत वस्तु है
धर्म स्वभावसिद्ध है
स्वाभाविक क्या है ?
2. मार्क्सवाद और धर्म / 67
द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और धर्म
भौतिक द्वन्द्ववाद
धर्म, सरकार और पार्टी
दृष्ट और अदृष्ट
अर्जुन की मानवीय कमजोरियाँ
स्वधर्म और स्वकर्म
योग और मार्क्सवाद
3. गीता की शेष बातें / 100
गीता में ईश्वर
ईश्वर हृदयग्राह्य
हृदय की शक्ति
आस्तिक-नास्तिक का भेद
दैव तथा आसुर सम्पत्ति
समाज का कल्याण
कर्म और धर्म
गीता का साम्यवाद
नकाब और नकाबपोश
रस का त्याग
मस्ती और नशा
ज्ञानी और पागल
पुराने समाज की झाँकी
तब और अब
यज्ञचक्र
अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ
अन्य मतवाद
अपना पक्ष
4. कर्मवाद और अवतारवाद / 156
ईश्वरवाद
कर्मवाद

कर्मों के भेद और उनके काम
अवतारवाद
5. गुणवाद और अद्वैतवाद / 172
परमाणुवाद और आरंभवाद
गुणवाद और विकासवाद
गुण और प्रधान
तीनों गुणों की जरूरत
सृष्टि और प्रलय
सृष्टि का क्रम
अद्वैतवाद
स्वप्न और मिथ्यात्ववाद
अनिर्वचनीयतावाद
प्रातिभासिक सत्ता
मायावाद
अनादिता का सिद्धान्त
निर्विकार में विकार
गीता, न्याय और परमाणुवाद
वेदान्त, सांख्य और गीता
गीता में मायावाद
ब्रह्मज्ञान और लोकसंग्रह
असीम प्रेम का मार्ग
प्रेम और अद्वैतवाद
ज्ञान और अनन्य भक्ति
सर्वत्र हमीं हम और लोकसंग्रह
6. 'अपर्याप्तं तदस्माकम्' / 204
7. 'जायते वर्णसंकरः' / 210
8. 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' / 218
9. 'सर्व धर्मान्परित्यज्य' / 224
10. शेष बातें / 233
उत्तरायण और दक्षिणायन
गीता की अध्याय-संगति
योग और योगशास्त्र
सिद्धि और संसिद्धि
गीता में पुनरुक्ति

गीता की शैली पौराणिक
गीतोपदेश ऐतिहासिक
गीता धर्म का निष्कर्ष

दूसरा : गीता भाग

पूर्वापर सम्बन्ध / 255
प्रवेशिका / 256
पहला अध्याय / 263
दूसरा अध्याय / 271
तीसरा अध्याय / 335
चौथा अध्याय / 365
पाँचवाँ अध्याय / 396
छठा अध्याय / 409
सातवाँ अध्याय / 429
आठवाँ अध्याय / 444
नौवाँ अध्याय / 455
दसवाँ अध्याय / 474
ग्यारहवाँ अध्याय / 491
बारहवाँ अध्याय / 505
तेरहवाँ अध्याय / 517
चौदहवाँ अध्याय / 532
पन्द्रहवाँ अध्याय / 540
सोलहवाँ अध्याय / 551
सत्रहवाँ अध्याय / 560
अठारहवाँ अध्याय / 572

परिशिष्ट-I

ईश्वर की सत्ता / 619
मानव सेवा ही असली वेदान्त / 627
श्रीमद्भावगत में श्रीकृष्ण-चरित्र / 631
शक्ति का सच्चा स्वरूप और उसका विकास / 640
गीता का योग / 647

परिशिष्ट-II

पूर्वमीमांसा दर्शन / 655

गीता-हृदय

गीता-सप्तश्लोकी

प्राचीन लोगों ने अपने-अपने खयाल के अनुसार गीता के सात श्लोकों को चुनकर एक या कई सप्तश्लोकियाँ मानी हैं। वैसा ही प्रचार भी हुआ है। गीता-हृदय लिखने के समय इस बार भी ध्यान दिया गया है। फ़लतः 'हृदय' ने जिसे सप्तश्लोकी स्वीकार किया है वह कुछ दूसरी ही है। उसका स्वरूप यह है :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।2।47।।

योगस्थः कुरुकर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।2।48।।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।3।17।।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।6।3।।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।17।3।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं कुरुतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।18।9।।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अह त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।18।66।।

प्रारम्भिक शब्द

गीता के साथ मेरा सम्बन्ध प्रायः चालीस साल से है, जब मैं दस-ग्यारह वर्ष का बच्चा था। उपनयन और यज्ञोपवीत संस्कार के बाद ही मेरे दिल में अन्यान्य धार्मिक आचारों के साथ गीता को भी जाने कैसे स्थान मिल गया! आज इस मधुर स्मृति के फलस्वरूप आश्चर्य होता है कि सचमुच यह बात क्यों हो पाई जो आज तक कायम ही नहीं है, किन्तु उसने सूद भी काफी कमाया है। इन चालीस से ज्यादा वर्षों ने गीता के साथ मेरी जो तन्मयता और अभिन्नता कायम कर दी है वह मेरे जीवन की एक खास चीज है। धार्मिक और राजनीतिक मामलों में मैं इस दरम्यान कहाँ से कहाँ जा पहुँचा! इनके सम्बन्ध में मेरे भीतर ऐसी क्रान्ति हो गयी कि आज अपने को बिलकुल ही निराली दुनिया में पाता हूँ! फिर भी गीता और गीताधर्म अपनी जगह पर ज्यों-के-त्यों हैं—अविचल हैं, अटल हैं। बल्कि वह तो और भी बद्धमूल हो गये हैं!

बेशक, गीता के साथ मेरा पहला सम्बन्ध केवल धार्मिक था—धार्मिक उसी मानी में जिसमें इस शब्द का आमतौर से व्यवहार किया जाता है और अब भी तो वह सम्बन्ध धार्मिक ही है। फर्क इतना ही है कि पहले का 'केवल' हट गया है। या यों कहिये कि धर्म का रूप बहुत व्यापक बन गया है। इसे व्यापक तो और लोग भी कहते और मानते हैं। मगर मेरे सम्बन्ध में इसकी व्यापकता कुछ निराली है और गीता-हृदय की पंक्तियाँ इसे साफ बताती हैं। सारांश यह कि गीता के सार्वभौम धर्म ने मेरे धर्म को भी अपना लिया है और उसे भी सार्वभौम बना डाला है। यही तो मेरे वेदान्त का असली अद्वैतवाद है। एक समय था, जब मैं गीता में संकुचित मुक्ति का मार्ग देखता था, निष्क्रिय वेदान्तवाद और अध्यात्मवाद की झाँकी पाता था। परन्तु आज ये सभी चीजें व्यापक और सार्वभौम हो गयी हैं, पूर्ण सक्रिय हो गयी हैं। एक वक्त था—और वह आज से प्रायः छः साल पहले तक था—जब मैं मानता था कि मेरे जैसे गीता-प्रेमी के लिए मार्क्सवाद में स्थान नहीं है और यह कि गीताधर्म का मार्क्सवाद के साथ मेल नहीं है—विरोध है! मगर आज? आज तो वह खयाल सपने की चीज हो गयी है और **मैं न सिर्फ यही मानता हूँ कि गीताधर्म**

का मार्क्सवाद के साथ विरोध नहीं है; किन्तु मेरे जानते गीताधर्म मार्क्सवाद का पोषक है। मेरे खयाल से गीता के 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' और 'सर्वभूतहितेरताः' सिवाय सच्चे मार्क्सवादियों के और कौन हो सकते हैं? वही तो समस्त मानव समाज का पुनर्निर्माण इस तरह करना चाहते हैं कि एक भी आदमी दुःखी, पराधीन, समुन्नति के सभी साधनों से वंचित न रहने पाये।

निस्सन्देह प्रारम्भ में गीता का अर्थ मैंने जो समझा था और बहुत दिन बाद तक भी, वह अब ठीक उसी प्रकार बदल गया जैसे उस समय के जीवन सम्बन्धी दूसरे विचार आमूल परिवर्तित हो गये। यह है भी स्वाभाविक। जीवन के चालीस साल गुजरने पर ही विचारों में स्थायित्व और परिपाक होता है। फलतः जब मैं पीछे देखता हूँ तो उस दकियानूस दुनिया को देख के चकित हो जाता हूँ और खुश भी होता हूँ कि उससे पिंड भले छूट गया। इधर गीता की हालत यह रही है कि इसका जितना ही मन्थन करता हूँ इससे उतने ही महान् अर्थ निकलते हैं। ऐसा मालूम होता है कि अभी-अभी इसे समझ सका हूँ और समझने लायक हो सका हूँ। इसीलिए, आज से पचीस साल पूर्व जो मैंने यही गीता-हृदय लिखने का श्रीगणेश किया था और उसका कुछ अंश लिख के भी मैं उसे पूरा न कर सका था और इसीलिए कभी-कभी अफसोस भी करता था, इन बातों को देखते हुए, आज उल्टे खुशी हो रही है। क्योंकि उस समय कुछ लिख के तो आज पछताना ही होता। अब जो कुछ लिखा है और लिख रहा हूँ यही ठीक है और पहले यह हर्गिज लिखा न जाता।

हमारी हालत यह है कि हम गीता की टीकाओं और उसके भाष्यों के बीच में बैठके ही गीता का अर्थ समझना चाहते हैं। यही कारण है कि उसे ठीक समझ पाते नहीं। बच्चे को बराबर सवारी पर ही चलाइये तो वह खामख्वाह पंगु होगा। उसके पाँवों में शक्ति न आ पायेगी। यही हालत टीका के सहारे ग्रन्थों के पढ़ने वालों की हो जाती है। उनकी बुद्धि में शक्ति और स्वावलम्बन नहीं आने पाता और वह पंगु हो जाती है। मेरी भी पहले यही हालत थी। मगर 1922 में फैजाबाद जेल में पहले-पहल केवल एक नन्ही-सी गीता की गुटका मिली। विवश हो के उसका स्वतन्त्र विचार करने पर मुझे जो मजा मिला और जो नया अर्थ सूझा उसे कह नहीं सकता। खूबी तो यह है कि अधिकांश वही अर्थ मूलतः आज कायम भी है। इसीलिए उस गुटका से मुझे खास मुहब्बत हो गयी है। उसे बराबर साथ ही रखता हूँ। उसने भी मेरे साथ बार-बार जेलयात्रा की है। उसी से मैंने जो कुछ गीतार्थ सीखा है वही लिपिबद्ध कर रहा हूँ।

गीता मुझसे अभिन्न हो गयी है और मैं उससे अभिन्न बन गया हूँ। अन्य विचारों तथा ग्रन्थों की जुदाई बर्दाश्त कर सकता हूँ मगर उसकी नहीं। आत्मा की जुदाई भला बर्दाश्त हो? उसके सम्बन्ध के विचार बीसियों साल से हृदय में पले हैं। ये सचमुच ही हृदय के खून से सींचे गये हैं। लेकिन फिर भी इन्हें जुदा करने

में जानें क्यों अपार खुशी हो रही है। शायद इसीलिए कि जुदा होने पर ये और भी स्थायी हो रहे हैं। शायद यही करने से इन्हें पुष्पित, फलित होने का मौका मिलेगा।

गीता-हृदय के तीन भाग करने का विचार है—पूर्व, मध्य और उत्तर। इन्हीं का नाम मैंने क्रमशः अन्तरंग, गीता और बहिरंग भाग भी रखा है। पूर्व या अन्तरंग भाग में सिर्फ उन्हीं विचारों का संकलन है जिनसे गीताधर्म और गीतार्थ समझने में पूरी मदद मिलेगी। ये उसके लिए रास्ता साफ करते हैं। इसीलिए इन्हें अन्तरंग कहा है। मध्य या गीता-भाग में गीता के श्लोकों के सीधे अर्थ लिखे गये हैं—वही अर्थ जो शब्दों से सीधे निकलते हैं। मगर आवश्यकतानुसार छोटी-बड़ी टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। इनके पढ़ने से ही पता चलेगा कि ये कितनी जरूरी हैं उस अर्थज्ञान के लिए। उत्तर भाग या बहिरंग भाग में शास्त्रीय विचार के आधार पर गीतार्थ का अन्य दार्शनिक विचारों और खयालों के साथ तुलनात्मक विवेचन होगा।

जिस परिस्थिति में यहाँ पहले दो भाग लिखे जा रहे हैं उसमें तृतीय भाग के लिए पूरी सामग्री न होने के कारण ही वह लिखा न जा सका है। देखें कब पूरा होता है। संभव है, न भी हो, कौन कहे?

स्वामी सहजानन्द सरस्वती
(राजबन्दी)

सेण्ट्रल जेल, हजारीबाग
गुरुवार (1-1-42)

पहला : अन्तरंग भाग

1. गीता के मुख्य मन्तव्य

कर्तव्याकर्तव्य के प्रश्न

कर्तव्य-अकर्तव्य का झमेला, कर्म करें, न करें का सवाल, बुरे-भले की पहेली और इन दोनों का निर्णय कैसे हो यह जिज्ञासा—ये सभी—पुरानी बातें हैं, इतनी पुरानी जितनी पुरानी यह दुनिया है। कोई भी ऐसा देश नहीं है, समाज नहीं है जहाँ एक न एक समय यह उधेड़-बुन और समस्या लोगों के सामने—कम-से-कम उनके सामने तो अवश्य ही जिन्हें समझ हो और जो तह के भीतर घुसने की योग्यता रखते हों—आ न खड़ी हुई हो। सभी देशकाल के विद्वानों के समक्ष ये और इसी तरह के बहुतेरे प्रश्न बराबर आते रहे हैं और उनने अपनी-अपनी समझ तथा पहुँच के मुताबिक इनका उत्तर भी दिया है, समाधान भी किया है। मानवसमाज के इतिहास में यह एक ही बात ऐसी है जो बिना धर्म और सम्प्रदाय के भेद के, समान रूप से सभी जगह पायी गयी है और, हमें आशा है, आगे भी पायी जायेगी। अकेले इस सम्बन्ध के प्रश्नों ने लोगों को जितना परेशान किया है और उन्हें इनके बारे में जितनी माथापच्ची करनी पड़ी है, शायद ही किसी एक विषय को लेकर यह बात हुई हो। इसी से पता चलता है कि यह विषय कितना महत्त्वपूर्ण है।

इन सवालों, इन प्रश्नों और इन जिज्ञासाओं के जो उत्तर आज तक दिये गये हैं और जिन्हें लोगों ने किसी न किसी रूप में लिख डाला है, उन्हें अगर एक जगह जमा कर दिया जाय तो खासा पहाड़ खड़ा हो जाय। नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के ग्रन्थों, वैदिक एवं दार्शनिक वचनों, कुरान एवं हदीस की किताबों, बाइबिल और जेन्दअवेस्ता की पोथियों, जैन तथा बौद्ध मतों की देशनाओं और चार्वाक आदि नास्तिकों के उपदेशों के अलावा गत कई हजार साल के भीतर विभिन्न देशों में जो आईन-कानून की किताबें तैयार की गयी हैं वह सबकी-सब आखिर इन्हीं प्रश्नों का ही तो उत्तर देती हैं। खूबी तो यह कि इनमें बहुतेरे उत्तर और जवाब ऐसे हैं जो समय-समय पर बदलते रहे हैं। कम-से-कम आईन-कानून तो किसी देश या समाज के लिए हमेशा एक ही तरह के रहे नहीं। वे तो समाज के साथ ही बदलते रहे

हैं। उनकी प्रगति और तरक्की समाज के साथ बँधी रही है। यदि इस नजर से देखते हैं तो यह समस्या, और भी पेचीदी हो जाती है, इसका महत्त्व और इसकी अहमियत हजार गुना बढ़ जाती है।

अध्यात्मवाद और भौतिकवाद

इन प्रश्नों पर सोचने और इनके उत्तर देने वाले लोग दो तरह के होते रहे हैं। चाहे उन्हें अध्यात्मवादी कहिये या नीति और एथिक्स (Ethics) के पैरो और प्रचारक कहिये। मगर भारत के धर्मशास्त्रियों और नीतिशास्त्र के आचार्यों से लेकर ग्रीस के प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं और पश्चिमी देशों के आज तक के आचार शास्त्रों के आचार्यों तक को हम आमतौर से दो ही श्रेणियों में बाँट सकते हैं। इन्हीं के भीतर चीन के कन्फ्यूसियस आदि सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक तथा विद्वान् लोग भी आ जाते हैं। इनमें एक दल तो उनका रहा है और है भी जो केवल अध्यात्म दृष्टि या आत्मा-परमात्मा और लोक, परलोक की दृष्टि से, इसी खयाल से, कर्तव्य, अकर्तव्य या कर्म के त्याग और करने का निश्चय करते आये हैं, करते आ रहे हैं। ऐसी हर बात में उनकी नजर दुनियावी नफा-नुकसान और हानि-लाभ की कोई खास कीमत नहीं कूतती। वे तो ऐसे मौकों पर हमेशा सिर्फ उसी आत्मा, परमात्मा आदि की दृष्टि से इसका निर्णय करते चले आ रहे हैं कि क्या बुरा और क्या भला है। उनने भले-बुरे की कसौटी सिर्फ यही रखी है कि किस काम से आत्मा कितना नीचे गिरती या ऊँचे उठती है, उसका कितना पतन और उत्थान होता है और करनेवाला उससे परमात्मा के कितना नजदीक या दूर जाता है। उन लोगों ने इस बात की कसौटी भी अपनी-अपनी पहुँच और समझ के अनुसार बना रखी है जिससे इस बात की परख हो सके कि उत्थान या पतन आदि कहाँ तक और कैसे हो रहे हैं, अभी इस सम्बन्ध में अधिक लिखना अप्रासंगिक है।

दूसरे दलवाले इसके विपरीत उचित-अनुचित या कर्तव्य-अकर्तव्य वगैरह की जाँच केवल सांसारिक हानि-लाभ एवं नफा-नुकसान के ही तराजू पर करते हैं। उनकी नजरों में या तो आत्मा-परमात्मा या लोक-परलोक नाम की कोई चीज हुई नहीं, या अगर हो भी तो उसे इस मामले में खामख्वाह 'दालभात में मूसरचन्द' बनने-बनाने की जरूरत नहीं। वे कहते हैं कि खासतौर से यदि कोई अपने परमात्मा, भगवान् या खुदा की पूजा-परिस्तिश करना चाहे और उसकी ढूँढ़ खोज में परेशान हो, तो उसे आजादी है, आजादी हो सकती है, और इस तरह जो रास्ता उसने अख्तियार किया है उसकी जाँच-पड़ताल के लिए भले ही वह आत्मा-परमात्मा की कसौटी का इस्तेमाल कर सकता है। उसमें दूसरे को या दूसरे दलवालों को उज्र नहीं। उसकी यह अपनी निजी चीज जो ठहरी। मगर जनसाधारण या आम लोगों के कामों को तौलने के लिए उस तरह की नाप-जोख की इजाजत उसे हर्गिज दी नहीं जा सकती,

और न ऐसा करने का उसे हक ही प्राप्त है। वे तो सिर्फ यही देखना चाहते हैं कि किस काम से ज्यादा लोगों को फायदा ही या नुकसान पहुँचता है। क्योंकि किसी भी काम से सभी का न तो फायदा हो सकता और न नुकसान ही। चोरी-डकैती से भी तो कुछ लोगों को लाभ होता ही है और रोकने से हानि भी होती है। यहाँ तक कि साँस लेने और पलक मारने में भी हजारों जीवधारी कीटाणु खत्म हो जाते हैं। इसीलिए अधिकांश लोगों के हानि-लाभ की ही कसौटी पर नेकी या बदी की जाँच की जा सकती है।

गीता का समन्वय

मगर गीता ने इन दोनों विचारों को एकांगी और अधूरा माना है। उसके मत से हमें आदमी के स्वभाव का खयाल करके दोनों ही को मिलाना और उन्हीं के आधार पर कर्म, अकर्म, कर्म के त्याग या ग्रहण और कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय करना चाहिए। भौतिक हाड़-मांस और दिल-दिमाग से हम मनुष्य को जुदा कर सकते नहीं और ये भौतिक पदार्थ स्वभावतः दुनियाबी हानि-लाभों और बुरे-भलों की ही तरफ झुकते और दौड़ते हैं। उन्हीं को पहचानते और पकड़ते हैं और उन्हीं से अपना गँठजोड़ करते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह बच्चा माँ की सूरत-शकल या आवाज को सुनते ही उधर दौड़ पड़ता है और उसी से जा लिपटता है। इसमें दलील की तो गुंजाइश नहीं। यह तो कठोर सत्य है।

मगर इसमें धोखा और खामी रह जाती है, इस बात की इसमें पूरी सम्भावना बराबर बनी रहती है। कारण अधिकांश लोगों का सांसारिक लाभ या नुकसान किसमें है, इस बात का निर्णय प्रायः असम्भव है। इसके लिए जितने भी तरीके सुझाये गये हैं, सबके-सब अधूरे एवं दोषपूर्ण हैं। अल्पमत और बहुमत का निश्चय वर्तमान मानव-समाज के लिए निहायत पेचीदा पहेली है। इसी झमेले में दुनिया तबाह हो रही है। ऐसा भी होता है कि तुच्छ निजी स्वार्थ ही कभी-कभी जनहित जँचने लगता है। इसीलिए सांसारिक हिताहित या हानि-लाभ के सिवाय आध्यात्मिक दृष्टि का भी पुट इसमें आ जाना जरूरी हो जाता है। इससे तुच्छ स्वार्थ का तो मौका रही नहीं जाता। साथ ही, बहुमत के निर्णय की परेशानी से भी पिंड छूट जाता है। गीता की जो अध्यात्म दृष्टि है उसमें कुछ ऐसी शक्ति और जड़ी-बूटी की ताकत है कि हर काम की बाहरी रूपरेखा को बदल के वह उसे सुन्दर, निर्दोष और कल्याणमय बना देती है।

इसका यह मतलब हर्गिज नहीं है कि इसके चलते कर्तव्य-अकर्तव्य के संसार में अन्धेर मच जाएगी; यह सभी के बाहरी रूप को पलटने वाली मानी जो जाती है। बात ऐसी नहीं है। इस दृष्टि के फलस्वरूप आमतौर से अच्छे माने जाने वाले कामों में प्रवृत्ति और दूसरों से निवृत्ति तो एक तरह का नियम बन जाती है, स्वभाव

बन जाती है। मगर अपवादस्वरूप अगर कभी संयोगवश उलट-फेर भी हुई, तो भी गड़बड़ होने नहीं पाती और इसके करते वैसे ही मौके पर ऊपर से बुरे दीखने वाले कामों और अमलों की कायापलट हो जाती है। फलतः कहीं भी पश्चात्ताप या अफसोस की गुंजाइश रह नहीं जाती। यदि कहें तो कह सकते हैं कि सांसारिक दृष्टि और परख में जो कमी और मानव स्वभाव में जो त्रुटि रह जाती है उसी की पूर्ति कर्तव्याकर्तव्य के बारे में यह अध्यात्म दृष्टि करती है। यह बात प्रसंगवश आगे दिखाई जायेगी।

लेकिन एक बात यहीं पर जान लेना जरूरी है। गीता के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी क्रिया का, काम का, अमल का, ऐक्शन (action) का बाहरी रूप कोई चीज नहीं है। किसी भी काम को बाहर से, ऊपर से या यों ही देख-सुन के हम उसे भला या बुरा नहीं कह सकते। ठोस या स्थूल पदार्थों की बात है कि उनका जो रूप देखा-सुना जाता है आमतौर से वही सही और असली माना जाता है और उसी के मुताबिक उन्हें हेय या उपादेय, त्याज्य या ग्राह्य माना जाता है। मगर यह बात कर्मों या अमलों के बारे में लागू नहीं है। ऊपर से जिन कामों को हम सुन्दर, कर्तव्य और ग्राह्य मानते हैं वह ठीक उलटे हो सकते हैं। यही हालत बुरे, कर्तव्य तथा त्याज्य कामों की भी समझी जानी चाहिए। गीता के मत से हिंसा अहिंसा और अहिंसा हिंसा हो सकती है, हो जाती है। यही बात सभी कर्मों के सम्बन्ध में लागू है। गीता तो इस सम्बन्ध में यह मानती है कि करने वालों की भावना, धारणा, निश्चय, मानसिक संकल्प और दिल की पुकार उन कर्मों के बारे में कैसी है, वे किस विचार और खयाल से उन कामों को करते हैं, उनके मानसिक पटल पर कौन सा स्थान किस तरह का उन कर्मों को मिला है, उनके और उनके फलों के सम्बन्ध में उन्हें ममता और आसक्ति है या नहीं वे उन कर्मों से और उनके फलों से अपने दिल और दिमाग के जरिये लिपटे हैं या नहीं, इत्यादि बातों का फैसला ही, इन्हीं की असलियत ही उन कामों को बुरा या भला, उचित या अनुचित बनाती है।

श्रद्धा, दिल और दिमाग

जिस गीता में श्रद्धा कहा गया है वह भी इन्हीं के भीतर आ जाती है और कर्मों को बुरा या भला बनाने में श्रद्धा का बहुत बड़ा हाथ माना जाता है। यही बात 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' (17। 3) आदि में गीता ने कही है। 'यस्य नाहंकृतो भावः' (18। 17) आदि वचन भी यही बताते हैं। दिल के भीतर किसी काम के प्रति जो प्रेम और विश्वास होता है उन दोनों को मिला के ही श्रद्धा कही जाती है। श्रद्धा इस बात को सूचित करती है कि दिमाग दिल की मातहती में—उसके नीचे—आ गया है। विद्वत्ता में ठीक इसके उलटा दिल को ही दिमाग की मातहती करनी होती है। हाँ, आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान, स्थितप्रज्ञता, गुणातीतता और ज्ञानस्वरूप भक्ति, (चतुर्थभक्ति) की दशा में दिल तथा दिमाग दोनों ही हिल-मिल

जाते हैं। इसे ही ब्राह्मीस्थिति, समदर्शन ऐक्यज्ञान आदि नामों से भी पुकारा गया है। जब सिर्फ हृदय या दिल का निराबाध प्रसार होता है और उसका मददगार दिमाग नहीं होता तो अन्ध परम्परा को स्थान मिल जाता है, क्योंकि हृदय में अन्धापन होता है। इसीलिए उसे दीपक की आवश्यकता होती है और यही काम दिमाग या बुद्धि करती है।

विपरीत इसके जब दिमाग या बुद्धि का घोड़ा बेलगाम सरपटें दौड़ता है और उस पर दिल का दबाव या हृदय का अंकुश नहीं रहता तो नास्तिकता, अनिश्चितता, सन्देह आदि की काफी गुंजाइश होती है। क्योंकि तर्क और दलील को पहरेदार सिपाही जैसा मानते हैं। इसीलिए वह एक स्थान पर टिका रह सकता नहीं, अप्रतिष्ठ होता है, स्थान बदलता रहता है—'तर्कोऽप्रतिष्ठः।' फलतः सदा के लिए उसका किसी एक पदार्थ पर, एक निश्चय पर जम जाना असंभव होता है। अच्छे से अच्छे तर्क को भी मात करने के लिए उससे भी जबर्दस्त दलील आ खड़ी होती है और उसे भी पस्त करने के लिए तीसरी आती है। इस प्रकार तर्कों और दलीलों का ताँता तथा सिलसिला जारी रहता है, जिसका अन्त कभी होता ही नहीं। फिर किसी बात का आखिरी निश्चय हो तो कैसे? संसार भर की बुद्धि आजमा के थक जाय, खत्म हो जाय, तभी तो ऐसा हो। मगर बुद्धि का अन्त, परिधि, अवधि या सीमा तो है नहीं। बुद्धियाँ तो अनन्त हैं और नयी-नयी बनती भी रहती हैं, उनका प्रसार होता रहता है—"बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयः।"

यही कारण है कि दिल और दिमाग दोनों ही को अलग-अलग निरंकुश एवं बेलगाम छोड़ देने की अपेक्षा गीता ने दोनों को एक साथ कर दिया है, मिला दिया है। इससे परस्पर दोनों की कमी को एक दूसरा पूरा कर लेता है—दिल की कमी या उसके चलते होने वाले खतरे को दिमाग, और दिमाग की त्रुटि या उसके करते जिस अनर्थ की संभावना है उसे दिल हटा देता है। इस प्रकार पूर्णता आ जाती है। लालटेन या चिराग के नीचे, उसके अत्यन्त नजदीक अँधेरा रहता ही है। मगर अगर दो लालटेनें पास-पास रख दी जायँ तो दोनों के ही तले का अँधेरा जाता रहता है। यही बात यहाँ भी हो जाती है। कर्म-अकर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य या कर्म के योग और उसके संन्यास जैसे पेचीदे एवं गहन मामले में जरा भी कमी, जरा भी गड़बड़ी बड़ी ही खतरनाक हो सकती है। यही कारण है कि दिल और दिमाग को मिला के गीता ने उस खतरे को खत्म कर दिया है।

कर्म के भेद

गीता के मुताबिक कर्म, क्रिया या अमल (action) की कई सीढ़ियाँ हैं। इनमें सबसे पहली या नीचे की सीढ़ी में वे सभी कर्म (काम) आ जाते हैं जो जीवन के लिए, या यों कहिये कि सांसारिक बातों के लिए जरूरी हैं और जिनके बिना न तो कोई

जिन्दा रह सकता है और न दुनिया का काम ही चल सकता है। गीता के 'कार्यतेह्यु वशः कर्म' (3। 5), 'शरीरयात्रापि च ते' (3। 8) आदि वचन इस बात के पोषक हैं। जब यही कर्म इसी खयाल से किये जाते हैं कि हमारा, करने वाले का या दुनिया का काम चले, सब कुछ कायम रहे, चालू रहे और जब करने वाले को अपने और पराये का विचार रहता है, तभी ये कर्म सबसे निचली सीढ़ी में आते हैं। उस दशा में ये सोलहों आना कर्म के रूप में रहते हैं और इनका नतीजा भुगतान होता है। जिनके बारे में धर्मशास्त्रों और पोथी पुराणों में बहुत कुछ लिखा गया है, जिन्हें सुख-दुःख और नर्क-स्वर्ग आदि देने वाले कहा गया है वे यही कर्म हैं। भाग्य, दैव, प्रारब्ध, संचित और तकदीर आदि नाम भी इन्हीं पहली सीढ़ी वालों को दिये गये हैं। जब बातचीत में कर्म का फेर कहते हैं तो इन्हीं से मतलब होता है। इनमें स्वार्थ और परार्थ—अपने लिए और दूसरों के लिए—का सवाल सदा लगा रहता है और वह कभी इनका और करने वालों का पिंड छोड़ता ही नहीं।

दूसरी सीढ़ी आती है उन कर्मों की जो मन की, हृदय की, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए, पवित्रता के लिए किये जाते हैं। जैसे देह, कपड़े-लत्ते और घर-बार को कर्म या क्रिया के द्वारा ही निर्मल बनाते हैं, साफ-सुथरा करते हैं, झाड़ू, साबुन, पानी वगैरह के जरिये इनकी मैल हटा के इन्हें स्वच्छ, पवित्र और शुद्ध करते हैं; ठीक वैसे ही दिल, दिमाग को भी निर्मल किया जाता है कर्मों के ही जरिये। आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान से घर की गन्दगी तो हटती नहीं। वह तो झाड़ू और पानी से धोये पोंछे बिना नहीं हट सकती। मन की मैल और गन्दगी भी उसी प्रकार कर्मों के ही द्वारा मिटती है और वह शुद्ध एवं निर्मल होता है। जिस प्रकार पहली सीढ़ी वालों को गीता ने 'शरीरयात्रार्थ' कर्म 'शरीर यात्रापि च ते' (3। 8) में कहा है? उसी प्रकार इन्हें 'आत्मशुद्धये' या 'आत्मशुद्ध्यर्थ' कर्म 'सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये (5। 11) आदि में कहा है।

मन की मैल भी समझ लेने की चीज है। देह या कपड़े-लत्ते जैसा ठोस और स्थूल पदार्थ तो मन या हृदय है नहीं। वह तो सूक्ष्म—अत्यन्त सूक्ष्म—है और अनुमान से ही उसका अस्तित्व माना जाता है। इसलिए उसमें बाहरी या स्थूल मल (मैल) की संभावना नहीं है। यह मैल तो उसके पास पहुँच ही नहीं सकती। यही कारण है कि मन की चंचलता, उसका किसी भी पदार्थ में न टिक सकना, राग, द्वेष और भय आदि ही मैल कहे जाते हैं और इन्हीं को दूर करने की—कम करने की—जरूरत होती है। क्रिया या कर्म के प्रभाव से ही मन इन दुर्गुणों से छुट्टी पाता है और धीरे-धीरे इनकी कमी होने लगती है। ये सोलहों आना मिटते तो हैं आत्मदर्शन के बाद ही। मगर इनकी प्रचंडता और इनका वेग जाता रहता है। जैसे जंगली खूँखार और घरेलू पालतू जानवरों के स्वभाव में फर्क होता है वैसी ही दशा मन की हो जाती है और उसकी खूँखारी जाती रहती है। वह पालतू-सा बन जाता है, बनने लगता है। दिल

या हृदय की जो दुर्बलता होती है और संकटों के आते ही जो पस्ती आ जाया करती है तथा निराशा हो जाती है वही दिल की मैल है। वह भी कर्म के फलस्वरूप कम हो जाती है, मिटने लगती है। काम करते-करते सफलता-विफलता का सामना बार-बार होता है, जिससे हिम्मत होती है, बढ़ती है। इस पर आगे संन्यास और त्याग प्रकरण प्रकाश में मिलेगा।

उसी के बाद कर्मों की तीसरी सीढ़ी आती है—यह तीसरी दर्जा नीचे का न हो के ऊँचे का है, उलटा है। इसलिए तीसरा दर्जा सुन के किसी को भ्रम नहीं होना चाहिए। पहली दो सीढ़ियों को पार कर लेने के बाद ही इस तीसरी पर पाँव देते हैं, दे सकते हैं। जब दिल और दिमाग पवित्र हो जाते हैं तो इन्सान कुछ ऊपर उठता है और उसकी दृष्टि विस्तृत होने लगती है। जहाँ पहले अपने पराये की बात होने से वह संकुचित रहती है और कदम-कदम पर पदार्थों का बँटबारा सा प्रतीत होता है कि यह अपना है और यह दूसरे का है, तहाँ ऊपर उठने पर यह विभाग, यह बँटवारा मिटने लगता है और अनेकता में एकता नजर आने लगती है। चाहे इसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कहिये, या समदृष्टि कहिये। इसे ही गीता ने अपने ही समान सबों के—प्राणिमात्र के—सुख-दुःखों का अनुभव या 'आत्मौपम्य दृष्टि' भी नाम दिया है और 'समत्वबुद्धि' भी कहा है।

लेकिन सबका सारांश है संकुचित से विस्तृत की ओर, परिमित से अपरिमित की तरफ, पिण्ड से ब्रह्माण्ड की ओर और व्यष्टि से समष्टि की तरफ जाना। इसीलिए इसे ऊपर उठाना कहते हैं। इससे यह होता है कि व्यक्तित्व, शख्सियत या 'पर्सनलिटी' (personality) और व्यक्तिवादिता या 'इण्डिविजुअलिटी' (individuality) का लोप समष्टि या विराट् के भीतर हो जाता है—'इण्डिविजुअलिटी' मिल जाती है 'कलेक्टिविटी' (collectivity) में, समष्टि भाव में और मनुष्य अपने आपको विस्तृत संसार का एक अविच्छिन्न अंश समझने लगता है। जिस तरह शरीर के किसी भी अंग को जुदा किये जाने पर असह्य पीड़ा होती है, ठीक उसी तरह उस समय व्यक्ति को समस्त संसार से अलग करने, मानने तथा देखने में मर्मान्तिक वेदना होती है। अंग की पुष्टि के लिए समस्त शरीर को ही पुष्ट करना जिस तरह अनिवार्य है वही हालत यहाँ भी हो जाती है। फलतः ऐसा ऊँचा उठा मनुष्य निजी तौर पर या व्यक्तिगत हानि-लाभ का कभी खयाल भी नहीं कर सकता। वह ऐसी बात के लिए सर्वथा अयोग्य हो जाता है। अतः दुनिया के सभी झगड़े मिट जाते हैं। जिस तरह बहुत ही ऊँचे पर्वत की चोटी पर खड़ा हो के देखने वाले को नीचे की बड़ी से बड़ी चीजें भी निहायत नन्ही-सी लगती हैं और कभी-कभी तो दीख तक नहीं पड़ती हैं, ठीक वही हालत उसके नजरों में व्यक्तित्व और अपनेपन की हो जाती है।

मगर यह हालत एकाएक नहीं होती। इसमें भी सीढ़ियाँ (stages) होती हैं और उन्हीं से हो के इन्सान धीरे-धीरे ऊपर उठता हुआ आखिरी दशा (stage) में

पहुँच जाता है जहाँ सभी एक और समान हो जाते हैं—जहाँ वह अपने को सबों से और सबों को अपने से पृथक् देख नहीं सकता। यही है निर्वाण, मुक्ति या ब्राह्मी स्थिति। उस हालत में पूर्णतया पहुँचने के पहले जिन सीढ़ियों से हो के गुजरना पड़ता है उनमें पहली वही है जिसे कर्म की गणना में तीसरी कह चुके हैं। उस तीसरी या इस पहली में जो कर्म किया जाता है उसे गीता ने 'यज्ञार्थ' कर्म कहा है। 'यज्ञार्थत्कर्मणोऽन्यत्र' (3। 9) 'एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्' (3। 16) 'यज्ञायाचरतः कर्म' (4। 23) आदि श्लोकों में यही बात है। यज्ञार्थ का अर्थ है यज्ञ के लिए और गीता का यह यज्ञ बहुत ही व्यापक है। इसमें दुनिया आ जाती है। परमात्मा से लेकर छोटी-बड़ी सभी चीजों का समावेश इसमें हो जाता है। गीता के चौथे अध्याय के 24 से 30 श्लोकों में यह बात स्पष्ट है और अन्यत्र भी (परमात्मा और ज्ञान को तो यज्ञ कहते ही हैं। मगर व्यष्टि और समष्टि—व्यक्ति और समुदाय—रूप से संसार को कायम और चालू रखने के लिए जितने भी काम (कर्म) किये जाते हैं, सभी यज्ञ के अन्तर्गत माने गये हैं। अतएव मनःशुद्धि के बाद ऊपर उठने वाला आदमी जो भी कुछ काम शरीरयात्रा के लिए या दूसरों के भले के लिए करता है सभी यज्ञ में आ जाता है।) जिसे आमतौर से हिन्दू लोग यज्ञ कहते हैं उससे लेकर बड़े से बड़े और छोटे से छोटे कामों को—सबों को ही—यज्ञ का स्वरूप मिल जाता है।

यज्ञार्थ कर्म

वह मामूली यज्ञ से शुरू करके ही आगे बढ़ता है। यज्ञ में एक खूबी है कि इसके करने वाले को कुछ न कुछ घी, अन्न आदि का त्याग करना ही होता है। इसीलिए इसे सैक्रिफाइस (sacrifice) और कुर्बानी भी कहते हैं। इस प्रकार ऊपर उठने का काम इस त्यागबुद्धि से ही शुरू होता है और यह चीज आगे बढ़ती जाती है। गीता की यही तो खूबी है कि जो यज्ञ, कुर्बानी या सैक्रिफाइस सर्वजन प्रसिद्ध और सर्वप्रिय है और जिसमें आस्तिक-नास्तिक का भी कोई मतभेद नहीं—क्योंकि त्याग और कुर्बानी के कायल तो नास्तिक भी हैं—उसी से शुरू करके लोगों को आगे बढ़ाती है। फलतः इसमें दिक्कत नहीं होती। कर्म के गहन मार्ग को सरल बनाने का इससे सुन्दर और बालबोध तरीका दूसरा हो ही नहीं सकता और जब एक बार उस चक्र में हमने पाँव दे दिया और उस लहर के भीतर पड़ गये तो फिर अन्त तक, देर या अबेर से, पहुँचे बिना बीच में रुकना असम्भव है। इसीलिए आमतौर से यज्ञार्थ कर्म करने की यह तीसरी सीढ़ी कर्म के सिलसिले में मानी जाती है और इसमें उस यज्ञ का कोई विश्लेषण या विवरण नहीं आता है।

लेकिन जब इस तीसरी सीढ़ी या दशा में भी कुछ प्रगति हो जाने पर खोद-विनोद शुरू हो जाती है और क्रमशः इस यज्ञ का असली महत्त्व लोगों को मालूम होने लगता है तो चसका लग जाता है, मजा आने लगता है। कुछ समय और गुजरने के बाद

इन्सान की समझ ऐसी होने लगती है कि वह जो कुछ करता-धरता है वह इस विराट् एवं महाकाय संसार की स्थिति, वृद्धि तथा प्रगति के ही लिए हो रहा है। यहाँ तक कि वह अपने श्वास-प्रश्वास और पलक मारने तक को उसी प्रगति के लिए जरूरी एवं अनिवार्य क्रिया-कलाप का एक अंश देखता है। इस प्रकार उसका समस्त जीवन परोपकारमय बन जाता है। फिर भी यह सब कुछ होता है उस यज्ञ के ही रूप में। उसकी यह अविचल धारणा बराबर बनी रहती है कि जो महान् यज्ञ संसार के कल्याण के लिए चालू है उसी की पूर्ति हमारे प्रत्येक कामों, प्रत्येक हलचलों तथा छोटी-बड़ी सभी क्रियाओं के द्वारा निरन्तर हो रही है।

ईश्वरार्पण और मदर्थ कर्म

इस मनोवृत्ति का, इस दशा का पूरा परिपाक हो जाने पर चौथी सीढ़ी आती है, जो ऊपर उठने की दशा की दूसरी कही जा सकती है। इस दशा में पहुँचने पर संसार की विभिन्नता (diversity) का ज्ञान नहीं रहता है। जिस प्रकार मनुष्य व्यक्तित्व से शुरू करके समष्टि में पहुँच जाता है और वहाँ पहुँचते ही व्यक्तित्व लापता हो जाता है, ठीक उसी प्रकार समष्टि के ही थोड़ा और भी ऊपर उठने पर वह समष्टि भी विलीन हो जाती है। व्यक्तित्व या व्यष्टि और समष्टि ये दोनों ही सापेक्षिक चीजें हैं—इनमें एक को दूसरे की अपेक्षा है—ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। जैसे पिता और पुत्र दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। इसीलिए एक के ज्ञान के लिए दूसरे के ज्ञान की अपेक्षा है और इसीलिए यदि किसी को दूसरे की अपेक्षा न जानें तो उसे पिता या पुत्र न कहके आदमी, इन्सान या मनुष्य ही कहेंगे और जानेंगे भी। यही बात व्यष्टि तथा समष्टि की भी है। जब तक ये दोनों हैं—जब तक इन दोनों का ज्ञान होता है—तभी तक इनकी हस्ती है, सत्ता है। मगर ऊपर उठते-उठते जब व्यष्टि का लोप सोलहों आना हो गया तो फिर समष्टि बुद्धि भी कहाँ रहेगी, कैसे होगी? इसीलिए सर्वत्र समरसता, एकरसता का ज्ञान होने लगा। गीता इसे ही ब्रह्मज्ञान या परमात्मा का ज्ञान कहती है। उस दशा में जो कुछ किया जाता है वह यज्ञार्थ होते हुए भी ईश्वरार्थ, ब्रह्मार्पण, मदर्पण या मदर्थ कर्म कहा जाता है । 'मयि सर्वाणि कर्माणि' (3 । 30), 'यत्करोषि' (9 । 27), 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' (18 । 46), 'चेतसा सर्वकर्माणि' (18 । 57), आदि गीता के वचनों में यही बात कही गयी है। इसी के बारे में कहा जाता है कि भगवदर्पण बुद्धि से या भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म किया जा रहा है। असल में आत्मा और समस्त संसार—दोनों ही—जब परमात्मा बन गये और उसके सिवाय इनकी जुदा स्थिति रही नहीं गयी, तब तो जो कुछ होता है उसे भगवदर्पण-बुद्धिपूर्वक ही माना जाना चाहिए।

कर्तव्य कर्म

सबके अन्त में आती है पाँचवीं सीढ़ी, जिसे गीता में केवल कर्तव्य-बुद्धिपूर्वक या कर्तव्य समझ के कर्म करना कहते हैं। जब सारा भेद मिट गया और अद्वैतबुद्धि—'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' की भावना—हो गयी और वह निरन्तर बनी रहती है, उसका विलोप कभी भी जब होता नहीं, तो फिर ईश्वरार्थ कर्म का प्रयोजन क्या है—मतलब क्या है? ब्रह्म या ईश्वर या भगवान् के लिए कर्म करने का तब तो कोई मतलब रही नहीं जाता। भगवान् उन कर्मों को लेके आखिर करेगा क्या? उसे तो उनका प्रयोजन कुछ भी रही नहीं गया। इसीलिए भगवदर्पण कर्म के कुछ मानी दरअसल हैं नहीं। जब तक अद्वैत भावना दृढ़ न हो और उसमें रह-रह के विराम आ जाता हो, तब तक तो इसके मानी कुछ हो भी सकते हैं। तब तक पहले वाला ऊँचे उठना और ऊपर चढ़ना अपने स्थान पर रह सकता है। मगर जब इस भावना और धारणा की पूर्ति हो गयी, तब ब्रह्मार्पण कहना बेमानी है।

इसीलिए उस हालत में जो कुछ भी कर्म होता है वह केवल कर्तव्य समझ के ही होता है। जिसे अंग्रेजी में 'ड्यूटी फॉर ड्यूटीज सेक' (duty for duty`s sake) कहते हैं वही है कर्तव्य बुद्धि से कर्म करने का अर्थ। 'कार्यमित्येव' (18। 9), 'यष्टव्यमेवेति' (17। 11), 'दातव्यमिति' (17। 20) आदि गीतोक्त वचनों का यही मतलब है। (चाहे किसी का कुछ भी प्रयोजन हो या न हो, मगर कर्म तो इस सृष्टि का नियम (law) है। क्रिया ही तो सृष्टि है। इसलिए कर्म तो होता ही रहेगा जब तक संसार बना है, सृष्टि बनी है। इससे छुटकारा तो किसी को मिल सकता है नहीं। हाथ-पाँव आदि इन्द्रियों की तो यही बात है कि उनसे कोई न कोई क्रिया होती ही है। नहीं तो वे रहे ही नहीं। इसीलिए यह आत्मदर्शी पुरुष कर्मों की नाहक की उधेड़-बुन में तो पड़ता नहीं कि उनका प्रयोजन क्या है। उसे इसकी फुर्सत कहाँ? उसका मन, उसका दिलदिमाग इस तुच्छ चीज के पास फटकने भी क्यों पाए? उसे आगा-पीछा सोचने की फुर्सत ही नहीं होती—उसके पास इस चीज की गुंजाइश होती ही नहीं। इसलिए जो कुछ होता है उसे वह रोकता नहीं, होने देता है। इसे ही पुराने लोगों ने 'प्रवाहपतित कर्म' भी कहा है। इसका अर्थ वही है जो कर्तव्यबुद्धिपूर्वक कर्म का है।

(असल में बहुत समय तक यज्ञार्थ या ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करते-करते उस मनुष्य का कुछ स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि बिना किसी खयाल के भी वह ऐसे ही काम करता रहता है जिससे लोगों का कल्याण हो। अनजान में भी उससे दूसरे प्रकार का कर्म हो ही नहीं सकता। उसके जरिये ऐसा काम होने की संभावना रही नहीं जाती जिससे संसार में अमंगल हो, दुनिया का अनिष्ट हो, या सांसारिक लोग देखादेखी पथभ्रष्ट हों। उसने तो दीर्घकाल तक दुखी लोगों के ऊपर दयादृष्टि

करके ही कर्म किया है। फलतः उसका अंग-प्रत्यंग दयार्द्र हो गया है। मैत्री, करुणा वगैरह दैवी सम्पत्तियाँ और उदात्त गुण उसके भीतर इस कदर प्रविष्ट हो गये हैं कि उनसे वह अनजान में भी लाख यत्न करने पर भी अलग हो नहीं सकता है। इसीलिए जहाँ पहले लोगों की भलाई का खयाल करके ही वह काम करता था, तहाँ अब बिना उस खयाल के ही काम करता ही है। ऐसे की कर्मों को 'लोकसंग्रहार्थ' कर्म कहते हैं, जैसा कि गीता ने कहा है—'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि'। यही कर्म पहले मनोयोगपूर्वक होते थे और अब स्वभाव से ही होते रहते हैं) दोनों ही दशा में ये रहते हैं 'लोकसंग्रह' के लिए ही। मगर पीछे उनमें और भी उदात्तता आ जाती है, वे और भी ऊँचे दर्जे के हो जाते हैं। क्योंकि ऐसे पहुँच हुए महान् पुरुषों की स्वरसवाही प्रवृत्तियों के फलस्वरूप होने के कारण उनमें कृत्रिमता नहीं रह जाती। इसीलिए उनमें ऐसा आकर्षण होता है कि जन-साधारण उधर ही बलात् खिंच जाते हैं, एक प्रकार से उन्हीं कर्मों के साथ बँध जाते हैं और उन्हीं को करने लगते हैं। 'लोकसंग्रह' में जो संग्रह शब्द है उसका अर्थ है बाँधना या जमा करना और यह बात तभी चरितार्थ होती है। पहुँचे पुरुषों के कर्मों में तब अपूर्व शक्ति हो जाती है जिसका जादू आम लोगों पर होता है, हो के ही रहता है।

स्वभाव के प्रभाव

स्वभाव की बात कुछ ऐसी है कि मनुष्य संस्कारों के मजबूत हो जाने या मानस पटल पर जम जाने से सपने में चीजें देखने लगता है! वहाँ चीजें तो होती नहीं। लेकिन पहले देखी दिखाई चीजों का गहरा संस्कार ही उन्हें घसीट के दिमाग के सामने नींद के समय में ला देता है। हालाँकि स्वभाव जैसी मजबूती उस संस्कार में कभी होती नहीं। इसी से स्वभाव की ताकत समझी जा सकती है कि वह क्या कर सकता है। मेरे गुरुजी महाराज अत्यन्त वृद्ध और प्रायः सौ साल के हो के मरे थे। उनका हृदय बच्चों जैसा सरल और प्रेम से ओत-प्रोत—सना हुआ—था। बचपन से ही उनकी आदत थी; स्वभाव था, अपनी उँगलियों पर ही माला की तरह ओंकार या भगवान् के नाम के जपने का। उनका यह काम निरन्तर धारावाही रूप से चलता रहता था जब तक नींद न आ जाये। मगर इसका परिणाम यह हो गया कि गाढ़ी नींद में भी उँगलियों की वह क्रिया बराबर जारी रहती थी। कितनी ही बार जब मैं दिन में उनके दर्शनों के लिए गया और वे सोये थे, तो अविच्छिन्न रूप से चालू उँगलियों की वह क्रिया मैंने खुद-ब-खुद देखी है। महान् आत्माओं के कर्मों की यही दशा होती ही है।

कहते हैं कि कविता है दरअसल कवि के हृदय का बहके—प्रवाहित हो के—बाहर निकल आना। बेशक सच्ची कविता तो इसी को कहते हैं। वाल्मीकि ने वन में एकाएक देखा कि क्रौंच पक्षियों का जोड़ा आपस में रमा हुआ है। इतने में ही एक शिकारी

ने तीर से ऐसा मारा कि मादा वहीं लोट गयी! यह देख के नर तिलमिला उठा और इधर दयार्द्र मुनि वाल्मीकि का हृदय-स्रोत फूट निकला और उनके मुख से सहसा शब्द निकल पड़ा कि 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः' 'निषाद, तुझे भी बहुत दिनों तक चैन न मिलेगा'—क्योंकि तूने इस निरपराध पक्षियों में से एक को मार डाला है! कहा जाता है कि यही वाल्मीकि रामायण की रचना का श्रीगणेश है और इसी को लेके वह लम्बी और सुन्दर काव्य रचना हो गयी। लोग जो कहते हैं कि कवि लोग लोकमत बदलने या जनता का दिमाग फेरने में कमाल करते हैं उसका कारण यही है कि उनका जिन्दा दिल कविता के रूप में खयालों से बिंधा-बिंधाया बाहर आ के पुकारता है। मगर पहुँचे पुरुषों के कामों और शब्दों में तो कविता से लाख गुना शक्ति होती है अपनी ओर खींचने की। क्योंकि कविता में जहाँ कुछ कृत्रिमता होती ही है, तहाँ उनके काम और शब्द बिलकुल ही अकृत्रिम होते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने परमहंस रामकृष्ण की जीवनी में लिखा है कि जब मैं उनके पास यह जान के दौड़ा-दौड़ाया पहुँचा कि भगवान् के वे बड़े भक्त हैं और मुझे तो भगवान् की सत्ता ही स्वीकार नहीं, इसलिए वे कुछ चीजें बतायेंगे जिससे मैं उस सत्ता के सम्बन्ध में सोचूँ-विचारूँगा, तो वहाँ अजीब हालत देखी। उसने मेरे प्रश्न के उत्तर में कोई तर्क दलील न देके चट कह दिया कि "हाँ, मैं तो भगवान् को ठीक वैसे ही देखता हूँ जैसे तुम मुझे देखते हो।" मगर इन सीधे-सादे शब्दों में क्या जादू था! इनमें क्या गजब की ताकत थी! जहाँ बड़े से बड़े दिमागदार की दलीलें मुझ पर इस बारे में जरा भी असर कर न सकी थीं, तहाँ इन्हीं शब्दों ने कमाल किया और मुझे मजबूर किया कि उन परमहंसजी को मैं अपना गुरुदेव बना लूँ। हुआ भी ऐसा ही और मैं उसी क्षण से घोर नास्तिक और अनीश्वरवादी से परम आस्तिक एवं ईश्वरवादी बन गया! यह शक्ति उन शब्दों की नितान्त अकृत्रमता में ही थी! परमहंसजी का बाहर-भीतर एकरस था। वे जैसा बोलते वैसा ही सोचते और करते भी थे। दिल, दिमाग, जबान और काम—इन चारों—में उनके यहाँ सामंजस्य था। यह नहीं कि दिल में कुछ, दिमाग में दूसरी ही, जबान पर तीसरी और काम में चौथी ही चीज हो जाय। यही महात्मापन है।

महात्मा और दुरात्मा

(पुराने लोगों ने कहा है कि महात्मा उसी को कहते हैं जो दिल-दिमाग में सोचे-विचारे जो कुछ वही जबान से भी बोले और वैसा ही काम भी करे। चाहे दुनिया इधर से उधर हो जाय और लोग हजार खुश या रंज हों, उसे किसी की परवाह नहीं होती। वह निर्भय और लापरवाह हो के एक ही तरह की बात सोचता-विचारता, बोलता और करता है।) विपरीत इसके दुरात्मा या दुष्ट सोचता-विचारता कुछ, कहता कुछ दूसरा ही और काम करता है तीसरे ही ढंग का। लोगों के दबाव, डर, भय और लाभ वगैरह का उस पर

क्षण-क्षण में असर होता है। उसकी आत्मा पतित और कमजोर जो होती है—"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। मनस्यन्यद्वचस्य न्यत्कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्।" इसका सारांश यह है कि दिमाग का काम है सोचना-विचारना; दिल का काम है किसी बात को पकड़ रखना, उससे चिपक जाना, उसी पर डटे रहना; जबान का काम है बात बोलना और हाथ-पाँव वगैरह का काम है अमल करना। महान् पुरुष में इन चारों—दिमाग, दिल, जबान और हाथ-पाँव आदि—का सामंजस्य होता है, इनकी एकता होती है, इनका मेल होता है। उसके दिल, दिमाग, जबान और अमल में एक ही बात पाई जाती है। जरा भी अन्तर नहीं मिलता। शील-मुरव्वत, भय-प्रीति, लाज-शर्म या हानि-लाभ का कोई भी खयाल उसे डिगा नहीं सकता। वह पर्वत की तरह अडिग हो के मौत के मुख में जाता हुआ भी जो कुछ सोचता-विचारता उसे ही बेधड़क बोलता और तदनुकूल ही आचरण करता है। प्रह्लाद, ध्रुव, ईसा, हुसेन, मंसूर, आदि की गणना ऐसे ही महापुरुषों में है।

लेकिन दुरात्मा या छोटे आदमियों की ऐसी हालत होती है कि शील-मुरव्वत, हानि-लाभ, लाज-शर्म, डर दबाव आदि के चलते कदम-कदम पर बदलते रहते हैं—क्षण में कुछ और क्षण में कुछ करते रहते हैं। वे गिरे होने के कारण सांसारिक प्रलोभनों से ऊँचे उठ नहीं सकते। यह ठीक है कि उनमें भी सभी तरह के लोग होते हैं। कोई बिलकुल ही गिरे एवं दबे होते हैं तो कोई उनसे जरा ऊपर होते हैं और तीसरे होते हैं दूसरों से भी जरा और ऊपर। इसी प्रकार नीचे और ऊपर हजारों होते हैं। बात असल यह है कि महात्मापन के लिए उक्त जिन चारों का मेल जरूरी है. उनमें यदि तीन या दो का ही मेल हो सका, या चारों का मेल भी पूरा-पूरा न हो सका और यही बात तीन और दो के मेल में भी हुई तो वे लोग महात्मा तो हो सकते नहीं। वे तो नीचे जा पड़े। मगर उसी हिसाब से उनका पतन कम या बेश माना जायगा। मेल में जितनी ज्यादा कमी होगी पतन उतना ही अधिक होगा। विपरीत इसके मेल जितना ही अधिक होगा उतना ही वे अपेक्षाकृत ऊपर या ऊँचे माने जायेंगे।

संन्यास और लोकसंग्रह

कर्तव्यबुद्धि से या लोकसंग्रहार्थ कर्म करने वाले महापुरुषों के ही प्रसंग से गीता की एक और बात भी जानने योग्य है। समदर्शन या ब्रह्मनिष्ठा की हालत में महान् पुरुषों की दो गतियाँ हो सकती हैं—ऐसे पुरुष दो प्रकार के हो सकते हैं। एक तो ऐसे जिनकी मानसिक दशा बहुत ही ऊँची हो, अत्यन्त ऊँची हो। वह ऐसी दशा में हों कि उनकी वृत्तियाँ, उनके खयाल नीचे उतरते ही न हों, उतर सकते ही न हों आमतौर से ऐसे लोग आत्मानन्द में सदा मग्न रहते हैं। इन्हीं को कहीं-कहीं मस्त राम भी कहा है। उनके लिए इस दुनिया की सारी बातें वैसी ही हैं जैसी भादों की

अँधेरी रात में पड़ी चीजें। उन चीजों को कोई देख ही नहीं सकता। ऐसे महानुभाव भी सांसारिक पदार्थों और गतिविधियों को कभी देख सकते नहीं। इन चीजों का यथार्थ ज्ञान उन्हें कभी होता ही नहीं। अँधेरे की चीज को तो टो-टाके जान भी सकते हैं। मगर इनके लिए दुनियावी पदार्थ सर्वथा अज्ञेय हैं। इनके साथ उनका निकटवर्ती सम्बन्ध कभी हो ही नहीं सकता; हालाँकि ये पदार्थ औरों के देखने में चारों ओर पड़े मालूम होते हैं। जैसे पानी के भीतर ही पैदा हुआ और पड़ा रहने वाला कमल का पत्ता पानी से निर्लेप एवं असम्बद्ध रहता है, वही दशा इनकी है। जहाँ दुनिया की जरा भी पहुँच नहीं उसी मस्ती के ये शिकार हैं—उसी में झूमते हैं और जिसमें दुनिया झूमती है उससे ये महात्मा लाख कोस दूर हैं। गीता ने इन्हें संयमी कहा है—'तस्यां जागर्ति संयमी' (2। 69) और बताया है कि संसार की ओर से ये बेखबर होते हैं, उधर से सोते रहते हैं। संसार इनके लिए अँधेरी रात या रात की चीज है। इसी से दुनिया इन्हें पागल समझती है।

इन्हीं पागलों और मस्ताने लोगों की दशा को गीता ने सांख्यनिष्ठा और ज्ञान-निष्ठा नाम से भी पुकारा है। वे इतनी ऊँचाई पर होते हैं कि संसार की लपट उन तक पहुँच पाती ही नहीं। इसीलिए शरीरयात्रा की क्रियाओं के होते रहने पर भी इनके भीतर कर्तव्य-बुद्धि कभी पैदा होती ही नहीं। ये लोग कभी भी ऐसा नहीं समझते कि हमारे लिए अमुक कर्तव्य है। कर्तव्याकर्तव्य के खयाल से बहुत ज्यादा ऊपर होने के कारण उसकी सतह या धरातल में उनका पहुँचना असम्भव हो जाता है। उनकी तो दुनिया ही दूसरी होती है, निराली होती है यदि उसे दुनिया कहा जा सके। यही कारण है कि कर्म करने, न करने के जो विधिनिषेध हैं, इस तरह के जो विधान हैं वह उनके लिए हुई नहीं। ये संयमी महात्मा उन विधिनिषेधों और विधानों के दायरे से बाहर हैं। इसीलिए गीता ने साफ कह दिया है कि इन मस्तरामों का कोई भी कर्तव्य रह ही नहीं जाता। 'तस्य कार्यं न विद्यते' (3। 17)। यही है पक्का संन्यास, त्याग या कर्म का छोड़ना। जैसे मदिरा पी के मतवाला हुए आदमी को अपने तन की सुध-बुध नहीं होती, उससे लाख गुने बेसुध ये संन्यासी होते हैं। इनने तो महामदिरा का पान कर लिया है। कर्म के विधिनिषेध वचनों की हिम्मत नहीं कि उनके सामने जा सकें। उन्हें सामने जाने में आँच लगती है। इस प्रकार के संन्यासी या कर्मत्यागी कहे जाने वालों में शुकदेव, वामदेव, सनक, सनन्दन आदि आ जाते हैं। यही एक प्रकार का कर्म संन्यास है, जिसका मतलब आमतौर से सभी कर्मों के त्याग से न होकर केवल विधानसिद्ध कर्मों के त्याग से ही है।

परन्तु तत्त्वज्ञानी या समदर्शनवाले एक दूसरे प्रकार के भी महापुरुष होते हैं और जनक आदि इसी श्रेणी के माने जाते हैं। जिस प्रकार पहली श्रेणी वालों के कर्म अनायास ही छूट जाते हैं ठीक उसी तरह, जिस तरह पकने पर वृन्त या वृक्षशाखा से छूट के फल गिर पड़ता है; ठीक उसी प्रकार दूसरी श्रेणीवालों के कर्म जारी ही

रहते हैं, जैसे कच्चा फल वृन्त या टहनी में लगा रहता है। अगर पका फल बलात् टहनी में लगा रखा जाय तो वह सड़ने लगता है और यदि कच्चे को समय से पहले तोड़ा जाय तो वह भी या तो नीरस होता या सड़ने ही लगता है। बहुत दिनों के संस्कार और अभ्यास के फलस्वरूप जैसे पहली श्रेणीवालों का मन कर्मों से सोलहों आना उपराम और विरागी हो जाता है, ठीक उसी तरह दूसरी श्रेणीवालों का मन कर्मों में ही मजा पाने लगता है। यदि यह बात न हो तो परले दर्जे का लोकसंग्रहार्थ कर्म कभी होई न सके। क्योंकि जो पहुँचे हुए हैं वे सबके-सब यदि विरागी हो जायँ तो विधान प्राप्त कर्मों को करेगा कौन? और अगर वह न करें तो दूसरों का कर्म तो उस उच्चकोटि का होई नहीं सकता। उसमें कुछ न कुछ अपूर्णता रही जायगी। करने वाले खुद जो पूर्ण नहीं ठहरे। सृष्टि के नियम के अनुसार इसीलिए एक दल ऐसा होता ही है। संन्यासियों के भी उस दूसरे दल की जरूरत इसीलिए है कि परले दर्जे की मस्ती का नमूना और कोई पेश कर नहीं सकता। फलतः वैसे आदर्श की ओर लोग खिंच नहीं सकते। यह भी एक निराले ढंग का 'लोकसंग्रह' ही है, जो मस्ती के सम्बन्ध में संन्यास के रूप में है। इसी को पुराने वृद्धों ने जीते ही पूरा मुर्दा बन जाना लिखा है, जिसमें सुख-दुःख आदि का कुछ भी असर पड़ी न सके—ये सभी टक्कर मार के हार जायँ।

गीता ने जिस प्रकार कर्म-संन्यास के इस उच्च आदर्श को माना है और बार-बार उसका उल्लेख किया है उसी प्रकार ज्ञानोत्तर कर्म करने वाली बात को भी स्वीकार करके उसे कई जगह कर्मयोग या योग नाम दिया है और उसे करने वालों को कर्मयोगी और योगी आदि शब्दों से याद किया है (गीता के भाष्य की भूमिका-में शंकराचार्य ने साफ ही कहा है कि समदर्शियों और ब्रह्मज्ञानियों के कर्म को तो हम कर्म मानते ही नहीं, उसे कर्म कहना ही भूल है। क्या भगवान् कृष्ण के कर्म को कर्म कहना उचित है?—"तत्त्वज्ञानिनां कर्म तु कर्मैव न भवति यथा भगवतः कृष्णस्य क्षात्रं चेष्टितम्"। कर्म तो उसे ही कहते हैं जिसमें बाँधने, फँसाने या सुख-दुःख देने की शक्ति हो। मगर समदर्शियों का कर्म तो ऐसा होता नहीं। वह तो ज्ञान के करते जड़-मूल से जल जाता है उससे बन्धन नहीं होता, जैसाकि—'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्' (4। 19), 'कृत्त्वापि न निबद्ध्यते' (4। 22), 'समग्रं प्रविलीयते' (4। 23), 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' (4। 37),—आदि गीता वाक्य बताते हैं यही कारण है कि विधानसिद्ध कर्मों के संन्यासी होते हुए भी खुद शंकर लोकसंग्रहार्थ जीवनभर कर्म करते ही रहे। इसमें विधिविधान की तो कोई बात न थी। यह तो स्वभावसिद्ध चीज थी। विधिविधान के अनुसार किये गये कर्म तो बन्धक होते हैं और ये वैसे नहीं होते। इसीलिए शंकर ने इन्हें त्यागने पर कभी जोर न दिया।

इस विषय में एक प्रसंग आया है। हिरण्यकशिपु के मारने में नृसिंह को बड़ी दिक्कत का सामना करना पड़ा था। क्योंकि वह न दिन में मर सकता था, न रात

में, न जमीन में, न आसमान में और न आदमी से न जानवर से ही। इसीलिए खिचड़ी रूप बना के सन्ध्या समय में अपने हाथ में ले के ही उसे मारने की बात भगवान् को सोचनी पड़ी, ऐसा कहा जाता है। आगे भी ऐसी परेशानी न हो इसी खयाल से उनने प्रह्लाद से कहा कि सब पँवारा छोड़ के मेरे साथ ही चलो। लोगों को ज्ञान-ध्यान सिखाना छोड़ो। इस पर प्रह्लाद का जो भोलाभाला, पर अत्यन्त काम का, बहुत ही ऊँचे दर्जे का, उत्तर मिला वह इसी गीता के कर्मयोग का पोषक है। वह कहते हैं कि भगवन् ऐसा तो अकसर होता है कि सभी ऋषि-मुनि दूसरों की परवाह छोड़ के चुपचाप एकान्त में चले जाते और अपनी ही मुक्ति की फिक्र में लग जाते हैं। तो क्या मैं भी आपकी आज्ञा मान के ऐसा ही स्वार्थी बन जाऊँ? हरगिज नहीं। मैं ऐसा नहीं कर सकता। मुझे अकेले मुक्ति नहीं चाहिए। क्योंकि तब तो इन सांसारिक दुखियों-का पुर्साहाल कोई रही न जायगा। जो आपको इनके हितार्थ बलात् इसी तरह खींचे "प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामा, मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः। नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।" (भागवत 7। 9। 44)। 'योगस्थः कुरु कर्माणि' (2। 48) आदि श्लोकों में गीता ने भी यही कहा है।

आरुरुक्ष और आरूढ़

कर्म के त्याग या संन्यास की दशा एक और भी है। एक तो समदर्शन की अवस्था में जाने से पहले उसकी तैयारी करनी होती है। दूसरे वह अवस्था आने पर उसमें दृढ़ता लाने के लिए प्रयत्न किया जाता है। तैयारी में भी ऐसा होता है कि सबसे पहले उस ओर मन का जाना और लगना जरूरी है। जब मन चाहेगा कि हम उस दशा में आरूढ़ हों, पहुँचें और पक्के हों तभी तो दूसरे यत्न होंगे। इसे ही पुराने लोगों ने विविदिषा, जिज्ञासा वगैरह नामों से पुकारा है और ऐसी प्रवृत्ति वाले को विविदिषु, जिज्ञासु आदि कहा है। गीता में इसे आरुरुक्षा और ऐसे आदमी को आरुरुक्षु नाम दिया गया है। गीता के छठे अध्याय का 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं' यह तीसरा श्लोक इस बात को बहुत ही सफाई के साथ बताता है। समदर्शन या साम्यावस्था को गीता में योग या योगावस्था भी कहा है। उसी अध्याय के 18 से 23 तक के श्लोकों में और दूसरे स्थान पर भी यह बात लिखी है। खुद इसी तीसरे श्लोक में भी योग नाम ही आया है। उसी योग में आरूढ़ होने या पहुँचने की इच्छा वाले को 'योगारुरुक्षु' या 'योगमारुरुक्षु' कहा है और पक्कापक्की पहुँच के वहीं स्थिर हो जाने वाले को 'योगारूढ़' कहा है। तीसरे श्लोक में ही ये दोनों नाम आये हैं। लेकिन इसके स्पष्टीकरण के लिए हम उपनिषदों के एकाध वचनों पर भी विचार करेंगे। क्योंकि गीता को प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'गीतासूपनिषत्सु' शब्दों में उपनिषद् भी कहा है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के चौथे अध्याय के चौथे ब्राह्मण के 22वें और पाँचवें

ब्राह्मण के छठे मंत्रों के कुछ अंशों को ही हम यहाँ रखना चाहते हैं। क्योंकि विस्तार करना हमारा लक्ष्य नहीं है। 22वें में लिखा है कि "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।" इसका आशय यही है कि "उस आत्मा या ब्रह्म के ज्ञान की इच्छा (विविदिषा या जिज्ञासा) या यों कहिये कि लगन पैदा करने के लिए विवेकी लोग, वेदशास्त्रों के आधार पर, यही निश्चय करते हैं कि यज्ञ, दान और तप करना चाहिए—ऐसा तप जो शरीर का नाशक न हो या अनशन के रूप में न हो।" यहाँ यज्ञ, दान और तप से मतलब है सभी कर्मों से। गीता के अनुसार ये तीनों बहुत ही व्यापक हैं और इनमें सभी क्रियाओं का समावेश हो जाता है, जैसा कि सत्रहवें अध्याय के 11 से 22 तक के श्लोकों और चौथे अध्याय के 24 से 29 तक के श्लोकों से स्पष्ट है। इससे यह तो सिद्ध है कि जिज्ञासु या योगारुरुक्षु बनने के लिए—ज्ञान या योग के प्रति उत्कट अभिलाषा या लगन पैदा करने के लिए—कर्म जरूरी है, कारण हैं, साधन हैं, उपाय हैं। यही बात 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं' आदि आधे श्लोक में कही गयी है। इस प्रकार योग या समदर्शन की तैयारी के लिए कर्मों की जरूरत सिद्ध हो जाती है। कर्मों के करते-करते ही यह लगन पैदा हो जाती है। कर्म जितनी ही मुस्तैदी एवं तत्परता के साथ किये जायँगे उतनी ही जल्दी यह लगन पैदा हो के मनुष्य उस दिशा में पाँव देगा—उसके अत्यन्त निकट आ जायगा।

इसके बाद उसी 22वें मन्त्र में पूर्वोक्त वचन के बाद ही उसी से मिला हुआ यह वचन मिलता है, "एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति।" इसका आशय यह है कि "आत्मज्ञान के बाद ही मनुष्य को मुनि या मननशील हो जाना पड़ता है और उसी ज्ञान की पुष्टि या आत्मा की प्राप्ति के लिए लोग संन्यासी बनते हैं।" पाँचवें ब्राह्मण के छठे मन्त्र में भी लिखा है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि।" इसका अर्थ यह है कि "अरे मैत्रेयी, आत्मा के ज्ञान या दर्शन का होना सर्वथा सर्वदा वांछनीय है। उसके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना होगा।" श्रवण का तात्पर्य है खूब ध्यान से पढ़ना और सुनना कि वह कैसा है। उसके बाद उस पर खूब मनन और विचार करना आवश्यक है। दोनों बातें कर लेने के बाद एकान्त में समाधि लगा के उसी का निरन्तर चिन्तन करना होगा। तभी आत्मज्ञान हो सकता है। इसी समाधि या निदिध्यासन का विस्तृत वर्णन गीता के छठे अध्याय के 10 से 32, आठवें के 8 से 13, बारहवें के 6 से 19 और अठारहवें के 50 से 55 तक के और दूसरे श्लोकों में भी है। यही बात 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं' श्लोक के उत्तरार्द्ध में भी कही गयी है कि उसे मुनि और योगारूढ़ बनने-बनाने के लिए शम यानी कर्मों के त्याग की जरूरत है, त्याग ही उसका कारण है। उपनिषद् के वचन में जो 'मुनि' शब्द है वही गीता के इस श्लोक में भी पाया जाता है। उपनिषद् के वचनों में साफ ही संन्यास की

बात कही गयी है। यह भी बात है कि मनन एवं निदिध्यासन या समाधि के लिए तो जानें कितने समय तक कर्मों को कतई छोड़ देना आवश्यक हो जाता है। गीता के उक्त श्लोकों के पढ़नेवाले और समाधि की बातें जानने वाले ही बता सकते हैं कि उस समय कर्म की गुंजाइश कहाँ रह जाती है? सो भी युग लग जाते हैं फिर भी काम पूरा नहीं होता। इसीलिए कर्मों का त्याग या संन्यास खामख्वाह अनिवार्य हो जाता है।

जो लोग चौथे अध्याय के उक्त श्लोक के 'योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' में शम शब्द देखके एवं उसका अर्थ उपशम या मन की शान्ति लगा के सन्तोष कर लेते और कर्मों का त्याग जरूरी नहीं समझते उनकी समझ पर हमें तरस आता है। योगारूढ़ शब्द के भीतर तो मन की शान्ति या उसका निरोध आयी जाता है। 'योगोऽनिर्विण्णचेतसा' (6। 23) में भी यह साफ ही लिखा है कि योग की सिद्धि मन की शान्ति के बिना हो नहीं सकती है। और जब सभी कर्म करते रहें तो फिर मन की चंचलता मिटेगी कैसे? वह तो बराबर चक्कर लगाता ही रहेगा। हम यहाँ इतना ही कहना काफी समझते हैं कि योग के बारे में गीता के जिन वचनों का नाम हमने लिया है उन्हें पढ़ने और समझने के बाद यदि फिर भी किसी को यह कहने की हिम्मत हो कि समाधि के साथ-साथ विधान प्राप्त कर्म भी हो सकते हैं, तो हम अपनी भूल स्वीकार कर लेंगे। जो लोग यह कहते हैं कि शम का अर्थ कर्मत्याग या संन्यास नहीं होता उन्हें चौदहवें अध्याय के 'लोभः प्रवृत्तिराम्भः कर्मणामशमः स्पृहा' (12) को पढ़ के सन्तोष करना चाहिए। वहाँ 'आरम्भः' और 'अशमः' के बीच में 'कर्मणां' शब्द आया है और यह बताता है कि रजोगुण की वृद्धि हो जाने पर आदमी को लोभ होता है, कर्मों के करने की इच्छा होती है, वह कर्म शुरू भी कर देता है, फिर उसका ताँता बराबर जारी रखता है और उसे बन्द नहीं करता। 'शम' के साथ 'अ' लगने पर वह बन्द करने या त्याग की विरोधी बात कहता है। 'शम' धातु का संस्कृत में अर्थ भी है सभी क्रिया की निवृत्ति। मन की शान्ति का अर्थ भी यही है कि उसकी सारी हलचलें मिट गयीं। मगर शान्ति शब्द तो केवल मन के ही लिए आता नहीं। झगड़े की शान्ति तूफान की शान्ति आदि भी तो बोलते हैं। अतः उसका अर्थ है क्रिया की निवृत्ति। अग्नि शान्त हो गयी, लोग शान्त हो गये या ठण्डे पड़ गये, गुस्सा शान्त हो गया आदि बोलचाल में तो हलचल और क्रिया की ही निवृत्ति से मतलब होता है।

पूजा के भेद

गीता की एक और बात भी बड़े ही मार्के की है। आमतौर से यही समझा जाता है कि कण्ठी-माला जपना, चन्दन-अक्षत और पत्र-पुष्प आदि चढ़ाना तथा घण्टा-घड़ियाल वगैरह बजा के धूप, दीप, आरती और भोगराग अर्पण करना यही भगवान् की पूजा

है। तीर्थ-व्रत आदि करने, भगवान् के गुणों को वर्णन करने वाले ग्रन्थों का पाठ करने, स्तुति करने और गीत-भजन ऊँचे स्वर से गाने को भी किसी कदर पूजा मान लेते हैं। आँखें बन्द करके ध्यान में बैठना तो भगवान् की भक्ति जरूर ही है। प्रायः देखा जाता है कि भगवान् के प्रेम के नाम पर आँखों में नकली आँसू भर के कभी-कभी भक्त नामधारी लोग रोते भी हैं। रामलीला के नाम पर नाटक वगैरह का जो प्रपंच फैलाया जाता है उसे भी पूजा के भीतर ही मानते हैं। आजकल तो रसिक सम्प्रदाय और सखीसम्प्रदाय के नाम पर नाचने-गाने के अलावा जानें क्या-क्या नकलें की जाती हैं और स्त्री बनने का भी स्वाँग रचा जाता है। इसे भी भगवद्भक्ति ही मानने की बीमारी तेजी के साथ फैल रही है।

मगर गीता ने एक निराला ही रास्ता निकाला है और इस तरह ऐसा करने वालों का सौदा ही फीका कर दिया है। बेशक, दुनिया को दिखाने के लिए नहीं, किन्तु भीतरी श्रद्धा के साथ, जो कुछ पत्र, पुष्प आदि भगवान् के नाम पर अर्पण किया जाता है उसे भी नवें अध्याय के 'पत्रं पुष्पं' (26) श्लोक में पूजा कहा है। मगर वहाँ 'भक्त्या' और 'प्रयतात्मनः' के साथ ही जो 'भक्त्युपहृतं' कहा है उससे एकदम स्पष्ट हो जाता है कि सरल स्वभाव और निष्कपट मन से श्रद्धा और प्रेम के साथ जो कुछ किया जाता है उसे ही भगवान् स्वीकार करते हैं और वही उनकी पूजा है। श्रद्धा-भक्ति की जरा भी कमी हुई और यह बात चौपट हुई। तब तो यह कोरा रोजगार हो जाता है। दो बार 'भक्ति' शब्द एक ही श्लोक में कहने का मतलब ही यही है कि छलछलाते प्रेम और सच्ची श्रद्धा के साथ ही ऐसा करना पूजा मानी जा सकती है। नरसी मेहता और नामदेव आदि भक्तों के बारे में ऐसा ही कहा जाता है। शबरी तथा विदुर की ऐसी ही बात सर्वजन विदित है।

यह तो हुई एक पूजा। लेकिन यह है बहुत ही संकुचित। इसमें कितने ही बन्धन जो लगे हुए हैं। पूजा के लिए पत्र, पुष्प आदि लाना और उसकी खासतौर से तैयारी करना इस बात के लिए जरूरी हो जाता है। इसलिए यह पूजा निराबाध नहीं चल सकती। इसका दिन-रात चलना भी असम्भव है। आखिर घर-गिरस्ती सँभालना तो पड़ता ही है। अपने शरीर-सम्बन्धी मल-मूत्र त्याग आदि की क्रियाएँ तथा खान-पान वगैरह भी तो जरूरी हैं। समय-समय पर लोगों से बातचीत और सोना-जागना भी आवश्यक है। यदि कोई नौकरी-चाकरी या मजदूरी करते हैं तो उस समय भी यह काम नहीं हो सकता है। यदि हल चलाते, खेत खोदते, विद्यार्थी की दशा में पाठ का अभ्यास करते और सिपाही बन के पहरा देते हैं, तो भी यह पूजा नहीं हो सकती। बीमार हो जाने पर भी यह चीज असम्भव है। इस प्रकार हजार बाधाएँ मौजूद हैं जिनसे यह पूजा खंडित हो जाती है। इसलिए गीता ने बहुत ही आसान और सर्वथा सर्वदा सुलभ मार्ग बताया है।

नवें अध्याय का जो 'पत्रं पुष्पं' श्लोक पहले बताया है उसी के बाद के 27

और 28 दो श्लोकों में जो कुछ भी कहा गया है उससे सभी दिक्कतें और बेबसियाँ दूर हो जाती हैं। हाँ, अपने मन की दिक्कतें रहती हैं जरूर। मगर इसका तो कोई बाहरी उपाय है नहीं। यह खुद हटाने की चीज है। मन की शैतानियत तो दूसरा कोई दूर कर सकता नहीं। हाँ, तो उन श्लोकों में पहले यज्ञ, दान और तप के नाम से तीन कामों को गिना के कहा है कि इन्हें करके भगवदर्पण, मदर्पण, मुझे अर्पण करो। मगर फिर इनमें भी वही दिक्कतें और बाधाएँ समझ के आखिर में कह दिया है कि इन्हें तो नमूने के तौर पर गिना दिया है। असल में जो कुछ भी करते हो, 'यत्करोषि', उसे ही भगवान् को अर्पण करो। इसका सीधा मतलब यही है कि जो भी काम करते हो सभी कुछ भगवदर्पण बुद्धि से, यह समझ के कि यह भगवान् की पूजा ही रूपान्तर में हो रही है, करो। चौबीस घंटे में जो कुछ भी किया जाय—और इसमें सोना, मल-मूत्र त्याग आदि भी आ ही जाता है—सभी के मुतल्लिक एक ही भावना होनी चाहिए, एक ही खयाल होना उचित है कि यह तो और कुछ नहीं है; केवल भगवान् की पूजा है। इसी खयाल का अभ्यास होने से ही काम चल जाता है। फिर तो लोक-परलोक के लिए दूसरी चिन्ता-फिक्र करने की जरूरत ही नहीं होती। काम का काम हुआ और भगवान् की पूजा भी हो गयी! 'आम के आम रहे और गुठली का दाम भी मिल गया!' इसे ही 'एक पन्थ दुइ काज' कहते हैं।

गीता में यह बात किसी न किसी रूप में बार-बार आती गयी है और अन्त में अठारहवें अध्याय की समाप्ति के पहले भी 45 और 46 श्लोकों में यही बात कही गयी है। वहाँ तो 'स्वकर्मणा तमभ्यचर्य'—"अपने-अपने कर्मों से ही उस भगवान् की पूजा अच्छी तरह करके"—ऐसा साफ ही कह दिया है। यज्ञ, दान आदि का वहाँ नाम भी नहीं ले के केवल 'स्वकर्म' को ही पूजा के रूप में बताया है। खूबी तो यह है कि 'स्वधर्म' भी नहीं कह के 'स्वकर्म' कहा है। धर्म और कर्म गीता की नजरों में तो पर्यायवाची हैं और दोनों का एक ही अर्थ है। मगर सर्वसाधारण का खयाल तो ऐसा है नहीं। वे तो धर्म कुछ और ही चीज मानते हैं। साधारण क्रिया को तो वे धर्म मानते नहीं। उनके लिए तो विशेष प्रकार का कर्म ही धर्म है। इसीलिए यहाँ 'स्वकर्म' कह दिया है। ताकि लोग भूलभुलैया में न पड़े रहें और क्रिया मात्र को ही पूजा के रूप में समझने एवं मानने की कोशिश करें, ऐसा ही मानें।

श्रीमद्भागवत में भी राजा रहूगण और मस्तराम जड़भरत के संवाद में कहा गया है कि "स्वधर्म आराधनमच्युतस्य यदीहमानो विजहात्यघौघम्" (5। 10। 23)। इसका आशय यह है कि "अपने कर्तव्यों का पालन करना ही भगवान् की पूजा है, जिसके चलते पाप का पहाड़ भी खत्म हो जाता और नजदीक नहीं आता है।" रहूगण ने अपने राज्यकार्य संचालन और शासन आदि को ही लक्ष्य करके ऐसा कहा है। लोग यह न समझें कि दंड देने का काम तो बीभत्स है, इसीलिए उनने कह दिया है कि वह तो राजा का कर्तव्य होने के कारण भगवत्पूजा ही है। बेशक, यहाँ

स्वकर्म न कह के स्वधर्म कहा है। मगर मतलब एक ही है। यदि दंड आदि रूप सख्त काम और अमल एवं मार-काट तथा युद्ध को पूजा कह सकते हैं, ये सभी काम यदि पूजा ही हैं, तो लोगों के सभी साधारण कामों का क्या कहना? वे तो आसानी से उस पूजा के भीतर आ ही जाते हैं।

यहाँ 'स्वधर्म' और गीता में जो 'स्वकर्म' कहा है इन दोनों में 'स्व' शब्द देकर यही बताया गया है कि खुद कर्मों के अच्छे-बुरे होने की कोई बात नहीं। अपने-अपने कर्म ही पूजा बन जाते हैं। उनकी बाहरी बनावट और रूपरेखा कोई चीज होती नहीं। इसीलिए अपने खराब कामों को छोड़ दूसरों के अच्छों की ओर झपट पड़ना भी ठीक नहीं। 'अपने' का अर्थ है हरेक के लिए जो निर्धारित या तयशुदा (assigned) हैं।

पूजा को ऐसा रूप देने में एक बहुत ही बड़ी खूबी और भी है। सभी चाहते हैं कि हरेक काम अच्छी तरह पूरा हो और सुन्दरता के साथ किया जाय। हरेक चीज की सबसे बड़ी खूबी है उसकी पूर्णता। यदि अधूरापन किसी भी काम में रहने न पाये तो संसार मंगलमय बन के ही रहे। मगर यही बात नहीं हो पाती और लापरवाही, अन्यमनस्कता आदि कितनी ही चीजें इसकी वजह हैं। लोग अकसर यह भी समझते हैं, खासकर जब कोई कठिन, परन्तु अप्रिय, काम उन्हें सौंपा जाय, कि 'गले पड़ी, बजाये फुर्सत।' इसीलिए जैसे-तैसे उसे कर-कराके अपना पिंड छुड़ाना चाहते हैं। इसीलिए जरूरत है इस बात की कि लोगों में काम के लिए अनुराग पैदा किया जाय, उनमें उसकी धुन लाई जाय और ऐसा किया जाय कि काम के लिए उनमें आग पैदा हो। यही बात इस पूजा वाली प्रक्रिया से हो जाती है। जब लोग समझने लगते हैं कि हम जो कुछ भी करते हैं वह भगवान् की पूजा ही है तो खामख्वाह मनोयोगपूर्वक करना चाहते हैं। दिल में यह खयाल हो आता है कि पूजा में कोई कोर-कसर न रह जाय। इसलिए धुन और लगन के साथ सच्चे प्रेम से अपने-अपने काम न सिर्फ करते हैं, बल्कि उन्हें पूर्ण बनाने के लिए सिरतोड़ परिश्रम करते हैं। जब आमतौर से किसी भी बड़े के लिए तैयार की गयी भेंट को सुन्दर से सुन्दर बनाने की कोशिश की जाती है तो फिर बड़ों के भी बड़े—सबसे बड़े—के लिए होने वाली हमारे कामों की भेंट क्यों न सर्वात्मनां सुन्दर बनाई जाय? इसमें बाहरी खर्च-वर्च और परेशानी की भी बात नहीं है। यहाँ तो केवल मनोयोग का प्रश्न है। इस प्रकार सभी काम पूर्ण होंगे और संसार सुखमय होगा।

गीता का योग

योग शब्द के कितने अर्थ गीता में माने गये हैं यह बात तो आगे बताई जायगी। मगर गीता का जो अपना योग है, जिसका ताल्लुक कर्मयोग से है और जो गीता की अपनी खास देन है वह जानने की चीज है। यों तो उसका जिक्र कई स्थानों

पर आगे भी आया है। लेकिन दूसरे अध्याय के 'एषा तेऽभिहिता' (39) श्लोक से जिस योग की भूमिका शुरू करके 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (47) तथा उसके बाद वाले (48वें) श्लोक में जिस योग का वर्णन है वही गीता का निजी योग है। इन दोनों श्लोकों को मिलाकर ही उसका रूप पूरा हुआ है। आगे के 50वें श्लोक में उसी योग का निचोड़ या संक्षिप्त रूप 'योगः कर्मसुकौशलम्' शब्दों में बताया है। लोग कहीं ऐसा न समझ बैठें कि पहले बताया गया योग कोई दूसरी ही चीज है, इसीलिए गीता साफ कहे देती है कि वह और कुछ नहीं है सिवाय कर्म करने की चातुरी, उसकी कुशलता, विशेषता (specialism) के। कोई मनुष्य कर्मों के करने में विशेषज्ञ (specialist) हो जाता है उसे ही योगी या कर्मयोगी कहते हैं। उसे ऐसी हिकमत मालूम हो जाती है कि कर्मों के करते रहने पर भी बन्धन में नहीं फँस सकता और निर्वाणमुक्ति या ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त कर लेता है। योग शब्द का यों भी युक्ति या उपाय अर्थ माना जाता है और कर्म के सम्बन्ध की यह हिकमत भी युक्ति ही तो है।

यह युक्ति, हिकमत या विशेषज्ञता क्या है और कैसे प्राप्त होती है, यही बात 47 और 48 श्लोकों में बताई गयी है। अगर कर्म, क्रिया, काम या अमल को हम दायरे या वृत्त के रूप में मान लें तो यह बात समझने में आसानी होगी। तब तो कर्म करने का मतलब होगा मनुष्य का उस वृत्त में घुसना। गीता की नजरों में कर्म करने वाले के लिए कहा गया है कि "उसका हक या अधिकार सिर्फ कर्म तक ही है"—'कर्मण्येवाधिकारस्ते।' इसका आशय यह है कि हमें उस वृत्त के भीतर ही सीमित या बँधे रहने का ही हक है—हमें उसके भीतर ही रहना चाहिए। परिधि को डाँकना नहीं चाहिए—परिधि डाँकने का यत्न हरगिज करना नहीं चाहिए। 'कर्मणि' के आगे जो 'एव' शब्द है वही डाँकने की मनाही करता है, हमें डाँकने से रोकता है। लेकिन यह तो सूत्र जैसी बात हो जाती है। इसका स्पष्टीकरण हो जाना जरूरी है। इसीलिए 47वें श्लोक के शेष तीन चरण (हिस्से) और पूरा 48वाँ—दोनों ही—यही स्पष्टीकरण करते हैं।

कर्म को वृत्त करार देने पर मान लें कि करने वाले के आगे वह वृत्त है और उसके तथा वृत्त के बीच में किसी और चीज की सम्भावना है जिससे उसका वृत्त के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध न हो के बीच में वही चीज आ सकती है—आ जाती है और इस तरह वृत्त में घुसने में उसे बाधा पहुँचाती है। उसी तरह वृत्त के भीतर घुसने के बाद वृत्त के बाहर उस आदमी के सामने वृत्त के दूसरे किनारे के उस पार भी कोई वस्तु है। मतलब यों समझें कि हम पूर्व मुख खड़े हैं और हमारे आगे एक वृत्त है। मगर वृत्त और हमारे बीच में भी कोई चीज है या हो सकती है जो हमें वृत्त में जाने से या तो रोकती है, या इतना ही होता है कि हम वृत्त में जाने के पहले उस वस्तु से होकर ही गुजरते हैं और सामने की परिधि पार करके सीधे वृत्त में पूर्व मुख खड़े ही पहुँच जाते हैं। फिर वृत्त में जाने पर जब परिधि

का पिछला भाग न देख के सामने वाला ही देखते हैं, तो उसके आगे—परिधि के पार—पूर्व ओर कोई दूसरी वस्तु भी नजर को आकृष्ट करती है, कर सकती है। साथ ही परिधि के भीतर वृत्त में पाँव देने के पहले जो यह कहा गया है कि किसी और चीज से गुजरने के बाद ही वृत्त में पाँव दे सकते हैं, वह चीज एक भी हो सकती है और दो भी। गीता ने शुरू में ज्यादे से ज्यादा दो चीजों की और पीछे चलकर वृत्त के बाहर आगे की एक चीज की सम्भावना करके उन्हीं तीनों की रोक लिखी है। कर्म करने वालों को उनमें एक पर भी दृष्टि नहीं दौड़ाना चाहिए, एक का भी खयाल—परवाह—नहीं करना चाहिए, यही आदेश 40 और 48 श्लोकों के शेष अंशों में दिया है। इन तीनों के सिवाय दायरे (वृत्त) के भीतर भी वृत्त के अलावा एक चीज है, एक खतरा है। उससे भी आगाह कर दिया गया है। जो इन चार खतरों से बच जाता है वही पक्का योगी या कर्मयोगी होता है, यही गीता का कहना है।

पहले की दो चीजों—दो खतरों—में एक है कर्म के फल का खयाल, उसका चिन्तन, उसकी इच्छा, फलेच्छा या फल का संकल्प। मन में फल के स्वरूप की कल्पना करके ही किसी काम में आमतौर से हाथ बढ़ाते जो हैं। दूसरा है कर्म का त्याग या उसका न करना। ऐसा होता है कि या तो यों ही कर्म में जी नहीं लगने के कारण उसे करते ही नहीं; या यदि फल की इच्छा या सम्भावना ही न हो तो भी कर्म नहीं करते हैं। इसीलिए कर्म के फल की इच्छा की ही तरह अकर्म या कर्म का त्याग, उसे छोड़ देना भी कर्म के पहले ही आ जाता है—यह बात कर्म के दायरे में पाँव देने के पहले ही आ जाती है। दायरे के बाहर आगे जो चीज दायरे में पाँव देने पर आती है और जिससे खतरा है वह है उस कर्म का खुद फल ही। कर्म करने के पहले तो मन में फल का संकल्प मात्र करते हैं। मगर कर्म शुरू कर देने और पूरा करने तक तो साक्षात् फल पर ही नजर जा पड़ती है। इसीलिए यह भी एक खतरा है। चौथा खतरा है खुद कर्म से ही—वृत्त या दायरे से ही, यदि कर्म में आसक्ति, संग ममता, अन्धप्रेम (blind attachment) हो जाय। यह कर्म की आसक्ति भी भारी खतरनाक है। यह भी याद रखना चाहिए कि जो शुरू के दो खतरों में कर्मत्याग को गिनाया है उसका भी मतलब है कर्म के छोड़ देने की आसक्ति या हठ से ही। जैसे कर्म करने की आसक्ति या हठ बुरा है, ठीक उसी प्रकार उसके न करने का भी हठ खतरनाक है। हठ किसी ओर नहीं होना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण अभी हुआ जाता है।

हाँ, तो अब जरा देखें कि इन चारों खतरों की रोक क्यों कर की गयी है। 47वें श्लोक के दूसरे हिस्से को हम यों पाते हैं, "मा फलेषु कदाचन"—"कर्मों के फलों में तो हमारा अधिकार कभी नहीं है।" इस तरह वृत्त में पाँव देने के बाद जो आगे वाला खतरा है परिधि के बाहर और जिसे हमने तीसरा कहा है उसे रोक दिया।

कर्म के साथ फल का ताल्लुक स्वभावतः होता ही है। इसलिए कर्म के बाद चटपट उसी से रोकना उचित समझा गया। इसके बाद 47वें के शेष—उत्तरार्द्ध—में वृत्त के पहले वाले दो खतरों से रोका है "मा कर्मफलहेतुभूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि"—"कर्म के फल के कारण मत बनो, अर्थात् कर्मफल का खयाल करके काम हर्गिज शुरू न करो।" फल के लिए संकल्प और चिन्तन के जरिये ही तो फल तक पहुँचते हैं अब यदि वह संकल्प या चिन्तन रहा ही नहीं, फल का खयाल हई नहीं तो 'रहा बाँस न बाजी बाँसुरी' वाली बात हो गयी और फल से स्वयमेव ताल्लुक बँधा ही नहीं। यही कारण है कि पहले फल की बात रोक के उसके कारण-स्वरूप फलेच्छा या फल संकल्प की बात पीछे रोकी गयी है। क्योंकि फल की इच्छा या संकल्प होने पर तो फल तक पहुँचना रुकी नहीं सकता।

इस पर सहसा यह कहा जा सकता है कि तो फिर कर्म करेंगे ही क्यों? जब न तो फल की परवाह है और फल का संकल्प ही है, तो कर्म की बला में नाहक फँसा क्यों जाय? इसी का उत्तर श्लोक का आखिरी हिस्सा 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' देता है कि खबरदार, अकर्म (कर्म छोड़ने) में आसक्ति या हठ हर्गिज होने न पाये। कर्म का न किया जाना एक चीज है और उसमें—न करने या छोड़ने में—हठ बिलकुल दूसरी ही चीज है। ऐसा हो सकता है कि समय पा के खुद-ब-खुद कर्म छूट जाय। परिस्थिति ऐसी हो जाय कि हजार चाहने पर भी कर्म छोड़ने के अलावा दूसरा चारा होई न। इसलिए अपने आप या मजबूरन कर्म छूट जाय। गीता यह बात मानती है और इसका विरोध उसे इष्ट नहीं। मगर कर्म के छोड़ने का हठ हर्गिज उसे बर्दाश्त नहीं। हम कर्म कभी करेंगे ही नहीं चाहे जो भी हो जाय, यही चीज गीता को पसन्द नहीं। कर्म के मार्ग में यही उसकी नजरों में तीसरा खतरा है और वह लोगों को इसी से सजग करती है।

लेकिन चौथे खतरे का सामना हो जा सकता है। वृत्त के बाहर परिधि के इधर-उधर के उक्त तीनों खतरों से बचने पर भी चौथा खतरा उसके भीतर ही—दायरे के अन्दर ही—हो सकता है। वह है कर्म के करने का हठ या आसक्ति। इसी को कर्म में संग, कर्म का संग, कर्मसंग या कर्मासंग भी कहते हैं। जैसे सक्ति और आसक्ति का अर्थ एक ही है चिपक जाना या सट जाना और जिसे अंग्रेजी में अटैचमेण्ट (attachment) कहते हैं; ठीक उसी प्रकार संग और आसंग का भी यही अर्थ है। दोनों शब्दों में 'आ' के जुट जाने से चिपकने या लिपटने में सिर्फ अन्धापन या हठ (जिद्द) जुट जाता है और इसे 'ब्लाइण्ड अटैचमेण्ट' (blind attachment) कह सकते हैं। मगर 'आ' के न रहने पर भी यही अर्थ होता है। गीता के मत से जैसी ही बुरी अकर्म (कर्मत्याग) की जिद है वैसी ही कर्म की जिद भी। आसक्ति या हठ दोनों का ही बुरा है। इसी हठ को 'ऊँट की पकड़' कहते हैं। ऊँट किसी चीज को एक बार पकड़ने पर छोड़ता ही नहीं। बन्दरिया की आसक्ति या अन्धप्रीति अपने

बच्चे के साथ होती है। फलतः बच्चे के मर जाने पर भी उसे नहीं छोड़ती। किन्तु छाती से लिपटाये फिरती है जब तक कि वह खुद टुकड़े-टुकड़े हो के गिर नहीं पड़ता है। यह चीज बुरी है और यही रोकी गयी है। हजार कोशिश और दृढ़ संकल्प (determination) के बाद भी कभी-कभी परिस्थितिवश कर्म का छूट जाना अनिवार्य हो जाता है। परिस्थितियाँ किसी के वश की जो नहीं होती हैं। फिर हठ या जिद क्यों? न करने की जिद हो और न तो न करने की ही। जिद ही तो बला है।

दृढ़ संकल्प और आसक्ति या हठ में फर्क है—दोनों दो चीजें हैं। दृढ़ संकल्प का तो इतना ही मतलब है कि विघ्न-बाधाओं से कदापि विचलित न हो के कर्म करते रहें—चट्टान की तरह अटल रहें—मगर इतने पर भी कर्म छूट जा सकता है। यह जरूरी नहीं कि हम उसे करते ही रहें। परिस्थितियाँ हमें मजबूर कर दे सकती हैं। फलतः दृढ़ संकल्प के होते हुए भी इस तरह कर्म के छूट जाने पर हमें कष्ट न होगा। क्योंकि हमारा तो यही रास्ता है और होना चाहिए कि "आओ विपत्तियाँ तुम, दुःखों को साथ लाओ। पीटूँगा मैं तुम्हीं को, तुमसे ही या पिटूँगा।" मगर यदि कर्म में आसक्ति या करने की जिद रही, तो हमें मर्मान्तक वेदना ऐसी दशा में जरूर हो जायगी और सारा मजा ही किरकिरा हो जायगा। ठीक इसी तरह कर्म के त्याग के हजार हठ करने पर भी उसे करने की मजबूरी कभी-कभी हो सकती है और हठ होने से हम उस दशा में तिलमिला जा सकते हैं। यही बात गीता रोकना चाहती है। इसीलिए कर्म के करने या न करने—कर्म या संन्यास दोनों ही—में आसक्ति, जिद या हठ को उसने खतरा करार दिया है और कहा है कि कर्म चाहे पूरा हो या अधूरा ही रह जाय या चाहे हम उसे शुरू ही न कर पायें—हर हालत में हमारे दिल-दिमाग की समता या गम्भीरता (balance of mind) बिगड़ना नहीं चाहिए। हमें दोनों ही हालतों में, पूरा होने, न होने—कर्म की सिद्धि और असिद्धि—में सम रहना चाहिए—एकरस (unconcerned) रहना चाहिए, जैसा कि जनक ने मिथिलापुरी में आग लगने पर कहा था कि मिथिला जलती है तो जले, मेरा क्या जलता है?—"मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किञ्चन दह्यते।" यही है योग। इसी योग को प्राप्त करके, काबू में करके—योगस्थ हो के—हमें कर्म करना चाहिए। फल और उसके संकल्प के त्याग का भी असली प्रयोजन यही है कि दिल-दिमाग की गम्भीरता और समता—एकरसता (balance)—न बिगड़े।

इन चारों खतरों से बचने का निचोड़ इसी सिद्धि, असिद्धि की समता में ही आ जाता है। इसीलिए इसे ही योग कहा है। फल की तरफ खयाल होने या फल का संकल्प होने पर कुछ भी गड़बड़ होते ही हायतोबा मचती ही है। इसीलिए उससे बचना जरूरी है। ऐसा भी होता है कि काम पूरा होने तथा विजय मिलने पर खुशी के मारे मनुष्य आपे से बाहर हो जाता है और ऐसा न होने या पराजय होने पर रंज के मारे ही आपे से बाहर या बेसुध हो जाता है। दोनों ही हालतों में दिल-दिमाग

की समता खत्म हो जाती है। फलतः ऐसा करना चाहिए कि दोनों में एक का भी मौका ही आने न पाये। इसीलिए तो आसक्ति का त्याग जरूरी बताया गया है। पूरे 48वें श्लोक में यही बात खूब सफाई के साथ कही गयी है। न रंज के मारे छाती पीटने का और न खुशी के मारे बेहोश होने का ही मौका इसी के चलते आने पायेगा। यही योग है।

इसमें सबसे बड़ी खूबी यह है कि जब कर्म करनेवाले का मन इधर-उधर कहीं भी जरा भी न जा के सिर्फ काम में ही लग जायगा—वहीं केन्द्रीभूत (concentrated)—हो जायगा, तो वह काम होगा भी ठीक-ठीक। किसी भी काम की पूर्णता के लिए दिल और दिमाग का उसमें लग जाना, उसी में जा के अड़ जाना और लिपट जाना—उससे बाहर न जाना—बुनियादी और मौलिक कारण है। फिर तो वह सिद्ध और पूर्ण हो के ही रहेगा। अधूरेपन की गुंजाइश उसमें रहेगी ही नहीं। दिल और दिमाग में बड़ी ताकत है। जिसे इच्छाशक्ति (will-power) कहते हैं वह यही चीज है। योगियों और सिद्धों के जो अद्भुत काम कहे गये हैं और उनकी सिद्धियों का जो वर्णन मिलता है उसका रहस्य यही है। और जब मन के—दिल और दिमाग के—कहीं इधर-उधर जाने की गुंजाइश रखी ही नहीं गयी है, तो वह केन्द्रीभूत खामख्वाह होगा ही। फल, उसका संकल्प, कर्म के करने का आग्रह और उसके न करने का हठ—यही चार—ही तो ऐसी चीजें हैं जिनकी ओर मन कर्म के सिलसिले में भटक सकता है, भटकता फिरता है। मगर गीता ने इन चारों का दरवाजा बन्द करके उसके लिए कोई रास्ता ही नहीं छोड़ा है कि भाग सके।

नतीजा यह होगा कि कर्म की सांगोपांग पूर्ति तो होगी ही। उसी के साथ उसका फल, परिणाम या नतीजा भी हो के ही रहेगा। उसमें दिक्कत की गुंजाइश रही कहाँ? गड़बड़ी के सभी रास्ते तो बन्द होई गये। यह भी कितनी मौजूँ और युक्तियुक्त बात है कि कर्म के फलों को तो कोई सीधे पकड़ सकता नहीं। उन्हें तो कर्म के द्वारा ही पकड़ा जा सकता है। इन्सान काम करता है और काम से फल होता है, चाहे बुरा हो या भला। हम सीधे फल तो पैदा करते ही नहीं। हमारे वश की चीज तो कर्म या क्रिया ही है। फल तो है नहीं। फिर हम क्रिया की ही फिक्र क्यों न करें? फल की ओर नाहक क्यों दौड़ें? यह तो मृगतृष्णा की बात ही ठहरी। जो चीज हमारे वश की नहीं, अधिकार की नहीं, उस पर नाहक क्यों दौड़ें और लट्टू हों ? फलतः गीता ने जो कहा है कि सिर्फ कर्म में ही अधिकार है, वही तो युक्तिसंगत बात है। वह कोई आश्चर्य की चीज तो है नहीं। और कर्म या अकर्म का हठ तो महज नादानी है, जैसी कि सभी तरह के हठों की बात है।

इस उपदेश का फल यह हुआ कि एक तो कर्म का फल जरूर ही मिलेगा—उसका मिलना एक प्रकार से निश्चित ही समझिये, यदि कोई दैवी बाधा आ न पहुँचे। मगर यह बात फल की इच्छा, लालसा और संकल्प के होने पर सम्भव नहीं। क्योंकि

'मन न होय दस-बीस' के अनुसार एक ही मन कभी कर्म की ओर जायगा तो कभी फल की ओर, कभी उसके त्याग की ओर और कभी उसके करने के हठ की तरफ। कभी उसे कर्म अपनी ओर खींचेगा तो कभी फलेच्छा अपनी तरफ। इस खींचतान में न तो वह कर्म में जमेगा, न वह पूरा उतरेगा और न फल मिलेगा। दूसरी बात—दूसरा लाभ—इससे यह हुआ कि जहाँ पहले फल मिलने पर या न मिलने पर भी कर्म बन्धन का—जन्म-मरण का—कारण होता था, तहाँ अब वह बात जाती रही। जैसे भाड़ में डालने पर अन्न में—बीज में—अंकुर पैदा करने की ताकत जाती रहती है। वैसे ही इस योग के फलस्वरूप कर्मों में बन्धन की ताकत रही नहीं जाती—वह खतम हो जाती है। दरअसल कर्मों का संस्कार मानसपटल पर जमने पाता ही नहीं। फिर वह जन्म-मरण में फँसायें तो कैसे? जन्म-मरण का तो अर्थ ही है कर्मों के करने का सिलसिला जारी रहना। और इस सिलसिले के लिए उसके संस्कार जरूरी हैं, जैसे बीज में अंकुरजनन की शक्ति। मगर यहाँ तो योग के चलते हम कर्मों के करने या न करने या उनके फलों से कतई प्रभावित होते ही नहीं—तटस्थ या उदासीन रह जाते हैं। तब मानसपटल पर—जो निर्लेप बन गया है—संस्कार कैसे पैदा होगा? संस्कार के लिए उदासीनता की नहीं, किन्तु अनुराग, मैत्री या लालसा की जरूरत होती है। जिन चीजों से हम उदासीन हों उनके संस्कार मन में पैदा होते ही नहीं। हाँ, जिनमें मन लगा हो उनके संस्कार जरूर ही पैदा हो जाते हैं। यही कारण है कि इसी योग को कर्म का कौशल कहा है। यही तो कर्म करने की असली कला है—कर्म करने का जादू है, कारीगरी है।

जिस समत्वरूप योग का वर्णन अभी किया गया है उसके सम्बन्ध में अनेक बातें जानने की हैं। इसीलिए इस पर बहुत कुछ लिखना बाकी ही है। लेकिन आगे बढ़ने के पहले यहीं पर पूर्वोक्त 47वें श्लोक की एक महत्त्वपूर्ण बात और भी जान लेना जरूरी है। कर्म करने और उसके त्यागने का झमेला कुछ ऐसा है और इधर कुछ गीता के टीकाकारों ने उसे इतना ज्यादा बढ़ा दिया है कि हमें विवश हो के यह लिखना पड़ रहा है। उस श्लोक के पहले चरण के तीन शब्दों 'कर्मणि, एव, अधिकारः' में 'एव' शब्द कुछ विचित्र है। वह 'कर्मणि' के आगे आया है। 'अधिकारः' के आगे भी आ सकता था और ऐसा होने पर अर्थ में कुछ विशेषता आ जाती। एव शब्द किसी बात पर जोर (emphasis) देने के ही लिए आता है। फलतः जिस पदार्थ के वाचक शब्द के बाद आता है उसी पर जोर देता है। यहाँ स्वभावतः कर्म पर ही जोर देता है। उसी के बाद आया जो है। यदि 'अधिकारः' के बाद आता तो अधिकार, वश या काबू पर ही जोर देता। क्योंकि अधिकार शब्द इन्हीं का वाचक है। जोर देने का मतलब यही होता है कि जिस पर जोर होता है उससे अन्य चीजें रोक़ी जाती हैं। अन्य चीजों से मतलब है उन्हीं से जिनकी संभावना होती है—यानी उसकी विरोधी या सम्बन्ध वाली चीजें।

इसीलिए यहाँ कर्म-सम्बन्धी फल, फलेच्छा, कर्मासक्ति आदि का निषेध हो जाता है, इन पर रोक आ जाती है और दोनों श्लोकों में यही बात आयी भी है। यदि 'अधिकारः' के बाद 'एव' रहता तो हक या अधिकार या वश के विरोधी तथा सम्बन्धी पदार्थों पर रोक हो जाती। मगर यहाँ वह बात हई नहीं। फिर भी असली बात जो हमें कहनी है वह तो यह है कि कर्म एवं अधिकार दो में एक के साथ 'एव' के लगने से यहाँ निरालापन आया है। जैसा है वैसी दशा में खामख्वाह कर्म करने में हठ नहीं हो सकता। लेकिन अधिकार के साथ आ जाने पर यही हठ आ जाता। क्योंकि तब तो स्पष्ट हो जाता कि हमें कर्म छोड़ने का कोई हक हई नहीं और हमें उससे लिपटे रहना होगा। जिस चीज पर आगे रोक लगी है वही चीज तब हो जाती। जहाँ अब अर्थ होता है कि कर्म के अतिरिक्त फलादि का हक हमें नहीं है, तहाँ उलट के अर्थ हो जाता कि हक के सिवाय किसी और का सम्बन्ध कर्म के साथ हई नहीं।

जिन दो पदार्थों के बीच में एक पर यह जोर रहता है उन्हीं में दूसरे के साथ एक को यानी पहले को बाँध देता है और बाकियों को, जिनकी सम्भावना हो, रोक देता है। इसे और भी साफ तौर से यों समझें कि कर्म पर ही यहाँ जोर देने के कारण उसी के अनुकूल या अधीन हक रहता है। कर्म की ही प्रधानता रहती है। हक उसकी छाती पर बैठ के उसे घसीट नहीं सकता। विपरीत इसके यदि अधिकार या हक पर जोर होता तो उसी की प्रधानता होती और कर्म की छाती पर बैठ के वह अपने साथ यानी आदमी के साथ कर्म को घसीटता फिरता। तब कर्म किसी भी दशा में त्याज्य या त्यागने योग्य नहीं रह सकता। मगर वर्तमान दशा में तो हक ही त्याज्य नहीं है। कर्म का त्याग तो हो सकता है। जब हम कर्म करते हैं तो यह कोई नहीं कह सकता कि उस पर हमारा हक नहीं है। इस तरह देखते हैं कि इस 'एव' शब्द का स्थान बदलने से दोनों श्लोकों के बाकी अंशों के साथ पहले चरण का कोई मेल होता ही नहीं।

इतना लिखने का हमारा मतलब दोनों श्लोकों के सभी अंशों में परस्पर मेल या सामंजस्य लाना नहीं है। यह तो गीता के रचयिता का ही काम था कि बेमेल बात न बोलें। हम उस कवि के वकील भी नहीं हैं कि जो कुछ त्रुटि मालूम हो उसे मिटाने की वकालत करें। गीता के कर्त्ता व्यास को वकील की जरूरत ही न थी। वह तो खुद इतने योग्य थे कि ऐसी मोटी भूल कर सकते न थे। हमारा मतलब सिर्फ यह दिखलाने का है कि गीता के अनुसार कर्म की आसक्ति या उससे खामख्वाह लिपटना ठीक नहीं है। उसने कर्म और धर्म के संन्यास—दोनों ही—के लिए गुंजाइश मानी है, दोनों के लिए पूरा स्थान रखा है। वे दोनों ही अपनी-अपनी जगह पर ठीक हैं, उचित हैं, कर्तव्य हैं। खूबी तो यह है कि जिस योग को ले के कुछ लोगों ने इस बात पर जोर दिया है कि गीता तो संन्यास की विरोधिनी है; वह तो कर्म पर

ही जोर देती और उसी का समर्थन करती है, वही योग कर्म और कर्मत्याग—कर्म के योग और उसके त्याग—दोनों ही का प्रतिपादक है—उसके भीतर दोनों ही आ जाते हैं!

बेशक, यह बात उलटी-सी लगती है। योग शब्द तो जोड़ने, जुटने या सम्बन्ध को—संयोग को—ही कहता है, ऐसा साफ दीखता है। फलतः कर्मयोग का अर्थ है कर्म का संयोग या सम्बन्ध। यही उचित भी प्रतीत होता है। मगर कर्मयोग का अर्थ ही कर्म का वियोग या त्याग (संन्यास), यह तो निराली चीज है। लेकिन किया क्या जाय? खुद गीताकार को भी यह चीज सूझी थी—उन्हें इसी तरह का विरोध इस योग में या योग शब्द के अर्थों में प्रतीत हुआ था। फिर भी उसने उसका समर्थन किया। छठे अध्याय के 23वें श्लोक का पूर्वार्द्ध कुछ इसी तरह की पहेली का खयाल करके ही बनाया गया मालूम होता है। वह है "तं विद्याद् दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम्।" इसका आशय यही है कि "यद्यपि उसे योग कहा जाता है, तथापि वह तो दुःखों के संयोग (सम्बन्ध) का वियोग ही है—अर्थात् दुःखों का वियोग करने वाला है।" इस तरह वियोग को ही योग नाम दिया गया है ऐसा वह मानते हैं। ठीक वही बात यहाँ भी है। अतः निर्विवाद है कि गीता कर्म करने के हठ की विरोधिनी है।

कर्म से चिपकने और लिपटने के इसी हठ को, जो गुड़ के साथ लिपटे चींटे की तरह अनर्थ और मृत्यु का कारण होता है, गीता ने दूसरे-दूसरे नामों से भी कह के बुरा ठहराया है। अठारहवें अध्याय के 24वें श्लोक में इसी को अहंकार कहा है और 27वें में राग—वहाँ 'रागी' शब्द है—कहा है। चौथे अध्याय के 19वें श्लोक में इसे ही संकल्प नाम दिया गया है। जिस प्रसंग में और जिस ढंग से ये बातें उन स्थानों में कही गई हैं उससे साफ है कि अहंकार आदि का आशय कर्म का हठ या आसक्ति ही है। इसीलिए निन्दित अर्थ में ही उनका प्रयोग भी हुआ है। चौदहवें अध्याय के 22, 23 श्लोकों में द्वेष, राग और उदासीनता शब्द तथा बारहवें के दसवें में 'मदर्थ' शब्द भी इसी मानी में हैं। और भी ऐसे ही शब्द आये हैं।

मगर इतना ही नहीं है। ठेठ दूसरे अध्याय से ही शुरू करके अठारहवें अध्याय तक कम से कम बीस बार संग, आसक्ति, आसक्त आदि आये हैं और सिवाय कर्म में आसक्ति या करने के हठ के त्याग के और कोई अर्थ इनका हो ही नहीं सकता। ये बीस स्थान तो ऐसे हैं जहाँ निस्सन्देह कर्मों का हठ बुरा ठहराया गया है। चौथे अध्याय के 21वें श्लोक में 'केवल' शब्द लिखके इस हठ के त्याग को बड़ी सफाई के साथ दिखाया है। इसी तरह उसी अध्याय के 14वें श्लोक में 'लिम्पन्ति' शब्द लेप, लीपने या लिपटने के मानी में लिख के बताया गया है कि कर्मों में हमारा लिपटना या कर्मों का हममें लिपटना ठीक नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि कर्म तो कोई गुड़, गोबर या गीली मिट्टी नहीं है जो यों ही लिपटेंगे। वे तो हठ, राग या

आसक्ति के द्वारा ही मन में लिपट जाते हैं।

लोग ऐसा न समझें कि हमने यों ही बीस जगहों का नाम ले लिया है, इसीलिए प्रत्येक अध्याय और श्लोकों के अंकों को जान लेना चाहिए ताकि कोई भी आसानी से यह बात जाँच सके। दूसरे अध्याय के 48वें श्लोक का तो व्याख्यान हो ही चुका है जहाँ 'संग' शब्द साफ ही आया है। तीसरे के 7, 9, 19, 25, 28, 29 श्लोकों में; चौथे के 10, 23 में; पाँचवें के 10, 11 में; छठे के 4 में नवें के 9 में और अठारहवें के 6, 9, 10, 22, 24, 26, 34, और 49 श्लोकों में यही बात है। यों ही, मोटामोटी नजर दौड़ाने पर भी यह स्पष्ट हो जाता है। यदि गौर से विचारा जाय तब तो कुछ कहना ही नहीं है। सन्दिग्ध श्लोकों का तो हमने जिक्र किया ही नहीं है। इस प्रकार कर्म संन्यास में कोई भी बाधा गीता की नजरों में हो नहीं सकती।

परन्तु गीता ने तो और भी साफ-साफ यह बात कही है। चौथे अध्याय के 'योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' (41) और पाँचवें अध्याय के 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति' (6)—इन दो—श्लोकों को देखने से ज्ञात होता है कि गीता संन्यास को न सिर्फ कर्तव्य मानती है, बल्कि उसका रास्ता और मौका भी बताती है। यदि गौर से दोनों श्लोकों को मिलायें तो एक तो यह पता चलता है कि संन्यास की बात दोनों ही में है। दूसरे यह कि संन्यास के पहले कर्म करना जरूरी है। आखिर संन्यास तो कर्मों का त्याग ही ठहरा और जब तक कर्म करें ही न, तबतक त्याग कैसा ? जिनके पास जो चीज होई न, वही उसी चीज का त्याग कैसे करेगा? तब तो 'वृद्धा वेश्या तपस्विनी' वाली बात हो जायगी न? यह भी तो पक्की ही बात है कि जब तक वर्णमाला नहीं सीख लें, तब तक जब कभी छोटी-बड़ी कोई भी पुस्तक पढ़ना चाहेंगे, वर्णमाला सामने खड़ी हो जाया करेगी। यदि उससे पिंड छुड़ाना है तो उसे एक बार पूरा कर लीजिये। दूसरा रास्ता हई नहीं। ऊपर लिखे दोनों श्लोकों का यही आशय है।

चौथे अध्याय वाले 'योगसंन्यस्तकर्माणं'—"कर्मों (योग) के द्वारा ही कर्मों का त्याग या संन्यास हासिल करने वाले" का अभिप्राय हमने अच्छी तरह साफ कर दिया है। उसके 'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' का प्रयोजन तो आगे है। वह तो इतना ही कहता है कि "जिनका संशय ज्ञान के प्रताप से खत्म हो गया है।" ज्ञान तो संन्यास के बाद ही होता है। फलतः सभी प्रकार के संशयों तथा शक-शुभों का खात्मा संन्यास के बाद ही होता है, ऐसा माना गया है। यह भी सही है कि आत्मा-परमात्मा के यथार्थ एवं समयग्दर्शन के लिए शक-सन्देहों का निर्मूल हो जाना आवश्यक है। इस प्रकार निर्वाण के लिए संन्यास जरूरी हो गया है। यही कारण है कि उस श्लोक के शेष आधे 'आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय' से साफ पता चलता है कि "इस प्रकार आत्मज्ञान या आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर ही कर्मों की बन्धनशक्ति जाती रहती है।"

पाँचवें अध्याय के उक्त श्लोक का तो साफ ही मतलब है कि "संन्यास की

प्राप्ति तो कर्म (योग) के बिना अत्यन्त कष्टसाध्य—अर्थात् असम्भव—है। विपरीत इसके जो मननशील विवेकी कर्म करता है वह शीघ्र ही संन्यास के योग्य हो के उसे प्राप्त कर लेता है।'' इसमें इस बात की पुष्टि कर दी गयी है कि संन्यास के लिए कर्म करना जरूरी है। इसीलिए कर्म के बिना वह प्राप्त होता नहीं और कर्म से हो जाता है। कारण तो उसे ही कहते हैं जिसके बिना चीज होई न और जिसके रहने पर अवश्य हो जाय। इसी को पुराने लोगों ने अन्वय और व्यतिरेक कहा है। इस श्लोक के चौथे चरण में संन्यास न लिख के यद्यपि ब्रह्म लिखा है, तथापि ब्रह्म का अभिप्राय संन्यास ही है। श्लोक के शेष तीन चरणों से यह बात साफ हो जाती है। इसके पहले जो कई श्लोक आये हैं उन्हें गौर से पढ़ने से भी यही अभिप्राय निकलता है। इसके सिर्फ दो दृष्टान्त गीता से ही देने से बात साफ हो जायगी।

संन्यास और त्याग

अठारहवें अध्याय में ''नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः'' (7) और ''अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिना क्वचित्'' (12) ये श्लोक आये हैं। इन दोनों में ही 'संन्यास' और 'त्याग' या 'संन्यासी' तथा 'त्यागी' शब्द आये हैं। इस अध्याय के पहले ही श्लोक में जो प्रश्न किया गया है उससे स्पष्ट है कि संन्यास और त्याग दो चीजें हैं। इसीलिए दोनों की हकीकत अलग-अलग जानने के खयाल से ही सवाल किया गया है। फलतः यह धारणा स्वभावतः हो जाती है कि आगे के श्लोकों में जहाँ कहीं ये दोनों शब्द आये हैं, अलग-अलग मानी में ही प्रयुक्त हुए हैं। मगर है यह बात गलत—यह धारणा निराधार है। यह ठीक है कि अठारहवें अध्याय में त्याग और संन्यास के स्वरूप अलग-अलग बताये गये हैं और हम भी उनके बारे में कुछ न कुछ कहेंगे। फिर भी उसका मतलब शब्दों के अर्थ से नहीं है। इन दोनों शब्दों का अर्थ तो अकसर एक ही माना जाता है। और गीता में एक ही अर्थ में दोनों ही प्रायः बोले गये हैं। फर्क तो त्याग और संन्यास नाम की चीजों की भीतरी बातों को लेकर ही माना जाता है। ऊपर से एक होने पर भी भीतर से इनमें कुछ बारीक भेद है—आमतौर से पुराने लोगों ने कुछ भेद इनमें किया है। उसी के जानने के लिए शुरू में प्रश्न किया गया है और जवाब भी दिया गया है।

फलतः यदि भ्रान्त धारणा को जुदा करके या हटाके हम देखें तो पता लगेगा कि पूर्व लिखे 7वें और 12वें श्लोकों में त्याग तथा संन्यास एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं और एक की जगह दूसरे को बदल देने से अर्थ में कोई फर्क न पड़ के और भी स्पष्टता हो जायगी। पहले श्लोक का सीधा अर्थ यही है कि ''किसी के भी लिए जो कर्म निश्चित कर दिये गये हैं उनका संन्यास उचित नहीं है, और अगर भूल या धोखे में पड़ के उनका त्याग कर दिया जाय तो वह तामस (तमोगुणी)

त्याग माना जाता है।'' यहाँ पहले वाक्य में जिस मानी में संन्यास शब्द आया है, दूसरे में उसी मानी में त्याग शब्द है। दूसरा मानी सम्भव नहीं है। इसीलिए पहले लिखे संन्यास शब्द के ही अनुसार त्याग का भी अर्थ आगे लगता है। विपरीत इसके 12वें श्लोक के उत्तरार्द्ध में पहले त्यागी (त्यागिनाम्) लिख के पीछे संन्यासी (संन्यासिनाम्) लिखा है। श्लोक का अर्थ सिर्फ यही है कि ''बुरे, भले और मिश्रित—तीन प्रकार के—जो फल कर्मों के होते हैं वह उन्हीं को मिलते हैं जो त्यागी नहीं हैं, संन्यासियों को तो ये फल कभी नहीं मिलते।'' यहाँ त्यागी के ही अनुसार संन्यासी का अर्थ भी त्यागी ही माना जाता है। यह बात बहुत साफ है। ठीक इसी तरह पाँचवें अध्याय के उक्त श्लोक में भी पीछे के ब्रह्म शब्द का अर्थ पूर्व लिखे संन्यास शब्द के बल से संन्यास ही होना ठीक है। उपनिषदों में भी 'संन्यासो हि ब्रह्म' आदि प्रयोग में ब्रह्म शब्द संन्यास के अर्थ में ही आया है और गीता तो उपनिषद् हई।

जैसा कि अभी-अभी कहा है, गीता के अठारहवें अध्याय में जो शंका त्याग और संन्यास की हकीकत या असलियत के बारे में की गयी है, उससे भी संन्यास की कर्तव्यता सिद्ध हो जाती है। हम तो कही चुके हैं कि इन दोनों शब्दों के अर्थों में फर्क नहीं है। इसीलिए इस प्रश्न के बाद भी गीता में ही दोनों एक ही अर्थ में बोले गये हैं। सवाल तो हकीकत या बारीकी के बारे में ही है। इसीलिए प्रश्नवाले पहले श्लोक में, 'तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्' लिखा है, जिसका अर्थ है कि ''इन दोनों की हकीकत, असलियत या भीतरी बारीकियाँ जानना चाहता हूँ।'' तत्त्व शब्द इसी मानी में बोला ही जाता है। शब्दार्थ को तत्त्व नहीं कहते। किन्तु जब कभी तत्त्व कहना होगा तो जिनके तत्त्व से अभिप्राय होगा उन चीजों की परिभाषा कर दी जायगी, उनका लक्षण कर दिया जायगा। यही बात हमेशा होती आती है। यहाँ भी आमतौर से दोनों का एक ही अर्थ समझा जाने के कारण ही अर्जुन को पूछना पड़ा कि आया दोनों की परिभाषा एक ही है या जुदी-जुदी? दोनों की असलियत एक है या दो? दोनों में बारीकियाँ कुछ-कुछ हैं या नहीं? इसी हिसाब से उसे उत्तर भी दिया गया है।

उत्तर की हालत यह है कि त्याग के बारे में लोगों की चार रायें होने के कारण और कृष्ण का खुद अपना भी एक स्वतंत्र विचार होने के कारण पहले उसी की हकीकत कहनी पड़ी है। हालाँकि प्रश्न में पहले संन्यास ही आया है। संन्यास के बारे में मतभेद या अनेक रायें न होने के कारण ही उसकी बात उनने पीछे उठाई हैं। सो भी बहुत दूर जा के। असल में त्याग का ब्योरा और विवरण देने के बाद ही संन्यास की बात समझने में आसानी भी हो जाती है। इसलिए भी त्याग के मुतल्लिक सारी बातें कहने के बाद ही संन्यास की बात कहना उचित समझा गया है। यही कारण है कि आरम्भ से लेकर पूरे 48 श्लोकों में कर्म के सम्बन्ध की ही सारी बातें ब्योरे के साथ कही गयी हैं, जिनसे त्याग के स्वरूप और उसकी हकीकत पर पूरा

प्रकाश पड़ जाता है। फिर 49वें और 57वें श्लोकों में संन्यास का जिक्र आया है। मगर 57 वें श्लोक वाला संन्यास शब्द तो ठीक वैसा ही है जैसा कि तीसरे अध्याय के "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा" (30) में आया है। क्योंकि वहाँ लिखा है कि "चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।" मालूम होता है कि प्रायः अक्षरशः एक ही श्लोक का यह हिस्सा दोनों जगह लिखा गया है। तीसरे अध्याय वाले में जो 'अध्यात्म' शब्द ज्यादा प्रतीत होता है, उसकी जगह अठारहवें वाले में आगे 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य' लिख दिया है। और भी आगे-पीछे बहुत-सी बातें मिल जाती हैं। फलतः वहाँ भी संन्यास का वही पुराना सर्वजन विदित अर्थ ही है। जिसे ईश्वरार्पण या मदर्पण आदि नाम दिया गया है। संन्यास शब्द संन्यास की उस हकीकत को यहाँ नहीं बताता है जिसके बारे में सवाल हुआ है।

बाकी बचा 49वें श्लोक का संन्यास। ठीक है यह तो उसी बात को कहता है जिसकी—जिस हकीकत की—जानकारी के लिए शुरू में ही शंका की जा चुकी है, प्रश्न हो चुका है। यदि इस समूचे श्लोक को गौर से विचारा जाय तो यह बात साफ हो जाती है। हम खुद आगे यह विचार करेंगे। मगर इतना तो जान लेना ही होगा कि यह श्लोक भी उस संन्यास की हकीकत या उसके स्वरूप की ओर सिर्फ इशारा ही करता है और यही कहता है कि संन्यास के जरिये किस तरह परम नैष्कर्म्यसिद्धि या सर्वात्मना कर्मत्याग की तरफ आदमी जा सकता है। लेकिन उस संन्यास का स्पष्ट रूप तो बिना उस शब्द का उच्चारण किये ही आगे के 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' नामक 66वें श्लोक में ही बताया गया है। इस बात पर भी प्रकाश डालेंगे। मगर अभी त्याग की बात जान लें, तो अच्छा हो।

जैसा कि कहा जा चुका है दूसरे से लेकर 48वें श्लोक तक त्याग के सम्बन्ध की ही बातें कही गयी हैं। सबसे पहले दो और तीन—दो—श्लोकों के दो-दो हिस्से करके चारों हिस्सों में त्याग के सम्बन्ध के चार मत कहे गये हैं जो संसार के विद्वानों में प्रचलित हैं। उसके बाद चार से लेकर छः तक के—तीन—श्लोकों में कृष्ण ने त्याग के बारे में अपना सिद्धान्त निश्चित रूप से कहा है और उसी का स्पष्टीकरण किसी न किसी रूप में 48वें तक के श्लोकों में किया है। दूसरे श्लोक में 'न्यासं' और 'संन्यासं' शब्दों को देख के यह समझने की भूल हर्गिज नहीं की जानी चाहिए कि पूर्वार्द्ध में 'संन्यास' का लक्षण कहा है। न्यास और संन्यास शब्दों का तो एक ही अर्थ है। फलतः कामनापूर्वक किये गये (काम्य) कर्मों के संन्यास को संन्यास कहते हैं, इस कथन का कोई अर्थ नहीं है। इसीलिए हम तो यही मानते हैं कि दूसरे के पूर्वार्द्ध में 'कवयो विदुः'—'सूक्ष्म बुद्धिवाले जानते हैं', उत्तरार्द्ध में 'विचक्षणाः प्राहुः'—'कुशल लोग कहते हैं' तथा तीसरे के पूर्वार्द्ध में 'प्राहुर्मनीषिणः'—'मनीषी लोग कहते हैं,' और उत्तरार्द्ध में 'अपरे प्राहुः'—'दूसरे लोग कहते हैं'—ऐसा कह के चार मतवादों या सिद्धान्तों का कर्मों के त्याग के बारे में वर्णन किया गया है। साफ ही चारों एक

दूसरे से पृथक् मालूम पड़ते हैं। प्रश्न में भी त्याग के बारे में 'पृथक्' तत्त्व या अलग-अलग हकीकत पूछी गयी है। इसीलिए उत्तर भी उसी ढंग का दिया गया है। इस प्रकार संक्षेप में पहला मत है केवल काम्य कर्मों के ही त्यागने का, दूसरा है केवल सभी कर्मों के फलों के ही त्याग का, न कि किसी भी कर्म के त्याग का, तीसरा है सभी कर्मों के ही त्याग का और चौथा है यज्ञ, दान तथा तप के सिवाय शेष कर्मों के त्याग का। इस प्रकार त्याग के बारे में चार तरह के सिद्धान्त साफ हो जाते हैं।

आगे के 4 से 6 तक के श्लोकों में कृष्ण ने जो खुद अपना मत बताया है उसमें यह कहा है कि यज्ञ, दान तथा तप को भी कर्मासक्ति एवं फलासक्ति छोड़कर ही, करना यही त्याग कहा जाता है, कहा जाना चाहिए। उनने इन तीनों कर्मों की बड़ी बड़ाई की है और कहा है कि "ये तो पवित्र करने वाले हैं ऐसा मनीषी लोग भी मानते हैं"—"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।" फलतः इनके छोड़ने का सवाल तो उठी नहीं सकता। हाँ, यह किया जाना चाहिए जरूर कि इनमें तथा इनके फलों में आसक्ति रहने न पाये। जहाँ चौथा पक्ष इन तीनों के करने में कोई विशेष बात नहीं कहता, तहाँ कृष्ण का मत है कि इन तीनों को भी कर्मासक्ति तथा फलासक्ति छोड़कर ही करना होगा।

फिर 7 से लेकर 12 तक के श्लोकों में त्याग की सात्त्विक आदि किस्में बताके उसका विवरण दिया गया है। उसके बाद कर्म के पाँच कारणों का निरूपण करके 13 से 17 तक यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा तो इन पाँचों में है नहीं। वह तो अलग और निर्लेप है। इसलिए कर्म का साथी उसे मानके सभी कर्मों से बचने की कोशिश बेकार है, नादानी है। बाद में 18 से 28 तक यह बात विचारी गयी है कि आखिर कर्म होता है कैसे और वह रहता है कहाँ, और इस तरह प्रतिपादन किया गया है कि आत्मा से उसका ताल्लुक हुई नहीं। वह तो दूसरी ही चीजें हैं जिनसे कर्म सम्बद्ध है। कर्म के करने में अन्तःकरण या बुद्धि और धृति (हिम्मत, धारणशक्ति) की जरूरत होती है। ये दोनों न रहें तो कर्म हवा में मिल जाय। बुद्धि रास्ता बताती है और धृति पस्ती आने न देकर कर्म मार्ग में डँटे रहना लाती है। इसलिए जरूरी हो गया है कि इन दोनों का भी विश्लेषण किया जाय। क्योंकि शायद इनमें किसी में कहीं आत्मा आ जाय। मगर 29 से 35 तक के श्लोकों में इन दोनों को त्रिगुणात्मक बताके आत्मा को अलग ही मान लिया है। जिस आराम और सुख के लिए कर्म करते हैं उसका निरूपण 36-39 श्लोकों में करके उनमें सात्त्विक सुख को आत्मानन्द माना है सही; मगर वह कर्मजन्य हुई नहीं। उसके लिए केवल अपनी बुद्धि की निर्मलता अपेक्षित है—'आत्म-बुद्धिप्रसादजम्।' वह भले ही कर्मजन्य हो सकती है। शेष दो सुख तो आत्मा से लाख कोस दूर हैं। इसके उपरान्त आमतौर से 40वें में कह दिया है कि कर्म तो सांसारिक चीजों की सिद्धि के ही लिए किया

जाता है और वह चीजें तो सभी की सभी त्रिगुणात्मक होने के कारण आत्मा से अलग हैं। प्रसंगवश चारों वर्णों के स्वाभाविक गुणों का 41-44 श्लोकों में दिग्दर्शन कराके दिखा दिया है कि आत्मा से इनका क्या ताल्लुक? इस प्रकार जब कर्मों से ही भय करने की कोई वजह न होने के कारण बन्धन के डर से उन्हें स्वरूपतः त्याग करने का सवाल आता ही नहीं, तो यज्ञ, दान, तप के स्वरूपतः त्याग की बात कहाँ और क्यों आयेगी? इस तरह त्याग का सविस्तार निरूपण पूरा हो जाता है। चारों वर्णों के कर्म जब स्वाभाविक (स्वभावज) ही हैं तो फिर उनके बुरे-भले या छोटे-बड़े होने का प्रश्न भी कहाँ आता है? जैसा कि आग का स्वाभाविक काम जलाना और पानी का भिगोना होने के कारण उनमें भले-बुरे या नीच-ऊँच का सवाल नहीं उठता; ठीक यही बात यहाँ भी है। इस तरह वर्ण-धर्मों और कर्मों की समानरूपता भी प्रसंगतः सिद्ध हो जाती है।

विपरीत इसके 45-48 श्लोकों में स्पष्ट कह दिया है कि स्वकर्म यदि ऊपर से बुरा भी प्रतीत हो तो भी उसे हर्गिज नहीं छोड़ना चाहिए। वह सहज (स्वाभाविक) जो ठहरा। उसी के द्वारा भगवान् की पूजा भी तो होती है। कर्म ही तो भगवत्पूजा है। यदि भगवान् को सन्तुष्ट करना या उसे जानना चाहते हो तो स्वकीय कर्मों को ही ठीक-ठीक करना चाहिए। इस तरह तो त्याग की जगह कर्मों का करना ही जरूरी हो जाता है। क्योंकि भगवत्पूजा तो आखिर करनी ही है न?

इसके बाद 49-55 तक संन्यास की उपयोगिता और उसकी दशा को बताके 56-65 तक उसके लिए ही कर्मों की उपयोगिता बताई गयी है। अब रह गयी संन्यास की बात। सो तो 49 से ही शुरू होती है और 66वें में उसका स्पष्ट रूप दिखाया गया है। 49वाँ श्लोक यों है, 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्य सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति''। इसका सीधा अर्थ यही है कि ''जिसकी बुद्धि कहीं लिपटी न हो, जिसका मन अपने वश में हो और जिसे कोई भी लोभ-लालच रह न गया हो वही संन्यास के द्वारा कर्मों के त्याग की अन्तिम दशा को प्राप्त हो सकता है।'' मन, बुद्धि आदि पर अपना अधिकार रखने से कर्मों के त्याग का रास्ता साफ हो जाता है और बहुतेरे काम छूट भी जाते हैं। फिर भी नियत या स्वाभाविक कर्म तो होते ही रहते हैं। फलतः जब तक उनका भी त्याग न हो जाय पूरी निष्कर्मता या कर्मों के त्याग की आखिरी और पूर्ण हालत पर पहुँच नहीं सकते। इसीलिए संन्यास या कर्मों का स्वरूपतः त्याग तब जरूरी हो जाता है।

कर्मत्याग की पूर्णता की जरूरत क्या है, यह सवाल हो सकता है। मगर इसका उत्तर तो 'आरुरुक्षोर्मुनर्यो' की व्याख्या के समय दिया जा चुका है। वही बात यहाँ भी 50 से लेकर 55 तक के श्लोकों में कही गयी है। ये श्लोक समाधि का ही ब्योरेवार निरूपण करते हैं और कहते हैं कि अगर कुछ भी कर्मों का झमेला रहा तो समाधि हवा में ही मिल जायगी। फिर तो योगारूढ़ या आत्मदर्शी होना असम्भव

हो जायगा। समाधि के लिए प्रायः बहुत ज्यादा समय लगता है—दीर्घकाल की अपेक्षा है। सो भी जब वह निरन्तर चालू रहे और बीच में विराम होने न पाये। मन के निरोध को ही तो समाधि कहते हैं। फलतः उसके निरोध के लिए जो अभ्यास किया जाता है उसके बारे में योगदर्शन के समाधिपाद में पतंजलि ने साफ ही कह दिया है कि श्रद्धापूर्वक निरन्तर बहुत दिनों तक करते रहने पर ही वह दृढ़ होता है—"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमिः" (14)। तब इसमें कर्म की जरा भी गुंजाइश कहाँ रह जाती है? उसकी तो जरूरत तभी तक थी जब तक कि आत्मदर्शन की तरफ मन का झुकाव नहीं हुआ था। अब वैसा होने पर तो कर्मों का त्याग नितान्त आवश्यक हो जाता है।

हाँ, आत्मदर्शन हो जाने के बाद भले ही कर्म कर सकते हैं। क्योंकि तब तो खामख्वाह कर्मों के छोड़ने का सवाल रही नहीं जाता। पुराने संस्कारों के बल से आत्मज्ञानी लोग दोनों ही तरह के होते हैं, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है। कर्मयोगी भी होते हैं, जैसे जनक आदि और संन्यासी भी, जैसे शुकदेव आदि। पहले तो भगवदर्पण बुद्धि वगैरह से ही कर्म करते हैं। फिर ज्ञान के बाद कर्तव्यबुद्धि से या विशुद्ध लोकसंग्रह की ही दृष्टि से। यही बात 56 से 65 तक के श्लोकों में कहके और इसी पर जोर देके 66वें में संन्यास के स्वरूप वाले प्रश्न का उत्तर देते हुए साफ कह दिया है कि "सभी धर्मकर्मों को छोड़ के अद्वितीय परमात्मा (आत्मा) की शरण जाओ—आत्मज्ञान प्राप्त करो। उसी के फलस्वरूप सभी पुण्यपाप रूप बन्धनों से छुटकारा हो जायगा। फिक्र मत करो—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।" पहले इसी चीज को भक्ति के भी नाम से 54वें श्लोक में कहा है और 55वें में बताया है कि यह भक्ति अद्वैत ब्रह्मज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं है। सातवें अध्याय के 'चतुर्विधा भजन्ते मां' आदि 16-19 श्लोकों में भी अद्वैत ज्ञान को ही सबसे ऊँचे दर्जे की भक्ति कहा है। इसीलिए जो लोग इस श्लोक में शरणागति और प्रपत्ति आदि के नामों से उपासना, श्रवण, कीर्त्तन आदि नामक भक्ति की बात सोचते हैं वह सत्य से बहुत दूर हैं। यदि पहले के ही कुछ श्लोकों पर अच्छी तरह गौर करें तो भी उन्हें पता लग जायगा कि यहाँ सर्वकर्म—संन्यासपूर्वक अद्वैतज्ञान से ही मतलब है। उसी के बाद निर्वाण-मोक्ष के लिए कोई चिन्ता करने की गुंजाइश नहीं रहती। बाकी भक्ति आदि में तो रहती ही है। फलतः फिक्र मत करो, कहना गलत हो जायगा। क्योंकि यदि और नहीं तो भगवान् को प्रसन्न करने की ही चिन्ता रह जाती है।

जिस तरह कर्म और संन्यास की ही बात को लेके अठारहवें अध्याय का विश्लेषण करना जरूरी हो गया है, क्योंकि अन्तिम एवं उपसंहारवाला वही है; उसी तरह दूसरे अध्याय की भी कुछ बातें विचारणीय हैं। पहला अध्याय पूरा का पूरा और दूसरे के शुरू के दस श्लोकों को गीतोपदेश की भूमिका मानते हैं, जिसमें उपदेश के लिए

भूमि, क्षेत्र या प्रसंग तैयार किया गया है। यह बात तो श्लोकों के अर्थ के ही समय और आगे भी विदित होगी। 11वें श्लोक 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' से उपदेश शुरू होता है। गीता पर शंकर का भाष्य भी इसी श्लोक से शुरू होता है। बेशक, उनने भी भाष्यारम्भ में एक लम्बी भूमिका लिखी है और उसी से हमने शुरू में 'तत्त्वज्ञानिनां कर्म तु' आदि एक छोटा-सा अवतरण दिया है। इस अध्याय के कुल 72 श्लोकों में शुरू के 10 तो यों ही—चले गये। उनके बाद से लेकर 38वें तक मुख्यतः आत्मा के स्वरूप आदि का विवेचन करके 39वें में लिखा है कि "हमने अब तक सांख्य (तत्त्वज्ञान) की जानकारी तुम्हें बतायी है। अब आगे योग की जानकारी की बात सुनो"—"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।" इससे स्पष्ट है कि आगे दूसरी—योग की ही—बात कही गयी है।

आत्मा का स्वरूप

यह ठीक है कि योग या कर्मयोग की बात तो 47वें श्लोक से ही शुरू होती है और 2 श्लोकों में उसके स्वरूप को अच्छी तरह बताके उसी का विवेचन आगे किया है। लेकिन 39-46 श्लोकों में उसी योग की महत्तासूचक स्वतन्त्र प्रस्तावना दी गयी है। यह समूचे गीतोपदेश की प्रस्तावना न होके सिर्फ उसी योग की है। इसीलिए हमने इसे स्वतन्त्र कहा है। यह भी बड़े काम की चीज है, खासकर योग-सम्बन्धी आगे की बातें समझने और पिछली बातों के साथ सम्बन्ध जानने के लिए। यह योग तो गीता की खास देन है यह पहले ही कहा जा चुका है। इसीलिए इस पर ज्यादा प्रकाश डालना जरूरी है। इसी दृष्टि से इसकी स्वतन्त्र प्रस्तावना के 8 श्लोकों के साथ ही तत्त्वज्ञान सम्बन्धी पहले के 11-38 श्लोकों पर भी एक निगाह डालने की आवश्यकता है। ऐसा करते ही मालूम हो जाता है कि 11-30 श्लोकों में तो आत्मा की अजरता, अमरता, निर्विकारिता और नित्यता का प्रतिपादन बहुत अच्छी तरह किया गया है। यह ठीक है कि वह प्रतिपादन यहाँ स्वतन्त्र नहीं है; किन्तु स्वधर्म और स्वकर्म की कर्तव्यता की पुष्टि के ही लिए किया गया है। इसी से यह भी निर्विवाद हो जाता है कि गीतोपदेश की भित्ति की बुनियाद अध्यात्मवाद से ही बनी है। इसीलिए शुरू में वही बात आई है। मरने-मारने के तथा हिंसा-अहिंसा के ही खयाल से तो अर्जुन स्वकर्म से विचलित हो रहा था। कृष्ण ने शुरू में ही उसकी जड़ ही काट दी।

उनने कह दिया है कि मरने-मारने तथा हिंसा-अहिंसा का खयाल तो महज नादानी है। भीष्मादि की आत्मा तो मरती नहीं और न दूसरों को मारती है। क्योंकि सभी आत्माएँ अविनाशी और निर्विकार हैं। फिर हिंसा-अहिंसा की बात ही कहाँ रही? रह गयी उनके शरीरों की बात। सो तो आज खत्म हुए, कल खत्म हुए जैसे ही हैं। उनका नाश तो कोई भी शक्ति—परमेश्वर भी—रोक सकती नहीं। वह तो अनिवार्य

है अवश्यम्भावी है। यदि युद्ध में नहीं, तो ज्वर महामारी आदि से ही वे शरीर एक न एक दिन खत्म होंगे ही। फर्क यही है कि तब मरना केवल मरना होगा। लेकिन अब मरने में मजा है, बहादुरी है, नाम और यश है, आत्मसम्मान है, "समर मरण अरु सुरसरि तीरा। रामकाज क्षणभंग शरीरा" वाली बात है। फिर चिन्ता कैसी? आगा-पीछा कैसा? यही तो फायदे का सौदा है।

19वें और 21वें श्लोकों में जो करारी डाँट उन लोगों को बताई है जो आत्मा के बारे में चिन्ता करते और हिंसा-अहिंसा की बातें करते हैं वह बहुत ही सुन्दर है, निराली है, खूब है! साफ ही कह दिया है कि जो इस आत्मा को मारने वाली चीज मानते हैं और जो इसे मरने वाली समझते हैं, "वे दोनों ही कुछ नहीं जानते, बेवकूफ हैं, नादान, हैं, कोरे हैं"—"उभौ तौ न विजानीतः" (19)। इसी तरह 21वें में साफ ही कहते हैं कि "जिसने इस प्रकार आत्मा को अजन्मा अविकार, सनातन और अविनाशी जान लिया भला वह किसी को मार-मरवा सकता है!"—"वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्। कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्!" यहाँ 'कथं स पुरुषः' और भी सुन्दर है। वह तो मर्द है, नामर्द तो है नहीं। तब भला वह कैसे मारने-मरवाने की बात सोचे! यह तो नामर्दी का रास्ता है, इससे तो नामर्दी और हिचक को प्रोत्साहन मिलता है और मर्द होके वह ऐसा काम करेगा! यह सारा का सारा वर्णन इतना सरस और युक्ति-दलीलों से भरा है कि लोट-पोट हो जाना पड़ता है। तर्क भी इतना जबर्दस्त और सामयिक (uptodate) एवं वैज्ञानिक है कि कुछ कहिये मत। एक नमूना सुनिये।

13वें श्लोक में आत्मा की अविनाशिता की दलील दी गयी है। कहते हैं कि "एक ही जन्म में कुमारावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था से हमें आमतौर से गुजरना होता है"—'देहिनोऽस्मिन्यथादेहे कौमारं यौवनं जरा।' यह याद रखना होगा कि इन तीनों अवस्थाओं का शरीर एक हर्गिज नहीं होता। कम से कम तीन तो होते ही हैं जो एक दूसरे से सोलहों आने जुदा होते हैं। यों तो एक-एक अवस्था में भी जानें कितने जुदा-जुदा शरीर हो जाते हैं। जिन अनन्त परमाणुओं से खून, मांस, हड्डी आदि के जरिये किसी एक अवस्था का शरीर बना होता है दूसरी अवस्था में वह एक भी पाये नहीं जाते! वे तो जाने कहाँ गायब हो जाते हैं और उनकी जगह बिलकुल ही नये और निराले परमाणु (atoms) ले लेते हैं! नहीं तो तीनों अवस्थाओं में पार्थक्य क्यों होता? यों भी कुमारावस्था के शुरू में होने वाली देह के साथ युवावस्था के अन्तिम परिपाक के समय के शरीर से कोई मिलान हो सकती है क्या? वे दोनों तो साफ ही जुदे हैं—जुदे मालूम होते हैं! फिर वृद्धावस्था से मिलान का सवाल क्या? विभिन्न अवस्थाओं के जुदे-जुदे और परस्पर विरोधी काम ही इस बात के सबूत हैं कि शरीर जुदे-जुदे हैं। बाल्यावस्था की निपट असमर्थता और जवानी की पूर्ण समर्थता के बाद बुढ़ापे की निराली असमर्थता ही पुकार-पुकार के अपने-अपने शरीरों

को अलग बताती हैं।

इसे यों भी समझ सकते हैं। नया चावल कोठी के भीतर बन्द करके रखते हैं और किसी भी तरफ से हवा न जा सके इसका पूरा प्रबन्ध करते हैं—कोई जरा भी छिद्र या सूराख रहने नहीं देते। नहीं तो बाहर से कीड़े घुस जायँ और बरसाती हवा चावल को चौपट कर दे। फिर भी चार-छः साल के बाद अगर उन्हीं चावलों को निकालें, पकायें और खायें तो निराला ही स्वाद, निराली गन्ध और निराली तृप्ति होती है जो बातें नयों में पायी ही न जाती थीं। पचने में तब भारी थे अब हलके हो गये; तब देर से पकते थे, अब फौरन पक जाते हैं, तब माँड़ को छोड़ते न थे, अब माँड़ से उनका कोई ताल्लुक ही नहीं ऐसा प्रतीत होता है! यह बात क्यों और कैसे हो गयी! मोटी बुद्धि में तो यह बात समाती नहीं। मगर यह तो मानना ही होगा कि हजार कोशिश करने और हवा का प्रवेश रोकने पर भी परमाणुओं की आवाजाही रोकी जा सकती नहीं! वे तो सर्वशक्तिमान जैसे हैं! उनकी अपार महिमा है! फलतः चावल के भीतर जितने भी पुराने परमाणु थे, जिनसे वह बना था, एक-एक करके सभी भाग निकले, खिसक गये इन्हीं चार-छः सालों में, और उनकी जगह बिलकुल ही नयों ने ले ली! दूसरी बात होई नहीं सकती! हमें पता ही न लगा और चावल दूसरे हो गये! पहलेवाले फरार हो गये और उनने अपनी जगह दूसरों को बिठा दिया—ऐसों को, कि कोई गिरफ्तार करी नहीं सकता, चाहे लाख यत्न करे! पुराने चम्पत! नये हाजिर!

केवल अन्दाजी बात नहीं है। अब विज्ञान की महिमा से ऐसी प्रयोगशालाएँ (Laboratories) बनी हैं कि उनमें घुस के आप यह सृष्टि का करिश्मा आँखों देख सकते हैं। यों तो हमें कुछ पता ही नहीं चलता कि क्या हो रहा है। मगर अगर किसी प्रयोगशाला के वैज्ञानिक यन्त्रों के सामने अपना हाथ रख दें, तो हमें आश्चर्यचकित हो जाना होगा यह देखके, कि किस तेजी के साथ हमारे अपने हाथ से लक्ष-लक्ष परमाणु हर सेकण्ड में भागे जा रहे हैं और उनकी जगह नये घुस रहे हैं। हमें ताज्जुब होगा और अवाक् रह जाना पड़ेगा। मगर इसी के साथ साफ-साफ दिखेगा कि किस प्रकार पुरानी चीज खत्म होके उसकी जगह एकदम नयी और ताजी चीज तैयारी हो रही है, हो जाती है। उसी जगह यह भी मालूम हो जायगा कि जानें कितने ही शरीर पचास-साठ साल के भीतर बने और बिगड़े। हालाँकि यों देखने से मालूम पड़ता है कि वही एक ही शरीर बराबर बना है—केवल कुछ मरम्मत हुई है या मुलम्मा चढ़ा है। यही बात वर्त्तमान साम्यवादी अंग्रेज विद्वान् श्री जौन स्ट्रेची ने अपनी पुस्तक 'समाजवाद का सिद्धान्त और व्यवहार' (The Theory and Practice of Socialism) के 392 पृष्ठ में लिखते हुए मार्क्सवाद के मूल नेता श्री फ्रेडरिख एंगेल्स के 'ड्यूहिंग के विरुद्ध' (Anti Duhring) पुस्तक के एक अंश को ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। वह इस प्रकार है—

"In the same way Engels observes that the eating and excreting processes, which everyliving thing must continually maintain, mean that the actual physical structure of every man (for example) is continually changing. A man is not compased of the same cells as he was thirty years ago. Not a single one of the atoms of matter, which then constituted the man is left. And yet we say without hesitation that it is the same man. The movement or evolution, through time, of a living organism, seems to present an analogous contradiction to the movement of an object through space. Life is, therefore, also a contradiction, which is present in things and processes themselves and, which constantly asserts and soves itself; and as soon as the contradiction ceases, life too comes to an end, and death steps in—'Anti-Duhring,' page 138."

इसका आशय यह है, "उसी तरह एंगेल्स का यह भी कहना है कि हरेक जानदार के लिए जिस खाने और पाखाने का निरन्तर जारी रहना लाजिमी है उसी का यह मतलब है कि हरेक इन्सान वगैरह के जिस्म की बनावट निरन्तर बदल रही है। तीस साल पहले जिन सजीव झिल्लियों से मनुष्य का शरीर बना होता है, वे उस मुद्दत के बाद रह नहीं जाती हैं। उस समय जिन परमाणुओं से शरीर बना था उनमें एक भी रह नहीं जाते। फिर भी बिना हिचक कह देते हैं कि यह वही आदमी है। किसी जीवित पदार्थ का समय पाके जो विकास होता है या उसमें जो गति हो जाती है, उसमें जो परस्पर विरोध होता है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि किसी पदार्थ के एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने में। "इसलिए जीवन भी विरोधी चीज है और यह विरोध खुद पदार्थों और उनकी क्रियाओं में ही मौजूद है। यह विरोध अपने आप ऊपर आ जाता है और फिर इसका समाधान भी हो जाता है। यह विरोध ज्यों ही खत्म हुआ कि जीवनलीला का भी अन्त हुआ और मौत आ धमकी।"

इस प्रकार अत्यन्त वैज्ञानिक तर्क दलील के साथ गीता ने भी बहुत समय पहले एंगेल्स की ही तरह कह दिया था कि यदि इस प्रकार परस्पर विभिन्न शरीरों के होते हुए भी हम उन्हें एक ही मानते हैं, और सबसे बड़ी बात यह है कि आत्मा एक ही रहती है; उसका परिवर्तन या नाश नहीं होता; इसीलिए तो बचपन की देखी-सुनी बातों की याद बुढ़ापे में भी हो आती है; तो वर्तमान शरीर के मिलने के पूर्व और इसके खत्म होने के बाद जो शरीर थे और जो मिलेंगे उनमें भी उसी आत्मा की सत्ता मानने में क्या अड़चन है जो इस वर्तमान शरीर में है? जिस तरह एक जन्म के ही तीन विभिन्न शरीर बताये गये हैं वैसे ही तो तीन जन्मों के भी तीन हैं और आगे बढ़के तीस और तीन लाख जन्मों के भी होते हैं। बात तो सर्वत्र एकसी है। यदि बचपन की सभी बातें बुढ़ापे में याद नहीं आती हैं और शायद ही एकाध का

स्मरण होता है। तो दूसरे जन्म के शरीरों के बारे में भी ऐसा ही होता है। कोई बच्चा पढ़ने या दूसरे ही कामों में कुन्द कोई तेज और कोई अत्यन्त विलक्षण होता है। इससे मानना पड़ता है कि पूर्व जन्म के अभ्यास काम कर रहे हैं, ठीक जैसे निद्रा के बाद पहले पढ़ी-लिखी बात याद आ जाती है। मौत भी तो आखिर नींद की वड़ी बहन ही है न? इसमें तम या अँधेरे का पर्दा बहुत ही सख्त होने के कारण स्मृति और भी पतली पड़ जाती है या शायद ही कभी किसी को होती है। लेकिन हमारा प्रयोजन यहाँ इन बाहरी दलीलों से नहीं है। हमें तो एक ही युक्ति-तर्क को नमूने के तौर पर पेश कर देना था।

बीच के 'अथ चैनं नित्यजातं' (26) आदि श्लोकों में जो आत्मा के मरने या विनाश की बात कही गयी है, वह तो केवल स्वधर्म से, विमुख न होने के ही लिए सहकारी तर्क (supplementary argument) के रूप में ही है। वहाँ तो इतना ही कहना है कि जैसे शरीर का नाश अनिवार्य है, इसीलिए उसे बचाने के खयाल से भी युद्ध रूप स्वधर्म से भागना मूर्खता है, ठीक उसी तरह यदि आत्मा को भी नश्वर और क्षणभंगुर ही मान लें, तो भी स्वधर्म से विमुख होना कभी वाजिब नहीं। क्योंकि जो बिगड़ेगा वह फिर बनेगा और जो बनेगा, जरूर ही बिगड़ेगा, यही संसार का नियम है और यह हमारे काबू की बात है नहीं कि इसे ही रोक दें। यदि हम न भी लड़ें, तो आत्मा का नाश तो होगा ही, यदि हमने उसे अनित्य मान लिया। बस, इसका इतना ही मतलब है। ऐसा समझने की भारी भूल कोई न करे कि ऐसा कहके गीता ने भी आत्मा को विनाशी माना है। सारी की सारी गीता इस सिद्धान्त के खिलाफ है। सैकड़ों बार आत्मा की अमरता और एकरसता उसमें दुहराई गयी है।

इसके बाद अध्यात्मवाद के बारे में कुछ भी कहना रह जाता नहीं। फलतः 31-37 श्लोकों में धर्मशास्त्रों के विधि-विधान और दुनिया में नेकनामी बदनामी एवं आत्मसम्मान के आधार पर उसी स्वधर्म के करने की पुष्टि की गयी है। लोग ऐसा न समझ बैठें कि जब गीता ने अध्यात्म ज्ञान से ही शुरू किया है तो उसे सांसारिक हानि-लाभों से कोई वास्ता नहीं है; इसीलिए गीता की दृष्टि इनकी तरफ कतई नहीं है; यही वजह है कि इन सभी सांसारिक बातों और खयालों को भी उसने सामने ला दिया है। यदि ऐसा न होता तो गीता की बात एकांगी एवं अधूरी रह जाती जैसा कि शुरू में ही कहा है। गीता को सब तरह से पूर्ण और व्यावहारिक बनना था, पूर्ण अनुभवी बनके ही पथदर्शन करना था और वही चीज न हो पाती, अगर यश-अपयश, आत्मसम्मान आदि की ओर से वह नजर फेर लेती। उस दशा में अनुभवी लोग उसमें कमी पाते और उसकी ओर सहसा खिंच आते नहीं। इसीलिए इस पहलू को भी उसने नहीं छोड़ा है। विधि-विधान के अनुसार स्वर्ग-नरक आदि भी इसी पहलू के भीतर आ जाते हैं। इनका स्थान न तो अध्यात्म दृष्टि में है और न योगदृष्टि में ही। इसीलिए वे भी यहीं दिखाये गये हैं।

सांख्य और योग में अन्तर

इसके बाद योग वाली दृष्टि की ओर जाने के पहले एक ही श्लोक—38वाँ—रह जाता है। वह यों है; "सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।" इसका अर्थ है कि "जय पराजय, हानि-लाभ और सुख-दुःख को समान समझ के—यानी इनकी परवाह न करके—लड़ाई के लिए तैयार हो जाओ। फिर तो तुम्हारे पास पाप फटकने भी न पायगा।" लड़ाई में हार या जीत—दो में एक—जरूरी है। फलतः तदनुसार ही हानि या लाभ भी अनिवार्य है। फिर तो दुःख या सुख खामख्वाह आता ही है। यही है साधारण नियम। ये चीजें बदली जा सकती हैं भी नहीं। इसलिए इन्हें समान बनाना असम्भव है। इसीलिए गीता कहती है कि इनका बाहरी रूप ज्यों का त्यों रहते हुए भी हम इन्हें समान इस तरह बना सकते हैं कि दिल-दिमाग पर इनका कोई खास असर न होने दें। अध्यात्मवाद या वेदान्त का यह अटल सिद्धान्त है कि सुख-दुःख के कारण बाहरी पदार्थ नहीं हैं। हम अपने दिल-दिमाग में उन्हें जो स्थान देते या उनका जैसा स्वरूप खड़ा करते हैं तदनुसार ही वे सुख-दुःख आदि के कारण बनते हैं और नहीं भी बनते हैं। इन्हीं को मानसिक या मनोराज्य के पदार्थ कहते हैं।

दृष्टान्त लिए किसी स्त्री को ले सकते हैं। वह तो एक ही प्रकार की होती है—उसका बाहरी रूप तो एक ही होता है। अब यदि वही भली या बुरी हो या सुख-दुःख पहुँचाने वाली मानी जाय तो सभी को उसके करते समान रूप से ही सुख या दुःख होना चाहिए। मगर ऐसा तो होता नहीं। एक ही स्त्री किसी के लिए सुखद, किसी के लिए दुःखद और किसी के लिए दोनों में एक भी नहीं होती। जो पुरुष उसे बहन, बेटी या माता मानता है उसकी कुछ और हालत होती है, जो उसे स्त्री मानता है उसकी दूसरी ही और जो उसकी तरफ से निरा उदासीन या लापरवाह है उसकी तीसरी ही दशा होती है। पहली दो हालतों में राग-द्वेष या प्रेम और जलन की जो बातें पायी जाती हैं। वह तीसरी दशा में कतई लापता हैं। वेश्या, धर्मपत्नी और माता के बाहरी रूप में कोई भी अन्तर नहीं होता है। एक ही स्त्री किसी की माँ, किसी की पत्नी और किसी के लिए वेश्या भी परिस्थितिवश हो सकती है। इसी से वह आरामदेह या तकलीफदेह बन सकती है। सो भी एक ही समय में किसी को आराम देने वाली और किसी को तकलीफ देने वाली। क्यों? इसीलिए न कि पत्नी, वेश्या, माता, बहन आदि के रूप में एक ही स्त्री की जुदा-जुदा कल्पना अलग-अलग लोग अपने मनों में कर लेते हैं? और जो विरागी या मस्तराम ऐसी कोई भी कल्पना नहीं करके लापरवाह रहता है उसे उस स्त्री से सुख या दुःख कुछ नहीं होता। इसलिए सिद्ध हो जाता है कि किसी भी पदार्थ का बाहरी रूप कुछ नहीं करता। किन्तु उसका मानसिक रूप जैसा खड़ा किया जाता है तदनुसार ही

वह सुख-दुःखादि का कारण बनता है—उसे वैसा बनना पड़ता है।

इसीलिए 38वें श्लोक में गीता ने इसकी जड़ ही काट दी है। उसने कह दिया है कि अपने दिल-दिमाग पर जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख का असर होने ही न दो, दिल-दिमाग को यह मौका ही न दो कि इन चीजों का रूप अपने भीतर खड़ा कर सके, ऐसा न होने पाये कि दिल-दिमाग की स्वाभाविक एकरसता, गम्भीरता और शान्ति को, ये सभी अपनी छाया और अपना प्रतिबिम्ब उस पर डाल के, भंग करें, बिगाड़ें। फिर तो पौ बारह है, फिर तो सब कुछ ठीक है, फिर तो पाप-पुण्य की जड़ ही कट जाती है। पाप-पुण्य के बाप तो ये मानसिक रूप ही हैं, चीजों का मानस पटल पर पड़ा हुआ असर और प्रतिबिम्ब ही है, छाया ही है। इस प्रकार अध्यात्मवाद और वेदान्त के सिद्धान्त के ही आधार पर कर्म करने की बात का प्रतिपादन पूरा किया गया है। क्योंकि जब आत्मा निर्विकार और निर्गुण है, निर्लेप और अजर-अमर है तब तो मानसिक कल्पना के ही चलते वह भटकती है और पाप-पुण्य में पड़ती है, जैसे जंगल में भटक जाने वाला काँटेकुशों में बिधता या चोर-डाकुओं से लुटता है। और जब वही चीज नहीं रही, जब मानसिक समता (balance) बिगड़ने न पायी, तो फिर खतरा ही कहाँ रहा?

अब विचार पैदा होता है कि जिस समता का उल्लेख यहाँ किया गया है उसी का जिक्र आगे कर्मयोग के प्रकरण के 48वें श्लोक में आया है। यहाँ भी 'सुखदुःखे समे कृत्वा' है और वहाँ भी 'सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा' लिखा है। ऐसी दशा में दोनों एक ही चीज हो जाती है। फिर अध्यात्मवाद के प्रकरण के अन्त और योग के आरम्भ के पहले जो 39 श्लोक में बड़ी तपाक के साथ कहा है कि 'तत्त्वज्ञान की बात कह चुके अब योग की बात सुनो', उसका तो कोई मतलब रही नहीं जाता। वह बेकार और निरर्थक मालूम पड़ता है। मगर ऐसा मान भी तो नहीं सकते। गीताकार को क्या इतनी मोटी भी बुद्धि न थी कि यह बात समझ जायें? और जो गीता में सांख्य एवं योग के दो मार्गों का बार-बार जिक्र आया है उसका क्या होगा? यह कोई बच्चों की तो बात है नहीं। इसीलिए कुछ अजीबसा घपला यहाँ आ खड़ा होता है।

यह बात तो जरूर है। यहाँ दिक्कत तो मालूम होती ही है। इसीलिए जरा गौर से कई बातें विचारना है। पहली बात यह है कि हम अध्यात्मवाद के उपसंहार वाले 38वें श्लोक के 'नैवं पापमवाप्स्यसि' तथा कर्मयोग की भूमिका के 39वें श्लोक के 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' शब्दों पर भी विचार करें। पहले शब्द तो इतना ही कहते हैं कि 'ऐसा होने से तुम्हारे पास पाप फटकने न पायेगा।' उनका इस बात से कोई तात्पर्य नहीं है, कोई भी प्रयोजन नहीं है कि आया कर्म पाप-पुण्य पैदा करते हैं या नहीं, कर्मों में पाप-पुण्य पैदा करने की शक्ति है या नहीं। तत्त्वज्ञान और अध्यात्मवाद को इससे कोई भी गर्ज नहीं होती। वह इन बातों की ओर दृष्टि डालना फिजूल

समझता है। बल्कि यों कहिये कि वह ऐसा करने को पतन एवं पथभ्रष्टता की निशानी मानता है। वह यह बाल की खाल क्यों खींचने लगा? वह तो इतना ही कहता है कि जब आत्मा निर्लेप है, अकर्त्ता है, जब उसमें कर्म हई नहीं, तो फिर कर्म का फल वह क्यों भोगे? कर्म का फल उसके निकट आये भी क्यों? आने की हिम्मत भी क्यों करे? हाँ, एक ही बात है कि मन में—दिल-दिमाग में—उसकी कल्पना कर ली जाय तो गड़बड़ हो सकती है, होती है। इसीलिए उसने उसी चीज को अन्त में रोक दिया है और साफ कह दिया है कि खबरदार, दिल-दिमाग की गम्भीरता (serenity) बिगड़ने न पाये। फिर मजाल किसकी कि फँसा सके? ऐसी दशा में जहाँ आग का सम्बन्ध ही नहीं वहाँ उसकी लपट, गर्मी या आँच आयेगी कैसे?

और 39वें श्लोक वाले शब्द? यह तो कुछ और ही कहते हैं। वह तो कहते हैं कि "ऐसा होने पर कर्मों में जो बन्धकता या बाँधने और फँसाने की शक्ति है वही खत्म हो जायगी।" मतलब यह है कि ये शब्द आत्मा के अकर्त्तृत्व आदि का खयाल न करके कर्म के स्वरूप का ही खयाल करते हैं—इनकी नजर उसी तरफ है। वह कर्मों में फल देने की ताकत और शक्ति को मान के ही ऐसा उपाय सुझाते है कि वह शक्ति बेकार हो जाए, मारी जाए। जिस तरह भुने जाने पर बीज में अंकुर पैदा करने की ताकत नहीं रहती, खत्म हो जाती है, ठीक उसी तरह कर्म को भी भून देने की बात ये वचन बताते हैं। आत्मा निर्गुण है, कर्त्तृत्वशून्य है, निर्लेप या कि सगुण, कर्त्तृत्वयुक्त और लिपटनेवाली-लिपटानेवाली, इस खोद विनोद में वे नहीं पड़ते। इस गहरे पानी में वे उतरना नहीं चाहते—उतरते नहीं। आत्मा चाहे कुछ भी क्यों न हो, वह करने वाली ही क्यों न हो, फिर भी ऐसी युक्ति की जा सकती है कि कर्म ही भून दिये जायँ और सब पँवारा ही खत्म हो जाय। अतएव यही कहना ठीक है कि इन वचनों की दृष्टि पहले वालों से ठीक उलटी दिशा में है—दूसरे किनारे है। यदि इसी श्लोक के बाद का 40वाँ श्लोक देखें तो वहाँ की 'प्रत्यवायो न विद्यते'—"पाप होता ही नहीं रहता ही नहीं'—ऐसा ही लिखा है। इससे भी यही बात निकलती है कि योगवाली हिकमत या योग की जानकारी से पाप पैदा होने पाता ही नहीं—उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता—उसकी सत्ता होने ही नहीं पाती। फिर वह जायेगा किसके निकट? जो चीज हई नहीं, उससे किसी को खतरा ही क्या। इस प्रकार सांख्य और योग की विशेषता सिद्ध हो जाती है।

दूसरी बात भी है। 38वें श्लोक में युद्धरूप क्रिया या काम के बारे में समत्वबुद्धि की बात नहीं कही गयी है। किन्तु उसके फलों के ही बारे में। जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख तो युद्ध के परिणामस्वरूप ही क्रमशः एक के बाद दीगरे होते हैं और उन्हीं के असर से दिल-दिमाग को बचा रखने को कहा है। मगर 48वें श्लोक में जो सिद्धि-असिद्धि में समता या एकरसता की बात कही गयी है, वह कर्मों के ही बारे में है और प्रकृत में युद्ध को ही लेकर है। लड़ाई अन्त तक हो या बीच में

ही रह जाय, खत्म हो जाय इस बात की परवाह कतई न हो यही योग है। इस बात का दिल पर जरा भी असर न हो, यही चीज वहाँ कही गयी है। इस प्रकार जहाँ पहली खूबी में कर्म को भूनने की बात है, तहाँ इसमें उसका कोई भी प्रभाव दिल पर न आने देने की बात है। इसी के फलस्वरूप कर्म भुने जायँगे। यह बुनियादी चीज को ही पकड़ता है। कर्मों का ही असर न होने दिया जाय तो योग हो गया और उनके नतीजों को ही पास में फटकने न दिया गया तो सांख्य हो गया।

तीसरी बात भी है जिससे योग का निरूपण अलग किया गया है। यह ठीक है कि कर्म की सिद्धि-असिद्धि की लापरवाही को ही योग कहते हैं। मगर सवाल तो यह है कि वह हो क्योंकर? जरा देखिये तो सही यह कितनी कठिन चीज है। फल की इच्छा को स्थान न देना, फल की ओर से लापरवाह होना, कर्म में आसक्ति का न होना और कर्मत्याग में आग्रह न रहना—ये चार चीजें बताई गयी हैं। इनके बताने और इन पर अमल करने का सीधा मतलब यही है कि हमारी दृष्टि कर्म के ऊपर इस हद तक बँध गयी हो, हमारे मन की एकाग्रता (concentration) कर्म के ऊपर इस तरह पूर्ण और इतनी पक्की हो गयी हो कि वह फलेच्छा और फल की तो बात ही जाने दीजिये, वह तो जुदी चीजें हैं, कर्म के त्याग और उसके करने की ओर भी न जा सके! क्या कमाल है ! कैसी लासानी एकाग्रता की बात है ! किस अलौकिक मनोयोग का निरूपण है ! मन कर्म में इतना बँधा है और उस बन्धन की सीमा इतनी संकुचित एवं निर्धारित है कि कर्म के आगे जो उसका करना या न करना है उसे भी वह देख नहीं सकता, वहाँ भी वह जा नहीं सकता, वहाँ जाने की भी उसे इजाजत नहीं है! वहाँ भी उसके लिए 'नो एडमिशन' (No admission) ही है। जो बात दिमाग में आने वाली नहीं जँचती वही लिखी गयी प्रतीत होती है! क्या खूब!

यह तो ऐसा ही है जैसा कि छुरे की धार पर होकर गुजरना और फिर भी पाँव को कटने से बाल-बाल बचा लेना! यह तो सबके लिए सम्भव नहीं। यह तो कोई बिरला ही माई का लाल कर सकता है! इस अनोखी दैवी कला का पारंगत तो शायद ही कोई होता है, हो सकता है। ऐसा वही हो सकता है जो प्राणायाम की क्रिया से समूचे शरीर को तौल के ऐसा ऊपर—इतना ऊपर उठा ले कि पाँवों का केवल सम्बन्ध ही उस धार पर हो और शरीर का जरा भी भार उस पर न होने पाये। शरीर न तो इतना ऊँचा उठ जाय कि छुरे से सम्बन्ध ही टूट जाय, क्योंकि तब तो उसकी धार पर का चलना कहा जायगा नहीं! और न ऐसा ही उठे कि धार पर जरा भी—नाममात्र को भी—उसका बोझ पड़े, क्योंकि तब तो पाँव ही कट जायगा! फिर भी पाँव के द्वारा शरीर का सम्बन्ध भी धार से बना रहे! उफ, गजब की करामात है! ठीक यही करामात कर्म के बारे में भी करने की बात 48वें श्लोक में कही गयी है!

प्रश्न होता है कि यह हो कैसे? यहीं पर मदद करने और इस महान् संकट से उबारने के लिए सांख्य या अध्यात्मज्ञान आ जाता है। ठीक, छुरे पर जुटे शरीर की ही तरह यहाँ मन को बहुत ऊँचा उठना होगा, ऊँचा उठाना होगा। वह इतना ऊपर चला जाय कि कर्म के अलावा बाकी सभी चीजें अनन्त दूरी पर—बहुत नीचे दूर—पड़ जायँ। उन सबों से मन बेलाग हो जाय। मगर उसी के साथ कर्म से सम्बन्ध भी जुटा रहे—वह टूटने न पाये। जब तक वह अध्यात्मदर्शन और तत्त्वज्ञान की पूर्णता के फलस्वरूप बड़ी ऊँचाई (high plane) पर चला नहीं जाता, खामख्वाह गड़बड़ी होगी और खतरा बराबर बना रहेगा कि कभी इधर और कभी उधर जाय। मन की इसी दशा को—इसी ऊँचाई को—चौथे अध्याय के 'गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः' (23) श्लोक में 'ज्ञानावस्थितचेताः' या ज्ञानावस्थित चित्त कहा है। वह ज्ञान में डूब जाता है। तीसरे अध्याय के 'यस्त्वात्मरतिरेव' श्लोक में इसे ही 'आत्मरतिः' और 'आत्मतृप्तः' कहा है। जो अमृत में डूबा है उसे शर्बत की परवाह क्यों हो? यही बात यहाँ है। जो आत्मानन्द में मंस्त है, उसी में तृप्त है, उसी में डूबा है वह इधर-उधर क्यों जाय? फिर भी एक ओर—सिर्फ कर्म की ओर—जाना भी है ! यही तो निरालापन है! गीता में इस हालत का वर्णन बार-बार आया है। यही ज्ञान की असली अवस्था है और इसी की मदद से मन कर्म के आगे-पीछे बाल भर भी नहीं बहकेगा। नहीं तो वहीं कट जायगा! यही योग है जिसमें आत्मज्ञान मददगार है।

योग में आत्मज्ञान निहायत जरूरी है और उसी के फलस्वरूप जो सिर्फ कर्म तक ही मन पहुँचने दिया जाता है इसी युक्ति, इसी हिकमत और इसी कला की आगे भी प्रशंसा की गयी है। दरअसल योग में तीन चीजें हैं। एक तो कर्म है। दूसरी उसी तक मन या बुद्धि की पहुँच और तीसरी चीज है इसी के लिए जरूरी तथा आधारभूत आत्मदर्शन या आत्मा का साक्षात्कार। इनमें कर्म के सिवाय शेष दो को ही एक साथ मिला के योग के सम्बन्ध की बुद्धि, जानकारी या कला कहा गया है 'बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु' (2। 39) में। इन दोनों में भी असली चीज वही आत्मज्ञान है। क्योंकि उसी के बल पर ऊँचे उठ के मन कर्म से आगे जा नहीं सकता है। इसीलिए 'दूरेण ह्यवरं कर्म' (2। 49) और 'बुद्धियुक्तो जहातीहं' (2। 50) श्लोकों में कह दिया है कि "इस बुद्धि या ज्ञान के योग यानी सम्बन्ध को हटा देने पर बचा-बचाया कर्म तो रद्दी चीज है, बहुत बुरा है। इसलिए कर्म से पैदा होने वाले अनर्थों से बचने के लिए इसी बुद्धि की शरण जाओ। इसके बिना तो फल की आकांक्षा आदि के चलते दुर्दशा होती है।" "विपरीत इसके यदि वह इस बुद्धि से युक्त—इससे सम्बन्ध—हो जाय, तो पुण्य-पाप दोनों से ही उसका पिण्ड छूट जाता है। अतएव योग की ही प्राप्ति के लिए कोशिश करो वही तो कर्म की कला, हिकमत या विशेषज्ञता है।"

यहाँ 50वें श्लोक में जो पुण्य-पाप से पिण्ड छूटने की बात कही गयी है वह ठीक वैसी ही प्रतीत होती है जैसी आत्मज्ञान के फलस्वरूप 38वें श्लोक में बताई गयी है। इससे यह खयाल हो सकता है कि ज्ञान और योग में कोई फर्क नहीं है। मगर इसी के बाद के 51वें श्लोक में जो 'हि' शब्द दिया गया है और जिसका अर्थ है 'क्योंकि' उससे पता लगता है कि वह श्लोक पहले के मतलब को स्पष्ट करता है। पहले में जो कुछ इस तरह के शक की गुंजाइश है उसे खुद समझ के ही वह इस पर और भी प्रकाश डालता है। अब जरा 'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि' आदि उस श्लोक का अर्थ देखिये। वह यों है, "क्योंकि बुद्धियुक्त (बुद्धिवाले) मनीषी लोग कर्मों से पैदा होने वाले फलों को छोड़ के जन्ममरण रूप बन्धन से छुटकारा पा जाते और निरुपद्रव स्थान में पहुँच जाते हैं।" पहले श्लोकों में जो पुण्य-पाप के त्यागने या उनसे पिण्ड छूटने की बात कही गयी है ठीक उसी का उल्लेख इस श्लोक में "कर्मों से पैदा होने वाले फलों को छोड़ के' इन शब्दों में किया है और कहा है कि जन्ममरण रूप बन्धन से वे छूट जाते हैं। पहले श्लोक के 'बुद्धियुक्ताः' की ही जगह यहाँ 'मनीषिण' कहा है।

अब यदि इन सभी बातों को मिला के गौर करें तो पता चलेगा कि भूमिका वाले 39, 40 श्लोकों में जो कुछ कहा गया है कि योग के करते कर्मों की बन्धनशक्ति खत्म हो जाती है और पुण्य-पाप होने पाते ही नहीं, वही बात यहाँ समर्थन के रूप में दुहराई गयी है। इसीलिए श्लोक में 'बन्ध' शब्द भी आया है। असलियत यह है कि कर्मों में ही जो मन बुद्धि जम गयी है उसका परिणाम यह होता है कि बन्धन से छुटकारा मिलता है। कर्म से हट के एकाएक बन्धन पर जा पहुँचे और उसे खत्म किया! कर्म और बन्धन के बीच में कई सीढ़ियाँ पड़ती हैं। योगवाले उन्हें फाँद जाते हैं! कर्म का तो सबसे पहले तत्काल फल होता ही है जय-पराजय आदि के रूप में। फिर उसके बाद दूसरा फल आता है जिसे पुण्य-पाप कहते हैं। तब कहीं जाके बन्धन आता है उन्हीं पुण्य-पापों के फलस्वरूप। योग के चलते कर्म और बन्धन के बीच के इन दो फलों—दो सीढ़ियों से साबका पड़ता ही नहीं। उनसे कोई भी नाता नहीं होता—वह होते ही नहीं। फिर बन्धन यानी जन्ममरण कैसा? सांख्य या ज्ञान में भी बन्धन तो होता नहीं। मगर बीच के दो फल होते हैं जरूर; हालाँकि आत्मा से उनका कोई भी नाता न होने के कारण वे उसमें सटते नहीं। क्योंकि कर्म ही जब उसमें सटता नहीं, है नहीं, तो उसके फल कैसे आयेंगे? विपरीत इसके योग में कर्म आत्मा में आये और सटे तो क्या और न सटे तो क्या? वहाँ इससे कोई मतलब हई नहीं। मगर बीचवाले फल नहीं सटते यह पक्का है। पहले पक्ष में पक्कापक्की कर्म ही नहीं सटता है और इसी से ये फल नहीं सटते। मगर इस पक्ष में पक्कापक्की यह नहीं सटते हैं। फिर कर्म सटके भी क्या करेगा? दोनों का यही मौलिक भेद—बुनियादी फर्क—यहाँ साफ हो जाता है।

व्यवसायात्मक बुद्धि

अब एक ही बात इस योग के मुतल्लिक रह जाती है जिसका जिक्र 'व्यवसायात्मिका' आदि 41वें श्लोक में है। उसी का स्पष्टीकरण आगे के 42-44 श्लोकों में भी किया गया है, बल्कि प्रकारान्तर से 45-46 में भी। इन श्लोकों में कहा गया है कि योगवाली बुद्धि एक ही होती है, एक ही प्रकार की होती है और होती है वह निश्चित, निश्चयात्मक (definite)। उसमें सन्देह आगा-पीछा या अनेकता की गुंजाइश होती ही नहीं। विपरीत इसके जो योग से अलग हैं, जिनका ताल्लुक योग से हई नहीं उनकी बुद्धियाँ बहुत होती हैं और एक-एक की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं। वे अनिश्चित तो होती ही हैं। कहने का मतलब यह है कि जहाँ योगी के खयाल पक्के और एक ही तरह के होते हैं तहाँ दूसरों के अनेक तरह के, कच्चे और सन्दिग्ध होते हैं।

बात सही भी है। पहले जो कुछ योग के बारे में कहा गया है उससे यह बात इतनी साफ हो जाती है कि समझने में जरा भी दिक्कत नहीं होती, जब यह कह दिया गया है कि सिवाय कर्म के उसके करने, न करने, छूटने, न छूटने, फल, उसकी इच्छा, कर्म की जिद या उसके न करने की जिद—इनमें किसी भी—की तरफ मन या बुद्धि को जाने का हक नहीं है, जाने देना नहीं चाहिए, जाने दिया जाता ही नहीं या यों कहिये कि जाने की गुंजाइश ही नहीं रह जाती, तो फिर बुद्धि या खयाल का एक ओर निश्चित होना अवश्यम्भावी है। पहले से ही निश्चित एक ही चीज—कर्म—से जब वह डिगने पाता नहीं, तो फिर गड़बड़ी की गुंजाइश हो कैसे और अनेकता या सन्देह इसमें घुसने भी पाए कैसे?

मगर जहाँ यह बात नहीं है और खयाल को—बुद्धि या मन को—आजादी और छूट है कि फलों की ओर दौड़े, सो भी पहले से निश्चित फलों की ओर नहीं, किन्तु मन में कल्पित फलों की ओर, वह बुद्धि तो हजार ढंग की खामख्वाह होगी ही। एक तो कर्मों के फलों की ही तादाद निश्चित है नहीं। तिस पर तुर्रा यह कि कर्म करने वाले रह-रह के अपनी-अपनी भावना के अनुसार फलों के बारे में हजार तरह की कल्पनाएँ—हजार तरह के खयाल—करते रहते हैं। यही कारण है कि फल और फल की इच्छा या कल्पना को जुदा-जुदा रखा है। क्योंकि कर्मों के फल तो पहले से निर्धारित या बने-बनाये होते नहीं। वे तो नये सिरे से बनते हैं, बनाये जाते हैं। हर आदमी चाहता है कि एक ही कर्म का फल अपने-अपने मन के अनुसार जुदी-जुदी किस्म का हो। यह भी होता है कि एक ही आदमी खुद रह-रह के अपने खयाल फलों के बारे में बदलता रहता है। परिस्थिति उसे मजबूर करती है। एक ही युद्ध के फलों की कल्पना हर लड़नेवाले जुदी-जुदी करते हैं। साथ ही एक आदमी की जो कल्पना शुरू में होती है मध्य या अन्त में वह बदल जाती है, ठीक उसी हिसाब से जिस हिसाब से उसे अपनी शक्ति और मौके का अन्दाज लगता है। इसी

के साथ यदि कर्मों के करने न करने या उनके छोड़ने न छोड़ने के हठों की बात मिला दें, तब तो बुद्धि और खयालों के परिवार की अपार वृद्धि हो जाती है। वह पक्की चीज तो होती ही नहीं। कभी कुछ खयाल तो कभी कुछ। एक ही फल के विस्तार का रूप भी विभिन्न होता है।

मगर योग में तो सारा झमेला ही खत्म रहता है। वहाँ तो 'न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी' वाली बात होती है। इसीलिए उसकी महत्ता बताई गयी है। 52 से लेकर 72 तक—अध्याय के अन्त तक—के श्लोकों में उसी बुद्धि का विशद चित्र खींचा गया है। वह कितनी कठिन है, दुःसाध्य है यह भी बताया गया है। मस्ती की अवस्था ही तो ठहरी आखिर। इसीलिए तीसरे अध्याय के पहले ही श्लोक में उसी बुद्धि की यह महिमा जान के अर्जुन ने कर्म के झमेलों से भागने और उस बुद्धि का ही सहारा लेने की इच्छा जाहिर की है। मगर यह तो ठीक ऐसी ही है जैसी कि किसी की एकाएक गुरु बन जाने की ही इच्छा।

2. गीताधर्म और मार्क्सवाद

1. गीताधर्म

गीता को अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं और बातों पर अभी प्रकाश डालना बाकी ही है। मगर यह काम करने के पहले उसके एक बहुत ही अपूर्व पहलू पर कुछ विस्तृत विचार कर लेना जरूरी है। गीता की कई अपनी निजी बातों में एक यह भी है। हालाँकि जहाँ तक हमें ज्ञात है, इस पर अब तक लोगों की वैसी दृष्टि नहीं पड़ी है जैसी चाहिए। यही कारण है कि यह चीज लोगों के सामने खूब सफाई के साथ आई न सकी है। उसी के सिलसिले में गीता की दो-एक और भी बातें आ जाती हैं। उनका विचार भी इसी प्रसंग में हो जायगा। सबसे बड़ी बात यह है कि जिस बात का हम यहाँ विचार करने चले हैं उसका बहुत कुछ ताल्लुक, या यों कहिये कि बहुत कुछ मेलजोल, एक आधुनिक वैज्ञानिक मतवाद से भी हो जाता है—उस मतवाद से जिसकी छाप आज समस्त संसार पर पड़ी है और जिसे हम मार्क्सवाद कहते हैं। यह कहने से हमारा यह अभिप्राय हर्गिज नहीं है कि गीता में मार्क्सवाद का प्रतिपादन या उसका आभास है। यह बात नहीं है। हमारे कहने का तो मतलब सिर्फ इतना ही है कि मार्क्सवाद की दो-एक महत्त्वपूर्ण बातें गीताधर्म से मिल जाती हैं और गीता का मार्क्सवाद के साथ विरोध नहीं हो सकता, जहाँ तक गीताधर्म की व्यावहारिकता से ताल्लुक है। यों तो गीता में ईश्वर, कर्मवाद आदि की छाप लगी हुई है। मगर उसमें भी खूबी यही है कि उसका नास्तिकवाद से विरोध नहीं है और यही है गीता की सबसे बड़ी खूबी, सबसे बड़ी महत्ता। यही कारण है कि हमें गीताधर्म को सार्वभौम धर्म—सारे संसार का धर्म—मानने और कहने में जरा भी हिचक नहीं होती।

कर्म का पचड़ा

हाँ, तो जरा उसी बात को देखें कि वह कौन सी है। हमने शुरू में ही उसकी तरफ श्रद्धा, मानसिक भावना आदि के नाम से इशारा भी किया है और कहा है कि वही चीज कर्म के बाहरी रूप को सोलहों आना पलट देती है—उसे एक निराले और अपने

मन के ही साँचे में ढाल देती है। बात यह है कि सोलहवें अध्याय के आखिरी दो—23 और 24—श्लोकों में 'यः शास्त्रविधि मुत्सृज्य' आदि शब्दों के द्वारा ऐसा कहा गया है कि कोई भी काम—क्रिया या अमल—उसके सम्बन्ध में बने अनुशासन और पद्धतिविधान—शास्त्र—के ही अनुसार किया जाना चाहिए। इसीलिए जो ऐसा नहीं करता है उसका न तो वह काम पूरा होता है, न उसे चैन मिलता है और न मरने के बाद या पीछे उसका कल्याण ही होता है। बात भी ठीक ही है। हरेक काम की निराली तरकीबें और प्रक्रियाएँ होती हैं, उसे करने के नियम-कायदे होते हैं और बनने-बिगड़ने की हालत में पुरस्कार और दण्ड—अनुशासन—भी होते हैं। फिर चाहे वह काम लौकिक हो या पारलौकिक, बहुत बड़ा तथा अहम हो या मामूली। इसलिए उसके विधि-विधान को जानना और तदनुसार ही अमल करना जरूरी हो जाता है। जो लोग ऐसा नहीं करते उन्हें परेशानी तो होती ही है, उनका काम भी ठीक-ठीक हो नहीं पाता और पीछे जाने क्या-क्या नतीजे भुगतने पड़ते हैं। इसलिए गीता का यह आदेश—उसकी यह चेतावनी—बहुत ही मौजूँ है।

मगर दरअसल यह बात उतनी आसान और सीधी नहीं है जितनी एकाएक मालूम पड़ती है। गीता के ही अनुसार, "कर्मों की जानकारी, उनकी माया, गहन है, बहुत ही कठिन है"—'गहना कर्मणो गतिः' (4। 17)। फलतः जब हम कर्मों के घोर और दुष्प्रवेश जंगल में घुसते हैं तो यही नहीं कि रास्ता नहीं मिल पाता और भटक जाते हैं, बल्कि काँटों में बिंध जाते, खूँखार जानवरों के शिकार बन जाते और चोर-बदमाशों के शिकंजे में भी फँस जाते हैं! एक तो कर्म यों ही ठहरे अनन्त। फिर उनकी जानकारी ठहरी उनसे भी अनन्त। तिस पर भी हरेक के ब्योरे होते ही हैं। उन्हें जानने का अवसर सबको मिलता भी नहीं। ऐसी दशा में हो क्या? क्या लोग कर्मों से विमुख रहें? क्योंकि अधिकांश लोग तो ऐसे ही होंगे। मगर तब तो संसार का काम ही रुक जायगा। आखिर यह कैसे और क्यों कहा जाय कि किस काम के विधि-विधान को—शास्त्रविधान को—बखूबी जानने की जरूरत है और किसकी नहीं? सभी तो काम ही—कर्म ही—ठहरे और 'गहना कर्मणो गतिः' तो सभी पर समान रूप से लागू है। यदि भीतर घुस के देखें तो बात भी ऐसी ही है। अतः "को बड़ छोट कहत अपराधू!" इसीलिए यही मानना होगा कि "ऊपर चढ़के देखा, घर-घर एकै लेखा!" और अगर इस दिक्कत से बचने और दुनिया का काम चलाने के लिए लोग यों ही कर्मों में लग जायँ, तो उनकी हालत क्या होगी? उनकी गति तो अभी-अभी कह चुके हैं। यही खयाल करके अर्जुन जैसे सूक्ष्मदर्शी ने सत्रहवें अध्याय के पहले ही श्लोक में चटपट यही बात पूछ ही तो दी। कृष्ण ने आगे के दो और तीन श्लोकों में उसका उत्तर देके उसी का विवरण समूचे अध्याय में किया है।

इस बात पर जरा हम और गौर करें। किसी भी काम के करने के लिए रास्ते बताने वाले, दोई तरह के हो सकते हैं। एक तो जीवित मनुष्य और दूसरे उसके

बारे में लिखी-लिखाई पुस्तकें जिन्हें शास्त्र कहते हैं। अब अगर जिन्दा आदमियों को लेते हैं तो इतनी लम्बी दुनिया में वे खामख्वाह होंगे बहुत ज्यादा। एक-दो या दस-बीस से तो काम चलने का नहीं। और जब दो आदमियों के भी सभी खयाल और विचार नहीं मिलते, तो फिर हजारों का क्या कहना? ऐसा भी होता है कि एक ही आदमी के विचार समय पाके एक ही बात के सम्बन्ध में बदलते रहते हैं और कभी-कभी तो तीन-तीन, चार-चार पलटे खा जाते हैं। तब अनेक की बात ही क्या? इसी को कहते हैं 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' या 'अपनी-अपनी डफली, अपनी-अपनी गीत''। महाभारत के वनपर्व के युधिष्ठिर-यज्ञ संवाद में यही बात स्वीकार की गयी है कि एक मुनि ऋषि हों तो उनकी बात मान के काम चले। यहाँ तो अनन्त हैं—अनेक हैं—'नैकोऋषिर्यस्यवचः प्रमाणम्' (312+115)। आदमी की यह भी हालत होती है कि उसका दिमाग हमेशा स्वस्थ और एक हालत में रहता ही नहीं। तो कब उससे बात जानी जाय, कब नहीं ? फिर दूरवर्ती को क्या मालूम कि कब उसका दिल-दिमाग ठीक है और उसने जब कहा था तब ठीक था या नहीं? और अगर कहीं देर तक उसके दिमाग में गड़बड़ी रही तो क्या हो? दुनिया के काम तो उसकी गड़बड़ी के लिए रुके रहेंगे नहीं।

और अगर इस दिक्कत से बचने के लिए लिखित वचनों तथा आदेशों की शरण लें, तो दूसरी पहेली खड़ी हो जाती है। जिन्दा आदमी तो साफ कह-सुन देता है और अगर कोई बात समझ में न आये तो उससे पूछ के सफाई भी कर ले सकते हैं। मगर मरे का क्या हो? आखिर पुस्तकों और शास्त्रों के वचन तो मरों के ही हैं न? वे खुद तो बोल नहीं सकते। अगर किसी वचन का मतलब समझ में न आये या उलटा ही समझ में आये तो क्या करें? किससे पूछें? यदि उसकी टीका-टिप्पणी देखें तो और भी गजब हो। टीकाकार तो आखिर दूसरे ही होंगे न? फिर क्या मालूम कि उनने लेखक का अभिप्राय ठीक समझा या गलत? यदि खुद लेखक ने ही टीका की हो तो बात दूसरी है। मगर ऐसा होता तो शायद ही है। और अगर टीका में भी कहीं शक हो या वही कहीं समझ में न आये तो? आखिर वचन ही तो वह भी ठहरी और जब पहले या मूल के वचनों में ही सन्देह की गुंजाइश है तो बाद वाले (तूल या टीका के) वचनों में भी क्यों न होगी? यदि लेखक की ही बातें सुनके ही किसी ने टीका लिखी और मौके-मौके से उनसे पूछ भी लिया था, तो भी इसका क्या सबूत है कि प्रश्नों का उत्तर ठीक ही मिला या उसने उसे ठीक ही समझा? पूछने और उत्तर देने वालों का दिमाग बराबर ही ठीक रहा और उसमें गड़बड़ी न रही, यह भी कौन कहे?

कहते हैं कि पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों पर जो पतंजलि का महाभाष्य है उसकी टीका सबसे पहले कैयट ने लिखी। उनके बारे में कहा जाता है कि बरसों यह हालत रही कि कोई बात वह एक दिन लिखते थे उसी को अगले दिन गलत

बता के काट देते और फिर नये सिरे से लिखते थे। तीसरे दिन उसे भी काट के कुछ और ही लिखते! यही हालत बराबर रही! नतीजा यह हुआ कि हाथी के नहाने की-सी इस हालत से उन्हें सख्त अफसोस हुआ। वे खिन्न हो गये। नौबत यहाँ तक पहुँची कि मरणासन्न दीखने लगे। उस पर उनकी माँ ने सारी बातें जानके किसी अपने मित्र को बुलाया और उपाय पूछा। उसने रास्ता सुझाया कि कैयट को रात में दही और उड़द खिलाया जाय, तो इनकी बुद्धि मन्द हो जायगी। फिर तो जो भी एक बार लिखेंगे उसकी भूल शायद ही सूझे और इस प्रकार जिस काम के पूरे न होने की चिन्ता से वे मर रहे हैं वह पूर्ण हो जायगा। यही किया गया और धीरे-धीरे वे स्वस्थ होने लगे। उधर टीका लिखने में प्रगति भी काफी हुई। जब कुछ दिनों बाद किसी मित्र ने उनसे खुद उनकी हालत पूछी तो उनने उत्तर दिया कि "अब क्या पूछना है? अब तो बुद्धि को ही चुरा लेने वाले उड़द खा रहा हूँ"—"अधुना शेमुषीमोषान्माषानश्नामि नित्यशः"! यही बात औरों की भी क्यों न होगी? फिर तो यदि रोज ही शास्त्र बदले तो?

शास्त्रों और पुस्तकों की क्या बात कही जाय? एक-दो या दस-बीस हों तब न? यहाँ तो जितने मुनि उतने मत हैं—जितने लेखक उनसे कई गुना किताबें हैं। हिन्दुओं के ही घर में एक व्यास के नाम से जानें सैकड़ों पोथियाँ हैं। खूबी तो यह कि वह भी एक दूसरे से नहीं मिलती हैं! उनमें भी परस्पर विरोधी बातें सैकड़ों हैं, हजारों हैं। तब किसे मानें किसे न मानें? और जब एक की ही लिखी बातों की यह हालत है, तो विभिन्न लेखकों का खुदा ही हाफिज! उनके वचनों में परस्पर विरोध होना तो अनिवार्य है! भिन्न-भिन्न दिमागों से निकले विचार एक हों तो कैसे? सभी दिमाग एक हों तो काम चले। मगर यह तो अनहोनी बात ठहरी। फलतः शास्त्रों के द्वारा किसी काम के भले-बुरेपन का निर्णय भी वैसा ही समझिये।

यदि चुनाव के जरिये राय लेके जो बहुमत से तय पाये वही ठीक माना जाय तब तो और भी गड़बड़ी होगी। समूचे संसार का मत तो मिली नहीं सकता। एक देश या प्रान्त की भी यही हालत है। उलटा-सीधा समझाने वाले तो होते ही हैं। उसी से गड़बड़ होती है। जोई लोग एक बार एक तरह की राय देते हैं वही औरों के समझाने पर दूसरी बार बदल दे सकते हैं। उन बेचारों का इसमें कसूर भी क्या? उन्हें समझ हो तब न? और अगर यही समझ हो जाय तो फिर शास्त्र की जरूरत ही क्यों हो? समझदारों के लिए तो वह चाहिए नहीं। सबों को समझदार बना देना तो असम्भव भी है। समझ की कोई नाप-जोख भी तो नहीं है कि वह कितनी चाहिए, कैसी चाहिए। इसका पता भी कैसे लगेगा? और अगर यही बात हो जाय तो गलत प्रचार की महिमा ही चली जाय। एक ही मुकदमे में ऐसा देखा जाता है कि वह जितने न्यायाधीशों के सामने जाता है उसका उतने ही ढंग का मतलब लगता है। इसीलिए महाभारत वाले उक्त वनपर्व के वचन में साफ लिख दिया है कि "तर्क-दलील

का तो ठिकाना ही नहीं, वह तो दिमाग के ही मुताबिक बदलता है। वेदशास्त्र के वचन तो अनेक तरह के हैं—एक ही बात के लिए परस्पर विरोधी वचन मिलते हैं। ऋषिमुनि तो एक ठहरे नहीं कि उनकी बात से काम चल जाय। नतीजा यह है कि धर्म की हकीकत अँधेरी गुफा के भीतर बन्द चीज जैसी हो गयी है! तो फिर उपाय क्या? बड़े-बूढ़े जिस रास्ते गये हों या पंचों ने जो तय किया हो वैसी ही बात करके काम निकालना चाहिए"—"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।"

श्रद्धा का स्थान

मगर गीता का यह उत्तर नहीं है। काम चलाने की या गोल-मोल बातें गीता की शान के खिलाफ हैं। उसे तो साफ और बेलाग बोलना है। इसीलिए वह कहती है कि "त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।। सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (17। 2-3)। इसका आशय है, "आदमियों की श्रद्धा स्वभावतः तीन ही तरह की होती है, सात्विक, राजस और तामस। इस श्रद्धा की हालत सुनिये। सत्त्वगुण के तारतम्य के हिसाब से ही सबों की श्रद्धा होती है और आदमी को तो श्रद्धामय ही समझना होगा। इसीलिए जिसकी श्रद्धा जैसी हो वह वैसा ही समझा जाय।" इसका निचोड़ यह है कि जिसका हृदय सत्त्व प्रधान है—जिसमें सत्त्वगुण की प्रधानता है—वह सात्त्विक आदमी है। जिसमें सत्त्व दबा हुआ है और रजोगुण की प्रधानता है। वह राजस है। जिसमें सत्त्व के बहुत ही अल्प होने के साथ ही रजोगुण भी दबा है और तमोगुण ही प्रधान है वही तामसी मनुष्य होता है। और जैसा मनुष्य वैसी श्रद्धा या जैसी श्रद्धा वैसा ही मनुष्य, यही सिद्धान्त माननीय होने के कारण जैसी ही श्रद्धा के साथ काम किया जायगा वैसा ही भला या बुरा होगा। सात्त्विक श्रद्धावाला बहुत अच्छा, राजसवाला बुरा और तामसवाला बहुत ही खराब समझा जाना चाहिए।

इसका मतलब समझना होगा। हरेक कर्म के करने वाले का वश परिस्थिति पर तो होता नहीं कि वह विद्वान् हो, विद्वानों के बीच में ही रहे, पढ़ने-लिखने की पूरी सामग्री उसे मिले, उसकी बुद्धि खूब ही कुशाग्र हो, वह भूल कभी करी न सके। ऐसा होने पर वह मनुष्य ही क्यों हो? और उसके कर्तव्याकर्तव्य का झमेला ही क्यों उठे? वह तो सब कुछ जानता ही है। एक बात और। वह शास्त्रों के वचनों के अनुसार ही काम करें, यह तो ठीक है। मगर सवाल तो यह है न, कि उन वचनों का अर्थ वह समझे कैसे? किसकी बुद्धि से समझे? कल्पना कीजिये कि मनु ने एक वचन कर्तव्य के बारे में लिखा है जिसका अर्थ समझना जरूरी है। क्योंकि बिना अर्थ जाने अमल होगा कैसे? तो वह अर्थ मनु की ही बुद्धि से समझा जाय या

करने वाले की अपनी बुद्धि से? यदि पहली बात हो, तो वह ठीक-ठीक समझा तो जा सकता है सही, इसमें शक नहीं। मगर करने वाले के पास मनु की बुद्धि है कहाँ? वह तो मनु के ही पास थी और उनके साथ ही चली गयी।

अब यदि यह कहें कि करनेवाला अपनी ही बुद्धि से मनु के वचन का भाव समझे, क्योंकि मनु की बुद्धि उसमें होने से तो वह भी खुद मनु बन जायगा और समझने की जरूरत उसे रहेगी ही नहीं; तो दिक्कत यह होती है कि अपनी बुद्धि से मनु का आशय कैसे समझें? जो चीज मनु की बुद्धि में समाई वही वैसे ही उसकी बुद्धि में तभी समा सकती है जब उसे भी मनु जैसी ही बुद्धि हो मगर यह तो असम्भव है ऐसा कही चुके हैं। सभी लोग मनु कैसे बन जायेंगे? फलतः जैसा समझेगा गलत या सही वैसा ही ठीक होगा। दूसरा उपाय है नहीं। फिर तो वैसा ही गलत या सही करेगा भी। किया भी आखिर क्या जाय? मगर तब शास्त्र की बात की कीमत क्या रही? एक ही शास्त्र-वचन के हजार अर्थ हो सकते हैं अपनी-अपनी समझ के अनुसार, और यह एक खासा तमाशा हो जायगा।

एक बात और भी है। यदि मुनि की ही समझ के अनुसार चलना हो तो बुरे-भले का दोष-गुण मनु पर न जाके करने वाले पर क्यों जाय? वह अपनी समझ से तो कुछ करता नहीं। उसकी अपनी समझ को तो कर्म-अकर्म के सम्बन्ध में कोई स्थान हई नहीं। उसे मनु का आशय ठीक-ठीक समझना जो है। और अगर यह बात नहीं है तो शास्त्र के आदेश और विधि-विधान का प्रयोजन ही क्या है? यदि मनु के माथे दोष-गुण न लदें इस खयाल से करने वाले को अपनी ही बुद्धि से समझना और करना है तब शास्त्र बेकार है। यह ठीक है कि जिसे अधिकार दिया गया है उसी पर जवाबदेही आती है। मगर यह जवाबदेही तो बिना शास्त्र के भी आई जायगी। चाहे शास्त्र की बातें अपनी अक्ल से समझ के करे या बिना शास्त्र-वास्त्र के ही अपनी ही समझ से जैसा जँचे वैसा ही करे। दोनों का मतलब एक ही हो जाता है। फलतः शास्त्र खटाई में ही पड़ा रह जाता है। यही समझ के अर्जुन ने शंका की थी कि "जो लोग शास्त्रीय विधि-विधान का झमेला, किसी भी तरह, छोड़ के श्रद्धापूर्वक यज्ञादि कर्म करते हैं उनकी हालत क्या होगी? वे क्या माने जायँ—सात्त्विक, राजस या तामस?"—"ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः" (17। 1)।

गीता में इसका जो कुछ उत्तर दिया गया है वह यही है कि शास्त्र की बात तो यों ही है। इसीलिए इसे बच्चों को फुसलाने वाली चीज पुराने लोगों ने मानी है—"बालानामुपलालना"। असली चीज जो कर्म के स्वरूप को निश्चित करती है वह है करने वाले की श्रद्धा ही। जैसा हमारी समझ में—हमारे दिल-दिमाग में—आया वैसा ही हमने ईमानदारी से किया, यही श्रद्धापूर्वक करने का मतलब है। यह नहीं कि समझते हैं कुछ और धारणा है कुछ। मगर डर, शर्म या लोभ वगैरह के चलते

करते हैं कुछ और ही। फिर भी श्रद्धा के नाम से पार हो जायँ। श्रद्धापूर्वक करने का ऐसा मतलब हर्गिज नहीं है। तब तो अन्धेरखाता ही होगा और उसी पर मुहर लग जायगी। दिल-दिमाग, जबान और हाथ-पाँव आदि के मेल या सामंजस्य की जो बात पहले कही गई है उसी से यहाँ मतलब है। उसमें जरा भी फेरफार नहीं होना चाहिए। जितना ही फेरफार होगा उतनी ही गड़बड़ और कमी समझिये। सत्रहवें अध्याय के अलावा 7वें के 20-23 तथा नवें के 23-33 श्लोकों में भी यही भाव दर्शाया गया है। यदि गौर से विचारा जाय तो उनका दूसरा मतलब होई नहीं सकता। उनके बारे में प्रसंगवश आगे भी प्रकाश डाला जायगा। चौथे अध्याय के 11, 12 श्लोक भी कुछ ऐसे ही हैं।

इससे यह भी हो जायगा कि करने वाले पर ही उत्तरदायित्व होगा। क्योंकि समझ के ही साथ उत्तरदायित्व चलता है। इसीलिए रेल से आदमी कट जाने पर जिनके ऊपर उसकी जवाबदेही नहीं होती; हालाँकि काटने का काम वही करता है। किन्तु ड्राइवर पर ही होती है। उसे समझ जो है। यही कारण है कि पागल आदमी के कामों की जवाबदेही उस पर नहीं होती। वह समझ के करता जो नहीं है। यदि हमने गलत को ही सही समझ के ईमानदारी से उसे ही किया तो हम अपराधी नहीं हो सकते, यही गीता की मान्यता है। यद्यपि संसार में ऐसा नहीं होता है। मगर होना तो यही चाहिए। जो कुछ विवेचन अब तक किया गया है उससे तो दूसरी बात उचित होई नहीं सकती। यह ठीक है कि एक ही काम इस तरह कई ढंग से—यहाँ तक कि परस्पर विरोधी ढंग से भी—किया जा सकता है और सभी करने वाले निर्दोष और सही हो सकते हैं यदि उनने श्रद्धा से किया है जैसा कि बताया गया है। युक्ति-युक्त रास्ता तो इसके लिए यही हई। और यदि यह नयी बात है तो गीता तो नयी बातें बताती ही है।

धर्म व्यक्तिगत वस्तु है

यहाँ तक के विवेचन ने यह बात साफ कर दी कि धर्म या कर्तव्याकर्तव्य सोलहों आना व्यक्तिगत चीज है। न कि वह सार्वजनिक वस्तु है, जैसा कि आमतौर से माना जाता है। जब अपनी-अपनी समझ के ही अनुसार श्रद्धापूर्वक धर्म या कर्म करने का सिद्धान्त तय पा गया और उसका मतलब भी साफ हो गया कि दिल, दिमाग, जबान और हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियों में सामंजस्य होने का ही नाम श्रद्धापूर्वक करना है, तो फिर सार्वजनिकता की गुंजाइश रही कहाँ? जब श्रद्धा, ईमानदारी और सच्चाई से (honestly and sincerely) कर्म करने का अर्थ साफ हो गया और जब पूर्वोक्त चारों के सामंजस्य को सच्चाई तथा ईमानदारी से अलग कोई चीज नहीं मान सकते; या यों कहिये कि सच्चाई और ईमानदारी इस सामंजस्य या मेल से भिन्न कोई चीज नहीं, तो यह कैसे होगा कि दो-चार की भी समझ, श्रद्धा या ईमानदारी एक ही

हो। ये सब चीजें?, ये सब गुण तो पूर्णरूप से व्यक्तिगत हैं। जो समझ हममें है वही दूसरे में कैसे होगी? यदि एकाध बात में दोनों का मेल भी दैवात् हो जाय तो भी क्या? एकता का तो अर्थ है हर बात में मिल जाना और यही चीज गैरमुमकिन है। जब श्रद्धा और समझ पर बात आ जाय तो क्या यह सम्भव है कि सभी हिन्दू सन्ध्या पूजा करें या चुटिया रखें, या सभी मुस्लिम दाढ़ी रखें और रोजा-नमाज मानें? लोगों को आजाद कर दीजिये और दबाव छोड़ दीजिये, पाप नर्क आजाब, दोजख आदि का भय उनके दिमाग से हटा दीजिये और देखिये कि क्या होता है। एक सन्ध्या करेगा तो दूसरा उसके पास भी न जायगा। तीसरा कुछ और करेगा और चौथे की निराली ही दशा होगी। यही बात रोजा-नमाज़ में भी होगी।

धर्म स्वभावसिद्ध है

सत्रहवें अध्याय के जिस दूसरे श्लोक को पहले उद्धृत किया है उसमें श्रद्धा को स्वभावसिद्ध 'स्वभावजा' कहा है। वह कृत्रिम चीज नहीं है। डर, भय आदि को तो दबाव डाल के या प्रलोभन से पैदा भी कर सकते हैं। मगर इन उपायों से श्रद्धा कभी उत्पन्न की जा सकती नहीं और वही है धर्म के स्वरूप को ठीक करने वाली असल चीज। वहाँ और उसके पहले समूचे चौदहवें अध्याय में तथा और जगह भी ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के ही अनुसार श्रद्धा आदि दिव्यगुण मनुष्यों में पाये जाते हैं। हममें किसी को शक्ति भी नहीं कि उन गुणों को ड़रा धमका के या दबाव डाल के बदल सकें। शरीर, इन्द्रियादि के निर्माण में जो गुण जहाँ जिस मात्रा में आ गया वह तो रहेगा ही। हम तो अधिक से अधिक यही कर सकते हैं कि समय-समय पर दबे रहने या न मालूम होने पर उसे प्रकट कर दें, जैसे पंखे के जरिये हवा पैदा नहीं की जाती, किन्तु केवल प्रकट कर दी जाती है। हवा रहती तो है सर्वत्र। मगर मालूम नहीं पड़ती और पंखा उसे मालूम करा देता है, बिखरी हवा को जमा कर देता है। और स्वभाव तो लोगों के भिन्न होते ही हैं। इसीलिए हरेक के धर्म भी भिन्न ही होंगे। दो के भी धर्मों का कभी मेल हो नहीं सकता।

इतना ही नहीं। अठारहवें अध्याय के 41-44 श्लोकों में दृष्टान्त-स्वरूप चारों वर्णों के कर्मों और धर्मों का विस्तृत वर्णन है। लेकिन यह कितनी विचित्र बात है कि चारों के धर्मों को अलग-अलग गिनाने के साथ-साथ 'स्वभावजं'—स्वाभाविक या स्वभावसिद्ध—यह विशेषण चार बार आया है। इसमें एक ही मतलब हो सकता है और वह यह कि गीता को इस बात पर ज्यादा से ज्यादा जोर देना है कि वर्णों और आश्रमों के जितने भी धर्म हैं सबके सब स्वाभाविक हैं, न कि कृत्रिम, बनावटी या डर, भय से पैदा किये गये। मगर इतने से ही सन्तोष न करके ठेठ 41वें श्लोक में भी, जहाँ चारों का एक स्थान पर ही नाम लिया है, साफ ही कहा है कि "इन

चारों के काम बँटे हुए हैं और यह बात गुणों के अनुसार बने हुए स्वभाव के ही मुताबिक हुई है"—"कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः"। गुणों में सत्त्व, रज और तम की कमी-बेशी तथा सम्मिश्रण के अनुपात के ही हिसाब से लाखों,- करोड़ों या अनन्त प्रकार के मनुष्यों के स्वभाव बने हैं और इन जुदे-जुदे स्वभावों के ही अनुसार उनके कर्म भी निर्धारित किये गये हैं।

स्वाभाविक क्या है?

इस वर्णन में एक और भी खूबी है। लोग तो आमतौर से यही समझते हैं कि ब्राह्मणमात्र के लिए एक ही प्रकार के धर्म हैं। यही बात क्षत्रियादि के भी सम्बन्ध में समझी जाती है। गीता में भी इन धर्मों को इसी प्रकार गिनाया है। इसलिए शंका हो सकती है कि फिर भी तो यह धर्म सामूहिक ही हो गया। व्यक्तिगत तो रहा नहीं। क्योंकि ब्राह्मण-समूह का एक धर्म हुआ ही और इसी तरह क्षत्रियादि के भी समूह का। यही बात शेख, सैयद, मुगल और पठान की भी हो सकती है और पादरी तथा गृहस्थ क्रिस्तान की भी। उसके बाद ब्राह्मणादि चारों को मिला के हिन्दू समूह का भी एक धर्म होई जाता है, शेख, सैयद आदि का मिला के मुसलमान समुदाय का भी और पादरी तथा गृहस्थ का मिला के ईसाई का भी। इस प्रकार घूम-फिर के हम वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ से चले थे और 'हैं वहीं पहले जहाँ थे, क्योंकि दुनिया गोल है' की बात आ जाती है।

इसी का उत्तर 'स्वभावप्रभवैर्गुणैः' में दिया गया है। गीता तो कहती है कि धर्म की बात भेंड़ों जैसी अन्ध परम्परा की नहीं है कि फलाँ ब्राह्मण है, तो फलाँ क्षत्रिय। यह कोई निश्चित और बँधी बँधाई बात नहीं है, कि फलाँ ब्राह्मण हई, या होगा ही और फलाँ क्षत्रिय, जैसा कि आज माना जाता है। आज तो हालत यह है कि कर्म भी नहीं देखे जाते। किन्तु एक तरह की दुकानदारी ब्राह्मणादि वर्ण धर्मों के नाम पर चल पड़ी है। मगर इस वर्तमान परम्परा की जड़ में भी यही बात थी कि कर्मों से ही ब्राह्मणादि को जानते या पकड़ते थे—पकड़ने लगे थे। इसका आशय यह है कि कर्मों की एक परम्परा और प्रणाली जारी कर दी गयी थी और बचपन से ही वही कर्म (काम) कराये जाते थे। किसी के स्वभाव की परीक्षा न की जाती थी। माता-पिता को जान लिया और पता पा लिया कि उन्हीं से बच्चा पैदा हुआ है। फिर क्या था? माता-पिता के ही वर्ण के अनुसार बच्चे के कर्म-धर्म ठीक कर दिये गये और इस प्रकार समय पाके वही ब्राह्मण, क्षत्रियादि बना जैसा कर्म करता रहा। माँ-बाप भी वर्ण इसी प्रकार उनके माँ-बाप के ही आधार पर कर्म कराके ठीक किया जाता था। यही शैली थी, यही प्रणाली थी। इसमें कर्म पर ही जोर था, दारमदार था। यही कारण है कि विश्वामित्र को ब्राह्मण मानने में दिक्कतें पेश आयीं। क्योंकि माता-पिता की बात उनके बारे में कुछ दूसरी ही थी। मगर इसमें इतनी तो बात

थी कि कर्मों पर जोर था। फलतः जिसमें कर्म न हो वह वर्णच्युत और पतित हो जाता था—वह 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का' माना जाता था। मगर आज तो इतना भी नहीं है। आज तो केवल माँ-बाप से जन्म ही काफी है ब्राह्मणादि बनने के लिए!

मगर गीता के अनुसार तो उलटी बात थी, उलटी बात होती है, उलटी बात चाहिए। गीता तो कर्म के पहले माँ-बाप से उत्पत्ति को न देख स्वभाव देखती है। वह तो इस बात की जाँच-पड़ताल करती है कि जिससे किसी भी कर्म की आशा की जाती है उसका स्वभाव कैसा है। आखिर सियार, हाथी और सिंह का स्वभाव तो एक-सा है नहीं। इसीलिए उनके काम भी एक से नहीं हैं। यदि स्वभाव का खयाल न करके 'सब धान बाईस पसेरी' तौला जाय और गीदड़ से सिंह के काम की आशा की जाय तो सिवाय नादानी और निराशा के और होगा ही क्या? इसीलिए गीता सबसे पहले स्वभाव देखती है जो शुरू में ही शरीर रचना में शामिल हुए थे। क्योंकि स्वभाव के नाम पर गड़बड़ हो सकती है और कोशिश से सिखा-पढ़ा के थोड़े समय के लिए कोई भी किसी काम के लिए तैयार किया जा सकता है—कोई भी 'ठोंक-पीट के तत्काल वैद्यराज' बनाया जा सकता है और स्वभाव नाम इस बात को भी दिया जा सकता है। आखिर पहचान हई क्या? इसीलिए गीता मूलभूत गुणों को ही पकड़ती है जो कृत्रिम नहीं हैं। फलतः कल्पित या चन्दरोजा चीज कब तक टिक सकेगी? सारांश यह कि बहुत गौर से दीर्घकाल तक पर्यवेक्षण के बाद ही स्वभाव का निश्चय होता है, ऐसी बात गीता को मान्य है। उसके बाद ही उसी के अनुसार कर्म कराया जाना—किया जाना—चाहिए, ऐसी मान्यता गीता की है और अन्ततोगत्वा वर्णों का अन्तिम निश्चय उसी से होता है। महाभारत में लिखा है कि पहले कोई वर्ण न थे—सब एक ही समान थे; पीछे स्वाभाविक कर्मों के अनुसार ही वर्ण बने। ज्यादे से ज्यादा यही कि सभी ब्राह्मण ही थे—पीछे वर्ण विभाग हुआ—"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्व सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्" (मोक्षधर्म 188। 10)। फिर वर्णों का विवरण भी दिया है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है।

इस तरह हमने देखा कि गीता कर्मों से वर्णों को पकड़ने के बजाय गुणों के अनुसार बने स्वभाव से ही कर्मों को पकड़ना उचित समझती है। हमारा तो ऐसा खयाल है कि गीता के अलावा औरों की भी मान्यता पहले ऐसी ही थी। उसी का पतन होते-होते वर्तमान दशा को यह धर्म पहुँच गया है। लेकिन गीता के बारे में तो शक की जगह हई नहीं कि उसने यही माना है। ऐसी दशा में धर्म को सामूहिक रूप मिली कैसे सकता है? यह तो जरूरी नहीं कि ब्राह्मण का बच्चा ब्राह्मण ही हो, यदि ठीक-ठीक गुण और स्वभाव की पाबन्दी की जाय और उसी कसौटी पर कसा जाय। यह भी नहीं कि अगर ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण हो भी गया तो भी बाप और बेटा—दोनों ही—एक ही तराजू पर सोलह आना पाव रत्ती ठीक उतर जायँ—बराबर

हो जायँ। यह तो तभी सम्भव है जब दोनों की समझ एवं श्रद्धा और दोनों के स्वभाव एक हो जायँ। मगर ऐसा होना गैरमुमकिन है यह पहले ही कहा जा चुका है। यह दूसरी बात है कि जैसे एक ही कक्षा में पढ़ने वाले छात्रों में समता न होने पर भी उनका एक वर्गीकरण व्यवहार के लिए होता है वैसा ही यहाँ भी होता रहा हो और आगे भी हो। मगर उसका मतलब यह तो नहीं है कि समानता और एकता हो गयी। योग्यता तो सबों की भिन्न-भिन्न रहती ही है, रहेगी ही। एक वर्ण कहने का तो मतलब केवल यही है कि उस तरह के कर्मों के लिए कौन-से लोग यत्न करें और कौन उनके योग्य है यह मालूम हो जाय।

जिस प्रकार किसी की निजी चीज होती है, अपनी समझ तथा योग्यता होती है, अपना शरीर और स्वास्थ्य होता है; न तो उस पर किसी का अधिकार होता है और न उसकी अपनी चीज से एकता और समानता किसी और की वैसी ही चीज से होती है। ठीक उसी प्रकार धर्म की भी बात है। वह भी हरेक आदमी का अपना निजी और व्यक्तिगत पदार्थ है। उसमें किसी का साझा या हिस्सा नहीं है। धर्म सामूहिक—समूह की—चीज न होकर व्यक्तिगत है, हर व्यक्ति का जुदा-जुदा है। अगर दो आदमी एक ही ढंग से खाना खाते हों और एक ही चीज खाते हों, तो भी दोनों के खाने की क्रिया दो होगी, न कि एक। धर्म की भी यही बात है। यह बात गीता ने निर्विवाद सिद्ध कर दी है। कम से कम अपना मन्तव्य उसने यही बता दिया है। यदि यही मन्तव्य संसार में व्यापक हो जाय, सार्वभौम हो जाय—यदि यह गीताधर्म (गीता का बताया धर्म) संसार मान ले—तो धर्म के झगड़े रहने ही न पायें। इनके करते आज जो हमारा देश नर्क बन रहा है और गजब की बला में आ फँसा है, वह तो न रहे। आज जो भाई का गला भाई और पड़ोसी का पड़ोसी धर्म की वेदी पर चढ़ाने को आमादा है, वह तो न हो। धर्म की यह नापाकीजगी तो मिट जाय।

इसी के चलते—धर्म को जो लोगों ने सामूहिक चीज समझ उसी के नाम पर भेड़ों की तरह लोगों को मूँड़ना शुरू कर दिया है। उसी के करते—तो राजनीति भी पनाह माँगती है। पण्डित, मौलवी और पादरी हजारों लोगों को यों ही मूँड़ के जानें क्या-क्या अंटसंट सिखाते फिरते हैं। वे लोग कमाने वाली जनता को—किसानों और मजदूरों को—अपने पाँवों खड़े होने देना नहीं चाहते इसी धर्म के नाम पर और इसी की ओट में। जब किसानों और मजदूरों में वर्गचेतना पनपती है, शुरू होती है और प्रगति करती है तो इन धर्माचार्यों के घर में जाने क्यों आतंक छा जाता है और ये मातम मनाने लगते हैं! इनके पास कोठियाँ, कल-कारखाने और जमींदारियाँ न भी हों—और ज्यादातर के पास तो ये चीजें होती भी नहीं; उनका काम तो चेलों और मुरीदों की 'पूजा' और चढ़ावे से ही चलता है—तो भी ये जानें क्यों घबरा जाते हैं और नंगे पाँव दौड़ पड़ते हैं किसान-मजदूरों को उलटा-सुलटा समझाने और गुमराह करने के लिए। कर्म, तकदीर, भाग्य और भगवान् ही तो धर्म के स्तम्भ और पाये

माने जाते हैं और उन्हीं के नाम पर किसानों तथा मजदूरों को ये भलेमानस वर्ग-संघर्ष और हक की लड़ाई से खामख्वाह रोकते हैं! सीधे और भोले लोग तो इन्हें पवित्र, धर्ममूर्त्ति, भगवान् के दूत और पारसा समझते हैं—कम से कम उनका यही विश्वास होता है। यही कारण है कि ये गरीब ठगे जाते हैं और मालदार-जमींदारों के घर घी के चिराग जलते हैं! धर्म के नाम पर यदि और नहीं हो सका तो किसानों और मजदूरों के संघ ही अलग-अलग बनवा दिये जाते हैं! जब कभी वर्ग-संघर्ष चालू हो तो ये धर्माचार्य कहे जाने वाले पादरी, पुरोहित और मुल्ला अपने को धर्म के ठेकेदार कहके नियमतः धनियों और मालदारों का ही साथ देते हैं और शोषितों एवं पीड़ितों को छोड़ देते हैं; हालाँकि वही इनके चेले होते और उन्हीं से इनकी गुजर होती है।

2. मार्क्सवाद और धर्म

"Religion cannot be stopped. Conscience cannot be stilled. Religion is a matter of conscience and conscience is free. Worship and religion are free" (Stalin to Dean of Canterbury.)

"धर्म को रोका नहीं जा सकता। अन्तरात्मा या हृदय को दबाया नहीं जा सकता। धर्म तो हृदय की चीज है और हृदय है स्वतन्त्र। इसीलिए पूजा और धर्म स्वतन्त्र हैं।" (स्तालिन का उत्तर)।

यही कारण है—यह एक प्रमुख कारण है—जिसके करते मार्क्सवाद में धर्म का विरोध पाया जाता है। धर्म को मानवसमाज के लिए अफीम (Religion is the opium of the people) बताने की यही असली वजह है। क्योंकि शोषितों तथा पीड़ितों पर धर्माचार्यों का जादू चल जाता है और उनके उत्थान के लिए होने वाला सारा यत्न बेकार सा हो जाता है। ऐसी परेशानी होती है कि कुछ कहिये मत। हम मानते हैं कि धर्म के सम्बन्ध में मार्क्सवाद की निश्चित बातें हैं और पक्के मार्क्सवादी इस मामले में बुनियादी तौर पर अलग जाते और कोई रियायत करने को तैयार नहीं हैं। लेनिन ने धर्म-सम्बन्धी अपने एक लेख में कहा है कि "मार्क्सवाद तो भौतिकवाद है। इसीलिए वह बेमुरव्वती के साथ धर्म का विरोध करता है"—"Marxism is materialism. As such it is ruthlessly hostile to religion." मगर घबराने का सवाल नहीं है। यदि ठण्डे दिल से विचारें तो पता चलेगा कि इसकी तह में और चीज है। सभी सिद्धान्त की स्थापना और प्रतिपादन के मूल में कुछ खास बातें और परिस्थितियाँ रहती हैं और अगर हम उन पर खयाल न करें तो गलती कर सकते हैं।

मार्क्सवाद का मूल सिद्धान्त द्वन्द्ववाद (dialectics) है और उसका यदि अबाध प्रयोग किया जाय—और दूसरी बात हो भी नहीं सकती—तो श्रेणीविहीन समाज के बन जाने के बाद भी यह द्वन्द्ववाद तो चालू रहेगा ही। उसका परिणाम क्या होगा,

कौन कहे? यदि द्वन्द्ववाद से प्रगति होती है तो यह तो मानना ही होगा कि वर्गविहीन समाज सभी प्रगति के साधनों से पूर्णरूपेण सम्पन्न होने के कारण और भी उन्नति करेगा, सभी तरह की उन्नति—शारीरिक, मानसिक, वैज्ञानिक आदि—जिसके फलस्वरूप कौन-कौन से अज्ञात तत्त्व विदित होंगे यह कौन बताये? मार्क्सवाद तो श्रेणीविहीन समाज तक ही फिलहाल रुक जाता है। दरअसल बात यह है कि ज्ञान की ठेकेदारी ले लेना अच्छा नहीं, बुद्धिमानी नहीं। यदि उस समय ईश्वर या आत्मा का पता लग जाय तो क्या इनकार किया जायगा, सिर्फ इसीलिए कि मार्क्सवाद उसे नहीं मानता? बुद्धिमानी इसी में है कि भविष्य के झमेले में न पड़ें और उसका रास्ता किसी के भी लिए बन्द न करें—चाहे वह ईश्वरवादी बननेवाला हो या अनीश्वरवादी ही रहनेवाला हो। हाँ, आज इसके करते दिक्कत है, आज ईश्वरवाद प्रगति का बाधक है। क्योंकि जिस ज्ञान पर ही उसका टिक सकना या न टिक सकना सम्भव है और उचित भी है उसी का बाधक वही बन गया है! जिसे ज्ञानस्वरूप कहा जाय वही ज्ञानप्रसार का विरोधी! मगर स्थिति कुछ ऐसी ही बेढब है। इसलिए प्रगति चाहने वालों को सारी शक्ति लगा के उसका बेमुरव्वती से विरोध करना चाहिए—ऐसा करना चाहिए कि किसी भी तरह वह हमारे रास्ते में अड़ंगे डाल न सके। बस! मेरे जानते यही मार्क्स का आशय है, होना चाहिए और लेनिन के उक्त वाक्यों का यही अर्थ मैं समझता हूँ। इसीलिए इसमें साथ भी देता हूँ। आगे यह बात और भी साफ होगी।

लेनिन उसी लेख में आगे लिखता है, "The fight against religion must not be confined to abstract preaching. The fight must be linked up with the concrete practical class movement directed towards eradicating the social roots of religion."

"No education books will obliterate religion from the minds of those condemned to hard labour of capitalism, untill they themselves learn to fight in a united, organised, systematic and conscious manner the roots of religion, the domination of capital in all its forms."

"धर्म के विरुद्ध लड़ी जाने वाली लड़ाई सिर्फ दिमागी बहस-मुबाहसे तक ही परिसीमित न होनी चाहिए। किन्तु धर्म की जड़ के रूप में जो सामाजिक बातें हैं उन्हें खत्म करने के लिए जो वर्ग-आन्दोलन और संघर्ष चलें—चलाये जायँ—उनके साथ इसे जोड़ देना चाहिए।"

"धर्म की जो जड़ पूँजीवाद की अनेक सूरतों के रूप में कायम है उसे मिटाने के लिए संयुक्त, संगठित, नियमित और समझदारी के साथ लड़ाई चलाना जब तक वे सीख न जायें तब तक पूँजीवाद के नीचे सख्त मिहनत ही जिनके पल्ले पड़ी है उन लोगों के दिमाग से कोई भी पढ़ने-लिखने की किताब इस धर्म को जड़मूल से निकाल नहीं सकती है।"

लेनिन के ये उद्धरण इसलिए महत्त्व रखते हैं कि वह इस बात पर जोर देते हैं कि धर्म के खण्डन-मण्डन के झमेले में पड़ने के बजाय शोषितों का वर्गसंघर्ष ही खूब संगठित रूप से बराबर चलाना और उनमें वर्गचेतना पैदा करना यही बुनियादी चीज है। वह बात नहीं चाहता, काम चाहता था। उसकी आँखें तो बड़ी तेज थी। वह बहुत ही दूर तक देखता था। उसने समझ लिया कि धर्म और ईश्वर के खण्डन-मण्डन की वितण्डा में पड़के जनसेवक लोग कहीं के न रहेंगे—भटक जायेंगे। काम तो इससे कुछ होगा नहीं। केवल अक्ल की बदहजमी मिटेगी। हाँ, सीधे-सादे जन-साधारण विरोधी जरूर हो जायँगे। धर्मध्वजी—धर्म के ठेकेदार—उन्हें जनसेवकों और क्रान्तिकारियों के खिलाफ आसानी से भड़का देंगे। क्योंकि तर्क दलीलों की पेचीदगी तो वे समझ पायेंगे नहीं। इधर मुल्ले लोग अपनी चिकनी-चुपड़ी बातें आसानी से समझा के उन्हें विरोधी बना देंगे। यदि नास्तिक और धर्मविरोधी लोग अपनी दलील के साथ-साथ गरीबों की कोई ठोस भलाई कर पाते और धर्मध्वजी लोग नहीं कर सकते, तो बात दूसरी होती। क्योंकि तब तो जनसाधारण आसानी से समझ जाते कि हो न हो यही हमारा मित्र है। धर्म के विरुद्ध बोलता है तो क्या? काम तो हमारा ही करता है न? यदि दो-चार लात मार के भी गाय काफी दूध दे, तो बुरा कौन माने? यही वजह है कि लेनिन उस संघर्ष पर ही जोर देता है जिससे जनता को लाभ होता है और वह खिंच आती है। लड़ाई ही ऐसी चीज है जो उसे अपनी ओर खींच लेती है।

एक बात और है। जब जनता दिमागी बारीकियों को समझ पाती ही नहीं और हमें उसी को समझा के उठाना है, तो ऐसा क्यों न करें कि दोनों पक्षवाले—आस्तिक-नास्तिक—साफ ही कह दें कि इस झगड़े से क्या काम? धर्म-वर्म भी तो लोगों के हितार्थ ही है और यहाँ जीते जी नारकीय यन्त्रणा भोग के स्वर्ग जाने के बजाय जो यहीं आराम मिले वही ठीक। आखिर स्वर्ग के लिए कोई मरना तो चाहता है नहीं। इसलिए आइये पहले यहीं लोगों को आराम पहुँचाने के लिए ही कुछ कर लें, लोगों की तरफ से उनके हकों के लिए लड़ लें। हम जानते हैं कि धर्म के ठेकेदार ऐसा नहीं करेंगे। मगर जनसेवक उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर क्यों न करें? इससे लोगों के सामने उनका पर्दाफाश हो जायगा, ज्यों ही उनने इसमें आनाकानी या बहानेबाजी शुरू की। हम तो उनसे और दूसरों लोगों से भी कह देंगे कि हमारा विश्वास है कि धर्मवादी लोग शोषकों का ही साथ खामख्वाह देते हैं—उनके दलाल होते हैं और कमानेवालों को धोखा देते हैं। फिर ऐसे लोगों का और उनके इस धर्म के सिद्धान्त का विरोध करें न तो और क्या करें? न वे दूसरी बात कर सकते, सिवाय शोषकों के साथ देने के और न हम धर्म और ईश्वर के विरोध के जरिये उनका विरोध करने और उनकी जड़ उखाड़ने से रुक सकते। हाँ, यदि उनकी बात सच्ची है और जनहित की है तो आयें पहले यहीं जनसेवा कर लें। तब माना जायगा

कि मरने पर भी उनका धर्म लोगों को लाभ पहुँचायेगा।

यह ऐसी बात है कि लोगों के दिल में जम जायगी। इससे धर्माचार्यों की कलई भी खुल जायगी और लोग उन्हें छोड़ के हमारे साथ आ जायँगे। यही होगा। दूसरी बात हो नहीं सकती। इस तरह हम विजयी होंगे। यदि कहा जाय कि धर्मवाले लोग भी वर्ग-संघर्ष करेंगे, तो यह असम्भव बात है। वह इक्के-दुक्के कहीं कुछ भले ही कर लें। मगर सर्वत्र डटके ऐसा कभी कर नहीं सकते। नहीं तो फिर उनका धर्म ही डूब जायगा—उनके धर्म का सारा आधार ही खत्म हो जायगा। यह काम वही कर सकते हैं जिनमें आत्मविश्वास हो, जो अपने ही यत्नों से सब कुछ कर डालने की हिम्मत और विश्वास रखते हों। मगर धर्मवाले तो दैव, तकदीर, कर्म, पूर्व जन्म की कमाई और भगवान् पर ही भरोसा रखते हैं। उनका अन्तिम दारमदार उन्हीं पर होता है। भाग्य में जो बदा होगा सोई होगा, भगवान् की मर्जी होगी, जब यही मानना है तो जम के प्राणपन से कौन लड़े? और ये मुफ्त की हलवा-पूड़ी उड़ाके तोंद फुलाने वाले लड़ेंगे? लेकिन यदि असम्भव भी सम्भव हो जाय और वही लोग सर्वत्र वर्गसंघर्ष सफलतापूर्वक चलाने लगें तो चिन्ता क्या? हमारा काम तो हो गया। मार्क्सवाद जो चाहता है वह हो गया! हमारा काम है वर्गविहीन समाज बनाना न कि ईश्वर को मिटाना या उसके पीछे लाठी लिये फिरना! यदि धार्मिकों ने ही ऐसा समाज बनाया तो भी हमारी जीत हो गयी! हमें तो ऐसी दशा में यह कहने का भी हक है, हम तो तब ऐसा भी कह सकते हैं कि धर्म में भी जो गलत चीज है वह भी इसी संघर्ष में ऐसे ही मिट जायगी जैसे श्रेणियाँ मिटेंगी। फिर शुद्ध समाज की तरह कोई शुद्ध धर्म भी अन्त में बन जाय तो हर्ज क्या?

लेनिन या मार्क्स और एंगेल्स के मत में एक और भी खूबी है कि उसमें वर्गसंघर्ष की कसौटी पर धर्म को कसते हैं। हमने तो कही दिया है कि भविष्य का रास्ता मत बन्द कीजिए। हाँ, इस समय ईश्वर और धर्म का रास्ता रोक दीजिए। भविष्य से हमारा मतलब है श्रेणीविहीन समाज बन जाने के बाद से। हमारे कलेजे के पास ही फोड़ा हो गया है और उसमें नश्तर लगना जरूरी है। नश्तर लगे भी जरूर; ताकि हम बचें। मगर ऐसा नश्तर हर्गिज न लगे कि कलेजा ही कट जाय और हमीं मर जायँ। सदा के लिए धर्म या ईश्वर को इजाजत ही न देना और उन्हें आँख मूँद के मार देना कलेजे का चीरना हो जायगा। हम उससे बचें तो क्या बुरा। हम बिच्छू का डंक बेमुरव्वती से निकाल लें जरूर। मगर उसे जान से मारने तक क्यों परेशान हों? हमें तो लोगों को उसके डंक से ही भविष्य में बचाना है न? या कि उसका खून भी पीना है? हाँ, तो फोड़े पर नश्तर जरूर लगायें। आज श्रेणीयुक्त समाज में धर्म के लिए स्थान नहीं है, ऐसा जरूर कहें और खुशी से कहें। मगर कहें या न कहें, हर हालत में वर्गसंघर्ष जरूर करें, ताकि ईश्वरवादियों की पोल खुल जाय। जितनी जरूरत है उतना ही कहें और करें। बहकें न। जरूरत से ज्यादा न

बढ़ें जिससे कहीं बहक जायँ। इससे सजग रहें। हमारे जानते यही मार्क्सवाद का इस सम्बन्ध का निचोड़ है।

मगर आइये, जरा और भी विस्तार के साथ लेनिन के इस सम्बन्ध के वचनों पर विचार कर लें जो उसी लेख में पाये जाते हैं। वह लिखता है–

"The workers in a certian district and in a certain branch of industry are divided, we will assume, into a progressive section of class conscious Social Democrats, who are, of course, atheists, and a rather backward section, which still maintains contact with the rural district and the peasantry, which believes in God, goes to church and is perhaps under the direct influence of a priest, who we will assume, has organised a christian Labour Union. Let us assume further that the economic struggle in this district has led to a strike. The duty of the Marxist is to place the success of this strike in the forefront and to prevent the workers from being split up into atheists and Christians. Atheist propaganda in such circumstances may be superfluous and even harmful, not from vulgar point of view of frightening away the backward workers, or losing a seat at the elections etc. but from the point of view of the real progress of class struggle, which in the condition of present day capitalist society will lead the Christian workers to Social Democracy and atheism a hundred times more effectively than bare atheist propaganda. In the condition described above an atheist preacher would simply play into the hands of the priests who desire nothing more than that the division among the workers as between strikers and blacklegs should be substituted by a division between atheists and Christians the anarchist preaching irreconcilable war against God would, in such conditions, actually be helping the priests and the bourgeoisie, as indeed the anarchists always help the bourgeoisie.

A Marxist must be a materialist, that is, an enemy of religion, but from the materialist and dialectical standpoint, i.e., he must conceive the fight against religion not as an abstracition, not on the basis of pure theoretical atheism, *equally applicable to all times and conditions,* but concretely, on the basis of the class struggle which is actually going on and which will train and educate the masses better than anything else. A Marxist should take into consideration all the concrete circumstances, should always be able to see the dividing line between anarchism and opportunism (the dividing line is relative flexible, changeable, but it exits), should take care not to fall into the abstract, verbal, empty 'revolutionism' of the anarchist, or into the vulgar opportunism of the petty bourgeois or liberal intellectual, who shirks from the fight against religion, who evades this task, who reconciles himself with the belife in

God, who is guided not by the interests of class struggle, but by the petty pitiful fear of offending, repelling or scaring off others by the wise precept, 'Live and let live' etc.

All other questions that rise in connection with the attitude of Social Democrats towards religion should be decided from the point of view outlined above. For example, it is frequently asked whether a clergyman may join the Social Democratic Party and usully this question is answered in the affirmative, without any reservation, and reference is made to the practice of Social Democratic parties in Europe. This practice is a result not only of the application of Marxist doctrines to the labour movement, but also of the special historical conditions in the west which do not exist in Russia. Consequently, an affirmative reply would not be correct. We cannot say once and for all that a clergyman cannot, in any circumstances, become a member of the Social Democratic Party, But on the other hand, we cannot make so positive a reply to the contrary. If a clergyman wishes to join us in political work, conscientiously carries out party work, and does not infringe the party programme, then he may be accepted into the ranks of Social Democracy, for the contradiction between the spirit and principles of our programme and the religious convictions of the clergyman may, in the circumstances, remain a matter that concerns him alone. A political organisation cannot undertake to examine all its members to see whether there is any contradiction between their views and the programme of the party. But of course such a case is very rare even in Europe, and in Russia is scarcely probable. If on the other hand, the clergyman joined the Social Demorcatic party and concerned himself mainly with preaching his religious ideas, then, of course, he would have to be expelled. We must not only admit, we must do everything possible to attract workers who retain their belief in God in to the Social Democratic Party. We are resolutey opposed to offending. But we attract them to our party in order to allow them to fight against it. We permit freedom of opinion inside the party, but within certain limits defined by the freedom of forming groups. We are not obliged to go hand in hand with those who advocate views rejected by the mojority of the Party."

इसका आशय यह है, "कल्पना करें कि एक इलाके के किसी कारखाने के मजदूरों के दो दल हो गये हैं। एक दल है प्रगतिशील एवं वर्गचेतनायुक्त सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीवालों का, जो बेशक नास्तिक हैं। दूसरा दल है पिछड़े हुओं का, जिनका सम्बन्ध देहाती इलाकों और किसानों के साथ अभी कायम है, जो ईश्वर में विश्वास रखते हैं और गिरिजाघरों में जाते हैं और जिन पर वहाँ के पादरी का

खूब असर है। हम यह भी मान लें कि उस पादरी ने वहाँ एक 'क्रिस्तान-मजदूर-संघ' भी संगठित कर रखा है। हम यह भी कबूल कर लें कि उस इलाके के मजदूरों की आर्थिक लड़ाई के परिणामस्वरूप वहाँ हड़ताल हो गयी है। उस दशा में वहाँ मार्क्सवादी का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उस हड़ताल की सफलता को ही मुख्य बात माने और इस बात की कोशिश करे कि उस संघर्ष से सम्बन्ध रखने वाले मजदूरों में क्रिस्तान और नास्तिक—इस तरह के—दो दल बनने न पायें—हड़ताल के समय इस तरह की दलबन्दी होने न पाये। ऐसी परिस्थिति में तो नास्तिकता का प्रचार केवल व्यर्थ ही न होगा; किन्तु हानिकारक भी होगा—हानिकारक इस मोटी दृष्टि से नहीं कि पिछड़े विचार के मजदूर वहाँ भड़क जायँगे, या चुनाव के समय नास्तिक प्रचारकों को उनका वोट न मिलने से मजदूर-संघ के चुनाव में वे हार जायँगे। किन्तु वास्तविक वर्गसंघर्ष की प्रगति की दृष्टि से भी वह हानिकारक होगा और वर्गसंघर्ष की वह प्रगति ही, वर्तमान पूँजीवादी समाज की हालत में, नास्तिकता के केवल प्रचार की अपेक्षा सौ गुना प्रभावशाली रीति से क्रिस्तान मजदूरों को सोशलडेमोक्रेटिक पार्टी तथा नास्तिकवाद में प्रवेश करायेगी। बल्कि वैसी दशा में तो नास्तिकता का प्रचारक उन पादरियों का ही मददगार बन जायगा जो सबसे अधिक यही बात चाहते हैं कि हड़ताल के समय भी मजदूरों में हड़तालकारी और उसके तोड़नेवाले ऐसे दो दल न होकर नास्तिक और आस्तिक (क्रिस्तान) यही दो दल कायम रहें। उस हड़ताल में ईश्वर के विरुद्ध बेमुरव्वती से युद्ध चलानेवाले अराजक लोग तो पादरियों और पूँजीवादियों की ही मदद करेंगे, जैसा कि वे लोग सचमुच सदा ही ऐसी सहायता करते ही हैं।

"लेकिन मार्क्सवादी को तो भौतिकवादी होना होगा—अर्थात् वह ईश्वर का शत्रु तो होगा। मगर होगा भौतिकवाद तथा द्वन्द्ववाद की ही दृष्टि से। इसका आशय यह है कि उसे धर्मविरोधी लड़ाई को केवल एक दिमागी चीज नहीं बनाना होगा और न उसे केवल नास्तिकता की सैद्धान्तिक दृष्टि से चलाना ही होगा—ऐसी सैद्धान्तिक दृष्टि से जो हमेशा हरेक परिस्थिति में समान-रूप से लागू होती है। किन्तु स्थूल सांसारिक (बाहरी हिताहित की) दृष्टि से ही चलाना होगा, जिसका आधार होगा वह वर्गसंघर्ष जो सचमुच चालू है और जो जनसमूह को और उपायों की अपेक्षा कहीं अच्छी तरह शिक्षित तथा कुशल बनायेगा। मार्क्सवादी को चाहिए कि वह वास्तविक परिस्थिति का खयाल करे, वह इस योग्य हो कि बखूबी समझ सके कि कहाँ तक जाने पर अराजकवाद और अवसरवाद से मेल हो जायगा (एक ऐसी सीमा जरूर होती है जो अराजकता तथा अवसरवाद को पृथक् करती है। यह ठीक है कि वह सीमा आपेक्षिक है, उसका संकोच विस्तार होता रहता है, और वह बदलती रहती है), मार्क्सवादी को हमेशा सतर्क रहना चाहिए, ताकि वह अराजकतावादियों के खयाली, जबानी और खोखले क्रांतिवाद में कहीं फँस न जाय, या कहीं ऐसा

न हो जाय कि वह टटुपुँजिये बाबुओं या उदारतावादी दिमागदारों के भद्दे अवसरवाद का शिकार ही हो जाय। ये टटुपुँजिये बाबू या उदार दिमागदार ऐसे होते हैं कि धर्म-विरोधी संघर्षों से भागते और पिण्ड छुड़ाते फिरते हैं और आस्तिकता के साथ उनका समझौता हो जाता है। उन्हें इस बात में पथदर्शक वर्गसंघर्ष का स्वार्थ तो होता नहीं। किन्तु वे तो हमेशा इसी तुच्छ एवं दयाजनक डर से काँपते रहते हैं कि कहीं और लोग रंज न हो जायँ, हट न जायँ या भड़क न उठें। वे तो इसी में बुद्धिमानी समझते हैं कि खुद भी कायम रहें और दूसरे भी बने रहें।

"इस सम्बन्ध में जो भी दूसरे प्रश्न उठते हैं कि सोशलडेमोक्रेटिक पार्टी के लोग धर्म के बारे में कौन-सा रुख अख्तियार करें उन सबों का निर्णय इसी ऊपर बताये सिद्धान्त के ही आधार पर दिया जाना चाहिए। दृष्टान्तस्वरूप प्रायः ऐसा पूछा जाता है कि पादरी लोग सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के सदस्य बन सकते हैं या नहीं? इसका उत्तर भी बिना आगा-पीछे किये ही आमतौर से 'हाँ' दिया जाता है और कहा जाता है कि यूरोप की ये पार्टियाँ ऐसा ही तो करती हैं। असल में यूरोप में जो यह रीति चल पड़ी वह सिर्फ इसीलिए नहीं कि मजदूर आन्दोलन में मार्क्स के मन्तव्यों का प्रयोग किया गया था। बल्कि इसका कारण पश्चिम की कुछ खास ऐतिहासिक परिस्थितियाँ थीं, जो रूस में नहीं हैं। फलतः 'हाँ' वाला उत्तर यहाँ ठीक नहीं है। हम एक ही साँस में सबों के लिए यह नहीं कह सकते कि किसी भी हालत में कोई भी पादरी इस पार्टी का मेम्बर हो नहीं सकता। लेकिन दूसरी ओर हम विरोध में भी एक निश्चित उत्तर नहीं दे सकते। यदि कोई पादरी राजनीतिक कामों में हमारा साथ देना चाहता है, हमारी पार्टी का काम समझ-बूझ के करता है और पार्टी के कार्यक्रम का उल्लंघन नहीं करता, तो उसे हम अपनी पार्टी में ले सकते हैं। क्योंकि उस दशा में हमारे कार्यक्रम के सिद्धान्तों और भावों के साथ अगर उस पादरी के धार्मिक विचारों का कोई विरोध हो तो वह केवल उस पादरी के ही विचरने की बात है। किसी राजनीतिक संस्था का यह काम हर्गिज नहीं है कि वह अपने प्रत्येक मेम्बरों में यह बात ढूँढ़ती फिरे कि आया उसके कार्यक्रम के साथ उनके दूसरे विचारों का विरोध तो नहीं है। लेकिन बेशक ऐसे पादरी तो यूरोप में भी बहुत ही कम मिलते हैं और रूस में तो वे शायद ही मुश्किल से मिल सकें।

"विपरीत इसके यदि कोई पादरी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में दाखिल होके अपना प्रधान काम अपने धार्मिक विचारों के प्रचार को ही बना ले, तो बेशक उसे पार्टी से निकाल देना ही होगा। हमें सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में मजदूरों को सिर्फ दाखिल करना ही नहीं होगा। किन्तु जो मजदूर ईश्वर में विश्वास करते हैं उन्हें भी अपनी ओर खिंच आने के लिए सभी सम्भव उपाय करने होंगे। हम किसी को भी भड़काने या रंज करने के पक्के विरोधी हैं। लेकिन हम तो उन्हें अपनी पार्टी में इसीलिए खींचते हैं कि उन्हें मौका दें कि वे हमसे (पार्टी से) लड़ लें। हम तो पार्टी

के भीतर विचार-स्वातन्त्र्य का मौका देते ही हैं। मगर इस स्वतन्त्रता की कुछ सीमाएँ हैं जिनका निर्धारण पार्टी के भीतर छोटे-मोटे दल बनने से नियमों से ही हो जाता है। पार्टी के बहुमत ने जिन विचारों को नहीं माना हो उन्हीं का जो प्रचार करें उनसे हमारा साथ नहीं हो सकता।"

हमने जानबूझकर यह लम्बा अवतरण दिया है जिससे धर्म के इस पेचीदे मामले पर काफी प्रकाश पड़ जाय। इसमें कई ऐसी बातें हैं जो बहुत बड़ा महत्त्व रखती हैं। इसलिए उन पर विशेष खयाल होना जरूरी है। लेनिन ने यह साफ कह दिया है कि हम खयाली और सैद्धान्तिक रूप से ही नास्तिकता या अनीश्वरवाद के समर्थक नहीं हैं। बल्कि हम तो इस निरी दिमागी दुनिया के विरोधी हैं। इसमें तो उसे अवसरवाद और अराजकवाद साफ ही मालूम होता है। इसलिए भी उसने इसका विरोध किया है।

इसी के साथ वह यह भी साफ कहता है कि हमारा (मार्क्सवाद का) अनीश्वरवाद तो ऐसा नहीं है जो हर समय, हर परिस्थिति में लागू किया जा सके। यह कोई कोरी सिद्धान्त की चीज नहीं है। यह तो सिर्फ व्यावहारिक बात है। इसीलिए इसका प्रयोग व्यावहारिक परिस्थिति को देखने के बाद ही खूब जानबूझ के करना होगा। कहीं ऐसा न हो कि हमने परिस्थिति तो इसके अनुकूल देखी और इसे लागू भी किया। मगर ऐसा हो गया कि हमने आगे का मौका समझा नहीं कि अब इसे बन्द कर देना होगा; क्योंकि इसकी सीमा पूरी हो रही है। नतीजा यह हुआ कि अवसरवाद में हम जा फँसे! इसीलिए हमेशा सतर्क रहने पर उसने जोर दिया है।

वह यह भी कहता है कि हमें तो वर्ग संघर्ष देखना है—हमारे लिए तो नास्तिकवाद असल चीज है नहीं। वह यदि कुछ भी हो सकता है तो ज्यादा से ज्यादा यही कि वर्गसंघर्ष को निर्विघ्न चालू करने में मददगार हो जाय। मगर हमारा साध्य या असली लक्ष्य तो है वह वर्गसंघर्ष ही। इसलिए हमें बराबर यह खयाल रखना होगा कि कहीं हमारे नास्तिकवाद से उलटे उसी में हानि न पहुँच जाये। कहीं ऐसा न हो कि साधन ही साध्य की छाती पर कोदों दलने लग जाय—कहीं देवी से बकरा ही बड़ा न हो जाय और ऐसा न हो कि देवी की छाती पर वही चढ़ बैठे। यह सबसे मार्के की बात उसने कही है।

वह तो वर्गसंघर्ष का दृष्टान्त देके कहता है कि हड़ताल वगैरह के समय नास्तिकता का प्रचार उसके लिए घातक होता है। हड़ताल के समय तो मजदूरों में एकता चाहिए—दलबन्दी नहीं चाहिए। यदि कोई भी दलबन्दी उस समय हो सकती है, तो ऐसी ही जिस पर मजदूरों और उनके नेताओं का कोई वश न हो और वह हो सकती है हड़तालियों और हड़ताल विरोधियों की ही, जिन्हें, 'काली-टाँगें' कहते हैं और जिनका काम होता है हड़तालियों की जगह पर जाके काम करें और इस तरह हड़ताल को तोड़ें! शेष मजदूर तो एक ही दल में होंगे। अगर पहले धर्म-वर्म के नाम पर दल बने भी हों तो वह फौरन खत्म कर दिये जायँ। लेनिन तो यह

भी कहता है कि पादरी-पुरोहित तो दरअसल मजदूरों के नेता होते नहीं। इसलिए यह बात तो वही चाहते हैं कि हड़ताल या वर्गयुद्ध के समय भी आस्तिक और नास्तिक दलों का बखेड़ा जरूर ही रहे। वे तो पूँजीपतियों के दलाल होते हैं। इसी से यह बात चाहते हैं। इसीलिए लेनिन का कहना है कि नास्तिकता का प्रचार संघर्ष के समय जो कोई करता है वह पूँजीवादियों का सहायक और दलाल होता है, चाहे वह यह बात भले ही न समझे।

और जब असली मौके पर—संघर्ष और लड़ाई के ही समय—ही हम आस्तिक-नास्तिक का झमेला खड़ा कर नहीं सकते, जब उस वक्त ऐसा करने की हमें इजाजत हई नहीं, तो फिर मार्क्सवाद पर नास्तिकता के इलजाम का अर्थ ही क्या है? जब हम मौज में बैठे हैं तब तो बहुत सी बातें करते रहते ही हैं। उन्हीं में यह नास्तिकतावाली बात भी हो सकती है। कितने ही प्रकार के वाद-विवाद और मतभेद होते हैं। बातें जानने, समझने और स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए यह चीजें जरूरी होती हैं। मगर उन्हें उद्देश्य या मान्य समझ लेना भूल है। नास्तिकवाद आदि की बातें तो वर्गसंघर्ष की तैयारी के रूप में ही की जाती हैं। क्योंकि पादरी-पुरोहित लोग धर्म, भाग्य और भगवान् के नाम पर जमींदारों और कारखानेदारों के साथ किसानों और मजदूरों को लड़ने से रोकते हैं। फलतः उन्हें मनाना, किसान मजदूरों को समझाना और पादरी-पुरोहितों का मुँह बन्द कर देना जरूरी हो जाता है। यह भी ठीक है कि जब तक जड़मूल से भाग्य और भगवान् को ही उड़ाया न जाय तब तक वे मानते ही नहीं। वे होते हैं बड़े ही बेहया और उनका असर शोषित जनता पर खूब होता है। इसीलिए नास्तिकवाद अनिवार्य होता है। यह भी बात होती है कि धर्म और ईश्वर के मामले में जरा भी नर्मी और मुरव्वत से काम लिया जाय तो एक तो पादरी-पुरोहित चट कह बैठते हैं कि देखा न, आखिर वे लोग भी, दबी जबान से ही सही, भाग्य और भगवान् को मानते ही हैं? फलतः सारा किया-कराया चौपट हो जाता है। दूसरी बात यह हो जाती है कि किसान और मजदूर दिलोजान से लड़ने को तैयार नहीं हो पाते। क्योंकि उसी नर्मी के करते उनमें भी कमजोरी आती है और अन्ततोगत्वा इतना तो सोचते ही हैं कि जैसा होगा देखा जायगा।

और जब वह यह भी कहता है कि अनीश्वरवाद हर देश और हर काल के लिए नहीं है और उसका प्रचार विशेष सामाजिक परिस्थिति में ही होता है, तो फिर इसे सदा के लिए मान्य करकें मार्क्सवाद पर निरीश्वरवाद का कलंक लगाना कहाँ तक जायज है? वह यह भी तो कहता ही है कि वर्गसंघर्ष के आधार पर ही निरीश्वरवाद का प्रचार करना होगा। उसके मत से वर्तमान समय में संघर्ष चालू हो वह जनता को कहीं अच्छी तरह शिक्षित और वर्गचेतनायुक्त कर देगा। फिर तो रास्ता साफ हो जाता है। मार्क्सवाद का असली काम निरीश्वरता प्रचार नहीं है। उसका तो काम है शोषितों एवं पीड़ितों को—कमाने वालों को—शिक्षित तथा वर्गचेतनायुक्त करना,

जो दूसरे अन्य सभी उपायों की अपेक्षा वर्गसंघर्ष से ही बहुत अच्छी तरह पूरा होता है। फिर निरीश्वरता के कोरे प्रचार को छोड़ हम इसी संघर्ष में ही क्यों न लगें? इससे तो स्पष्ट हो जाता है कि वह नास्तिकवाद को साधन के रूप में ही स्वीकार करता है।

इस लम्बे उद्धरण के पहले जो हमने लेनिन के दो छोटे-छोटे उद्धरण दिये हैं उनमें जो सबसे मार्के की बात है वह यह है कि दोनों में यही कहा गया है कि धर्म की बुनियाद तो पूँजीवाद और उसकी अनेक शकलें हैं। वह तो पूँजीवाद के आधार पर बनी सामाजिक व्यवस्था को ही वर्तमान धर्म और ईश्वरवाद की जड़ मानता है। फलतः मुख्य काम वह यही बताता है कि उस जड़ को ही खोदना होगा। पत्ता और शाखा तोड़ने से पेड़ तो रही जायगा। इसीलिए इस सामाजिक व्यवस्था को ही मिटाने पर हमें जोर देना चाहिए। इससे साफ और क्या कहा जा सकता है?

और जब पादरी-पुरोहितों तक को भी अपनी पार्टी में लेने की राय वह देता है, बशर्ते कि उनका प्रधान काम धर्म प्रचार न होके पार्टी के कार्यक्रम को पूरा करना ही हो, तो फिर निरीश्वरता के इलजाम के कुछ मानी रही नहीं जाते। जो पादरी पार्टी में आके पार्टी के काम की अपेक्षा धर्म प्रचार को ही प्रधान काम समझे और प्रधानतया (स्मरण रहे 'प्रधानतया' लिखा है) वही करे उसी को पार्टी से निकालने की बात कही गयी है। इससे तो और भी सफाई हो जाती है। वह तो कहता है कि हमें ऐसे सभी उपाय करने होंगे जिससे धर्म में विश्वास करने वाले किसान-मजदूर जरूर हमारी पार्टी में आयें और हमारी इस चीज का—नास्तिकता का—विरोध करें—इसके खिलाफ लड़ें। हमें उन्हें इसका मौका देने के लिए ही पार्टी में खींचना होगा। और यह तो जरूरी नहीं कि आस्तिक मजदूर थोड़े और नास्तिक ही ज्यादा हों। बात तो उलटी ही होती है। फिर भी वह कहता है कि पार्टी के सदस्यों को भी अपने स्वतन्त्र विचार रखने की आजादी किसी हद तक रहनी ही चाहिए। फलतः यदि पार्टी में बहुमत आस्तिकों का ही हो जाय तो? लेनिन को इसकी परवाह नहीं है। वह तो खूब जानता है कि असल चीज यह न होके वर्ग संघर्ष ही असल चीज हमारी पार्टी के लिए है, जिसमें आस्तिक-नास्तिक सभी साथ देंगे ही। नतीजा यह होगा कि संघर्ष चालू होने पर ज्यों-ज्यों उसमें सफलता मिलेगी त्यों-त्यों धर्म के ठेकेदारों का पर्दाफाश होता जायगा। फलस्वरूप अन्त में सभी या अधिकांश मज़दूरों की आस्था धर्म से खुद-ब-खुद उठ जायगी। वे उसे खुद पूँजीवाद की उपज और करामात समझ उससे घृणा कर बैठेंगे और बहुमत से निर्णय कर देंगे कि धर्म-वर्म की बात ठीक नहीं। फिर तो सभी को यही मानना ही होगा।

हम लेनिन के दो उद्धरण और देके यह विवाद खत्म करेंगे। वह अपने लेख के प्रायः शुरू में ही कहता है कि "Religion is the opium of the people, said Marx, and this thought is the corner-stone of the whole Marxian philo-

sophy on the question of religion. Marxism regards all modern religions and churches, all religious organisations as organs of bourgeois reaction, serving to drug the minds of the working class and to perpetuate their exploitation."

इसका आशय है कि "मार्क्स ने कहा था कि धर्म तो लोगों के लिए अफीम है और उसका यही कहना, यही विचार धार्मिक प्रश्नों के बारे में मार्क्स के समूचे सिद्धान्त की असली बुनियाद है। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार आजकल के (modern—यह याद रखने की चीज है) धर्म, गिरजे वगैरह और सभी धार्मिक संस्थाएँ पूँजीवादी प्रतिगामियों के हथकण्डे हैं, जिनका इस्तेमाल वे लोग श्रमजीवियों के दिमागों में जहर भरने और इस तरह उनका शोषण बराबर जारी रखने के लिए करते हैं।"

यहाँ तो इस बात को खोल के कह दिया है कि वर्त्तमान धर्म, मठमन्दिर और धर्म की संस्थाएँ जाल हैं, धोखे की चीजें हैं। इन्हें मालदारों ने कमाने वालों को ठगने के ही लिए बनाया है। इन्हीं के द्वारा भोलीभाली जनता के दिमाग में जहर भरा जाता है। जैसे बच्चों को अफीम खिलाके सुला देते हैं वही बात पूँजीवादी धर्म के जरिये आम लोगों के बारे में करते हैं। उनके दिमाग खराब कर देते हैं। मार्क्स के धार्मिक सिद्धान्तों की यही बुनियाद है। मार्क्स ने जो धर्म का विरोध किया है उसका असली कारण यही है। हमने तो शुरू में ही यही बात कही थी। यहाँ जो 'वर्तमान' धर्म कहा है, उससे भी यह झलकता है कि एक तो मार्क्स को इन बातों का विरोधी बनाने में यही चीजें कारण हुईं, इन्हीं की हरकतों ने मार्क्स को इनका—धर्म का—बागी बना दिया। दूसरे पीछे या पहले (भूत या भविष्य में) ऐसे धर्मों या धर्म की सम्भावना भी इससे सिद्ध हो जाती है, जिनका विरोध मार्क्स को इष्ट नहीं है। हमने गीताधर्म के निरूपण में धर्म का जो रूप गीता को मान्य बताया है वह तो वर्तमान धर्म से जुदा ही है। इसलिए उसके साथ भी मार्क्स का विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हो जाता है।

जरा और भी सुनिये कि लेनिन क्या कहता है। वह अभी-अभी लिखे गये वाक्यों के बाद ही लिखता है कि, "At the same time, however, Engels frequently condemned those who, desiring to be more 'left' or more 'revolutionary' than Social Democracy, attempted to introduce into the programme of the workers, party a direct profession of atheism in the sense of declaring war on religion. In 1874, speaking of the celebrated manifesto issued by the Blanquist refugees from the Commune, who were living in exile in London, Engels described their clamorous declaration of war upon religion as stupid, and stated that it would be the best means of reviving religion and retarding its death, Engels accused the Blanquists of failing to understand that only the class struggle of the workers, by drawing the masses in to class-conscious revolutionary practical work,

can really liblrate the oppressed masses from the yoke of religion...and with equal ruthlessness condemned his pseudo-revolutionary idea of suppressing religion in socialist society."

इसका अभिप्राय है कि "इसी के साथ एंगेल्स ने उन लोगों की भर्त्सना की, जिसने सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की अपेक्षा ज्यादा वामपक्षी या क्रान्तिकारी बनने के गुमान में श्रमजीवियों की पार्टी के कार्यक्रम में नास्तिकता को साफ-साफ स्वीकार करने की बात रखने की कोशिश की। इसमें उनका साफ मतलब था धर्म के खिलाफ जेहाद बोलना—युद्धघोषणा करना। पेरिसवाले कम्यून (साम्यवादी सरकार) से भाग के जो ब्लांकी (अराजकतावादी नेता) के अनुयायी लन्दन में रहते थे उनने जो महत्त्वपूर्ण घोषणापत्र प्रकाशित किया था उसके सम्बन्ध में 1874 में बोलते हुए एंगेल्स ने उनकी धर्मविरोधी युद्धघोषणा की लम्बी बातों को मूर्खतापूर्ण बताया और कहा कि धर्म की मौत को रोक के उसे फिर से फैलाने का सबसे सुन्दर साधन यह युद्ध घोषणा ही हो जायगी। एंगेल्स ने ब्लांकी के अनुयायियों पर यह भी आरोप लगाया कि वह यह समझते ही नहीं कि सिर्फ श्रमजीवियों का वर्गसंघर्ष ही, जनसमूह को वर्गचेतनायुक्त क्रान्तिकारी अमली काम में खींच के, पीड़ित जनता को सचमुच धर्म के जुए से मुक्त कर सकता है।...और उसी प्रकार पूरी बेरहमी के साथ उसने, समाजवादी समाज में धर्म को मिटा देने के सम्बन्ध में ड्यूहिंग के नकली क्रान्तिकारी विचारों की भी लानत-मलामत की।"

इस पर अब टीका-टिप्पणी बेकार है। एंगेल्स भी धर्म की बुनियाद पूँजीवाद को ही उसके मान के पंजे से छूटने को ही धर्म के जुए से मुक्ति मानता है। वह तो साफ ही कहता है कि श्रेणीविहीन समाज में जो लोग धर्म का नामोनिशान मिटाने के स्वप्न देखा करते हैं वह नकली क्रान्तिकारी और रंगे सियार हैं! हमने तो यह पहले ही कहा है कि भविष्य का दरवाजा ही ईश्वर या धर्म के लिए बन्द करने की कोशिश अति हो जायगी। एंगेल्स ने तो अपनी 'ड्यूहिंग के विरुद्ध' नामक पुस्तक में ही, जिसका जिक्र लेनिन ने ऊपर किया है, यह भी लिखा है कि धर्म के विरोध में वाद-विवाद और लड़ाई छेड़ देना लोगों के ध्यान को मार्क्स के असली राजनीतिक लक्ष्य से हटाके गलत रास्ते में ले जाना हो जायगा और यह गलत बात होगी। उसके मत से मार्क्सवाद तो दरअसल राजनीतिक है, न कि धार्मिक। मार्क्स वर्गविहीन समाज की स्थापना का भूखा है, न कि खामख्वाह धर्मविहीन समाज का।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और धर्म

बस, उद्धरणों की बात हो चुकी। इन पर विवाद भी हमने काफी कर दिया। अब एक ही बात और कहके हम आगे बढ़ेंगे। लेनिन ने कहा है कि मार्क्सवाद तो भौतिकवाद है और मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त मानते हैं। इसलिए उन्हें धर्म

या ईश्वर का विचार या खण्डन-मण्डन भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार ही करना होगा। यही बात जरा समझने को रह जाती है। इसीलिए हमें इस सम्बन्ध में दो-चार शब्द कहने पड़ जाते हैं। क्योंकि यदि हम इस बात को, इस कुंजी को, बखूबी समझ जायें तो धर्म और ईश्वर के बारे में मार्क्सवाद का क्या रुख है और उस दृष्टि से हमें खुद क्या करना चाहिए, यह बात अच्छी तरह साफ हो जायगी। बड़े-बड़े क्रान्तिकारी कहे जाने वाले भी इस सम्बन्ध में भयंकर भूलें करते आये हैं, यह तो एंगेल्स ने ही खुद कह दिया है। इसलिए थोड़े से स्पष्टीकरण की जरूरत अभी है। अभी तक, हमारे जानते, इसका पूरा स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है।

यदि भगवान् ऐसा हो कि मरने के बाद की किसी दुनिया का प्रबन्ध करता हो जिसे स्वर्ग, नरक, बैकुण्ठ या बिहिश्त कहते हैं; अगर हमारी इस भौतिक दुनिया के कारबार से उसका कोई ताल्लुक न हो, तो मार्क्स को और मार्क्सवादियों को भी उससे नाहक कलह क्यों हो? जिस दुनिया का जीते-जी हमसे कोई वास्ता नहीं, जो निराली दुनिया है, मगर भौतिक नहीं है, आध्यात्मिक है, उसकी फिक्र हम क्यों करें, अगर वह बिलकुल ही अलग और जुदी है? अगर वह दुनिया और उसका प्रबन्धक हमारे इस भौतिक संसार के कारबार में 'दालभात में मूसरचंद' नहीं बनता और दखल नहीं देता, तो हम भी उसमें क्यों दखल देने जायँगे? अगर काजी जी शहर की फिक्र से नाहक दुबले हो रहे थे, तो हम भी काजी क्यों बनें? हम यहाँ कुछ यत्न करते और इस प्रकार इस भौतिक संसार एवं समाज को पूर्णतः बदलना चाहते हैं। हमारे इस काम में धर्म और भगवान् यदि कोई मदद न करें तो भी हमें उनसे कोई शिकायत नहीं, गिला नहीं। मार्क्सवादी किसी अदृश्य तथा अलौकिक (Supernatural) शक्ति की मदद चाहते ही नहीं। उन्हें इस काम में ऐसी शक्ति की परवाह और जरूरत नहीं है। बल्कि वे तो ऐसा मानते हैं कि ज्यों ही मदद के भी नाम पर किसी शक्ति ने हमारे काम में दखल दिया कि सारा गुड़ गोबर हुआ। वे तो ऐसी शक्ति का किसी भी तरह इस काम में पड़ना ही खतरनाक मानते हैं। क्योंकि तब तो हमारा अपना यत्न ही ढीला हो जायगा, शिथिल हो जायगा और इसी में सारा खतरा है।

(हम इस समाज को अमूल परिवर्तित करने एवं बदलने के लिए किये जाने वाले अपने यत्न में किसी भी वजह से, किसी भी मुरव्वत से जरा भी शिथिलता बर्दाश्त नहीं कर सकते। भाग्य और भगवान् हमारे विरुद्ध लाठी थोड़े ही चलाते हैं। दरअसल होता है यही कि उनके नाम पर हमारे हाथ-पाँव रुक जाते हैं, हमारे यत्न ढीले पड़ जाते हैं और सफल हो नहीं सकते, हममें आत्मविश्वास नहीं रह जाता, हम उसी को खो देते हैं और अन्ततोगत्वा चौपट हो जाते हैं। हम लोगों का कुछ ऐसा संस्कार बन गया है कि यदि किसी भी तरह भाग्य और भगवान् का नाम हमारे सामने आया कि हम जाल में फँसे और चौपट हुए। हम इस तरह अपने उद्धार की कोशिश में शिथिल होके तबाह होते रहते हैं।) मार्क्स ने हमारे इस असाध्य

रोग को खूब ही समझा था। इसीलिए उसने बेदर्दी से इसकी दवा की और भाग्य तथा भगवान् का खयाल भी इस भौतिक संसार के कामों में आने न दिया। उसने कह दिया कि भगवन्, आप कृपा करें, अलग ही रहें, हम यों ही अच्छे हैं, हमें आपकी कोई जरूरत नहीं, "बिलार दाई बख्श दें, मुर्ग बेचारा बिना पूँछ का ही रहेगा।" कोई आदमी, जो कमाने वाली जनता के कष्टों से द्रवीभूत हृदय रखता है और जिसे हमारे स्वभावों, संस्कारों तथा धर्म के नाम पर बनी रेशम की चमकीली फाँसी का कड़वा अनुभव है, मार्क्स की इस बेमुरव्वती और रूखेपन का पूरा समर्थन करेगा। धर्म, भगवान् और उनके गण बैकुण्ठ और स्वर्ग का प्रबन्ध करें न, और मुक्ति का हिसाब रखें न? उन्हें कौन रोकता है? मगर इधर पाँव हर्गिज न बढ़ायें! खबरदार!

भौतिक द्वन्द्ववाद

मार्क्स तो भौतिकवादी इसी मानी में है कि इस संसार के छोटे-बड़े सभी कामों में वह किसी भी भगवान् या दैवी-शक्ति का हाथ नहीं देखता। उसने तो इसके सभी कामों के बाकयदा चलाने की ताकत इसी दुनिया में, यहीं के पदार्थों में देख ली है। हम चाहे सो भी जायें। मगर वह ताकत, जिसे वह निरी भौतिक ताकत समझता है, बराबर जगी रहती और अपना काम करती जाती है। उसे तो जरा भी विराम नहीं है, जरा साँस लेने की फुर्सत नहीं है। इसी ताकत का नाम उसने द्वन्द्ववाद रखा है। इसे ताकत कहिये, या भौतिक प्रक्रिया (Material Process) कहिये। यही सब कुछ करती है। मार्क्स इस दुनिया के निर्माण-सम्बन्धी दार्शनिक विचारों में इससे आगे नहीं जाता, नहीं जा सकता है। उसके मत में इससे आगे जाने की जरूरत हई नहीं। हमारा काम तो इतने से ही बखूबी चल जाता है, चल जायगा। बल्कि वह तो यहाँ तक कहता है कि आगे जाने में खतरा है और सारा गुड़ गोबर हो जायगा—हमारे काम ही चौपट हो जायँगे। यही है संक्षेप में मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या भौतिक द्वन्द्ववाद (Dialectical Materialism)।

इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के पदार्थों में बराबर संघर्ष (द्वन्द्व) चलता रहता है, जिसे हलचल, संग्राम, युद्ध या जीवन संग्राम (Struggle for Existence) भी कहते हैं। इससे कमजोर पक्ष हारता और जबर्दस्त जीतता है; दुर्बल खत्म हो जाते, मिट जाते और प्रबल जम जाते हैं। इसे ही डार्विन का विकासवाद भी कहते हैं। इस दुनिया में जो लोग साधन सम्पन्न, कुशल और चौकन्ने हैं वही रह पाते और आगे बढ़ते हैं। विपरीत इसके जो ढीले, आगा-पीछा करने वाले, असहाय, भोंदू हैं वे मिट जाते हैं। इस निरन्तर चलने वाले (सतत) संग्राम के फलस्वरूप ही संसार की प्रगति होती है। यह तो बात मानी हुई है। चाहे ढीले-ढाले और आगा-पीछा वाले खत्म भले ही हो जायँ और उनके विरोधी भले ही आगे बढ़ जायँ। मगर इसी के साथ समूचा संसार आगे बढ़ जाता है और इसी में पीछे पड़ जाने वालों या शोषितों

के उद्धार की आशा है, गुंजाइश है। यदि केवल विरोधी ही आगे बढ़ते और उन्हीं के साथ बाकी दुनिया नहीं बढ़ती, तो यह बात नहीं होती। परन्तु उन्हीं के साथ शोषित जनता भी बढ़ती जाती है। किसानों और मजदूरों को तरह-तरह की चालाकी, जाल तथा उपायों से दबा के पूँजीवादी आगे बढ़े हैं सही। मगर उनकी ही प्रगति के साथ कलकारखाने, उत्पादन के साधन और ज्ञान-विज्ञान भी खूब ही प्रगति कर गये हैं। इन सबों की प्रगति के करते ही पूँजीवादियों की दिक्कतें भी बढ़ गयी हैं, उनकी चिन्ता और परेशानी भी बढ़ गयी है। फलतः वे डरने लगे हैं कि कहीं शोषित जनता हमें एकाएक दबा न ले। रूस में तो ऐसा हो भी चुका है। दूसरी जगह भी यह होके ही रहेगा। इसीलिए पूँजीवादियों की घबराहट बढ़ती ही जा रही है। यदि उनके वश की बात होती तो वे उत्पादन वगैरह के साधनों की ऐसी भयंकर प्रगति होने नहीं देते। मगर क्या करें? बेबस हैं। रेशम का कीड़ा अपने ही बनाये कोये में बन्द होके मरने पर है!

मार्क्सवाद शोषितों और पीड़ितों को बताता है कि आँखें खोलो और इस द्वन्द्ववाद में विश्वास करो। इस अटल सत्य को मानो कि तुम्हारा उद्धार इस भौतिक और सांसारिक संघर्षों के चलते ही अवश्यम्भावी है। इसमें कोई भी बाहरी हाथ नहीं है। यदि बाहरी हाथ होता तो तुमसे लाख गुना काइयाँ और चलते-पुर्जे, जमींदार-मालदार उस बाहरी हाथ को अपने काबू में करके संसार की ऐसी प्रगति होने ही नहीं देते, जिससे आज उन पर आफत आ बनी है। फिर तुम किस खेत की मूली हो कि उस बाहरी हाथ को अपने पक्ष में करोगे? यदि कोई भगवान् ऐसा करने वाला होता तो मालदार सोने और संगमरमर के मन्दिर में उसे पधराके और मेवा-मिश्री खिला के—भोग लगा के—जरूर अपने कब्जे में कर लेता। तुम्हारे सत्तू की क्या बिसात? इसलिए ये खाम खयाल छोड़ के भौतिक द्वन्द्ववाद पर ही विश्वास करो।

मार्क्स यहीं पर यह भी कहता है कि देखो, पूँजीवादी और जमींदार—तुम्हारे शोषक—बड़े काइयाँ हैं। उनने तुम्हारे लिए अनेक जाल फैलाये हैं। भगवान् और धर्म का कोई भी ताल्लुक इस भौतिक कारबार से नहीं होने पर भी उनने इन्हें खड़ा करी तो दिया। यह देखो, इन्हीं के नाम पर तुम्हें ठगते आ रहे हैं, ठगने चले हैं! और ये पण्डित, मौलवी, पादरी, पुरोहित, साधु-फकीर? क्या ये भी ठगते हैं? हाँ, हाँ, जरूर ठगते हैं। ये सबके सब मालदार-जमींदारों के दलाल हैं। इसीलिए तो खाते तुम्हारा और गुण गाते हैं उनका। बड़ी चालाकी से जाल बिछा है। सजग रहो। दूर की कौड़ी लाई गयी है। ये गुरु, पीर, पण्डित वगैरह तुम्हें धोखा दे रहे हैं और अन्त तक धोखा देंगे। इनकी बातों में हर्गिज न पड़ो। तुम जो अपने उद्धार के लिए कटिबद्ध हो रहे हो और द्वन्द्ववाद के चलते जो तुम्हारे उद्धार का सामान प्रस्तुत हो गया है उसी से घबरा के मालदारों ने ये जाल खड़े किये हैं; ताकि भाग्य और भगवान् के

फेर में पड़ के तुम अपने यत्न में शिथिल हो जाओ, उससे मुँह मोड़ लो और मालदार-जमींदारों के घर घी के चिराग जलें। फिर तो इन गुरु-पुरोहितों और पादरी-मौलवियों को वे लोग भरपूर विदाई देंगे!

मार्क्स और भी कहता है कि द्वन्द्ववाद और कुछ नहीं, केवल वर्गसंघर्ष है। एक वर्ग दूसरे को कल, बल, छल से दबा के, मिटा के खुद आगे बढ़ना चाहता है। मठ, मन्दिर, तीर्थ, हज्ज, पोथी, पुराण इसी वर्गसंघर्ष की सफलता के साधन हैं। मालदार-जमींदार तुम्हारे वेतन में एक पैसा नहीं बढ़ाते, तुम्हारी दवा का प्रबन्ध नहीं करते और न लगान में ही कमी करते हैं। मगर मन्दिरों और तीर्थों में लाखों रुपये फूँकते हैं! क्यों? वही पैसे तुम्हें क्यों नहीं देते? कल-कारखाने तुम्हीं चलाते हो न? खेतीबारी करके उनके लिए गेहूँ-मलाई तुम्हीं उपजाते हो न ? या कि ये मठ, मन्दिर और तीर्थ वगैरह? फिर तुम्हें पैसे न देके उन्हें वे लोग क्यों देते हैं? सोचो। तुम्हें देने से तुम्हारी हिम्मत बढ़ेगी और आगे फिर भी माँगें पेश करोगे और ये माँगें जब वे पूरा न करेंगे तो उन्हें मिटाने चलोगे। मगर मन्दिरों और तीर्थों के पैसे तो उन्हें सूद-दर-सूद सहित वापस मिलेंगे। क्योंकि पंडे, पुजारी, साधु-फकीर वगैरह तुम्हें भाग्य और भगवान् के नाम पर भड़कायेंगे, गुमराह करेंगे और संघर्ष से विमुख करेंगे! समझा न? यही चाल है। इसमें हर्गिज न पड़ो और लड़ो। यदि तुम्हारा विश्वास हो कि ये साधु-फकीर वगैरह तुम्हारे ही साथी हैं, तो चलो खुल के वर्गसंघर्ष करो और उन्हें भी मदद के लिए बुलाओ। उनसे कह दो कि आइये, मदद कीजिए। अभी तो हमारे पास कुछ है नहीं, तो भी आप लोगों को भरसक अच्छा ही खिलाते-पिलाते हैं। मगर इस संघर्ष में जीत होने पर तो खूब माल चखायेंगे और सुनहले वस्त्र पहनायेंगे, संगमरमर के महल बनवा देंगे। मठ-मन्दिर भी वैसे ही सजा देंगे। मगर देखोगे कि वे हर्गिज तुम्हारा साथ न देंगे; हालाँकि उन्हें इसी में लाभ है। साथ दें भी कैसे? वे तो मालदारों के दलाल ठहरे न? वे मजबूर हैं, बँधे हैं। अपना फायदा सोचें या मालिकों का?

इस प्रकार भौतिक बातों में अध्यात्मवाद और ईश्वर का अड़ंगा खड़ा करके साधु-फकीर और मन्दिर-तीर्थवाले सन्त-महन्त मालदारों का पक्ष करते और उनके विरुद्ध शोषितों के द्वारा चलाई जानवाली हक की लड़ाई या वर्गसंघर्ष में बाधक होते हैं, यही बात मार्क्सवाद के जरिये शोषितों के दिल-दिमाग में बैठा दी जाती है। वे इसे बखूबी समझ के वर्गसंघर्ष से धर्म या ईश्वर के नाम पर नहीं मुड़ते। किन्तु उसे अविराम चलाते जाते हैं। इसी वजह से पहले कहा गया है कि हड़ताल के समय नास्तिक-आस्तिक वाली दलबन्दी मजदूरों में हर्गिज रहने न दी जाय, होने न दी जाय। पुरोहित या पादरी तो जरूर चाहेगा कि यह दलबन्दी जारी रहे। मगर मार्क्सवासी हर्गिज इसे बर्दाश्त नहीं करेगा। उसका तो असली लक्ष्य यह लड़ाई ही है। इसी के लिए यह आस्तिक-नास्तिक का झगड़ा भी पहले करता था; ताकि रास्ता

साफ हो। मगर जब यह युद्ध चल पड़ा, तो उस झगड़े का क्या काम? उससे तो अब इसमें उलटे बाधा हो सकती है। इसीलिए उसे तिलांजलि दे देता है।

हमने इस लंबे विवेचन से साफ देख लिया कि भौतिक संघर्ष और वर्गयुद्ध में बाधक होने के कारण ही मार्क्सवाद में धर्म और ईश्वर का विरोध किया गया है। जब और कोई उपाय नहीं चला तो जमींदार-मालदारों ने इसी आखिरी ब्रह्मास्त्र से ही काम लेना शुरू जो कर दिया था। वह आज भी यही करते हैं। यही है धर्म और ईश्वर के विरोध का भौतिक दृष्टि से और द्वन्द्ववाद की दृष्टि से प्रयोग, या यों कहिये कि भौतिक द्वन्द्ववाद की दृष्टि से प्रयोग। इससे स्पष्ट है कि यदि इनके करते वर्गसंघर्ष में कोई भी बाधा न हो तो मार्क्सवाद इन्हें छुए भी नहीं। इनके साथ कम से कम क्षणिक सन्धि तो करी ले। बहुत पहले तो यह बात न थी—वर्गसंघर्ष में ये धर्मादि बाधक न थे, या यों कहिये कि वर्गसंघर्ष का यह रूप पहले था ही नहीं। तो फिर वे बाधक होते भी कैसे? इधर कुछ सदियों से ही यह बात हुई है। इसीलिए मार्क्सवाद में 'वर्ममान' धर्म (Modern Religion) और धर्मसंस्थाओं की ही बात कही गयी है और इन्हीं को मालदारों का हथकण्डा बता के विरोध किया गया है। मार्क्स के मत से जब सभी चीजें बदलती हैं तो धर्म भी आज बदला हुआ ही यदि मान लिया जाय तो हर्ज ही क्या? जो भी धर्म वर्गसंघर्ष का जरा भी बाधक हो यदि वह इसी बदले हुए के भीतर ही माना जाय तो इसमें उज्र क्या होगा?

यदि मार्क्सवाद की दृष्टि धर्म और ईश्वर के सम्बन्ध में भौतिक द्वन्द्ववाद की न हो के कोरी सैद्धान्तिक होती, तो यह बात नहीं होती। सिद्धान्त की दृष्टि का तो यही मतलब है कि बिना किसी प्रयोजन और खयाल के ही हम असलियत एवं वस्तुस्थिति का पता लगाना चाहते हैं। जैसा कि नये-नये ग्रहों का पता लगाते हैं। इसमें कोई खास प्रयोजन तो है नहीं। यह काम तो सृष्टि की असलियत की जानकारी के ही लिए किया जाता है। यह भी नहीं जानते कि इन अनन्त ग्रहों और उपग्रहों की कौन सी जरूरत इस सृष्टि के काम में है। फिर भी इनका और इनकी गति आदि का पता भी लगाते ही हैं। इसके बारे में वाद-विवाद चलता है और पोथी-पोथे भी लिखे जाते हैं। यही है सैद्धान्तिक दृष्टि। यदि इस दृष्टि से धर्म और ईश्वर का विरोध मार्क्स को इष्ट होता है तो फिर भौतिक द्वन्द्ववाद की बात इस सिलसिले में छेड़ने का प्रश्न ही कहाँ होता ? यह दृष्टि तो ईश्वर के विरोध का प्रयोजन बताती है। अर्थात् मार्क्स किसी खास प्रयोजन से ही उसका विरोध करता है न कि ईश्वर सचमुच हई नहीं, केवल इस सैद्धान्तिक दृष्टि से। बल्कि इस सैद्धान्तिक दृष्टि का तो वह पक्का विरोधी है। इसमें तो वह अराजकतावाद और अवसरवाद की गन्ध पाता है। इसीलिए इसका सख्त विरोध भी करता है। क्योंकि ये दोनों वाद मार्क्सवाद के विरोधी तथा वर्गसंघर्ष के घातक हैं। इससे तो यह भी सिद्ध हो जाता है कि वस्तुतः धर्म या ईश्वर हई नहीं, यह बात मार्क्स या मार्क्सवाद की नहीं है, इस पचड़े

में वह नहीं पड़ता। भौतिक द्वन्द्ववाद की दृष्टि के इस लम्बे विचार ने, हमें विश्वास है, मार्क्सवाद के इस पहलू को काफी साफ कर दिया है।

धर्म, सरकार और पार्टी

अब हमें फिर गीता के धर्म को देखना है। जब, जैसा कि पहले ही बता चुके हैं, धर्म गीता के अनुसार नितान्त वैयक्तिक या व्यक्तिगत (शख्सी—Personal) चीज है, तो न सिर्फ इसमें या इसके नाम पर कलह की रोक हो जाती है। बल्कि मार्क्सवाद से भी मेल हो जाता है, विरोध नहीं रहता। व्यक्तिगत कहने का यही मतलब है कि किसी समुदाय, गिरोह, कमिटी, पार्टी, दल, सभा या अंजुमन की चीज यह हर्गिज नहीं है। हरेक आदमी चाहे जैसे इसके बारे में अमल करे, सोचे या कुछ भी करे। किसी दूसरे आदमी, दल, पार्टी, गिरोह या देश को इसमें टाँग अड़ाने और दखल देने का कोई हक नहीं। असल में गिरोह, समुदाय, पार्टी आदि को इससे कोई ताल्लुक हई नहीं। इसीलिए सरकार को भी इसमें पड़ने का हक है नहीं। अगर वह पड़ती है, जैसा कि बराबर ही देखा जा रहा है, खासकर पूँजीवादी युग में, तो और भी, नाजायज काम करती है। जर्मनी या और देशों की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों ने जहाँ सरकार को इसमें पड़ने से रोका तहाँ उनने खुद इसमें पड़ जाने की गलती की, या कम से कम ऐसा खयाल जाहिर किया। इसीलिए एंगेल्स ने उन्हें डाँटा था। उसने कहा था कि सरकार इसमें हाथ न डाले यह तो ठीक है। मगर पार्टी की भी यह निजी चीज क्यों हो? पार्टी को इससे क्या काम? उसका कोई मेंबर धर्म को माने या न माने। पार्टी उसमें दखल क्यों देने लगी? हाँ, इसके चलते जो भारी खतरे हैं, उनका खयाल करके पार्टी का रुख तो इसके बारे में सदा भौतिक द्वन्द्ववाद वाला ही होगा। यही बात लेनिन ने अपने लेख में यों लिखी है—

"This he did in a declaration in which he emphatically pointed out that Social Democracy regards religion as a private matter in so far as the State is concerned, but not in so far as it concerns Marxism or the worker's party."

"Should our deputy have gone further and developed atheistic ideas in greater detail ? We think not. This might have exaggerated the significance of the fight which the party of the proletariat is carrying on against religion; it might have obliterated the dividing line between the bourgeois and socialist fight against religion."

इसका अर्थ यह है, "एंगेल्स ने यह काम एक घोषणा के द्वारा किया, जिसमें उसने जोर देकर बताया कि सोशल डेमोक्रेटिक (मजदूरों की क्रान्तिकारी) पार्टी धर्म को व्यक्तिगत चीज वहीं तक मानती है जहाँ तक सरकार का इससे ताल्लुक है। लेकिन उसके मत से मार्क्सवाद या मजदूरों की पार्टी के लिए यह व्यक्तिगत चीज

नहीं है।"

"क्या ड्यूमा के हमारे प्रतिनिधि (सरकोफ) को चाहिए था कि आगे बढ़ जाता और नास्तिकवाद पर विस्तार से बोलता एवं खण्डन-मण्डन करता? हम तो ऐसा नहीं समझते। यदि वह ऐसा करता तो मजदूरों की पार्टी का जो धर्म-विरोधी आन्दोलन और संघर्ष है उसके महत्त्व की अत्युक्ति हो जाती। समाजवादियों और पूँजीवादियों के द्वारा धर्म का विरोध करने में जो भेद है वह ऐसा करने से मिट जाता है।"

यहाँ यह बात जानने की है कि पूँजीवाद लोग भी अपना काम निकालने के लिए समय-समय पर धर्म का विरोध करते हैं। उस समय जर्मनी में विस्मार्क ने ऐसा ही किया था। जार भी यहूदियों का विरोध करता था और हिटलर भी। मगर उनका मतलब तो दूसरा ही होता है। या तो उन्हें दिमागी दुनिया की कुश्ती लड़ने का शौक होता है, या वे ख्याति के लिए ही ऐसा करते हैं, या ऐसा करने से उनका कोई दुनियावी मतलब सिद्ध होता है। वर्गसंघर्ष की दृष्टि से वे ऐसा काम हर्गिज नहीं करते। भले ही सैद्धान्तिक दृष्टि से करते हों। विपरीत इसके साम्यवादी लोग वर्गसंघर्ष की ही दृष्टि से उसका विरोध करते हैं। मगर कोरे वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन में पड़ जाने पर खतरा यह है कि मार्क्सवादी भी उसी सैद्धान्तिक दृष्टि में पड़ जा सकते हैं। इसीलिए उसे रोक के दोनों दृष्टियों को अलग-अलग रखा गया है। मार्क्सवाद कोरे खण्डन-मण्डन को पूँजीवादी और इसीलिए अपनी विरोधी दृष्टि मानता है, यह बात मार्के की है।

दृष्ट और अदृष्ट

यह कहा जा सकता है कि गीता ने जब कर्मवाद को माना है तो भाग्य या प्रारब्ध का सवाल हमारे भौतिक कामों में भी आई जाता है। अठारहवें अध्याय के 'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता' से लेकर 'पंचै ते तस्यहेतवः' (14, 15) तक दो श्लोकों में साफ ही कहा है कि जो कोई भी भला या बुरा काम किया जाता है उसके पाँच कारण होते हैं, जिनमें एक दैव, प्रारब्ध या भाग्य भी है, जिसे तकदीर भी कहते हैं। गीता ने स्वीकार कर लिया है कि प्रारब्ध का हाथ दुनिया के सभी कामों में होता ही है। इसमें शक की जगह हई नहीं। फिर तीसरे अध्याय के 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः' (14) में भी साफ ही कर्म और यज्ञ को वृष्टि के द्वारा अन्नादि के उत्पादन में और इस तरह भौतिक कार्य चलाने में कारण ठहराया है। चौथे अध्याय के 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य' (31) श्लोक में भी स्पष्ट ही कह दिया है कि यज्ञ के बिना इस दुनिया का काम चली नहीं सकता। छठे अध्याय के 37 से 48 तक के श्लोकों में इसी कर्म का सम्बन्ध मनुष्यों के जन्म और स्वभाव के साथ जोड़ के 45वें में कह दिया है कि "अनेक जन्मों में यत्न करने के बाद ही उसका दिल-दिमाग ठीक हो जाने पर मनुष्य मोक्ष का भागी होता है"—"अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्।"

इस तरह कर्मों का सम्बन्ध पुनर्जन्म के साथ लगा हुआ है और पुनर्जन्म का तो अर्थ ही है यह भौतिक शरीर। सोलहवें अध्याय के 19, 20 श्लोकों में आसुरी सम्पत्ति वालों के दुष्कर्मों के फलस्वरूप उनकी दुर्गति और नीच योनियों में उनका जन्म बताया गया है। दूसरे अध्याय के 'बुद्धियुक्तो जहातीह' (50) श्लोक में पुण्य-पाप का जिक्र है। इधर-उधर के श्लोकों में भी यही बात है। इस तरह गीता में जानें कितनी ही जगह यही बात पायी जाती है। इसलिए यह तो मानना ही होगा कि भाग्य और भगवान् का दखल इस दुनिया के भौतिक कार्यों में गीता को भी मान्य है।

बात तो कुछ ऐसी ही मालूम पड़ती है और अगर इस पर कुछ ज्यादा खोद-विनोद न किया जाय तो इसी नतीजे पर पहुँचना अनिवार्य हो जायगा। यह ठीक है कि ऐसा होने पर भी हमारा पहले का मन्तव्य ज्यों का त्यों रह जाता है। क्योंकि यह जो कर्मवाद की बात अभी-अभी कही गयी है वह तो गीताधर्म है नहीं—वह गीता की अपनी चीज नहीं है। इसके बारे में तो अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि सामान्यतः उस समय के समाज और शास्त्र में जो कुछ कर्म-सम्बन्धी बातें और धारणाएँ प्रचलित थीं, जो सिद्धान्त आमतौर से इस सम्बन्ध में माने जाते थे, उन्हीं को अक्षरशः अनुवाद करके गीता ने लिख दिया है। ऐसा करने में उसका प्रयोजन कुछ न कुछ है। बावजूद इन सभी बातों के योग और ज्ञान के आश्रय लेने पर मनुष्य बन्धनरहित हो जाता है, यही बात दिखलाने और योग, ज्ञान या भक्ति के मार्ग के महत्त्व को बताने के ही लिए उन कर्मफलों और विविध गतियों का उल्लेख गीता करती है, जो आस्तिक समाज में प्रचलित थीं और हैं। गीता का उनके अनुमोदन या उनकी यथार्थता से कोई ताल्लुक नहीं है। यह उसका ध्येय हई नहीं। यदि उन प्रसंगों और पूर्वापर विचारों को देखा जाय तो यह बात साफ हो जायगी। गीता के श्लोकार्थ के समय हम भी यह बात साफ दिखायेंगे।

इसके विपरीत गीताधर्म के नाम से जो कुछ हमने कहा है और जिसका उल्लेख सत्रहवें अध्याय में आया है वह गीता की निजी चीज है, अपनी देन है। द्वितीय अध्याय वाले योग को जिस प्रकार हम गीताधर्म मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि वह उसकी खास देन है, ठीक यही बात यहाँ भी है। श्रद्धापूर्वक कर्म करना ही असल चीज है। श्रद्धा से ही कर्मों का रूप निर्णीत हो जाता है। इसीलिए कर्म सोलहों आना व्यक्तिगत चीज है, यह बात भी गीताधर्म है। उस योग की ही तरह यह चीज भी और कहीं पायी नहीं जाती है। इसलिए गीताधर्म और मार्क्सवाद में कोई भी विरोध नहीं है यह जो हमने पहले कहा है वह ज्यों का त्यों बना रह जाता है और इस प्रकार हमारा अपना काम सिद्ध हो जाता है—पूरा हो जाता है। जो चीज या जो विषय—जो सिद्धान्त—अन्यान्य ग्रन्थों और मतवादों में पाया जाय उसे भला गीताधर्म कैसे कहेंगे ? और यही बात कर्मवाद के सम्बन्ध में में भी है। यही कारण है कि हमारे हरेक कामों में पाँच कारणों को गिना के उनमें जो दैव या भाग्य को

भी गिनाया है, ठीक उसी के पूर्व के श्लोक 'पंचैतानि महाबाहो', 'सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि' (13) में साफ ही कहा है कि सांख्यमत या सांख्यसिद्धान्त में ऐसा माना गया है।

फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ बातें जानने की हैं। इससे गीताधर्म के यथार्थ महत्त्व को समझने में आसानी होगी। प्रायः हजारों साल पहले एक अपूर्व प्रतिभाशाली नैयायिक विद्वान उदयनाचार्य हो गये हैं, जिनने ईश्वरवाद और धर्म-कर्म की सिद्धि पर कई अपूर्व ग्रन्थ लिखे हैं। इन्हीं में एक का नाम न्यायकुसुमांजलि है। उसमें एक स्थान पर इसी दैव, प्रारब्ध, अदृष्ट या अपूर्व—दैव को ही अपूर्व तथा अदृष्ट भी कहते हैं—के सम्बन्ध में लिखते हुए लिखा है कि सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति के लिए दो प्रकार के कारण माने जाते हैं, दृष्ट और अदृष्ट। कपड़ा तैयार करने में जिस प्रकार सूत, जुलाहा, करघा वगैरह प्रत्यक्ष या दृष्ट कारण हैं, उसी प्रकार सभी पदार्थों के ऐसे ही कारणों को दृष्ट कारण कहते हैं। मगर इनके अलावा जो दूसरा कारण है और प्रयत्क्ष दीखने वाला नहीं है उसे अदृष्ट कहते हैं। उदयनाचार्य ने कहा है कि यह अदृष्ट कारण कोई स्वतन्त्र या करामाती चीज नहीं है। उसका काम है दृष्ट कारणों को जुटाने में ही सहायक होना—'अदृस्यदृष्ट सम्पादनेनैव चारितार्थ्यात्'। यह अदृष्ट, दैव या प्रारब्ध दूसरा कुछ नहीं करता! यह नहीं होगा कि सूत, जुलाहा, करघा आदि सभी प्रत्यक्ष कारण जुटे हों तो भी अदृष्ट के करते कपड़े के तैयार होने में देर लगेगी।

अब अगर हम इस दार्शनिक विचार पर गौर करते हैं तो कर्मवाद की सारी दिक्कतें दूर हो जाती हैं। ईश्वरवाद के ही सिलसिले में यह बात कही जाने के कारण महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यदि ऐसा न मानें तो बड़ी गड़बड़ होगी और रसोई बनानेवाला चावल, पानी, लकड़ी, आग, चूल्हा, बर्तन वगैरह रसोई के सभी सामानों को जुटाके भी भाग्य का मुँह देखता बैठा रहेगा। फलतः सभी जगह गड़बड़झाला हो जायगा। पाचक महाशय अदृष्ट महाराज की बाट जोहते रहेंगे। मगर उनका दर्शन होगा ही नहीं! और तटस्थ दुनिया कहेगी कि यह कैसी मूर्खता की बात है अदृष्ट का सिद्धान्त! इसमें तो कोई अक्ल मालूम होती ही नहीं। इसीलिए दार्शनिक नैयायिक की हैसियत से उदयनाचार्य ने बहुत ही सुन्दर समाधान करके सारा झमेला ही मिटा दिया। यह भी नहीं कि अदृष्ट का अर्थ केवल पूर्व कर्म, दैव या प्रारब्ध ही हो। अदृष्ट का अर्थ है जो न दीखे—जो प्रत्यक्ष न हो। इसलिए ईश्वर, उसकी इच्छा वगैरह जो भी ऐसे कारण माने जाते हैं सभी इसमें आ गये और सभी का समाधान उदयनाचार्य ने किया है। क्योंकि दलील तो सभी के लिए एक ही है और गड़बड़ भी वही एक ही है।

हाँ, तो इस सिद्धान्त के अनुसार यदि हम देखते हैं तो हमें कोई गड़बड़ नहीं मालूम होती। मजदूरों की लड़ाई के सिलसिले में हड़ताल का मौका आने पर

सारी तैयारी हो गयी और मजदूर लड़ने जा रहे हैं, या लड़ रहे हैं, इस विश्वास के साथ कि विजय होके ही रहेगी। इसी बीच भाग्यवादी और भगवान् का ठेकेदार कोई पादरी, पण्डित या मौलवी आके उन्हें बहकाता है कि कुछ न हो सकेगा, तुम्हारी तकदीर ही खराब है, तुम पर भगवान् ही रंज है। तुम लोग हारोगे जरूर। मिलवाले पर भगवान् खुश जो हैं, उसका भाग्य सुन्दर जो है, उसका करम चन्दन से लिखा जो गया है! बस, सारा मामला बिगड़ता है—उसके बिगड़ने का खतरा हो जाता है। मगर अगर उदयनाचार्यवाली दार्शनिक बात और युक्ति मान लें, तो फिर ऐसी बेहूदा बातों की गुंजाइश ही नहीं रह जाती। उस दशा में इन गुरु-पुरोहितों या मौलवी-पादरियों की बेहूदगी को जगह है कहाँ? हड़ताल की सफलता का सारा बाहरी या दृष्ट सामान जब होई गया तो अब अदृष्ट—भाग्य या भगवान—अलग कहाँ रह गया? यह तो सारी शैतानियत है। अमीरों के दलालों ने यह कुचक्र खुद रचा है जो निराधार और बेबुनियाद है। उन्हें तो उलटे यह कहना चाहिए कि हड़ताल की तैयारी में कोई कसर रहने न दो। बस, भगवान् और भाग्य तुम्हारे साथ हैं और जरूर जीतोगे। यही उचित और कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार है।

और गीता का क्या कहना? वह तो हमारे यत्नों और कोशिशों को ही सब कुछ मानती है। वह अदृष्ट की परवाह न करके काम में मुस्तैदी से जुट जाने पर ही जोर देती है। वह कहती है कि जब सभी सामान मौजूद हैं तो जीत तो होगी ही, कार्यसिद्धि तो होगी ही। फिर आगा-पीछा क्यों? वह तो यहाँ तक कहती है कि जीतने-हारने का क्या सवाल? हमें तो काम करने का ही हक है। हमारे बस की चीज तो यही है। हम फल-वल की फिक्र करके काम से, संघर्ष से क्यों मुड़ें? यह तो नादानी होगी। वह तो पीछे मुड़ने वालों को कहती है कि छिः-छिः क्या मुँह दिखाओगे जब दुश्मन हँसेंगे और लोग गालियाँ देंगे? इस तरह बेइज्जती से जीने की अपेक्षा तो काम करते-करते और लड़ते-लड़ते मर जाना लाख दर्जे अच्छा है। इसमें शान है, प्रतिष्ठा है, इज्जत है। इससे न सिर्फ लड़ने और काम करने वालों का, बल्कि उनके साथियों का भी सिर ऊँचा होता है। फिर और चाहिए ही क्या? इससे बढ़के और हई क्या?

जब अर्जुन इसी आगा-पीछा में अपने कर्तव्य से विमुख हो रहा था, तो कृष्ण ने दूसरे अध्याय से ही शुरू करके अठारहवें तक जानें बीसियों बार उसे ललकारा और कहा कि क्या नाहक मरने-मारने की फिक्र नादानों की तरह कर रहे हो? तैयार हो जाओ, डट जाओ, कमर बाँध लो, दृढ़ संकल्प के साथ लड़ो। यह नामर्दों की-सी बातें क्या कर रहे हो? ये बातें तुम्हारे जैसों के लिए मुनासिब नहीं हैं, जेबा नहीं देती है। जरा सुख-दुःख बर्दाश्त करने की हिम्मत तो करो। इस विश्वास के साथ भिड़ तो जाओ कि जरूर फतह होगी। फिर तो बेड़ापार ही समझो। ये बातें अक्लमन्दी की नहीं हैं जो तुम कर रहे हो। तुम धोखे में पड़ के आगा-पीछा कर रहे हो, खबरदार!

जरा सुनिये,—'धीरस्तत्र न मुह्यति' (2 । 13), 'तांस्तितिक्षस्व' (2 । 14), 'तस्माद्युध्यस्व' (2 । 18), 'उभौ तौ न विजानीतः' (2 । 19), 'कं घातयति हन्ति कम्' (2 । 21), 'नानुशोचितुमर्हसि', 'न शोचितुमर्हसि' (2 । 25-27, 30), 'का परिदेवना' (2 । 28), 'न विकम्पितुमर्हसि' (2 । 31), 'पापमवाप्स्यसि' (2 । 33), 'उत्तिष्ठ युद्धायकृतनिश्चयः' (2 । 37), 'युद्धाय युज्यस्व' (2 । 38), 'कुरु कर्माणि' (2 । 48), 'योगाय युज्यस्व' (2 । 50), 'नियतं कुरु कर्म त्वं' (3 । 8), 'मुक्तसंगः समाचर' (3 । 9), 'कार्य कर्म समाचर' (3 । 19),'कर्त्तुमर्हसि' (3 । 20), 'युध्यस्व विगतज्वरः' (3 । 30), 'कुरु कर्मैव' (4 । 15), 'कृत्वापि न निबध्यते' (4 । 22), 'उत्तिष्ठ भारत' (4 । 22), 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति' (5 । 11), 'कार्यं कर्म करोति' (6 । 1), 'तस्माद्योगी भव' (6 । 46), 'युध्य च' (8 । 7), 'योगयुक्तो भव' (8 । 27), 'तत्कुरुष्वमदर्पणम्' (9 । 27), 'यसो लभस्व' (11 । 33), 'निमित्तमात्रं भव' (11 । 33), 'युध्यस्व' (11 । 34), 'मत्कर्मपरमो भव' (12 । 10), 'न हिनस्त्यात्मनात्मानम्' (13 । 28), 'मा शुचः' (16 । 5), 'कर्म कर्तुमिहार्हसि' (16 । 24), 'कर्म न त्याज्यं' (18 । 3), 'न त्याज्यं कार्यमेव' (18 । 5), 'कर्माणि कर्त्तव्यानि' (1 । 6), 'कर्मणः संन्यासो नोपपद्यते' (18 । 7), 'न हन्ति न निबध्यते' (18 । 17), 'संसद्धिं लभते' (18 । 45), 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' (18 । 46), 'स्वधर्मः श्रेयान्' (18 । 47), 'कर्मकुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्' (18 । 47) 'सहजं कर्म न त्यजेत्' (18 । 48), 'न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि' (18 । 58), 'यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्ये' (18 । 59), 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' (18 । 59), 'करिष्यस्यवशोऽपि तत्' (18 । 60), 'करिष्ये वचनं तव' (18 । 73), इत्यादि। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पचास बार से ज्यादा अर्जुन पर ललकार पड़ी है। शायद ही कोई अध्याय है जिसमें यह बात नहीं आयी है। गीता में कर्म की ललकार ओतप्रोत है—यह कर्म की ललकार गीता की रग-रग में भिनी हुई है और कर्मयोग उसका कारण है।

अर्जुन की मानवीय कमजोरियाँ

यों तो दूसरे अध्याय के 33-36 श्लोकों में, मानव स्वभाव की कमजोरियों को समझ के ही, अर्जुन को खूब ललकारा है कि मुँह में कालिख पुत जायगा, यदि पीछे हटे, लोग धिक्कारेंगे; हटने से तो मरना कहीं बेहतर है; शान की मौत बेइज्जती की गद्दी से लाख दर्जे अच्छी है, आदि आदि 37वें में भी कह दिया है कि तुम्हारे तो दोनों ही हाथों में लड्डू है—हारो तो शान तथा स्वर्ग और जीतो तो राजपाट! इसलिए हर्गिज मुँह न मोड़ो। असल में विवेक और अध्यात्मवाद की अपेक्षा यही बातें मनुष्य को स्वभावतः उत्तेजित करके कर्तव्य पथ में खामख्वाह जुटा देती है। गीता इसे बखूबी जानती है और इस पर जोर भी उसने इसीलिए दिया है। तथापि दूसरे अध्याय के शुरू के दो और तीन श्लोकों में जो कुछ कहा गया है वह इतना सुन्दर है और मार्क्सवाद के साथ गीता को मिलाने में उसका इतना महत्त्व है कि हम उसे लिखे

बिना रह नहीं सकते। वे दोनों श्लोक ये हैं, "कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन।। क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तपः।।"

इन दोनों का अर्थ ऐसा है, "अर्जुन, इस विकट समय में, जब कि सारी तैयारी हो चुकने के बाद भिड़न्त होने ही वाली है, तुममें यह कमजोरी कहाँ से आ गयी? कमजोरी भी ऐसी कि भले लोग जिससे लाख कोस दूर भागें, और जो निहायत मनहूस और अमंगल होने के साथ ही इज्जत को भी मिट्टी में मिला दे। खबरदार, नामर्दी मत दिखाओ। यह चीज तुममें जेबा नहीं देती। इसलिए बहादुर, दिल की इस बेहूदी कमजोरी को छोड़कर तैयार हो जाओ।" मगर इतने से ही काम नहीं चलेगा। इन बातों की खूबी और अहमियत समझने के लिए हमें अर्जुन की उन बातों पर सरसरी नजर दौड़ानी होगी जो उसने इससे पहले कही थीं और जिनके जवाब में यह कहा गया है।

पहले अध्याय के 28-46 श्लोकों को देखने से पता चलता है कि अर्जुन को जैसे धर्म और अक्ल का अजीर्ण हो गया हो। उसका हृदय उस समय दया से दब गया था, यह बात उससे ठीक पहले के 27वें श्लोक के 'कृपया परयाविष्टः' से स्पष्ट है। यही कारण है कि बुद्धि ठीक काम करती थी नहीं। फलतः अक्ल का अजीर्ण मिटाना जरूरी हो गया। जो लोग ऐन कर्तव्य पालन के समय दिल की कमजोरी और नादानी से दयार्द्र हो जाते और रहम करने लगते हैं वह ऐसी ही बेसिर-पैर की बातें करते हैं। 1905 में काले सागर के रूसी जहाजी बेड़े के सिपाहियों को मजबूरन अपने ही अफसरों के विरुद्ध बगावत करनी पड़ी थी। क्योंकि अफसरों ने जानबूझ के ऐसी शैतानियत की और सिपाहियों की स्वतन्त्रता पर ऐसी रोक लगाई कि बर्दाश्त से बाहर थी। बात यह थी कि रूस के किसानों और मजदूरों के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के साथ जहाजी सिपाही (Sailors) सहानुभूति दिखाना चाहते थे। कारण, वह आन्दोलन उनके अपने ही मजलूम भाइयों का था। मगर इसमें अफसरों ने अड़ंगे डाले। फलतः विद्रोह की आग भड़क उठी और सिपाहियों ने सभी अफसरों को चटपट कैद कर लिया! फ़िर तो लेने के देने पड़े! अफसरों की सारी गर्मी ही गायब हो गयी। उनने आरजू मिन्नत की, माफी माँगी, आगे के लिए बाधा न डालने के वादे किये। फिर क्या था? दया में आके सिपाहियों ने उन्हें रिहा कर दिया। बस, मौका मिलते ही बाहर से अपने पक्ष की फौज मँगा के अफसरों ने उन्हीं सिपाहियों का कत्लेआम शुरू कर दिया। ऐसे समय की दया नादानी की पराकाष्ठा होती है और उसका नतीजा इसी तरह भुगतना पड़ता है। लेनिन ने इस दयावाली नादानी का सुन्दर वर्णन सन् 1905 वाली रूसी क्रान्ति के सम्बन्ध के 22/1/1917 वाले ज्यूरिच के भाषण में किया है। महाभारत के समय वही गलती अर्जुन भी ऐन मौके पर करने जा रहा था।

मगर इस ऐन मौके पर पीछे हटने के लिए कोई कारण तो चाहिए ही। दया

की बात तो की जा नहीं सकती थी। जिनने सब कुछ किया और पाण्डव परिवार का सर्वस्व छीनने, उन्हें तंग-तबाह करने, उनकी स्त्री तक को बेइज्जत करने और उन्हें मार डालने तक के लिए जिनने कोई भी दकी का बाकी नहीं रखा, यहाँ तक कि जंगल में भटकने के समय उन्हें चिढ़ाने तथा जले पर नमक छिड़कने के लिए वही राजसी ठाटबाट के साथ दुर्योधन का सारा समाज पहुँच गया था, उन्हीं के साथ दया! ऐसा बोलने की हिम्मत अर्जुन को थी नहीं। इसलिए वह धर्म, पाप, कुलसंहार, वर्णसंकर, नरकवास का भय आदि बातें पेश करने लगा, धर्म एवं नीतिशास्त्र के पन्ने के पन्ने उलटने लगा। उनने यह भी कहा कि यह ठीक है कि विरोधियों को भी ऐसा ही सोचना चाहिए; आखिर अक्ल की ठेकेदारी हमीं को तो नहीं है; एक ही पक्ष के सोचने से दुनिया में काम भी नहीं चला करता। फिर भी उनकी आँखें तो बन्द हैं! वे तो लोभ में पड़े हैं! उन्हें तो लोक-परलोक कुछ सूझता नहीं! लेकिन हमारी तो खुली हैं। हम तो सारा अनर्थ साफ देख रहे हैं। इसलिए हम तो सन्तोष को ही कल्याणकारी मानते हैं। यह भी ठीक है कि हम हटेंगे तो शत्रु लोग हमें बर्बाद करके ही छोड़ेंगे। मगर इससे क्या? हमारा परलोक तो न बर्बाद होगा, स्वर्ग बैकुंठ तो मिलेगा, भगवान् तो खुश होंगे। इसलिए हमें हर्गिज-हर्गिज लड़ना नहीं चाहिए।

ऐसा मालूम होता है कि किसी जमींदार या कारखानेदार के अत्याचारों से ऊबकर हड़ताल या और तरह की सीधी लड़ाई लड़ने को जब किसान और मजदूर पूरी तरह आमादा हैं, ठीक उसी समय कोई धर्मध्वजी, धर्म का ठेकेदार गुरु, पीर, पण्डित, मौलवी या पादरी उन्हें धर्म और भगवान् के नाम पर सिखा रहा है कि कभी संघर्ष और लड़ाई का नाम न लो! राम, राम महापाप होगा। यदि जमींदार-मालदार कष्ट देते हैं, तो बर्दाश्त करो आखिर वे लोग बड़े हैं, मालिक हैं। छोटों के लिए बड़ों की बातें सहने में ही फायदा है! सन्तोष करो, तो भगवान् खुश होगा, परलोक बनेगा। भुलावे में मत पड़ो। वे गलती करते हैं तो करें, मगर उनकी देखा-देखी तुम लोग क्यों नादानी कर रहे हो, आदि-आदि। और दूसरे अध्याय के शुरू के दो श्लोकों में जो कुछ कृष्ण के मुँह से गीता ने कहलवाया है वह तो ऐसा मालूम होता है कि कोई वर्गसंघर्षवादी मार्क्सवादी ऐसे उपदेशकों को और उन किसान-मजदूरों को भी फटकार रहा है जो भूलभुलैया में पड़के आगा-पीछा कर रहे हैं। गीता ने धर्म और पुण्य-पाप आदि की सारी दलीलों का जो उत्तर इन दो श्लोकों में ही खत्म कर दिया है वह निरी भौतिक दृष्टि से ही है। इतना चुभता हुआ, संक्षिप्त और माकूल उत्तर शायद ही मिले। अर्जुन की धर्म-वर्म की बातों की जरा भी परवाह नहीं की गयी है। उनका खयाल ही नहीं किया गया है। सीधे सांसारिक दृष्टि से ही उसे कस के चपत लगाई गयी है और करारी डाँट दी गयी है। इन दो श्लोकों में जो सिर्फ एक शब्द 'अस्वर्ग्य' आया है उससे शायद यह भ्रम हो कि स्वर्ग या परलोक की बात भी इसमें है। मगर संस्कृत में 'अस्वर्ग या अस्वर्ग्य' शब्द मनहूस, अमंगल आदि के ही मानी में आता है। ऐन

लड़ाई के समय इन बातों से बढ़ के मनहूस या अमंगल होई क्या सकता है? इसीलिए हम गीता-धर्म को मार्क्सवाद का साथी पाते हैं।

स्वधर्म और स्वकर्म

इस सिलसिले में हम दो और बातें कहके यह प्रकरण पूरा करेंगे। एक तो है अपने-अपने धर्मों में ही डटे रहने और दूसरे के साथ छेड़खानी न करने की। अपने धर्म को कभी किसी दूसरे धर्म से बुरा या छोटा न मानना और दूसरों के धर्मों पर न तो हाथ बढ़ाना और न उनकी निन्दा करना, यह गीता की एक खास बात है। गीता ने इस पर खास तौर से जोर दिया है। चाहे और जगह भी यह बात भले ही पाई जाती हो; मगर गीता में जिस ढंग से इस पर जोर दिया गया है और जिस प्रकार यह कही गयी है वह चीज और जगह नहीं पाई जाती।

यों तो किसी न किसी रूप में यह बात अन्य अध्यायों एवं स्थानों में भी पाई जाती है। मगर तीसरे अध्याय के 35 वें और अठारहवें के 47-48 श्लोकों में खास तौर से इसका प्रतिपादन है। यहाँ तक कि 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' श्लोक का यह आधा भाग दोनों ही जगह ज्यों का त्यों लिखा गया है। इससे गीता की नजरों में इसकी अहमियत बहुत ज्यादा मालूम पड़ती है। यह भी जान पड़ता है कि इस मामले में जो एक निश्चित दृष्टि तय कर दी गयी है उसी का ज्यों का त्यों पालन करने पर ही गीता का जोर है। वह उसमें जरा भी परिवर्तन बर्दाश्त नहीं कर सकती। नहीं तो उन्हीं शब्दों को हू-ब-हू दोनों जगह दुहराने का और दूसरा मतलब होई क्या सकता है? यह भी नहीं कि वे शब्द साधारण हैं। वही तो गीता के इस मन्तव्य के प्रतिपादक हैं। उनके साथ जो अन्य शब्द या वाक्य पाये जाते हैं उनका काम है इन्हीं की पुष्टि करना—इन्हीं के आशय को स्पष्ट करना।

अब जरा इनका अर्थ देखें। श्लोक का जो आधा भाग ऊपर लिखा गया है उसका आशय यही है कि "दूसरे का धर्म यदि अच्छी तरह पालन भी किया जाय तो भी उसकी अपेक्षा अपना (स्व) धर्म अधूरा या देखने में बुरा होने पर भी कहीं अच्छा होता है।" एक तो गीता ने धर्म और कर्म को एक ही माना है यह बात पहले कही जा चुकी है और आगे भी इस पर विशेष प्रकाश डालेंगे। लेकिन इतना तो इससे साफ हो जाता है कि यह मन्तव्य सभी कामों, क्रियाओं या अमलों के सम्बन्ध में है, न कि धर्म के नाम पर गिनाये गये कुछ पूजा-पाठ, नमाज आदि के ही बारे में। इसका मतलब यह हुआ कि हमें अपने-अपने कामों की ही परवाह करनी चाहिए, फिक्र करनी चाहिए, फिर चाहे वे कितने भी बुरे जँचते हों, भद्दे लगते हों या उनका पूरा होना गैरमुमकिन हो। वे अधूरे भी दूसरों के पूरों से कहीं अच्छे होते हैं। इसलिए दूसरों के अच्छे, सुन्दर और आसानी से पूरे होने वाले कामों पर हमारा खयाल कभी नहीं जाये; हम उन्हें करने और अपनों को छोड़ने की भूल कभी न

करें। क्योंकि इस तरह हम दो कसूर कर डालेंगे। एक तो अपने कर्तव्य से भ्रष्ट होंगे और इस तरह उसकी पाबन्दी के बिना होने वाली खराबियों की जवाबदेही हम पर होगी। दूसरे हम अनधिकार चेष्टा के भी अपराधी होंगे।

दूसरी बात है इसमें अपने या 'स्व' की। स्वकर्म या स्वधर्म का मतलब है जो प्रत्येक आदमी के लिए किसी वजह से भी निर्धारित है, निश्चित है उसके जिम्मे लगाया गया (assigned) है, या जो उसके स्वभाव के अनुकूल होने के कारण ही उस पर लादा गया है, उसके माथे मढ़ा गया है। अठारहवें अध्याय वाले श्लोक में ऊपर लिखे आधे श्लोक के बाद कारण के रूप में लिखा गया है कि "स्वभाव के अनुकूल जो काम हो उसे करने में पाप या बुराई होती नहीं"—'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्' इससे पता चलता है कि स्वकर्म या स्वधर्म का अर्थ है 'स्वाभाविक धर्म या कर्म।' उसके पहले 41-46 तक के छह श्लोकों में चारों वर्णों के धर्मों को गिनाते हुए सबों को 'स्वाभाविकधर्म' ही कहा है। उन श्लोकों में केवल कर्म शब्द ही है और इस 47वें में भी पूर्वार्द्ध में 'धर्म' कहके उत्तरार्द्ध में, जैसा कि अभी दिखाया है, 'कर्म' ही कहा गया है। बाद वाले 48वें में भी 'सहजं कर्म-कौन्तेय' में पुनरपि कर्म शब्द ही आया है। फलतः मानना होगा कि धर्म और कर्म एक ही मानी में बोले गये हैं और इन शब्दों का अर्थ है स्वभावनियत, स्वभाव के अनुकूल या स्वाभाविक काम।

मगर समस्त गीता के आलोड़न करने और अठारहवें अध्याय के आरंभ के ही कुछ वचनों को भी देखने से पता चलता है कि कुछ कर्म ऐसे हैं जिनके बारे में स्वभाव का सवाल होता ही नहीं। वे तो सबों के लिए नियत, स्थिर या तयशुदा हैं। दृष्टान्त के लिए 5-6 दो श्लोकों में यज्ञ, दान, तप के बारे में कहा गया है कि ये सबों के लिए समान रूप से कर्तव्य हैं। इन्हें कोई छोड़ नहीं सकता। बेशक फल और कर्म—दोनों की ही—आसक्ति छोड़ के ही ये किये जाने चाहिए, कृष्ण ने अपना यह पक्का मन्तव्य कहा है। इसके बाद ही 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणः' आदि में कहा है कि नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है। वह तो तामस त्याग है। 9वें श्लोक में भी 'कार्यमित्येव यत्कर्म नियतः' शब्दों के द्वारा नियत कर्म को कर्तव्य समझ के करते हुए फलासक्ति के एवं कर्मासक्ति के त्याग को ही सात्त्विक-त्याग कहा है। इससे स्पष्ट है कि नियत कर्म कहते हैं स्वाभाविक कर्म को और किसी कारणवश स्थिर या निश्चित किये गये (assigned) कर्म को भी। यज्ञ, दान, तप ऐसे की कर्मों में आते हैं। अपने आश्रितों का पालन या रक्षा भी ऐसे ही कर्मों में है। पहरेदार का पहरा देना, अध्यापक का पढ़ाना या सेवक की सेवा भी ऐसी ही है। अनेक धर्म, मजहब या सम्प्रदायों के अनुसार जिसे जो करने को कहा गया है वह भी नियतकर्म या स्वधर्म में आ जाता है। अपनी श्रद्धा और समझ से जो कुछ भी करता है वह तो पक्का-पक्की स्वधर्म है।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो गीता ने धर्म-मजहब के झगड़े और शुद्धि या

तबलीग के सवाल की जड़ को ही खत्म कर दिया है। गीता इन झगड़ों और सवालों को भेड़ों का मूँड़ना ही समझती है। और आदमी को भेड़ बनाना तो कभी उचित नहीं। इसलिए इन झमेलों में पड़ने की मनाही उसने कर दी है। उसने तो अठारहवें अध्याय के 48वें श्लोक में यह भी कह दिया है कि बुराई-भलाई तो सभी जगह और सभी कामों में लगी हुई है। इसलिए कर्मों के सम्बन्ध में अच्छे और बुरे होने की क्या बात? हमारा धर्म अच्छा, तुम्हारा बुरा, यह बात उठती ही कैसे है? सभी बुरे और सभी अच्छे हैं। किसने देखा है कि कौन-से धर्म भगवान् या खुदा तक सीढ़ी लगा देते हैं? इसीलिए तीसरे अध्याय में 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः' आदि आधे श्लोक के बाद कहा है कि "इसलिए स्वधर्म करते-करते मर जाना ही कल्याणकारी है; दूसरे का (पर) धर्म तो भयदायक है।"

इतना ही नहीं। ठीक इस श्लोक के पूर्व वाले 34वें श्लोक में कहा है कि "हरेक इन्द्रियों के जो पदार्थ (विषय) होते हैं उनके साथ रागद्वेष लगे ही होते हैं; उनसे किसी का भी पिण्ड छूटा नहीं होता। इसलिए इन रागद्वेषों से ही बचना चाहिए। असल में चीजें या उनका ताल्लुक ये खुद बुरे नहीं हैं—इनसे किसी की हानि नहीं होती। किन्तु उनमें जो रागद्वेष होते हैं वही सब कुछ करते हैं—वही जहर हैं, घातक है"—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥" इस बात का प्रतिपादन तो पहले बहुत विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि भले बुरे का सवाल उठाके जो किसी धर्म या काम को बुरा और दूसरे को अच्छा कहते हैं और इसीलिए आपस में लोगों के सर भी फूटते हैं, वह तो नादानी है। न कोई भला है न बुरा। भला-बुरा तो अपना मन ही है। यही तो चीजों या कामों में रागद्वेष पैदा करके जहन्नुम पहुँचाता है। इसलिए हमें इस भूल में हर्गिज नहीं पड़ना होगा। गीता का यह कितना सुन्दर मन्त्र है और यदि हम इस पर चलें तो हमारे हक की लड़ाई कितनी जल्दी सफल हो जाय। ऐसा होने पर तो मार्क्सवाद के सामने की भारी चट्टान ही खत्म जो जाय और वर्गसंघर्ष निर्बाध चलने लगे।

योग और मार्क्सवाद

जिन दो बातों को कहके यह प्रकरण पूरा करने की इच्छा हमने जाहिर की थी उनमें स्वधर्मवाली यह एक बात तो हो चुकी है। अब दूसरी को देखना है। गीता के छठे अध्याय के 45वें और सातवें अध्याय के तीसरे एवं 19वें श्लोकों के अनुसार गीतोक्त योग प्रायः अप्राप्य है। लाखों-करोड़ों में शायद ही एकाध आदमी इसमें पूरे उतरते हैं। उक्त 45वें श्लोक में तो कहा है कि "योग की प्राप्ति के लिए यत्न करने वाला मनुष्य जब इसमें सारी शक्ति लगाके पड़े तो उसके भीतर की मैल धुलते-धुलते बहुत जन्म लग जाते हैं तब कहीं वह पूर्ण योगी बनके परमगति प्राप्त करता है"—"प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धिकिल्विषः। अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।"

इसी प्रकार सातवें अध्याय के 19वें श्लोक में भी कहा है कि "बहुत जन्मों में कोशिश करते-करते ज्ञान हासिल होता है, समस्त संसार में वासुदेव बुद्धि या परमात्मज्ञान होता है। उसी के बाद ब्रह्मप्राप्ति होती है। ऐसे महात्मा लोग अत्यन्त अलभ्य हैं।" "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।" मगर तीसरे श्लोक में तो और भी कठिनाई का वर्णन इस मार्ग के सिलसिले में मिलता है। वहाँ तो कहा है कि "हजारों-लाखों में एकाध आदमी ही योगी होने के लिए यत्न करते हैं और ऐसे लाखों में बिरला ही कोई मुझे—परमात्मा को—ठीक-ठीक जान पाता है"—"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।"

यदि इन तीनों वचनों को मिलाके देखें तो पता चलता है कि गीता का योग नियम तो हो सकता है नहीं। यह तो इतना कठिन है कि असम्भवप्राय है। कठोपनिषद् में इसी सम्बन्ध के प्रश्न के उत्तर में यम ने नचिकेता से कहा था कि "नचिकेता, मौत की बात मत पूछो—जीते-जी मर जाने की बात न पूछो"—'नचिकेतो मरणंमाऽनुप्राक्षीः' (1।9।25)। उनने यह भी कह दिया था कि "इस मार्ग पर चलना क्या है छुरे की तीखी धार पर चलना समझो, जो असम्भव जैसी बात है। इसीलिए जानकार लोगों ने कहा है कि यह मार्ग दुर्गम है"—क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति" (1।3।14)। हमने भी योग के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे भी निस्सन्देह यही बात पक्की हो गयी है।

तृतीय अध्याय के 'यस्त्वात्मरतिरेव' श्लोक का बार-बार उल्लेख तो आया है। मगर इस सम्बन्ध में उसे मनन करना चाहिए। चौथे अध्याय के 19-23 श्लोकों को भी गौर से पढ़ना होगा। पाँचवें के 7-21 श्लोक भी इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्व रखते हैं। छठे अध्याय के 7-32 श्लोकों में जितनी बातें कही गयी हैं उनमें भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आठवें के 8-16 श्लोक भी विचारणीय हैं। दूसरे अध्याय के अन्त में जो स्थितप्रज्ञ का, बारहवें के 13-19 श्लोकों में जो भक्त का और चौदहवें के 22-25 श्लोकों में जो गुणातीत का वर्णन है वह हमारी आँखें खोल देता है, ताकि इस चीज की कठिनाई का अनुभव करें। तेरहवें के 27-28 श्लोकों में भी यह बात मिलती है। अन्त में अठारहवें अध्याय के 50-58 श्लोकों में भी यह बात लिखी गयी है। यदि हम इन सभी वचनों का पर्यालोचन और मन्थन करते हैं तो कठोपनिषद्वाली बात अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है और मानना पड़ जाता है कि गीता का योग असम्भव सी चीज है। फलतः वह अपवाद स्वरूप ही हो सकता है न कि मनुष्यों के लिए नियम या सर्व-जन-सम्भव पदार्थ। सभी लोग ऐसी चीज को कम से कम आदर्श बनायें यह भी उचित नहीं। आकाश के चाँद को जो आदर्श बनाये और उसी के पीछे अपने सभी कामों को चौपट करे वह पागल के सिवाय और कुछ नहीं। यह योग ऐसा नहीं कि उसे आदर्श बनाके हम कुछ और भी कर

सकते हैं जब तक वह प्राप्त न हो जाय।

जब इस भौतिक संसार में गीताधर्म—योग—अपवाद ही हो सकता है, न कि नियम, तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सर्वसाधारण के लिए जो चीज साध्य हो और इसीलिए जो हमारे लिए नियम जैसी सार्वजनिक वस्तु हो सके वह क्या है? उत्तर में बेखटके कहा जा सकता है कि वह है मार्क्सवाद। बहुत लोग इस बात को नहीं समझ के ही नाक-भौं सिकोड़ते हैं। हालाँकि हमने धर्म तथा ईश्वर के सम्बन्ध में मार्क्सवाद का जो विश्लेषण किया है उससे लोगों का भ्रम कम से कम उस सम्बन्ध में तो मिट जाना ही चाहिए। मगर वह तो मार्क्सवाद का एक पहलू मात्र है। असल में तो मार्क्सवाद साम्यवाद या वर्गविहीन समाज का निर्माण ही है। मार्क्सवाद का तो यही लक्ष्य माना जाता है कि इस संसार को आनन्दमय, सुखमय, स्वर्ग या बैकुण्ठ जैसा बना दिया जाय; न बीमारियाँ हों और न अकाल-मृत्यु हो, न कोई गरीब हो और न अमीर; सबों को समानरूप से खाने-पीने, पढ़ने-लिखने, कला-कौशल तथा ज्ञान-विज्ञान की सभी सुविधाएँ प्राप्त हों; सबसे ऊँचे दर्जे के आराम का सभी के लिए—मानवमात्र के लिए—पूरा सामान होने पर भी अन्वेषण, विज्ञान, कला आदि के लिए पर्याप्त समय सबको प्राप्त हो; अनावृष्टि, अतिवृष्टि, पाला आदि को निर्मूल कर दिया जाय; प्रकृति के साथ ही संघर्ष करके मौत के ऊपर भी कब्जा कर लिया जाय, आदि-आदि। एक वाक्य में "सर्वे भन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्," पूरी तरह चरितार्थ हो जाय। यह बातें केवल मनोराज्य नहीं हैं। विज्ञान के लिए ये सभी सम्भव हैं। यदि विश्वामित्र की नयी सृष्टि मानी जाती है तो आज भी विज्ञान क्या नहीं कर सकता है? विश्वामित्र ने भी यदि किया होगा तो विज्ञान के ही बल से।

यह ऐसी चीज नहीं है कि मानवमात्र में किसी के भी लिए असाध्य हो। यह भी नहीं कि इसके लिए कोई खास ढंग की या अलौकिक तैयारी चाहिए। मार्क्स ने तो इसका सीधा उपाय वर्गसंघर्ष बताया है। उसी का मार्ग अबाध हो जाने पर यह सभी बातें अपने आप धीरे-धीरे हो जायँगी। रूस ने इसका नमूना पेश भी कर दिया है। वह इस मामले में बहुत कुछ अग्रसर हो गया है। असल में पूँजीवादी राष्ट्रों से घिरे होने के कारण ही—ऐसे राष्ट्रों से जो उसे हजम करने पर तुले बैठे हैं—उसकी प्रगति में वैसी तेजी नहीं आ सकी है। यदि यह बात न होती तो वह देश आज कहाँ का कहाँ जा पहुँचा होता। फिर भी उसने जो कुछ किया है वह भी कम नहीं है।

हमने अनीश्वरवाद के सम्बन्ध में मार्क्सवाद का मत स्पष्ट करी दिया है। मगर थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि वह धर्म-वर्म से नाता तोड़ने को ही कहता है, तो हर्ज क्या है? यदि ऊपर लिखी सभी बातों की सिद्धि के लिए—भूमि पर ही स्वर्ग लाने के लिए—यह करना भी पड़े और ईश्वर को भी विदाई देनी हो तो क्या बुरा है? मामूली जमीन-जायदाद, रुपये-पैसे और कारबार के लिए भी तो रोज

ही धर्म और ईश्वर को धकियाते ही हैं, गर्दनियाँ देते ही हैं। कचहरियों में, सर्वेसेट्लमेण्ट के समय और खरीद-बिक्री में तो रोज ही सालिग्राम, गंगा, तुलसी, वेद, कुरान, बाइबिल उठाके झूठी कसमें खाते ही हैं। क्या इतने पर भी धर्म और ईश्वर रही गये? फाटका और सट्टेबाजी में तो कोई भी जाल-फरेब बच पाता नहीं और आजकल का व्यापार तो केवल जुआ ही है। फिर भी क्या हम लोगों ने धर्म और ईश्वर को भूमण्डल में कहीं भी रख छोड़ा है? यदि इतने पर भी हमने कोई ऐसा कहने की धृष्टता करे कि वह धर्मवादी और ईश्वरवादी है तो यह पहले दर्जे का धोखा है, आत्मप्रवंचना और लोकवंचन है।

फिर हम साफ ही क्यों न कह दें कि हम धर्म-वर्म नहीं मानते? इसमें ईमानदारी तो है। उसमें तो यह भी नहीं है। इसका परिणाम भी सुन्दर होगा। हम धर्म के ठेकेदारों से बाल-बाल—साफ-साफ—बच जायँगे और अपने हक की लड़ाई बेखटके अच्छी तरह चला के श्रेणी-विहीन समाज जल्द से जल्द स्थापित कर सकेंगे। धर्म मानने की दशा में तो दुविधे में—रमखुदैया में—रह जाने के कारण कोई काम ठीक-ठीक कर पाते नहीं। न इधर के रह जाते हैं और न उधर के। परिणाम बहुत ही बुरा होता है। इसमें यह बात न होगी। कोई रुकावट तो होगी ही नहीं। मालदार-जमींदारों का अन्तिम ब्रह्मास्त्र तो यही है और जब यही न रहा, तो उनकी तो कमर ही टूट जायगी और जल्दी ही धड़ाम से गिर पड़ेंगे। इसलिए हमारी—शोषितों एवं पीड़ितों की—जीत शीघ्र ही होगी और अवश्य होगी। धर्म और ईश्वर के नाम पर जो स्वर्ग, बैकुण्ठ या बिहिश्त मिलने वाला बताया जाता है वह एक तो अनिश्चित है। दूसरे उसका आँखों देखा प्रमाण तो है नहीं। तीसरे वह मिलेगा भी तो मरने के बाद। मगर इसका फल तो यहीं पर प्रत्यक्ष स्वर्ग और बैकुण्ठ है। इससे तो यहीं पर आनन्द-समुद्र में गोते लगाना है।

इतना ही नहीं। जब ज्ञान-विज्ञान का मार्ग उन्मुक्त हो जायगा और सभी को इसका पूरा अवसर प्राप्त होगा, सारी सुविधाएँ सुलभ होंगी, तो यह भी हो सकता है कि हम उसी विज्ञान के जरिये धर्म और ईश्वर को भी ढूँढ़ निकालें। आखिर विज्ञान और साइंस का तो यही काम ही है न, कि सत्य का पता लगाये? वह तो असत्य का शत्रु और सत्य का साथी है। उसका तो एक ही काम है कि सत्य का पता चाहे जैसे हो लगाये। और अगर ईश्वर, धर्म और परलोक सत्य हैं, अबाध्य हैं, अखण्डनीय हैं, जैसा कि धर्मवादी लोग दावा करते हैं, तब तो उन्हें और भी घबराना नहीं चाहिए। साँच को आँच क्या? तब तो विज्ञान ईश्वर वगैरह को जरूर ढूँढ़ लायेगा। जैसे बादलों में छिपा सूर्य कुछी देर के बाद बाहर आ जाता है और उसकी चमक-दमक और भी तेज मालूम होती है, वही बात धर्म और ईश्वर के बारे में भी होगी। इस दरम्यान कुछ समय के लिए छिपे रहने के कारण वे और भी सर्वजनप्रिय हो जायँगे। तब तो हम उनकी कद्र और भी ज्यादा करेंगे।

अभी तो ऐसा नहीं होता है। अभी तो हम उन्हें आधे मन से सिर्फ दिखाने के लिए ढोंग की तौर पर ही मानते हैं। हमारा मतलब है आम लोगों से ही। इसीलिए, जैसा कि कहा है, भौतिक स्वार्थों के सामने उन्हें ताक पर रख भी देते हैं। मगर तब तो यह बात न होगी। तब तो पूरी तौर से मानेंगे और कचहरियों या सट्टों का सवाल तब होगा ही नहीं और न रोजगार-व्यापार वाले ही होंगे कि झूठी कसमें खाने और जाल-फरेब की जरूरत पड़े। इसलिए तो धर्मवादियों को मार्क्सवाद का कृतज्ञ होना चाहिए, यदि वे ईमानदारी से धर्म तथा ईश्वर को मानते हैं, कि वह उनका रास्ता निष्कंटक और निर्बाध बना देता है। यदि थोड़ी देर के धर्मत्याग से—यदि कुछ समय तक इस त्यागरूपी घोर तप के प्रताप से—धर्म और भगवान् का मार्ग सदा के लिए निरुपद्रव हो जाय तो हमें खुशी-खुशी इस त्याग को अपनाना चाहिए। आखिर बिना त्याग के तो कुछ होता-जाता नहीं।

लेकिन यदि धर्म और ईश्वर सत्य नहीं हैं तब तो विज्ञान उनका पता नहीं ही लगा पायेगा, यह बात पक्की है और जो विज्ञान की कसौटी पर खरा न उतरे वह तो जरूर ही नकली होगा। फिर हमें उसकी चिन्ता ही क्यों हो? हमें तो उलटे इसमें खुशी होनी चाहिए कि मिथ्या चीजों से पिण्ड छूटा। तब तो हमें मार्क्सवाद का कृतज्ञ भी होना चाहिए कि उसने सत्य का पता लगाया और धर्म या ईश्वर जैसी मिथ्या चीजों से हमारा पिण्ड छुड़ाया। आखिर मिथ्याचार और मिथ्या पदार्थों से चिपटे रहना तो कोई बुद्धिमानी है नहीं। यह तो किसी भी भलेमानस का काम नहीं है और हम—धर्मवादी—लोग यह तो दावा करते ही हैं कि हम भले लोग हैं। फिर तो हृदय से धर्मवादी खुश ही होंगे कि चलो अच्छा ही हुआ और मिथ्या पदार्थों से पिण्ड छूटा। ईमानदारी का तकाजा तो यही है।

इस प्रकार इस लम्बे विवेचन ने यह साफ कर दिया कि गीताधर्म और मार्क्सवाद का कहीं भी विरोध नहीं है। वे अनेक मौलिक बातों में एक दूसरे के निकट पहुँच जाते हैं—मिल जाते हैं। बल्कि यों कहिए कि कई बुनियादी बातों में गीताधर्म मार्क्सवाद का पूर्णतया पोषक है। इतना कहने में तो किसी को भी आनाकानी नहीं होनी चाहिए कि मार्क्सवाद को गीता से कोई आँच नहीं है—कोई भय नहीं है। मार्क्सवाद से गीताधर्म के डरने या उसे आँच लगने का प्रश्न तो उठी नहीं सकता। ऐसा प्रश्न उठाना ही तो गीताधर्म को नीचे गिराना और उसके महत्त्व को कम करना है। वह तो इतनी मजबूत नींव पर खड़ा है, उसकी बुनियाद तो इतनी पक्की है कि वह सदा निर्भय है। उसे किसी से भी भय नहीं है। वह इतना ऊँचा है कि उस तक कोई दुश्मन पहुँच नहीं सकता है। असल में उसका शत्रु कोई हई नहीं। गीताधर्म का तो निष्कर्ष ही है 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' (14। 25), 'समः शत्रौ च मित्रे च' (12। 18) आदि-आदि।

3. गीता की शेष बातें

गीता की प्रमुख बातें और मुख्य मन्तव्यों के विवेचन के सिलसिले में ही हमने जो 'गीता का धर्म और मार्क्सवाद' का स्वतन्त्र रूप से विचार किया है उसका कारण तो बताई चुके हैं। उस लम्बे विवेचन से भी उसके स्वतन्त्र निरूपण की आवश्यकता का पता लोगों को लग जाता है। अतएव हमें फिर उसी साधारण मार्ग पर आ जाना और गीता की बची-बचाई प्रमुख बातों पर कुछ विशेष प्रकाश डाल देना है। बेशक, अब जिन बातों का विवेचन हम करेंगे वह भी अहमियत तथा महत्त्व रखती हैं और गीता में उनका भी अपना स्थान है। मगर यह ठीक है कि उन्हें वैसी महत्ता मिल नहीं सकती जो अब तक कही गयी गीताधर्म की बातों को मिली है। आगे वाली बातों में भी कुछ मौलिक जरूर हैं। मगर उनका जिक्र किसी न किसी रूप में पहले आ चुका है। फलतः यहाँ उनका कुछ विस्तार मात्र कर दिया है। हाँ, जो नयी हैं उनकी विशेषता यही है कि गीता ने उन्हें नये ढंग से रखा है और इस तरह उन पर अपनी मुहर लगा दी है।

गीता में ईश्वर

सबसे पहली बात आती है ईश्वर की। गीता में ईश्वर का नाम और उसकी चर्चा बहुत आयी है, इसमें शक नहीं है। मगर यह चर्चा कुछ निराले ढंग की है। अठारहवें अध्याय के 'ईश्वरः सर्वभूतानां' (61) श्लोक में ईश्वर शब्द से ही उसका उल्लेख आया है। जितना स्पष्ट वहाँ लिखा गया है उतना और कहीं नहीं। और जगह दूसरे-दूसरे शब्दों के द्वारा उसका उल्लेख होने से वह सफाई नहीं है। एक बात और भी है। तेरहवें अध्याय के 'समं पश्यन्हि सर्वत्र' (28) में भी ईश्वर शब्द आया है। उससे पहले के 27वें श्लोक में परमेश्वर शब्द भी आया है। मगर उसमें वह सफाई नहीं है जो अठारहवें अध्याय के उस ईश्वर शब्द में है। वहाँ तो कुछ ऐसा मालूम होता है कि सबों से अलग और सबों के ऊपर कोई पदार्थ है जिसे ईश्वर कहते हैं और उसकी शरण जाने से ही उद्धार होगा। इस प्रकार जैसा आमतौर से ईश्वर के बारे में खयाल है, ठीक उसी रूप में वहाँ आया मालूम होता है। मगर यहाँ जो ईश्वर

और परमेश्वर है वह उस रूप में उसे बताता मालूम नहीं पड़ता है। 'प्रकृतिं पुरुषं चैव' इस 19वें श्लोक से ही शुरू करके यदि देखा जाय तो देह और जीव या प्रकृति और पुरुष का ही वर्णन इस प्रसंग में है। उन्हीं को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भी पहले तथा इस प्रसंग में भी कहा है। फिर 22वें श्लोक में तो साफ ही कहा है कि इसी पुरुष को पर, परमात्मा, महेश्वर आदि भी कहते हैं जो इसी देह में मौजूद है। आगे चलके 26वें में उसे ही क्षेत्रज्ञ कहके 27-28 में परमेश्वर और ईश्वर कहा है। इसलिए वह सफाई यहाँ है कहाँ? यहाँ तो जीव और ईश्वर एक ही प्रतीत होते हैं। 31वें श्लोक में भी 'परमात्माऽयमव्ययः' शब्दों के द्वारा इसी पुरुष को ही अविनाशी परमात्मा कह दिया है।

बेशक पन्द्रहवें अध्याय के 17-18 श्लोकों में परमात्मा, उत्तम पुरुष, पुरुषोत्तम तथा ईश्वर शब्दों से ऐसे ही ईश्वर का उल्लेख आया है जो प्रकृति एवं पुरुष के ऊपर—दोनों से निराला और उत्तम—बताया गया है। लेकिन यहाँ वाला ईश्वर शब्द मुख्य नहीं है, ऐसा लगता है। चौदहवें अध्याय के 19वें श्लोक में पर शब्द आया है। उसी के साथ 'मद्भाव' शब्द है। 26 और 27 श्लोकों में 'माँ' या 'अस्मत्' शब्द है। इससे पता लगता है कि पर शब्द भी परमात्मा का वाचक है। मगर वह जीवात्मा से अलग यहाँ प्रतीत नहीं होता। हाँ, सोलहवें अध्याय के 'असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्' (8) में जो अनीश्वर शब्द के भीतर ईश्वर है वह उसी ईश्वर का वाचक है, यद्यपि सफाई में कुछ कमी है। आगे चौदहवें श्लोक का ईश्वर शब्द तो मालिक या शासक के ही अर्थ में आया है। हाँ, 18, 19, 20 श्लोकों में जो 'अहं' और 'माँ' शब्द आये हैं वह जरूर ईश्वर के मानी में हैं। सत्रहवें अध्याय के छठे श्लोक में 'माँ' शब्द स्पष्ट ईश्वर के अर्थ में नहीं है। किन्तु जीवाभिन्न ईश्वर ही उसका आशय मालूम पड़ता है। बेशक, 27वें श्लोक में जो 'तदर्थीय' शब्द है उसका 'तत्' शब्द ईश्वरवाचक है। लेकिन वह व्यापक अर्थ में ही आया है।

अठारहवें अध्याय के 46वें श्लोक में 'तं' शब्द ईश्वर के ही मानी में आया है, चाहे स्पष्टता उतनी भले ही न हो। उससे पहले के 43वें श्लोक का ईश्वर शब्द शासक के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 50-58 श्लोकों में ब्रह्म और अस्मत् शब्द बार-बार आये हैं और ईश्वरार्थक हैं। यही बात 65-66 श्लोकों के 'अहं', 'मत्' आदि शब्दों की है। इस पर आगे विशेष बातें लिखी जायँगी। 68वें श्लोक में भी यही बात है। ग्यारहवें अध्याय के 5-55 श्लोकों में 'अहं', 'माम्', 'मत्', 'मे', 'मम्', 'ऐश्वरम्' आदि शब्द ईश्वरवाची ही हैं। दसवें के 2-42 श्लोकों में भी बार-बार 'अहं' शब्द 'परमात्मावाची' ही है। यही हालत नवें अध्याय की भी है। सातवें के 29-30 श्लोक में और आठवें के शुरू के चार श्लोकों में भी ब्रह्म, अधियज्ञ आदि शब्द ईश्वर के ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। आगे के 'अक्षर' शब्द का भी यही मतलब है। अव्यक्त, परपुरुष आदि शब्द भी इसी मानी में आये हैं। यहाँ 'अस्मत्' शब्द

के जितने रूप हैं सभी ईश्वर के ही अर्थ में हैं। सातवें अध्याय के 'वासुदेव' तथा 'अनुत्तमागति' ईश्वरार्थ कही हैं। वहाँ 'माम्', 'अहम्' आदि बार-बार आने वाले शब्द भी उसी मानी में आये हैं। छठे अध्याय की भी यही बात है। पाँचवें के 10वें श्लोक का 'ब्रह्म' शब्द और 29वें श्लोक में 'महेश्वर' शब्द निस्सन्देह ईश्वरवाचक हैं। 'अहं' या 'मां' आदि शब्द भी वैसे ही हैं। चौथे अध्याय के पहले श्लोक का 'अहं' शब्द ईश्वरार्थक है। मगर तीसरे के 'मया' और 'मे' कृष्ण के ही अर्थ में आये हैं। छठे के 'अज' एवं 'ईश्वर' शब्द ईश्वर के अर्थ में आये हैं। फिर 14 श्लोक तक 'अस्मत्' शब्द का प्रयोग भी उसी मानी में है। 23वें का यज्ञ शब्द व्यापक अर्थ में ईश्वर को भी कहता है। उसके बाद का ब्रह्म शब्द परमात्मा का ही वाचक है। 31वें में भी ब्रह्म का वही अर्थ है। 35वें का 'मयि' शब्द ईश्वरार्थ है।

तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में 'मया' शब्द ईश्वर के ही अर्थ में आया है। दसवें का प्रजापति ईश्वर ही है और पन्द्रहवें का अक्षर भी वही है। 30वें में 'मयि' शब्द ईश्वर को ही कहता है। मगर 31-32 में जो 'मे' शब्द है वह कृष्ण का वाचक है। जिस प्रकार अठारहवें अध्याय में अत्यन्त सफाई के साथ ईश्वर का जिक्र अन्त में आया है, ठीक उसके उलटा दूसरे अध्याय में उसकी चर्चा तक कहीं हुई नहीं! वह वहाँ कतई बेदखल कर दिया गया है! वहाँ तो आत्मा ही परमात्मा बना बैठा है। इस प्रकार स्पष्ट रूप में तो बहुत ही कम, लेकिन अस्पष्ट रूप में ईश्वर का उल्लेख गीता में पद-पद पर पाया जाता है।

इस तरह मालूम हो गया है कि गीता में ईश्वर की किसी न किसी रूप में सैकड़ों बार से ज्यादा चर्चा आयी है। मगर असली रूप में हम उसे केवल अठारहवें अध्याय के 61वें श्लोक में ही साफ-साफ पाते हैं। कृष्ण ने खुद जो 'मैं' और 'मेरा' आदि के रूप में सैकड़ों बार कहा है उसमें कुछी बार अपने लिए—साकार वसुदेवपुत्र के लिए—कहा है। मगर आमतौर से अपने ईश्वरीय स्वरूप को ही लक्ष्य करके बोल गये हैं। यदि पूर्वापर का विचार करके देखा जाय या शरीरी कृष्ण में वे बातें लागू होई नहीं सकती हैं, जिनका उल्लेख उनने ऊपर बताये स्थानों में जानें कितनी बार किया है। जब चौथे अध्याय के शुरू में ही उनने कहा है कि मैंने यह योग पहले विवस्वान् को बताया था और विवस्वान् ने मनु को, तो यह बात शरीरी कृष्ण में कथमपि लागू हो सकती है नहीं। उसी के आगे जब अवतार की बात के प्रसंग में कहा है कि मैं समय-समय पर पैदा हो जाता हूँ, तो यह भी शरीरधारी के लिए सम्भव नहीं। कोई नहीं मानता कि कृष्ण बार-बार जन्म लेते हैं। यों तो हर मनुष्य भी बार-बार जन्मता ही है। मगर उसे अवतार नहीं कहते। चातुर्वर्ण्य की रचना भी कृष्ण के शरीर से नहीं होती। हालाँकि उनने कहा है कि मैं ही चातुर्वर्ण्य बनाता हूँ। सातवें अध्याय में अपने को अधियज्ञ कहा है। यह भी ईश्वर के ही लिए सम्भव है, न कि शरीर वाले के लिए। अधियज्ञ का आशय आगे मालूम होगा। इसी प्रकार प्रत्येक प्रसंग

के देखने से पता चलता है कि आत्मज्ञान के बल से कृष्ण अपनी आत्मा को परमात्मस्वरूप ही अनुभव करते थे और वैसा ही बोलते भी थे। वह उपदेश के समय आत्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य मानते हुए ही बातें करते थे। मालूम होता है, जरा भी नीचे नहीं उतरते थे! उसी ऊँचाई पर बराबर कायम रहते थे। इसीलिए तो इन उपदेशों में अपूर्व आकर्षणशक्ति और मोहनी है। बृहदारण्यक उपनिषद् में वामदेव के इसी प्रकार के अनुभव का उल्लेख आया है। वहाँ लिखा है कि "तद्वैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति" (1।4।10)।

इसका अर्थ यह है कि "वामदेव ऋषि को जब अपनी ब्रह्मरूपता का साक्षात्कार हो गया तो उनने कहा कि ऐं, हमीं तो मनु, सूर्य आदि बने! आज भी जिसे ठीक वैसा ही अनुभव अपनी ब्रह्मरूपता का हो जाय वह भी यही मानता है कि वही यह सारा संसार बन गया है।" संसार तो ईश्वर का ही रूप माना जाता है। गीता में तो इसकी घोषणा है। इसलिए जो अपने को ब्रह्मरूप ही मानने लगेगा वह तो यह समझेगा ही कि सारी दुनिया उसी का रूप है। कृष्ण का अनुभव ऐसा ही था। इसीलिए सातवें अध्याय के 3-12 श्लोकों में, नवें के 16-19 श्लोकों में और दसवें के प्रायः सभी श्लोकों में विभूति के रूप में उनने सबको अपना ही रूप बताया है। ग्यारहवें अध्याय में अपने आपको ही उनने कालरूपी कहा है। फलतः गीता के अहम् और मम आदि शब्दों को देख के जो ऐसा मानते हैं कि सगुण ईश्वर का वर्णन गीता में है वह भूलते हैं। अठारहवें अध्याय के 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं' (66) इत्यादि पूरे श्लोक में भी निर्गुण तथा निराकार से ही मतलब है, न कि साकार से। क्योंकि यदि कृष्ण का अभिप्राय अपने साकार रूप से होता तो सिर्फ 'मेरी ही शरण जाओ'—'मामेकं शरणं व्रज' की जगह वह कह देते कि मेरी ही शरण आओ—'मामेकं शरणमाव्रज'। 'व्रज' का अर्थ है जाओ और आव्रज का अर्थ है आओ। जब वह सामने ही मौजूद थे तो जाओ कहना ठीक न था। जाओ तो परोक्ष या दूरवर्ती पदार्थ के ही लिए कहा जा सकता है। 'मामेकं शरणं चेहि' कह देने से श्लोक भी ठीक रहता। 'एहि' का अर्थ है आना। या कुछ दूसरा ही पद कह देते जिसका अर्थ आओ होता। इस पर ज्यादा विचार आगे मिलेगा।

ईश्वर हृदयग्राह्य

हमें यहाँ ईश्वर के सम्बन्ध की एक खास बात की ओर ध्यान देना है। वह यह है कि गीता के मत से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने का एक ही परिणाम होता है कि हमारा आचरण प्रशंसनीय और लोकहितकारी हो जाता है। इसीलिए गीता ने ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति की तरफ उतना ध्यान नहीं दिया है, जितना हमारे आचरण की ओर। इस सम्बन्ध में ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात कहने के पहले हम एक बात कहना

चाहते हैं। उसकी ओर ध्यान जाना जरूरी है। ईश्वर के बारे में तेरहवें अध्याय में कहा है कि "वह ज्ञान है, ज्ञेय—ज्ञान का विषय—है, ज्ञान के द्वारा अनुभवनीय है और सबों के हृदय में बसता है"—"ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्" (17)। अठारहवें अध्याय के 61वें श्लोक में तो यह कहने के साथ ही और भी बात कही गयी है। वहाँ तो कहते हैं कि "अर्जुन, ईश्वर तो सभी प्राणियों के हृदय में ही रहता है और अपनी माया (शक्ति) से लोगों को ऐसे ही घुमाता रहता है जैसे यन्त्र (चर्खी आदि) पर चढ़े लोगों को यन्त्र का चलाने वाला—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढाणि मायया"।।

यहाँ दो बातें विचारणीय हैं। पहली है हृदय में रहने की। यह कहना कि हृदय ईश्वर का घर है, कुछ ठीक नहीं जँचता है। वह जब सर्वत्र है, व्यापक है, तो हृदय में भी रहता ही है, फिर इस कथन के मानी क्या? यदि कहा जाय कि हृदय में विशेष रूप से रहता है, तो भी सवाल होता है कि विशेष रूप से रहने का क्या अर्थ? यह तो कही नहीं सकते कि वहाँ ज्यादा रहता है और बाकी जगह कम। यह भी नहीं कि जैसे यन्त्र का चलाने वाला बीच में बैठ के चलाता है तैसे ही ईश्वर भी बीच की जगह—हृदय—में बैठ के सबों को चलाता है। यदि इसका अर्थ यह हो कि हृदय के बल से ही चलाता है तो यह कैसे होगा? जिस यन्त्र के बल से चलाते हैं उसका चलानेवाला उससे तो अलग ही रहता है। मोटर या जहाज वगैरह के चलाने और घुमाने-फिरानेवाले यन्त्र से अलग ही रह के ड्राइवर वगैरह उन्हें चलाते-घुमाते हैं। हृदय में बैठ के घुमाना कुछ जँचता भी नहीं, यदि इसका मतलब व्यावहारिक घुमाने-फिराने जैसा ही हो।

इसीलिए मानना पड़ता है कि हृदय में रहने का अर्थ है कि वह हृदय-ग्राह्य है। सरस और श्रद्धालु हृदय ही उसे ठीक-ठीक पकड़ सकता है। दिमाग या बुद्धि की शक्ति हई नहीं कि उसे पकड़ सके या अपने कब्जे में कर सके। ईश्वर या ब्रह्म तर्क-दलील से जाना नहीं जा सकता, यह बात छान्दोग्योपनिषद् में भी उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कही है। वहाँ कहा है कि अक्ल बघारना और बाल की खाल खींचना छोड़ के श्रद्धा करो ऐ मेरे प्यारे,—'श्रद्धत्स्व सोम्य' (6।12।3)। और यह श्रद्धा हृदय की चीज है। यह पहले ही कहा जा चुका है। इसलिए गीता के मत से ईश्वर हृदयग्राह्य है। फलतः जो सहृदय नहीं वह ईश्वर को जान नहीं सकता।

हृदय की शक्ति

अब दूसरी बात रही लोगों के चलाने की। सो भी ठीक ही है। जिस हृदय ने भगवान् को जान लिया, पकड़ लिया, कब्जे में कर लिया वह दुनिया को चाहे जिस ओर घुमा सकता है। नरसी, नामदेव, सूर, तुलसी आदि भक्तजनों की बातें ऐसी ही कही जाती हैं। बताया जाता है कि भीष्म ने कहा कि "आज मैं हरिसों अस्त्र गहाऊँ।"

उनने अपने प्रेम के बल से अपनी प्रतिज्ञा रख ली थी और कृष्ण की तुड़वा दी थी। सूरदास ने कहा था कि "हिरदयसे जौं जाहुगे बली बखानौ तोहिं"। रामकृष्ण ने विवेकानन्द जैसे नास्तिक को एक शब्द में आस्तिक बना दिया। वह सच्चे हृदय की ही शक्ति थी जिसने भगवान् को पकड़ लिया था। इसीलिए जिसने शुद्ध हृदय से श्रद्धा के साथ भगवान् को अपना लिया है वह दुनिया को इधर से उधर कर सकता है।

गीता के इस कथन में एक बड़ी खूबी है। संसार के लोगों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। या यों कहिये कि पहले दो भाग करके फिर एक भाग के दो भाग कर देने पर तीन भाग हो जाते हैं। आस्तिक और नास्तिक यही पहले दो भाग हैं। फिर आस्तिक के दो भाग हो जाते हैं—साकार ईश्वरवादी और निराकारवादी। इस प्रकार साकारवादी, निराकारवादी और निरीश्वरवादी ये तीन भाग हो गये। हमने देखा है कि ये तीनों ही आपस में तर्क-दलीलें करते और लड़ते रहते हैं। यह झमेला इतना बड़ा और इतना पुराना है कि कुछ कहिये मत। जब से लोगों को समझ हुई तभी से ये तीनों मतवाद चल पड़े। इन पर सैकड़ों पोथे लिखे जा चुके हैं।

मगर गीता इन तीनों पर तरस खाती और हँसती है। उसने जो ईश्वर को हृदय की चीज बना के बुद्धि के दायरे से उसे अलग कर दिया है, उसके चलते ये सभी झगड़े बेकार मालूम होते हैं और गीता की नजरों में ये झगड़ने वाले सिर्फ भटके हुए सिद्ध हो जाते हैं। इन झगड़ों की गुंजाइश तो बुद्धि के ही क्षेत्र में है न? इसीलिए जहाँ हृदय आया कि इन्हें बेदखल कर देता है, कान पकड़ के हटा देता है। क्यों? इसीलिए कि यदि ईश्वर है तो वह तो यह नहीं देखने जाता है कि किसके ऊपर आस्तिक या नास्तिक की छाप (label) लगी है, या साकारवादी और निराकारवादी की छाप। वह तो हृदय को देखता है। वह यही देखता है कि उसे सच्चाई से ठीक-ठीक याद कौन करता है।

आस्तिक-नास्तिक का भेद

जब इस प्रकार देखते हैं तो पता लगता है कि साकारवादी और निराकारवादी तो याद करते ही हैं। मगर निरीश्वरवादी भी उनसे कम ईश्वर को याद नहीं करते! यदि भक्ति का अर्थ यह याद ही है तो फिर नास्तिक भी क्यों न भक्त माने जायँ? बेशक, प्रेमी याद करता है और खूब ही याद करता है, यदि सच्चा प्रेमी है। मगर पक्का शत्रु तो उससे भी ज्यादा याद करता है। प्रेमी तो शायद नींद की दशा में ऐसा न भी करे। मगर शत्रु तो अपने शत्रु के सपने देखा करता है, बशर्ते कि सच्चा और पक्का शत्रु हो। इसीलिए मानना ही होगा कि ईश्वर का सच्चा शत्रु भक्तों से नीचे दर्जे का हो नहीं सकता, यदि ऊँचे दर्जे का न भी माना जाय। पहले जो कहा है कि धर्म तो व्यक्तिगत और अपने समझ के ही अनुसार ईमानदारी से करने की चीज

है, उससे भी यही बात सिद्ध हो जाती है। यदि हमें ईमानदारी से यही प्रतीत हो कि ईश्वर हई नहीं और हम तदनुसार ही अमल करें तो फिर पतन की गुंजाइश रही कहाँ जाती है?

इसीलिए प्रौढ़ नैयायिक उदयनाचार्य ने ईश्वर-सिद्धि के ही लिए बनाये अपने ग्रन्थ 'न्यायकुसुमांजलि' को पूरा करके उपसंहार में यही लिखा है कि वे साफ ही सच्चे और ईमानदार नास्तिकों के लिए ही वही स्थान चाहते हैं जो सच्चे आस्तिकों को मिले। उनने प्रार्थना के रूप में अपने भगवान् से यही बात बहुत सुन्दर ढंग से यों कही है—"इत्येवं श्रुतिनीति संप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते; येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः। किन्तु प्रस्तुतविप्रतीप विधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः; काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः।" इसका आशय यही है कि "कृपासागर, इस प्रकार वेद, न्याय, तर्क आदि के रूप में हमने झरने का जल इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है और उससे उन नास्तिकों के मलिन हृदयों को अच्छी तरह धो दिया भी है, ताकि वे आपके निवास योग्य बन जायँ। लेकिन यदि इतने पर भी आपको वहाँ स्थान न मिले, तो हम यही कहेंगे कि वे हृदय इस्पात या वज्र के हैं। लेकिन यह याद रहे कि प्रचंड शत्रु के रूप में वे भी तो आपको पूरी तौर से आखिर याद करते ही हैं। इसलिए उचित तो यही है कि समय आने पर आप उन्हें भी भक्तों की ही तरह संतुष्ट करें।" कितना ऊँचा खयाल है! कितनी ऊँची भावना है! गीता इसी खयाल और इसी भावना का प्रसार चाहती है।

दैव तथा आसुर सम्पत्ति

अच्छा, अब जरा ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने का परिणाम क्या होता है, क्या होना चाहिए, इस पर भी गीता की दृष्टि देखें। गीता के सोलहवें अध्याय के शुरूवाले छह श्लोकों में दैवी तथा आसुरी सम्पत्तियों का संक्षेप में वर्णन कर दिया है। इन दोनों का तात्पर्य मनुष्य के ऐसे गुणों और आचरणों से है जिनसे समाज का हिताहित, भला-बुरा होता है। कल्याणकारी और मंगलमय गुणों एवं आचरणों को दैवी सम्पत्ति और विपरीतों को आसुरी सम्पत्ति कहा है। पाँचवें श्लोक में यही बात साफ कह दी है कि दैवी सम्पत्ति मुक्तिसम्पादक और कल्याणकारी है, जब कि आसुरी सभी बन्धनों और संकटों को पैदा करती है। साथ ही यह भी कहा है कि अर्जुन के लिए चिन्ता की तो कोई बात हई नहीं। क्योंकि वह तो दैवी सम्पत्तिवाला है। इसके बाद छठे श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहा है कि अब तक तो दैव सम्पत्ति का ही विस्तृत विवेचन किया गया है। मगर आसुरी तो छूटी ही है। इसलिए उसे भी जरा खोल के बता दें तो ठीक हो। फिर सातवें से लेकर अध्याय के अन्त तक के शेष 18 श्लोकों में यही बात लिखी गयी है। बेशक, अन्त के 22-24 श्लोकों में निषेध के रूप में ही यह बात कही गयी है। शेष श्लोकों में साफ-साफ निरूपण ही है।

यहाँ जो यह कहा गया है कि अब तक तो विस्तार के साथ दैव सम्पत्ति का ही वर्णन आया है, उससे साफ हो जाता है कि गीता के शुरू से लेकर सोलहवें अध्याय के कुछ श्लोकों तक मुख्यतः वही बात कही गयी है। यह तो निर्विवाद है कि पहले अध्याय में खुल के समाज-संहार की कड़ी से कड़ी निन्दा की गयी है। दूसरे में भी जो अर्जुन को यह कहा गया है कि लोग तुम्हें गालियाँ देंगे और तुम पर थूकेंगे वह भी सामाजिक दृष्टि से ही तो है। तीसरे अध्याय में तो समाज रक्षार्थ यज्ञ का विस्तार ही बताया गया है और कहा गया है कि समाज के लिए उसे मूलभूत मानना चाहिए। इसी प्रकार चौथे के 'नायं लोकोऽस्त्यज्ञस्य' (31) आदि के द्वारा तथा छठे के 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति' (32) के जरिये लोक-कल्याणकारी भावनाओं एवं आचरणों का ही महत्त्व दिखाया है। सातवें से लेकर पन्द्रहवें अध्याय तक यही बात जगह-जगह किसी न किसी रूप में बराबर पायी जाती है। इसलिए स्पष्ट है कि समाज के कल्याण से ही गीता का मतलब है। यों तो योग का जो स्वरूप पहले बताया जा चुका है वह समाज के कल्याण की ही चीज है। दसवें अध्याय के अन्त के 41वें श्लोक में तो साफ ही कह दिया है कि संसार में जोई चमत्कार वाली गुणयुक्त चीज है वह भगवान् का ही रूप है, उसी का अंश है। इससे तो स्पष्ट है कि गीता की दृष्टि में भगवान् का मतलब ही है जगन्मंगलकर्त्ता से। गीता वैसे भगवान् को कहाँ देखती और मानती है जो केवल स्वर्ग और नर्क में भेजने का इन्तजाम करता हो, या मुक्ति देता हो? गीता ने तो ऐसे भगवान् का खयाल ही नहीं किया है।

यही बात सोलहवें अध्याय के 7-24 श्लोकों से भी सिद्ध होती है। आमतौर से यही होता है, यही बात देखी जाती है कि जो कुकर्मों को करता हुआ ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता हो उसकी निन्दा या उसके खण्डन-मण्डन का जब प्रसंग आये तो इसी बात से शुरू करते हैं कि देखिए न, यह तो ईश्वर को ही नहीं मानता है और साफ ही कहता है कि इस सृष्टि की उत्पत्ति या इसके काम के संचालन के लिए उसकी जरूरत हई नहीं! फिर और लोगों की इसे क्या परवाह होगी? उनके हितों को क्यों न पाँव तले रौंदेगा? आदि-आदि। ठीक भी यही प्रतीत होता है और स्वाभाविक भी। भगवान् तो लोगों के लिए सबसे बड़ी चीज है और जो उसे ही नहीं मानता वह बाकी को क्यों मानने लगा? लोगों का गुस्सा भी यदि उस पर उतरेगा तो यही कहके कि जब यह शालिग्राम को ही भून देता है तो इसे बैंगन भूनने में क्या देर? अन्त में भी सब कुछ लानत-मलामत के बाद यही कहेंगे कि इसकी ऐसी हिम्मत कि भगवान् तक को भी इनकार कर जाये?

मगर गीता में कुछ और ही देखते हैं। वहाँ तो असुरों का लक्षण बताते हुए पूरे सातवें श्लोक में ईश्वर का नाम ही नहीं आया है। आसुर-सम्पत्ति वाले इस संसार के मूल में ईश्वर को नहीं मानते यह बात सिर्फ आठवें श्लोक के पूर्वार्द्ध के अन्त में यों पायी जाती है कि देखो न, ये लोग संसार के मूल में उसे नहीं

मानते—'जगदाहुरनीश्वरम्'। इसके पहले सातवें में तो यही कहा है कि "असुर लोग तो क्या करें क्या न करें यह—कर्तव्याकर्तव्य—जानते ही नहीं, उनमें पवित्रता भी नहीं होती और न उनका आचरण ही ठीक होता है। सत्य का तो उनमें नाम भी नहीं होता"—"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः। न शौचं नापिचाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।" आठवें के शुरू में भी कहा है कि "वे जगत् को बेबुनियाद और इसीलिए निष्प्रयोजन मानते हैं"—'असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुः।' और जब ऐसी बात है तो फिर ईश्वर की क्या जरूरत? वह तो तभी होती जब यह संसार किसी खास मकसद या उद्देश्य को लेकर बनाया गया होता—बना होता। इसीलिए वे कहते हैं कि ईश्वर की कोई जरूरत हई नहीं।

समाज का कल्याण

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनीश्वरवाद या नास्तिकता को पीछे धकेल दिया गया है। उसे वह महत्त्व नहीं मिला है जो आमतौर से दिया जाता है। गीता ने तो महत्त्व दिया है उन्हीं चीजों को जिनसे संसार के उत्थान-पतन का—इसकी उन्नति-अवनति का—गहरा सम्बन्ध है। भले-बुरे की पहचान होना, कर्तव्य-अकर्तव्य की जानकारी, उत्तम आचरण, बाहर-भीतर पवित्रता और सच्चा व्यवहार—यही चीजें तो समाज की बुनियाद हैं। इनके बिना न तो हमीं एक मिनट टिक सकते और न यह समाज ही चल सकता है। ईश्वर को आप मानिये, या मत मानिये। मगर ये चीजें मानिये खामख्वाह। आपका अमल अगर इन्हीं के अनुसार हो तो हमें आपके अनीश्वरवाद से—आपकी नास्तिकता से—कोई मतलब नहीं, उसकी परवाह हम नहीं करते। हम जानते हैं कि उसका जहरीला डंक खत्म हो गया है। फलतः वह कुछ बिगाड़ नहीं सकती। आप तो पिंजड़े में बन्द पक्षी हो गये हैं इन्हीं बातों के करते। इसलिए समाज के ही गीत गायेंगे। न तो स्वच्छन्द उड़ान ही मार सकते और न मनचाही डाल पर बैठ के स्वतन्त्र गीत ही गा सकेंगे। यही है गीता का इस सम्बन्ध में वक्तव्य, यही है उसका कहना।

मगर जिनमें यही चीजें नहीं हैं—जो असुर हैं—जो देव नहीं हैं उनका क्या कहना? वे ईश्वर को क्यों मानने लगे? यह परस्पर विरोधी बातें जो हैं। यह होई नहीं सकता कि सदाचार और कर्तव्यपरायणता न रहे तथा बाहर-भीतर एक समान ही सच्चा व्यवहार भी न रहे; मगर ईश्वरवादी बने रहें। गीता की नजरों में ये दोनों बातें एक जगह हो नहीं सकती हैं। बेशक, आज तो धर्म और ईश्वर की ठेकेदारी लिये फिरने वाले ऐसे लोगों की ही भरमार है जिनमें ये बातें जरा भी पायी नहीं जाती हैं। एक ओर देखिए तो कण्ठी-माला, जटा, टीका-चन्दन, दण्ड-कमण्डल और क्या-क्या नहीं हैं। सभी के सभी धर्म वाले ट्रेडमार्क पाये जाते हैं। मगर दूसरी ओर ऐसे लोगों में न तो कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान है, न तदनुकूल आचरण है, न बाहर-भीतर सर्वत्र होने

वाली पवित्रता ही है और न सच्चाई तथा ईमानदारी ही। आज तो यही बात धार्मिक संसार में सर्वत्र ही पायी जाती है। सब जगह इसी की छूट है। कोई पूछनेवाला ही नहीं कि यह क्या अन्धेरखाता है। जिस हृदय में भगवान् बसे वह कितना पवित्र और कितना उदार होगा! उसकी गम्भीरता और उच्चता कैसी होगी! वह विश्वप्रेम से कितना ओतप्रोत होगा! (आखिर ईश्वर तो प्रेममय, सत्य, शुद्ध, आनन्दरूप और निर्विकार है न? और वही हमारे हृदय में बसता भी है। फिर भी यह गन्दगी और बदबू? कस्तूरी जहाँ हो वहाँ उसकी सुगन्ध न फैले, यह क्या बात? और ईश्वर की गन्ध तो भौतिक कस्तूरी के गन्ध से लाख गुना तेज है। फिर हमारे दिलों में, जहाँ वही मौजूद है, सत्य, प्रेम, दया, पवित्रता, सदाचार और आनन्द क्यों नहीं पाया जाता? इन चीजों का स्रोत उमड़ क्यों नहीं पड़ता?

कहने के लिए तो लोग कहेंगे कि हम धर्मात्मा हैं, ईश्वरवादी हैं। मगर हैं ये लोग दरअसल पापात्मा और अनीश्वरवादी। नास्तिक लोग तो जबान से ही ईश्वर की सत्ता इनकार करते हैं। मगर ये भलेमानस तो अमली तौर पर उसे जहन्नुम पहुँचाते हैं। हम तो महान् से महान् नास्तिकों को जानते हैं जो अनीश्वरवादी तो थे, मगर जिनका आचरण इतना ऊँचा और लोकहितकारी था कि बड़े-बड़े पादरी, पण्डित और धर्मवादी दाँतों तले उँगली दबाते थे। हिम्मत नहीं होती थी कि उनके विरुद्ध कोई चूँ भी करे, उँगली उठाये। मार्क्सवाद वैसे नास्तिकों को ही चाहता है जिनके काम से आस्तिक लोग भी शर्मिन्दा हो जायँ। वह बेशक उन धर्मात्माओं से अपना और समाज का पिण्ड खामख्वाह छुड़ाना चाहता है जो व्यवहार में ठीक उलटा चलते हैं। हमें तो अमल चाहिए, काम चाहिए, न कि जबानी हिसाब और जमाखर्च। हम तो 'कह-सुनाऊँ' नहीं चाहते; किन्तु 'कर-दिखाऊँ' चाहते हैं।

यदि गीता के सोलहवें अध्याय के 9-18 श्लोकों पर गौर करें तो हमें पता चल जायगा कि जो धर्म के ठेकेदार आज जनता के हकों की लड़ाई का विरोध करते फिरते हैं और इस मामले में धर्म और ईश्वर का ही सहारा लेते हैं उन्हीं का चित्र वहाँ खींचा गया है। यह चित्र ऐसा है कि देखते ही बनता है। इसमें शक नहीं कि 9-14 श्लोकों से तो यह साफ पता नहीं चलता कि धर्म के ठेकेदारों का ही यह चित्रण है। मगर पन्द्रहवें के 'यक्ष्ये दास्यामि' पदों से, जिनका अर्थ है कि 'यज्ञ करेंगे और दान देंगे' तथा 'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्' (17) से तो यह बात बिलकुल ही साफ हो जाती है। जहाँ पहले वचनों में सिर्फ यज्ञ करने और दान देने की बात है तहाँ आखिरवाले तो साफ ही कहते हैं कि—"वे लोग दिखावटी यज्ञ ख्याति आदि के लिए ही करते हैं। यज्ञों के विधि-विधान से तो उन्हें कोई मतलब होता ही नहीं।" यह 'अविधिपूर्वकम्' शब्द दूसरे मानी में आई नहीं सकता है। यह इसीलिए धर्म के ठेकेदारों की नकाब उतार फेंकता है, इसमें शक नहीं।

उनका चित्र खड़ा करना शुरू ही किया है यह कहते हुए कि "संसार के तो

वे शत्रु ही होते हैं। फलतः उसे चौपट करने के बड़े से बड़े उग्र काम कर डालने की ताकत रखते हैं"—"प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।" "संसार से तात्पर्य यहाँ समाज से ही है। वहाँ बताया गया है कि उनका तो काम ही है समाज को तहस-नहस करना। ऐसा करते हुए वे खुद भी चौपट हो जाते हैं। क्योंकि समाज से बाहर तो जा सकते नहीं। उनकी वासनाएँ तथा आकांक्षाएँ इतनी ज्यादा और बड़ी होती हैं कि उनकी पूर्ति हो सकती नहीं। उनका ठाटबाट और ढोंग इतना ज्यादा होता है, गरूर इस कदर होता है और प्रभुत्व, प्रभाव या शक्ति का नशा ऐसा होता है कि कुछ पूछिये मत। जिद में ही पड़के अंट-संट कर बैठते हैं। उन्हें पवित्रता का तो कोई खयाल रहता ही नहीं। दुनिया भर की फिक्र उन्हीं के माथे सवार रहती है, ऐसा मालूम होता है। खूब चीजें प्राप्त करो और खाओ, पिओ, मौज करो, यही उनका महामन्त्र होता है। जानें कितनी उम्मीदें उन्हें होती हैं। काम और क्रोध ही यही दो उनके पक्के और सदा के साथी होते हैं। विषयवासना की तृप्ति और शान बढ़ाने के लिए वे हजार जुल्म और अत्याचार कर डालते हैं। बराबर यही सोचते रहते हैं कि अमुक काम तो हमने कर लिया, अब तो सिर्फ फलाँ-फलाँ बाकी हैं। इतनी सम्पत्ति तो मिल चुकी ही है। मगर अभी तो कितनी ही गुनी हासिल करेंगे! बहुत दुश्मनों को खत्म कर डाला है। बचे हुओं को भी न छोड़ेंगे। हमीं सबसे बड़े हैं, महलों में रहते हैं, जो चाहते हैं करके ही छोड़ते हैं। हमसे बड़ा ताकतवर है कौन? सुखी भी तो हमीं हैं। न तो हमसे बढ़के कोई धनी है और न संगी-साथियों वाला ही। हमारे मुकाबिले में कौन खड़ा हो सकता है? वे दिन-रात खुद अपने ही मुँह से अपनी बड़ाई करते रहते हैं। रुपये-पैसे, गरूर और नशा की गर्मी में ही चूर रहते हैं। यज्ञ और दान तो वे केवल दिखाने और ठगने के ही लिए करते हैं। उनमें अहंकार इतना ज्यादा होता है कि मत कहिये। वे आत्मा-परमात्मा को तो समझते भी नहीं कि क्या चीज हैं—उनके नाम से ही उन्हें नफरत होती है। नतीजा यह होता है कि उनका पतन होता ही जाता है। ऊपर तो वे उठ सकते नहीं। दूसरे, तीसरे आदि जन्मों में भी अधिकाधिक नीचे गिरते ही जाते हैं। ईश्वर या आत्मा तक उनकी पहुँच कभी होती ही नहीं।"

इसी रूप में असुरों या धर्मध्वजियों का चित्र गीता ने खींचा हैं। 18वें और 20वें श्लोक में एक बार फिर परमात्मा का उल्लेख यद्यपि किया है। मगर वह है आत्मा के रूप में ही। चाहे ईश्वर के रूप में भी मानें, तो भी जो कुछ उसके साथ-साथ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि ऊपर लिखे आसुरी व्यवहारों और आचरणों के करते ही उनकी परमात्मा तक पहुँच हो पाती नहीं। इससे भी यही सिद्ध हो जाता है कि असल चीज आचरण ही हैं। 21-22 श्लोकों में तो खुल के कही दिया है—और यह बात उपसंहार की है—कि "नर्क या पतन के तीन ही रास्ते हैं जिन्हें काम, क्रोध और लोभ कहते हैं। ये तीनों आत्मा को भी चौपट कर देते हैं। इसलिए इनसे अपना

पिण्ड छुड़ाना जरूरी है। जहन्नुम में ले जाने वाले इन तीनों से पल्ला छूटने पर ही कल्याणकारी रास्ता सूझता और सदाचरण होता है। फिर तो हर तरह से मौज ही मौज समझिये''—''त्रिविधं नर-नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा-लोभस्तस्मादेतत्रयं त्यजेत् ॥ एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारेस्त्रिभिर्नरः। आचरत्यामनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।'' आखिर में कार्य-अकार्य या कर्तव्य-अकर्तव्य के जानने और तदनुसार ही काम करने का आदेश देके यह अध्याय पूरा किया गया है।

इस तरह देखते हैं कि जिस कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से ही शुरू किया था उसी से प्रकरण का अन्त भी किया गया है। यह नहीं कहा गया है कि भगवान् के ज्ञान, उसकी भक्ति या पूजा-पाठ को ही अपनाना चाहिए। यह कहते भी कैसे? गीता ने तो पहले ही कह दिया है और उसे आगे भी यही कहना है कि कर्तव्य का पालन ही भगवान् की पूजा है। फिर उलटी बात यहाँ कैसे कही जाती? और जब सभी बातों का पर्यवसान समाज के कल्याण एवं क्षेम में ही है—जब लोकसंग्रह ही गीता का ध्येय है—तो दूसरी बात कही जाय कैसे? जब भगवान् का ज्ञान, ध्यान वगैरह भी मनुष्य को ऐसे साँचे में ढालने के ही लिए है कि उसकी प्रत्येक क्रिया, हरेक साँस और हर काम संसार के लिए मंगलप्रद बन सके, तो और बातों का अवसर ही कहाँ रह जाता है? गीता ने ईश्वर-अनीश्वरवाद के झमेले को जिस तरह सुलझाया है और खुद इस गड़बड़ से जो वह बहुत ऊपर पहुँची हुई है वही उसकी इस सम्बन्ध की खूबी है।

कर्म और धर्म

अब जरा कर्म और धर्म की बातों को भी देखें। आमतौर से ऐसी धारणा पायी जाती है कि कर्म, क्रिया या अमल तो सभी बुरे-भले कामों को ही कहते हैं। मगर धर्म कुछ खास कर्मों या कामों का ही नाम है। धर्म के ही मानी में मजहब और रिलिजन (Religion) शब्दों का भी प्रयोग करके उनके बारे में भी यही खयाल सर्वत्र पाया जाता है। इसका परिणाम भी बुरा से बुरा होता है। जब हमने मान लिया कि सिर्फ सन्ध्या, पूजा, नमाज, रोजा, प्रार्थना वगैरह धर्म हैं, तब तो स्वाभाविक रूप से बाकी कामों में एक प्रकार की स्वतन्त्रता का अनुभव करेंगे ही। धर्मों के सम्बन्ध में तो सैकड़ों तरह के बन्धन होते हैं—कब करें, कैसे करें, कितनी देर तक करें आदि-आदि। गड़बड़ होने पर नर्क, दोजख आदि के भय भी माथे पर सवार रहते हैं। भगवान् की रंजिश का भी सबसे बड़ा खतरा इस बात में बना रहता है। इसीलिए स्वभावतः उनकी पाबन्दी ठीक-ठीक की जाती है—कम से कम पाबन्दी की कोशिश तो जरूर होती है।

लेकिन बाकी कामों में? उनमें तो कोई डर-भय उस तरह का नहीं होता। हाँ, लोक-लाज या कानून-वानून का डर जरूर रहता है। मगर लोगों से छिप-छिपाके और कानून-फन्दे से बच-बचाके भी काम किये जा सकते हैं, किये जाते हैं। कानून

की आँख में धूल डालना चतुर खिलाड़ियों के लिए बायें हाथ का खेल है। वे तो कानून को बराबर चराते फिरते हैं। इसलिए उन्हें स्वतन्त्रता तो करीब-करीब रहती ही है। क्योंकि भगवान् तो यहाँ दखल देता नहीं और न धर्मराज या यमराज ही। यह तो धर्म से बाहर की चीजें हैं, जहाँ उनका अधिकार नहीं। यदि थोड़ा-बहुत मानते भी हैं कि वह दखल देंगे तो भी यह बात अधूरी ही रह जाती है। क्योंकि सन्ध्या, नमाज की तरह सच बोलने या शराब न पीने की बात नहीं है। यदि ये चीजें धर्म में किसी प्रकार आ भी जायें तो भी इनका स्थान गौण है, मुख्य नहीं। देखते ही हैं कि सन्ध्या, नमाज वगैरह की पाबन्दी में जो सख्ती पायी जाती है वह सच बोलने और सूद न लेने या शराब न पीने में हर्गिज नहीं है। बड़े-बड़े धर्माधिकारी भी बड़े-बड़े कारबारों और जमींदारियों के चलाने वाले होते हैं, जहाँ झूठ बोलने और जाल-फरेब के बिना काम चलता ही नहीं। मैनेजर, प्रबन्धक और कारपर्दाज वगैरह के जरिये वह काम करवा के अपने पिण्ड को बचाने की बात केवल अपने आपको धोखा देना है—आत्मप्रवंचना है। जब कारबार उनका है, जमींदारी उनकी है तो उसके मुतल्लिक होने वाले झूठ और जाल-फरेब की जवाबदेही उन्हीं पर होगी ही। यह डूबके पानी पीना और खुदा से चोरी करना ठीक नहीं। यदि कारबार और जमींदारी के फायदे के लिए वह झूठ और जाल न हो तो बात दूसरी है। मगर यहाँ तो उन्हीं के चलाने के ही लिए ऐसा किया जाता है।

इसीलिए गीता ने न तो धर्म की श्रेणियाँ बताके मुख्य, अमुख्य या प्रधान और गौण धर्म जैसा उसका विभाग ही किया है और न कोई दूसरी ही तरकीब निकाली है। गीता की नजरों में तो धर्म और कर्म या क्रिया (अमल या काम) एक ही चीज है। जिसे हम अंग्रेजी में ऐक्शन (action) कहते हैं उसमें और धर्म में जरा भी फर्क गीता नहीं मानती। इसका मोटा दृष्टान्त ले सकते हैं। हिन्दू लोग चार वर्णों को मानते हुए उनके पृथक्-पृथक् धर्म मानते हैं। उनके सिद्धान्त में वर्णधर्म एक खास चीज है। मगर चौथे अध्याय के 12, 13 श्लोकों की अजीब बात है। 13वें में तो वर्णधर्मों की ही बात है। फिर भी कृष्ण कहते हैं कि "हमने चारों वर्णों की रचना कर्मों के विभाग के ही मुताबिक की है और ये कर्म गुणों के अनुसार बने स्वभावों के अनुकूल अलग-अलग होते हैं",—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।" यहाँ धर्म की जगह कर्म ही कहा गया है। 12वें श्लोक में भी कहा है कि "मर्त्यलोक में कर्मों की सिद्धि जल्द होती है। इसीलिए यहाँ उसी सिद्धि (इष्टसिद्धि) के लिए देवताओं का यज्ञ किया करते हैं"—"काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।" यहाँ यज्ञ को कर्म कहा है, न कि धर्म; हालाँकि यह तो पक्का धर्म है। धर्मों की सिद्धि न कहके कर्मों की सिद्धि कहने का भी यही मतलब है कि धर्म और कर्म एक ही चीज है और गीता इन दोनों में कोई भेद नहीं रखती।

इसी प्रकार अठारहवें अध्याय के 41-44 श्लोकों में भी चारों वर्णों के ही धर्मों की बात आयी है। 45-46 श्लोकों में भी उसी सम्बन्ध में यह बताया गया है कि उन धर्मों के द्वारा ही भगवान् की पूजा कैसे हो सकती है और इष्टसिद्धि क्योंकर होती है। चारों वर्णों के कुछ चुने-चुनाये धर्मों को गिनाया भी गया है, जो पक्के और स्वाभाविक माने जाते हैं। सारांश यह कि ये छह श्लोक वर्णों के धर्मों की जितनी सफाई के साथ कहते हैं उतनी सफाई शायद ही कहीं मिलेगी। मगर एक बार भी उनमें धर्म शब्द नहीं आया है। खूबी तो यह कि उन्हीं में कर्म शब्द पूरे आठ बार आया है। धर्म के बारे में जिनका बड़ा जोर है उन्हें इस बात से काफी धक्का लग सकता है कि जहाँ धर्म शब्द का बार-बार आना निहायत जरूरी था वहाँ उसे गीता भूल सी गयी! और अगर ऐसे ही अवसर पर धर्म की बात नहीं आती है, किन्तु उसकी जगह कर्म कहके ही सन्तोष किया जाता है, तो फिर यह कहने की गुंजाइश रही जाती कहाँ है कि धर्म और कर्म दो चीजें हैं?

जो लोग फिर भी हठ करते रहें और ऐसा कहने का साहस करें कि यद्यपि सभी धर्म तो कर्म ही होते हैं, तथापि सभी कर्म कदापि धर्म हो नहीं सकते, इसीलिए धर्म की जगह कर्म कहके काम चलाया जा सकता है और यही बात यहाँ पायी जाती है, उनके लिए कोई भी समझदारी की बात क्या कही जाय? यों ही कभी-कभी धर्म का नाम ले लेना और हर विशेष अवसर पर बार-बार कर्म का ही जिक्र करना, जबकि धर्म का उल्लेख ज्यादा मौजूँ और उचित होता, क्या यह बात नहीं बताता कि गीता इस झमेले से हजार कोस दूर है? यदि धर्म का नाम कहीं-कहीं आ गया भी तो यों ही, न कि किसी खास अभिप्राय से, यही कथन ज्यादा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यह ठीक है कि एकाध जगह धर्म शब्द से ही काम निकलता देख और कर्म कहने में दिक्कत या कठिनाई समझ के गीता ने धर्मशास्त्रों के अर्थ में ही धर्म शब्द कहा है। मगर वह ज्यों का त्यों बोल दिया गया है, न कि प्रतिपादन किया गया है कि धर्म खास चीज है। जैसा कि 'स्वधर्मपि चावेक्ष्य' (2।31) में पाया जाता है। और जब दूसरे अध्याय में योग का सिद्धान्त एवं स्वरूप बताते समय, तीसरे अध्याय में यज्ञ की महत्ता दिखाते वक्त, चौथे में यज्ञ का विस्तार एवं विवरण बताते समय और अठारहवें में अपने-अपने (स्व) धर्मों के रूप में ही कैसे भगवत्पूजा होती है यह सिद्ध करते समय भी सिर्फ कर्म की ही चर्चा आती है, न कि धर्म की एक बार भी, तो गीता में प्रतिपादन किसका माना जाय? वहाँ रहस्य और सिद्धान्त किसके सम्बन्ध का बताया गया माना जाय? धर्म का या कर्म का? अगर कर्म का, क्योंकि धर्म का कहने की तो कोई भी गुंजाइश हई नहीं, तो फिर अन्ततोगत्वा यही बात रही कि गीता ने धर्म और कर्म में कोई भी अन्तर नहीं किया है। उसने कर्म के ही दार्शनिक विवेचन से सन्तोष करके दिखा दिया है कि असली चीज कर्म ही है।

एक बात और भी है। गीता ने बार-बार कहा है कि कर्मों से ही बन्धन होता

है और उसी से छुटकारा मिलने को मुक्ति कहते हैं। अर्जुन ने इसी बन्धन के डर से ही तो आगा-पीछा किया था। यदि दूसरे अध्याय के 38वें श्लोक से शुरू करके देखें तो प्रायः हरेक अध्याय में बार-बार कर्म की इस ताकत का और उससे छुटकारा पाने की हिकमत का जिक्र मिलेगा। चाहे उस हिकमत को योग कहें, निर्लेपता कहें, अनासक्ति कहें, समत्व बुद्धि कहें, या इन सबों को मिलाके कहें, यह बात दूसरी है। मगर यह तो पक्की चीज है कि बार-बार यही बात शुरू से अन्त तक आयी है। अर्जुन की धारणा कुछ ऐसी थी कि धर्म उन कामों को ही कहते हैं जिनमें कोई भी बुराई न हो, जिनसे स्वजन-वध आदि संभव न हों, जैसा ध्यान, समाधि, पूजा आदि। उसका भी खयाल था कि जिसके करते बुराई हो, हत्या हो या इसी तरह की और बात हो वह धर्म माना जाने पर भी वस्तुगत्या अधर्म—धर्म विरोधी—ही है। युद्ध से विरक्त होने और लम्बी-चौड़ी दलीलें पेश करने का उसका यही मतलब था। दूसरा मतलब हो भी क्या सकता था? इसका उत्तर भी कृष्ण ने साफ ही दे दिया कि "सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" (18।48), 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः' (3।35, 18।47),—"बुराई-भलाई तो सर्वत्र मिली हुई हैं। ऐसा काम हो नहीं सकता जिसमें बुराई न हो या भलाई न हो। इसलिए बुराईवाला होने पर भी स्वधर्म ही ठीक है। उसी को करना चाहिए।" गीता में जो धर्म, अधर्म शब्द कहीं-कहीं आ गये हैं वह अर्जुन की इसी भ्रान्त धारणा को ही लेके, और उसे ही कृष्ण ने दूर किया है।

इससे एक और भी गड़बड़ हो जाती है। ऐसी धारणा के करते धर्म और अधर्म अजीब सी चीज बन जाते हैं। क्षत्रिय के लिए युद्ध जैसा महान् धर्म भी अधर्म की कोटि में—उसी श्रेणी में—आ जाता है। यह कितनी गलत बात है! ऐसा समझना कि जो निर्दोष हो, हिंसारहित हो वही धर्म और शेष अधर्म है, कितनी नादानी है! साँस लेने एवं पलक मारने में भी तो लक्ष-लक्ष कीटाणुओं का संहार होता रहता ही है। पुराने लोगों ने भी कहा ही है कि वायुमण्डल में ऐसे अनन्त जीव भरे पड़े हैं जिनका संहार पलक मारने से ही हो जाता है—"पक्ष्मणोऽपि विपातेन येषां स्यात्पर्वसंक्षयः।" जब यही बात है तो फिर साँस का क्या कहना? वह तो बराबर चलती और गर्मागर्म रहती है। फलतः कत्लेआम ही होता रहता है उसके चलते भी! तो क्या किया जाय? क्या पलक न मारें? साँस न लें? क्योंकि अधर्म जो हो जायगा! और जब इस प्रकार जीवन ही अधर्म हो गया तो आगे क्या कहा जाय? धर्मशास्त्रियों ने जिस जीवनरक्षा के लिए सब कुछ कर डालने और खा-पी लेने तक की छूट दे दी है वही अधर्म? और पूजा-पाठ? माला जपो, जबान हिलाओ, चन्दन रगड़ो, फूल तोड़ो, आरती करो, दीप जलाओ, भोग लगाओ और पद-पद पर अनन्त निर्दोष जीवों का संहार करो। फिर भी यह कहना कि यह पूजा-पाठ धर्म है, महज नादानी है, यदि धर्म की वही परिभाषा मानी जाय जो अर्जुन के दिमाग में थी। तब तो कहीं भी किसी

प्रकार गुजर नहीं और धर्म महाराज यहाँ से सदा के लिए विदाई ही लेके चले जायँ!

इसीलिए तो कृष्ण को कसके सुनाना पड़ा कि यह तो तुम्हारी अजीब पण्डिताई है—"प्रज्ञावादांश्च भाषसे" (2।11)। धर्म की यह परिभाषा तो जहन्नुम में भेजे जाने की चीज है, उनने ऐसा समझ के ही अध्यात्म विवेचन से ही शुरू किया और अर्जुन को ललकारा। अर्जुन की गलती भी इसमें क्या कही जाय? जब धर्म-अधर्म के बारे में इसी प्रकार की मोटी बातें कही और लिखी जाती हैं और धर्म पालन के साथ ही 'अहिंसा परमोधर्मः' की दुहाई दी जाती है, तो उसका ऐसे मौके पर घपले में पड़ जाना अनिवार्य था। दरअसल कर्म का असली रूप और उसका दार्शनिक विश्लेषण न जानने के कारण ही तो धर्म-अधर्म और हिंसा-अहिंसा का यह घपला आ खड़ा होता है। इसलिए जरूरी हो गया कि वही विश्लेषण किया जाय। गीता ने यही किया भी। इससे तो साफ हो जाता है कि धर्म-अधर्म की सर्वसाधारण धारणा निहायत ही थोथी और ऐन मौके पर खतरनाक हो जाती है। अर्जुन को जो धोखा हुआ वह उसी के चलते। इसलिए आमतौर से जिसे लोग धर्म या अधर्म मानते हैं वह बच्चों की-सी बात हो जाती है। गीता ने यह बात दिखला दी है। वह धर्म ही क्या जिसके या जिसकी सर्वसाधारण समझ के चलते ऐन मौके पर, जब कि जीवन-मरण का संग्राम उपस्थित है, गड़बड़घोटाला हो जाय? धर्म को उस समय ठीक पथ-प्रदर्शन करना चाहिए। मगर वह तो उलटी गंगा बहाने लगता है! इसलिए धर्मशास्त्रियों की बातों को ताक पर रख के उसका नये सिरे से विवेचन और विश्लेषण जरूरी हो जाता है। यही जरूरत शुरू में ही बड़ी खूबी के साथ दिखा के गीता ने उसका नया विवेचन कर्म के ही दार्शनिक विश्लेषण (Philosophical analysis) के आधार पर किया है। क्योंकि इसके बिना दूसरा रास्ता हई नहीं।

यह भी तो देखिये कि जहाँ गीता में शुरू से लेकर अन्त तक का कर्म का उल्लेख सैकड़ों बार कर्म शब्द से करने के अलावे कार्य, कर्तव्य, युद्ध, यज्ञ, यत्न, योग आदि शब्दों से किया है, तहाँ धर्म शब्द मुश्किल से किसी न किसी रूप में—अधर्म, धर्म्य, साधर्म्य के रूप में भी—सिर्फ तैंतीस बार आया है। खूबी तो यह है कि गीता के पहले श्लोक का धर्म तो नाम के साथ ही लगा है। वह कोई धर्म जैसी चीज को खास तौर से कहने के लिए नहीं आया है। कुरुक्षेत्र की प्रसिद्धि धर्मक्षेत्र के नाम से उस समय थी और यही बात श्लोक में भी आ गयी! अठारहवें अध्याय के 70वें श्लोक में जो 'धर्म्य' शब्द है वह भी कुछ ऐसा ही है। वह तो केवल 'संवाद' का विशेषण होने से उसके औचित्य को ही बताता है। उसका कोई खास प्रयोजन नहीं है। चौदहवें अध्याय के दूसरे श्लोक के 'साधर्म्य' का धर्म शब्द भी दूसरे ही मानी में बोला गया है, न कि कर्तव्य के अर्थ में। वह तो समानता का ही सूचक है। दूसरे अध्याय के 40वें श्लोक का धर्म शब्द भी गीता के योग के ही अर्थ में आया है, न कि धर्मशास्त्रों के धर्म के मानो में। इसी प्रकार नौवें अध्याय के 2-3 श्लोकों

में जो धर्म्य और धर्म शब्द आये हैं वह ज्ञान-विज्ञान के ही लिए आये हैं, न कि अपने खास मानी में। बारहवें के 20वें श्लोक का धर्म्य शब्द भी कुछ ऐसा ही है। वह समस्त अध्याय के प्रतिपादित विषय को ही कहता है। इसी प्रकार अठारहवें अध्याय के 46वें श्लोक में जो धर्म शब्द है उसी के अर्थ में उसी श्लोक में आगे कर्म शब्द आने के कारण वह भी संकुचित अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। उसी अध्याय के 66वें श्लोक का धर्म शब्द भी व्यापक अर्थ में ही आया है और धर्म, अधर्म तथा दूसरे कर्मों का भी वाचक है। यह बात प्रसंगवश आगे कही जायगी और इस पर विशेष प्रकाश पड़ेगा। यह ठीक है कि उस धर्म को कर्म की जगह पर प्रयोग नहीं किया है। क्योंकि ऐसा करना असम्भव था। कहने का आशय यह है कि जितना व्यापक अर्थ कर्म शब्द का है उस अर्थ में वह धर्म शब्द नहीं आया है और इसकी वजह है जो प्रसंगवश लिखी जायगी।

इस प्रकार देखने से पता चलता है कि पाँच से लेकर सत्रह अध्याय तक कुल तेरह अध्याय में यह धर्म आया ही नहीं है। हालाँकि इन्हीं में कर्म का दार्शनिक विवेचन खूब ही हुआ है। जिस समत्वरूप योग का वर्णन दूसरे अध्याय में पाया जाता है और जो कर्मों की कुंजी है वही पाँच, छह, नौ, बारह, तेरह और चौदह अध्यायों में किसी न किसी रूप में आया ही है। सोलह और सत्रह अध्याय तो गीताधर्म की दृष्टि से काफी महत्त्व रखते हैं, यह पहले कही चुके हैं और विस्तार के साथ वह बात सिद्ध की जा चुकी भी है।

अब रहे सिर्फ पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे और अठारहवें अध्याय। इन्हीं में धर्म शब्द कुल मिला के केवल चौबीस बार अपने विशेष मानी में प्रयुक्त हुआ मालूम पड़ता है। इसमें भी खूबी यह है कि पहले अध्याय के 40वें में तीन बार और तीसरे के 35वें में ही चार बार आया है। पहले के तैंतालीसवें में, दूसरे के बत्तीस-तैंतीस में, चौथे के सातवें में और अठारहवें के एकतीस-बत्तीस श्लोकों में दो-दो बार आ जाने के कारण कुल उन्नीस बार तो सिर्फ आठ ही श्लोकों में आया है। शेष 5वें श्लोकों में 5 बार। इनमें भी पहले अध्याय के 41 तथा 44वें, दूसरे के 7वें में, चौथे के 8वें में और अठारहवें के 34वें में—इस प्रकार एक-एक बार का बँटवारा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछी जगहों में वह पाया जाता है। इसमें भी खूबी यह है कि पहले अध्याय में सात बार और दूसरे में एक—कुल आठ—बार तो खुद अर्जुन ने ही यह शब्द कहा है। फलतः वह तो गीता के सिद्धान्त के भीतर यों ही नहीं आता है। हाँ, सत्रह बार जो कृष्ण ने कहा है उसी पर कुछ भरोसा कर सकते हैं।

मजा तो यह है कि दूसरे अध्याय के 31वें तथा 33वें श्लोकों में जो कुल चार बार धर्म शब्द कृष्ण ने कहा है वह अर्जुन के ही कथनानुसार धर्मशास्त्रवाला ही है, न कि कृष्ण का खास। वहाँ तो अर्जुन की ही बात के अनुसार ही उसे माकूल करते हैं। इसी प्रकार तीसरे अध्याय के 35वें में जो चार बार आया है वह ठीक

वैसा ही है जैसा कि अठारहवें अध्याय के 47वें का। क्योंकि 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' यह श्लोक का आधा ज्यों का त्यों दोनों ही जगह पूर्वार्द्ध में आया है। फलतः यदि अठारहवें अध्याय में धर्म का अर्थ कर्म ही है, तो तीसरे में भी यही बात है—होनी चाहिए। यह भी बात है कि तीसरे अध्याय के शुरू से लेकर इस श्लोक के पूर्व तक कर्म की ही बात लगातार आयी है। उसकी शृंखला टूटी नहीं है। इसलिए धर्म शब्द भी कर्म के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है यही मानना उचित है।

इस प्रकार देखने पर तो सिर्फ चौथे अध्याय के 7-8 तथा अठारहवें के 31-32 एवं 34 श्लोकों में जो धर्म शब्द कृष्ण के मुख से निकले हैं केवल वही, मालूम पड़ता है, धर्म के विशेष या पारिभाषिक अर्थ में आये हैं। मगर यहाँ भी कुछ बातें विचारणीय हैं। चौथे अध्याय में तो धर्म का उल्लेख अवतार के ही प्रसंग में हुआ है। वहाँ कहा गया है कि जब समाज में उपद्रव होने लगता है और दुष्टों की वृद्धि हो जाती है तो अवतारों की जरूरत होती है। ताकि भले लोगों की, सत्पुरुषों की रक्षा हो सके। अब यदि इस वर्णन की मिलान सोलहवें अध्याय के असुरों के आचरणों से करें और तुलसीदास के 'जब जब होइ धर्म की हानी। बाढ़हिं असुर महा अभिमानी' वचन को भी इस सिलसिले में खयाल करें, तो पता लग जाता है कि धर्म का मतलब यहाँ समाज-हितकारी समस्त आचरणों से ही है। जिन कामों से समाज का मंगल हो वही धर्म है, ऐसा ही अभिप्राय कृष्ण का प्रतीत होता है।

बेशक, सिर्फ अठारहवें अध्याय के 31-32 तथा 34 श्लोकों में यह बात जरूर मालूम होती है कि सामान्य कर्तव्य-अकर्तव्य से अलग धर्म-अधर्म हैं। 30वें श्लोक में प्रवृत्ति-निवृत्ति शब्दों से इन्हीं धर्म और अधर्म को कहा है। इसके सिवाय जिस प्रकार वहाँ कार्याकार्य—कार्य-अकार्य—अलग बताया गया है, न कि इन्हें धर्म-अधर्म—प्रवृत्ति-निवृत्ति—के ही भीतर ले लिया है, ठीक उसी प्रकार 31वें में भी अधर्म और धर्म तथा अकार्य एवं कार्य जुदा-जुदा लिखा है। इससे साफ हो जाता है कि सामान्य कार्य और अकार्य से अलग ही धर्म एवं अधर्म हैं—ये विशेष पदार्थ हैं । मगर जब 32वें श्लोक पर विशेष ध्यान देते हैं तो यह पहेली सुलझ जाती है और पता चल जाता है कि धर्म-अधर्म शब्द भी व्यापक अर्थ में ही आये हैं। पहले—31वें—श्लोक में आम लोगों की धारणा के ही अनुसार इन्हें अलग रखा है जरूर। मगर यह बात विवरण के ही रूप में है, यह मानना ही पड़ेगा।

बात असल यह है कि सात्त्विक, राजस और तामस बुद्धियों की पहचान इन तीन—30 से 32—श्लोकों में बताई गयी है। पहले में कहा गया है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति या धर्म-अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्य को ठीक-ठीक बताना सात्त्विक बुद्धि का काम है। इसी से उसकी पहचान होती है। फिर भी 31वें में कहा गया है कि इन चीजों को जो ठीक-ठीक न बताये—कभी ठीक बताये और कभी नहीं—वही राजस बुद्धि है। उसकी यही पहचान है। यहाँ तक तो ठीक है। दोनों की पहचान में धर्म (प्रवृत्ति),

अधर्म (निवृत्ति) तथा कार्य-अकार्य का उल्लेख आया है। मगर जब तामस बुद्धि का प्रसंग 32वें श्लोक में आया है तो कार्य-अकार्य को छोड़के केवल धर्म और अधर्म का ही उल्लेख है और कहा गया है कि जो अधर्म को ही धर्म माने और इस प्रकार सभी बातें उलटी ही बताये वही तामसी बुद्धि है। यदि पहला क्रम रखते तो कहते कि जो अधर्म को धर्म और अकार्य को कार्य समझे वही तामसी बुद्धि है। क्योंकि उसका काम न तो ठीक-ठीक बताना है और न कुछ गड़बड़ करना, किन्तु बिलकुल ही उलटा बताना। मगर यहाँ कार्य-अकार्य को छोड़ के केवल धर्म-अधर्म का ही उल्लेख यही बताता है कि इन्हीं के भीतर कार्य-अकार्य भी आ जाते हैं और ये शब्द व्यापक अर्थ में ही आये हैं। फलतः कार्य-अकार्य का पहले दो श्लोकों में उल्लेख यों ही विवरण के ही रूप में है। 34वें श्लोक का धर्म शब्द तो प्रचलित प्रणाली के ही अनुसार धर्म, अर्थ, काम में एक को कहता है और जब पहले ही उसका अर्थ ठीक हो गया तो यहाँ दूसरा क्या होगा?

इस प्रकार यह बात निर्विवाद हो गयी कि गीता ने धर्म को कर्म, काम या अमल से भिन्न नहीं मान के दोनों को एक ही माना है—धर्म ही कर्म है और कर्म ही धर्म। अर्जुन ने जो दूसरे अध्याय के 7वें श्लोक में कहा है कि "धर्म के बारे में कोई भी निश्चय न कर सकने के कारण ही आपसे सवाल कर रहा हूँ"—"पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः", उसका भी मतलब कर्तव्य, कर्म या काम से ही है। इसीलिए तो उसे जो उत्तर दिया गया है उसमें कर्म के ही स्वरूप और उसके सभी पहलुओं का विवेचन किया गया है। यही तो खूबी है कि शुरू से लेकर अन्त तक जो भी विवेचन किया गया है वह कर्म का ही है, न कि धर्म का। एक भी स्थान पर धर्म का उल्लेख करके विश्लेषण या विवेचन पाया जाता है नहीं। अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में जो कुछ कहना शुरू हुआ है वह भी मरने-मारने और युद्ध करने की ही बात लेके। इन्हीं बातों को धर्म कहके शुरू करते तो भी एक बात थी। मगर वहाँ तो सीधे कौन मारता है, कौन मरता है आदि प्रश्न ही उठाये गये हैं और उन्हीं का उत्तर दिया गया है। युद्ध करो, तैयार हो जाओ, लड़ने का निश्चय कर लो, आदि के ही रूप में बार-बार उपसंहार किया गया है, न कि धर्म करो, ये धर्म हैं, इसलिए इन्हें करो, आदि के रूप में। खूबी तो यह है कि यह सभी बातें स्वतन्त्र रूप से कहके आगे 31-33 श्लोकों में यह भी बात कहते हैं कि धर्मबुद्धि से भी यही काम कर सकते हो—यह युद्ध और मरने-मारने का काम धर्म समझ के भी करना ही होगा। इससे तो साफ है कि पहले धर्म समझ के इन्हें करने पर जोर नहीं देके कर्तव्यबुद्धि या विवेकबुद्धि से ही इन्हें करने को कहा गया है।

इस प्रकार सभी कामों को धर्म के भीतर डाल देने का मतलब यह हो जाता है कि धर्म बहुत बड़ा एवं व्यापक बन जाता है और उसका सर्वजनप्रसिद्ध संकुचित रूप जाता रहता है। फलतः लोगों में जो धर्माचरण की प्रवृत्ति आमतौर से पायी जाती

है उससे काफी फायदा उठाके सभी समाजोपयोगी कामों को उसी व्यापक एवं उदार बुद्धि से धर्म समझ के ही कराया जा सकता है। गीता के इस ढंग से कर्तव्य के संसार में बहुत बड़ा लाभ हो जाता है।

मगर दूसरा और असली महत्त्वपूर्ण लाभ इससे यह होता है कि धर्म के नाम पर धर्मशास्त्रों, धर्मशास्त्रियों तथा धर्माचार्यों का जो नाहक का नियन्त्रण लोगों की समझ और उनके कामों पर रहा करता है वह खत्म हो जाता है। जब धर्म अत्यन्त व्यापक बन जाता है, जब सभी काम उसमें आ जाते हैं तब धर्म के ठेकेदारों की गुंजाइश रही कहाँ जाती है? जब तक कोई खास चीज और कुछ चुनी-चुनाई बातें न हों तब तक उन्हें पूछे कौन? जीवन के हरेक काम में कौन किससे पूछने जाता है? किस धर्माचार्य की जरूरत इस बात के लिए होती है कि हम कैसे आगे-पीछे पाँव दें, कैसे साँस लें, कैसे खाने में मुँह चलायें, कैसे दाँतों से अन्न को खूब चबायें, कैसे कपड़े पहनें, आदि-आदि? ये बातें पूछना असम्भव भी तो है। हाँ, स्वास्थ्यशास्त्रों और ऐसी ही दूसरी पोथियों की सहायता से इन्हें भले ही जान ले सकते हैं। मगर ऐसा तो नहीं होगा कि साल में एक या दो-चार गुरु और पीर या पण्डित-पुरोहित इन्हीं के लिए खास तौर से आया करेंगे और 'पूजा' किया करेंगे, ठीक जैसे एकादशी, रोजा आदि के सिलसिले में आते ही रहते हैं। तब तो रोजा, नमाज, सन्ध्या, पूजा वगैरह भी साँस लेने आदि की ही श्रेणी में आ जायँगे और वहाँ से भी धर्मध्वजियों की बेदखली होई जायगी, चाहे देर से हो या सवेरे।

तीसरी बात यह होगी कि जब हरेक बात को धर्म के फन्दे से निकाल के व्यावहारिक और सामाजिक दुनिया में ला देंगे तो उसके भले-बुरे पर जाँच स्वर्ग और नर्क की दृष्टि से न करके देखेंगे कि इससे अपना और समाज का भौतिक लाभ क्या है, इससे सामाजिक, वैज्ञानिक या सांस्कृतिक विकास में कहाँ तक फायदा पहुँचता है, समाज के स्वास्थ्य की उन्नति इससे कहाँ तक होती है। बिना इस व्यावहारिक दृष्टि के ही तो सब गुड़ गोबर हो रहा है। नहाने में भी जब धर्म की बात घुसती है तो उससे शरीर या वस्त्रादि की स्वच्छता न देखके स्वर्ग-नर्क को ही देखने लगते हैं! जैसे ऊँट की नजर हमेशा पश्चिम के रेगिस्तान की तरफ होती है, ऐसा कहा जाता है, ठीक उसी तरह हमें हर काम में ठेठ स्वर्ग, बैकुण्ठ या नर्क ही सूझता है। इस पतन का कोई ठिकाना है! इस अन्धी धर्मबुद्धि ने हमें—मानव समाज को—निरा भोंदू और बुद्धिहीन बना डाला है, मशीन करार दे दिया है! गीता का यह रास्ता इस बला से हमारा निस्तार कर देता है और हमें आदमी बना देता है।

चौथी और आखिरी बात यह होती है कि कर्म भले हैं या बुरे, इनके करते हम नर्क में जायेंगे या स्वर्ग में आदि बातों और प्रश्नों का भी निर्णय जो अब तक पण्डितों एवं मौलवी लोगों के हाथों में रहा है उसे गीता इस प्रकार उनसे छीन लेती और इन्हें ऐसी कसौटी पर कसती है जो सर्वत्र सुलभ हो, जिसे हम खुद हासिल

कर सकते हैं, यदि चाहें। अब तक तो धर्म के नाम पर फैसला करने वाले पण्डित आदि ही थे। मगर अब जब धर्म हो गया कर्म और कर्म के जाँचने की एक दूसरी ही कसौटी गीता ने तैयार कर दी, जो दूसरे के पास न होके हरेक आदमी के पास अपनी-अपनी अलग होती है, तो फिर पण्डितों और मौलवियों को कौन पूछे ? यह भी नहीं कि दूसरे की कसौटी—गैर की तराजू—दूसरे के काम आए। यहाँ तो अपनी-अपनी ही बात है। यहाँ "अपनी-अपनी डफली, अपनी-अपनी गीत" है। फलतः परमुखापेक्षिता के लिए स्थान रही नहीं जाता। सोलह आना स्वावलम्बन ही उसकी जगह ले लेता है। तब धर्म के नाम पर झमेले और झगड़े भी क्यों होंगे?

गीता का साम्यवाद

गीता में समता या साम्यवाद की भी बात है और उसे लेके बहुत लोग मार्क्सवादी साम्यवाद को खरी-खोटी सुनाने लगते हैं। उनके जानते मार्क्स का साम्यवाद भौतिक होने के कारण हलके दर्जे का है, तुच्छ है गीता के आध्यात्मिक साम्यवाद के मुकाबिले में। वह तो यह भी कहते हैं कि हमारा देश धर्मप्रधान एवं धर्मप्राण होने के कारण भौतिक साम्यवाद के निकट भी न जायगा। यह तो आध्यात्मिक साम्यवाद को ही पसन्द करेगा। असल में इस युग में जो साम्यवाद की हवा बह निकली है उसी से घबरा के यह बातें उसी के जवाब में कही जाती हैं। उस तरह की दूसरी चीज न रहने पर तो लोग खामख्वाह उधर ही झुकेंगे। इसीलिए गीता की यह बात लोगों के सामने ला खड़ी कर दी जाती है, ताकि स्वभावतः लोग इधर ही आकृष्ट हों और दूसरे साम्यवाद का खतरा न रह जाय। खूबी तो यह है कि जिन्हें अध्यात्मवाद से लाख कोस दूर रहना है वह भी गीता की यही बात रटते फिरते हैं! उनके स्थायी स्वार्थों को भौतिक साम्यवाद से बहुत बड़ा खतरा होने के कारण ही वे गीता का नाम लेके टट्टी की ओट से शिकार खेलते हैं। हर हालत में इस चीज पर प्रकाश डालना जरूरी है।

असल में गीता में प्रायः बीस जगह या तो सम शब्द का प्रयोग मिलता है या उसी के मानी में तुल्य जैसे शब्द का प्रयोग। दूसरे अध्याय के 38वें तथा 48वें, चौथे के 22वें, पाँचवें के 18-19वें, छठे के 8, 9, 13, 29, 32, 33वें, नवें के 29वें, बारहवें के 13, 18वें, तेरहवें के 9, 27, 28वें, चौदहवें के 24वें तथा अठारहवें के 54वें श्लोकों में सम, समत्व या साम्य शब्द आया है। किसी-किसी श्लोक में दो बार भी आया है। चौदहवें के 24वें श्लोक में सम के साथ ही तुल्य शब्द भी आया है और 25वें में सिर्फ तुल्य शब्द ही दो बार मिलता है। इनमें केवल छठे के 13वें श्लोक वाला सम शब्द 'सीधा' (Straight) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए उसका साम्यवाद से कोई भी ताल्लुक नहीं है। शेष सम शब्दों या उन्हीं के अर्थ में प्रयुक्त तुल्य शब्दों का साम्यवाद से सम्बन्ध जरूर जुट जाता है। यदि असक्त, अनासक्त,

परित्यागी या परित्याग आदि शब्दों को, जो सम के ही अर्थ में—उसी अभिप्राय से ही—प्रयुक्त हुए हैं, भी इसी सिलसिले में गिन लें; तब तो गीता के अंग-प्रत्यंग में यह बात पायी जाती है, यही मानना पड़ेगा। कर्म के विश्लेषण और इस समत्व या साम्यवाद का ऐसा सम्बन्ध है कि दोनों एक दूसरे के बिना रही नहीं सकते।

अब देखना है कि गीता की यह समता, उसका यह समत्व, समदर्शन या साम्यवाद है क्या चीज। जब तक उसकी असलियत और रूपरेखा का ही पता हमें न हो उसकी तुलना भौतिक साम्यवाद के साथ कर कैसे सकते हैं? तब तक हमें यह भी कैसे पता लग सकता है कि कौन भला, कौन बुरा है? यदि भला या बुरा है तो भी किस दृष्टि से, यह भी तो तभी जान सकते हैं। हरेक चीज हर दृष्टि से तो कभी भी अच्छी या बुरी होती नहीं। आखिर पदार्थों के पहलू तो होते ही हैं और उन्हें हर पहलू से अलग-अलग देखना जरूरी हो जाता है, यदि किसी और के साथ मिलान या तुलना करना हो। यही कारण है कि गीता के समदर्शन या साम्यवाद के हर पहलू पर प्रकाश डालना और विचार करना आवश्यक है।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, गीता का साम्यवाद, समदर्शन, समत्वबुद्धि या साम्ययोग तो दिल-दिमाग की ही दशा विशेष है। दरअसल यूरोप में हीगेल आदि दार्शनिकों ने जिस विचारवाद या आइडियलिज़्म (Idealism) को प्रश्रय दिया और उसका समर्थन किया है वह बहुत कुछ गीता के समदर्शन से मिलता-जुलता है। यह भी नहीं कि यह कोरी मानसिक अवस्था विशेष है जिसे ज्ञान की एक विलक्षण कोटि या दशा कह सकते हैं। निस्सन्देह पाँचवें अध्याय के 18-19—दो—श्लोकों में जो कुछ कहा है वह तो दर्शन या ज्ञानात्मक ही है। क्योंकि वहाँ साफ ही लिखा है कि पंडित लोग समदर्शी होते या सम नाम की चीज को ही देखते हैं, 'पण्डिताः समदर्शिनः', 'साम्ये स्थितं मनः।' छठे अध्याय के 8-9 श्लोकों में भी 'समलोष्ठाश्मकांचनः', 'समबुद्धिर्विशिष्यते' के द्वारा कुछ ऐसा ही कहा है। हालाँकि 'समलोष्ठाश्मकांचनः' का व्यापक भाव माना जाता है जो आगे बताया जायगा। यही बात उस अध्याय के 32-33 श्लोकों में भी है। क्योंकि 32वें में 'समं पश्यति' लिखा गया है और उसी का उल्लेख 33वें में है। यद्यपि तेरहवें अध्याय के 9वें श्लोक में यह बात इतनी स्पष्ट नहीं है और उसका दूसरा आशय भी संभव है; तथापि 27-28 दो श्लोकों में 'पश्यति' एवं 'पश्यन्' शब्दों के द्वारा उसे ज्ञान ही बताया है। बस।

नकाब और नकाबपोश

इसका आशय यह है कि जिस तरह स्वाँग बनानेवाले की बाहरी वेशभूषा के रहते हुए भी समझदार आदमी उससे धोखे में नहीं पड़ता है; किन्तु असली आदमी को पहचानता और देखता रहता है; ठीक यही बात यहाँ भी है। संसार के पदार्थों का जो बाहरी रूप नजर आता है उसे विवेकी या गीता का योगी एकमात्र नट, नर्त्तक

या स्वाँग बनानेवाले की बाहरी वेशभूषा ही मानता है। इसलिए इन सभी बाहरी आकारों के भीतर या पीछे किसी ऐसी अखण्ड, एकरस, निर्विकार—सम—वस्तु को देखता है जो उसकी अपनी आत्मा या ब्रह्म ही है। उसे समस्त दृश्य भौतिक संसार उसी आत्मा या ब्रह्म की नटलीला मात्र ही बराबर दीखता है। वह तो इस नटलीला की ओर भी दृष्टि न करके उसी सम या एक रस पदार्थ को ही देखता है वह जो बाहरी पर्दा या नकाब है उसे वह उतार फेंकता है और पर्दानशीन या नकाबपोश को हू-ब-हू देखता रहता है।

नरसी मेहता एक ज्ञानी भक्त हो गये हैं। उनकी कथा बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं कि वह एक बार कहीं से आटा और घी माँग लाये। फिर घी को अलग किसी पात्र में रख के कुछ दूर पानी के पास आटा गूँध के रोटी पकाने लगे। जब रोटी तैयार हो गयी तो सोचा कि घी लगा के भगवान् को भोग लगाऊँ और यज्ञशिष्ट या प्रसाद स्वयं ग्रहण करूँ। बेशक, आजकल के नकली भक्तों की तरह ठाकुरजी की मूर्ति तो वह साथ में बाँधे फिरते न थे। वे थे तो बहुत पहुँचे हुए मस्तराम। उनके भगवान् तो सभी जगह मौजूद थे। खैर, उनने रोटियाँ रख के घी की ओर पाँव बढ़ाया और उसे लेके जो उलटे पाँव लौटे तो देखा के एक कुत्ता रोटियाँ लिए भागा जा रहा है! फिर क्या था? कुत्ते के पीछे दौड़ पड़े। कुत्ता भागा जा रहा है बेतहाशा और नरसी उसके पीछे-पीछे हाथ में घी लिए आरजूमिन्नत करते हुए हाँफते-हाँफते दौड़े जा रहे हैं कि महाराज रूखी रोटियाँ गले में अटकेंगी। जरा घी तो लगा देने दीजिए! मुझे क्या मालूम कि आप इतने भूखे हैं कि घी लगाने भर की इंतजार भी बर्दाश्त नहीं कर सकते। यदि मुझे ऐसा पता होता तो और सवेरे ही रोटियाँ बना लेता! अपराध क्षमा हो! अब आगे ऐसी गलती न होगी! कृपया रुक जाइये, आदि-आदि। बहुत दौड़-धूप के बाद तब कहीं कुत्ता रुका और नरसी ने भगवान् के चरण पकड़े!

नरसी को तो असल में कुत्ता नजर आता न था। कुत्ते की शकल तो बाहरी नकाब थी, ऊपरी पर्दा था। वह तो नकाब को फाड़ के उसके भीतर अपने भगवान् को ही देखते थे। उनकी आँखें तो दूसरी चीज देख पाती न थीं। उनके लिए सर्वत्र सम ही सम था, सर्वत्र उनकी आत्मा ही आत्मा थी, ब्रह्म ही ब्रह्म था। नटलीला का पर्दा वह भूल चुके थे—देखते ही न थे। यदि किसी वैज्ञानिक के सामने पानी लाइये तो वह उसमें और ही कुछ देखता है। उसकी दूरदर्शी एवं भीतर घुसनेवाली—पर्दा फाड़ डालनेवाली आँखें उसमें सिवाय ऑक्सिजन और हाइड्रोजन (Oxygen and Hydrogen) नामक दो हवाओं की खास मात्राओं के और कुछ नहीं देखती हैं, हालाँकि सर्वसाधारण की नजरों में वह सिर्फ पानी है, दूसरा कुछ नहीं। वैज्ञानिक की भी स्थूल दृष्टि पानी देखती है, यदि उसे वह मौका दे। नहीं तो वह भी देख नहीं पाती। मगर सूक्ष्म दृष्टि—और वही यथार्थ दृष्टि है—तो उस दृश्य जल को न देख अदृश्य

वायुवों को ही देखती है। यही दशा नरसी की थी। यही दशा गीता के योगी या समदर्शी की भी समझिये।

यदि नौ मन बालू के भीतर दो-चार दाने चीनी के मिला दिये जायँ तो हमारी तेज से तेज आँखें भी उनका पता लगा न सकेंगी, चाहे हम हजार कोशिश करें। मगर चींटी? वह तो खामख्वाह ढूँढ़-ढाँढ़ के उन दानों तक पहुँची जायगी। उसे कोई रोक नहीं सकता। समदर्शी भक्तों की भी यही दशा होती है। जिस प्रकार चींटी की लगन तथा नाक तेज और सच्ची होने के कारण ही वह चीनी के दानों तक अवश्य पहुँचती और उनसे जा मिलती है; बालू का समूह जो उन दानों और चींटी के बीच में पड़ा है उसका कुछ कर नहीं सकता; ठीक वही बात ज्ञानी एवं समदर्शी प्रेमीजनों की होती है। उनके और भगवान् के बीच में खड़े ये स्थूल पदार्थ हर्गिज उन्हें रोक नहीं सकते। शायद किसी विशेष ढंग का एक्सरे (X-ray) या खुर्दबीन उन्हें प्राप्त हो जाता है। फिर तो शत्रु-मित्र, मिट्टी-पत्थर, सोना, सुख-दुःख, मानापमान आदि सभी चीजों के भीतर उन्हें केवल सम ही सम नजर आता है। पर्दा हट जो गया, नकाब फट जो गयी है। यही है गीता के साम्यवाद के समदर्शन का पहलू और यही है उस ज्ञान की दशाविशेष।

रस का त्याग

मगर यह तो एक पहलू हुआ। मन या बुद्धि का पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने पर भी उनके बाहरी या भौतिक आकार एवं रूप की छाप उन पर लगने न पाये और ये इन पदार्थों के इन दृश्य आकारों एवं रूपों से अछूते रह जायँ, यह तो समदर्शन या गीता के साम्यवाद का केवल एक पहलू हुआ। उसका दूसरा पहलू तो अभी बाकी ही है और गीता ने उस पर काफी जोर दिया है। वही तो आखिरी और असली चीज है। इस पहले पहलू का वही तो नतीजा है और यदि वही न हो तो अन्ततोगत्वा यह एक प्रकार से या तो बेकार हो जाता है या परिश्रम के द्वारा उस दूसरे को सम्पादन करने में प्रेरक एवं सहायक होता है। यही कारण है कि गीता में पहले की अपेक्षा उसी पर अधिक ध्यान दिया गया है।

बात यों होती है कि मन का भौतिक पदार्थों से संसर्ग होते ही उनकी मुहर उस पर लग जाती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार फोटोग्राफी में फोटोवाली पटरी या शीशे पर सामने वाले पदार्थों की। सहसा देखने से यह पता नहीं चलता कि सचमुच उस शीशे पर सामने की वस्तु की छाप लगी है; हालाँकि वह होती है जरूर। इसीलिए तो उसे स्पष्ट करने के लिए पीछे यत्न करना पड़ता है। मन या बुद्धि पर भी लगी हुई पदार्थों की छाप प्रतीत नहीं होती। क्योंकि वे तो अदृश्य हैं—अत्यन्त सूक्ष्म हैं। मन या बुद्धि को देख तो सकते नहीं। उनका काम है पदार्थों की छाप या प्रतिबिम्ब लेके बाहर का अपना काम खत्म कर देना और भीतर लौट आना।

मगर भीतर आने पर ही तो गड़बड़ पैदा होती है। मन ने बाहर जाके पदार्थों को प्रकट कर दिया—जो चीजें अज्ञान के अन्धकार में पड़ी थीं उन्हें ज्ञान के प्रकाश में ला दिया। अब उन चीजों की बारी आयी। उनकी छाप के साथ जब मनीराम (मन) भीतर घुसे तो उन पदार्थों ने अब अपना तमाशा और करिश्मा दिखाना शुरू किया। जहाँ पहले भीतर शान्ति सी विराज रही थी, तहाँ अब ऊधम और बेचैनी—उथल-पुथल—शुरू हो गयी! मालूम होता है, जैसे बिरनी के छत्ते में किसी ने कोई चीज घुसेड़ दी और पहले जो वे भीतर चुपचाप पड़ी थीं भनभना के बाहर निकल आयीं। किसी छूतवाली या संक्रामक बीमारी को लेके जब कोई किसी घर या समाज में घुसता है तो एक प्रकार का आतंक छा जाता है, चारों ओर परेशानी छा जाती है और वह छूत की बीमारी जानें कितनों को तबाह करती है। मन पर अपनी मुहर लगा के जब भौतिक पदार्थ उसी रूप में मन के साथ भीतर—शरीर में—घुसते हैं तो ठीक संक्रामक रोग की सी बात हो जाती है और भीतर की शान्ति भंग हो जाती है। वह मन अंग-प्रत्यंग में अपनी उस छाप का असर डालता है। या यों कहिये कि मन के द्वारा बाहरी भौतिक पदार्थ ही ऐसा करते हैं। फलतः हृदय या दिल पूर्ण रूप से प्रभावित हो जाता है। दिल का काम तो खोद-विनोद करना या जानना है नहीं। वह तो ऊँट की पकड़ पकड़ता है। जब उस पर भौतिक पदार्थों का प्रभाव इस प्रकार हुआ तो वह उन्हें जैसे का तैसा पकड़ लेता और परेशान होता है। यदि उसमें विवेक शक्ति होती तो उनसे भाग जाता। मगर सो तो है नहीं, और जिस मन और बुद्धि में यह शक्ति है उनने तो खुद ही यह काम किया है—बाहरी पदार्थों के भीतर पहुँचाया है, या कम से कम उनके कीटाणुओं को ही। फिर हो क्या?

पहले भी कहा जा चुका है कि भौतिक पदार्थ खुद कुछ कर नहीं सकते—ये बुरा-भला कर नहीं सकते, सुख-दुःख दे नहीं सकते। किन्तु मन में जो उनका रूप बन जाता है वही सुख-दुःखादि का कारण होता है। इस बात का विशेष रूप से विवरण ऊपर की पंक्तियों से हो जाता है। जब मन पर भौतिक पदार्थों की छाप पड़ती है तो उसमें एक खास बात पायी जाती है। पहले भी कहा जा चुका है कि उदासीन या लापरवाह आदमी को ये पदार्थ बुरे-भले नहीं लगते। क्योंकि उसके मन पर इनकी मुहर लग पाती नहीं। उनका मन बेलाग जो होता है। जिनके मन में लाग होती है, जिसे लस बोलते हैं, उन्हीं की यह दशा होती है। इसी लाग को गीता ने रस कहा है 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य' (2।59) श्लोक में। राग-द्वेष या काम, क्रोध के नाम से भी इसी चीज को बार-बार याद किया है। यही लाग या रागद्वेष—रस—सब तूफानों का मूल है। यदि यह न हो तो सारी बला खत्म हो जाय। गीता ने इस रस को खत्म करने पर इसीलिए काफी जोर भी दिया है।

अब हालत यह होती है कि भौतिक पदार्थों के इस प्रकार भीतर पहुँचते ही मैं, मेरा, तू, तेरा, अपना-पराया, शत्रु-मित्र, हित-अहित, अहन्ता-ममता आदि का जमघट

लग जाता है—भीतर इनका बाजार गर्म हो जाता है। जैसे मांस का टुकड़ा देखते ही, उसकी गन्ध पाते ही गीध, चील, कौवे आदि रक्तपिपासु पक्षियों की भीड़ लग जाती है और वे इर्द-गिर्द-मँडराने लगते हैं; ठीक वही बात यहाँ भी हो जाती है। मैं-तू, मेरा-तेरा, शत्रु-मित्र आदि जो जोड़े हैं—द्वन्द्व हैं—वे जम के एक प्रकार का आपसी युद्ध—एक तरह की कुश्ती—मचा देते हैं और कोई किसी की सुनता नहीं। ये द्वन्द्व होते हैं बड़े ही खतरनाक। ये तो फौरन ही आपस में हाथापाई शुरू कर देते हैं। पहलवानों की कुश्ती में जैसे अखाड़े की धूल उड़ जाती है इनकी कुश्ती में ठीक उसी प्रकार मनुष्य के दिल की दुर्दशा हो जाती है, एक भी फजीती बाकी नहीं रहती। फिर तो सारे तूफान शुरू होते हैं। इसी के बाद बाहरी लड़ाई-झगड़े जारी हो जाते हैं, हाय-हाय मच जाती है। बाहर के झगड़े-झमेले इसी भीतरी कुश्तम-कुश्ता के ही परिणाम हैं। नतीजा यह होता है कि मनुष्य का जीवन दुःखमय हो जाता है। क्योंकि इन भीतरी कशमकशों का न कभी अन्त होता है और न बाहरी शान्ति मिलती है। भीतर शान्ति हो तब न बाहर होगी?

गीता के आध्यात्मिक साम्यवाद की आवश्यकता यहीं पर होती है। वह इसी भीतरी कशमकश और महाभारत को मिटा देता है, ताकि बाहर का भी महायुद्ध अपने आप मिट जाये। ज्योंही मन बाहरी पदार्थों की छूत भीतर लाये या लाने की कोशिश करे, त्योंही उसका दरवाजा बन्द कर देना यही उस साम्यवाद का दूसरा पहलू है। इसके दोई उपाय हैं। या तो मन में भौतिक पदार्थों की छूत लगने पाये ही न, जैसा कि समदर्शन वाले पहलू के निरूपण के सिलसिले में कहा जा चुका है। तब तो सारी झंझट ही खत्म हो जाती है। और अगर लगने पाये भी, तो भीतर घुसते ही मन को ऐसी ऊँची सतह या भूमिका में पहुँचा दें कि वह अकेला पड़ जाय और कुछ करी न सके; जिस प्रकार छूतवाले को दूर के स्थान में अलग रखते हैं जब तक उसकी छूत मिट न जाये। मन को ध्यान, धारणा या चिन्तन की ऐसी ऊँची एवं एकान्त अट्टालिका में चढ़ा देते हैं कि वह और चीजें देख सकता ही नहीं। अगर उसे किसी चीज में फँसा दें तो दूसरी को देखेगा ही नहीं। उसका तो स्वभाव ही है एक समय एक ही में फँसना। कहते हैं कि ब्रज में गोपियों को जब ऊधव ने ज्ञान और निराकार भगवान् के ध्यान का उपदेश दिया तो उनने चट उत्तर दे दिया कि मन तो एक ही है और वह चला गया है कृष्ण के साथ। फिर ध्यान किससे किया जाय? "इक मन रह्यो सो गयो स्याम संग कौन भजे जगदीस?" यही बात यहाँ हो जाती है और सारी बला जाती रहती है।

मस्ती और नशा

दूसरा उपाय मन की मस्ती है, पागलपन है, नशा है। चौबीसों घण्टे बेहोश बनी रहती है। जिसे प्रेम का प्याला या शौक की शराब कहा है उसी का नशा दिन-रात

बना रहता है। बाहरी संसार का खयाल कभी आता ही नहीं। असल में तो यह बात होती है हृदय में, दिल में। यह मस्ती मन का काम न होके दिल की ही चीज है। मन तो बड़ा ही नीच है, लम्पट है। उसे तो किसी चीज में जबर्दस्ती बाँध रखना होता है। मगर दिल तो गंगा की धारा है, बहता दरिया है जिसका जल निर्मल है। उसी में यह मस्ती आती है, यह पागलपन होता है, यह नशा रहता है और वही मन को मजबूर कर देता है कि चुपचाप बैठ जाये, नटखटी या शैतानियत न करे। इसीलिए इसे मन की भी मस्ती कहा करते हैं। खतरनाक फोड़े के चीरने-फाड़ने के समय डॉक्टर लोग मनुष्य को क्लोरोफार्म के प्रभाव से बेहोश कर देते हैं; ताकि उसे चीर-फाड़ का पता ही न चले। उसका मन कहीं जाता नहीं—किसी चीज में बँध जाता नहीं। किन्तु निश्चेष्ट और निष्क्रिय हो जाता है, उसकी सारी हरकतें बन्द हो जाती हैं, जैसे मुर्दा हो गया हो। यही बात मस्ती की दशा में भी मन की होती है। जब दिल अपने रंग में आता है और प्रेम के प्याले में लिपट जाता है तो गोया मन को क्लोरोफार्म दे दिया और वह मुर्दा बन जाता है। फिर तो कुछ भी कर नहीं सकता। दिल की इसी दशा को साम्यावस्था या साम्ययोग कहते हैं। मन की छूत का ऐसी दशा में न दिल पर असर होता है और न आगे वाला तूफान चालू होता है। जब डंक का ही असर न हो तो हायतोबा, चिल्लाहट और रोने-धोने या मरने का सवाल ही कहाँ?

इस दशा में भीतर की शान्ति ज्यों कि त्यों अखण्ड बनी रह जाती है। हृदय की गम्भीरता (Serenity) नहीं टूटती और कोई खलबली मचने पाती नहीं। जब बाहरी चीजों का उस पर असर होता ही नहीं तो शान्तिभंग हो कैसे? चट्टान से टकरा के जैसे लहरें लौट जाती हैं; छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, ठीक यही हालत मन के द्वारा भीतर आनेवाले भौतिक पदार्थों की होती है। वे कुछ कर पाते नहीं। फलतः अपने-पराये, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, बुरे-भले का द्वन्द्व भीतर हो पाता नहीं। वहाँ तो सभी चीजें एक सी ही रह जाती हैं। जब उनका असर ही नहीं हो पाता तो क्या कहा जाय कि कैसी हैं? इसीलिए उन्हें एकसी कहते हैं। वे खुद एक सी बन तो जाती हैं नहीं। मगर जब उनकी विभिन्नता का, उनके भले-बुरेपन का अनुभव होता ही नहीं तो, उन्हें समान, सम या तुल्य कहने में हर्ज हई क्या? यही बात गीता ने भी कही है। और जब भीतर असर हुआ ही नहीं तो बाहरी महाभारत की तो जड़ ही कट गयी। वह तो भीतरी घमासान का ही प्रतिबिम्ब होता है न?

दूसरे अध्याय में सुख-दुःखादि परस्पर विरोधी जोड़ों—द्वन्द्वों—को सम करने की जो बात 'सुखदुःखे समेकृत्वा' (2।38) आदि के जरिये कही गयी है और 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' (2।48) में जो काम के बनने-बिगड़ने में एकरस—लापरवाह—बने रहने की बात कही गयी है, वह यही मस्ती है। चौथे अध्याय के 'समः सिद्धावसिद्धौ च' (22) में भी यही चीज पायी जाती है। छठे के 'लोहा, पत्थर, सोना को समान

समझता है'—'समलोष्ठाश्मकांचनः' (8) का भी यही अभिप्राय है। नवें में जो यह कहा है कि 'मैं तो सबके लिए समान हूँ, न मेरा शत्रु है न मित्र'—'समोऽहंसर्वभूतेषु न मे द्वेषयोऽस्ति न प्रियः' (29) वह भी इसी का चित्रण है। बारहवें में जो 'अहन्ता-ममता से शून्य, क्षमाशील और सुख-दुःख में एकरस'—'निर्ममो निरहंकारः सम-दुःखसुखः क्षमी' (13), कहा है तथा जो "शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख में एक सा लापरवाह रहे और किसी चीज में चिपके नहीं"—"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः" (18) कहा है, वह इसी चीज का विवरण है। चौदहवें के 24-25 श्लोकों में 'समदुःखसुखः स्वस्थः' आदि जो कुछ कहा है वह भी यही चीज है। यहाँ जो 'स्वस्थः' कहा है उसका अर्थ है "अपने आपमें स्थिर रह जाना।" यह उसी मस्ती या पागलपन की दशा की ही तरफ इशारा है। अठारहवें अध्याय के 54वें श्लोक में भी इसी बात का एक स्वरूप खड़ा कर दिया है 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' आदि शब्दों के द्वारा। यों तो जगह-जगह यही बात कही गयी है; हालाँकि सर्वत्र सम शब्द नहीं पाया जाता।

ज्ञानी और पागल

जनसाधारण को यह सुन के आश्चर्य होगा कि यह क्या बात है कि जो परले दर्जे का तत्त्वज्ञानी हो वही पागल भी हो और बाहरी सुध-बुध रखे ही न। मगर बात तो ऐसी ही है। वामदेव, जड़भरत आदि की ऐसी बातें बराबर कही जाती हैं भी, यही नहीं कि हिन्दुओं के ही यहाँ यह चीज पायी जाती है, या गीता ने ही यही बात 'या निशा सर्वभूतानां' (2।69) में कही है, या सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्त्तिक में खुल के कह दिया है कि "बुद्धतत्त्वस्य लोकोऽयं जड़ोन्मत्तपिशाचवत्। बुद्धतत्त्वोऽपि लोकस्य जड़ोन्मत्तपिशाचवत्"—"पहुँचे हुए तत्त्वज्ञानी की नजरों में यह सारी दुनिया जड़, पागल और पिशाच जैसी है और दुनिया की नजरों में वह भी ऐसा ही है।" किन्तु प्राचीनतम ग्रीक विद्वान् अरिस्टाटिल (अरस्तू) ने भी प्रायः ढाई हजार साल पूर्व यही बात अपनी पुस्तक 'जीवन की बुद्धिमत्ता' (Wisdom of life) में यों कही है :—

"Men distinguished in philosophy, politics, poetry or art appear to be all of a melancholy temperament." (page. 19)

"By a diligent search in lunatic asylums I have found individual cases of patients who were unquestionably endowed with great talents, and whose genius distinctly appeared through their madness" (I, 247).

"जिन लोगों ने दर्शन, राजनीति, कविता या कला में विशेषज्ञता प्राप्त की है उन सबों का ही स्वभाव कुछ मनहूस जैसा रहा है।" "पागलखानों में यत्नपूर्वक अन्वेषण करने पर हमने ऐसे भी पागल पाये हैं जिनका दिमाग निस्सन्देह आले दर्जे का था और पागलपन की दशा में भी उनकी चमत्कारशील प्रतिभा साफ झलकती थी।" पश्चिमी दर्शनों का इतिहास का लेखक दुरान्ती (Duranti) भी लिखता है

कि "The direct connection of madness and genius is established by the biographics of great men, such as Rousseau, Byron, Alfieri etc."

"पागलपन और प्रतिभा का सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है यदि हम रूसो, बायरन, आलफीरी जैसे महापुरुषों की जीवनियाँ गौर से पढ़ें।"

पुराने समाज की झाँकी

बेशक, इस जमाने में यह बात ताज्जुब की मालूम होगी चाहे हजार पुराने दृष्टान्त दिये जायँ, या महापुरुषों के वचन उद्धृत किये जायँ। आज तो ऐसे लोग नजर आते ही नहीं। जीते-जी सदा के लिए हमारी माया-ममता मिट जाये और हम किसी को भी शत्रु-मित्र न समझें, यह बात तो इस संसार में इस समय अचम्भे की चीज जरूर है। गीता ने इस पर मुहर दी है अवश्य। मगर इससे क्या? दिमाग में भी तो आखिर बात आये। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता जाता है, मालूम होता है, यह बात भी त्यों-त्यों दूर पड़ती और असम्भव सी होती जाती है। असल में दिन पर दिन हम इतना ज्यादा भौतिक पदार्थों में लिपटते जाते हैं कि कोई हद नहीं। इसीलिए यह बात असम्भव हो गयी है। मगर पुराने जमाने के समाज में माया-ममता का त्याग इतना कठिन न था। गीता ने जिस समय यह बात कही है उस समय यह बात इतनी कठिन बेशक नहीं थी। उस समय का समाज ही कुछ ऐसा था कि यह बात हो सकती थी। और तो और, यदि हम बर्बर एवं असभ्य कहे जाने वाले लोगों का प्रामाणिक इतिहास पढ़ें तो पता लग जायगा कि उनके लिए यह बात कहीं आसान थी। उनकी सामाजिक परिस्थिति तथा रहन-सहन ही ऐसी थी कि वे आसानी से इस ओर अग्रसर हो सकते थे।

जीसुइत सम्प्रदायवादी शारलेवो नामक फ्रांसीसी पादरी ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम है 'हिस्तोरिया द ला नूवेल फ्रांस' (Historia dela Nouvelle France)। वह अमेरिका के रक्तवर्ण आदि वासियों में घूमता और प्रचार करता था। उसने तथा लहोतन नामक विचारशील पुरुष ने अपने अनुभव एवं दूसरों को भी जानकारी के आधार पर उस पुस्तक के अनेक पृष्ठों में उन असभ्य रक्तवर्ण लोगों के बारे में लिखा है, जिसे पाल लाफार्ग ने अपनी पुस्तक 'सम्पत्ति का विकास' (The Evolution of Property) के 32-33 पृष्ठों में यों उद्धृत किया है:—

"The brotherly sentiments of the Redskins are doubtless in part, ascribable to the fact that the words 'mine and thine', 'those cold words;' as Saint John Chrysostomos calls them, are all unknown as yet to the savages. The protection they extend to the orphans, the widows and the infirm, the hospitality which they exercise in so admirable a manner, are, in their eyes, but a consequece of the conviction which they hold that all things should be common to all men."

"The free thinker Lahotan saya in his 'Voyage de Lahetan II,' Savages do not distinguish between mine and thine, for it may be affirmed that what belongs to the one belongs to the other. It is only among the Christain savages, who dwell at the gates of cities, that money is in use. The other will neither handle it nor even look upon it. They call it : the serpent of the white-men. They think it strange that some should possess more than others, and that those who have most should be more highly esteened than those who have least. They neither quarrel nor fight among themselves; they neither rob nor speak ill of one another."

"बेशक रक्तवर्ण असभ्य लोगों में जो परस्पर भ्रातृभाव पाया जाता है वह किसी हद तक इसीलिए है कि उन लोगों को अब तक 'मेरा और तेरा' का ज्ञान हई नहीं—वही 'मेरा' और 'तेरा', जिन्हें महात्मा जौन्क्रिसोस्तमो ने 'ठण्डे शब्द' ऐसा कहा है। अनाथों, विधवाओं एवं कमजोरों की रक्षा वे लोग जिस तरह करते हैं और जिस प्रशंसनीय ढंग से वे लोग आगन्तुकों का आदर-सत्कार करते हैं वह उनकी नजरों में इसलिए अनिवार्य और स्वाभाविक है कि उनका विश्वास है कि संसार की सभी चीजें सभी लोगों की हैं।"

"स्वतन्त्र विचारक लहोतन ने अपनी 'द्वितीय लहोतन की समुद्रयात्रा' पुस्तक में लिखा है कि असभ्य लोगों में 'मेरे' और 'तेरे' का भेद होता ही नहीं। क्योंकि यह बात उनमें देखी जाती है कि जो चीज एक ही है वही दूसरे की भी है। जो असभ्य लोग क्रिस्तान हो गये हैं और हमारे शहरों के पास रहते हैं केवल उन्हीं लोगों में रुपये-पैसे का प्रचार पाया जाता है। शेष असभ्य न तो रुपया-पैसा छूते और न उनकी ओर ताकते तक हैं। उन्हें यह बात विचित्र लगती है कि कुछ लोगों के पास ज्यादा चीजें होती हैं बनिस्बत औरों के, और जिनके पास ज्यादा हैं उनकी ज्यादा इज्जत होती है बनिस्बत कम रखने वालों के। वे असभ्य न तो आपस में झगड़ते और न लड़ते हैं। वे न तो किसी की चीज चुराते और न एक दूसरे की शिकायत ही करते हैं।"

कितनी आदर्श स्थिति है! कैसी उच्च भावनाएँ हैं! खूबी तो यह है कि ये लोग निरे अपढ़ और निरक्षर हैं! यह ठीक है कि सभ्यता की हवा उन्हें लगी नहीं है। आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले तक जिनने उनकी यह बातें खुद देखी हैं उन्हीं के ये बयान हैं, न कि हजार-दो हजार साल पहले वालों के! इसलिए जो लोग ऐसा समझते हैं कि अहन्ता-ममता के त्याग की बातें कोरी गप्पबाजी है उन्हें होश सँभालना चाहिए। वे आँखें खोलें और देखें कि हकीकत क्या है। पुरानी पोथियों में जो बातें ऋषि-मुनियों के लिए, आदर्श एवं वांछनीय मानी गयी हैं वही असभ्य लोगों में पायी जाती हैं! बेशक, इस मामले में हम सभ्यों से वे असभ्य ही भले हैं! हमने तो अपने-पराये के इस मर्ज के चलते समूचे समाज को ही नर्क बना डाला है—सारे संसार को जलती भट्ठी जैसा कर दिया है!

तब और अब

लेकिन अब हम अपने प्रसंग में आते हैं तो देखते हैं कि गीता का जो आध्यात्मिक साम्यवाद है और जिसकी दुहाई आज बहुत ज्यादा दी जाने लगी है, वह इस युग की चीज हो नहीं सकती, वह जनसाधारण की वस्तु हो नहीं सकती। बिरले माई के लाल उसे प्राप्त कर सकते हैं। इसी कठिनता को लक्ष्य करके कठोपनिषद् में कहा गया है कि "बहुतों को तो इसकी चर्चा सुनने का भी मौका नहीं लगता और सुनकर भी बहुतेरे इसे हासिल नहीं कर सकते—जान नहीं सकते। क्योंकि एक तो इस बात का पूरा जानकार उपदेशक ही दुर्लभ है और अगर कहीं मिला भी तो उसके उपदेश को सुनके तदनुसार प्रवीण हो जाने वाले ही असंभव होते हैं"—"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः" (1।2।7) यही बात ज्यों की त्यों गीता ने भी कुछ और भी विशद रूप से इसकी असंभवता को दिखाते हुए यों कही है कि "आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चन मन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्" (2।29)।

पहले भी तो इस चीज की अव्यावहारिकता का वर्णन किया जाई चुका है। आमतौर से सांसारिक लोगों के लिए तो यह चीज पुराने युग में भी कठिनतम थी—प्रायः असम्भव थी ही। मगर वर्तमान समय में तो एकदम असम्भव हो चुकी है। जो लोग इसकी बार-बार चर्चा करते तथा मार्क्स के भौतिक साम्यवाद के मुकाबिले में इसी आध्यात्मिक साम्यवाद को पेश करके इसी से लोगों को सन्तोष करना चाहते हैं वे तो इससे और भी लाखों कोस दूर हैं। वे या तो पूँजीवादी और जमींदार हैं या उनके समर्थक और इष्ट-मित्र या संगी-साथी। क्या वे लोग सपने में भी इस चीज की प्राप्ति का खयाल कर सकते हैं, करते हैं? क्या वे मेरा-तेरा, अपना-पराया, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ आदि से अलग होने की हिम्मत जन्म-जन्मान्तर भी कर सकते हैं? क्या यह बात सच नहीं है कि उनको जो यह भय का भूत सदा सता रहा है कि कहीं भौतिक साम्यवाद के चलते उन्हें सचमुच हानि-लाभ, शत्रु-मित्र आदि से अलग हो जाना पड़े और सारी व्यक्तिगत सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ जाय, उसी के चलते इस आध्यात्मिक साम्यवाद की ओट में अपनी सम्पत्ति और कारखाने को बचाना चाहते हैं? वे लोग बहुत दूर से घूम के आते हैं सही। मगर उनकी यह चाल जानकार लोगों में छिप नहीं सकती है। ऐसी दशा में तो यह बात उठाना निरी प्रवंचना और धोखेबाजी है। पहले वे खुद इसका अभ्यास कर लें। तब दूसरों को सिखायें। 'खुदरा फजीहत, दीगरे रा नसीहत' ठीक नहीं है।

मुकाबिला भी वे करते हैं किसके साथ? असम्भव का सम्भव के साथ, अनहोनी का होनी के साथ। एक ओर जहाँ यह आध्यात्मिक साम्यवाद बहुत ऊँचा होने के कारण आम लोगों के पहुँच के बाहर की चीज है, तहाँ दूसरी ओर भौतिक साम्यवाद

सर्वजनसुलभ है, अत्यन्त आसान है। यदि ये भलेमानस केवल इतनी ही दया करें कि अड़ंगे लगाना छोड़ दें, तो यह चीज बात की बात में संसार व्यापी बन जाय। इसमें न तो जीते-जी मुर्दा बनने की जरूरत है और न ध्यान या समाधि की ही। यह तो हमारे आये दिन की चीज है, रोज-रोज की बात है; इसकी तरफ तो हम स्वभाव से ही झुकते हैं, यदि स्थायी स्वार्थ (Vested interests) वाले हमें बहकायें और फुसलायें न। फिर इसके साथ उसकी तुलना क्या? हाँ, जो सांसारिक सुख नहीं चाहते वह भले ही उस ओर खुशी-खुशी जायें। उन्हें रोकता कौन है? बल्कि इसी साम्यवाद के पूर्ण प्रचार से ही उस साम्यवाद का भी मार्ग साफ होगा, यह पहले ही कहा जा चुका है।

यज्ञचक्र

गीता में यज्ञ और यज्ञचक्र की भी बात आयी है। यों तो हिन्दुओं की पोथियों में इस बात की चर्चा भरी पड़ी है। उपनिषदों में भी यह बात कुछ निराले ढंग से ही आयी है। मगर गीता का ढंग कुछ दूसरा ही है, जो ज्यादा व्यावहारिक एवं आकर्षक है। उपनिषद् रूपक के ढंग से यज्ञ और हवन का आलंकारिक वर्णन करते हैं और धर्मशास्त्र या पुराण इन्हें स्वर्ग, नर्क या मुक्ति और वैकुण्ठ ही लिए करने की आज्ञा देते हैं। उनने यज्ञों को पूरा धार्मिक रूप दे दिया है। फिर तो स्वर्ग-नर्क की बात आई जाती है और हुक्म या आज्ञा (Order or command) की भी जरूरत होई जाती है। हाँ, मनुस्मृति में "अग्नौप्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः" (3। 76) वचन आया है। इसमें गीता की बातों का कुछ स्थूल आभास पाया जाता है। यह श्लोक इतना तो कहता ही है कि "यज्ञ-यागादि के समय अग्नि में जो कुछ ठीक-ठीक हवन किया जाता है वह सूर्य तक पहुँचता है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है।" महाभारत के शान्तिपर्व के 261वें अध्याय का ग्यारहवाँ श्लोक भी ऐसा ही है। इससे इतना तो साफ होई जाता है कि उस समय लोगों का खयाल यज्ञ के सम्बन्ध में केवल स्वर्गादि तक ही सीमित न रह के समाज की व्यवस्था और उसके भरण-पोषण तक भी गया था। लोग यह मानने लगे थे कि समाज कल्याण के लिए—प्राणियों के सीधे भरण-पोषण आदि के लिए—भी यज्ञ एक जरूरी चीज है। धर्म के रूप में यज्ञ के करने से पुण्य के जरिये लोगों को अन्न-वस्त्रादि प्राप्त होंगे इस खयाल के सिवाय यह विचार भी जड़ पकड़ चुका था कि यज्ञ से सीधे ही वृष्टि में सहायता होती है और उससे अन्नादि उत्पन्न होते हैं।

बेशक, मीमांसकों ने कारीरी नामक याग के बारे में यह भी कहा है कि उसके करने से अवर्षण मिट जाता है और वृष्टि होती है—"कारीर्या वृष्टिकामो यजेत।" मगर आमतौर से सभी यज्ञयागों के बारे में उनका ऐसा मत है नहीं। इसीलिए मनुस्मृति

और शान्तिपर्व के उक्त वचन उस समय के लोगों के विचारों की प्रगति के सूचक हैं। उससे पता चलता है कि किस प्रकार सामान्य रूप से पुण्यप्राप्ति, स्वर्गप्राप्ति आदि से आगे बढ़ के क्रमशः कारीरी यज्ञ के द्वारा सामान्यतः सभी यज्ञों का उपयोग समाजहित के काम में सीधे होने लगा। उपनिषदों के समय में ऋषियों ने और पीछे दार्शनिकों ने भी जो यह स्वीकार किया कि अग्नि से जल और जल से पृथिवी के द्वारा अन्नादि उत्पन्न हुए और इस प्रकार प्राणि-सृष्टि का विकास हुआ उसका भी सम्बन्ध इस यज्ञवाली प्रक्रिया से है या नहीं और अगर है तो कितना यह कहना असम्भव है। यज्ञ और अग्नि का सम्बन्ध पुराने लोग अविच्छिन्न मानते थे। इसीलिए यह खयाल स्वाभाविक है कि शायद वह बात भी इसी सिलसिले में आयी हो। मगर हमें तो उतने गहरे पानी में उतरना है नहीं। हम तो गीता की ही बात देखना चाहते हैं।

इससे पहले कि हम इस यज्ञ के बारे में गीता का मन्तव्य या उसकी विशेषता बतायें यह जान लेना आवश्यक है कि गीता में कहाँ-कहाँ यज्ञ का जिक्र है और किस प्रसंग में। यों तो यज्ञ के बारे में गीता का एक रुख और भाव हम बहुत पहले बता चुके हैं और कह चुके हैं कि उसमें क्या खूबी है। मगर यहाँ उसके दूसरे ही पहलू का वर्णन करना है। इस विवेचन से पहले कही गयी बात पर भी काफी प्रकाश पड़ जायगा। गीता की यह यज्ञ वाली बात जो अपना निरालापन रखती है उसे भी हम बखूबी जान सकेंगे।

गीता में तीसरे ही अध्याय से यज्ञ की बात शुरू होके चौथे में उसका खूब विस्तार है। पाँचवें में भी यज्ञ शब्द अन्त के 29वें श्लोक में आया है। सिर्फ छठे में वह पाया नहीं जाता। फिर लगातार सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह और बारह अध्यायों में यज्ञ की बात आती है। यह ठीक है कि बारहवें में यज्ञ शब्द नहीं आता। मगर तीसरे अध्याय में 'यज्ञार्थ' (3।9) शब्द आया है और 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' (9।16) में भगवान् को ही यज्ञ कहा है। 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (10।25) में भी भगवान् को ही जप यज्ञ कहा है। फिर बारहवें के 10वें श्लोक में 'सत्कर्म', तथा 'मदर्थ कर्म' शब्द आये हैं। इसीलिए उसे भी जप यज्ञ ही माना है। बीचवाले 13, 14, 15 अध्यायों में यज्ञ की चर्चा नहीं है। उसके बाद 16, 17, 18 में स्थान-स्थान पर आयी है। इससे स्पष्ट है कि गीता की दृष्टि से यज्ञ की महत्ता बहुत है, और है वह व्यापक चीज। गीता की खास-खास बातों में एक यह भी है।

अब जरा उसके स्वरूप का विचार करें। सबसे पहले तीसरे अध्याय के 9-16 श्लोकों को ही लें। इन आठ श्लोकों में यज्ञ और यज्ञचक्र की बात आयी है। यहाँ यज्ञ का कोई भी ब्योरा नहीं दिया गया है और न उसका विशेष विश्लेषण ही किया गया है। केवल इतना ही कहा गया है कि "जो कर्म यज्ञ के लिए हो उससे बन्धन नहीं होता है, किन्तु और-और कर्मों से ही"—"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः" (3।9)। इसके बाद यज्ञ को प्राणियों के लिए जरूरी और कल्याणकारी कहके 14-16

श्लोकों में एक शृंखला ऐसी बनायी है जो चक्र की तरह गोल हो जाती है और उसके बीच में यज्ञ आ जाता है। इसी को यज्ञचक्र कह के इसे निरन्तर चालू रखने पर बड़ा ही जोर दिया है। 13वें तथा 16वें श्लोकों में यज्ञ न करनेवालों की सख्त शिकायत भी की गयी है। यहाँ तक कह दिया है कि जो इस चक्र को निरन्तर चालू न रखे वह पतित तथा गुनहगार है और उसका जीना बेकार है!

चौथे अध्याय की यह दशा है कि उसके 23-33 श्लोकों में यज्ञ का बहुत ज्यादा ब्योरा दिया गया है। इन ग्यारह श्लोकों में जो पहला—23वाँ—है उसमें तो वही बात कही गयी है जो तीसरे के 9वें में कि "यज्ञार्थ कर्म सोलहों आना जड़-मूल से विलीन हो जाता है। फिर बन्धन में कौन डालेगा?"—"यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।" इसके बाद यज्ञों की किस्में 24वें से शुरू होके 33वें तक बताई गयी हैं। बीच के 31वें में तो यहाँ तक—साफ कह दिया है कि "जो यज्ञ नहीं करता उसका दुनियावी काम तक तो चली नहीं सकता, परलोक की बात तो दूर रहे"—"नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।" इससे एक तो यज्ञ की व्यापकता तथा समाजोपयोगिता सिद्ध होती है—यह बात पक्की हो जाती है कि वह समाज को कायम रखने के लिए अनिवार्य है। दूसरे यह कि पूर्व के सात श्लोकों में जिन यज्ञों को गिनाया है वह केवल नमूने की तौर पर ही हैं। इसीलिए 28वें श्लोक में गोल-गोल बात ही कही भी गयी है कि—"द्रव्यों से सम्बन्ध रखने वाले, तप-सम्बन्धी, योग-सम्बन्धी, ज्ञान-सम्बन्धी और सद्ग्रन्थसम्बन्धी अनेक यज्ञ हैं"—"द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।" फिर 32वें श्लोक में भी इसकी पुष्टि कर दी गयी है कि "इस प्रकार के अनेक यज्ञ वेदादि सद्ग्रन्थों में बताये गये हैं और सभी के सभी क्रियात्मक या क्रियासाध्य हैं"—"एवं बहुविधा यज्ञा विततता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धितान्सर्वान्।" आखिर में ज्ञानयज्ञ को और यज्ञों से उत्तम कह के इस प्रसंग को पूरा किया है। फिर ज्ञान की प्राप्ति का विचार शुरू किया है।

पाँचवें अध्याय में तो एक ही बार अन्तिम—29वें श्लोक में यज्ञ शब्द आया ही है। उसमें इतना ही कहा गया है कि परमात्मा ही यज्ञों तथा तपों को स्वीकार करने वाला एवं सभी पदार्थों का बड़ों से बड़ा शासक और नियन्त्रणकर्त्ता है। लेकिन यह बात भी है कि सबों का कल्याण भी वह चाहता है—'भोक्तारं यज्ञतपसां' आदि। यह दूसरी बात है कि चौथे अध्याय में जिस प्राणायाम को यज्ञ कहा है उसी का कुछ अधिक विवरण और तरीका इस अध्याय में दिया गया है। छठे में तो प्राणायाम की ही विधि विशेष रूप से दी गयी है। फलतः इस दृष्टि से तो वह भी यज्ञ प्रतिपादक ही है।

सातवें अध्याय की यह हालत है कि उसके 20 से 23 तक के चार श्लोकों में निचले दर्जे के—जघन्य—यज्ञों का वर्णन करके अन्त में कह दिया है कि जो भगवान्

के लिए यज्ञ करता है वही सबसे अच्छा है। यह एक अजीब सी बात है कि जिसकी मर्जी जिस चीज में हो उसकी श्रद्धा उसी में मजबूत कर दी जाती है। यह काम खुद भगवान् करते हैं ऐसी बात "तस्यतस्याचलां श्रद्धां" (21) में साफ ही कही गयी है। इसका एक मतलब तो यही है कि छोटी-छोटी चीजों में एकाग्रता होने और श्रद्धा जम जाने पर मनुष्य का अपने दिल-दिमाग पर काबू होने लगता है। इसलिए मौका पड़ने पर ऊँची चीज में भी वह उसे लगा सकता है। एकाएक वैसी चीज में लगाना असम्भव होता है। इसीलिए पतंजलि ने योगसूत्रों में साफ ही कहा है कि "यथाभिमतध्यानाद्वा" (1। 39)। इसके भाष्य में व्यास ने लिखा है कि "यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभते"—"जिसी में मन लगे उसी का ध्यान करे। जब उसमें मन जमते-जमते स्थिर होने लगेगा तो उससे हटा के दूसरे में भी स्थिर किया जा सकता है।" दूसरी बात यह है कि धर्म तो श्रद्धा की ही चीज है, यह पहले ही कहा जा चुका है। वह न छोटा है न बड़ा, और न ऊँचा है न नीचा। वह कैसा है यह सब कुछ निर्भर करता है इस बात पर कि उसमें हमारी श्रद्धा कैसी है, हमारे दिल-दिमाग, हमारी जबान और हमारे हाथ-पाँवों में—इन चारों में—सामंजस्य कहाँ तक है और हम सच्चे तथा ईमानदार कहाँ तक हैं। इसीलिए यह सामंजस्य पूर्ण न होने के कारण ही कमअक्ल लोगों के कर्मों को तुच्छ फलवाला कहा है "अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्" (7। 23)। लेकिन जिनका सामंजस्य दूसरा हो गया है उनके लिए कहा है कि वे भगवान् रूप ही हैं—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (7। 23)। इस अध्याय के अन्त के 30वें श्लोक में 'अधियज्ञ' के रूप में यज्ञ का नाम लेकर प्रश्न किया है कि वह क्या है, कौन है? अधियज्ञ आदि की बात हम स्वतन्त्र रूप से आगे लिखेंगे।

आठवें अध्याय के तो आरम्भ में ही उसी अधियज्ञ के बारे में दूसरे ही श्लोक में प्रश्न किया गया है कि वह है कौन सा पदार्थ? फिर इसी का उत्तर चौथे श्लोक में आया है कि भगवान् ही इस शरीर के भीतर अधियज्ञ हैं—"अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।" मगर इससे पूर्व के तीसरे श्लोक में कर्म किसे कहते हैं, पूर्व के इस प्रश्न का जो उत्तर दिया गया है कि "पदार्थों के उत्पादन और पालन का कारण जो त्याग या विसर्जन है वही कर्म कहा जाता है"—"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः", वह भी यज्ञ का ही निरूपण है। क्योंकि जैसा कि कह चुके हैं, तीसरे अध्याय में तो वृष्टि आदि के द्वारा यज्ञ का यही काम कहा ही गया है। इसी अध्याय के अन्तिम—28वें श्लोक में भी यज्ञ शब्द आया है। मगर उसका यही मतलब है कि यज्ञ कोई उत्तम चीज है जिसका फल बहुत ही सुन्दर और रमणीय होता है। इससे ज्यादा कुछ नहीं कहा गया है।

नवें अध्याय के 15-16, तथा 20-28 श्लोकों में इस यज्ञ का विस्तार पाया जाता है। 15वें में ज्ञान-यज्ञ का ही विभिन्न रूप बता के दिखाया है कि उसके द्वारा

कैसे भगवान् की पूजा होती है। 16वें में भगवान् को ही यज्ञ करार दे के वैदिक यज्ञ के साधन घी, अग्नि आदि को भी भगवान् का ही स्वरूप कह दिया है। 20-21 श्लोकों में वैदिक सोम-यागादि का क्या परिणाम होता है और स्वर्ग पहुँच के उस यज्ञ के करने वाले फिर क्योंकर कुछी दिनों बाद लौट आते तथा जन्म लेते हैं, यह बताया गया है। 22वें में पुनरपि उसी ज्ञान-यज्ञ के महत्त्व का वर्णन है। 23-25 श्लोकों में सातवें अध्याय की ही तरह दूसरे-दूसरे देवताओं के यज्ञों की बात कह के उसमें इतना और जोड़ दिया है कि वह भी भगवान् की ही पूजा है; हालाँकि जैसी चाहिए वैसी नहीं है। क्योंकि उसे करने वाले यह बात तो समझ पाते नहीं कि यह भी भगवत्पूजा ही है। इसीलिए वे चूकते हैं—उनका पतन होता है। जिस चीज में मन लगाइये वहीं पहुँचियेगा—वही बनियेगा, यही तो नियम है और वे लोग तो दूसरों में—भूत-प्रेत, पितर आदि में—ही मन लगाते हैं, उसी भावना से यज्ञ या पूजन करते हैं। फिर उन्हें भगवान् कैसे मिलें? यही उनका चूकना है।

इस अध्याय के 26-28 तीन श्लोकों में जो कुछ कहा गया है वह है तो यज्ञ ही। मगर है वह बहुत बड़ी चीज। कोई भी काम, जो निश्चित कर दिया गया हो, करते रहिये। बस, वही भगवत्पूजा होती है यदि इसी भावना से वह काम किया जाय, यही अमूल्य मन्तव्य इन श्लोकों में कहा गया है। कर्मों के छुटकारे के लिए खुद कर्म ही किस प्रकार साबुन का काम करते हैं, यही चीज यहाँ पायी जाती है। इन श्लोकों के सिवाय पीछे के 19वें श्लोक में भी कुछ ऐसी बात कही गयी है जिससे पता चलता है कि उसमें भी यज्ञ का ही निरूपण है। भगवान् को तो उससे पूर्व के 16वें श्लोक में यज्ञ कहा ही है। मगर इसमें जो यह कहा गया है कि "मैं ही वर्षा रोकता हूँ और उसे जारी भी करता हूँ"—"अहं वर्षं निगृह्णाम्यत्सृजामि च", उससे पता चलता है कि यज्ञ का ही उल्लेख है। क्योंकि तीसरे अध्याय में तो कही दिया है कि "यज्ञ से ही वृष्टि होती है"—"यज्ञाद्भवति पर्जन्यः।" 'उत्सृजामि' शब्द का अर्थ है उत्सर्ग या छोड़ना—बाधा हटा देना। आठवें में जो विसर्ग कहा गया है वही है यह उत्सर्ग। यज्ञों से वृष्टि की बाधा हटके पानी बरसता है। नवें अध्याय के अन्त के 34वें श्लोक में भी 'मद्याजी' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है 'मेरा—भगवान् का—यज्ञ करनेवाला—भगवत्पूजा'। इसी श्लोक के प्रायः तीन चरण अठारहवें अध्याय के 65वें श्लोक में भी ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। अर्थ भी यही है।

दसवें अध्याय के तो केवल 25वें श्लोक में जप यज्ञ की बात आयी है। इसके बारे में हम भी इस प्रसंग के शुरू में ही कह चुके हैं। ग्यारहवें अध्याय के 'नवेदयज्ञाध्ययनैर्नदानैः' (48), तथा 'नदानेन नचेज्यया' (53) श्लोकों में यज्ञ और इज्या शब्द आये हैं। इज्या का वही अर्थ है जो यज्ञ का। यहाँ केवल यज्ञ का उल्लेख है। कोई खास बात नहीं है। बारहवें अध्याय के 10वें श्लोक में 'मदर्थ' या भगवान् के लिए किये जाने वाले कर्मों का उल्लेख है और यज्ञार्थ कर्म की बात तो कही

चुके हैं। इसीलिए वहाँ भी यज्ञ की ही बात है।

सोलहवें अध्याय में यज्ञ का जिक्र है केवल 15वें तथा 17वें श्लोकों में । यह बात बहुत अच्छी तरह ईश्वरवाद के प्रसंग में लिखी जा चुकी है। हाँ, सत्रहवें अध्याय में यज्ञ की बात बार-बार अनेक रूप में आयी है। पहले और चौथे श्लोक में श्रद्धापूर्वक यज्ञादि करने और सात्त्विक यज्ञों का साधारण उल्लेख है। कोई विवरण नहीं है। हाँ, इतना कह दिया है कि कैसों की यज्ञपूजा किस प्रकार की होती है। यज्ञ के सात्त्विक आदि तीन प्रकार यजनीय और पूजनीय पदार्थों के ही हिसाब से बताये गये हैं। फिर आगे के 11-13—तीन—श्लोकों में यज्ञ के कर्त्ता के अपने ही भावों और विचारों के अनुसार यज्ञ के वही सात्त्विक आदि तीन भेद बताये गये हैं। इसके बाद 23-25—तीन—श्लोकों में और कुछ न कह के यज्ञादि कर्मों की त्रुटियों के पूरा करने का सीधा उपाय बताया गया है कि श्रद्धा के साथ-साथ यदि ओंतत्सत् बोल के उन्हें किया जाय तो उनमें अधूरापन रही नहीं जाता—वे सात्त्विक बन जाते हैं। यही बात 27-28 श्लोकों में भी पायी जाती है। 28वें में हुत शब्द का अर्थ यज्ञ ही है। 27वें का 'तदर्थीयकर्म' भी इसी मानी में आया है। यज्ञार्थ और तदर्थ एक ही चीज है।

अठारहवें अध्याय के 65वें के सिवाय 70वें श्लोक में भी ज्ञानयज्ञ का उल्लेख है। गीता के उपसंहार में ज्ञानयज्ञ का नाम लेना कुछ महत्त्व रखता है। पहले भी तो कही चुके हैं कि और यज्ञों से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। वही बात यहाँ याद हो आयी है। खूबी तो यह है कि उस श्लोक में गीता के पढ़नेवाले को ही कहा है कि वही ज्ञानयज्ञ के द्वारा भगवान् की पूजा करता है। इस प्रकार पठन-पाठन को ज्ञानयज्ञ के भीतर डाल के गीता ने सुन्दर पथ-प्रदर्शन किया है। यज्ञ का अर्थ समझने के लिए कुंजी भी दे दी है। इस अध्याय के प्रारम्भ के 3, 5, 6 श्लोकों में भी यज्ञ, दान, तप इन तीन कर्मों का बार-बार उल्लेख किया है और कहा है कि ये बुनियादी कर्म हैं। इन्हें किसी भी दशा में छोड़ नहीं सकते। इस तरह यज्ञ का महत्त्व सिद्ध कर दिया है।

इतनी दूर तक गीता के यज्ञ का सामान्य तथा विशेष विचार कर लेने के बाद अब हमें मौका मिलता है कि उसकी तह में घुस के देखें कि यह क्या चीज है। तीसरे अध्याय में जो यज्ञचक्र बताया गया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उससे इस मामले पर काफी प्रकाश पड़ता है। इसलिए पहले उसे ही देखें कि उसकी हकीकत क्या है। वहाँ यह क्रम पाया जाता है कि कर्मों से यज्ञ का स्वरूप तैयार होता है, वह पूर्ण होता है—यज्ञ से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है, अन्न से भूतों यानी पदार्थों तथा प्राणियों का भरण-पोषण होता है और उनकी उत्पत्ति भी होती है। इस प्रकार जो एक शृंखला तैयार की गयी है उसके एक सिरे पर भूत आ जाते हैं। भूत का असल तात्पर्य है ऐसे पदार्थों से जिनका अस्तित्व पाया जाय—यानी सत्ताधारी

पदार्थमात्र। उसी शृंखला के दूसरे सिरे पर कर्म पाया जाता है, ऐसा खयाल हो सकता है। होना भी ऐसा ही चाहिए। क्योंकि कर्म का ही सम्बन्ध पदार्थ से मिलाना है और यही चीज गीता को अभिमत भी है। मगर इससे चक्र तैयार हो पाता नहीं। क्योंकि जब तक शृंखला के दोनों सिरे—छोर—मिल न जायँ, जुट न जायँ, चक्र होगा कैसे? चक्र का तो मतलब ही है कि शृंखला के भीतर वाले सभी पदार्थों का लगाव एक सिरे से रहे और कहीं भी वह लगाव टूटने न पाये। फलतः एक बार एक पदार्थ को शुरू कर दिया और वह चक्र खुद-ब-खुद चालू रहेगा। केवल शृंखला रहने पर और चक्र न होने पर यह बात नहीं हो सकती। तब तो बार-बार शृंखला की लड़ियों के किनारे पहुँच के नये सिरे से शुरू करने की बात आ जायगी। मगर चक्र में किनारे की बात ही नहीं होती। सभी लड़ियाँ बीच में ही होती हैं।

यह ठीक है कि भूतों का तो कर्मों से ताल्लुक हई। भूतों में ही तो क्रिया पायी जाती और क्रिया से यज्ञ का सम्बन्ध होके चक्र चालू रहता है। किनारे का सवाल भी अब नहीं उठता। यही सर्वजनसिद्ध बात है भी। मगर इसमें दो चीजों की कमी रह जाती है। एक तो यह बात निरी मशीन जैसी चीज हो जाती है। भूतों की क्रिया के पीछे कोई ज्ञान, दिमाग या पद्धति है, या कि योंही वह क्रिया चालू है, जैसे घड़ी की सुइयों की क्रिया चालू रहती है? यह प्रश्न उठता है और इसका उत्तर जरूरी है। मगर इस चक्र में इसका उत्तर नहीं मिलता है। दूसरी बात यह है कि हमें तो अपने ही दिल-दिमाग के अनुसार कर्मों के करने का हक है, गीता का यह सिद्धान्त बताया जा चुका है इस चक्र में यह बात भी साफ हो पाती नहीं और इसके बिना काम ठीक होता नहीं।

इसीलिए तीसरे अध्याय में उस शृंखला में दो लड़ें और भी जुटी हैं जो इस कमी की पूर्ति कर देती हैं। दोई कमियाँ थीं और दो लड़ें जुट गयीं। वहाँ कहा गया है कि अक्षर से ब्रह्म और ब्रह्म से कर्म पैदा होता है। कर्म का तो यज्ञ के द्वारा उस शृंखला में लगाव हई। मगर प्रश्न यह होता है कि चक्र बनता है कैसे? अक्षर से शुरू करके भूतों पर खात्मा हो जाने पर मिलान तो होती नहीं। भूत और अक्षर तो दो जुदी चीजें हैं न? यह भी नहीं कि जैसे भूतों से कर्म बनते हों—उनके ही द्वारा कर्म होते हों—वैसे ही भूतों से अक्षर होता हो या बनता हो। फलतः भारी अड़चन आ जाती है। दोनों कमियों की पूर्ति कैसे हो गयी यह बात तो अलग ही है—इसका भी पता नहीं चलता।

इस पहेली को सुलझाने के लिए हमें ब्रह्म और अक्षर को पहले जान लेना होगा कि ये दोनों हैं क्या। पहले ही ब्रह्म को लें। गीता में ब्रह्म शब्द तीन अर्थों में आया है। यों तो ब्रह्म शब्द का अर्थ है बृहत् या बड़ा—बहुत बड़ा, सबसे बड़ा। आमतौर से ब्रह्म कहते हैं परमात्मा या भगवान् को ही। उसे इसीलिए समंब्रह्म, परंब्रह्म या परब्रह्म और अक्षरब्रह्म भी कहा करते हैं। ब्रह्म शब्द गीता में कुल मिला के प्रायः

तिरपन बार आया है। अध्याय और श्लोक जिनमें यह शब्द मिलता है इस तरह हैं—(2 । 72), (3 । 15), (4 । 24, 25, 31, 32), (5 । 16, 10, 19, 20, 21, 24, 25, 26), (6 । 14, 28, 38, 44), (7 । 29), (8 । 1, 3, 11, 13, 16, 17, 24), (10 । 12), (11 । 15, 37), (13 । 4, 12), (14 । 3, 4, 26, 27), (17 । 14, 23, 24), (18 । 42, 50, 53, 54)। किसी-किसी श्लोक में कई-कई बार आने के कारण 50 बार से ज्यादा हो जाता है।

मगर यदि पूर्वा पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि पाँच ही अर्थों में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। परमात्मा के अर्थ में तो बार-बार आया है और सबसे ज्यादा आया है। ब्राह्मण जाति के अर्थ में केवल एक बार अठारहवें अध्याय के 42वें श्लोक में पाया जाता है। यों तो इसी ब्रह्म शब्द से बना ब्राह्मण शब्द कई बार आया है। प्रकृति या माया के अर्थ में चौदहवें अध्याय के 3, 4 श्लोकों में पाया जाता है। असल में उसके साथ महत् शब्द लगा है और उसका अर्थ है महान् या महत्तत्त्व। प्रकृति से जिस तत्त्व की उत्पत्ति वेदान्त और सांख्यदर्शनों में मानी जाती है उसे ही महान्, महत् या महत्तत्त्व कहते हैं। तेरहवें अध्याय के 5वें श्लोक में जिसे बुद्धि कहा है वह यही महत् है। यह है समष्टि या व्यापक बुद्धि, न कि जीवों की जुदा-जुदा। वहाँ जिसे अव्यक्त कहा है वही है प्रकृति और चौदहवें में उसी को ब्रह्म कहा है। सातवें अध्याय के चौथे श्लोक में भी उसे बुद्धि और अव्यक्त को अहंकार कह दिया है। वहाँ मन का अर्थ है अहंकार और अहंकार का प्रकृति अर्थ है। चौदहवें में महत् शब्द के सम्बन्ध से ब्रह्म का अर्थ प्रकृति हो जाता है। प्रकृति से ही तो विस्तार या सृष्टि का पसारा शुरू होता है और सबसे पहले समष्टि बुद्धि पैदा होती है। इसीलिए प्रकृति का विशेषण महत् दे दिया है। महत्तत्त्व भी तो प्रकृति से जुदा नहीं है, जैसे मिट्टी से घड़ा।

ब्रह्म शब्द का चौथा अर्थ है हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा। उसी को अव्यक्त भी कहा है। आठवें अध्याय के 16, 17 श्लोकों में ब्रह्मा के ही अर्थ में ब्रह्म शब्द और अठारहवें में अव्यक्त शब्द आया है। ग्यारहवें अध्याय के 15वें में भी ब्रह्म शब्द का ब्रह्मा ही अर्थ है। छठे के 14वें तथा सत्रहवें अध्याय के 14वें श्लोक में ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचर्यवाला ब्रह्म शब्द वेद के ही अर्थ में सर्वत्र आता है और वहाँ भी आया है। चौथे के 'ब्रह्मणोमुखे' का ब्रह्म शब्द भी वेद का ही वाचक है। इसी प्रकार छठे अध्याय के 44वें श्लोक में जो ब्रह्म शब्द है वह भी वेदार्थक ही है। उसके पूर्व में 'शब्द' शब्द लग जाने से दूसरे अर्थ की गुंजाइश वहाँ रही नहीं जाती। तीसरे अध्याय में जो यज्ञचक्र के सिलसिले में ब्रह्म शब्द आया है वह भी वेद का ही वाचक है। शेष ब्रह्म शब्द परब्रह्म या परमात्मा के ही अर्थ में आये हैं। शायद ही कहीं परमात्मा के सिवाय उक्त शेष चार अर्थों में किसी में आये हों।

असल में तो ब्रह्म शब्द के तीन ही मुख्य अर्थ गीता में पाये जाते हैं और

ये हैं वेद, परमात्मा, प्रकृति। यह भी कही चुके हैं कि आमतौर से ब्रह्म का अर्थ परमात्मा ही होता है। शेष अर्थ या तो प्रसंग से जाने जाते हैं, या किसी विशेषण के फलस्वरूप। दृष्टान्त के लिए प्रकृति के अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग होने के समय प्रसंग तो हई। पर, उसी के साथ महत् विशेषण भी जुटा है। यही बात वेद के अर्थ में भी है। शब्द ब्रह्म की बात अभी कही गयी है। 'ब्रह्मणोमुखे' में जो ब्रह्म का अर्थ वेद होता है वह प्रसंगवश ही समझा जाता है। यज्ञों का विस्तार वेदों में ही है। उसे ही वेद का मुख कह दिया है। मुख है प्रधान अंग। इसीलिए मुख और मुख्य शब्द प्रधानार्थक हैं। वेदों के प्रधान अंशों में यज्ञों का ही विस्तार पाया जाता भी है। जिन लोगों ने यहाँ 'ब्रह्मणोमुखे' में ब्रह्म का अर्थ परमात्मा किया है उन्हें क्या कहा जाय ? यज्ञों का विस्तार वेदों में ही तो है। भगवान् के मुख में विस्तार है, यह अजीब बात है। हमें आश्चर्य तो तब और होता है जब वही लोग 'त्रिविद्या मां सोमपाः' (9। 20), तथा 'त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः' (9। 21), में खुद स्वीकार करते हैं कि त्रयी या तीनों वेदों में यज्ञयागादि का ही विशेष वर्णन है। फिर यहाँ वही अर्थ क्यों नहीं किया जाय? तीसरे अध्याय में भी ब्रह्म का विशेषण सर्वगत है। गम् धातु संस्कृत में ज्ञान के अर्थ भी प्रयुक्त होती है। इसीलिए अवगत शब्द का अर्थ है जाना हुआ। इस प्रकार सर्वगत शब्द का अर्थ है सब चीजों को जनाने या बतानेवाला। खुद वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान से ही तो सब चीजें प्रकाशित होती हैं या जानी जाती हैं। इसीलिए यहाँ अर्थ हो जाता है कि सभी बातों को अवगत कराने वाले वेदों से ही कर्म आते हैं, पैदा होते हैं या जाने जाते हैं। वेद का तो काम केवल बताना ही है न?

यह तो सभी वेदज्ञ जानते हैं कि यज्ञयागादि सभी प्रकार के कर्मों पर बहुत ज्यादा जोर वेदों ने दिया है। मीमांसा दर्शन उन्हीं वेदवाक्यों के आधार पर कर्मों का विस्तृत विवेचन करता है। श्रौत तथा स्मार्त्त सूत्रग्रन्थ इन्हीं वैदिक कर्मों की विधियाँ बताते हैं। यहाँ तक कि यजुर्वेद के अन्तिम—चालीसवें—अध्याय के दूसरे मन्त्र में साफ ही कह दिया है कि "कर्मों को करते रहके ही इस दुनिया में सौ साल जीने की इच्छा करे; क्योंकि मनुष्य में कर्मों का लेप न हो—वे मनुष्य को बन्धन में न डालें—इसका दूसरा उपाय हई नहीं"—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।" यह तो कही चुके हैं कि गीता ने भी कर्मों को ही उनके बन्धन के धोने का साबुन बताया है। उसने इसकी तरकीब भी सुझाई है।

परन्तु दरअसल ब्रह्म के दोई भेद किये गये हैं। मुण्डक उपनिषद् के प्रथम खण्ड में ही जिसे परा एवं अपरा विद्या के रूप में 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' कहा है, उसी चीज को सफाई के साथ महाभारत के शान्तिपर्व के (231-6। 269-1) दो श्लोकों में, जो हू-ब-हू एक ही हैं, कह दिया है कि "ब्रह्म तो दोई हैं—पर तथा अपर या

शब्द ब्रह्म और परब्रह्म। जो शब्दब्रह्म में प्रवीण हो जाता है वही परब्रह्म को जान पाता है"—"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द ब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।।" इन्हीं दो में से शब्द-ब्रह्म को गीता के तृतीय अध्याय में सर्वगत ब्रह्म और पर-ब्रह्म को अक्षर कहा है। आठवें (8। 3) में उसे ही अक्षरब्रह्म और परमब्रह्म भी कहा है। और भी स्थान-स्थान पर यही बात पायी जाती है।

इस प्रकार सर्वगत वेद से यदि कर्मों की जानकारी होती है तो यह शंका कि कर्मों के पीछे ज्ञान और दिमाग है या नहीं, अपने आप मिट जाती है। वेद तो ज्ञान को कहते ही हैं। इसलिए मानना पड़ता है कि यज्ञयागादि कर्म घड़ी की सुई की चाल जैसे न हो के ज्ञानपूर्वक होते हैं। इनकी व्यवस्था ही ऐसी है। इसीलिए तो जवाबदेही भी करने वालों पर आती है। अब सिर्फ दूसरी शंका रह जाती है कि लोगों को समझ-बूझ के करने की बात है या नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं कि किसी की प्रेरणा से विवश हो के ही कर्म करने पड़ते हैं। इसका उत्तर "ब्रह्म अक्षर से पैदा हुआ"—ब्रह्माक्षर समुद्भवम्" पद देते हैं। श्वेताश्वर उपनिषद् के अन्तिम—छठे—अध्याय में एक मंत्र आता है कि "जो परमात्मा सबसे पहले ब्रह्मा को पैदा करके उसे वेदों का ज्ञान कराता है"—"यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोत तस्मै" (6। 18)। जगह-जगह वैदिक ग्रन्थों में यही बात पायी जाती है। मनु आदि ने भी यही लिखा है। ब्राह्मण ग्रंथों में भी बार-बार यही कहा गया है। इससे यह बात तो निर्विवाद है कि अविनाशी या अक्षरब्रह्म से वेद पैदा हुए। या यों कहिये कि उसने ही वेद बनाये। और जब ऐसा नहीं कह के कि परमात्मा ने कर्म बनाये, यह कहा है कि उसने वेद बनाये, तो स्पष्ट है कि हम वेदों को पढ़ के जानकारी हासिल करें और कर्मों को समझ-बूझ के करें। अगर यह कह दिया होता कि परमात्मा ने कर्म ही बनाये, तो यही खयाल होता है कि कर्म करने की उसकी आज्ञा या मर्जी है। उसमें सोचने-विचारने का प्रश्न है नहीं।

तब सवाल यह होता है कि चक्र कैसे बनेगा? भूतों का अक्षर ब्रह्म से कौन-सा सम्बन्ध है? जब तक या तो भूतों से अक्षरब्रह्म की उत्पत्ति न मानी जाय, या दोनों की एकता स्वीकार न की जाय तब तक शृंखला के दोनों छोर पृथक्-पृथक् रहेंगे। वे मिलेंगे हर्गिज नहीं। मगर इन दोनों में एक भी सम्भव नहीं। भूतों में तो सभी पदार्थ आ जाते हैं, चाहे जड़ हों या चेतन। फिर सबकी एकता ब्रह्म के साथ होगी कैसे? उनमें ब्रह्म की उत्पत्ति तो कोई भी नहीं मानता। तब यह गुत्थी सुलझे कैसे? यहाँ हमें फिर उपनिषदों की ओर देखना पड़ता है। तभी यह गाँठ सुलझेगी। गीता तो उपनिषद् हई। सभी अध्यायों के अन्त में ऐसा ही कहा गया भी है।

वृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के पाँचवें ब्राह्मण के 11वें मन्त्र में याज्ञवल्क्य एवं मैत्रेयी के संवाद के सिलसिले में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा है कि "यथाद्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चिरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य

निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानिव्याख्यानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्स्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।" इसका आशय यह है कि "जिस तरह गीले ईंधन से अग्नि का सम्बन्ध होने पर उससे चारों ओर धुआँ फैलता है, ठीक उसी तरह इस महान् भूत की साँस के रूप में ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, कला, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान, व्याख्यानों के व्याख्यान, हवन के पदार्थ, यज्ञ के भोज्य तथा पेय पदार्थ, यह लोक-परलोक, सभी भूत चारों ओर फैले हैं।"

यहाँ कई बातें हैं। एक तो वेदादि जितनी ज्ञान की राशियाँ हैं उनका केन्द्र परमात्मा ही माना गया है। दूसरे सृष्टि के सभी पदार्थों का पसारा उसी से बताया गया है। तीसरे भूतों को भी उसी की साँस की तरह कहा गया है। यानी भूत उससे जुदा नहीं है। चौथी बात यह है और यही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उस परमात्मा को महाभूत कहा गया है। आगे के 14-15 मन्त्रों में उसी को अविनाशी आत्मा कहा है, जिसका नाश कभी नहीं होता, जो पकड़ा जा सकता नहीं, जो गलता-पचता नहीं, जो सटता नहीं, जिसे व्यथा नहीं होती और जो घटता नहीं तथा सभी को जानता है—"अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा। अगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्जतेऽसितो न व्यथते न रिष्यते विज्ञातारमरेकेन विजानीयात्।"

भूतों का महाभूत के साथ सम्बन्ध तो बताई दिया है कि भूत उसी महाभूत के रूप हैं। सिर्फ व्यष्टि और समष्टि का विभेद है। मगर है वह सबों की आत्मा ही। समष्टि होने के कारण ही उसे महाभूत कह दिया है। वह ज्ञान का आगार है। इसीलिए तो सबों की समझ का प्रश्न हल हो जाता है। जबर्दस्ती कोई कुछ नहीं करता। जबर्दस्ती या प्रेरणा का सवाल यहाँ हई नहीं। सभी विवेक से काम लेकर जिसे उचित समझें उसे करने को स्वतन्त्र हैं। व्यष्टि और समष्टि का ताल्लुक होने से अक्षर का भूतों के साथ लगाव भी होई गया। दोनों तो एक ही ठहरे। इस प्रकार चक्र पूरा हो गया। इसी यज्ञचक्र के जारी रखने पर जोर दिया गया है।

इसमें कर्म न कह के यज्ञ कहने या इसे यज्ञचक्र बताने में खूबी यही है कि लोग यज्ञ की ओर आसानी से आकृष्ट हो जाते हैं। लोगों के दिल-दिमाग में उसका महत्त्व भरा पड़ा जो है। यह बात कर्म के सम्बन्ध में नहीं है, हालाँकि कर्मों को यज्ञ से अलग नहीं कर सकते। कर्मों से ही यज्ञ सम्पन्न होता है। फिर भी उसे ऊँचा स्थान मिला है। यह बात भी है कि यज्ञ के भीतर आत्मा, ईश्वर और ज्ञान भी आ जाते हैं। मगर कर्म कहने से इनका ग्रहण हो नहीं सकता है। यज्ञ को इतना व्यापक बना दिया है कि उसके भीतर सभी चीजें आ जाती हैं। समाज की वृद्धि, रक्षा और प्रगति के लिए जो कुछ भी किया जाय वह यज्ञ के भीतर आ जाता है। आत्मा को नीचे गिरने से रोकना यह बहुत बड़ा यज्ञ है। पतन से उसे बचाना आवश्यक

है। सत्रहवें अध्याय के छठे श्लोक में जो आत्मा-परमात्मा के कृश करने की बात कही गयी है या घसीटने की—खींचने की—उसका भी मतलब नीचे गिराने-गिरने या पतन से ही है। यह बात आसुरी कामों से होती है। इसीलिए उनकी निन्दा और यज्ञ की प्रशंसा की गयी है। देखिये न, दुनियावी बातों में ऐसे लोग अपनी एवं ईश्वर की कितनी झूठी कसमें खाते हैं और इस प्रकार अपने आपको तथा ईश्वर को भी कितना नीचे घसीट लाते हैं!

जैसे भूत का अर्थ है सत्ताधारी, ठीक उसी प्रकार अन्न का अर्थ है जिसे खाया-पिया जाय या जो औरों को खा-पी जाय—'अद्यतेऽत्ति वा भूतानीत्यन्नम्।' वृष्टि या पानी की सहायता से जो भी चीजें तैयार हों या शुद्ध हों सभी अन्न के भीतर आ जाती हैं। वैदिक यज्ञादि से या वैज्ञानिक रीति से जो वृष्टि कराई जाय, नहर आदि के जरिये या कुएँ से पानी वहाँ पहुँचाया जाय जहाँ जरूरत हो, वृक्षादि की वृद्धि के जरिये वृष्टि को उत्तेजना दी जाय—क्योंकि यह मानी हुई बात है कि जंगलों की वृद्धि से पानी ज्यादा बरसता है और काट देने पर कम—या दूसरा भी जो तरीका अख्तियार किया जाय और जितनी भी वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ सिखाई-पढ़ाई जायँ सभी यज्ञ के भीतर आ जाती हैं। औषधियों के जरिये, स्वच्छता का खूब प्रसार करके या जैसे हो जल की शुद्धि के सभी उपाय यज्ञ ही हैं। फिर आगे जो कुछ भी जल के प्रभाव से हमारे काम के लिए—समाज के लाभ के लिए—किया जाय, बनाया जाय,—फिर चाहे वह शुद्ध हवा हो, खाद्य पदार्थ हों, जमीन हो, घर हों या दूसरी ही चीजें—सभी अन्न के भीतर आ जाती हैं। ज्ञान, ध्यान, समाधि के जरिये जो शक्ति पैदा होती है उससे क्या नहीं होता। योगसिद्धियों का पूरा वर्णन योगसूत्रों में है। इसलिए यह सब कुछ यज्ञ ही है। जो भी काम आत्मा, समाज तथा पदार्थों की सर्वांगीण उन्नति के लिए जरूरी हो उससे चूकना पाप है। यही गीता का उपदेश है, यही यज्ञचक्र का रहस्य है।

अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ

अब हमें जरा सातवें अध्याय के अन्त और आठवें के शुरू में कहे गये गीता के अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ का भी विचार कर लेना चाहिए। गीता में ये बातें पढ़ के सर्वसाधारण की मनोवृत्ति कुछ अजीब हो जाती है। ये शब्द कुछ ऐसे नये और निराले मालूम पड़ते हैं जैसे विदेशी हों। असल में यज्ञ, भूत, दैव, आत्मा शब्द या इनके अर्थ तो समझ में आते हैं। इसीलिए इनके सम्बन्ध में किसी को कभी गड़बड़ी मालूम नहीं होती। मगर अध्यात्म आदि शब्द एकदम नये मालूम पड़ते हैं। इसीलिए कुछ ठीक जँचते नहीं। यही कारण है कि ये बातें पहेली जैसी मालूम पड़ती हैं। ऐसा लगता है कि ये किसी और ही दुनिया की चीजें हैं।

एक बात और भी है। छान्दोग्य आदि उपनिषदों में अध्यात्म, अधिभूत और

अधिदैव या आधिदैवत शब्द तो पाये जाते हैं। इसलिए जो उपनिषदों का मन्थन करते और उनका अर्थ समझते हैं वह इन शब्दों के अर्थ गीता में भी समझने की कोशिश कर सकते हैं, करते हैं। इनके अर्थ भी वे लोग जैसे-तैसे समझ पाते हैं। मगर अधियज्ञ बिलकुल ही नया है। यह तो उपनिषदों में भी पाया जाता है नहीं। इसलिए न सिर्फ यह अकेला एक पहेली बन जाता है, बल्कि अपने साथ अध्यात्म आदि को भी वैसी ही चीज बना डालता है। जब हम अधियज्ञ का ठीक-ठीक आशय समझ नहीं पाते तो खयाल होता है कि हो न हो, अध्यात्म आदि भी कुछ इसी तरह की अलौकिक चीजें हैं। आठवें अध्याय के 3-4 श्लोकों में जो इनके अर्थ बताये गये हैं उनसे तो यह उलझन सुलझने के बजाय और भी बढ़ जाती है। जिस प्रकार कहते हैं कि "मघवा मूल और विडौजा टीका"। यानी मघवा शब्द का अर्थ किसी ने विडौजा किया सही। मगर उससे सुननेवालों को कुछ पता ही न लगा। वे तो और भी परेशानी में पड़ गये कि यह विडौजा कौन सी बला है। मघवा में तो मघ शब्द था जो माघ जैसा लगता था। मगर विडौजा तो एकदम अनजान ही है। ठीक यही बात यहाँ हो जाती है। ये शब्द तो कुछ समझ में आते भी हैं, कुछ परिचित जैसे लगते हैं। मगर इनके जो अर्थ बताये गये हैं वे? वे तो ठीक विडौजा जैसे हैं और समझ में आते ही नहीं।

बेशक यह दिक्कत है। इसलिए भीतर से पता लगाना होगा कि बात क्या है। एतदर्थ हमें उपनिषदों से ही कुंजी मिलेगी। मगर वह कुंजी क्या है यह जानने के पहले यह तो जान लेना ही होगा कि अधियज्ञ गीता की अपनी चीज है। गीता में नवीनता तो हई। फिर यहाँ भी क्यों न हो ? गीता ने यज्ञ को जो महत्त्व दिया है और उसके नये रूप के साथ जो इसकी नयी उपयोगिता उसने सुझाई है उसी के चलते अध्यात्म आदि तीन के साथ यहाँ अधियज्ञ का आ जाना जरूरी था। एक बात यह भी है कि यज्ञ तो भगवत्पूजा की ही बात है। गीता की नजरों में यज्ञ का प्रधान प्रयोजन है समाज कल्याण के द्वारा आत्मकल्याण और आत्मज्ञान। गीता का यज्ञ चौबीस घण्टा चलता रहता है यह भी कही चुके हैं। इसलिए गीता ने आत्मज्ञान के ही सिलसिले में यहाँ अधियज्ञ शब्द को लिख के शरीर के भीतर ही यह जानना-जनाना चाहा है कि इस शरीर में अधियज्ञ कौन है? बाहर देवताओं को या तीर्थ और मन्दिर में भगवान् को ढूँढ़ने के बजाय शरीर के भीतर ही यज्ञ-पूजा मान के गीता ने उसी को तीर्थ तथा मन्दिर करार दे दिया है और कह दिया है कि वहीं आत्मा-परमात्मा की ढूँढ़ो। बाहर भटकना बेकार है। प्रश्न और उत्तर दोनों में ही जो 'इस शरीर में'—'अत्र देहेऽस्मिन्' कहा गया है उसका यही रहस्य है।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी जान लेना चाहिए। अगस्त कोन्त (Auguste Comte) नामक फ्रांसीसी दार्शनिक ने तथा और भी पश्चिमी दार्शनिकों ने किसी चीज के और खासकर समाज और सृष्टि के विवेचन के तीन तरीके माने हैं, जिन्हें पॉजिटिव

(Positive) थियोलौजिकल (Theological) और मेटाफिजिकल (Metaphysical) नाम दिया गया है। मेटाफिजिक्स अध्यात्मशास्त्र को कहते हैं, जिसमें आत्मा-परमात्मा का विवेचन होता है और थियोलौजी कहते हैं, धर्मशास्त्र को, जिसमें स्वर्ग, नर्क तथा दिव्यशक्ति-सम्पन्न लोगों का, जिन्हें देवता कहते हैं, वर्णन और महत्त्व पाया जाता है। पॉजिटिव का अर्थ है निश्चित रूप से प्रतिपादित या सिद्ध किया हुआ, बताया हुआ। कोन्त के मत से किसी पदार्थ को दैवी या आध्यात्मिक कहना ठीक नहीं है। वह इन बातों को बेवकूफी समझता है। उसके मत से कोई चीज स्वाभाविक (Natural) भी नहीं कहा जा सकती। ऐसा कहना अपने आपके अज्ञान का सबूत देना है। किन्तु हरेक दृश्य पदार्थों का जो कुछ ज्ञान होता है वही हमें पदार्थों के स्वरूपों को बता सकता है और उसी के जरिये हम किसी वस्तु के बारे में निर्णय करते हैं कि कैसी है, क्या है आदि। बेशक, यह ज्ञान आपेक्षिक होता है—देश, काल, परिस्थिति और पूर्व जानकारी की अपेक्षा करके ही यह ज्ञान होता है, न कि सर्वथा स्वतन्त्र। इसी ज्ञान के द्वारा उसके पदार्थों का विश्लेषण करके जो कुछ स्थिर किया जाता है वही पॉजिटिव है, असल है, वस्तुतत्त्व है। इसी प्रणाली को लोगों ने आधिभौतिक विवेचन की प्रणाली कहा है। इसे ही मैटिरियलिस्टिक मेथड (Materialistic method) भी कहते हैं। शेष दो को क्रमशः आधिदैवत एवं आध्यात्मिक विवेचन प्रणाली कहते हैं।

आधिदैवत प्रणाली में दिव्य शक्तियों की सत्ता स्वीकार करके ही आगे बढ़ते हैं। उसमें मानते हैं कि ऐसी अलौकिक ताकतें हैं जो संसार के बहुत से कामों को चलाती हैं। बिजली का गिरना, चन्द्र-सूर्य आदि का भ्रमण तथा निश्चित समय पर अपने स्थान पर पहुँच जाना, जिससे ऋतुओं का परिवर्तन होता है, आदि बातें ऐसे लोग उस दैवी-शक्ति के ही प्रभाव से मानते हैं। ये बातें मानवीय शक्ति के बाहर की हैं। हमारी तो वहाँ पहुँच हई नहीं। सूर्य से निरन्तर ताप निकल रहा है। फिर भी वह ठण्डा नहीं होता! ऐसा करने वाली कोई दिव्य-शक्ति ही मानी जाती है। हम किसी चीज को कितना भी गर्म करें। फिर भी खुद बात की बात में वह ठण्डी हो जाती है। मगर सूर्य क्यों ठण्डा नहीं होता? उसमें ताप कहाँ से आया और बराबर आता ही क्यों कहाँ से रहता है? ऐसे प्रश्नों का उत्तर वे लोग यही देते हैं संसार का काम चलाने के लिए वह ताप और प्रकाश अनिवार्य होने के कारण संसार का निर्माण करने वाली वह दैवी-शक्ति ही यह सारी व्यवस्था कर रही है। इसी प्रकार प्राणियों के शरीरों की रचना वगैरह को भी ले सकते हैं। जाने कितनी बूँदें वीर्य की यों ही गिर जाती हैं और पता नहीं चलता कि क्या हुईं । मगर देखिये उसी की एक ही बूँद स्त्री के गर्भ में जाने से साढ़े तीन हाथ का मोटा-ताजा, विद्वान् और कलाकार मनुष्य के रूप में तैयार हो जाता है सिंह, हाथी आदि जन्तु बन जाते हैं! यह तो इन्द्रजाल ही मालूम होता है! मगर है यह काम किसी अदृश्य हाथ या दिव्य शक्ति का ही। इसलिए उसकी ही पूजा-आराधना करें तो मानव-समाज का कल्याण

हो। वह यदि जरा सी भी नजर फेर दे तो हम क्या से क्या हो जायँ। शक्ति का भण्डार ही तो वह देवता आखिर है न? जिस प्रकार आधिभौतिकवादी जड़-पदार्थों की पूजा करते हैं या यों कहिये कि इन्हीं के अध्ययन में दिमाग खर्चना ठीक मानते हैं, ठीक वैसे ही आधिदैवतवादी देवताओं के ही ध्यान, अन्वेषण आदि को कर्तव्य समझते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष इन दोनों को ही स्वीकार न करके यही मानता है कि हर चीज की अपनी हस्ती होती है, सत्ता होती है, अपना अस्तित्व होता है। वही उसकी अपनी है, स्व है, आत्मा है। उसे हटा लो, अलग कर दो। फिर देखो कि वह चीज कहाँ चली गयी, लापता हो गयी! मगर जब तक उसकी आत्मा मौजूद है, सत्ता कायम है तब तक उसमें कितनी ताकतें हैं! बारूद या डिनामाइट से पहाड़ों को फाड़ देते हैं। बिजली के क्या-क्या करामाती काम नहीं होते! आग क्या नहीं कर डालती! दिमागदार वैज्ञानिक क्या-क्या अनोखे आविष्कार करते हैं! हाथी पहाड़ जैसा जानवर कितना बोझ ढो लेता है! सिंह कितनी बहादुरी करता है! मनुष्यों की हिम्मत और वीरता का क्या कहना! मगर ये सब बातें तभी तक होती हैं जब तक इन चीजों की हस्ती है, सत्ता है, आत्मा है। उसे हटा दो, सत्ता मिटा दो। फिर कुछ न देखोगे। अतएव यह आत्मा ही असल चीज है, इसी की सारी करामात है। इसका हटना या मिटना यही है कि हम इसे देख नहीं पाते। यह हमसे ओझल हो जाती है। इसका नाश तो कभी होता नहीं, हो सकता नहीं। आखिर नाश की भी तो अपनी आत्मा है, सत्ता है, हस्ती है। फिर तो नाश होने का अर्थ ही है आत्मा का रहना। यह भी नहीं कि वह आत्मा जुदा-जुदा है। वह तो सबों में—सभी पदार्थों में—एक ही है। उसे जुदा करे कौन? जब एक ही रूप, एक ही काम, एक ही हालत ठहरी, तो विभिन्नता का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जो विभिन्नता मालूम पड़ती है वह बनावटी है, झूठी है, धोखा है, माया है। यह ठीक है कि शरीरों में ज्ञान के साधन होने से चेतना प्रतीत होती है। मगर पत्थर में यह बात नहीं। लेकिन आत्मा का इससे क्या? आग सर्वत्र है। मगर रगड़ दो तो बाहर आ जाय। नहीं तो नहीं! ज्ञान को प्रकट करने के लिए इन्द्रियाँ आग के लिए रगड़ने के समान ही हैं। इस तरह आध्यात्मिक पक्षवाले सर्वत्र आत्मा को ही देखते हैं, ढूँढ़ते हैं। उसे ही परमात्मा मानते हैं।

अन्य मतवाद

कुछ लोगों का खयाल है कि इन्हीं आधिभौतिक, आदिदैवत एवं आध्यात्मिक—तीनों—पक्षों का जिक्र गीता में किया गया है। उनके मत से गीता का यही कहना है कि हमें इन सभी पक्षों को जानना चाहिए। जिन्हें मुक्ति लेना है और जन्म-मरण से छुटकारा पाना है उन्हें इन सभी पक्षों का मन्थन करना ही होगा। वे खामख्वाह इन सबों का मन्थन करते हैं। सातवें अध्याय के अन्त के जिन दो श्लोकों में ये बातें कही गयी

हैं और इसीलिए आठवें के शुरू में इनके बारे में पूछने का मौका अर्जुन को मिल गया है, उनमें पहले यानी 29वें श्लोक में तो उनके मत से कुछ ऐसा ही लिखा भी गया है। वह श्लोक यों है, "जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।" इसका अर्थ यह है कि "जो लोग भगवान् का आश्रय लेकर जन्म, मरणादि से छुटकारा पाने की कोशिश करते हैं वे उस ब्रह्म को पूरा-पूरा जान लेते हैं, सभी कर्मों को जान जाते हैं और अध्यात्म आदि को भी जानते हैं।" इससे वे लोग अपना खयाल सही साबित करते हैं।

मगर बात दरअसल ऐसी है नहीं। वस्तुओं के विवेचन के उक्त तीन तरीके हैं सही। इन्हें लोग अपनी-अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार ही अपनाते भी हैं। मगर यहाँ उन तरीकों तथा प्रणालियों से मतलब हर्गिज है नहीं। यदि इन श्लोकों से पहले के सिर्फ सातवें अध्याय के ही श्लोकों पर गौर किया जाय तो साफ मालूम हो जाता है कि आत्मा-परमात्मा की एकता के ज्ञान का ही वह प्रसंग है। इसीलिए वही बात किसी न किसी रूप में कई प्रकार से कही गयी है। 16-19 श्लोकों में तो भक्तों के चार भेदों को गिना के ज्ञानी को ही चौथा माना है और कहा है कि "ज्ञानी तो मेरी—भगवान् की—आत्मा ही है"—"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (7।18)। इसकी वजह भी बताते हैं कि "वह तो हमसे—परमात्मा से—बढ़ के किसी को मानता ही नहीं और हमीं में डूब जाता है"—"आस्थितः सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्" (7।18) लेकिन इसके बाद ही जो यह कहा है कि "संसार में जो कुछ है वह सबका सब वासुदेव—परमात्मा—ही है, ऐसा जो समझता है, वह तो अत्यन्त दुर्लभ महात्मा है"—"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" (7।19), वह तो बाकी बातों को हवा में मिला देता है। उससे तो स्पष्ट हो जाता है कि यही एक ही चीज दरअसल जानने की है।

इतना ही नहीं। इसके आगे 20-27 श्लोकों में उन लोगों की काफी निन्दा भी की गयी है जो दूसरे देवताओं या पदार्थों की ओर झुकते हैं। उनकी समझ घपले में पड़ी हुई बताई गयी है, "हृतज्ञानाः" (7।20)। "इसीलिए तुच्छ एवं विनाशशील फलों को ही वे लोग प्राप्त कर पाते हैं।"—"अन्तवत्तु फलं तेषां" (7।23)। भौतिक दृष्टिवालों के बारे में तो यहाँ तक कह दिया है कि हमारे असली रूप को न जान के ही ऐसे बुद्धिहीन लोग स्थूल रूप में ही हमें देखते हैं—"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः" (7।24)। आगे के तीन श्लोकों में इसी बात का स्पष्टीकरण हुआ है। अन्त में तो यहाँ तक कह दिया है कि रागद्वेष के चलते जो अपने-पराये और भले-बुरे की गलत धारणा हो जाती है उसी का यह नतीजा है कि लोग इधर-उधर इस सृष्टि के भौतिक पदार्थों में भटकते फिरते हैं—"इच्छाद्वेष समुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत। सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप" (7।27)। इसके विपरीत जिन सत्कर्मियों में यह रागद्वेषादि ऐब नहीं हैं वे अपने-पराये आदि के झमेले में न पड़

के पक्के निश्चय एवं दृढ़संकल्प के साथ केवल हमीं—परमात्मा—में रम जाते हैं—"येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः" (7। 28)। इसी के बाद वे श्लोक आये हैं। तब कैसे कहा जाय कि उनमें आधिभौतिक आदि विवेचनों पर जोर दिया गया है या ऐसे विवेचनों की जानकारी अवश्य प्राप्तव्य बताई गयी है?

इसके सिवाय उक्त तीन बातों के अलावा ब्रह्म और कर्म की जानकारी की भी तो बात वही लिखी है। शंका भी इन दोनों ही के बारे में की गयी है। उत्तर भी दिया गया है। भला अधियज्ञ को तो उन्हीं तीनों के साथ जैसे-तैसे जोड़ के वे लोग पार हो जाते हैं। मगर मरने के समय भगवान् की जानकारी कैसे होती है, यह भी तो एक प्रश्न है। पता नहीं वे लोग इसे किस पक्ष में डालते हैं ऐसा तो कोई पुराना पक्ष है नहीं। और अधियज्ञवाला पक्ष तो बिलकुल ही नया है। फिर पुरानों के साथ इसका मेल कैसे होता है? खूबी तो यह है कि उनने 'अधिदेह' नाम का एक दूसरा भी पक्ष यहीं पर खड़ा कर दिया है और यह ऐसा है कि "न भूतो न भविष्यति।" यदि वे लोग यह समझ पाते कि अध्यात्म शब्द में जो आत्मा शब्द है वह देह के ही मानी में है और जहाँ-तहाँ यह शब्द छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों या और जगह आया है इसी मानी में आया है, तो शायद अधिदेह की बात बोलने की हिम्मत ही न करते। ज्यादा तो नहीं, लेकिन हमारा उनसे यही अनुरोध है कि छान्दोग्य के पहले अध्याय का दूसरा, खण्ड बृहदारण्यक के पहले अध्याय के पाँचवें ब्राह्मण का 21वाँ मन्त्र तथा कौषीत की उपनिषद् के चौथे अध्याय के 9-17 मन्त्रों को गौर से पढ़ जायें। तब उन्हें पता लगेगा कि अध्यात्म में जो आत्मा शब्द है वह शरीर का ही वाचक है या नहीं।

लेकिन जब कर्म, ब्रह्म और मरण काल का ब्रह्मज्ञान किसी पुराने पक्ष की चीज नहीं है तो फिर अध्यात्म वगैरह को ही क्यों पुराने पक्ष में घसीटा जाय? और इन पक्षों को जानने से लाभ ही क्या? किसी विश्वविद्यालय की न तो परीक्षा ही देनी है और न कोई उपाधि ही लेनी है। कोई पुस्तक भी नहीं लिखनी है कि पाण्डित्य का प्रदर्शन किया जायगा या खण्डन-मण्डन ही होगा, जिसके लिए इन अनेक पक्षों की जानकारी जरूरी हो जाती है। यहाँ तो ब्रह्मज्ञान और मोक्ष का ही सवाल है। सो भी मरणकाल की जानकारी की बात उठा के यह भी जनाया है कि विशेष रूप से मरण समय के लिए जरूरी बातें यहाँ बता दी गयी हैं। यही कारण है कि चार श्लोकों में ये बातें खत्म करके पाँचवें के ही 'अन्तकाले च' आदि शब्दों से शुरू करके उसी अन्तकाल या मरण समय की ही बातें अन्त तक लिखी गयी हैं। तरीका भी बताया गया है कि किस प्रकार उस समय आत्मा और ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। मरने पर लोग किन-किन रास्तों से हो के जाते हैं यह बात भी अन्त में कही गयी है। ऐसी हालत में आधिभौतिक आदि मतवादों का तो यहाँ अवसर ही नहीं

है। इसीलिए मानना पड़ता है कि इन बखेड़ों से यहाँ कोई भी मतलब नहीं है।

अपना पक्ष

असल बात यह है कि प्राचीन समय में कुछ ऐसी प्रणाली थी कि हम क्या हैं, यह संसार क्या है और हमारा इसके साथ सम्बन्ध क्या है, इन्हीं तीन प्रश्नों को लेकर जो अनेक दर्शनों की विचारधाराएँ हुई थीं और आत्मा-परमात्मा आदि का पता लगा था, या यों कहिए कि इनकी कल्पना की गयी थी, उन्हीं में एक व्यावहारिक या अमली धारा ऐसी भी थी कि उसके माननेवाले निरन्तर चिन्तन में लगे रहते थे। उनकी बात कोई शास्त्रीय-विवेचन की पद्धति न थी। वे तो खुद दिन-रात सोचने-विचारने एवं ध्यान में ही लगे रहते थे। इसीलिए हमने उनकी धारा या प्रणाली को अमली और व्यावहारिक (Practical) कहा है। इस प्रणाली के सैद्धान्तिक पहलू पर लिखने-पढ़ने या विवाद करने वाले भी लोग होंगे ही। मगर हमारा उनसे मतलब नहीं है और न गीता का ही है। गीता में तो अमली बात का वह प्रसंग ही है। वही बात वहाँ चल रही है। आगे भी मरण समय की बात आ जाने के कारण अमली या व्यावहारिक चीज की ही आवश्यकता हो जाती है। मरणकाल में कोरे दार्शनिकवादों से सिवाय हानि के कुछ मिलने-जुलनेवाला तो है नहीं।

ऐसे लोगों ने दृश्य—बाहरी—संसार को पहले दो भागों में बाँटा। पहले भाग में रखा अपने शरीर को। अपने शरीर से अर्थ है चिन्तन करनेवालों के शरीर से। फिर भी इस प्रकार सभी जीवधारियों के शरीर, या कम से कम मनुष्यों के शरीर इस विभाग में आ जाते हैं। क्योंकि सोचने-विचारने का मौका तो सभी के लिए है। हालाँकि एक आदमी के लिए दूसरों के भी शरीर वैसे ही हैं जैसे अन्न, वस्त्र, पृथिवी, वृक्ष आदि पदार्थ। शरीर के अतिरिक्त शेष पदार्थों को भूत या भौतिक माना गया। पीछे इन भौतिक पदार्थों के दो विभाग कर दिये गये। एक तो ऐसों का जिनमें कोई खास चमत्कार नहीं पाया जाता। इनमें आ गये वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्र, पृथिवी आदि। दूसरा हुआ उन पदार्थों का जिनमें चमत्कार पाया गया। इनमें आये चन्द्र, सूर्य, विद्युत आदि। इस प्रकार शरीर, पृथिवी आदि सूर्य प्रभृति, इन तीन विभागों में दृश्य संसार को बाँट दिया गया। शुरू में तो शरीर के सिवाय आत्मा, स्व, या निज नाम की और चीज का पता था नहीं। इसलिए शरीर को ही आत्मा भी कहते थे। पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों को, जिनमें चमत्कार या दिव्य-शक्ति नहीं देखी गयी, भूत कहने लगे। भूत का अर्थ है ठोस। इन्हें छू के इनका ठोसपन जान सकते थे। मगर जो आदमी की पहुँच के बाहर के सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, आदि पदार्थ थे उन्हें देवता, देव या दिव्य कहते थे। इनके ठोसपन का पता तो लगा सकते न थे। ये चीजें आकाश में ही नजर आती हैं। इसलिए आकाश को भी दिव् या द्यु कहते थे। वह ठोस भी तो नहीं है। जिस स्वर्ग नामक स्थान में इन दिव्य पदार्थों का निवास माना गया वह

भी दिव् या द्यु कहा जाने लगा।

इस प्रकार आत्म या आत्मा, भूत और देव या देवता इन–तीन–विभागों के हो जाने के बाद सोचने-विचारने, चिन्तन या ध्यान की प्रक्रिया आगे बढ़ी। आगे चल के शरीर के विश्लेषण करने पर इन्द्रिय प्राण, बुद्धि आदि को शरीर से स्वतन्त्र स्वीकार करना पड़ा। भौतिक शरीर को छोड़ देने के बाद भी इन्द्रिय, प्राणादि रहते हैं। तभी तो जन्म, मरण, पुनर्जन्म आदि की बात मानी जाती है। यदि ये अलग न होते तो कौन जाता, कौन आता और किसका जन्म बार-बार होता? फलतः आत्मा या शरीर में रहने के कारण ही इन्द्रियादि को अध्यात्म कहा गया। उपनिषदों में यही बात रह-रह के लिखी पायी जाती है। पाणिनीय व्याकरण के अव्ययीभाव समास के नियमानुसार यही अर्थ भी अध्यात्म शब्द का है कि आत्मा में रहने वाला। 'अधि' को अव्यय कहते हैं। उसी का आत्म शब्द के साथ समास हो के अध्यात्म बना है। फिर कालान्तर में जब अन्वेषण और भी आगे बढ़ा तो शरीर, इन्द्रियादि से अलग आत्मा नामक एक अजर-अमर पदार्थ की कल्पना हुई। उसकी भी जानकारी तो शरीर में ही होती है। उसे भी इसीलिए अध्यात्म कह दिया। उसी आत्मा को जब परमात्मा मान लिया और इसका विवेचन भी किया गया तो सभी विवेचनों को अध्यात्मशास्त्र, आध्यात्मिकशास्त्र या आध्यात्मिक विवेचन नाम दिया गया।

इसी प्रकार भौतिक पदार्थों या भूतों का भी विश्लेषण एवं विवेचन किया गया और उनमें जो रूप, रस, गन्ध आदि खूबियाँ या विशेषताएँ पायी गयीं उन्हें अधिभूत कहा गया। वे भूतों में ही जो पायी गयीं। कुछ अन्वेषणकर्त्ता यहीं टिक गये और आगे न बढ़े। दूसरे लोग आगे बढ़े और इन भूतों में भी सत्ता, अस्तित्व आदि जैसी चीजों का पता लगाया। इनके बारे में हमने पहले ही बहुत कुछ कहा है। इसी प्रकार देव या देवता कहे जाने जानेवालों की भी जाँच-पड़ताल होती रही। भूतों के अन्वेषण होने पर जिन पदार्थों को अधिभूत कहा गया उनके सम्बन्ध के विवेक, विचार और मन्थन आदि को ही आधिभौतिक नाम दिया गया। इसी तरह देवों या देवताओं में जो भी विभूति, खूबी, चमक, आभा वगैरह जान पड़ी उसे अधिदेव, अधिदैव या अधिदैवत नाम दिया गया। तत्सम्बन्धी चिन्तन, ध्यान या विवेचन भी आधिदैवत, आधिदैव या आधिदैविक कहा जाने लगा। पीछे तो लोगों ने अधिभूत और अधिदैव को एक में मिलाके सबों के भीतर एक अन्तर्यामी पदार्थ को मान लिया, जो सबों को चलाता है, कायम रखता है, व्यवस्थित रखता है। उसी अन्तर्यामी को ब्रह्म या परमात्मा कहने लगे। सबसे बड़ा होने के कारण ही उसे ब्रह्म कहना शुरू किया। शरीर के भीतरवाली आत्मा को व्यष्टि मान के ब्रह्म को परमात्मा, बड़ी आत्मा या समष्टि आत्मा कहने की रीति चल पड़ी।

ऊपर हमने जो कुछ लिखा है वह शुरू से लेकर आज तक की स्थिति का संक्षिप्त वर्णन है। शुरू से ही यह हालत तो थी नहीं। यह परिस्थिति तो क्रमिक

विकास होते-होते पैदा हो गयी है। जब स्वतन्त्र रूप से लोगों का चिन्तन चलता था तो कोई अध्यात्म-विमर्श में लगे थे, कोई अधिदैव-विचार में और कोई अधिभूत-विवेचन में। यह तो सम्भव न था कि सभी लोग सभी बातें सोच सकें। तब तो सभी बातें अधूरी ही रह जातीं। कोई भी पूरी न हो पाती, अन्त तक पहुँच पाती नहीं। और ज्ञान की वृद्धि के लिए वह अधूरापन सर्वथा अवांछनीय है, त्याज्य है। यही कारण है कि अलग-अलग सोचने वाले अपने-अपने कामों में लीन थे। यही कारण है कि जब तक सब लोग गोष्ठी या परस्पर विमर्श नहीं कर लेते थे तब तक अनेक स्वतन्त्र निश्चयों पर पहुँचते थे। यह बात स्वाभाविक थी। श्वेताश्वतर उपनिषद् के पहले ही दो मन्त्रों 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः' आदि, तथा 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा' आदि में यही मतभेद और विचारभेद बताया गया है। साथ ही सभी सोचने वालों को ब्रह्मवादी ही कहा है, न कि किसी को भी कमबेश। उसी के छठे अध्याय के पहले मन्त्र में भी इसी प्रकार के विचार-विभेद का उल्लेख 'स्वभावमेके कवयो वदन्ति' आदि के द्वारा किया है। वहाँ सबों को कवि या सूक्ष्मदर्शी कहा है। छान्दोग्य के छठे अध्याय के दूसरे खण्ड के पहले ही मन्त्र में "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" आदि के जरिये यही विचार विभिन्नता बताई गयी है और अगले 'कुतस्तु खलु' मन्त्र में इसी का खण्डन-मण्डन लिखा गया है। फलतः विभिन्न विचारों के प्रवाह होने जरूरी थे।

वैसी हालत में जो परम कल्याण या मोक्ष की आकांक्षा रखता हो उसके दिल में यह बात स्वभावतः उठ सकती है कि कहीं धोखा और गड़बड़ न हो जाय; कहीं ऐसा रास्ता न पकड़ लें कि या तो भटक जायँ या परेशानी में पड़ जायँ; कहीं ऐसे मार्ग में न पड़ें जो अन्त तक पहुँचने वाला न हो के मुख्य मार्ग से जुटने वाली पगडण्डी या छोटी-मोटी सड़क हो; राजमार्ग के अलावा कहीं दूसरे ही मार्ग के पथिक न बन जायँ; कहीं ऐसा न हो कि मार्ग तो सही हो, मगर उसके लिए जरूरी सामान सम्पादन करने वाले उपाय या रास्ते छूट जायँ और सारा मामला अन्त में खटाई में पड़ जाय। जो सभी विचारपद्धतियों एवं चिन्तनमार्गों को बखूबी नहीं जानते और न उनके लक्ष्य स्थानों का ही पता रखते हैं उनके भीतर ऐसी जिज्ञासा का पैदा होना अनिवार्य है। जिन्हें सभी विचार प्रवाहों का समन्वय या एकीकरण विदित न हो और जो यह समझ सके न हों कि पुष्पदन्त के शब्दों में रुचि या प्रवृत्ति के अनुसार अनेक मार्गों को पकड़ने वाले अन्त में एक ही लक्ष्य तक—परमात्मा तक—पहुँचते हैं—"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथ जुषाम्, नृणामे को गम्यवत्वमसि पयसामर्णव इव," वे तो घबरा के सवाल करेंगे ही कि "परमात्मा का ध्यान तो हम करेंगे सही, लेकिन अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत का क्या होगा? उनकी जानकारी हमें कैसे होगी? यदि न हो तो कोई हानि तो नहीं?"

सबसे बड़ी बात यह है कि उस काम में फँस जाने पर कर्मों से तो अलग

हो जाना ही होगा। यह तो संभव नहीं कि ध्यान और समाधि भी करें और कर्मों को भी पूरा करें। ऐसी दशा में संसार का एवं समाज का कल्याण कहीं गड़बड़ी में न पड़ जाय यह खयाल भी परेशान करेगा ही। उनका यह काम ऐसे मंगलकारी कर्मों के भीतर तो शायद ही आये। कम से कम इसके बारे में उन्हें सन्देह तो होगा ही। फिर काम कैसे चलेगा? और अगर जानकार लोग ही समाज के लिए मंगलकारी कामों को छोड़ के अपने ही मतलब में—अपनी ही मुक्ति के साधन में—फँस जायँ, तो फिर संसार की तो खुदा ही खैर करे। तब तो संसार पथदर्शन के बिना चौपट ही हो जायगा। इसके अतिरिक्त यज्ञवाला प्रश्न भी उन्हें परेशान करेगा। जब पहले ही कहा जा चुका है कि "यज्ञों के बिना तो यहीं खैरियत नहीं होती, परलोक का तो कुछ कहना ही नहीं"—"नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम" (4।31), तो काम कैसे चलेगा? तब तो सब खत्म ही समझिये। यज्ञ के ही बारे में एक बात और भी उठ सकती है। यदि कहा जाय कि यज्ञ तो व्यापक चीज है। अतएव ध्यान और समाधि के समय भी होता ही रहता है, तो सवाल होता है कि यज्ञ में असल लक्ष्य, असल ध्येय कौन है जिसे सन्तुष्ट किया जाय? कहीं वह कोई दूसरा तो नहीं है। ज्ञान, ध्यान तो शरीर के भीतर ही होता है और यह यदि यज्ञचक्र में आ गया तब तो अच्छी बात है। तब तो बीमारी, दुर्बलता, अशक्ति और मरणावस्था में भी यह हो सकता है। इसलिए तब खासतौर से यह जानना जरूरी हो जाता है कि शरीर के भीतर जब यज्ञ होता है तो उससे किसकी तृप्ति होती है, कौन सन्तुष्ट होता है? कहीं नास्तिकों की तरह खाओ-पिओ, मौज करो की बात तो नहीं होती और केवल अपना ही सन्तोष तो नहीं होता? असल में उस यज्ञ से परमात्मा तक पहुँचते हैं या नहीं यही प्रश्न है। इसीलिए देह के भीतर ही अधियज्ञ को जानने की उत्कण्ठा हुई है। क्योंकि सबसे महत्त्वपूर्ण चीज यही है और सबसे सुलभ भी। मगर यदि इससे इन्द्रियादि की ही पुष्टि हुई तो सारा गुड़ गोबर हो जायगा। इसीलिए सभी प्रश्न किये गये हैं। यह ठीक है कि सातवें अध्याय के अन्त में कृष्ण ने कह दिया है कि वह ज्ञान सर्वांगपूर्ण है—इसमें कोई कमी नहीं है; क्योंकि अधिभूत आदि को भी ऐसा पुरुष बखूबी जानता है। लेकिन जब तक अर्जुन को पता न लग जाय कि आखिर ये अधिभूत आदि हैं क्या, तब तक सन्तोष हो तो कैसे? इसलिए आठवें के शुरू में उसने यही पूछा है, यही प्रश्न किये हैं।

उनके उत्तर भी ठीक वैसे ही हैं जिनसे पूछने वाले को पूरा सन्तोष हो जाय। मरने के समय भगवान् को जानने की जो उत्कण्ठा दिखाई गयी थी उसका सम्बन्ध अधियज्ञ से ही है। इसीलिए उसे उसके बाद ही रखा है और उसका उत्तर शेष समूचे अध्याय में दिया गया है। क्योंकि सब प्रश्नों का मतलब चौपट हो जाय, यदि वह बात न हो सके। अर्जुन को यह भी खयाल था कि कृष्ण कहीं अपने आपकी ही भक्ति की बात न करते हों, और इस प्रकार ब्रह्मज्ञान से नाता ही न रह जाने पर

कल्याण में बाधा न पड़ जाय। इसीलिए अर्जुन ने पूछा कि आखिर वह ब्रह्म क्या है? आपसे या ईश्वर से अलग है या एक ही चीज? उसका यह भी खयाल था कि कहीं ब्रह्म या परमात्मा भी वैसा ही चन्दरोजा न हो जैसी यह दुनिया। तब तो मुक्ति का यत्न ही बेकार हो जायगा। हिरण्यगर्भ को भी तो ब्रह्मा या ब्रह्म कहते हैं और उसका नाश माना जाता है। यही कारण है कि उस ब्रह्मा से पृथक् परम अक्षर या अविनाशी ब्रह्म का निरूपण आगे किया गया है। वहाँ बताया गया है कि क्यों ब्रह्मा का नाश होता है और कैसे, लेकिन अक्षर ब्रह्म का क्यों नहीं?

उत्तर से सभी बातों की पूरी सफाई हो जाती है। परम अक्षर को ब्रह्म कहा है। असल में पन्द्रहवें अध्याय के 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' (16) श्लोक में जीव को भी अक्षर कहा है। इसीलिए परम आत्मा—परमात्मा—की ही तरह यहाँ परम अक्षर कहने से परमात्मा का ही बोध होता है। नहीं तो गड़बड़ होती।

अध्यात्म को स्वभाव कहा है। ब्रह्म के बाद स्वभाव शब्द आने से इसमें स्व का अर्थ वही ब्रह्म ही है। उसी का भाव या स्वरूप स्वभाव कहा जाता है। अर्थात् अध्यात्म, जीव या आत्मा ब्रह्म का ही रूप है। गीता में स्वभाव शब्द कई जगह आया है। अठारहवें अध्याय के 41-44 श्लोकों में कई बार यह शब्द प्रकृति या गुणों के अनुसार दिल-दिमाग की बनावट के ही अर्थ में आया है। उसी अध्याय के 60वें श्लोक वाले का भी वही अर्थ है। पाँचवें अध्याय के 'न कर्त्तृव्यं' (14) श्लोक में जो स्वभाव है उसका अर्थ है सांसारिक पदार्थों या सृष्टि का नियम। मगर जैसे अठारहवें अध्याय के स्वभाव शब्द में स्व का अर्थ है गुण और तदनुसार रचना, उसी तरह पाँचवें अध्याय में स्व का अर्थ है इसके पहले के सांसारिक पदार्थ, जिनका जिक्र उसी श्लोक में हैं। सातवें अध्याय के ही 20वें श्लोक में जो भाव शब्द है उसका अर्थ है पदार्थ या हस्ती—अस्तित्व। ठीक उसी प्रकार इस श्लोक में भी स्वभाव का अर्थ हो जाता है ब्रह्म का भाव, अस्तित्व या रूप। दूसरा अर्थ ठीक नहीं होगा।

कम का जो स्वरूप बताया गया है वह भी व्यापक है। "भूतभावोद्भवकरो विसर्गः" यही उसका स्वरूप है। इसका अर्थ है जिससे पदार्थों का अस्तित्व, वृद्धि या उत्पत्ति हो उस त्याग, जुदाई या पार्थक्य को कर्म कहते हैं। यहाँ विसर्ग शब्द और सातवें के 27वें का सर्ग शब्द मिलते-जुलते हैं। संस्कृत के धातुपाठ में जो धातुओं का अर्थ लिखा गया है वहाँ सृज धातु का विसर्ग ही अर्थ लिखा है। पहले कह चुके हैं कि 'तपाम्यमहं वर्षं' (9। 19) श्लोक में उत्सृजामिका जो उत्सर्ग अर्थ है वही विसर्ग का भी है। दोनों में सृज धातु ही है। वर्णमाला में आखिर अक्षर जो स्वरगणना में पाया जाता है उसे भी विसर्ग एवं विसर्जनीय कहते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में 'वैसर्जन होम' आता है। वहाँ भी विसर्जन का अर्थ है समाप्ति या खात्मा, या छोड़ देना। स्वरों का अन्त होने के कारण ही विसर्ग आखिरी स्वस्वर्ण है। वहाँ भी उस सिलसिले का अन्त है। मल-मूत्रादि के त्याग या वीर्यपात को भी विसर्ग कहते हैं। सारांश यह

है कि जिस चीज के छोड़ने, अलग करने, पूरा करने, प्रयोग करने, त्यागने से सृष्टि की उत्पत्ति, रक्षा, वृद्धि आदि हो सके वही कर्म है। इस प्रकार इस व्यापक अर्थ में ज्ञान, ध्यान, समाधि वगैरह का भी समावेश हो जाता है और इस तरह प्रश्नकर्त्ता का शक जाता रहता है। यह कम कल्याणकारी चीजें नहीं हैं। गीता का कर्म कोई पारिभाषिक या खास ढंग की चीज नहीं है, यही आशय है।

'अधिभूतं क्षरोभावः' का अर्थ है कि पदार्थों का जो क्षर स्वरूप है, या यों कहिए कि उनकी विनाशिता है वही अधिभूत है। भाव शब्द तीन बार इतनी ही दूर में आ गया है और तीनों का एक ही अर्थ है सत्ता, अस्तित्व या रूप। पहले कह चुके हैं कि आखिर दृश्यजगत् या भौतिक पदार्थों में जो विनाशिता है वह तो अजर-अमर है। यदि वह ऐसी न हो और सदा रहने वाली न हो तो पदार्थ ही अविनाशी बन जायें। इसीलिए वही उनका असली रूप है, स्व है, आत्मा है। आत्मा को तो गीता ने बार-बार अविनाशी कहा है। इस सम्बन्ध में वृहदारण्यक का वचन भी पहले ही लिखा जा चुका है। इस प्रकार अधिभूत भी आत्मा या परमात्मा से जुदा नहीं है। मगर उसे जिस ढंग से कहा है उसमें सुन्दर दार्शनिकता पायी जाती है। इसी अध्याय के 20वें श्लोक में भाव शब्द जिस अर्थ में आया है वही अर्थ यहाँ भी है—पदार्थों का असल मूल वही है जिसे आत्मा या परमात्मा कहते हैं।

'पुरुषश्चाधिदैवतम्' का अर्थ है कि 'पुरुष ही अधिदैवत है।' गीता के 'द्वाविमौ पुरुषौ' श्लोक की बात कह चुके हैं। उसमें पुरुष आता है। उसी में 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' भी लिखा है, जिससे अधिभूत का अर्थ साफ होता है। मगर प्रकृति तथा जीव दोनों को ही पुरुष कहा गया है, यह बात याद रखने की है। उससे आगे के 17वें श्लोक में 'उत्तमः पुरुषः' शब्दों में परमात्मा को उत्तम पुरुष या दोनों से ही पृथक् बताया है और 18वें में उसी को पुरुषोत्तम भी कहा है। इससे सिद्ध हो जाता है कि आधिदैवत भी वही परमात्मा या पुरुष है और है वह सभी का स्वरूप 'वासुदेवः सर्वम्।'

अन्त में 'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे' के द्वारा यह कह दिया है कि मैं—परमात्मा—ही सभी शरीरों के भीतर अधियज्ञ हूँ। जो दिन-रात, श्वास-प्रश्वास, खानपान, निद्रा, बोलचाल, विचार, ध्यान आदि के रूप में 'यत् करोऽषि यदश्नासि' (9। 27) के अनुसार अखण्ड यज्ञ जारी है उससे भगवान् की ही पूजा हो रही है, यही इसका आशय है। यह पूजा सुलभ और सुकर है। फलतः चिन्ता का अवसर रही नहीं जाता।

सातवें अध्याय के अन्तिम—29, 30—श्लोकों में जो कुछ कहा है वह भी हमारे पूर्व के बताये इसी अर्थ का पोषक है। उन दोनों श्लोकों का पूरा विचार किया जाये तो यही अभिप्राय व्यक्त होता है कि जन्म-मरण आदि के संकटों से छुटकारा सदा के लिए पा जाने के विचार से जो लोग भगवान् में ही रमते और यही काम करते हैं वह उस पूर्ण ब्रह्म को भी जानते हैं, अध्यात्म को भी और सभी कर्मों को भी।

अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के रूप में भी भगवान् को वही जानते हैं। इसीलिए पूर्ण योगी होने के कारण मरण समय में भी परमात्मा को साक्षात् जान लेते हैं। दूसरे शब्दों में इसका आशय यह है कि जो लोग अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ, अध्यात्म, ब्रह्म और कर्म को जानते हैं वही परमात्मा को अन्त में भी जानते हैं। वही जरामरण—जन्ममरण—से छुटकारा पाने का यत्न भी ठीक-ठीक करते हैं। हर हालत में जानने से ही मतलब है; न कि शास्त्रीय पद्धति एवं वादविवाद से। ये सभी एक ही चीज हैं यह इससे साफ हो जाता है। 'एकै साधे सब सधै' भी चरितार्थ हो जाता है। इसलिए भगवान् में रमनेवाले के लिए चिन्ता की कोई गुंजाइश रह जाती नहीं।

एक ही बात और कहके इस लम्बे विवेचन को पूरा करेंगे। जिस सातवें अध्याय में अध्यात्म आदि आये हैं और आठवें तक चले गये हैं उसके शुरू का ही श्लोक ऐसा है, "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। यज्ज्ञात्वा नेह भूयोन्यज्ज्ञातव्यम विशिष्यते" (7।2)। इसका भाव यह है कि "हम तुम्हें ज्ञान-विज्ञान दोनों ही बतायेंगे, सो भी पूरा-पूरा। उसके बाद तो कुछ जानना बाकी रही नहीं जायेगा।" इससे यह स्पष्ट होता है कि आगे जो कुछ कहा गया है वह ज्ञान और विज्ञान के ही सिलसिले में विस्तार के साथ आया है। ज्ञान और विज्ञान की बात यहीं से शुरू हो के सत्रहवें अध्याय के अन्त तक पायी जाती है। अठारहवें में भी बहुत कुछ वही है। सातवें अध्याय का तो नाम ही है ज्ञान-विज्ञान योग। नवें अध्याय के पहले श्लोक में भी 'ज्ञानं विज्ञानसहितं' आया ही है। इस पर आगे और भी लिखेंगे। लेकिन ज्ञान-विज्ञान की बात चालू है यह तो मानना ही होगा। उसी प्रसंग से अध्यात्म आदि आये हैं यह भी निर्विवाद है।

और यह ज्ञान एवं विज्ञान है क्या चीज? ज्ञान तो है जानकारी या अनुभव और उसमें जब विशेषता या खूबी आ जाय तो वह हुआ विज्ञान। किसी ने हमें कह दिया या हमने कहीं पढ़ लिया कि सफेद और पीले रंगों को मिला के लाल तैयार करते हैं। यही हुआ लाल रंग के बारे में ज्ञान। इसे सामान्य जानकारी भी कह सकते हैं। मगर जब हमने खुद दोनों रंगों को मिला के लाल रंग तैयार कर लिया और उसकी पूरी जानकारी हासिल कर ली, तो वही हो गया विज्ञान। दूसरा दृष्टान्त लीजिए। कहीं पढ़ लिया या जान लिया कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन नामक हवाओं को विभिन्न अनुपात में मिलाने से ही जल तैयार हो जाता है। यह ज्ञान हुआ। और जब किसी प्रयोगशाला में जा के हमने इसका प्रयोग खुद करके देख लिया या दूसरों से प्रयोग करा लिया तो वही विज्ञान हुआ। विज्ञान से वस्तु के रगरेशे की जानकारी हो जाती है।

प्रकृत में भी यही बात है। यों ही आत्मा-परमात्मा या जीव-ब्रह्म और संसार की बात कह देने से काम नहीं चलता। वह बात दिल में बैठ पाती नहीं। यदि बैठाना है तो उसका प्रयोग करके देखना होगा—यह देखना होगा कि किस पदार्थ से कौन

कैसे बनता है, रहता है, खत्म होता है। यदि परमात्मा ही सब कुछ है तो कैसे, इसका विश्लेषण करना होगा। जब तक ब्योरेवार सभी चीजों को अलग-अलग करके न देखेंगे तब तक हमारा ज्ञान पक्का न होगा, विज्ञान न होगा, दिल में बैठेगा नहीं। फलतः उससे कल्याण न होगा। इसीलिए अध्यात्म, अधिभूत आदि विभिन्न रूपों में आत्मा या परमात्मा का जानना जरूरी हो जाता है और इसीलिए उसका उल्लेख आया है। बिना इसके जिज्ञासुओं को सन्तोष कैसे हो?

इसीलिए सातवें के आखिरी—30वें—श्लोक का जो लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि भगवान् के ज्ञान के साथ ही अधिभूत आदि का पृथक् ज्ञान होना चाहिए, यही गीता की मंशा है, वह भूलते हैं। वहाँ तो सबों को परमात्म स्वरूप ही—'वासुदेवः सर्वमिति'—जानना है। ब्रह्म तथा अधियज्ञ को तो परमात्म-रूप साफ ही कहा है। जीव—अध्यात्म—भी तो वही है। हाँ, कर्म शायद अलग हो। मगर वह तो व्यापक है। फलतः अन्ततोगत्वा वह भी जुदा नहीं है।

4. कर्मवाद और अवतारवाद

गीता की अपनी निजी बातों पर ही अब तक प्रकाश डाला गया है। मगर गीता में कुछ ऐसी बातें भी पायी जाती हैं, जो उसकी खास अपनी न होने पर भी उनके वर्णन में विशेषता है, अपनापन है, गीता की छाप लगी है। वे बातें तो हैं दार्शनिक। उन पर दर्शनों ने खूब माथापच्ची की है, वाद-विवाद किया है। गीता ने उनका उल्लेख अपने मतलब से ही किया है। लेकिन खूबी उसमें यही है कि उन पर उसने अपना रंग चढ़ा दिया है, उन्हें अपना जामा पहना दिया है। गीता की निरूपणशैली पौराणिक है। इसके बारे में आगे विशेष लिखा जायेगा। फलतः इसमें पौराणिक बातों का आ जाना अनिवार्य था। हालाँकि ज्यादा बातें इस तरह की नहीं आयी हैं। एक तो कुछ ऐसी हैं जिन्हें ज्यों की त्यों लिख दिया है। इसे दार्शनिक भाषा में अनुवाद कहते हैं। वैसा ही लिखने का प्रयोजन कुछ और ही होता है। जब तक वे बातें लिखी न जायें आगे का मतलब सिद्ध हो पाता नहीं। इसलिए गीता ने ऐसी बातों का उपयोग अपने लिए इस तरह कर लिया है कि उनके चलते उसके उपदेश का प्रसंग खड़ा हो गया है।

मगर ऐसी भी एकाध पौराणिक बातें आयी हैं जिन्हें उसने सिद्धान्त के तौर पर, या यों कहिए कि एक प्रकार से अनुमोदन के ढंग पर लिखा है। वे केवल अनुवाद नहीं हैं। उनमें कुछ विशेषता है, कुछ तथ्य है। ऐसी ही एक बात अवतारवाद की है। चौथे अध्याय के 5-10 श्लोकों में यह बात आयी है और बहुत ही सुन्दर ढंग से आयी है। यह यों ही कह नहीं दी गयी है। लेकिन गीता की खूबी यही है कि उस पर उसने दार्शनिक रंग चढ़ा दिया है। यदि हम उन कुल छह श्लोकों पर गौर करें तो साफ मालूम हो जाता है कि पुराणों का अवतारवाला सिद्धान्त दार्शनिक साँचे में ढाल दिया गया है। फलतः वह हो जाता है बुद्धिग्राह्य। यदि ऐसा न होता, तो विद्वान् और तर्क-वितर्क करने वाले पण्डित लोग उसे कभी स्वीकार नहीं कर सकते। मजा तो यह है कि दार्शनिक साँचे में ढालने पर भी वह रूखापन, वह वाद-विवाद की कटुता आने नहीं पायी है जो दार्शनिक रीतियों में पायी जाती है। सूखे तर्कों और नीरस दलीलों की ही तो भरमार वहाँ होती है। वहाँ सरसता का क्या काम?

दार्शनिक तो केवल वस्तुतत्त्व के ही खोजने में परेशान रहते हैं। उन्हें फुर्सत कहाँ कि नीरसता और सरसता देखें?

ईश्वरवाद

हम उसी चीज पर यहाँ विशेष प्रकाश डालने चले हैं। लेकिन उस अवतारवाद की जड़ में कर्मवाद है और है यह दार्शनिकों की चीज। गीता ने उसी को ले लिया है इसलिए जब तक कर्मवाद का विवेचन नहीं कर लिया जाता, अवतारवाद का रहस्य समझ में आ सकता नहीं। यही कारण है कि हम पहले कर्मवाद की ही बात उठाते हैं। यह कर्म का सिद्धान्त किसी न किसी रूप में अन्य देशों के भी बहुतेरे दार्शनिकों ने—पुरानों ने और नयों ने भी—माना है। यह दूसरी बात है कि उनने खुल के ऐसा न लिखा हो। उनके अपने लिखने के तरीके भी तो निराले ही थे और सोचने के भी। इसीलिए उनने यह बात निराले ही ढंग से—अपने ही ढंग से—मानी या लिखी है। मगर हमारे देश के तो आस्तिक-नास्तिक सभी दार्शनिकों ने यह कर्मवाद स्वीकार किया है, सिवाय चार्वाक के। न्याय, सांख्य आदि दर्शनों के अलावे जैन, बौद्ध, पाशुपत आदि ने भी इसे साफ स्वीकार किया है। यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है कि गीता ने भी कर्मवाद को माना है। मगर वह पौराणिक ढंग के कर्मवाद को स्वीकार न करके दार्शनिक कर्मवाद को ही मानती है, यह भी बताया जा चुका है। गीता के और और स्थानों में भी यह बात पायी जाती है। अठारहवें अध्याय के 'दैव चैवात्र पंचमम्' (18। 14) में यही बात 'दैव' शब्द से कही गयी है, यह भी कह चुके हैं। चौथे अध्याय के 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (4। 9) में दैव की जगह दिव्य शब्द आया है। मगर बात वही है। दोनों शब्दों का अर्थ भी एक ही है। दिव् शब्द से ही दिव्य या दैव शब्द बनते भी हैं। यों तो उसके 7, 8—दो—श्लोकों में जो कुछ कहा गया है वह कर्मवाद के ही आधार पर कहा जा सकता है। दूसरे ढंग से वह कभी भी युक्तिसंगत होई नहीं सकता।

हाँ, तो आइये जरा इस कर्मवाद की दार्शनिक तह में पहले घुसें और देखें कि इसकी हकीकत क्या है। हम पहले कह चुके हैं कि पदार्थों में बराबर परिवर्तन जारी है। फलतः कुछी दिनों बाद चीजें बदल के एकदम नयी बन जाती है। यद्यपि हमें ऐसा पता नहीं चलता और न हम यही समझ पाते हैं कि सचमुच कोई चीज बदल चुकी है। इस बात में वैज्ञानिकों की भी सम्मति दी जा चुकी है। गीता ने भी यह बात शुरू में ही 'देहिनोऽस्मिन्' (2। 13) में स्वीकार की है। हमने वहीं पर इस परिवर्तन के दृष्टान्त के रूप में किसी कोठी या बर्त्तन में बन्द करके रखे गये चावल का दृष्टान्त भी दिया है और बताया है कि किस तरह नया चावल कुछ दिनों में बदल के बिलकुल ही दूसरा बन जाता है। यहाँ भी हम फिर उसी दृष्टान्त को लेंगे। हालाँकि जो कुछ विचार अब करेंगे वह दूसरे ढंग से, दूसरे पहलू से होगा। मगर इसे समझने के लिए

वहाँ लिखी सभी बातें स्मरण कर लेने की हैं। दुबारा लिखना व्यर्थ है। वैज्ञानिक की प्रयोगशाला की भी जो बात वहाँ लिखी है, खयाल कर लेने की है।

जब हम देखते हैं कि प्रतिक्षण, प्रति सेकण्ड हरेक पदार्थ से अनन्त परमाणु निकलते और उनकी जगह नये-नये आ धमकते हैं तो हमें आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। इसलिए प्रयोगशाला में बैठ के ही यह बात सोचने की है। क्योंकि दूसरे ढंग से इस पर आमतौर से लोगों को विश्वास होई नहीं सकता। लोगों के दिमाग में यह बात समाई नहीं सकती कि प्रतिक्षण हरेक पदार्थ के भीतर से असंख्य परमाणु निकलते और भागते रहते हैं और उनकी जगह ले लेते हैं नये-नये बाहर से आ के। विज्ञान के प्रताप से यह बात अब लोगों के दिमाग में आसानी से आ जाती है। मगर पुराने जमाने में जब ये वैज्ञानिक यन्त्र कहीं थे नहीं और न ये प्रयोगशालाएँ थीं, तब हमारे दार्शनिक विद्वानों ने ये बातें कैसे सोच निकालीं यह एक पहेली ही है। फिर भी इसमें तो कोई शक हई नहीं—यह तो सर्वमान्य बात है—कि उनने ये बातें सोची थीं, ढूँढ़ निकाली थीं। इन्हीं के अन्वेषण, पर्यवेक्षण और सोच-विचार ने उन्हें अगत्या कर्मवाद के सिद्धान्त तक पहुँचाया और उसे मानने को मजबूर किया। या यों कहिए कि इन्हीं को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उनने कर्मवाद का सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला।

हमारे नैयायिक दार्शनिकों का एक पुराना सिद्धान्त है कि एक ही स्थान में दो द्रव्यों का समावेश नहीं होता। पार्थिव, जलीय आदि सभी पदार्थों को उनने द्रव्य नाम दिया है। रूप, रस आदि गुणों में कोई भी जिन पदार्थों में पाये जायँ उन्हीं को उनने द्रव्य कहा है। वे यह भी मानते आये हैं कि कई द्रव्यों के संयोग से नया द्रव्य तैयार होता है। दृष्टान्त के लिए कई सूतों के परस्पर जुट जाने से कपड़ा बनता है। सूत भी द्रव्य हैं और कपड़ा भी। फर्क यही है कि सूत अवयव हैं और कपड़ा अवयवी। सूतों के भी जो रेशे होते हैं उन्हीं से सूत तैयार होते हैं। फलतः रेशों की अपेक्षा सूत हुआ अवयवी और रेशे हो गये अवयव। रेशों के भी अवयव होते हैं और उन अवयवों के भी अवयव। इस प्रकार अवयवों की धारा—परम्परा—चलती है। उधर कपड़े को भी काट-छाँट के और जोड़-जाड़के कुर्त्ता, कोट वगैरह बनाते हैं। वहाँ पर कपड़ा अवयव हो जाता है और कोट, कुर्त्ते अवयवी। जितने नये सूत जुटते जाते हैं उतना ही लम्बा कपड़ा होता जाता है—नया-नया कपड़ा बनता जाता है। उधर अवयवों के भी अवयव करते-करते कहीं न कहीं रुक जाना जरूरी होता है, जहाँ से यह काम शुरू हुआ है। क्योंकि अगर कहीं रुकें न और हर अवयव के अवयव करते जायँ तो पता ही नहीं लगता कि आखिर अवयवी का बनना कब और कहाँ से शुरू हुआ। इसीलिए जहाँ जाके रुक जायँ उसी को नैयायिकों ने परमाणु कहा है। परमाणु (Atom) का अर्थ ही सबसे छोटा, छोटे से छोटा—जिससे छोटा हो न सके। परमाणुवाद के बारे में और भी दलीलें हैं। मगर हमें यहाँ उनमें नहीं पड़ना है। उन पर कुछ प्रकाश आगे डाला गया है। गुणवाद के प्रकरण में।

इस प्रकार परमाणुओं के जुटने—संजोग—से चीजें बनती रहती हैं। अब मान लें कि कुछ परमाणुओं ने मिल के एक चीज बनायी। लेकिन, जैसा कि कह चुके हैं कि पुराने परमाणुओं का निकलना और नयों का जुटना जारी है, जब कुछ और भी परमाणु पुरानों के साथ, जिनने आपसे में मिल के कोई चीज बनायी थी, आ जुटे तो अब जो चीज बनेगी वह तो दूसरी ही होगी। पहली तो यह होगी नहीं। क्योंकि पहली में तो नये परमाणु थे नहीं। इसी प्रकार कुछ सूतों को जुटाकर कपड़ा बना। मगर सूत तो जुटते ही रहते हैं। इसलिए नये सूतों को पुरानों के साथ जुटने पर कपड़ा भी बनता ही जायेगा। हाँ, यह नया होगा, न कि वही पहले ही वाला। क्योंकि पहले तो ये नये सूत जुटे न थे। यही हालत सर्वत्र जारी रहती है। अब यहीं पर नैयायिकों की वह बात आती है कि एक ही स्थान में दो द्रव्यों का समावेश नहीं हो सकता है।

चाहे परमाणुओं वाली बात में या सूतों वाली। हम हर हालत में देखेंगे कि नये-नये कपड़े या नयी-नयी चीजें बनती जाती हैं। मगर सवाल तो यह होता है कि जिन सूतों से पहला कपड़ा बना है उन्हीं के साथ कुछ दूसरों के जुटने से दूसरा और तीसरा बनता है। यह बात चाहे जैसे भी देखें, यह तो मानना ही होगा कि पहले कि जिन सूतों से पहला कपड़ा बना और उन्हीं में उसका समावेश है, अँटाव है। उन्हीं में दूसरा भी बनता है और उसके बादवाले कपड़े भी बनते हैं; हालाँकि दूसरे-तीसरे आदि का अँटाव कुछ नये सूतों में भी रहता है। मगर पहले सूतों में भी तो रहता ही है। पीछेवाले कपड़े पहलेवाले सूतों के बिलकुल ही बाहर तो चले जाते नहीं। ऐसी हालत में उन्हीं सूतों में कई कपड़े कैसे अँटेंगे, यही तो पहेली है। कपड़े तो द्रव्य हैं। और द्रव्य तो जगह घेर लेते हैं। इसी से नैयायिक कहते हैं कि एक ही स्थान में एक से ज्यादा द्रव्यों का अँटाव या समावेश नहीं हो सकता।

तब सवाल होता है कि यदि एक ही कपड़ा उनमें रहेगा तो साफ ही है कि जोई पीछे या नया बनेगा, तैयार होगा, तैयार होता जायगा वही सभी—नये पुराने—सूतों में समाविष्ट होगा। फलतः पहले वाले हट जायँगे, नष्ट हो जायँगे, खत्म हो जायँगे। जैसे-जैसे नये सिरे से कपड़ा बनता जायगा तैसे-तैसे पहले बने कपड़े नष्ट होते जायँगे। इस प्रकार के सभी पदार्थों में यही प्रक्रिया जारी रहती है—पहलेवालों के नाश का यह सिलसिला जारी रहता है। दूसरा उपाय है नहीं—दूसरा चारा है नहीं। बात तो कुछ अजीब और बेढंगी सी मालूम पड़ती है। मगर हमें इस दुनिया में कितनी ही बेढंगी बात माननी ही पड़ती है। जब बुद्धि और तर्क की कसौटी पर कसते हैं तो जो बातें खरी उतरें उनके मानने में उज्र क्या है? किसी जमाने में सूर्य स्थिर है और पृथिवी चलती है; इस बात के कहनेवालों को बड़ी आफतें झेलनी पड़ीं। मगर गणित और हिसाब-किताब की मजबूरी जो थी। वे लोग करते क्या? नतीजा यह हुआ कि आज आमतौर से वही बात मानी जाने लगी है।

पहले विज्ञान का यह विकास न होने के कारण लोगों को इसमें झिझक हुई।

मगर आज तो विज्ञान ने ही बता दिया है कि जरूर ही पुराने वस्त्र, पुराने चावल, पुराने पदार्थ नष्ट हो जाते हैं और नये पैदा हो जाते हैं। भला कपड़े के बारे में तो नैयायिक दार्शनिक यह भी कहते थे कि साफ ही नये सूत जुटे हैं। देखने वाले देखते भी थे। मगर कोठी में बन्द चावलों में कौन देखता है कि चावलों के नये परमाणु जुटते और पुराने भागते जाते हैं। पुराने सूतों की ही सूरत-शक्ल के नये सूत कपड़े में जुटते हैं। मगर चावलों के पुराने परमाणुओं में जो स्वाद या रस होता है उसी स्वाद और रस के नये परमाणुओं को आते और पुरानों की जगह लेते कौन देखता है? चावल का स्वाद दस साल के बाद बदल के गेहूँ का तो हो जाता नहीं। उसमें स्वाद, रस वगैरह चावल का ही रहता है। इससे मानना पड़ेगा कि जो नये परमाणु आये वे चावल के ही स्वाद और रस के थे। बात तो यह भी कम अजीब और बेढंगी सी है नहीं। इसीलिए नैयायिकों की बात अब समझ में आ जाती है—आ सकती है। चावलों के ही परमाणुओं का—वैसे ही स्वाद, रस, रूप-रेखाओं का—खजाना किसने कहाँ जमा कर रखा है जो बराबर आते-जाते हैं? यह नहीं कि चावलों की ही बात हो। गेहूँ, चने, मटर आदि की भी तो यही बात है। पशु, पक्षी, मनुष्य, खाक, पत्थर सबों की यही हालत है। सबों में अपनी ही जाति के परमाणु आ मिलते हैं! फलतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि सबों का अलग कोष, खजाना (Stock) कहीं पड़ा है। मगर पता नहीं कहाँ, कैसे पड़ा है। यही तो पहेली है। बर्त्तन या कोठी के मुँह तो ऐसे बन्द हैं कि जरा भी हवा आ-जा न सके। मगर ये अनन्त परमाणु बराबर आते-जाते रहते हैं! यही तो माया है, जादू है!

यहाँ तक तो हमने इस पहेली की उधेड़-बुन दार्शनिक ढंग से की। मगर सवाल हो सकता है कि इसका कर्मवाद से ताल्लुक क्या है? ताल्लुक है और जरूर है। इसीलिए तो जरा विस्तार से हमने यह बात लिखी है। नहीं तो आगे की बात समझ में नहीं आती। बात यह है कि अनन्त परमाणुओं का आना-जाना और पुरानी की जगह नयी चीज का बन जाना एक पहेली है यह तो मान चुके। अब जरा सोचें कि आखिर यह होता है क्यों और कैसे? पुराने चावलों की जगह नये क्यों बने? वैसे ही परमाणु क्यों आये और उतने ही ही क्यों आये जितने निकले? यदि कमीबेशी भी हुई तो बहुत ही कम। गेहूँ में चावल के और चावल में गेहूँ के क्यों नहीं आ गये? गाय में भैंस के और भैंस में गाय के क्यों न घुसे? आदमी में पशु के तथा पशु में आदमी के क्यों न प्रवेश पा सके? मर्द में औरत के और औरत में मर्द के क्यों न चले आये? वृक्षों में पत्थर के और पत्थरों में वृक्षों के क्यों न जुटे? मूर्खों में पण्डितों के तथा पण्डितों में निरक्षरों के क्यों न लिपटे? ऐसे प्रश्न तो हजार-लाख हो सकते हैं, होते हैं।

इन परमाणुओं का वर्गीकरण कहाँ कैसे किया गया है? यदि काम कौन करता है? जिसमें जरा भी गड़बड़ी न हो, किन्तु सभी ठीक-ठीक अपनी-अपनी जगह जायें-आयें यह पक्का प्रबन्ध क्यों, किसने, कैसे किया? इसमें कभी गड़बड़ न हो इस बात का

क्या प्रबन्ध है और कैसा है? परमाणुओं के कोष में कमी-बेशी हो तो उसकी पूर्ति कैसे हो? यदि यह माना जाय कि हरेक पदार्थ से निकलने वाले परमाणु अपने सजातियों के ही कोष में जा मिलते हैं, तो प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों होता है और उन्हें कौन, कहाँ, कैसे ले जाता है ? साथ ही यह भी प्रश्न होता है कि निकलने वाले परमाणुओं की जो हालत होती है वह तो कुछ निराली होती है, न कि कोष में रहनेवालों की ही जैसी। ऐसी दशा में उनके मिलने से वह कोष खिचड़ी बन जायगा या नहीं? नये चावल का भात भारी होता है और मीठा ज्यादा होता है, बनिस्बत पुराने चावलों के। इसलिए यह तो मानना ही होगा कि चावल के भी परमाणु सबके-सब एक ही तरह के नहीं होते। ऐसी हालत में चावल के परमाणुओं के भी कई प्रकार के कोष मानने ही होंगे। अब यदि यह कहें कि नये चावलों के परमाणु पुनरपि वैसे ही नये चावलों में जा मिलेंगे और जब तक जाकर मिल जाते नहीं तब तक कहीं शान्त पड़े रहेंगे, तो सवाल होता है कि यह बारीक देखभाल कौन करता है और क्यों? ठीक समय पर वैसे ही चावलों में उन्हें कहाँ, कैसे पहुँचाया जायगा यह व्यवस्था भी कैसे होती है? यह तो ऐसा लगता है कि कोई सर्वशक्तिशाली और सर्वव्यापक देखने वाला चारों ओर आँखें फाड़ के हर चीज को बारीकी से देखता हो और ठीक समय पर सारी व्यवस्था करता हो। यह कैसी बात है, यह प्रश्न स्वाभाविक है? यह कौन है? क्यों है? कैसे है? ये प्रश्न भी होते हैं। उसके हाथ बँधे हैं या स्वतन्त्र हैं? यदि बँधे हैं तो किससे? और तब वह सारे काम ठीक-ठीक करेगा कैसे? यदि स्वतन्त्र हैं तो भी वही बात आती है कि सारे काम नियमित रूप से क्यों होते हैं? कहीं-कहीं मनजानी घरजानी क्यों नहीं चलती?

चावलों को ही लेके और भी बातें उठती हैं। माना कि चावलों से असंख्य परमाणु निकलते रहते हैं। तो फिर जरूरत क्या है कि उनकी जगह खाली न रहे और दूसरे परमाणु खामख्वाह आ के जम जायँ? धीरे-धीरे चावल पतले पड़ जायँ तो हर्ज क्या? आखिर घुनों के खा जाने से तो ऐसा होई जाता है। कपूर के परमाणु निकलते हैं और उनमें नये आते नहीं। इसीलिए वह जल्द खत्म हो जाता है। वही बात चावलों में भी क्यों नहीं होती? यदि कहा जाय कि चावलवाला मर जो जायगा, तो प्रश्न होता है कि आग लगने या चोरी होने पर क्या वह भूखों नहीं मर जाता जब चावल लुट जाते या जल जाते हैं ? और कपूर वाले पर भी यही दलील क्यों न लागू हो ? चावल जलने पर या लुट जाने पर जो होता है वही बात यों भी क्यों नहीं हो? किसी समय चावलों के परमाणु ज्यादा निकल जायँ और वह गल-सड़ जाए और किसी समय नहीं, ऐसा क्यों होता है? इसी तरह के हजारों सवाल उठ खड़े होते हैं यदि हम इन पदार्थों के खोद-विनोद और अन्वेषण में पड़ जायँ। हमने तो यहाँ थोड़े से प्रश्न नमूने के तौर पर ही दिये हैं।

इसी खोद-विनोद, इसी जाँच-पड़ताल, इसी अन्वेषण के सिलसिले में इन जैसे

प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हमारे प्राचीन दार्शनिकों को विवश हो के ईश्वर और कर्मवाद की शरण लेनी पड़ी, यह सिद्धान्त स्थिर करना पड़ा। मनुष्य अपनी पहुँच के अनुसार ही कल्पना करता है। हम तो देखते हैं कि नियमित व्यवस्था बुद्धिपूर्वक ही होती है। बिना समझ और ज्ञान के यह बात हो पाती नहीं। और अगर कभी घड़ी या दूसरे यन्त्रों को नियमित काम करते देखते हैं तो उसी के साथ यह भी देखते हैं कि उनके मूल में कोई बुद्धि है जिसने उन्हें तैयार करके चालू किया है। वही उनके बिगड़ जाने पर पुनरपि उन्हें ठीक कर देती है। जड़ पदार्थों में तो यह शक्ति नहीं होती कि अपनी भूल या गड़बड़ देखें, त्रुटि का पता लगायें और उसे सँभालें। इसके बाद हम बाकी दुनिया में भी ऐसी ही व्यापक या समष्टि बुद्धि की कल्पना करते हैं, क्योंकि हम सभी मिल-मिला के भी बहुत से कामों को नहीं कर सकते। वे हमारी ताकत के बाहर के हैं। दृष्टान्त के लिए चावल वगैरह के बारे में जो बातें पूछी गयी हैं उन्हीं को ले सकते हैं। वे हमारी पहुँच के बाहर की बातें हैं। जिन्हें हम देख पाते नहीं उनकी व्यवस्था क्या करें? और अगर थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि हमीं सब लोग उन्हें करते हैं, कर लेते हैं, कर सकते हैं, तो भी हम सबों के कामों की मिलान (Co-ordination) तो होनी ही चाहिए न । नहीं तो फिर वही गड़बड़ होगी। अब इस मिलान का करनेवाला कोई एक तो होगा ही जो सब कुछ बखूबी जानता हो।

जो लोग इन प्रश्नों के सम्बन्ध में प्रकृति, नैसर्गिक-नियम, शाश्वत विधान (Nature, Natural Law, Eternal Law) आदि कह के बातें टाल देते हैं वे शब्दान्तर से अपनी अनभिज्ञता मान लेते हैं। हमारा काम है गुप्त रहस्यों का पता लगाना, प्रकृति के—संसार के—नियमों को ढूँढ़ निकालना। दिमाग, अक्ल, बुद्धि का दूसरा काम है भी नहीं। इन बातों से किनाराकशी करना भी हमारा काम नहीं है। कोई समय था जब कहा जाता था कि योगियों का आकाश में यों ही चला जाना असम्भव है, दूर देश का समाचार जान लेना गैरमुमकिन है। पक्षी उड़ते हैं तो उड़ें। उनकी तो प्रकृति ही ऐसी है। मगर आदमी के लिए यह बात असम्भव है। अपेक्षाकृत कुछ कम-बेश दूरी पर हमारी आवाज दूसरों को भले ही सुनाई दे। मगर हजारों मील दूर कैसे सुनाई देगी? शब्द का स्वभाव ऐसा नहीं है, आदि-आदि। मगर अन्वेषण और विज्ञान ने सब कुछ सम्भव और सही बता दिया—करके दिखा दिया! फलतः स्वभाव की बात जाती रही। मामूली सी बात में भी तर्क-दलील करते-करते जब हम थक जायँ और उत्तर न दे सकें, तो क्यों न स्वभाव या प्रकृति की शरण ले के पार हो जायँ ? तब हम भी क्यों न कह दें कि यही प्रकृति का नियम है, नित्य नियम है? बात तो एक ही है। ज्यादा बुद्धिवाले कुछ ज्यादा दूर तक जा के प्रकृति की शरण लेते हैं। मगर हम कम अक्लवाले जरा नजदीक में ही और यह कैसे पता चला कि यह प्रकृति का नियम है, नित्य नियम है? प्रकृति क्या चीज है? नियम क्या चीज है? किसे नियम कहें और किसे नहीं? पहले तो कहा जाता था कि पृथिवी स्थिर

है और सूर्य चलता है। क्यों? यही नित्य नियम है यही उत्तर मिलता था। अब उलटी बात हो गयी इसीलिए प्रकृति, नेचर, प्राकृतिक नियमों की बात करना दूसरे शब्दों में अपने अज्ञान, अपनी संकुचित समझ, अपनी अविकसित बुद्धि को कबूल करना है। यह बात पुराने दार्शनिक नहीं करते थे। और जब जड़ नियमों को मानते ही हैं, तो फिर चेतन ईश्वर को ही क्यों न मानें? अन्धे से तो आँखवाला ही ठीक है न? नहीं तो फिर भी अड़चन आ सकती है।

इसीलिए उनने उस व्यापक हाथ, शक्ति या पुरुष को स्वीकार किया, या यों कहिए कि ढूँढ़ निकाला। उसके बिना इस संसार का काम उन्हें चलता नहीं दीखा। इसीलिए उसे पुरुष कहा, पुरुष का अर्थ ही है जो सर्वत्र पूर्ण या व्यापक हो। यदि उसमें अविद्या, भले-बुरे कर्म, सुख-दुःख, राग-द्वेष या भले-बुरे संस्कार मनुष्यों जैसे ही रहे तो फिर वही गड़बड़ होगी। पुरुष तो जीवों को भी कहते हैं। आत्माएँ भी तो व्यापक हैं। इसीलिए उसे निराला पुरुष माना और पतंजलि ने योगसूत्रों में साफ ही कह दिया कि "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (1।24) इसका अर्थ यही है कि अविद्या आदि से वह सर्वथा रहित है। इसीलिए उसे रत्ती-रत्ती चीजों का जानकार होना चाहिए। नहीं तो फिर भी दिक्कत होगी और संसार की व्यवस्था ठीक हो न सकेगी। उसका ज्ञान ऐसा हो कि उसकी कोई सीमा न हो—वह भूत, भविष्य, वर्तमान सभी काल के सभी पदार्थों को जान सके। इसीलिए पतंजलि ने कहा कि 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (1।25)। अगर वह मरे-जिये, कभी रहे कभी न रहे तो भी वही दिक्कत हो। इसलिए कह दिया कि वह समय की सीमा से बाहर है—नित्य है, अजर-अमर है। जितने जानकार, विद्वान्, दार्शनिक और तत्त्वज्ञ अब तक हो चुके उसके सामने सब फीके हैं—तुच्छ हैं। क्योंकि देशकाल से सीमित तो सभी ठहरे और वह ठहरा इससे बाहर। इसीलिए वह सबों का दादागुरु है—'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (1।26)

कर्मवाद

मगर इतने से भी काम चलता न दीखा। यदि ऐसा ईश्वर हो कि जो चाहे सोई करे तो उस पर स्वेच्छाचारिता (Autocracy) का आरोप आसानी से लग सकता है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक होने के कारण उसकी स्वेच्छाचारिता बड़ी ही खतरनाक सिद्ध होगी। जिस व्यवस्था और नियमितता के लिए हम उसे स्वीकार करते हैं या उसका लोहा मानते हैं, वही न रह पायेगी। क्योंकि उसकी स्वतन्त्रता ही कैसी यदि उस पर बन्धन लगा रहा? वह स्वतन्त्र ही कैसा यदि उसने किसी बात की परवाह की? यदि उस पर कोई भी अंकुश रहे, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो, तो वह परतन्त्र ही माना जायगा। यह प्रश्न मामूली नहीं है। यह एक बहुत बड़ी चीज है। जब हम किसी बात को बुद्धि और तर्क की तराजू पर तौलते हैं, तो हमें उसके नतीजों के

लिए तैयार रहना ही होगा। यह दार्शनिक बात है। कोई खेल, गप्प या कहानी तो है नहीं। इस प्रकार के ईश्वर को मानने पर क्या होगा यह बात आँखें खोल के देखने की है। पुराने महापुरुषों ने—दार्शनिकों ने—इसे देखा भी ठीक-ठीक। वे इस पहेली को सुलझाने में सफल भी हुए, चाहे संसार उसे गलत माने या सही। और हमारी सभी बातें सदा ध्रुव सत्य हैं यह दावा तो समझदार लोग करते ही नहीं। ज्ञान का ठीका तो किसी ने लिया है नहीं। तब हमारे दार्शनिक ऐसी गलती क्यों करते? उन्हें जो सूझा उसे उनने कहा दिया।

इस दिक्कत से बचने के ही लिए उनने कर्मवाद की शरण ली। असल में यह बात भी उनने अपने अनुभव और आँखों देखी के ही अनुसार तय की। उनने सोचा कि प्रतिदिन जो कुछ भी बुरा-भला होता है वह कामों के ही अनुसार होता है। चाहे खेती-बारी लें या रोजगार-व्यापार, पढ़ना-लिखना, पारितोषिक, दण्ड और हिंसा-प्रतिहिंसा के काम। सर्वत्र एक ही बात पायी जाती है। जैसे करते हैं वैसा पाते हैं। जैसा बोते हैं वैसा काटते हैं। गाय पालते हैं तो दूध दुहते हैं। साँप पाल के जहर का खतरा उठाते हैं। सिंह पाल के मौत का। जान मारी तो जान देनी पड़ी। पढ़ा तो पास किया। न पढ़ा तो फेल रहे। अच्छे काम में इनाम मिला और बुरे में जेल या बदनामी हाथ आयी। असल में यदि कामों के अनुसार परिणाम की व्यवस्था न हो तो संसार में अन्धेरखाता ही मच जाय। जब इससे उलटा किया जाता है तो बदनामी और शिकायत होती है, पक्षपात का आरोप होता है। यदि इसमें भी गड़बड़ होती है तो वह काम के नियम का दोष न हो के लोगों की कमजोरी और नादानी से ही होती है। अगर काम के अनुसार फल का नियम न हो तो कोई कुछ करे ही न। पढ़ने में दिमाग खपानेवाला फेल हो जाय और निठल्ला बैठा पास हो। खेती करनेवाले को गल्ला न मिले और बैठे-ठाले की कोठी भरे। ऐसा भी होता है कि एक के काम का परिणाम वंशपरम्परा को भी भुगतना पड़ता है। यदि अपनी नादानी से कोई पागल हो जाय तो वंश में भी उसका फल बच्चों और उनके बच्चों तक पहुँचता है। ऐसी ही दूसरी भी बीमारियाँ हैं। एक के किये का फल सारा वंश, गाँव या देश भी भुगतता है।

इस प्रकार एक तो कर्म ही सारी व्यवस्था के करने वाले सिद्ध हुए। दूसरे उनके दो विभाग भी हो गये। एक का ताल्लुक उसी व्यक्ति से होता है जो उसे करे। यह हुआ व्यष्टि कर्म। दूसरे का सम्बन्ध समाज, देश या पुश्त-दरपुश्त से होता है। यही है समष्टि कर्म। ऐसा भी होता है कि हरेक आदमी अपने काम से अपनी जरूरत पूरी कर लेता है। नदी से पानी ला के प्यास बुझा ली। मिहनत से पढ़ के पास कर लिया। बेशक इसमें विवाद की गुंजाइश है कि कौन व्यक्तिगत या व्यष्टि कर्म है और समष्टि। मगर इसमें तो शक नहीं कि व्यष्टि कर्म है। जहर खा लिया और मर गये। हाँ, समष्टि कर्म में एक से ज्यादा लोग शरीक होते हैं। कुआँ अकेले कौन खोदे? खेती एक आदमी कर नहीं सकता। घर-बार सभी मिल के उठाते हैं।

समष्टि कर्म यही हैं। सभी मिलके करते और फल भी सभी भोगते हैं। कभी-कभी एक का किया भी अनेक भुगतते हैं। फलतः वह भी समष्टि कर्म ही हुआ।

बस, तत्त्वदर्शियों ने इस सृष्टि का यही सिद्धान्त सभी बातों में लागू कर दिया। उनने माना कि जन्म-मरण, सुख-दुःख, बीमारी, आराम वगैरह सभी के मूल में या तो व्यष्टि या समष्टि कर्म हैं। उनने सभी की स्वतन्त्रता मर्यादित कर दी। चावलों या पदार्थों के परमाणुओं के आने-जाने से लेकर सारे संसार के बनाने-बिगाड़ने या प्रबन्ध का काम ईश्वर के जिम्मे हुआ और सभी पदार्थ उसके अधीन हो गये। ईश्वर भी जीवों के कर्मों के अनुसार ही व्यवस्था करेगा। यह नहीं कि अपने मन से किसी को कोढ़ी बना दिया तो किसी को दिव्य; किसी को राजा तो किसी को रंक; किसी को लूटने वाला तो किसी को लुटानेवाला। जीवों के कर्मों के अनुसार ही वह सब व्यवस्था करता है। जैसे भले-बुरे कर्म हैं वैसी ही हालत है, व्यवस्था है। कही चुके हैं कि बहुतेरे कर्म पुश्त-दर-पुश्त तक चलते हैं। इसीलिए इस शरीर में किये कर्मों में जिनका फल भुगताना शेष रहा उन्हीं के अनुसर अगले जन्म में व्यवस्था की गयी। जैसे भले-बुरे कर्म थे वैसी ही भली-बुरी हालत में सभी लोग लाये गये। इस तरह ईश्वर पर भी कर्मों का नियन्त्रण हो गया। फिर मनमानी घरजानी क्यों होगी? तब वह निरंकुश या स्वेच्छाचारी क्यों होगा? कर्म भी खुद कुछ कर नहीं सकते। वह भी किसी चेतन या जानकार के सहारे ही अपना फल देते हैं। वे खुद जड़ या अन्धे जो ठहरे। इस तरह उन पर भी ईश्वर का अंकुश या नियन्त्रण रहा—वे भी उसके अधीन रहे। सारांश यह है कि सभी को सबकी अपेक्षा है। इसीलिए गड़बड़ नहीं हो पाती। किसी का भी हाथ सोलह आना खुला नहीं कि खुल के खेले।

कर्मों के भेद और उनके काम

यह तो पहले ही कह चुके हैं कि जब कर्म अपना फल देते हैं तो उस फल की सामग्री को जुटाकर ही। कर्मों का कोई दूसरा तरीका फल देने का नहीं है। एकाएक आकाश से कोई चीज वे टपका नहीं देते। अगर जाड़े में आराम मिलना है तो घर, वस्त्र आदि के ही रूप में कर्मों के फल मिलेंगे। इन्हीं कर्मों के तीन दल प्रकारान्तर से किये गये हैं। एक तो वे जिनका फल भोगा जा रहा हो। इन्हें प्रारब्ध कहते हैं। प्रारब्ध का अर्थ ही है कि जिनने अपना फल देना प्रारम्भ कर दिया। लेकिन बहुत से कर्म बचे-बचाये रह जाते हैं। सबों का नतीजा बराबर भुगता जाय यह सम्भव नहीं। इसलिए बचे-बचायों का जो कोष होता है उसे संचित कर्म कहते हैं। संचित के मानी हैं जमा किये गये या बचे-बचाये। इसी कोष में सभी कर्म जमा होते रहते हैं। इनमें जिनकी दौर शुरू हो गयी, जिनने फल देना शुरू कर दिया वही प्रारब्ध कहे गये। इन दोनों के अलावे क्रियमाण कर्म हैं जो आगे किये जायँगे और संचित कोष में जमा होंगे। असल में तो कर्मों के संचित और प्रारब्ध यही दो भेद हैं। क्रियमाण

भी संचित में ही आ जाते हैं। यों तो प्रारब्ध भी संचित ही हैं। मगर दोनों का फर्क बता चुके हैं। यही है संक्षेप में कर्मों की बात।

अब जरा इनका प्रयोग सृष्टि की व्यवस्था में कर देखें। पृथिवी के बनने में समष्टि कर्म कारण हैं। क्योंकि इससे सबों का ताल्लुक है—सबों को सुख-दुःख इससे मिलता है। यही बात है सूर्य, मेघ, जल, हवा आदि के बारे में भी। हरेक के व्यक्तिगत सुख-दुःख अपने व्यष्टि कर्म के ही फल हैं। अपने-अपने शरीरादि को एक तरह से व्यष्टि कर्म का फल कह सकते हैं। मगर जहाँ तक एक के शरीर का दूसरे को सुख-दुःख पहुँचाने से ताल्लुक है वहाँ तक वह समष्टि कर्म का ही फल माना जा सकता है। यही समष्टि और व्यष्टि कर्म चावल वगैरह में भी व्यवस्था करते हैं। जिस किसान ने चावल पैदा करके उन्हें कोठी में बन्द किया है उसके चावलों से उसे आराम पहुँचना है। ऐसा करने वाले उसके व्यष्टि या समष्टि कर्म हैं जो पूर्व जन्म के कमाये हुए हैं। यदि चावलों के परमाणु निकलते ही जायँ और आयें नहीं, तो किसान दिवालिया हो जायगा। फिर आराम उसे कैसे होगा? इसलिए उसी के कर्मों से यह व्यवस्था हो गयी कि नये परमाणु आते गये और चावल कीमती बन गया। यदि पुराने नहीं जाते और नये नहीं आते तो यह बात न हो पाती। परमाणुओं का कोष भी कर्मों के अनुसार बनता है, बना रहता है। ईश्वर उसका नियन्त्रण करता है। जब बुरे कर्मों की दौर आयी तो घुन खा गये, चावल सड़ गये। या और कुछ हो गया। उनमें अच्छे परमाणु आ के मिले भी नहीं। यही तरीका सर्वत्र जारी है, ऐसा प्राचीन दार्शनिकों ने माना है। यों तो कर्मों के और भी अनेक भेद हैं। ऐसे भी कर्म होते हैं जिनका काम है केवल कुछ दूसरे कर्मों को खत्म (Negative) कर देना। ऐसे भी होते हैं जो अकेले ही कई कर्मों के बराबर फल देते हैं। मगर इतने लम्बे पँवारे से हमें क्या मतलब? योगसूत्रों के भाष्य और दूसरे दर्शनों को पढ़ के ये बातें जानी जा सकती हैं।

अवतारवाद

इतने लम्बे विवरण के बाद अब मौका आता है कि हम अवतारवाद के सम्बन्ध में इन कर्मों को लगा के देखें कि कर्मवाद वहाँ किस प्रकार लागू होता है। यह तो कही चुके हैं कि समष्टि कर्मों के फलस्वरूप पृथिवी आदि पदार्थ बनते हैं जिनका ताल्लुक एक-दो से न हो के समुदाय से है, समाज से है, मानव-संसार से है। सभी पदार्थों से है। यदि यह ढूँढ़ने लगें कि पृथिवी को किस व्यक्ति के कर्म ने तैयार किया-कराया, तो यह हमारी भूल होगी। एक से तो उसका सम्बन्ध है नहीं। पृथिवी के चलते हजारों-लाखों को सुख-दुःख भोगना है, गल्ला पैदा करना है, घर बनाना है, कपड़ा तैयार करना है—होना है। उससे तलवारें, भाले, तोपें, गोले, लाठियाँ बन के जाने कितने मरें-मारेंगे। फिर एक के कर्म का क्या सवाल? पृथिवी आदि पदार्थ एक के कर्म से क्यों बनेंगे?

जरा यही बात अवतारों के विषय में भी लगा देखें। आखिर अवतारों का काम क्या है? उनसे होता क्या है? उनकी भली-बुरी उपयोगिता है क्या? गीता कहती है कि "भले लोगों की रक्षा, बुरों के नाश और धर्म—सत्कर्मों, पुण्य-कार्यों, समाज-हितकारी कामों—की मजबूती एवं प्रचार के लिए बार-बार—समय-समय पर—अवतार होते हैं",—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दृष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे" (4।8)। अवतार के पहले की भी समाज की दशा यों कही गयी है, "जब-जब धर्म—सत्कर्मों—का खात्मा या अत्यन्त ह्रास हो जाता है और अधर्म—बुरे कर्मों—की वृद्धि हो जाती है तभी-तभी भगवान् खुद आते हैं"—यदायदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्" (4।7)। इन श्लोकों में जो 'यदा यदा'—जब-जब—तथा 'युगे-युगे'—समय-समय पर—कहा है उसका तात्पर्य यही है कि ऐसी ही परिस्थिति के साथ अवतार का ताल्लुक है। जिस प्रकार खेती-बारी के लिए जमीन और सींचने के लिए पानी की जरूरत है, साँस के लिए जैसे हवा जरूरी है; ठीक वैसे ही ऐसी परिस्थिति आ जाने पर उसका समुचित सामना करने, उसके प्रतिकार के लिए अवतार जरूरी है। पृथिवी, जल, वायु आदि का काम जिस प्रकार दूसरों से नहीं हो सकता है—जिस तरह पृथिवी आदि के बिना काम चल नहीं सकता—ठीक उसी तरह अवतार का काम और तरह से, दूसरों से चल नहीं सकता—उसके बिना काम हो नहीं सकता। इससे साफ हो जाता है कि जिस प्रकार पृथिवी आदि पदार्थ बनते हैं, पैदा होते हैं लोगों के समष्टि कर्मों के ही करते उन्हीं के फलस्वरूप, ठीक वैसे ही अवतार होते हैं लोगों के समष्टि कर्मों के ही फलस्वरुप उन्हीं के करते। अब यही देखना है कि यह बात होती है कैसे।

इसमें विशेष दिक्कत की तो कोई बात है नहीं। राम, कृष्ण आदि अवतारों के शरीरों से भले लोगों को—साधु-महात्माओं, देवताओं, तपस्वियों, सदाचारियों और भोलीभाली जनता को—तो बेशक आराम पहुँचता है, शान्ति मिलती है, उनकी चिन्ता और परेशानी मिटती है, उनके कर्मों में आसानी होती, सहायता पहुँचती है और वे निर्द्वन्द्व विचरते रहते हैं। जैसा कि खुद कृष्ण ने ही कहा है कि "लोक-संग्रह या लोगों के पथदर्शन के खयाल से भी तो कर्म करना ही चाहिए"—"लोक-संग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्त्तुमर्हसि" (3।20)। उनने यह भी साफ ही कह दिया है कि "मेरे अपने लिए तो कुछ भी करना-धरना शेष नहीं है, क्योंकि मुझे कोई चीज हासिल करनी जो नहीं है। फिर भी कर्म तो मुस्तैदी से करता रहता ही हूँ क्योंकि यदि ऐसा न करूँ तो सब लोग मेरी ही देखा-देखी कर्मों को छोड़ बैठेंगे। नतीजा यह होगा कि सारी गड़बड़ पैदा हो जायगी। फिर तो अव्यवस्था होने के कारण लोग चौपट ही हो जायँगे—" "न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन", आदि (3।22-26)। इसके अनुसार तो सभी को अच्छे से अच्छा पथ दर्शन एवं नेतृत्व मिलता है, जिससे सभी बातों की मर्यादा चल पड़ती है और समाज मजबूती के साथ उन्नति के पथ

में अग्रसर होता है। इस तरह जितनों का कल्याण होता है उतनों का सत्कर्म या उनके पूर्व जन्म के अच्छे कामों का ही यह फल माना जाना चाहिए। यदि वे आराम पाते और निर्बाध आगे बढ़ते हैं तो इसमें दूसरों की कमाई, प्रारब्ध या पूर्व जन्मार्जित कर्मों की कोई बात आती ही नहीं। जिन्हें सुख मिलता है, सुविधाएँ मिलती हैं उनके अपने ही कर्मों के ये फल हैं, यही मानना होगा।

दूसरी ओर ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें मिटाने के लिए अवतारों के शरीर होते हैं। जिनकी शैतानियतें मिटानी हैं, जिन्हें तबाह-बर्बाद करना है अवतारों के करते जितनों को आठ-आठ आँसू रोने पड़ते हैं, जो खुद और जिनके सगे-सम्बन्धी भी चौपट होते हैं, रो-रो मरते हैं, जिनकी भीषण से भीषण यन्त्रणाएँ होती हैं, जिनकी स्वेच्छाचारिता बन्द हो जाती और निरंकुशता एवं स्वच्छन्दता पर पाले पड़ जाते हैं, उनकी यह दशा होती है यद्यपि अवतारों के शरीरों से ही, उनके कामों से ही। फिर भी इसका कारण उन्हीं दुराचारियों, दुष्कृत—दुष्ट—लोगों के अपने ही बुरे कर्म मानने होंगे। यदि किसी की लाठी से सिर फूटा या तलवार से गला काटा तो यह ठीक है कि सिर फूटने एवं गला कटने का प्रत्यक्ष कारण लाठी या तलवार है। मगर ऐसे कारणों के सम्पादन करने वाले वे दुष्कर्म माने जाते हैं जो पहले या पूर्वजन्म में ऐसे लोगों ने किये थे जिनके सिर फूटे या गले कटे। यह तो कर्मों का मोटा-मोटी हिसाब माना ही जाता है। इसलिए अवतारों के शरीरों के निर्माण में भी इन दुष्ट जनों के ही बुरे कर्म कारण हैं। पहले कही चुके हैं कि यदि किसी के शरीर से दूसरों को कष्ट या आराम पहुँचे तो उनके भी भले-बुरे कर्म उस शरीर के कारण होते हैं। शरीरवाले के कर्म तो होते ही हैं। फलतः जिस प्रकार साधारण शरीर के निर्माण में समष्टि कर्म कारण बनते हैं। उसी तरह अवतारों के शरीरों के निर्माण में भी।

एक बात और भी जान लेने की है। यह जरूरी नहीं कि पूर्व जन्म के ही भले-बुरे कर्म वर्तमान जन्म के सुख-दुःखों के कारण हों। इसी देह के अच्छे या गन्दे काम भी कारण बन सकते हैं, बन जाते हैं। बासी या पुराने ही कर्म ऐसा करें यह कोई नियम नहीं है। सब कुछ निर्भर करता है कर्मों की शक्ति पर, उनकी ताकत पर, उनकी भयंकरता या उत्तमता पर। इसीलिए नीतिकारों ने माना है कि "तीन साल, तीन महीने, तीन पखवारे या तीन दिनों में भी जबर्दस्त कर्मों के भले-बुरे फल यहीं मिल जाते हैं"—"त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः। अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते।" इसीलिए तो यह भी कहा जाता है कि "इस हाथ दे, उस हाथ ले।" इसलिए दुष्ट जनों के जिन भयंकर कुकर्मों के करते हाहाकार मच जाता है, बहुत सम्भव है कि अवतारों के कारण वही हों या वह भी हों। इसी प्रकार महान् पुरुषों के तप और सदाचरण भी, जो उन पापी जनों से त्राण पाने के लिए किये जाते हैं, अवतारों के कारण बन जाते हैं, बन सकते हैं। मीमांसकों ने जानें कितने ही ऐसे कर्म माने हैं जिनके फल जल्दी ही मिलते हैं।

इस प्रकार समष्टि कर्मों के चलते ही पृथिवी आदि की ही तरह अवतारों के शरीर बनते हैं यह बात समझ में आ जाती है। जो लोग ऐसा सोचते हों कि हमारे भले-बुरे समष्टि कर्म भगवान् को नहीं खींच सकते; क्योंकि वह तो सबके ऊपर माना जाता है, उनके लिए तो पहले ही कहा जा चुका है कि कर्मों के अनुसार ही तो भगवान् को चलना पड़ता है। उसे भी कर्म की अधीनता एक अर्थ में स्वीकार करनी ही पड़ती है। यदि लोगों के कर्मों के अनुसार उसे हजार परेशानी उठानी पड़ती हो, दौड़-धूप और चिन्ता, फिक्र करनी पड़ती हो, तो यह तो मामूली सी बात ठहरी। जब लोगों ने ऐसा भी माना है कि भक्तजन भगवान् को नचाते हैं, तो फिर अवतार बनना क्या बड़ी बात है? जिनके कर्मों के करते पूर्व बताये ढंग से परमाणुओं की क्रियाएँ, दौड़धूप और चावल पेड़, मनुष्य के शरीर आदि बनना-बिगड़ना निरन्तर जारी है, अवतारों के शरीर भी उन्हीं की क्रियाओं के भीतर क्यों न आ जायँ, उन्हीं से तैयार क्यों न हो जायँ? आखिर ये सारी चीजें होती ही हैं संसार का काम चलाने के ही लिए न? फिर यदि अवतारों के बिना कोई काम रुकता हो या न चल सकता हो, तो उनके शरीर भी वैसे कामों के ही लिए क्यों न बन जायँगे?

यह ठीक है कि जितनी चीजें बनती हैं सभी अनिवार्य आवश्यकताओं और जरूरतों के ही चलते। प्रकृति या संसार के भीतर व्यर्थ और फिजूल पदार्थों की गुंजाइश हई नहीं। बल्कि प्रकृति तो ऐसी चीजों की दुश्मन है। इसीलिए उन्हें जल्द मिटा देती है। वैसी ही आवश्यकताओं के चलते अवतार भी होते हैं। यही कारण है कि आवश्यकताओं की पूर्ति होते ही अवतारों का काम पूरा हो जाता है और उनके शरीर खत्म हो जाते हैं। किन्हीं का काम कुछ देर से होता है और किन्हीं का जल्द। कहते हैं कि नृसिंह के बिना हिरण्यकशिपु को कोई मार नहीं सकता था। कहानी तो ऐसी है कि उसने अपने लिए ऐसा ही सामान कर लिया था। यही वजह है कि भगवान् को नृसिंह बनना और उसे मार के फौरन विलीन हो जाना पड़ा। पीछे नृसिंह का शरीर रह न सका। यही बात राम, कृष्ण आदि के बारे में भी है। जो जो काम उनने किए, जो पथदर्शन उनसे हुए वे औरों से हों नहीं सकते थे। मगर उन कामों के लिए कुछ ज्यादा समय चाहता था। इसीलिए वे लोग देर तक रहे। हमारा मतलब यहाँ पौराणिक आख्यानों पर मुहर लगाने या उन्हें अक्षरशः सही बताने से नहीं है। हमें तो यहीं दिखाना है कि अवतारों के लिए दार्शनिक युक्ति के अनुसार जो परिस्थिति चाहिए वह सम्भव है या नहीं।

यह बात भी अब साफ होई चुकी कि अवतारों के शरीरों में भगवान् को खिंच आना ही पड़ता है। अवतार शब्द का तो अर्थ ही है। उतरना या खिंच आना अगर संसार में बुरे-भले कर्म माया-ममताशून्य जनों तक को अपनी ओर खींच सकते हैं और उनमें दया या रोष पैदा करवा के हजारों कठिनतम काम उनसे करवा सकते हैं, तो फिर भगवान् का खिंच जाना कोई आश्चर्य नहीं है यदि बाँसुरी का स्वर मृग या साँप

को खींच सकता है, उन्हें मुग्ध एवं बेताब कर सकता है; यदि बछड़े की आवाज गाय को बहुत दूर से खींच सकती है; यदि किसी प्रेमी का प्रेम हजारों कोस से किसी को घसीट सकता है, तो सृष्टि की जरूरत या लोगों के भले-बुरे कर्म तथा प्रेम और द्वेष भगवान् को उस शरीर में क्यों नहीं खींच लेंगे। न्याय और वैशेषिक दर्शनों ने तो स्पष्ट कहा है कि लोगों के कर्मों से ही परमाणुओं में क्रिया जारी होती है और वे आपस में खिंच के मिलते-मिलते महाकाय पृथिवी, समुद्र आदि बना डालते हैं। फिर प्रलय के समय उलटी क्रिया होने से अलग होते-होते वही सबको मिटा देते हैं। ऐसी दशा में उन्हीं कर्मों से भगवान् के शरीर क्यों न बन जायँ? उनमें वह खिंच जाय क्यों नहीं?

अब एक ही सवाल और रह जाता है। कहा जा सकता है कि शरीर बन जाने पर तो भगवान् की भी वही हालत हो जायगी जो साधारण जीवों की। वही तकलीफ-आराम, वही माया-ममता और वही हैरानी-परेशानी होगी ही। इसका उत्तर गीता ने चौथे अध्याय में ही दे दिया है। वहाँ लिखा है कि, "अविनाशी एवं जन्मशून्य होते हुए और सभी पदार्थों का शासक रहते हुए भी मैं अपनी माया के बल से शरीर धारण करता हूँ। मगर अपने स्वभाव को कायम रखता हूँ जिससे माया मुझ पर अपना असर नहीं जमा पाती"—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया" (4।6)। माया कहने और अपने स्वभाव को कायम रखने की बात बोलने का मतलब यह है कि एक तो भगवान् का शरीर साधारण लोगों जैसा देखने पर भी वैसा नहीं है; किन्तु मायामय और नटलीला जैसा है। नट की कला की कितनी ही बातें असाधारण होती हैं। वे देखने में चाहे जो लगें; मगर उनकी हकीकत कुछ और ही होती है। देखने वाले चकाचौंध में पड़ के और का और समझ बैठते हैं। यही बात अवतारों के भी शरीरों की हैं। दूसरी बात यह है कि साधारण लोगों की तरह माया-ममता में वे दबते नहीं। उनका अपना स्वभाव, अपना ज्ञान, अपनी अनासक्ति और अपना बेलागपन बराबर कायम रहता है। खानपान आदि सारी क्रियाएँ उस शरीर के लिए आवश्यक होने के कारण ही होती हैं जरूर। मगर उनमें वे अवतार लिपटते नहीं, चिपकते नहीं। वे इन सब बातों से बहुत ऊपर रहते हैं।

यह भी जान लेना जरूरी है कि गीता में इस माया को दैवी या अलौकिक शक्तिवाली कहा है, जिसमें हजारों गुण, खूबियाँ या करिश्मे होते हैं—"दैवीह्येषा गुणमयी ममाया" (7।14)। इसीलिए उस माया के चलते जो शरीर बनेगा उसमें मामूली नटों के करिश्मों से हजार गुने अधिक करिश्मे होंगे—चमत्कार होंगे। वह तो महान् इन्द्रजाल होगा। इसी के साथ-साथ यह भी बात है कि जिस तरह कर्मों की व्यवस्था बता के भगवान् के शरीर बनने की रीति कही जा चुकी है। वह असाधारण है, गैरमामूली है। इसीलिए जो निराले, अलौकिक काम अवतार करते हैं वह औरों में पाये नहीं जाते, पाये जा नहीं सकते। यह तो सारी प्रणाली ही अलौकिक है, निराले कर्मों का खेल है, भगवान् की लीला है। भगवान् भी दिव्य हैं, निराले हैं। उनकी माया भी

वैसी ही है। अनोखे कर्मों से ही उनके शरीर बनते हैं, न कि मामूली कर्मों से। इसीलिए गीता ने कह दिया है कि इन सारी निराली बातों को जो ठीक-ठीक समझता है, भगवान् के दिव्य जन्म एवं दिव्य कर्म को जो बखूबी ज़ान जाता है, मरने के बाद वह पुनरपि जन्म नहीं ले के भगवान् ही बन जाता है—"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन" (4।9)।

अवतारों के सम्बन्ध में गीता की बातें सामान्य रूप से बताई जा चुकीं। अब एक खास बात कहके यह प्रसंग पूरा करना है। हमने जो परमाणुओं के जुटने से पृथिवी आदि के बनने और अलग होने से उनके नष्ट हो जाने तथा प्रलय के आ जाने की बात कह दी है उससे यह तो पता लगी गया कि प्रलय और कुछ चीज नहीं है, सिवाय इसके कि वह कर्मों के, और इसीलिए सभी पदार्थों के जो उस समय रह जाते हैं, विराम का समय है, विश्राम का काल है। संसार में विश्राम का भी नियम पाया जाता है। इसीलिए कर्मवाद के माननेवालों ने कर्मों के सिलसिले में ही उसे माना है। इसीलिए वे प्रलय को कर्मों का विश्राम काल और सृष्टि को उनके काम या फल देने का समय मानते हैं।

इसी नियम के अनुसार जब-जब जहाँ-जहाँ समष्टि कर्मों की प्रेरणा से अवतारों की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है तब-तब तहाँ-तहाँ अवतार पाये जाते हैं, होते हैं। किसी खास देश या खास समय में ही अवतारों का मानना भारी भूल है। गीता को यह बात मान्य नहीं है। इसीलिए अवतार के प्रकरण में सिर्फ 'जब-जब, या समय-समय पर' 'यदायदाहि', 'युगे-युगे' (4।7-8) यही कहा है। वहाँ किसी देश या मुल्क की बात पायी नहीं जाती है। पुराण-इतिहासों में भी सिर्फ भूलोक या मर्त्यलोक ही कहा है और यही बात प्रधान है। यदि कहीं एकाध जगह भारतवर्ष आया है तो वह या तो यों ही आ गया है दृष्टान्त के रूप में, या अवतार विशेष के सिलसिले में ही, जो भारतवर्ष में ही हुए हैं। मगर दरअसल देश या मुल्क का कोई नियम नहीं है। मानव-समाज के ही कल्याण के लिए अवतार होते हैं और वह समाज सभी देशों में है। इसलिए यहूदी, इस्लाम या ईसाई धर्मों में जिन महापुरुषों या प्रमुख आचार्यों की बात आती है, जो धर्म संस्थापक माने जाते हैं, उन्हें अवतार मानने में गीता को कोई उज्र नहीं है। गीता के अनुसार तो वे सबके-सब अवतार हईं। यों तो 'यद्यद्विभूतिमत्' (10।41) में सभी प्रकार के विलक्षण पुरुषों या पदार्थों को भगवान् की ही विभूति आम-तौर से माना है।

इस प्रकार हमने देखा कि यदि ईश्वर या कर्मवाद की शरण ली गयी है तो सिर्फ सृष्टि के कामों को पूरी तौर से चलाने के लिए। मालूम होता है कि इनके बिना कोई स्थान खाली था, गैप—gap—था। उसी की पूर्ति के लिए इन्हें माना गया। मगर पीछे हमारा पतन ऐसा हो गया कि हम अपना सारा यत्न छोड़ के इन्हीं भगवान् और भाग्य—कर्म—के भरोसे बैठने लगे! यही बात अब तक जारी है।

5. गुणवाद और अद्वैतवाद

कर्मवाद एवं अवतारवाद की ही तरह गीता में गुणवाद तथा अद्वैतवाद की भी बात आयी है। इनके सम्बन्ध में भी गीता का वर्णन अत्यन्त सरस, विलक्षण एवं हृदयग्राही है। यों तो यह बात भी गीता की अपनी नहीं है। गुणवाद दरअसल वेदान्त, सांख्य और योगदर्शनों की चीज है। ये तीनों ही दर्शन इस सिद्धान्त को मानते हैं कि सत्त्व, रज और तम इन तीन ही गुणों का पसारा, परिणाम या विकास यह समूचा संसार है—यह सारी भौतिक दुनिया है। इसी तरह अद्वैतवाद भी वेदान्त दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है। वह समस्त दर्शन इसी अद्वैतवाद के प्रतिपादन में ही तैयार हुआ है। वेदान्त ने गुणवाद को भी अद्वैतवाद की पुष्टि में ही लगाया है—उसने उसी का प्रतिपादन किया है। फिर ये दोनों ही चीजें गीता की निजी होंगी कैसी? लेकिन इनके वर्णन, विश्लेषण, विवेचन और निरूपण का जो गीता का ढंग है वही उसका अपना है, निराला है। यही कारण है कि गीता ने इन पर भी अपनी छाप आखिर लगाई दी है।

परमाणुवाद और आरंभवाद

असल में प्राचीन दार्शनिकों में और अर्वाचीनों में भी, फिर चाहे वह किसी देश के हों, सृष्टि के सम्बन्ध में दो मत हैं—तो दल हैं। एक दल है न्याय और वैशेषिक का, या यों कहिए कि गौतम और कणाद का। जैमिनि भी उन्हीं के साथ किसी हद तक जाते हैं। असल में उनका मीमांसादर्शन तो प्रलय जैसी चीज मानता नहीं। मगर न्याय तथा वैशेषिक उसे मानते हैं। इसीलिए कुछ अन्तर पड़ जाता है। असल में गौतम और कणाद दोई ने इसे अपना मन्तव्य माना है। दूसरे लोग सिर्फ उनका साथ देते हैं। इसी पक्ष को परमाणुवाद (Atomic Theory) कहते हैं। यह बात पाश्चात्य देशों में भी पहले मान्य थी। मगर अब विज्ञान के विकास ने इसे अमान्य बना दिया। इसी मत को आरम्भवाद (Theory of creation) भी कहते हैं। इस पक्ष ने परमाणुओं को नित्य माना है। हरेक पदार्थ के टुकड़े करते-करते जहाँ रुक जायँ या यों समझिये कि जिस टुकड़े का फिर टुकड़ा न हो सके, जिसे अविभाज्य अवयव (Absolute or indivisible particle) कह सकते हैं उसी का नाम परमाणु (Atom) है। उसे

जब छिन्न-भिन्न कर सकते ही नहीं तो उसका नाश कैसे होगा? इसीलिए वह अविनाशी—नित्य—माना गया है।

परमाणु के मानने में उनका मूल तर्क यही है कि यदि हर चीज के टुकड़ों के टुकड़े होते ही चले जायँ और कहीं रुक न जायँ—कोई टुकड़ा अन्त में ऐसा न मान लें जिसका खण्ड होई न सके—तो हरेक स्थूल पदार्थ के अनन्त टुकड़े, अवयव या खण्ड हो जायँगे। चाहे राई को लें या पहाड़ को; जब खण्ड करना शुरू करेंगे तो राई के भी असंख्य खण्ड होंगे—इतने होंगे जिनकी गिनती नहीं हो सकती, और पर्वत के भी असंख्य ही होंगे। वैसी हालत में राई छोटी क्यों और पर्वत बड़ा क्यों? यह प्रश्न स्वाभाविक है। अवयवों की संख्या है, तो दोनों की अपरिमित है, असंख्य है, अनन्त है। इसीलिए बराबर है, एक सी है। फिर छुटाई, बड़ाई कैसे हुई? इसीलिए उनने कहा कि जब कहीं, किसी भाग पर, रुकेंगे और उस भाग के भाग न हो सकेंगे, तो अवयवों की गिनती सीमित हो जायगी, परिमित हो जायगी। फलतः राई के कम और पर्वत के ज्यादा टुकड़े होंगे। इसीलिए राई छोटी हो गयी और पर्वत बड़ा हो गया। उसी सबसे छोटे अवयव को परमाणु कहा है। परमाणुओं के जुटने से ही सभी चीजें बनीं।

गुणवाद और विकासवाद

दूसरा दल गुणवादियों का है। उनके गुणवाद को परिणामवाद या विकासवाद (Evolution Theory) भी कहते हैं। इसे वही तीन दर्शन—वेदान्त, सांख्य तथा योग—मानते हैं। इनके आचार्य हैं क्रमशः व्यास, कपिल और पतंजलि। ये लोग परमाणुओं की सत्ता स्वीकार न करके तीन गुणों को ही मूल कारण मानते हैं। इन्हें परमाणुओं से इनकार नहीं। मगर ये उन्हें अविभाज्य नहीं मानते हैं। इनका कहना यही है कि कोई भी भौतिक पदार्थ अविभाज्य नहीं हो सकता है। विज्ञान ने भी इसे सिद्ध कर दिया है कि जिसे परमाणु कहते हैं उसके भी टुकड़े होते हैं। परमाणुवाद के मानने में जो मुख्य दलील दी गयी है उसका उत्तर गुणवादी आसानी से देते हैं। वे तो यही कहते हैं कि पर्वत के टुकड़े करते-करते एक दशा ऐसी जरूर आ जायेगी जब सभी टुकड़े राई जैसे ही हो जायँगे। उनकी संख्या भी निश्चित होगी, फिर चाहे जितनी ही लम्बी हो। अब आगे जो टुकड़े हरेक राई जैसे टुकड़े के होंगे वह अनन्त—असंख्य—होंगे। नतीजा यह होगा कि इन अनन्त टुकड़ों से हरेक राई या राई जैसी ही लम्बी-चौड़ी चीज तैयार होगी, जिसकी संख्या निश्चित होगी। अब यहीं से एक ओर राई रह जायेगी अकेली और दूसरी ओर उसी जैसे टुकड़ों को, जिनकी संख्या निश्चित है, मिला के पर्वत बना लेंगे। इसीलिए वह बड़ा भी हो जायगा। फिर परमाणु का क्या सवाल? गीता में परमाणुवाद की गन्ध भी नहीं है—चर्चा भी नहीं है, यह विचित्र बात है।

इसीलिए परमाणुवाद और तन्मूलक आरम्भवाद की जगह उनने गुणवाद और

तन्मूलक परिणामवाद या विकासवाद स्थिर किया। उनने अन्वेषण करके पता लगाया कि देखने में चाहे पृथिवी, जल आदि पदार्थ भिन्न हों; मगर उनका विश्लेषण (Analysis) करने पर अन्त में सबों में तीन ही चीजें, तीन ही तत्त्व, तीन ही मूल पदार्थ पाये जायँगे, पाये जाते हैं। इन तीनों को उनने सत्त्व, रजस् और तमस् नाम दिया। आमतौर से इन्हें सत्त्व, रज, तम कहते हैं। इन्हीं का सर्वत्र अखण्ड राज्य है–सर्वत्र बोलबाला है। चाहे स्थूल पदार्थ अन्न, जल, वायु, अग्नि आदि को लें, या क्रिया, ज्ञान, प्रयत्न, धैर्य आदि सूक्ष्म पदार्थों को लें। सबों में यही तीन गुण पाये जाते हैं। इसीलिए गीता ने साफ ही कह दिया है कि "आकाश, पाताल, मर्त्यलोक में–संसार भर में–ऐसा एक भी सत्ताधारी पदार्थ नहीं है जो इन तीन गुणों से अछूता हो, अलग हो"–"न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु व पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः" (18। 40)। यों तो अठारहवें अध्याय के 7वें सें लेकर 44 तक के श्लोकों में विशेष रूप से कर्म, धैर्य, ज्ञान, सुख, दुःखादि सभी चीजों का विश्लेषण करके उन्हें त्रिगुणात्मक सिद्ध किया है। सत्रहवें अध्याय के शुरू के 22 श्लोकों में भी दूसरी अनेक चीजों का ऐसा ही विश्लेषण किया गया है। गीता में और जगह भी गुणों की बात पायी जाती है। चौदहवें अध्याय में यही बात है। वह तो सारा अध्याय गुणनिरूपण का ही है। मगर वहाँ गुणों का सामान्य वर्णन है। इसका महत्त्व आगे बतायेंगे।

यहाँ पर आरम्भवाद और परिणामवाद या विकासवाद के मौलिक भेदों को भी समझ लेना चाहिए। तभी आगे बढ़ना ठीक होगा। आरम्भवाद में यही माना जाता है कि परमाणुओं के संयोग या जोड़ से ही पदार्थों के बनने का काम शुरू होता है–आरम्भ होता है। वे ही पदार्थों का आरम्भ या श्रीगणेश करते हैं। वे इस तरह एक नयी चीज तैयार करते हैं जैसे सूत कपड़ा बनाते हैं। जो काम सूतों से नहीं हो सकता है वह तन ढँकने का काम कपड़ा करता है। यही उसका नवीनपन है। मगर परिणामवाद या विकासवाद में तो किसी के जुटने, मिलने या संयुक्त होने का प्रश्न ही नहीं होता। वहाँ पहले से बनी चीज ही दूसरे रूप में परिणत हो जाती है, विकसित हो जाती है। जैसे दूध ही दही के रूप में परिणत हो जाता है। इस मत में तीनों गुण ही सभी भौतिक पदार्थों के रूप में परिणत हो जाते हैं। कैसे हो जाते हैं यह कहना कठिन है, असम्भव है। मगर हो जाते हैं यह तो ठोस सत्य है। जब परमाणुओं को निरवयव मानते हैं, तो फिर उनका संयोग होगा भी कैसे? संयोग तो दो पदार्थों के अवयवों का ही होता है न? जब हम हाथ से लोटा पकड़ते हैं तो हाथ के कुछ भाग या अवयव लोटे के कुछ हिस्सों के साथ मिलते हैं। मगर निरवयव चीजें कैसे परस्पर मिलेंगी? इसीलिए आरम्भवाद को मानने से इनकार कर दिया गया। क्योंकि इस मत के मानने से दार्शनिक ढंग से पदार्थों का निर्माण सिद्ध किया जा सकना असम्भव जँचा।

गुण और प्रधान

सत्त्व, रज, तम को गुण नाम क्यों दिया गया यह भी मजेदार बात है। जब यही सृष्टि के मूल में है तब तो यही प्रधान ठहरे, मुख्य ठहरे, असल ठहरे, अग्रणी ठहरे। लेकिन इन्हें गुण कहते हैं! गुण या गौण का अर्थ है अप्रधान, जो मुख्य न हो, अग्रणी न हो। और प्रधान किसे कहा है? प्रकृति को, जो इन तीनों गुणों के मिल जाने से बन जाती है। जब ये तीनों गुण अपनी विषमता छोड़ के सम रूप से मिल जाते हैं, जब इनकी साम्यावस्था हो जाती है तो उसे ही प्रकृति और प्रधान कहते हैं; हालाँकि वह पीछे की चीज होने से गुण या गौण ठहरी। साम्यावस्था ही प्रलय की अवस्था है। उस दशा में सृष्टि का काम कुछ भी नहीं हो पाता—सब कुछ खत्म हो जाता है।

यद्यपि चौदहवें अध्याय के 5वें से 25वें तक के श्लोकों में इन गुणों की बात विशेष रूप से कही गयी है, तथापि 5-18 तक के 14 श्लोकों के पढ़ने से, अभी जो शंका उठी है, उसका उत्तर मिल जाता है। दूसरी भी बातें विदित हो जाती हैं। इसीलिए इस अध्याय का विशेष महत्त्व हमने माना है। इन्हें गुण क्यों कहते हैं, इस सम्बन्ध में पाँचवाँ श्लोक खास महत्त्व रखता है। मगर उसका अर्थ करने या और भी विचार करने के पूर्व हमें सृष्टि की एक बात जान लेने की है जो उससे पहले के 3,4 श्लोकों में कही गयी है। हम तो हमेशा सृष्टि के ही सम्बन्ध में सोचते हैं कि यह कैसे बनी, इसका विकास या पसारा कैसे हुआ। दर्शनों का श्रीगणेश तो इसी बात को लेके होता ही है, यह पहले ही कहा जा चुका है। प्रलय या सृष्टि न रहने की दशा को तो हम पहले सोचते नहीं। वह तो हमारे सामने की चीज है नहीं। विचार के ही सिलसिले में जब उसकी बात पीछे आ जाती है, तो उस पर भी सोचते हैं। मगर उस दशा में भी वह महज खयाली और दिमागी चीज होती है। वह सामने की या ठोस वस्तु तो होती नहीं। फिर पहले उधर खयाल जाये तो कैसे?

एक बात और है। सृष्टि का अर्थ ही है अनेकता, विभिन्नता (Diversity, Heterogeniety)। इसी विभिन्नता को लेके हम शुरू करते हैं और अन्वेषण चालू होता है। प्रलय तो इससे उलटी चीज है। उसमें तो एकता और अभिन्नता है, एकरूपता और समता (Uniformily & Homogeneity) है। जैसा कि गीता ने चौदहवें अध्याय के 6-18 श्लोकों में बताया है, गुणों में तो परस्पर विरोध है—वे ऐसे हैं कि एक दूसरे को खा जायँ। यदि हम तीनों के प्रतिनिधि के रूप में पित्त, वात और कफ को मान लें तो इनकी बात कुछ समझ में आ जाये। क्रमशः सत्त्व, रज, तम की जगह स्थूल शरीर में पित्त, वात, कफ माने जाते भी हैं। पित्तादि में सत्त्वादि की ही यों भी प्रधानता रहती है। सत्त्व में प्रकाश, उजाला, हल्कापन आदि माने जाते हैं। पित्त में भी यही चीजें हैं। पित्त आग या गर्म है। और उसी में ये बातें होती हैं। रज में क्रिया होती है और वायु तो सतत क्रियाशील है। तम भारी है और कफ भी जकड़ने वाली चीज है। शरीर के लिए जैसे पित्तादि तीनों की जरूरत है, वैसे

ही संसार के लिए सत्त्वादि की आवश्यकता है। हाँ, पित्त आदि की मात्रा निश्चित रहे तो ठीक हो, नहीं तो गड़बड़, बेचैनी, बीमारी हो। यही बात सत्त्वादि की भी है। उनकी भी निश्चित मात्रा है और जहाँ वह बिगड़ी कि गड़बड़ शुरू हुई। जैसे शरीर में एक समय एक ही पित्त या वायु या कफ प्रधान हो के रहता है, वैसी ही बात इन गुणों की भी है। एक समय एक ही प्रधान रहेगा; बाकी उसी के मातहत। यही बात गीता ने 'रजस्तमश्चाभिभूय' (14।10) श्लोक में साफ कही है।

इन गुणों का परस्पर विरोध तो मानते ही हैं। वायु, कफ, पित्त की भी यही बात है। मगर जरा और भी देख लें। ज्ञान के लिए, हल्केपन के लिए और प्रकाश के लिए क्रिया नहीं चाहिए, भारीपन नहीं चाहिए। ज्यादा हलचल से प्रकाश रुक जाता है, ज्ञान नहीं हो पाता, मन की एकाग्रता नहीं हो पाती। भारीपन से या तो नींद आती है या बेचैनी होती है। ज्ञान है सत्त्व का काम। हल्कापन और प्रकाश भी उसी का काम है। उसकी विरोधी क्रिया है रज का काम और भारीपन है तम का। साफ ही देखते हैं कि ज्ञान होने से मन उसमें लगे तो क्रिया रुक जाये। निद्रा या भारीपन भी जाता रहे। हल्कापन उसका विरोधी जो है। भारीपन हो तो सारी चीजें दब के रह जायँ, नींद आ जाय और क्रिया न हो सके। ज्ञान की तो बात ही मत पूछिये। 6 से 9 तथा 11 से 18 तक के श्लोकों में इसी बात का सुन्दर विवरण है।

मगर खूबी यह है कि इन तीनों का आपस में समझौता है कि हम लोग मिल के रहेंगे; नहीं तो किसी की खैर नहीं! राजनीति में आज तो धर्मों और देशों का परस्पर विरोध है वह तो इनके सामने फीका पड़ जाता है—वह इनके विरोध के सामने कुछ नहीं है। मगर चाहे हमारी नादानी से धर्मविरोध और राजनीति का विरोध मिटे या न मिटे, भाई-भाई की लड़ाई खत्म हो या न हो। मगर इनने तो पारस्परिक विरोध मिटा लिया है, समझौता (Pact) कर लिया है। इन्हें दुनिया में सिर ऊँचा करके रहना जो है। और हमें? हमें तो गैरों के जूते सहने और गुलामी करनी है न? फिर हमारा मेल कैसे हो? हाँ, तो इनने यह समझौता कर लिया है कि एक वक्त में हममें एक ही प्रधान होगा, नेता होगा, मुखिया होगा; बाकी दो उसी के साथ, उसी के अनुकूल चलेंगे, उसी की मदद करेंगे, बावजूद इसके कि ये दोनों ही उसके सख्त दुश्मन हैं! फिर मौके पर जरूरत के अनुसार हममें दूसरा प्रधान तथा लीडर होगा और पहला उस जगह से हटेगा। उस समय भी बाकी दो उसी प्रधान के सहायक होंगे। आवश्यकतानुसार उसे हटाके जब तीसरा मुखिया बनेगा तो बाकी दो उसके ही सहायक और साथी बनेंगे। यही है इन तीनों का अलिखित समझौता (Convention)। पूर्वोक्त दसवें श्लोक का यही अभिप्राय है।

यहीं पर इन्हें गुण कहने का एक कारण मिल जाता है। जैसा कि अभी कहा गया है, सृष्टि के रहते हुए इन तीन में दो या अधिकांश हमेशा एक के पीछे रहते हैं, उसी के सहायक और मददगार होते हैं; यहाँ तक कि अपना स्वभाव छोड़ के

उसके विपरीत उसकी मदद करते हैं, जैसे बलपूर्वक किसी गुलाम से कोई काम कराया जाय। फर्क यही है कि इनके लिए बल प्रयोग नहीं है। दूरअन्देशी से खुद ही ये वैसा करते हैं। और इनमें जो एक कभी प्रधान होता है वही पीछे अप्रधान बन जाता है। इस प्रकार देखते हैं कि ये तीनों गुण सृष्टि के मूल कारण होते हुए यद्यपि प्रधान कहे जाने योग्य हैं, तथापि इनकी असली खूबी है दूसरों के अनुयायी बनना, उनकी सहायता करना, उनके अनुकूल होना। सृष्टि की दृष्टि से इनकी यह खूबी जरूरी है भी। इसी विशेषता के खयाल से, इसी ओर खयाल आकृष्ट करने के ही लिए इन्हें गुण कहा है। दसवें श्लोक से यही पता चलता है।

अब जरा दूसरा पहलू देखिए। यदि 5-9 श्लोकों को देखें तो पता चलता है कि ये तीनों ही गुण बाँधने का काम करते हैं। कोई ज्ञान, सुख आदि में मनुष्य को लिप्त करके, लिपटा के उन्हीं चीजों से उसे बाँध देते हैं; क्योंकि किसी चीज की ज्यादती ही ऐब है, बन्धन है, तो कोई क्रिया और लोभ आदि में फँसा देते हैं। यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ, यह काम शेष है, वह बाकी है इसी हाय-हाय में जिन्दगी गुजरती है। जिस प्रकार सत्त्व गुण, ज्ञान आदि में फँसा के बाँध देता है, उसी प्रकार रज क्रिया और लोभ आदि में। जाल में फँसाने का काम करने में ज्ञान सुख, क्रिया, लोभ चारे की जगह प्रयुक्त होते हैं। तम का तो फँसाना काम प्रसिद्ध ही है। वह तो हमेशा का ही बदनाम है। मगर जो उससे अच्छा रज है और जो महान् माने जानेवाला सत्त्व है वह भी फँसाने में किसी से पीछे नहीं है! "छोटी बहू तो छोटी, बड़ी बहू शुभानल्ला !" और यह तो जानते ही हैं कि फाँसने और बाँधने का काम रस्सी करती है। फिर चाहे वह सूत की बारीक या मोटी हो, या, और चीज की हो। संस्कृत में रस्सी को गुण कहते हैं। इसी का अपभ्रंश हो के गोन शब्द हो गया। नाव खींचने की रस्सी को गोन कहते हैं। फलतः फँसाने और बाँधने की ताकत इन गुणों में होने के ही कारण इन्हें गुण कहा है; ताकि लोग इनसे सजग रहें। 5-9 श्लोकों से यह स्पष्ट है। 5वें के उत्तरार्द्ध में तो एक ही साथ तीनों को बाँधनेवाले कह दिया है—'निबध्नन्ति महाबाहो।' इसीलिए अर्जुन को कहा गया है कि इन गुणों से ऊपर जाओ—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (2 । 45)। इसी चौदहवें अध्याय में भी कहा है कि इन गुणों से अलग ब्रह्मात्मा को जानने वाले की मुक्ति होती है—'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति' (14 । 19), तथा इन गुणों से ऊपर उठने पर ही मनुष्य ब्रह्मरूप हो जाता है—'स गुणान्समतीयैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते' (14 । 26)।

गुणों में यह परस्पर विरोध और मिलके काम करने की—दोनों—बात योगसूत्र—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (2 । 15)—में और इसके भाष्य में भी अत्यन्त विशद रूप से बताई गयी है। वहीं पर यह भी कह दिया है कि तीनों गुण परस्पर मिल के ही हर चीज पैदा करते हैं। इसीलिए तो सभी पदार्थों में तीनों ही गुण पाये जाते हैं। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिकाओं

में भी "सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वर्णकमेव तमः प्रदीवच्चार्थतो वृत्तिः" (13) के द्वारा इन तीनों गुणों को परस्पर विरोधी बता के बाद में तीनों के मिल के काम करने का बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। इनके परस्पर मिलने का कारण भी बताया है। वह कहता है कि जिस प्रकार दीपक में तेल, बत्ती और तेज या अग्नि तीनों ही परस्पर विरोधी हैं तथापि तीनों को मिलाये बिना रोशनी होई नहीं सकती। आग बत्ती और तेल दोनों को ही खत्म करने वाली है। तेल ज्यादा दे दिया जाय जलना बन्द हो जाय, बुझ जाय। बत्ती को भी भिगो के विकृत बना देता है। बत्ती भी तेल को सोखती है अगर सख्त बत्ती या कपड़े का बण्डल डाल दें तो चिराग बुझ जाय। मगर प्रयोजनवश तीनों को हिसाब से रख के काम चलाते हैं। इस तरह परस्पर मेल से ही दीपक जलता है। इसी प्रकार संसार के कामों के चलाने और गुणों के अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के ही लिए तीनों का मिल के काम करना जरूरी हो जाता है।

तीनों गुणों की जरूरत

अब हमें एक ही बात का विचार करना शेष है जिसका सृष्टि से ही ताल्लुक है। बाद में प्रलय की बात कह के आगे बढ़ेंगे। सृष्टि की रचना कैसे होती है यह बात तो प्रलय के ही निरूपण में आगे आयेगी। अभी तो हमें यह देखना है कि इन तीनों परस्पर विरोधी गुणों की क्या जरूरत है। क्या सचमुच ही इन तीनों की आवश्यकता है, यह प्रश्न होता है। उत्तर में "हाँ" कहना ही पड़ता है। यह कैसे है यह बात और ये तीनों एक दूसरे की मदद कैसे करते हैं यह भी एक ही साथ मालूम हो जायगी। यदि सिर्फ सत्त्व रहे तो हम ज्ञान, प्रकाश तथा सुख से ऊब जायँगे। एक ही चीज का निरन्तर होना (Monotony) ही तो ऊबने का प्रधान कारण है। इसीलिए तो परिवर्तन जरूरी होता है। ज्ञान के मारे न नींद, न खाना-पीना, न और कुछ होगा। प्रकाश में चकाचौंध हो जायगी। हलका हो के यह संसार कहाँ उड़ जायगा कौन कहे? यदि सिर्फ तम हो तो भी दबते-दबते कहाँ जायगा पता नहीं। निरन्तर नींद, भारीपन, जड़ता, अँधेरा, अज्ञान कौन बर्दाश्त करेगा? पत्थर की दशा भी उससे अच्छी होगी। संसार का कोई काम होगा ही नहीं। इसलिए यदि सत्त्व और तम दोनों को ही मानें तो दोनों एक दूसरे को दबा के खत्म या बेकार (neutralised) कर देंगे। फलतः दो में एक का भी काम न होगा। इसीलिए रज आ के दोनों में क्रिया पैदा करता है, दोनों को चलाता है; ताकि दोनों सारी ताकत से आपस में भिड़ न सकें। न दोनों जमेंगे, स्थिर होंगे और न जम के लड़ेंगे। फिर एक दूसरे को बेकार कैसे बनाएँगे? यदि रज ही रहे और बराबर क्रिया होती रहे तो भी वही बेचैनी! सारी दुनिया जल्द घिस जाय, मिट जाय। इसलिए तम उसे दबा के बीच-बीच में क्रिया को रोकता है। सत्त्व क्रिया का पथ-प्रदर्शन करता है प्रकाश और ज्ञान दे के। मगर जब तम प्रकाश को रोक देता है तो ज्ञान के अभाव में भी क्रिया रुकती है। ज्ञान

और क्रिया के बिना कुछ होई नहीं सकता। अत्यन्त हलकी चीज स्थिर हो सकती ही नहीं। फिर उसमें ज्ञान या क्रिया हो कैसे? उसे वजनी बनाने के लिए भी तो तमोगुण चाहिए ही इस प्रकार तीनों की जरूरत और परस्पर सहायता स्पष्ट सिद्ध है।

सृष्टि और प्रलय

रह गयी सृष्टि की प्रारम्भिक दशा तथा प्रलय की बात। जब सृष्टि का विचार करने लगे तो अन्त में यह बात उठी कि जब ये चीजें न थीं तो क्या था? आखिर न रहने पर ही तो बनने का सवाल पैदा होता है। यह भी बात है कि जब ये गुण परस्पर विरोधी हैं तो यदि ये कभी स्वतन्त्र बन जायें और एक दूसरे की न सुनें, तब क्या होगा? यह निरी खयाली बात तो है नहीं। इनके प्रतिनिधि कफ, वायु, पित्त जब स्वतन्त्र हो जाते और एक दूसरे की नहीं सुनते तो त्रिदोष और सन्निपात होता है और मौत आती है। वही जो कभी एक दूसरे के अनुयायी थे, आज आजाद हो गये! यही बात गुणों में हो तो? और जब विश्राम का नियम संसार में लागू है तो ये भी तो विश्राम करेंगे ही, फिर चाहे देर से करें या जल्द करें। उस समय क्या हालत होगी और ये किस तरह रहेंगे? और जब विश्राम का समय पूरा होगा तब कैसे, क्या होगा? इसी ढंग के सवाल उठाने पर सृष्टि तथा प्रलय की बात आ जाती है।

दार्शनिकों ने इन प्रश्नों पर बहुत ही उधेड़-बुन करके जवाब दिया कि जब तक ये गुण ऐसे के ऐसे ही रहेंगे तब तक इनका काम जारी रहेगा ही, तब तक तो चूहा बिल खोदता ही रहेगा। इनका स्वभाव ही जो यह ठहरा। इसीलिए, और कभी तन जाने पर भी, तीनों आजाद हो जायँगे, समान हो जायँगे। फिर तो कोई काम हो न सकेगा। बिना विषमता के, बिना एक दूसरे की मातहती के तो सृष्टि का काम चल सकता है नहीं और यहाँ तो "नाई की बारात में सब ठाकुर ही ठाकुर ठहरे।" फलतः आजादी या साम्यावस्था में ही विश्राम होगा और यह सारा पसारा रुका रहेगा। क्योंकि "रहे बाँस न बाजे बाँसुरी।" उसी साम्यावस्था को प्रलय कहते हैं, प्रकृति कहते हैं और प्रधान भी कहते हैं। ये गुण उसी हालत में जाते और फिर वहीं से लौटते हैं। इनका यह चरखा रह-रह के चालू रहता है। उससे आगे तो इनकी पहुँच है नहीं। वही इनकी अन्तिम दशा है। इसीलिए उसे प्रधान कहते हैं। प्रधान कहते हैं उसे जो सबके अन्त में हो, आखिर में हो। उसी प्रधान की अपेक्षा इनको गुण कहते हैं। क्योंकि इनकी आखिरी कृति वही है जिसे ये बनाते हैं अपनी प्रधानता, मुख्यता को गँवा के। जब इनकी क्रिया रही ही नहीं तो तने भले ही हों और आजाद भले ही रहें, फिर भी इनका पता कहाँ रहता है? वही प्रधान फिर इन्हीं गुणों के द्वारा अपना विस्तार करती है, सारा पसारा फैलाती है। इसी से उसे प्रकृति कहते हैं। प्रकृति का अर्थ ही है कि जो खूब करे, ज्यादा फैले-फैलाये।

कागज काटने के लिए जो मशीन (Cutting machine) आजकल बनी है।

उसकी एक खूबी यह है कि हैंडिल—चलाने वाला भाग—पकड़ के मशीन चलाते रहिए और उसकी तेज धार कागज तक पहुँच के उसे काट देगी। फिर ऊपर वापस भी चली जायगी। चलाने वाले का काम बराबर एक ही तरह चलता रहेगा। वह जरा भी इधर-उधर या उलट-फेर न करेगा। मगर उसी चलाने की क्रिया—कर्म—के—फलस्वरूप तेज धार ऊपर से नीचे उतर के काटेगी और फिर ऊपर लौट जायगी। जितनी देर तक चलाते रहिए यही आना-जाना जारी रहेगा। सृष्टि और प्रलय की भी यही हालत है। हमारे काम, कर्म (actions) ही सब कुछ करते हैं। उन्हीं के करते कभी सृष्टि और कभी प्रलय होती है। ये दोनों चीजें परस्पर विरोधी हैं, जैसे मशीन की धार का नीचे आना और ऊपर जाना। मगर उन्हीं—एक ही—कर्मों के फलस्वरूप ये दोनों ही होती हैं। कभी भी जीवों को विश्राम मिल जाता है जिसे प्रलय कहते हैं। गीता ने उसी को 'कल्पक्षय' (9।7) भी कहा है। उसे भूतसंप्लव भी कहते हैं। फिर कभी सृष्टि का काम चालू हो जाता है। प्रलय शब्द भी गीता (14।2) में आया ही है।

यद्यपि यह खयाल हो सकता है कि सबों की दशा तो एक सी नहीं है। सबों के कर्मों, कर्मफलभोगों तथा अन्य बातों में भी कोई समानता तो है नहीं। यहाँ तो "अपनी-अपनी डफली, अपनी-अपनी गीत," है। यहाँ तो "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे-तुण्डे सरस्वती।" फिर यह कैसे सम्भव है कि सभी जीव किसी समय विश्राम में चले जायँ और प्रलय हो जाय? यदि गीता ने ऐसा माना है और अगर दर्शनों ने भी इसे स्वीकार किया है तो इससे क्या? सभी का कार्य-विराम एक ही साथ हो, यह क्या बात? संसार कोई एक कारखाना या एक ही कम्पनी के अनेक कारखानों का समूह तो है नहीं, कि निश्चित समय पर काम से छुट्टी मिल जाय, या काम बन्द हो जाया करे। यहाँ तो साफ ही उलटी बात देखी जाती है। तब कल्पक्षय की बात कैसे मानी जाय? प्रलय क्यों मानी जाय?

बात तो है कुछ पेचीदगी से भरी जरूर। मगर असम्भव नहीं है। ऐसी बातें दुनिया में होती रहती हैं। यों तो रात में विराम और दिन में काम की बात आमतौर से सर्वत्र है। यह तो सभी के लिए है। मगर जहाँ दिन-रात बड़े होते हैं, जैसे उत्तर ध्रुव के आस-पास, वहाँ भी और नहीं तो छह मास का दिन एवं उतनी ही लम्बी रात तो होती ही है। प्रकृति की ओर से जब तूफान आता है, बर्फीली आँधियाँ चलती हैं तब तो सबों को एक ही साथ काम बन्द कर देना ही पड़ता है। मगर इन सबों को न भी मानें और अगर इनमें भी कोई गड़बड़ सूझे तो भी तो यह बात देखी जाती है कि किसी गोल घेरे या रास्ते पर चक्कर लगाने वाले यद्यपि भिन्न-भिन्न चालों वाले होते हैं, फिर भी ऐसा मौका आता है कि कभी न कभी सभी एक साथ मिल जाते हैं। फिर फौरन आगे-पीछे हो जाते हैं। यों तो आमतौर से आगे-पीछे चलते ही रहते हैं। मगर चक्कर लगाते-लगाते बहुत चक्करों के बाद देर या सवेर एक बार तो सभी इकट्ठे होई जाते हैं। फिर आगे-पीछे होके चलते-चलते उतनी ही देर बाद

दूसरी-तीसरी बार भी एकत्र हो जाते हैं। यही सिलसिला चलता रहता है। बस, यही हालत प्रलय या कल्पक्षय की मानिए। इसीलिए हिसाब लगा के एक निश्चित समय के ही अन्तर पर इसका बारम्बार होना गीता ने भी माना है। इस प्रलय को गीता ने रात भी कहा है (8 । 17-19 में)।

हाँ, तो उस प्रलय की दशा से सृष्टि का श्रीगणेश कैसे होता है यह बात भी जरा देखें। गीता के (7 । 4-6), (8 । 17-19), (9 । 7-10), (13 । 5) तथा (14 । 3-5) में यह बात खास तौर से लिखी गयी है। यों छिटपुट एकाध बात प्रसंग से कह देने का तो कुछ कहना ही नहीं। आठ और नौ अध्यायों में कुछ ज्यादा प्रकाश डाला गया है। जीवों के कर्मों की मजबूरी से उन्हें बार-बार जनमना-मरना पड़ता है। प्रलय के बाद भी यही चीज चालू रहती है, यही गोलमोल बातें वहाँ कही गयी हैं। बेशक, चौदहवें अध्याय में सृष्टि के श्रीगणेश की खास बात कही गयी है और बताया गया है कि यह किस तरह होती है। मगर इसे जब हम सातवें और तेरहवें अध्याय के वर्णन से मिला के तीनों का अर्थ एक साथ करते हैं और चौदहवें के समूचे गुण-वर्णन को भी उसी के साथ ध्यान में रखते हैं तभी इस बात पर पूरा प्रकाश पड़ता है। चौदहवें अध्याय के 5वें श्लोक में कहा गया है कि "तीनों गुण प्रकृति से निकलते हैं"—"गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।" निकलने का अर्थ तो कही चुके हैं कि साम्यावस्था छोड़ के अपनी विषम अवस्था में—अपनी असली सूरत में—आते हैं; न कि पैदा होते हैं। कैसे बाहर आते हैं यही बात उससे पहले के दो श्लोकों में.माँ के पेट से बच्चे के बाहर आने का दृष्टान्त देकर बताई गयी है। उसी का विशेष विवरण सातवें एवं तेरहवें अध्याय में दिया गया है।

यह तो पहले ही कह चुके हैं कि प्रधान या प्रकृति तो साम्यावस्था है, एकरसता है, अविभिन्नता (homogeneity) है। उसके विपरीत उस अवस्था को भंग करके ही सृष्टि होती है जिसमें अनेकता और विभिन्नता (heterogeneity and diversity) है। यह चीज कैसे होती है, इनकी प्रक्रिया या क्रम क्या है, इस पर भी दार्शनिकों ने सोच के जो कुछ तय किया है वही बात उन दोनों अध्यायों में पाई जाती है। उसमें भी सातवें में बहुत कुछ कमी रह गयी है। उसकी पूर्ति तेरहवें में हो जाती है। हाँ, कुछ ब्योरे की बातें वहाँ नहीं कही गयी हैं, या एकाध में कुछ फर्क भी मालूम पड़ता है। मगर वह कोई खास चीज नहीं है। असल बातें ठीक-ठीक मिल जाती हैं। ब्योरा कहाँ तक गिनाया जा सकता है? ब्योरे में तो जानें कितनी ही बातें होती हैं। अगर उनमें कुछ छूटें तो फर्क तो मालूम होगा ही।

सांख्यदर्शन की एक कारिका है "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त। षोडशकस्तुविकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" (3)। इसका आशय यह है कि "सृष्टि की जड़ में प्रकृति है। वह किसी से भी पैदा नहीं होती। हाँ, उससे महान्, अहंकार और आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी के सूक्ष्म स्वरूप—जिन्हें पंचतन्मात्रा

कहते हैं—यही सात पदार्थ पैदा होते हैं। फिर उनसे दूसरी चीजें पैदा होती हैं। इसीलिए इन्हें प्रकृति-विकृत नाम से पुकारते हैं। वे दूसरी चीजें हैं सोलह—पाँच कर्म-इन्द्रिय, पाँच ज्ञान-इन्द्रिय, पाँच महाभूत और अन्तःकरण। ये सोलहों विकृति कहाते हैं। पुरुष या जीव तो न प्रकृति है और न विकृति।'' यद्यपि इस कारिका में महान् आदि सातों या शेष सोलह का भी नाम नहीं दिया है; तथापि एक और कारिका ''प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहंकारस्तमाद् गणश्च षोडशकः'' (16) आदि में सबों को गिना दिया है और सातों का क्रम भी बताया है कि पहले महान्, तब अहंकार, तब पाँच तन्मात्राएँ। आगे का भी क्रम दे दिया गया है। मगर आगे बढ़ने के पहले इन बातों का थोड़ा स्पष्टीकरण जरूरी है।

सांख्यदर्शन ने जीव या पुरुष को तो सबसे निराला कहा है। वह न तो किसी से पैदा होता है और न किसी को पैदा करता है। वह न प्रकृति है, न विकृति। प्रकृति कहते हैं कारण को और विकृति कहते हैं कार्य को। वह दो में एक भी नहीं है। रह गये संसार के पदार्थ। सो इन्हें तीन दलों में बाँटा है। पहली है मूल प्रकृति या प्रधान। गीता ने इसी को प्रकृति या महद्ब्रह्म के अलावे भूतप्रकृति भी भूत प्रकृतिमोक्षं च (13।34) में कहा है। अपरा भी कहा है जैसा कि आगे लिखा है। इससे पंचभूत पैदा होते हैं। इसी से इसे भूतप्रकृति कहा है। यह किसी से पैदा तो होती नहीं; मगर खुद पैदा करती है—यह किसी का कार्य नहीं है। इसीलिए इसे अविकृति भी कहा है। दूसरे दल में महान् आदि सात आ जाते हैं। इन्हें प्रकृति-विकृति कहा है। ये खुद तो आगे के सोलह पदार्थों को पैदा करते हैं। इसीलिए प्रकृति या कारण कहाये। मूल प्रकृति से ही ये पैदा होने की वजह से विकृति भी कहे गये। अब इनसे जो सोलह पदार्थ पैदा हुए वह विकृति कहे जाते हैं। क्योंकि वे इनसे पैदा होने के कारण ही कार्य या विकृति हो गये। मगर उनसे दूसरी चीजें बनती हैं नहीं। दस इन्द्रियों या पाँच प्राणों से अन्य पदार्थ पैदा तो होते नहीं। अन्तःकरण या बुद्धि से भी नहीं पैदा होते। चक्षु आदि बाहरी इन्द्रियाँ हैं और बुद्धि या मन भीतर की। इसीलिए उसे अन्तःकरण कहते हैं। करण नाम है इन्द्रिय का। अन्तः का अर्थ है भीतरी। गीता ने पुरुष को मिला के यह चार विभाग नहीं किया है। किन्तु सभी को—चारों को—ही प्रकृति कहके जीव या पुरुष को परा या ऊँचे दर्जे की और शेष तीन को अपरा या नीचे दर्जे की प्रकृति 'अपरेयमितस्त्वन्यां' (7।5) आदि में कहा है।

दोनों में यह दो या चार भेदों का होना कोई खास बात नहीं है। मगर पुरुष को भी प्रकृति कहना जरूर निराला है। क्योंकि सांख्य ने साफ ही कहा है कि वह प्रकृति नहीं है। असल में गीता वेदान्त दर्शन को ही मानती है, न कि सांख्य को। इसीलिए सांख्य को जो बातें वेदान्त से मिलती हैं उन्हें तो माने लेती है। लेकिन जो नहीं मिलती हैं वहाँ स्वतन्त्र बात कहती हैं। वेदान्त ने तो माना ही है कि पुरुष या भगवान् ने ही पहले सोचा; पीछे संसार बनाया। वेदान्तदर्शन के दूसरे सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' में साफ ही माना है कि भगवान् से ही आकाशादि पदार्थों का जन्म होता है।

इसलिए वही कारण है । यदि वह कारण न होता तो उसे सिद्ध करना असम्भव था। उसकी तब जरूरत ही क्या थी? वेदान्त ने जीव को भगवान् का रूप ही माना है और दोनों को ही पुरुष कहा है। हाँ, व्यष्टि और समष्टि के भेद के हिसाब से पर पुरुष एवं अपर पुरुष या पुरुष तथा पुरुषोत्तम यही दो नाम उसने जीव और ईश्वर को अलग-अलग दिये हैं। गीता ने भी 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (15। 17) में यही कहा है । इसीलिए 'मम योनिः' (14। 3-4) आदि में पुरुष को ही सृष्टि का पिता और प्रधान या प्रकृति को माता कहा है। गीता सृष्टि-रचना को अन्धे का खेल नहीं मानती। किन्तु सोच-समझ के बनाई चीज (Planned creation) मानती है।

सृष्टि का क्रम

सोचने-समझने का यह मतलब नहीं कि चलना-फिरना, उठना-बैठना, खेती-गिरस्ती आदि हरेक कामों को हरेक आदमियों के बारे में पहले से ही तय कर लिया था। यह तो भाग्यवाद (Fatalism) तथा "ईश्वर ने जो तय कर दिया वही होगा" (determinism) वाली बात है। फलतः इसमें करने वालों की जवाबदेही जाती रहती है। वह तो मशीन की तरह ईश्वर की मर्जी पूरा करने वाले मान लिये जाते हैं। फिर उन पर जवाबदेही किसी भी काम की क्यों हो और वे पुण्य-पाप के भागी क्यों बनें? मशीन की तो यह बात होती नहीं और इस काम में वे ठहरे मशीन ही। सोचने-समझने का सिर्फ यही आशय है कि मूलस्वरूप कौन-कौन पदार्थ कैसे बनें कि यह सृष्टि चालू हो, इसका काम चले, यही बात उसने सोची और इसी के अनुसार सृष्टि बनायी। यह तो हमारा काम है कि हममें हरेक आदमी खुद भला-बुरा सोच के अपना रोज का काम करता रहे। इसीलिए तो हमें बुद्धि दी गयी है। उसे देकर ही तो ईश्वर जवाबदेही से हट गया और उसने हम पर अपने कामों की जवाबदेही लाद दी।

अब जरा यह देखें कि ईश्वर के सोचने और तदनुसार सृष्टि बनाने के मानी क्या हैं। वह हमारे जैसा देहधारी तो है नहीं कि इसी प्रकार सोचे-विचारेगा। यह तो कही चुके हैं कि प्रलय में प्रधान या प्रकृति समान थी, एक रूप थी। उसमें अनेकता और विभिन्नता लाने के लिए सबसे पहले क्रिया होना जरूरी है। क्योंकि क्रिया से ही अनेकता और विभिन्नता होती है। मिट्टी का एक धोंधा है। क्रिया के करते ही उसे अनेक टुकड़ों में कर देते या उससे अनेक बर्त्तन तैयार कर लेते हैं। मगर क्रिया के पहले जानकारी या ज्ञान जरूरी है। यह तो हम कही चुके हैं कि सोच-विचार के यह सृष्टि बनी है। एक बात यह है कि यदि फिजूल और बेकार चीजें न बनानी हों, साथ ही सृष्टि की सभी जरूरतें पूरी करनी हों तो जो कुछ भी किया जाए वह सोच-विचार के ही होना चाहिए। कुम्हार सोच-साचके ही बर्त्तन बनाता है। किसान खेती इसी तरह करता है। नहीं तो अन्धेरखाता ही हो जाय और घड़े की जगह हांडी

तथा गेहूँ की जगह मटर की खेती हो जाय। यही कारण है कि सांख्य ने ईश्वर को न मान के भी सृष्टि के शुरू में यह सोचना-समझना या ज्ञान माना है। मगर ज्ञान तो जड़ प्रकृति में होगा नहीं और जीव का काम सांख्य के मत से सृष्टि करना है नहीं। इसीलिए वेदान्त ने और गीता ने भी सृष्टि के मूल में ईश्वर को माना है। वह है भी परम-आत्मा या श्रेष्ठ-आत्मा।

वह ज्ञान होगा भी हम लोगों के ज्ञान जैसा कुछ बातों का ही नहीं, छोटा या हलका सा ही नहीं। वह तो सारी सृष्टि के सम्बन्ध का होगा, व्यापक और बड़े से बड़ा होगा। इसीलिए उसे महत् या महान् कहा है। उसके बाद जो क्रिया होगी उसी को अहम् या अहंकार कहा है। यह हम लोगों का अहंकार नहीं होके सृष्टि के मूल की क्रिया है। समष्टि या व्यापक ज्ञान की ही तरह यह भी व्यापक या समष्टि क्रिया है। नींद के बाद जब ज्ञान होता है तो उसके बाद पहले अहम् या मैं और मेरा होने के बाद ही दूसरी क्रिया होती है, और प्रलय तो नींद ही है न ? इसीलिए उसके बाद की समष्टि क्रिया को अहंकार नाम दिया गया है। इस अहंकार या क्रिया के बाद प्रकृति की समता खत्म हो के विभिन्नता आती है। और आकाश, वायु, तेज (प्रकाश), जल, पृथिवी इन पाँचों की सूक्ष्म या अदृश्य मूर्त्तियाँ (शकलें) बनती हैं। इन्हीं से आगे सृष्टि का सारा पसारा होता है।

इन पाँच सूक्ष्म पदार्थों या भूतों के भी, जिन्हें तन्मात्रा भी कहते हैं, वही तीन गुण होते हैं, जैसा कि कह चुके हैं। उनमें पाँचों के सात्त्विक अंशों या सत्त्व गुणों से क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बनती हैं, जिनसे शब्दादि पदार्थों के ज्ञान होते हैं। ज्ञान पैदा करने के ही कारण ये ज्ञानेन्द्रियाँ कहाती हैं। उन्हीं पाँचों के जो राजस भाग या रजोगुण हैं उनसे ही क्रमशः वाक्, पाणि (हाथ), पाँव, मूत्रेन्द्रिय, मलेन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ बनती हैं। इन पाँचों से ज्ञान न हो के कर्म या काम ही होते हैं। फलतः ये कर्मेन्द्रियाँ कही गईं। और इन पाँचों के रजोगुणों को मिला के पाँच प्राण—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान—बने। ये पाँचों के रजोगुणों के सम्मिलित होने पर ही बनते हैं। उसी तरह, पाँचों के सत्त्वगुणों को सम्मिलित करके भीतरी ज्ञानेन्द्रिय या अन्तःकरण बनता है, जिसे कभी एक, कभी दो—मन और बुद्धि—और कभी चार—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—भी कहते हैं। उसके ये चार भेद चार कामों के ही चलते होते हैं, जैसे पाँच काम करने से ही एक ही प्राण पाँच प्रकार का हो गया। हमें यह न भूलना होगा कि जब हम सत्त्व या रजोगुण की बात करते हैं तो यह मतलब नहीं होता है कि खाली वही गुण रहते हैं। यह तो असम्भव है। गुण तो तीनों ही हमेशा मिले रहते हैं। इसीलिए इन्हें एक दूसरे से चिपके हुए—"अन्योन्यमिथुनवृत्तयः—" सांख्य कारिका (12) में लिखा है। इसलिए सत्त्व कहने का यही अर्थ है कि उसकी प्रधानता रहती है। इसी प्रकार रज का भी अर्थ है। रजोगुण-प्रधान अंश। दोनों में हरेक के साथ बाकी गुण भी रहते हैं सही; मगर अप्रधान रूप में।

अब बचे पाँचों तन्मात्राओं के तमःप्रधान अंश जिन्हें तमोंऽश या तमोगुण भी कहते हैं। उन्हीं से ये स्थूल पाँच महाभूत—आकाश आदि—बने। जो पहले सूक्ष्य थे, दीखते न थे, जिनका ग्रहण या ज्ञान होना असम्भव था, वही अब स्थूल हो गये। जैसे अदृश्य हवाओं—ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन—को विभिन्न मात्राओं में मिला के दृश्यजल तैयार कहते हैं; ठीक वैसे ही इन सूक्ष्म पाँचों तन्मात्राओं के तमप्रधान अंशों को परस्पर विभिन्न मात्रा में मिला के स्थूल भूतों को बनाया गया। इसी मिलाने को पंचीकरण कहते हैं। पंचीकरण शब्द का अर्थ है कि जो पाँचों भूत अकेले-अकेले थे—एक-एक थे। उन्हीं में चार दूसरों के भी थोड़े-थोड़े अंश आ मिले और वे पाँच हो गये, या यों कहिए कि वे पाँच-पाँच की खिचड़ी या सम्मिश्रण बन गये। दूसरे चार के थोड़े-थोड़े अंश मिलाने पर भी अपना-अपना अंश। ज्यादा रहा ही। हरेक में आधा अपना रहा और आधे में शेष चार के बराबर अंश तो इसीलिए अपने आधे भाग के करते ही हरेक भूत अलग-अलग रहे। नहीं तो पाँचों में कोई भी एक दूसरे से अलग हो नहीं पाता। फलतः यह हालत हो गयी कि पृथिवी में आधा अपना भाग रहा और आधे में शेष जल आदि चार रहे। यानी समूची पृथिवी का आधा वह खुद रही और बाकी आधे में शेष चारों बराबर-बराबर रहे। इस तरह समूची में इन प्रत्येक का आठवाँ भाग रहा। इसीलिए उसे पृथिवी कहते ही रहे। जल आदि की भी यही बात समझी जानी चाहिए।

यह ठीक है कि इस विवरण में सांख्य और वेदान्त में थोड़ा सा भेद है। पाँच प्राणों को सांख्यवाले पाँच कर्मेन्द्रियों से जुदा नहीं मानते। इसलिए उनके मत से पाँच तन्मात्रा, दस इन्द्रियाँ और अन्तःकरण यही सोलह पदार्थ अहंकार के बाद बने। उनके मत में पाँच तन्मात्रा की ही जगह पाँच महाभूत हैं। क्योंकि तन्मात्राओं के तामसी अंशों को ही मिलाने से ये पाँच भूत हुए। इसीलिए वे तन्मात्राओं और भूतों को अलग-अलग नहीं मानते। महाभूतों के बनने के बाद तन्मात्राएँ तो रह जाती भी नहीं। उनके सात्त्विक तथा राजस भागों से ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण और अन्तःकरण बने। बचे-बचाये तामस अंश से, महाभूत। बाकी संसार तो इन्हीं महाभूतों का ही पसारा या विकास है, परिणाम है, रूपान्तर है, करिश्मा है। इस प्रकार उनके ये सोलह तत्त्व या विकार सिद्ध होते हैं। वेदान्तियों ने पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि ये दो अन्तःकरण—और कभी-कभी मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चार अन्तःकरण—मान के सत्रह या उन्नीस पदार्थ मान लिये। पाँच भूतों को मिला लेने पर वे चौबीस हो गये। महान् तथा अहंकार को जोड़ने पर छब्बीस और प्रकृति को ले के सत्ताईस हो गये। सांख्य के मत से तेईस रहे। मगर यह तो कोई खास बात है नहीं। यह ब्योरे की चीज है। ये पदार्थ तो सभी—दोनों ही—मानते ही हैं।

एक बात और। हम पहले कह चुके हैं कि गीता के मत से गुण प्रकृति से निकले हैं, बने हैं। मगर हमने अभी-अभी जो कहा है उससे तो गुणों के बजाय बुद्धि,

ज्ञान या महत्, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ—यही चीजें—प्रकृति से निकली हैं। भले ही यह चीजें गुणमय ही हों। मगर गुणों का निकलना न कह के इन्हीं का निकलना कहने का मतलब क्या है? बात तो सही है। गुणों का बाहर आना सीधे नहीं कहा गया है। लेकिन ज्ञान या महत् है क्या चीज, यदि सत्त्वगुण नहीं है? ज्ञान तो सत्त्व का ही रूप है न? उसी प्रकार अहंकार है क्या यदि रजोगुण या क्रिया है नहीं? अहंकार को तो समष्टि क्रिया ही कहा है और क्रिया रजोगुण का ही रूप है न? अब रह गये पंचभूत जिन्हें तन्मात्रा कहते हैं। वह तो तम के ही रूप हैं। आगे जब पंचीकरण के द्वारा वे दृश्य और स्थूल बनते हैं तब तो उन्हें तम का रूप कहते ही हैं। फिर पहले भी क्यों न कहें? यह ठीक है कि तम के साथ भी सत्त्व और रज तो रहेंगे ही, जैसे इनके इनके साथ तम भी रहता ही है। इसीलिए तो पंचतन्मात्राओं के सत्त्व-अंश से ज्ञानेन्द्रियाँ और रज-अंश से कर्मेन्द्रियाँ बनती हैं। इसलिए यह तो निर्विवाद है कि 'गुणाः प्रकृति सम्भवाः'—प्रकृति से गुण ही बाहर होते हैं।

चौदहवें अध्याय के 3-4 श्लोकों में जो गर्भाधान की बात कही गयी है उसका मतलब भी अब स्पष्ट हो जाता है। गर्भाधान के बाद ही गर्भाशय में क्रिया पैदा हो के सन्तान का स्वरूप धीरे-धीरे तैयार होता है। उसके पहले उसमें बच्चे का नाम भी नहीं पाया जाता। ठीक उसी तरह महान् या समष्टि ज्ञानरूप चिन्तन, संकल्प या सोच-विचार के बाद ही प्रकति के भीतर अहंकार या समष्टि क्रिया पैदा होके पंचतन्मात्रादि की रचना होती है। जब तक भगवान् के इस समष्टि ज्ञान का सम्बन्ध प्रकृति से नहीं होता, जब तक वह खयाल नहीं करता, तब तक प्रकृति में कोई भी क्रिया—मन्थन—पैदा नहीं होती जिससे सृष्टि का प्रसार हो सके। प्रकृति की शान्ति, समता या एकरसता—घोर गम्भीरता—भंग होती है अहंकार रूप मन्थन क्रिया ही से और वह पैदा होती है। महत्तत्त्व, महान् या समष्टि ज्ञान के बाद ही। इसी को उपनिषदों में ईक्षण या संकल्प कहा है, जैसा कि छान्दोग्य में 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (6।2।3)। 'प्रजायेय' शब्द का अर्थ है कि प्रजा या वंश पैदा करें। इससे गर्भाधान की बात सिद्ध हो जाती है। गीता ने भी यही कहा है। गीता में गर्भाधान के बाद 'संभवः' और 'मूर्त्तयः' लिखने का मतलब भी ठीक ही है। स्वरूप ही तैयार होते हैं, पैदा होते हैं, आकृतियाँ बनती हैं।

हमने जो प्रकृति, महान् अहंकार, पंचतन्मात्रा आदि की बात कही है उसका मतलब अब साफ हो गया। यहाँ सचमुच ही बच्चे या फल की तरह पैदा होने का सवाल तो है नहीं। प्रकृति तो पहले से ही होती है। महान् का उसी से पीछे सम्बन्ध होता है। इसीलिए प्रकृति के बाद ही उसका स्थान होने से प्रकृति से उसकी उत्पत्ति अकसर लिखी मिलती है। महान् के बाद ही आता है अहंकार। इसीलिए वह महान् से पैदा होने वाला माना जाता है; हालाँकि वह प्रकृति की ही क्रिया है। उसके बाद पंचतन्मात्रायें प्रकृति से ही बनती हैं। मगर कहते हैं कि अहंकार से तन्मात्राएँ पैदा

हुईं। यह तो कही चुके हैं कि ये तन्मात्राएँ महाभूतों के सूक्ष्म रूप हैं। इसीलिए इन्हें भूत और महाभूत भी कहा करते हैं।

तेरहवें अध्याय के "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः" (13।5) का अर्थ यह है कि पाँच महाभूत (तन्मात्राएँ), अहंकार, समष्टि बुद्धि (महान्), अव्यक्त या प्रकृति (प्रधान), ग्यारह इन्द्रियाँ—दस बाहरी और एक अन्तःकरण—और इन्द्रियों के पाँच विषय, यही क्षेत्र के भीतर आते हैं, क्षेत्र कहे जाते हैं। क्षेत्र का अर्थ है शरीर। मगर यहाँ समष्टि शरीर या सृष्टि की बुनियादी—शुरूवाली—चीज से मतलब है। इस श्लोक में वही बातें हैं जिनका वर्णन अभी-अभी किया है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में तन्मात्राओं से ही शुरू करके उलटे ढंग से प्रकृति तक पहुँचे हैं। मगर ठीक क्रम समझने में प्रकृति से ही शुरू करना होगा। श्लोक में क्रम से तात्पर्य नहीं है। वहाँ तो कौन-कौन से पदार्थ क्षेत्र के अन्तर्गत हैं, यही बात दिखानी है। इसीलिए उत्तरार्द्ध में ग्यारह इन्द्रियाँ आयी हैं। नहीं तो उलटे क्रम में इन्द्रियों से ही शुरू करते। इन्द्रियों के बाद जो उनके पाँच विषय लिखे हैं उनका कोई सम्बन्ध सृष्टिक्रम से या उसके मूल पदार्थों से नहीं है। पाँच तन्मात्रा, महान् आदि के अलावे क्षेत्र के अन्तर्गत जो विषय, राग, द्वेष आदि अनेक चीजें आगे गिनाई गयी हैं उन्ही में ये पाँच विषय भी हैं।

सातवें अध्याय में इन्द्रियों का नाम न लेकर शेष पंदार्थों का उल्लेख "भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" (7।4) श्लोक में आया है। जैसा कि पहले कहा गया है, यह अपरा या नीचेवाली प्रकृति का आठ भेद या प्रसार बताया गया है। तेरहवें अध्याय के 'महाभूतानि' की जगह यहाँ पाँचों भूतों का नाम ही ले लिया है "भूमि, जल, अनल (तेज), वायु और आकाश (ख)।" मगर उत्तरार्द्ध में जो "मनो बुद्धिरेव च अहंकारः" शब्दों में मान, बुद्धि और अहंकार का नाम लिया है उसके समझने में थोड़ी दिक्कत है। जिस क्रम से तेरहवें अध्याय में नीचे से ही शुरू किया है, उसी क्रम से यहाँ भी नीचे से ही शुरू है, यह तो साफ है। मगर पृथिवी जल, तेज, वायु और आकाश के बाद तो क्रम है अहंकार, महान् और प्रकृति का। इसलिए मन, बुद्धि, अहंकार का अर्थ क्रमशः अहंकार, महान्, और प्रकृति ही करना होगा। दूसरा चारा है नहीं। इसमें बुद्धि का अर्थ महान् तो ठीक ही है। वे दोनों तो एक ही अर्थवाले हैं। हाँ मन का अर्थ अहंकार और अहंकार का प्रकृति करने में जरा उलट-फेर हो जाता है। लेकिन किया जाय क्या? इस प्रकार गुणवाद और सृष्टि का क्रम तथा उसकी प्रणाली आदि बातें संक्षेप में स्पष्ट हो गयीं। गीता के मत का इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण भी हो गया। इससे उसके समझने में आसानी भी होगी।

अद्वैतवाद

अब अद्वैतवाद की कुछ बातें भी जान लेने की हैं। गीता का क्या खयाल इस सम्बन्ध

में है यही बात समझनी है। हालाँकि जब वेदान्त के ही अनुकूल चलना गीता के बारे में कह चुके, तो एक प्रकार से उसका अर्थ तो मालूम भी हो गया। फिर भी गीता के वचनों को उद्धृत करके ही यह बात कहने में मजा भी आयेगा और लोग मान भी सकेंगे। अद्वैतवाद का अभिप्राय क्या है, वह भी तो कुछ न कुछ कहना ही होगा। क्योंकि सभी लोग आम तौर से क्या जानने गये कि यह क्या बला है?

हमने पहले यह कहा है कि गौतम और कणाद तथा अर्वाचीन दार्शनिक डाल्टन के परमाणुवाद और तन्मूलक आरम्भवाद की जगह सांख्य, योग एवं वेदान्त तथा अर्वाचीन दार्शनिक डारविन की तरह गीता भी गुणवान तथा तन्मूलक परिणामवाद या विकासवाद को ही मानती है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि क्या वेदान्त और सांख्य का परिणामवाद एक ही है? या दोनों में कुछ अन्तर है? कहने का आशय यह है कि जब दोनों के मौलिक सिद्धान्त दो हैं। तो सृष्टि के सम्बन्ध में भी दोनों में कुछ तो अन्तर होगा ही। और जब वेदान्त का मन्तव्य अद्वैतवाद है तब वह परिणाम वाद को पूरा-पूरा कैसे मान सकता है? क्योंकि ऐसा होने पर तो गुणों को मान के अनेक पदार्थ स्वीकार करने ही होंगे। फिर एक ही चेतन पदार्थ—आत्मा या ब्रह्म—को स्वीकार करने का वेदान्त का सिद्धान्त कैसे रह सकेगा? यदि सभी गुणों को और उनसे होने वाले पदार्थों को प्रकृति से जुदा न भी मानें—क्योंकि सभी तो प्रकृति के ही प्रसार या परिणाम ही माने जाते हैं—और इस प्रकार जड़ पदार्थों की एकता या अद्वैत (Monism) मान भी लें, जिसे जड़ाद्वैत (Material monism) कहते हैं; साथ ही आत्मा एवं ब्रह्म की एकता के द्वारा चेतनाद्वैत (Spiritual monism) भी मान लें, तो भी जड़ और चेतन ये दो तो रही जायेंगे। फिर तो द्वित्व या द्वैत—दो—होने से द्वैतवाद ही होगा, न कि अद्वैतवाद। वह तो तभी होगा जब द्वित्व—दो चीज—न हो। अद्वैत का तो अर्थ ही है द्वैत या दो का न होना।

असल में वेदान्त का अद्वैतवाद परिणाम और विवर्त्तवाद को मानता है। अद्वैतवाद को विकासवाद या परिणामवाद से विरोध नहीं है, यदि उसकी जड़ में विवर्त्तवाद हो। इसका मतलब यह है कि अद्वैतवादी मानते हैं कि यह दृश्य जगत् ब्रह्म या परमात्मा, जिसे ही आत्मा भी कहते हैं, में आरोपित है, कल्पित है; यह कोई वास्तविक वस्तु है नहीं। इसकी कल्पना, इसका आरोप ब्रह्म में उसी तरह किया गया है जैसे रस्सी में साँप की कल्पना अँधेरे में हो जाती है। या यों कहिए कि नींद की दशा में मनुष्य अपना ही सिर कटता देखता है, या कलकत्ता, दिल्ली आदि की सफर करता है। यह आरोप ही तो है, कल्पना ही तो है। इसी को अध्यास भी कहते हैं। किसी पदार्थ में एक दूसरे पदार्थ की झूठी कल्पना करने को ही अध्यास कहते हैं। रस्सी में साँप तो है नहीं। मगर उसी की कल्पना अँधेरे में करते और डर के भागते हैं। सोने के समय अपना सिर तो कटता नहीं फिर भी कटता नजर आता है। बिस्तर पर घर में पड़े हैं। फिर कलकत्ता या दिल्ली कैसे चले गये? मगर साफ ही मालूम होता है

कि वहाँ गये हैं भर पेट खा के पलंग पर सोये हैं। मगर सपना देखते हैं कि भूखों दर-दर मारे फिरते हैं! सुन्दर वस्त्र पहने सोये हैं। मगर नंगे या चिथड़े लपेटे जाने कहाँ-कहाँ भटकते मालूम होते हैं! यही अध्यास है। इसी को आरोप, कल्पना आदि नाम देते हैं। इसे भ्रम या भ्रान्ति भी कहते हैं। मिथ्या ज्ञान और मिथ्या कल्पना भी इसको ही कहा है। अद्वैतवादी कहते हैं कि ब्रह्म में इस समूचे संसार का—स्वर्ग-नरकादि सभी के साथ—अध्यास है, आरोप है। जैसे सपने में सिर कटना, भूखों चिथड़े लपेटे मारे फिरना आदि सभी बातें मिथ्या हैं, झूठी हैं; ठीक वैसे ही यह समूचे संसार-का नजारा झूठा ही ब्रह्म में दीख रहा है। इसमें तथ्य का लेश भी नहीं है। यह सरासर झूठा है। असत्य है। केवल ब्रह्म या आत्मा ही सत्य है। ब्रह्म और आत्मा तो एक ही के दो नाम हैं—"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः।"

स्वप्न और मिथ्यात्ववाद

जो लोग इन बातों में अच्छी तरह प्रवेश नहीं कर पाते वह चटपट कह बैठते हैं कि सपने की बात तो साफ ही झूठी है। उसमें तो शक की गुंजाइश है नहीं। उसे तो कोई भी सच कहने को तैयार नहीं है। मगर संसार को तो सभी सत्य कहते हैं। सभी यहाँ की बातों को सच्ची मानते हैं। एक भी इन्हें मिथ्या कहने को तैयार नहीं। इसके सिवाय सपने का संसार केवल दोई-चार मिनट या घण्टे-आध घण्टे की ही चीज है, उतनी ही देर की खेल है—यह तो निर्विवाद है। सपने का समय होता ही आखिर कितना लम्बा? मगर हमारा यह संसार तो लम्बी मुद्दतवाला है, हजारों-लाखों वर्ष कायम रहता है। यहाँ तक कि सृष्टि और प्रलय के सिलसिले में वेदान्ती भी ऐसा ही कहते हैं कि प्रलय बहुत दिनों बाद होती है और लम्बी मुद्दत के बाद ही पुनरपि सृष्टि का कारबार शुरू होता है। गीता (8। 17। 19) के वचनों से भी यही बात सिद्ध होती है। फिर सपने के साथ इसकी तुलना कैसी? यह तो वही हुआ कि "कहाँ राजा भोज, और कहाँ भोजवा तेली!"

मगर ऐसे लोग जरा भूलते हैं। सपने की बातें झूठी हैं, झूठी मानी जाती हैं सही। मगर कब? सपने के ही समय या जगने पर? जरा सोचें और उत्तर तो दें? इस अपने संसार को थोड़ी देर के लिए भूल के सपने में जा बैठें और देखें कि क्या सपने के भी समय वहाँ की देखी-सुनी चीजें झूठी मानी जाती हैं। विचारने पर साफ उत्तर मिलेगा कि नहीं। उस समय तो वह एकदम सच्ची और पक्की लगती हैं। उनकी झुठाई का तो वहाँ खयाल भी नहीं होता। इस बात का सवाल उठना तो दूर रहे। हाँ, जगने पर वे जरूर मिथ्या प्रतीत होती हैं। ठीक उसी प्रकार इस जाग्रत संसार की भी चीजें अभी तो जरूर सत्य प्रतीत होती हैं। इसमें तो कोई शक है नहीं। मगर सपने में भी क्या ये सच्ची ही लगती हैं? क्या सपने में ये सच्ची होती हैं, बनी रहती

हैं? यदि कोई हाँ कहे, तो उससे पूछा जाय कि भरपेट खा के सोने पर सपने में भूखे दर-दर मारे क्यों फिरते हैं? पेट तो भरा ही है और वह यदि सच्चा है, तो सपने में भूखे होने की क्या बात? तो क्या भूखे होने में कोई भी शक उस समय रहता है? इसी प्रकार कपड़े पहने सोये हैं। महल या मकान में ही बिस्तर है भी। ऐसी दशा में सपने में नंगे या चिथड़े लपेटे दर-दर खाक छानने की बात क्यों मालूम होती है? क्या इससे यह नहीं सिद्ध होता कि जैसे सपने की चीजें जागने पर नहीं रह जाती हैं, ठीक उसी तरह जाग्रत की चीजें भी सपने में नहीं रह जाती हैं? जैसे सपने की अपेक्षा यह संसार जाग्रत है, तैसे ही इसकी अपेक्षा सपने का ही संसार जाग्रत है और यही सपने का है। दोनों में जरा भी फर्क नहीं है।

सपने की बात थोड़ी देर रहती है और यहाँ की हजारों साल, यह बात भी वैसी ही है। यहाँ भी वैसा ही सवाल उठता है कि क्या सपने में भी वहाँ की चीजें थोड़ी ही देर को मालूम पड़ती हैं? या वहाँ भी सालों और युग गुजरते मालूम पड़ते हैं? सपने में किसे खयाल होता है कि यह दस ही पाँच मिनट का तमाशा है? वहाँ तो जानें कहाँ-कहाँ जाते, हफ्तों, महीनों, सालों गुजारते, सारा इन्तजाम करते दीखते हैं, ठीक जैसे यहाँ कर रहे हैं। हाँ, जागने पर वह चन्द मिनट की चीज जरूर मालूम होती है। तो सोने पर इस संसार का भी तो यही हाल होता है। इसका भी कहाँ पता रहता है? अगर ऐसा ही विचार करने का मौका वहाँ भी आये तो ठीक ऐसी ही दलीलें देते मालूम होते हैं कि वह तो चन्द ही मिनटों का तमाशा है! उस समय यह जाग्रत वाला संसार ही चन्द मिनटों की चीज नजर आती है और सपने की ही दुनिया स्थायी प्रतीत होती है! इसलिए यह भी तर्क बेमानी है। इसलिए भुसुण्डी ने अपने सपने या भ्रम के बारे में कहा था कि "उभय घरी मँह कौतुक देखा।" हालाँकि तुलसीदास ने उनका ही बयान दिया है कि उस समय मालूम होता था कि कितने युग गुजर गये। गौड़ पादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद की कारिकाओं में दोनों की हर तरह से समानता तर्क-दलील से सिद्ध की है और बहुत ही सुन्दर विवेचन के बाद उपसंहार कर दिया है कि "मनीषी लोग स्वप्न और जाग्रत को एक सा ही मानते हैं। क्योंकि दोनों की हरेक बातें बराबर हैं और यह बिलकुल ही साफ बात है"—"स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः। भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना।"

अनिर्वचनीयतावाद

संसार के सम्बन्ध के इस मन्तव्य को मिथ्यात्ववाद और अनिर्वचनीयतावाद भी कहते हैं। अनिर्वचनीयता का अर्थ है कि इन चीजों का निर्वचन या निरूपण होना असम्भव है। इनकी सत्यता तो सिद्ध होई नहीं सकती। यदि इनको अत्यन्त निर्मूल मानें और कहें कि ये अत्यन्त असत्य हैं, जैसे आदमी की सींग न कभी हुई, न है और न

होगी, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि सींग तो कभी दीखती नहीं। मगर ये तो प्रत्यक्ष ही दीखते हैं। इसलिए मनुष्य की सींग जैसे तो नहीं ही हैं। यदि इन्हें सत्य और असत्य का मिश्रण मानें, तो यह और भी बुरा है। क्योंकि परस्पर विरोधी चीजों का मिश्रण असम्भव है। फलतः मानना ही पड़ता है कि इनके बारे में कुछ भी कहा नहीं जा सकता है—ये अनिर्वचनीय हैं। मगर यह सही है कि ये मिथ्या हैं। मिथ्या का मतलब ही यही है कि मालूम तो हो कि कुछ है; मगर ढूँढ़ने पर इसका पता ही न लगे। यह विचार कुछ नया और निराला प्रतीत होता है सही। मगर रेखागणित में जो बिन्दु का लक्षण बताया गया है कि उसमें लम्बाई-चौड़ाई कुछ भी होती नहीं, या रेखा के बारे में जो कहा गया है कि उसमें केवल लम्बाई होती है, चौड़ाई नहीं, क्या यह अक्ल में आने की चीज है? जिसमें लम्बाई-चौड़ाई कुछ भी न हो या जो सिर्फ लम्बाई रखता हो ऐसा पदार्थ दिमाग में कैसे घुसेगा? फिर भी उसे मानते ही हैं।

यह ठीक है कि काम चलाने के लिए—केवल वाद-विवाद और विचार के लिए—वेदान्त ने तीन प्रकार के पदार्थ माने हैं। एक तो सदा रहने वाला, वस्तुतत्त्व या परमार्थ पदार्थ, जिसे ब्रह्म कहिए या आत्मा कहिए। इसीलिए ब्रह्म या आत्मा की हस्ती, उसके अस्तित्व या उसकी सत्ता को परमार्थ सत्ता भी कहते हैं। दूसरे हैं सपने या भ्रम के पदार्थ, जैसे रस्सी में साँप, सीप में चाँदी या सपने का सिर कटना। ये जब तक प्रतीत होते हैं तभी तक रहते हैं। प्रतीत या ज्ञान को ही प्रतिभास भी कहते हैं। इसीलिए ये पदार्थ प्रातिभासिक हैं और इनकी सत्ता है प्रातिभासिक सत्ता। तीसरे हैं हमारे इस जाग्रत संसार के पृथिवी आदि पदार्थ, जिनसे हमारा व्यवहार चलता है, काम निकलता है। सपने के साँप का जहर तो नहीं चढ़ता। मगर इस साँप का चढ़ता है। यही है व्यवहार या काम-काज का चलना। ये चीजें कामचलाऊ हैं, व्यावहारिक हैं। इसलिए इनकी सत्ता को व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। इस तरह तीन प्रकार के पदार्थ और उनकी तीन सत्ताएँ हो जाती हैं।

प्रातिभासिक सत्ता

मगर दर हकीकत व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक पदार्थ दो नहीं हैं। दोनों ही बराबर ही हैं। यह तो हम सभी सिद्ध कर चुके हैं। दोनों की सत्ता में रत्तीभर भी अन्तर है नहीं। इसलिए दोई पदार्थ—पारमार्थिक एवं प्रातिभासिक—माने जाने योग्य हैं। और दोई सत्ताएँ भी। लेकिन हम लिखने-पढ़ने और वाद-विवाद में जाग्रत तथा स्वप्न को दो मान के उनकी चीजों को भी दो ढंग की मानते हैं। यों कहिए कि जाग्रत को सत्य मान के सपने को मिथ्या मानते हैं। जाग्रत की चीजें हमारे खयाल में सही और सपने की झूठी हैं। इसीलिए खामख्वाह दोनों की दो सत्ता भी मान बैठते हैं। लेकिन वेदान्ती तो जाग्रत को सत्य मान सकता नहीं। इसीलिए लोगों के सन्तोष के लिए

उसने व्यावहारिक और प्रातिभासिक ये दो भेद कर दिये। इस प्रकार काम भी चलाया। विचार करने या लिखने-पढ़ने में आसानी भी हो गयी। आखिर अद्वैतवादी वेदान्ती भी जाग्रत और स्वप्न की बात उठा के और स्वप्न का दृष्टान्त दे के लोगों को समझायेगा कैसे, यदि दोनों को दो तरह के मान के ही शुरू न करे?

मायावाद

जो लोग ज्यादा समझदार हैं वह वेदान्त के उक्त जगत्-मिथ्यात्व के सिद्धान्त पर जिसे अध्यासवाद और मायावाद भी कहते हैं, दूसरे प्रकार से आक्षेप करते हैं। उनका कहना है कि यदि यह जगत् भ्रममूलक है और इसीलिए यदि इसे भगवान् की माया का ही पसारा मानते हैं, क्योंकि माया कहिए, भूल या भ्रम कहिए, बात तो एक ही है, तो वह माया रहती है कहाँ? वह भ्रम होता है किसे? जिस प्रकार हमें नींद आने से सपने में भ्रम होता है और उलटी बातें देख पाते हैं, उसी तरह यहाँ नींद की जगह यह माया किसे सुला के या भ्रम में डाल के जगत् का दृश्य खड़ा करती है और किसके सामने? वहाँ तो सोनेवाले हमीं लोग हैं। मगर यहाँ? यहाँ यह माया की नींद किस पर सवार है? यहाँ कौन सपना देख रहा है? आखिर सोनेवाले को ही तो सपने नजर आते हैं। निर्विकार ब्रह्म या आत्मा में ही माया का मानना तो ऐसा ही है जैसा यह कहना कि समुद्र में आग लगी है या सूर्य पूर्व से पच्छिम निकलता है। यह तो उलटी बात है, असम्भव चीज है। ब्रह्म या आत्मा और उसी में माया? निर्विकार में विकार? यदि ऐसा मानें भी तो सवाल है कि ऐसा हुआ क्यों?

उनका दूसरा सवाल यह है कि माना कि यह दृश्य जगत् मिथ्या है, कल्पित है। मगर इसकी बुनियाद तो कहीं होगी ही। तभी तो ब्रह्म में या आत्मा में यह नजर आता है, आरोपित है, अध्यस्त है, ऐसा माना जायगा। जब कहीं असली साँप पड़ा है तभी तो रस्सी में उसका आरोप होता है, कल्पना होती है। जब हमारा सिर सही साबित है तभी तो सपने में कटता नजर आता है। जब कोई भूखा-नंगा दर-दर सचमुच घूमता रहता है तभी तो हम अपने आपको सपने में वैसा देखते हैं। ऐसा तो कभी नहीं होता कि जो वस्तु कहीं होई न, उसी की कल्पना की जाय, उसी का आरोप किया जाय कल्पित वस्तु की भी कहीं तो वस्तु सत्ता होती ही है। नहीं तो कल्पना या भ्रम होई नहीं सकता। इसलिए इस संसार को कल्पित या मिथ्या मान लेने पर भी कहीं न कहीं इसे वस्तुगत्या मानना ही होगा, कहीं न कहीं इसकी वस्तुस्थिति स्वीकार करनी ही होगी। ऐसी दशा में मायावाद बेकार हो जाता है। क्योंकि आखिर सच्चा संसार भी तो मानना ही पड़ जाता है। फिर अध्यासवाद की क्या जरूरत है?

लेकिन यदि हम इनकी तह में घुसें तो ये दोनों शंकाएँ भी कुछ ज्यादा कीमत नहीं रखती हैं, ऐसा मालूम हो जाता है। यह ठीक है कि यह नींद, यह माया निर्विकार आत्मा या ब्रह्म में ही है और उसी के चलते यह सारी खुराफात है। दृश्य जगत्

का सपना वही निर्लेप ब्रह्म ही तो देखता है। खूबी तो यह है कि यह सब कुछ देखने पर भी, यह खुराफात होने पर भी वह निर्लेप का निर्लेप ही है। मरुस्थल में सूर्य की किरणों में पानी का भ्रम या कल्पना हो जाने पर भी जैसे मरुभूमि उससे भीग नहीं जाती, या साँप की कल्पना होने पर भी रस्सी में जहर नहीं आ जाता, ठीक यही बात यहाँ है। सपने में सिर कटने पर भी गर्दन तो हमारी ज्यों की त्यों ही रहती है—वह निर्विकार ही रहती है। यही तो माया की महिमा है। इसलिए तो गीता ने उसे 'दैवी' (7।14) कहा है। इसका तो मतलब ही कि इसमें निराली करामातें हैं। यह ऐसा काम करती है कि अचम्भा होता है। ब्रह्म या आत्मा में ही सारे जगत् की रचना यह कर डालती है जरूर। मगर आत्मा का दरअसल कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।

हाँ यह सवाल हो सकता है कि आखिर उसमें यह माया पिशाची लगी कब और कैसे? हमें नींद आने या भ्रम होने की तो हजार वजहें हैं। हमारा ज्ञान संकुचित है, हम भूलें करते हैं, चीजों से लिपटते हैं, खराबियाँ रखते हैं। मगर वह तो ऐसा है नहीं। वह तो ज्ञान रूप ही माना जाता है, सो भी अखण्ड ज्ञानरूप, जो कभी जरा भी इधर-उधर न हो। वह निर्लेप और निर्विकार है। वह भूलें तो इसीलिए कर सकता ही नहीं। फिर उसी में यह छछूँदर माया? यह अनहोनी कैसे हुई? यह बात तो दिमाग में आती नहीं कि वह क्यों हुई, कैसे हुई, कब हुई? कोई वजह तो इसकी नजर आती ही नहीं।

अनादिता का सिद्धान्त

यही कारण है कि ब्रह्म में माया का सम्बन्ध अनादि मानते हैं। इस सम्बन्ध का ऐसा श्रीगणेश यदि कभी माना जाय तो यह सवाल हो सकता है कि ऐसा क्यों हुआ? मगर इसका श्रीगणेश, इसकी इब्तदा, इसका आरम्भ (beginning) तो मानते ही नहीं। इसे तो अनादि कहते हैं। अनादि का तो मतलब ही है कि जिसकी आदि, जिसका श्रीगणेश हुआ न हो। फिर तो सारी शंकाओं की बुनियाद ही चली गयी। संसार में अनादि चीजें तो हईं। यह कोई नयी या निराली कल्पना केवल माया के ही बारे में तो है नहीं। यदि किसी से पूछा जाय कि आम का वृक्ष पहले-पहल हुआ या उसकी गुठली हुई? पहले वृक्ष हुआ या बीज? तो क्या उत्तर मिलेगा? दो में एक भी नहीं कह के यही कहना पड़ेगा कि बीज और वृक्ष की परम्परा अनादि है। अक्ल में तो यह बात आती नहीं कि पहले बीज कहें या वृक्ष; क्योंकि वृक्ष कहने पर फौरन सवाल होगा कि वह तो बीज से ही होता है। इसलिए उससे पहले बीज जरूर रहा होगा। और अगर पहले बीज ही मानें, तो फौरन ही वृक्ष की बात आ जायगी। क्योंकि बीज तो वृक्ष से ही होता है। कब, क्या हुआ यह देखनेवाले हम तो थे नहीं। हमें तो अभी जो चीजें हैं उन्हीं को देख के इनके पहले क्या था यही ढूँढ़ना है और यही

बात हम करते भी हैं। मगर ऐसा करने में कहीं ठिकाना नहीं लगता और पीछे बढ़ते ही चले जाते हैं। यही तो है अनादिता की बात। इसी प्रकार जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में माया की कल्पना करने में भी हमें अनादिता की शरण लेनी ही पड़ती है। हमारे लिए कोई चारा है नहीं। दूसरी चीज मानने या दूसरा रास्ता पकड़ने में हम आफत में पड़ जायँगे और निकल न सकेंगे। हमें तो वर्तमान को देख के पीछे की बातें सोचनी हैं, उनकी कल्पना करनी है, जिससे वर्तमान काम चल सके, निभ सके। जोई चाहें मान सकते नहीं। यही तो हमारी परेशानी है, यही तो हमारी सीमा (Limitation) है। किया क्या जाय? इसीलिए मीमांसादर्शन के श्लोकवार्त्तिक में कुमारिल को कहना पड़ा कि हम तो सिर्फ इतना ही कर सकते हैं कि दुनिया की वर्तमान व्यवस्था के बारे में यदि कोई शक-शुबहा हो तो तर्कदलील से उसे दूर करके अड़चन हटा दें। हम ऐसा तो हर्गिज कर नहीं सकते कि बेसिर-पैर की बातें मान के वर्तमान व्यवस्था के प्रतिकूल जायँ—"सिद्धानुगममात्रं हि कर्त्तुं युक्तं परीक्षकैः। न सर्वलोकसिद्धस्य लक्षणेन निवर्त्तनम्" (1।1।4।133)।

निर्विकार में विकार

इसीलिए निर्विकार में विकार या माया का सम्बन्ध साफ ही है। इसमें झमेले की तो गुंजाइश हई नहीं। सारा संसार जब उसी में है तो फिर माया का क्या कहना? हमें तो यही जानना है कि वह निर्लेप है या नहीं। विचार से तो सिद्ध भी हो जाता है कि वह सचमुच निर्लेप है। नहीं तो भरपेट खा के सोने पर भूखा क्यों नजर आता? खाना तो पेट में मौजूद ही है न? इसका तो एक ही उत्तर है कि पेट में खाना भले ही हो, मगर आत्मा तो उससे निर्लेप है। वह उससे चिपके, उसे अपना माने तब न? जगने पर ऐसा मालूम पड़ता था कि अपना मानती है। मगर सोने पर साफ पता लग गया कि वह तो निराली है, मौजी है। उसे इन खुराफातों से क्या काम? वह तो लीला करती है, नाटक करती है। इसलिए जब चाहा छोड़ के अलग हो गयी और निर्लेप का निर्लेप है। सपने में भी एक को छोड़ के दूसरे पर और फिर तीसरे पर जाती है और अन्त में सबको खत्म करती है। वहाँ कुछ नहीं होने पर भी सब कुछ बना के बच्चों के घरौंदे की तरह फिर चौपट कर देती है। असंग जो रही। उसे न किसी मदद की जरूरत है और न सूर्य-चाँद या चिराग की ही। वह तो खुद सब कुछ कर लेती है। वह तो स्वयं प्रकाश रूप ही है। वृहदारण्यक उपनिषद् के चौथे अध्याय के तीसरे ब्राह्मण में यह वर्णन इतना सरस है कि कुछ कहा नहीं जाता। वह पढ़ने ही लायक है। वहाँ कहते हैं कि—

"स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतोमात्रामुपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति।9। न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्नथयोगान्पथः सृजते, न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो

भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते, न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवंत्योभवन्त्यथवेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते सहि कर्त्ता।10। स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्या-द्रवति स्वप्नायेव सय त्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गोह्ययं पुरुषः (15)।''

अब केवल दूसरी शंका रह जाती है कि जब तक कहीं असल चीज न हो तब तक दूसरी जगह उसकी मिथ्या कल्पना हो नहीं सकती। इसीलिए कहीं न कहीं संसार को भी सत्य मानना ही होगा। इसका तो उत्तर आसान है। दूसरी जगह उस चीज का ज्ञान होना जरूरी है। तभी और जगह उसकी मिथ्या कल्पना हो सकती है। बस, इतने से ही काम चल जाता है। जहाँ उसका ज्ञान हुआ है वहाँ वह चीज सच्ची है या मिथ्या, इसकी तो कोई जरूरत है नहीं। कल्पना की जगह वही चीज प्रतीत होती है, यही देखते हैं। न कि उसको सारी बातें प्रतीत होती हैं, या उसकी सत्यता और मिथ्यापन भी प्रतीत होता है। यदि किसी ने बनावटी, इन्द्रजाल का या इसी तरह का साँप, फल या फूल देख लिया; उससे पहले उसे इन चीजों की कहीं भी जानकारी न रही हो; उसी के साथ यह भी मालूम हो जाय कि ये चीजें मिथ्या हैं, सच्ची नहीं; तो क्या कहीं उनका भ्रम होने पर यह भी बात भ्रम के साथ ही मालूम हो जायगी कि ये मिथ्या हैं, बनावटी हैं? यदि ऐसा ज्ञान हो जाय तो फिर भ्रम कैसा? ऐसी जानकारी तो भ्रम हटने पर ही होती है। यह तो कही नहीं सकते कि झूठी चीजें ही जिनने देखी हैं न कि सच्ची भी, उन्हें भ्रम होई नहीं सकता। भ्रम होता है अपनी सामग्री के करते और यदि वह सामग्री जुट जाये तो सच्ची-झूठी चीज के करते वह रुक नहीं सकता। इसलिए जिस चीज का भ्रम हो उसका अन्यत्र सत्य होना जरूरी नहीं है; किन्तु उसकी जानकारी ही असल चीज है। जानकारी बिना सत्य वस्तु का भी कहीं भ्रम नहीं होता है। जानें ही नहीं, तो दूसरी जगह उसकी कल्पना कैसे होगी? इसी प्रकार इस संसार का भी कहीं अन्यत्र सत्य होना जरूरी नहीं है। किन्तु किसी एक स्थान पर भ्रम से ही यह बना है। उसी की कल्पना दूसरी जगह और इसी तरह आगे भी होती रहती है। एक बार जिसकी कल्पना आत्मा में हो गयी उसी की बार-बार होती रहती है। यह कल्पित ही संसार अनादिकाल से चला आ रहा है।

मगर हमें इन दार्शनिक विवादों में न पड़ के केवल अद्वैतवाद का सिद्धान्त मोटा-मोटी बता देना है और यह काम हमने कर दिया। यहीं पर यह भी जान लेना होगा कि जहाँ एक बार इस दृश्य जगह का अध्यास या आरोप आत्मा या ब्रह्म में हो गया कि विवर्त्तवाद का काम हो गया। चेतन ब्रह्म में इस जड़ जगत् के आरोप को ही विवर्त्तवाद कहते हैं। जहाँ तक इस दृश्यजगत् का ब्रह्म से ताल्लुक है वहीं तक विवर्त्तवाद है। मगर इस जगत् की चीजों के बनने-बिगड़ने का जो विस्तार या ब्योरा है वह तो गुणवाद के आधार पर विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार ही होता

है। विवर्त्तवाद ने इन्हें मिथ्या सिद्ध कर दिया। अब परिणाम या विकासवाद से कोई हानि नहीं। क्योंकि इससे इन पदार्थों की सत्यता तो हो सकती नहीं। विवर्त्तवाद ने इनकी जड़ ही खत्म जो कर दी है। उसके न मानने पर ही यह खतरा था, द्वैतवाद आ जाने की गुंजाइश थी। बस, इतने के ही लिए विवर्त्तवाद आ गया और काम हो गया।

गीता, न्याय और परमाणुवाद

आश्चर्य की बात कहिए या कुछ भी मानिए; मगर यह सही है कि गीता में गौतम और कणाद का परमाणुवाद पाया नहीं जाता। इसकी कहीं चर्चा तक नहीं है और न गौतम या कणाद की ही। विपरीत इसके गुणकीर्त्तन और गुणवाद तो भरा पड़ा है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। इतना ही नहीं। जिन योग, सांख्य या वेदान्तदर्शनों ने इसे मान्य किया है उनका भी उल्लेख है और उनके आचार्यों का भी। यह ठीक है कि योगदर्शन के प्रवर्त्तक पतंजलि का जिक्र नहीं है। मगर योग की विस्तृत चर्चा पाँच, छह, आठ और अठारह अध्यायों में खूब आयी है। यों तो प्रकारान्तर से यह बात और अध्यायों में भी मन के निरोध या आत्मसंयम के नाम से बार-बार आयी ही है। पतंजलि से इसी बात को 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' (1।2) तथा 'अध्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (2।12) आदि सूत्रों में साफ ही कहा है। गीता के छठे अध्याय में मालूम होता है, यह दूसरा सूत्र ही जैसे उद्धृत कर दिया गया हो 'अध्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' (6।35)। चौथे अध्याय के 'आत्मसंयमयोगाग्नौ' (4।27) में तो साफ ही मन के संयम को ही योग कहा है। और स्थानों में भी यही बात है। पाँचवें अध्याय के 27, 28 श्लोकों में, छठे अध्याय के 10-26 श्लोकों में तथा आठवें अध्याय के 12, 13 श्लोकों में तो साफ ही योग के प्राणायाम की बात लिखी गयी है। अठारहवें के 51-53 श्लोकों में भी जिस ध्यानयोग की बात आयी है, उसी का उल्लेख पतंजलि ने 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (1।35), 'यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यानधारणासमाधयोऽष्टावंगानि' (2।29) तथा 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (3।2) सूत्रों में किया है।

वेदान्त, सांख्य और गीता

सांख्य और वेदान्त का तथा उनके प्रवर्त्तक आचार्यों का भी तो नाम आया ही है। सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल का उल्लेख 'कपिलोमुनिः' (10।26) में तथा वेदान्त के आचार्य व्यास का 'मुनीनामप्यहं व्यासः' (10।37) में आया है। पहले कपिल का और पीछे व्यास का। इन दर्शनों का क्रम भी यही माना जाता है। इसी प्रकार 'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्' (15।15) में वेदान्त का और 'सांख्य कृतान्ते प्रोक्तानि' (18।13) तथा 'प्रोच्यते गुणसंख्याने' (18।19) में सांख्यदर्शन का उल्लेख है। कृतान्त

और सिद्धान्त शब्दों का एक ही अर्थ है। इसलिए 'सांख्ये कृतान्ते' का अर्थ है 'सांख्यसिद्धान्त में।' सांख्यवादी भी तो आत्मा को अकर्त्ता, केवल तथा निर्विकार मानते हैं और यही बात यहाँ लिखी गयी है। इसी प्रकार गुणसंख्यान शब्द का अर्थ है गुणों का वर्णन जहाँ पाया जाय। सांख्य शब्द का भी तो अर्थ है गिनना, वर्णन करना। सांख्य ने तो गुणों का ही ब्योरा ज्यादातर बताया है। इसीलिए उसे गुणसंख्यानशास्त्र भी कह दिया है। शेष सांख्य और योग शब्द ज्ञान आदि के ही अर्थ में गीता में आये हैं।

गीता में मायावाद

यह ठीक है कि मायावाद की साफ चर्चा गीता में नहीं आती। मगर माया का और उसके भ्रम में डालने आदि कामों को बार-बार जिक्र उसमें आया ही है। 'सम्भवाम्यात्ममायया' (4 । 6) 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' (7 । 14), 'माययापहृतज्ञाना' (7 । 15), 'योगमाया समावृतः' (7 । 25), 'यन्त्रारूढानि मायया' (18 । 61) में जिस प्रकार माया का उल्लेख है, जैसा चौदहवें अध्याय में प्रकृति का वर्णन आया है, 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः' (9 । 0) में जिस तरह प्रकृति का नाम लिया है, तेरहवें अध्याय के 'भूतप्रकृतिमोक्षं च' (13 । 34) आदि श्लोकों में बार-बार प्रकृति का उल्लेख जिस प्रसंग में आया है तथा 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' (13 । 5) में जो अव्यक्त शब्द है ये सभी माया के ही अर्थ में आ के वेदान्त के मायावाद के ही समर्थक हैं तेरहवें अध्याय के शुरू में जो क्षेत्रज्ञ का बार-बार जिक्र आया है और 'एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्' (13 । 6) में क्षेत्र का उसके घास-पात—विकार—के साथ जो वर्णन आलंकारिक ढंग से किया गया है वह भी इसी चीज का समर्थक है। क्षेत्र तो खेत को कहते हैं और जैसे खेतिहर खेत के घास-पात को साफ करके ही सफल खेती कर सकता है, ठीक उसी प्रकार यह क्षेत्रज्ञ—आत्मा—रूपी खेतिहर भी रागद्वेष आदि घास-पातों को निर्मूल करके ही अपने कल्याण का उत्पादन इस खेत—शरीर—में कर सकता है, यही बात वहाँ कही गयी है। मगर वहाँ समष्टि शरीर या माया को ही क्षेत्र कहने का तात्पर्य है। व्यष्टि शरीर तो उसके भीतर आई जाते हैं। शुरू में जो महाभूत, अहंकार आदि का उल्लेख है वह इसी बात का सूचक है।

ब्रह्मज्ञान और लोकसंग्रह

जहाँ तक गीता का ताल्लुक इस मिथ्यात्व के सिद्धान्त से और तन्मूलक अद्वैतवाद से है उसे बताने के पहले यह ज्ञान लेना जरूरी है कि संसार को मिथ्या मानने के बाद अद्वैतवाद एवं अद्वैततत्त्व के ज्ञान का व्यवहार में कैसा रूप होता है। क्योंकि गीता तो केवल एकान्त में बैठ के समाधि लगानेवालों के लिए है नहीं। वह तो व्यावहारिक संसार का पारमार्थिक दुनिया के साथ मेल स्थापित करती है। उसकी

नजर में तो अद्वैतब्रह्म के ज्ञान के बाद संसार के व्यवहारों में खामख्वाह रोक होती नहीं। यह ठीक है कि कुछ लोगों की मनोवृत्ति बहुत ऊँचे चढ़ जाने से वे संसार के व्यवहार से अलग हो जाते हैं। मगर ऐसे लोग होते हैं कम ही। ज्यादा तो ऐसे ही होते हैं जो लोकसंग्रह का काम करते रहते ही हैं। गीता की इसी दृष्टि का मेल अद्वैतवाद से होता है। इसीलिए पहले उस अद्वैतवाद का इस दृष्टि जरा विचार कर लेना जरूरी है।

असल में ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और आत्मा ब्रह्मरूप ही है, उससे पृथक् नहीं है, इस दृष्टि के, इस विचार के दो रूप हो सकते हैं। या यों कहिए कि इस विचार को दो प्रकार से प्रकाशित किया जा सकता है। रस्सी में साँप का भ्रम होने के बाद जब चिराग आने या नजदीक जाने पर वह दूर हो जाता तथा साँप मिथ्या मालूम पड़ता है, तो इस बात को प्रकाशित करते हुए या तो कहते हैं कि यह तो रस्सी ही है, या साँप-वाँप कुछ भी नहीं है। यदि दोनों को मिला के भी बोलें तो यही कहेंगे कि वह तो रस्सी ही है और कुछ नहीं, या रस्सी के अलावे साँप-वाँप कुछ नहीं है। इन दोनों कथनों में और कुछ बात नहीं है, सिवाय इसके कि पहले कथन में विधिपक्ष (Positive side) पर विशेष जोर है, वही मुख्य चीज है। उसमें निषेध पक्ष (Negative side) अर्थ-सिद्ध है। उस पर जोर नहीं है। यदि वह बात बोलते भी हैं तो विधिपक्ष की मजबूती के ही लिए। विपरीत इसके दूसरे कथन में निषेध पक्ष पर ही जोर है, वही प्रधान बात है। यहाँ विधिपक्ष पर जोर न दे के उसे निषेध की दृढ़ता के ही लिए कहते हैं।

ठीक इसी तरह संसार के बारे में भी अद्वैत पक्ष को ले के कह सकते हैं कि यह तो ब्रह्म ही है और कुछ नहीं, या ब्रह्म के अलावे यह जगत् कुछ चीज नहीं है। यहाँ भी पहले कथन में ब्रह्म की ही प्रधानता और उसकी जगद्रूपता ही विवक्षित है—उसी पर जोर है। जगत् का निषेध तो अर्थ-सिद्ध हो जाता है जो उसी ब्रह्मरूपता को दृढ़ करता है। दूसरे कथन में जगत् का निषेध ही असल चीज है। विधिपक्ष उसी को पुष्ट करता है। इसी तरह आत्मा ब्रह्म रूप ही है, उससे जुदा नहीं है ऐसा कहने में भी विधि और निषेधपक्ष आ जाते हैं। ब्रह्मरूप कहना विधिपक्ष है और आत्मा से अलग ब्रह्म नहीं है यह निषेधपक्ष। बात तो वही है। मगर कहने और जोर देने में फर्क है और गीता के लिए वह बड़े ही काम की चीज है। गीता इस फर्क पर पूर्ण दृष्टि रख के चलती है। दरअसल यदि पूछा जाय तो गीता ने निषेधपक्ष को एक प्रकार से भुला दिया है। उसने उस पर जोर न दे के विधिपक्ष पर ही जोर दिया है और इसकी वजह है।

असीम प्रेम का मार्ग

कर्म का मार्ग तो निषेध का रास्ता है नहीं। वह तो विधि का ही मार्ग है और गीताकर्म

से ही शुरू करके अकर्म या कर्मत्याग पर—संन्यास पर—पहुँचती है। उसके संन्यास की परख, उसकी जाँच कर्म से ही होती है। गीता में कर्म शुरू करके ही संन्यास को आगे हासिल करते और उसे पक्का बनाते हैं। ऐसी हालत में निषेधपक्ष उसके किस काम का है? सो भी पहले ही? वह तो अन्त में खुद-ब-खुद आई जाता है। यदि उसका अवसर आये। वह खामख्वाह आये ही यह हठ भी तो गीता में नहीं है। जब ब्रह्म को अपनी आत्मा का ही रूप मानते हैं तो अपना होने से कितना अलौकिक प्रेम उसमें होता है! दो रहने से तो फिर भी जुदाई रही गयी यद्यपि वह उतनी दुःखद नहीं है। इसीलिए प्रेम में—उसके साक्षात् प्रकट करने में, प्रकट होने में—कमी तो रही जाती है, बाधा तो रही जाती है। दो के बीच में वह बँट जाता जो है—कभी इधर तो कभी उधर। यदि एक ओर पूरा जाय तो दूसरी ओर खाली! यदि इधर आये तो वह सूना! दोनों की चिन्ता में कहीं जम पाता नहीं । किसी एक को छोड़ना भी असम्भव है। यह बँटवारे की पहेली बड़ी बीहड़ है, पेचीदा है। मगर है जरूर।

देशकोश, गाँव, परिवार, घर, स्त्री, पुत्र, शरीर, इन्द्रियाँ, आत्मा वगैरह को देखें तो पता चलता है कि जो चीज अपने आपसे जितनी ही दूर पड़ती है उसमें प्रेम की कमी उतनी ही होती है। दूर तक पहुँचने में समय और दिक्कत तो होती है और ताँता भी तो रहना ही चाहिए। नहीं तो स्रोत ही टूट जाय, सूख जाय और अपने आप से ही अलग हो जायें। इसीलिए ज्यों-ज्यों नजदीक आइये, दिक्कत कम होती जाती है और ताँता टूटने या स्रोत सूखने का डर कम होता जाता है। मगर फिर भी रहता है कुछ न कुछ जरूर। इसीलिए जब ऐसा मौका आ जाय कि देश और गाँव में एक ही को रख सकते हैं तो आमतौर से देश को छोड़ देते हैं और गाँव को ही रख लेते हैं। प्रेम की कमी-बेशी का यही सबूत है। इसी तरह हटते-हटते पुत्र, शरीर और इन्द्रियों तक चले जाते हैं। मगर आत्मा की मौज या आनन्द में उसके मजा में किरकिरी डालने पर, या कम से कम ऐसा मालूम होने पर कि शरीर या इन्द्रियों के करते आत्मा का—अपना—मजा किरकिरा हो रहा है, आत्महत्या—शरीर का नाश—या इन्द्रियों का नाश तक कर डालते हैं! क्यों? इसीलिए न, कि आत्मा तो अपने से आप ही है। अपने से अत्यन्त नजदीक है? यही बात याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से वृहदारण्यक में कही है और सभी के साथ के प्रेमों को परस्पर मुकाबिला करके अन्त में आत्मा में होने वाले प्रेम को सबसे बड़ा—सबसे बढ़ के—यों ठहराया है—"नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति" (4।5।6)।

प्रेम और अद्वैतवाद

यदि ब्रह्म या परमात्मा में असली प्रेम करना है जो सोलह आना हो और निर्बाध हो, अखण्ड हो, एकरस हो, निरन्तर हो, अविच्छिन्न हो, तो आत्मा और ब्रह्म के बीच का भेद मिटाना ही होगा—उसे जरा भी न रहने देकर दोनों को एक करना ही होगा।

यदि सच्ची भक्ति चाहते हैं तो दोनों को—आशिक और माशूक को—एक करना ही होगा। यही असली भक्ति है और यही असली अद्वैतज्ञान भी है। इसीलिए गीता ने भक्तों के चार भेद गिनाते हुए अद्वैतज्ञानी को भी न सिर्फ भक्त कहा है, किन्तु भगवान् की अपनी आत्मा ही कह दिया है—अपना रूप ही कह दिया है,—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (7।18)। जरा सुनिए, गीता क्या कहती है। क्योंकि पूरी बात न सुनने में मजा नहीं आयेगा। गीता का कहना है कि, "चार प्रकार के सुकृती—पुण्यात्मा—लोग मुझमें—भगवान् में—मन लगाते, प्रेम करते हैं, वे हैं दुखिया या कष्ट में पड़े हुए, ज्ञान की इच्छावाले, धन-सम्पत्ति चाहने वाले और ज्ञानी। इन चारों में ज्ञानी तो बराबर ही मुझी में लगा रहता है। कारण, उसकी नजरों में तो दूसरा कोई हई नहीं। इसीलिए वह सबों से श्रेष्ठ है। क्योंकि वह मेरा अत्यन्त प्यारा है और मैं भी उसका वैसा ही हूँ। यों तो सभी अच्छे ही हैं; मगर ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है न? मुझसे बढ़ के किसी और पदार्थ को वह समझता ही नहीं। इसीलिए निरन्तर मुझी में लगा हुआ मस्त रहता है"—"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी न भरतर्षभ। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः सहियुक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्" (7।16-18)

ज्ञान और अनन्य भक्ति

इस प्रकार हमने देखा कि जिस भक्ति के नाम पर बहुत चिल्लाहट और नाच-कूद मचाई जाती है और जिसे ज्ञान से जुदा माना जाता है वह तो घटिया चीज है। असल भक्ति तो अद्वैत भावना, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ही ब्रह्म हूँ—यह ज्ञान ही है। इसीलिए "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" (9।22) में यही कहा गया है कि "भगवान् को अपना स्वरूप—अपनी आत्मा—ही समझ के जो उसमें लीन होते हैं, रम जाते हैं तथा बाहरी बातों की सुध-बुध नहीं रखते, उनकी रक्षा और शरीर यात्रा का काम खुद भगवान् करते हैं।" यहाँ अनन्य शब्द का अर्थ है भगवान् को अपने से अलग नहीं मानने वाले। इसीलिए अगले श्लोक 'येऽप्यन्य देवताभक्ताः' (9।23) में अपने से भिन्न देवता या आराध्यदेव की भक्ति का फल दूसरा ही कहा गया है। "अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः" (8।14) में भी यही बात कही गयी है कि "जो भगवान् को अपनी आत्मा ही समझ के उसी में प्रेम लगाता है उसे भगवान् सुलभ हैं—कहीं अन्यत्र ढूँढ़े जाने की चीज है नहीं।" यदि असल और सर्वोत्तम भक्ति ज्ञान रूप नहीं "भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' (18।55) श्लोक में क्यों कहते कि "उस भक्ति से ही मुझे बखूबी जान लेता है और उसके बाद ही मेरा रूप बन जाता है"। जानना तो ज्ञान से होता

है, न कि दूसरी चीज से। इससे पूर्व के श्लोक 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' आदि में उसे ब्रह्मरूप कह के समदर्शन का ही वर्णन किया है। समदर्शन तो ज्ञान ही है यह पहले ही कहा गया है। यहाँ उसी समदर्शन को भक्ति कहा है। इस सम्बन्ध में और बातें आगे लिखी हैं।

इससे इतना सिद्ध हो गया कि जब ब्रह्म हमीं हैं ऐसा अनुभव करते हैं, तो प्रेम के प्रवाह के लिए पूरा स्थान मिलता है और उसका अबाध स्रोत उमड़ पड़ता है। क्योंकि वह प्रवाह जहाँ जाके स्थिर होगा वह वस्तु मालूम हो गयी। मगर निषेधात्मक मनोवृत्ति होने पर ब्रह्म हमसे अलग या दूसरी चीज नहीं है, ऐसी भावना होगी। फलतः इसमें प्रेम-प्रवाह के लिए वह गुंजाइश नहीं रह जाती है। मालूम होता है, जैसे मरुभूमि की अपार बालुका-राशि में सरस्वती की धारा विलुप्त हो जाती है और समुद्र तक पहुँच पाती नहीं, ठीक वैसे ही, इस निषेधात्मक बालुका-राशि में प्रेम की धारा लापता हो जाती और लक्ष्य को पा सकती है नहीं। यही कारण है कि विधि-भावना ही गीता में मानी गयी है। भक्ति की महत्ता भी इसी मानी में है।

सर्वत्र हमीं हम और लोकसंग्रह

अब जरा जगत् के बारे में भी देखें। यहाँ भी यह जगत् तो ब्रह्म ही है ऐसा विधिरूप ज्ञान ही गीता को मान्य है। क्योंकि इसमें हमारे कर्मों के लिए, लोकसंग्रह के लिए पूरी गुंजाइश रहती है। निषेध में यह बात नहीं रहती। मालूम पड़ता है कि निठल्ले जैसा बैठने की बात आ जाती है। आज जो वेदान्त के अद्वैतवाद में इस निषेध पक्ष या संसार के मिथ्यात्व के ही पहलू पर जोर देने के कारण लोगों में अकर्मण्यता आ गयी है वह गीताधर्म और गीता के इस महान् मार्ग के छोड़ देने का ही परिणाम है। वेदान्त के नाम पर आज प्रचलित महान् पतन की यही वजह है। जब कोई विधानात्मक चीज हई नहीं, तो फिर कुछ भी करने-धरने की जरूरत ही क्या है? फलतः वेदान्तवाद एवं अद्वैतवाद को इस पतन के गम्भीर गर्त्त से निकालने के लिए जगत् के मिथ्यात्व पर जोर देने वाले निषेधात्मक पक्ष की ओर दृष्टि न करके हमें 'जगत् ब्रह्म ही है, हमारी आत्मा ही है' इस विधानात्मक पक्ष की ओर ही दृष्टि देना जरूरी है। इससे यही होगा कि हम चारों ओर अपनी ही आत्मा को देख के उसके कल्याणार्थ ठीक वैसे ही उतावले हो पड़ेंगे, दौड़ पड़ेंगे जैसे अपने पाँवों में फोड़ा-फुंसी होने, खुद भूख-प्यास लगने या अपने पेट में दर्द होने पर उतावले और बेचैन हो के प्रतीकार में लग जाते हैं। और जरा भी विलम्ब या आलस्य, अपना या गैरों का, बर्दाश्त कर नहीं सकते।

गीता इसी दृष्टि पर जोर देती हुई कहती है कि "बहुत जन्मों में लगातार यत्न करके, यह जो कुछ देखा-सुना जाता है सब भगवान् ही है, ऐसा ज्ञान जिसे प्राप्त हो जाय वही इस संसार में अत्यन्त दुर्लभ महात्मा है"—"बहूनां जन्मनामन्ते

ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" (7।19)। ऐसा अद्वैत तत्त्वज्ञानी दूसरे के सुख-दुःख को अपने में ही अनुभव करता है। यदि किसी को भी एक लाठी मारो तो उसकी चोट उसे ही लगती है। इसीलिए उसका हृदय द्रवीभूत हो के दत्तचित्तता के साथ लोकसंग्रह में उसे दिन-रात लग जाने को विवश कर देता है। इस बात का कितना मार्मिक वर्णन गीता के छठे अध्याय के ये श्लोक करते हैं, "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः। यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति। सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते। आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः" (6।29-32)।

इनका आशय यह है कि "जिसका मन सब तरफ से हटके आत्मा—ब्रह्म—में लीन हो गया है और जो सर्वत्र समदर्शी है (समदर्शन का पूरा विवेचन पहले किया गया है) वह अपने आपको सभी पदार्थों में और पदार्थों को अपने आप में ही देखता है। इस प्रकार जो भगवान् को भी सर्वत्र—सभी पदार्थों में—देखता है और पदार्थों को भगवान् में, वह न तो भगवान्—ब्रह्म—से जरा भी जुदा हो सकता है और न भगवान् ही उससे जुदा हो सकता है—दोनों एक ही जो हो गये—जो योगी सभी पदार्थों में रहने वाले—पदार्थों के रग-रग में रमने वाले—एक हो भगवान् को अपने से जुदा नहीं देखता, वह चाहे किसी भी हालत में रहे, फिर भी परमात्मा में ही रमा हुआ रहता है। जो योगी किसी भी प्राणी या पदार्थ के दुःख-दुःख को अपना ही समझता है, अनुभव करता है, वही सर्वोत्तम है।" इसी ज्ञान के बारे में पुनरपि गीता कहती है कि "उसे हासिल करके फिर इस प्रकार भूल-भुलैया में हर्गिज न पड़ोगे। तब हालत यह होगी कि संसार के सभी पदार्थों को अपने आप में देखोगे और मुझमें भी—अर्थात् तुममें, हममें—परमात्मा में—और इस जगत् में कोई विभिन्नता रहेगी ही नहीं—सभी एक ही बन जायँगे"—"यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि"(4।25)।

हमने शुरू में ही कर्मों के भेदों के निरूपण के प्रसंग में बता दिया है कि आगे बढ़ते-बढ़ते सभी भौतिक पदार्थों और परमात्मा के साथ आत्मा की तन्मयता कैसे हो जाती है। वही बात गीता बार-बार कहती है। इसीलिए जो प्रत्येक शरीर में आत्मा को जुदा-जुदा मानते हैं वह तो गीता से अनन्त दूरी पर हैं। उनसे और गीताधर्म से कोई ताल्लुक है नहीं। सबकी एकता—एकरसता—के पहले सभी शरीरों की आत्मा की एकता तो अनिवार्य है। ऐसी बुद्धि और भावना सबसे पहले होनी चाहिए। यहीं से तो गीता का श्रीगणेश होता है। इसीलिए "अन्तवन्त इमे देहानित्यस्योक्ता शरीरिणः" (2।18) आदि श्लोकों में अनके शरीरों में रहने वाले शरीरी—आत्मा—को एक ही कहा है। जहाँ 'देहाः' यह बहुवचन दिया है, तहाँ 'शरीरिणः' एकवचन ही रखा है। आगे भी यही बात है। 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (13।2) में भी

सभी क्षेत्रों में—शरीरों में—एक ही क्षेत्रज्ञ—शरीरी—को कह के साफ सुना दिया है कि शरीर और शरीरी—आत्मा—भगवान् के ही स्वरूप हैं। 'मयि ते तेषु चाप्यहम्' (9 । 29) में भी यही बात कही गयी है कि भक्तजनों में भगवान् हैं और भगवान् में भक्तजन हैं—अर्थात् दोनों एक हैं। 'अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते' (12 । 6) में भी दोनों की अभिन्नता—एकता—ही कही गयी है। ऐसे ज्ञानियों की हालत यह होती है कि न तो उनसे किसी को उद्वेग या जरा सी भी दिक्कत मालूम होती है और न उन्हें दूसरों से। यही बात 'यस्मान्नोद्विजते लोकः' (12 । 15) में कही गयी है। यही है ज्ञानी जनों की पहचान। 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' (13 । 10) में इसी अद्वैततत्त्वज्ञान को अव्यभिचारिणी भक्ति नाम दिया है। 'मां च योऽव्यभिचारेण' (14 । 26) में इसे ही अव्यभिचारी भक्ति योग भी कहा है।

6. अपर्याप्तं तदस्माकम्

गीता के प्रथमाध्याय के 'अपर्याप्तं तदस्माकम्' (1।10) श्लोक के अर्थ में बहुत मतभेद हैं। इसके शब्दों और उनके अर्थों की मनमानी खींचतान की गयी है। अतः स्पष्टीकरण जरूरी है। संक्षेप में दो खयाल के लोग इस सम्बन्ध में पाये जाते हैं। एक तो वह हैं जो मानते हैं कि दुर्योधन अपनी फौज को कमजोर या नाकाफी कहे, इसकी कोई वजह नहीं थी। इसके उलटे काफी और अपरिमित कहने के कई प्रमाण वे लोग पेश करते हैं। पहली बात यह है कि खुद दुर्योधन ने उद्योगपर्व (54।60-70) में अपनी सेना की सब तरह से तारीफ करके कहा था कि जीत मेरी ही होगी। दूसरी यह कि उसने गीता में जो श्लोक कहे हैं प्रायः इसी तरह के श्लोक उसके मुँह से गीता के बाद ही भीष्मपर्व (51।4-6) में पुनरपि द्रोणाचार्य के ही सामने निकले हैं। तीसरी यह कि यह बयान अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करने के ही लिए तो किया गया है। फिर इसमें अपनी ही कमजोरी की बात कैसे आयेगी? तब तो उलटा ही प्रभाव होगा न? और स्वयं दुर्योधन ही इतनी बड़ी भूल करे, यह कब सम्भव है? जो लोग ऐसा खयाल करते हैं कि दुर्योधन डर के मारे ही ऐसा कह रहा था, वह भूलते हैं। क्योंकि महाभारत की लम्बी पोथी में कहीं भी उसके भयभीत होने का जिक्र है नहीं। विपरीत इसके भीष्मपर्व (19।5 तथा 21।1) से पता चलता है कि दुर्योधन की ग्यारह अक्षौहिणी के मुकाबिले में अपनी केवल सात ही अक्षौहणी सेना देख के युधिष्ठिर को ही खिन्नता हुई थी।

इसीलिए इस खयाल के लोग इस श्लोक के पर्याप्त और अपर्याप्त शब्दों का आमतौर से प्रचलित अर्थ काफी और नाकाफी मानने में दिक्कत एवं ऊपरवाली अड़चनें देख के इनका दूसरा ही अर्थ मर्यादित या परिमित और अमर्यादित या अपरिमित करते हैं। इन अर्थों में भी दिक्कत जरूर है। क्योंकि ये प्रचलित नहीं हैं। मगर ऊपर लिखी दिक्कतों की अपेक्षा यह दिक्कत कोई चीज नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में ही तो शब्दों के दूसरे-दूसरे अर्थ माने जाते हैं जो आमतौर से अप्रसिद्ध होते हैं। इसीलिए शब्दों को पतंजलि ने महाभाष्य में बार-बार कामधेनु कहा है : 'शब्दाः कामधेनवः'। क्योंकि संकट के समय या मौके पर जैसा चाहिए इनसे अर्थ (प्रयोजन) प्राप्त कर

लीजिये। यही है पहले खयालवालों की स्थिति।

मगर दूसरे खयाल वाले शब्दों के प्रचलित और आमतौर से मालूम अर्थों को छोड़ने के लिए यहाँ तैयार नहीं हैं। इस सम्बन्ध में जो दलीलें पहले खयाल वाले देते हैं उनके विचार से वे सभी लचर हैं। शब्दों के अर्थों के बारे में मीमांसादर्शन में जो यह नियम माना गया है कि शब्द से आमतौर से मालूम होने वाले सीधे अर्थ को ही लेना चाहिए उसे छोड़ने का कारण कोई भी यहाँ है नहीं। बेशक दुर्योधन भयभीत था और इसके लिए दूर न जा के इसी श्लोक में प्रमाण रखा हुआ है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'अपर्याप्तं' के बाद ही 'तत्' शब्द है जिसके आगे 'अस्माकं' है। इसी तरह उत्तरार्द्ध में 'पर्याप्तं तु' के बाद 'इदम्' है जिसके बाद 'एतेषां' आया है। 'तत्' का अर्थ है वह या जो सामने न हो। जो पदार्थ केवल दिमाग में हो और सामने न हो साधारणतया उसी को बताने के लिए 'तत्' आता है। इसके उलटा जो चीज सामने हो उसी का वाचक 'इदम्' है।

अब जरा मजा तो देखिये कि खुद अपनी ही फौज में खड़ा हो के दुर्योधन द्रोणाचार्य से बातें कर रहा है और अपने खास-खास योद्धाओं के नाम उसने अभी-अभी गिना के यह श्लोक कहा है—यह बात कही है। पाण्डव-सेना की बात पहले कह के अपनी फौज की पीछे बोला है और फौरन ही उसी के बाद 'अपर्याप्तं' आया है। ऐसी हालत में तो हर तरह से अपनी ही सेना सामने है और पाण्डवों की हर तरह से दूर है। यों भी दूर खड़ी है और उसकी चर्चा भी पहले हो चुकी है। फिर भी उसी को सामने और प्रत्यक्ष कहता है। 'इदम्' कहता है और अपनी को परोक्ष और दूर की। क्यों? इसीलिए न, कि उसके भीतर आतंक छाया है, उसे डर और घबराहट है और भूत की तरह पाण्डवों की सेना उसकी छाती पर जैसे सवार है? इसी घबराहट में अपनी फौज जैसे भूली सी हो। आँखों के सामने और दिल-दिमाग पर तो पाण्डवों की फौज ही नाचती है। फिर कहे तो क्या कहे? अपनी फौज और अपनी शेखी तो भूल सी गयी है! यह बात इतनी साफ है कि कुछ पूछिए मत।

दूसरी बात है 'भीष्माभिरक्षितं' और 'भीमाभिरक्षितं' शब्दों की। यह तो सबों को मालूम था ही और दुर्योधन भी अच्छी तरह जानता था कि जहाँ भीम एकतरफा और आँख मूँद के लड़नेवाले हैं, वहाँ भीष्म दो नाव पर चढ़नेवाले और सोच-विचार के लड़नेवाले हैं। इसमें कई बातें हैं। महाभारत पढ़ने वाले जानते हैं कि कर्ण और भीष्म में तनातनी थी जिसके चलते कर्ण ने कह दिया था कि जब तक भीष्म जिन्दा हैं मैं युद्ध से अलग रहूँगा। इसीलिए तो गीता के बाद वाले पहले ही अध्याय में लिखा है कि युधिष्ठिर ने उसे अपनी ओर मिलाने की बड़ी कोशिश की थी। फिर भी न आया यह बात दूसरी है। मगर वही वैर बता के वह उसे फोड़ना चाहते थे। अगर नहीं फूटा तो इससे पता लगता है कि वह दुर्योधन का पक्का आदमी था। मगर पक्का तो सेनारक्षक हो नहीं और दुभाषिया हो सेनापति, यह क्या कमजोरी

की बात नहीं है? इसी से तो दुर्योधन को डर था। मगर भीम के बारे में कोई ऐसी बात न थी।

वह यह भी जानता था कि शिखण्डी से भीष्म को खतरा है। इसीलिए इस श्लोक के बाद के श्लोक में ही दुर्योधन सबों से कहता है कि आप लोग सबके-सब सिर्फ भीष्म को ही बचायें—"भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवन्तः सर्व एव हिं"। लेकिन यह भी क्या अजीब बात है कि जोई सेनापति और सेना का रक्षक हो उसी की रक्षा के लिए शेष सबों को आदेश दिया जाय कि आप लोग 'केवल भीष्म'—'भीष्ममेव'—की रक्षा करें! मालूम होता है, दूसरा कोई भी इससे जरूरी काम न था। मगर जिस फौज के सेनापति के ही बारे में यह बात हो वह फौज क्या जीतेगी ख़ाक? ऐसा कहीं नहीं देखा-सुना कि फौज के सभी प्रमुख योद्धा केवल सेनापति की ही रक्षा करें। मगर भीम के बारे में तो यह बात न थी। उन्हें कुछ सोचना-विचारना थोड़े ही था कि किस पर अस्त्र चलाएँ किस पर नहीं। इस मामले में तो वे ऐसे थे कि मीनमेख करना जानते ही न थे। बल्कि मीनमेख से चिढ़ते थे। वे तो युधिष्ठिर को कोसा करते थे कि आपको बुद्धि की बदहजमी और धर्म की बीमारी लगी है, जिससे रह-रह के मीनमेख निकाला करते हैं।

महाभारत में गीता के बादवाले अध्याय में ही यह बात लिखी है कि भीष्म ने साफ ही कह दिया कि युधिष्ठिर, जाओ, जीत तुम्हारी ही होगी। उनने यह भी कहा था कि क्या करूँ मजबूरी है इसीलिए लड़ूँगा तो दुर्योधन की ही ओर से, हालाँकि पक्ष तुम्हारा ही न्याययुक्त है। इसीलिए तुम्हारे सामने दबना पड़ता है और सिर उठा नहीं सकता। क्या ऐसे ही 'आ फँसे' वाले सेनापति से जीत हो सकती थी? और क्या इतनी बात भी दुर्योधन समझता न था? खूबी तो यह है कि न सिर्फ भीष्म, किन्तु द्रोण, कृप और शल्य भी इसी ढंग के थे और यह बात उसे ज्ञात न थी यह कहने की हिम्मत किसे है? विपरीत इसके भीम अपने पक्ष के लिए मर-मिटने वाला था, उचित-अनुचित सब कुछ कर सकता था। इसीलिए तो दुर्योधन की कमर के नीचे उसने गदा मारी जो पुराने समय के नियमों के विरुद्ध काम था और इसीलिए अपने चेले दुर्योधन की कमर टूटने पर बलराम बिगड़ खड़े भी हुए थे कि भीम ने अनुचित काम किया। मगर भीम को इसकी क्या परवाह थी?

जरा यह भी तो देखिये कि जहाँ स्वयं दुर्योधन ने शत्रुओं की सेना और उसके सेनानायकों का वर्णन पूरे चार (3 से 7) श्लोकों में किया है, तहाँ अपनी सेनावालों का सिर्फ एक (8) ही श्लोक में करके अगले (9वें) में केवल इतने से ही सन्तोष कर लिया है कि और भी बहुतेरे हैं जो मेरे लिए मर-मिटेंगे! आखिर बात क्या है? यह 'प्रथमग्रासे मक्षिकाभक्षणम्' कैसा? अपने ही लोगों का कीर्त्तन इतना संक्षिप्त? इसमें भी खूबी यह कि जिनके नाम गिनाये हैं उनमें एकाध को छोड़ सभी दो तरफे हैं, और विकर्ण तो साफ ही युधिष्ठिर की ओर जा मिला था, यह गीता के बादवाले

ही अध्याय में लिखा है। शत्रु पक्ष के वर्णन में भी यह बात है कि द्रुपदपुत्र की बड़ी तारीफ की है। कहता है कि आपका ही चेला है। बड़ा काइयाँ है और वही है सेना को सजा के नाके पर खड़ी करने वाला। सबों को भीम और अर्जुन के समान ही युद्ध के बहादुर भी कह दिया है 'भीमार्जुन समायुधि'। अन्त में सभी को यह भी कह दिया कि महारथी ही हैं—'सर्व एव महारथाः'। क्या ये एक बातें भी अपनों के बारे में उसने कही हैं? और अगर कोई यह कहने की हिम्मत करे कि शत्रुओं की यह बड़ाई तो सिर्फ अपने लोगों को उत्तेजित करने के ही लिए है, तो यही बात 'अपर्याप्तं' श्लोक के बारे में भी क्यों नहीं लागू होती? दरअसल तो उसके दिल पर पाण्डवों का आतंक छाया हुआ था। फिर वैसा कहता क्यों नहीं?

एक बात और देखिये। उसके कह चुकने पर 'तस्य संजनयन्हर्षं' इस बारहवें श्लोक में यह कहा गया है कि दुर्योधन के भीतर बखूबी हर्ष पैदा करने के लिए भीष्म ने शंख बजाया। जरा गौर कीजिए कि "उसके हर्ष को बढ़ाने के लिए" कहने के बजाय यह कहा गया है कि 'उसका हर्ष पैदा करने के लिए'—'हर्षं संजनयन्'। जन धातु का अर्थ पैदा करना ही होता है न कि बढ़ाना। जो चीज पहले से न हो उसी को तो पैदा करते हैं। जो पहले से ही हो उसे तो केवल बढ़ा सकते हैं। इसी से पता लग जाता है कि दुर्योधन के भीतर हर्ष का नाम भी न था। इसीलिए भीष्म ने उसे पैदा करने की कोशिश की। 'जनयन्' के पहले जो 'सम्' दिया गया है उससे यह भी प्रकट होता है कि काफी मनहूसी थी जिसे हटा के खुशी लाने में भीष्म को अधिक यत्न करना पड़ा।

यह भी तो विचित्र बात है कि वह बातें तो करता है द्रोण से। मगर वह तो कुछ बोलते या करते नहीं। किन्तु उसे खुश करने का काम भीष्म करते हैं जिनके पास वह गया तक नहीं! वह जानता था कि उनके पास जाना या कुछ भी कहना बेकार है। वह तो सुनेंगे नहीं। उलटे रंज हो गये तो और भी बुरा होगा। इसीलिए सेनापति होते हुए भी उन्हें छोड़ के द्रोण के पास दुर्योधन इसीलिए गया कि खतरे से सजग कर दिया जाय। उचित तो सेनापति के ही पास जाना था। यही तरीका भी है। मगर न गया। इससे भीष्म को भी पता चल गया कि मेरी ओर से उसे शक है। इसी से भीतर ही भीतर नाखुश है। उसी नाखुशी को दूर करने के लिए उनने बिना कहे-सुने शंख बजाया। नहीं तो एक प्रकार के इस अकाण्ड ताण्डव का प्रयोजन था ही क्या? जोर से सिंहगर्जन करना और खूब तेज शंख बजाना अपनी सफाई ही तो थी।

द्रोण के पास जाने में दुर्योधन का और भी मतलब था। युद्धविद्या के आचार्य तो वही थे। इसलिए आगे लड़ाई की सफलता और भीष्मादि की रक्षा का ठीक उपाय वही बता सकते थे। यह काम जितनी खूबी के साथ वह कर सकते थे दूसरा कोई भी कर न सकता था शत्रुओं की सारी कला और खूबियों को वही जानते थे। उन्हें

जरा उत्तेजित भी करना था। जिन्हें सिखा-पढ़ा के उनने तैयार किया वही अब उन्हीं से निपटने को तैयार हैं! जिस धृष्टद्युम्न को रणविद्या दी उसी ने आप ही के खिलाफ व्यूह रचना की है! कृतघ्नता की हद हो गयी! इसीलिए जो 'तव शिष्येण' यह विशेषण उसने 'द्रुपद पुत्रेण' के साथ लगाया है उसके दोनों ही मानी हैं। एक तो यह कि सजग रहिए, वह काफी होशियार है। क्योंकि आपका ही सिखाया-पढ़ाया है। दूसरा यह कि चेला हो के गुरु के ही खिलाफ लड़ने की पूरी तैयारी में है, यह उसकी शोखी देखिये।

यह दलील, कि उत्तेजित करने और जोश बढ़ाने के बजाय डराने वाली कमजोरी की बात कैसे कहेगा, क्योंकि तब तो सभी लोग डर जायेंगे ही और सारा गुड़ ही गोबर हो जायगा, भी निस्सार है। वह तो सिर्फ द्रोण से ही बातें कर रहा था। बाकी लोगों को क्या मालूम कि क्या बातें हो रही हैं? फिर उनके डरने का सवाल आता ही कहाँ से है? और द्रोण से भी सारी हकीकत और असलियत छिपाई जाय, यह कौन सी बुद्धिमानी थी? वही तो दिक्कतों और खतरों का रास्ता सुझा सकते थे। आखिर दुर्योधन और किससे दिल की बातें कहता? द्रोणाचार्य इस बात का डंका पीटने तो जाते न थे कि सबों के दिल दहलने की नौबत आ जाती। और जब आगे 'सघोषोधार्त्तराष्ट्राणां' (19) श्लोक में साफ ही कह दिया है कि पाण्डवों की शंखध्वनियों से दुर्योधन के दलवालों का कलेजा दहल गया, जो फिर वही बात चाहे एक मिनट आगे हुई या पीछे, इसमें खास ढंग का एतराज क्या हो सकता है? जब भीष्मपर्व के पहले ही अध्याय के 18-19 श्लोकों में यही बात लिखी जा चुकी है कि केवल कृष्ण और अर्जुन के शंखों की ही आवाज से दुर्योधन की सेना के लोग ऐसे भयभीत हो गये जैसे सिंह के गर्जन से हिरण काँप उठते हैं, इसीलिए हालत यहाँ तक हो गयी कि सबों की पाखाना-पेशाब तक उतर आयी, तो फिर यहाँ दुर्योधन की बातों से दहलने का क्या प्रश्न?

अब रही यह दलील कि उद्योगपर्व में दुर्योधन ने स्वयं अपनी सेना की बड़ाई करके विजय का विश्वास जाहिर किया था यह भी वैसी ही है। यों प्रशंसा के पुल बाँधना और मनोराज्य के महल बनाना दूसरी चीज है। उसे कौन रोके। उसमें बाधा भी क्या है। मगर जब ऊँट पहाड़ पर चढ़ता है तो उसका बलबलाना बन्द हो जाता है। ऊँचाई कैसी है इसका मजा भी मिलता है। यही बात हमेशा होती है जब ठोस चीजों और परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। अर्जुन ने भी तो बहुत दिनों से जान-बूझ के लड़ाई की तैयारी की थी और जब कभी युधिष्ठिर जरा भी आगा-पीछा करते तो घबरा जाते थे और उन्हें कुछ सुना भी देते थे। मगर मैदाने जंग में जब सभी चीजें सामने आयीं और ठोस परिस्थिति चट्टान की तरह आ डँटी तो घबरा के धर्मशास्त्र की पोथियों के पन्ने उलटने लगे। क्या उन्हें पहले मालूम न था कि युद्ध में गुरुजनों और कुल का संहार होगा? फिर यह रोना पसारने की वजह क्या

थी सिवाय इसके कि पहले ठोस चीजें सामने न थीं, केवल दिमागी बातें थीं, मगर अब वही चीजें स्वयं सामने आ गयीं? यही बात दुर्योधन की थी। पहले बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ थीं। मगर युद्ध के मैदान में सारा रंग फीका हो गया।

गीता के बाद भी यदि यही श्लोक आये हैं तो इससे क्या? अगर इन श्लोकों से उसकी त्रस्तता सिद्ध होती है तो बादवाले भी यही सिद्ध करेंगे। हाँ, यदि इनमें ही उत्साह-उमंग हो तो बात दूसरी है। मगर यही तो अभी सिद्ध करना है। इसलिए बाद के श्लोक तो गीता के ही श्लोकों के अर्थ पर निर्भर करते हैं। यदि गीता में ही बाद के 12 से लेकर 19 तक के आठ श्लोकों को देखा जाय तो पता चलता है कि केवल दो श्लोकों में दुर्योधन के पक्ष वालों के बाजे-गाजे वगैरह बजने की बात लिखी है और बाकी 6 में पाण्डव पक्ष की! खूबी तो यह है कि इन दोनों में भी पहले में सिर्फ भीष्म के गर्जन और शंखनाद की बात है। दूसरे में भी किसी का नाम न ले के इतना ही लिखा है कि उसके बाद एक-एक शंख, नफीरी आदि बज पड़ीं। मगर पाण्डव पक्ष का तो इन शेष 6 श्लोकों में पूरा ब्योरा दिया गया है कि किसने क्या बजाया। इससे इतना तो साफ हो जाता है कि कम से कम गीताकार तो पाण्डव पक्ष का ही महत्त्व दिखाते हैं, दिखाना चाहते हैं, और हमें गीता के ही श्लोकों का आशय समझना है। महाभारत में क्या स्थिति थी, इसका पता हमें दूसरी तरह से तो है भी नहीं कि गीता के शब्दों को भी खींच-खाँचकर उसी अर्थ में ले जायँ। अतएव हमने जो अर्थ इस श्लोक का लिखा है वही ठीक और मुनासिब है।

7. जायते वर्णसंकरः

गीता के पहले अध्याय के 'अधर्माभिवात् कृष्ण' (1।41) श्लोक में वर्णसंकर के मानी में भी अकसर गड़बड़ हो जाती है। वर्णसंकर का शब्दार्थ है वर्णों का संकीर्ण हो जाना या मिल जाना । जब वर्णों की कोई व्यवस्था न रह जाय तो उसी हालत को वर्णसंकर कहा जाता है। बात असल यह है कि हिन्दुओं ने जो वर्णों की व्यवस्था बनायी थी वह उस समय के समाज की परिस्थिति और प्रगति के अनुकूल ही थी। उनने यह अच्छी तरह देख लिया था कि समाज कहाँ तक उन्नति कर गया, आगे बढ़ गया और किस हालत में है—उसकी प्रगति वैसी ही तेज है, रुक गयी है या बहुत ही धीरे-धीरे चींटी की सी चाल से चल रही है। बस, यही बातें देख के इन्हीं के अनुकूल वर्णों की व्यवस्था उस समय बनी थी और यह बनी थी जीवन-संग्राम (Struggle for existence) का खयाल करके ही।

पुराने जमाने में युद्ध करने वाली सेना के चार विभाग होते थे, जिन्हें पैदल, रथवाले, घुड़सवार और हाथीसवार कहते थे। तोपखाना आज की तरह अलग न था; किन्तु इन्हीं चारों के साथ आवश्यकतानुसार जुटता था। उनका रथ बहुत व्यापक अर्थ में बोला जाता था। इसीलिए कहा जाता है कि राम-रावण के युद्ध में राम के पास रथ न होने के कारण देवताओं ने भेजा था। वह रथ तो कोई हवाई जहाज जैसी ही चीज होगी। यह भी मिलता है कि वैसे ही रथ से राम जंगल से अयोध्या वापस आये थे। इसीलिए आज का हवाई जहाज भी उसी में आ जाता है। समुद्री जहाजों की लड़ाई तब तो थी नहीं। फिर भी वे तो रथ के भीतर ही आ जाते हैं। अन्तर यही है कि वह रथ पानी में चलने वाला होता है। पनडुब्बी जहाज पानी के भीतर ही चलते हैं। इसीलिए आज भी पैदल (Infantry), घुड़सवार (Cavalry), तोपखाना (Artillery) जहाजी बेड़ा (Navy) और हवाई सेना (Airforce) इन पाँच विभागों के बावजूद हवाई जहाज की स्वतन्त्र हस्ती नहीं है। वह चारों का ही साथी जरूरत के अनुसार बन जाता है, जैसे पहले तोपखाने की बात थी। इससे यह बात निकलती है कि युद्ध के लिए सेना के साधारणतः चार विभाग जरूरी होते हैं।

इसी दृष्टि से प्राचीनों ने जीवन संघर्ष को ठीक-ठीक चलाने और मानव समाज

को उसमें विजयी बनाने के लिए उसके भी चार विभाग किये थे—समाज—को चार हिस्सों में बाँटा था; जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहते थे और अब भी कहते हैं। उनने अध्यात्मवाद, पुनर्जन्म और परलोक का भी सिद्धान्त स्वीकार किया था इसीलिए वर्णों के ही कार्यों की पुष्टि एवं सहायता के लिए चार आश्रम भी बनाये गये थे। ये आश्रम विद्यार्जन, तप, समाधि आदि के जरिये चारों वर्णों के लौकिक-पारलौकिक हित साधन में ही मदद करते थे। गृहस्थ आश्रम तो साफ ही है। मगर ब्रह्मचर्य का काम था सभी विद्याएँ पढ़ना तथा वानप्रस्थ का था तप और सर्दी-गर्मी को सहन करके समाधि के लिए अपने को तैयार करना। संन्यासी का काम था ध्यान और समाधि के द्वारा आत्मज्ञान को पूर्ण बनाना। यही लोग गृहस्थों और दूसरों को भी ज्ञानोपदेश के द्वारा कर्मयोगी बनाते थे।

वर्णों की हालत यह थी कि ब्राह्मण का काम था सभी प्रकार के ज्ञानों को पूर-पूरा हासिल करना। यहाँ तक कि गृहस्थ लोग ही ज्येष्ठ आश्रमी माने जाते थे। ब्राह्मण का ज्ञान पूर्ण होने पर वही सबों में—शेष क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तीनों में—उसका पूरा प्रसार करते थे। इसीलिए सभी वर्णों के गृहस्थ ज्ञान दाता माने जाते थे। अम्बरीष ने क्षत्रिय हो के भी दुर्वासा जैसे ब्राह्मण ऋषि को ज्ञान दिया था। जनक की भी यही बात थी। उपनिषदों में प्रतर्दन आदि राजाओं के बारे में तो यहाँ तक लिखा है कि पंचाग्नि विद्या जैसी चीजें वही जानते थे आरुणि जैसे प्रगाढ़ विद्वान् ब्राह्मणों को भी मालूम न थीं। इसी प्रकार तुलाधार वणिक् और जाजलि ब्राह्मण का संवाद महाभारत के शान्तिपर्व में आता है ज़िसमें ब्राह्मण को बनिये ने ज्ञानोपदेश किया है। शूद्र की बात तो इतनी बड़ी है कि साक्षात् धर्म व्याध की ही कथा महाभारत में है जहाँ संन्यासी तक ज्ञान सीखने जाते थे। इसीलिए मनु ने तीसरे अध्याय में कहा है कि "गृहस्थ ही तो शेष तीन आश्रमवालों को अन्न और ज्ञान देकर कायम रखता है। इसीलिए वही चारों में बड़ा आश्रम है"—"अस्मात्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्ननेनचान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्जयेष्ठाश्रमोगृही" फिर भी ब्राह्मणों का ही प्रधान काम रखा गया था कि विद्या देना और ज्ञान का प्रचार करना।

असल में जब तक एक दल समाज में ऐसा न हो जिसका काम ही हो अन्वेषण, जाँच-पड़ताल, प्रयोग और सोचना-विचारना तब तक ज्ञान का विकास असम्भव है। खासकर उस जमाने में जब आज की तरह ज्ञान के साधनों का विकास हो पाया न था और न ऐसे यन्त्र ही बन पाये थे जो आज पाये जाते है। यातायात के साधन भी ऐसे न थे कि दुर्गम से भी दुर्गम स्थानों में जाया जा सके। उस दशा में सभी प्रकार की शोध और अन्वेषण वगैरह की प्रगति के लिए यह जरूरी था कि समाज का एक भाग हर तरह से निश्चिन्त करके इसी काम के लिए छोड़ दिया जाये। उपनिषदों और दूसरे ग्रन्थों में जो ऋषियों एवं विद्वानों की गोष्ठियों तथा सभाओं के बार-बार वर्णन पाये जाते हैं। वह उन्हीं ब्राह्मणों की वैसी ही कान्फ्रेंसें थीं। जैसी आजकल

दर्शन, विज्ञान आदि की कान्फ्रेंसें हुआ करती हैं। अपने-अपने अनुभवों को वहाँ प्रकट करके मिलान की ज़ाती थी और कोई न कोई निष्कर्ष निकाला जाता था।

इसी प्रकार शासन और व्यवस्था के लिए भी समाज का एक विभाग अलग कर दिया गया था जिसे क्षत्रिय नाम दिया गया। इसमें भी वह बात है जो ब्राह्मण के सिलसिले में कही गयी है। शासन का काम बड़ा ही पेचीदा है। अमन एवं शान्ति बराबर बनाये रखना ताकि समाज ठीक-ठीक प्रगति कर सके, मामूली काम नहीं है। युद्ध विद्या को व्यावहारिक रूप देना और उसे पूर्णता को पहुँचाना असम्भव सी चीज है। सभी दिमागी कामों के बीच में ब्राह्मणों के लिए गैरमुमकिन था कि युद्ध विद्या को अमली रूप में शिखर पर पहुँचा दें। द्रोण या कृप की तरह कोई-कोई ऐसा करें भी तो सभी ब्राह्मणों के लिए यह असंभव बात थी। और जब तक सामूहिक रूप से लाखों लोग यह काम न करें शत्रुओं से सफलतापूर्वक लोहा लेना असम्भव था। द्रोण वगैरह इस काम में पड़े तो दूसरी विद्याओं की उतनी जानकारी उन्हें भी नहीं रही। इसीलिए क्षत्रिय नाम का एक जुदा वर्ण शासन और युद्ध के विज्ञान में पारंगत होने के ही लिए बनाया गया।

मगर जब तक खेती-बारी और रोजगार-व्यापार अच्छी तरह से न हो न तो ब्राह्मण का ही काम चल सकता है और न क्षत्रिय का ही । जैसे फौज के कमिसरियट विभाग के बगैर सभी सेना, अन्न, वस्त्रादि जरूरी चीजों के बिना ही खत्म हो जाय। ठीक वही बात वर्णों के बारे में भी समझना चाहिए। इसीलिए तो वैश्य नामक तीसरा वर्ण बनाया गया जो खेती-बारी के द्वारा अन्न, दूध, घी आदि उपजाये और व्यापार के जरिये वस्त्रादि दूसरी जरूरी चीजें मुहैया करे। अधिकांश व्यापार तो पहले जमीन से उत्पन्न चीजों का ही होता था। आज के कारखाने तो पहले थे नहीं। इसीलिए वैश्य का ही काम खेती और व्यापार दोनों ही रखा गया। फौज आदि के लिए सामूहिक रूप से भी अन्न-वस्त्र और अस्त्र-शस्त्रादि वही जमा कर सकता था। इसीलिए व्यापार भी उसी के हाथ में था।

अब समाजोपयोगी एक ही तरह का काम बच जाता है जिसे कारीगरी कहते हैं। इसमें दिमाग और शरीर दोनों के ही पूरे-पूरे सहयोग का सवाल आता है। पहले के तीनो वर्ण यह कर न सकते थे। उनके काम ऐसे हो गए कि दूसरी बात में पड़ने पर उनसे वह काम भी पूरे न हो पाते। एक बात यह भी है कि कारीगरी में हजारों बातें हैं। अस्त्र-शस्त्र बनाना, कपड़ा बनाना, यन्त्रादि बनाना वगैरह। फिर इनमें भी कितने ही विभाग हो जाते हैं। इसीलिए इन सबों के लिए एक दल ऐसा ही चाहिए जो बाँट के एक-एक काम ले ले और उसे न सिर्फ पूरा करे, किन्तु उसमें पूर्ण प्रगति करे, नये-नये आविष्कार करे। इसी के साथ मौके-बेमौके ब्राह्मणादि तीनों वर्णों के भी काम कर सके। जरूरत आने पर ब्राह्मण का काम करे और आवश्यकता होने पर क्षत्रिय या वैश्य का। सारांश यह कि उक्त तीनों वर्णों के लिए संरक्षित शक्ति

(Reserve Force) का काम दे। इसीलिए चौथा वर्ण बना जिसे शूद्र कहते हैं और उसमें भी लुहार, बढ़ई आदि सैकड़ों छोटे-छोटे विभाग हो गये। हमने सभी पुरानी पोथियों को देखा है। उनमें सभी तरह के दस्तकारों और कारीगरों को शूद्र ही कहा है।

शूद्र सभी वर्णों की कमी को भी पूरा (Supplement) करता था यह बात भी माननी ही होगी। इसीलिए तो ऐसे अनेक आख्यान पुराने ग्रन्थों में मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय को भी कभी-कभी शूद्र कह देते थे। छान्दोग्य-उपनिषद् के चौथे अध्याय के पहले दो ब्राह्मणों में जानश्रुति राजा और रैक्व ऋषि का आख्यान आया है और चौथे में सत्यकाम जाबाल ऋषि का। रैक्व ने जानश्रुति को दो बार शूद्र कहा है—"तमुह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सहगोभिरस्तु" (4।2।3) तथा "तस्याह मुखमुपोद्गृह्णन्नु वाचाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेन्त लापयिष्यथाः" (4।2।4)। रैक्व ने दोनों जगह जानश्रुति राजा को शूद्र कह के पुकारा है। सत्यकाम की बात ऐसी है कि जब अपनी माता जाबाला से आज्ञा लेने लगे कि मैं कहीं ब्रह्मचारी बन के पढ़ूँगा-लिखूँगा तो उनने पूछा कि मेरा गोत्र तो बता दे, ताकि पूछने पर कह सकूँगा। इस पर माता ने कहा कि मैं भी नहीं जानती। मैं तो नौजवानी में इधर-उधर भटकती थी। उसी बीच तेरा जन्म हुआ और मेरा नाम जाबाला होने से तेरा नाम सत्यकाम जाबाल रखा गया। पीछे जब सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम के पास गये और उनके पूछने पर अपने गोत्र के बारे में सारा हाल कह सुनाया तो गौतम ने कहा कि तुम जरूर ब्राह्मण हो। क्योंकि जो ब्राह्मण न हो वह ऐसी साफ बात बोल नहीं सकता—"नैतद ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति" (4।4।5)। जिसके बाप का ठिकाना हो उसे तो वर्णसंकर और ज्यादे से ज्यादा शूद्र ही कहते हैं। मगर उनने ब्राह्मण मान लिया। और कारण भी कितना सुन्दर है कि उसने अपना कच्चा चिट्ठा जो कह दिया! ऐसा तो शूद्र या दूसरे वर्णवाले भी कर सकते हैं। करते हैं! इसी से मानना पड़ता है कि शूद्र सभी वर्णों का रिजर्व भी माना जाता था।

इस प्रकार समाज के कार्य-संचालन के लिए और उसकी पूर्ण प्रगति के खयाल से भी समाज को चार दलों में बाँटा गया। ऐसा करने में, जैसा कि गीता ने कहा है (4।13, 18-41-44), आदमियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों और सत्त्वादि गुणों का भी शुरू-शुरू में खयाल किया गया। नहीं तो यों ही कैसे किसी को ब्राह्मण बना देते तो किसी को शूद्र? यही काम करने में उनके शरीरों के रंग (वर्ण) से भी मदद ली गयी। तीनों गुणों के रंगों की कल्पना तो उन लोगों ने की थी ही। इसीलिए आदमियों के शरीर के रंगों या वर्णों को देखने के बाद उनके गुणों और तदनुसार स्वभावों का निश्चय करके ही उन्हें काम बाँटे गये। फिर वे अलग-अलग कर दिये गये। यदि स्वभाव एवं रुचि के अनुसार काम न दिया जाता तो सब गुड़ गोबर जो हो जाता। कोई भी वर्ण अपना काम ठीक-ठीक पूरा न कर पाता। इसी वर्ण या रंग का खयाल करके ही चारों को वर्ण कहा। वर्ण विभाग शब्द का भी यही मतलब

है। इसीलिए महाभारत के शान्तिपर्व के मोक्ष धर्म के 188वें अध्याय में भृगु का वचन इस प्रकार लिखा गया है, "न विशेषोऽस्तिवर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणापूर्व सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।।10।। कामभोग प्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसा :। त्यक्तस्वधर्मा रक्तांगास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः।।11।। गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः। स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्तितेद्विजावैश्यतां गताः।।12।। हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः। कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टा स्तेद्विजा शूद्रतां गताः।।13।। इत्येनैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजावर्णान्तरं गताः। धर्मो यज्ञक्रियातेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते"।।14।। इन श्लोकों का आशय यह है—"शुरू शुरू में तो वर्णों का विभेद थाई नहीं, संसार में सभी ब्राह्मण ही थे। क्योंकि ब्रह्मा ने ही तो सबको पैदा किया था। मगर पीछे विभिन्न कामों के करते अनेक वर्ण हो गये। जिन ब्राह्मणों (ब्रह्मा के पुत्रों) को पदार्थों के भोग में ज्यादा प्रेम था, जो रूखे स्वभाव के और क्रोधी थे और जो बहादुरी की ओर बहुत ज्यादा झुकते थे ऐसे रक्त वर्णवाले ब्राह्मण ही जो अपना कर्तव्य छोड़ देने के कारण क्षत्रिय हो गये। जो पोले शरीरवाले गौ आदि पशुओं को पालते और खेती से जीविका करने लगे थे, साथ ही जो अपना (ब्राह्मण का) धर्म करते न थे वही वैश्य हुए। जो हिंसा और असत्य की ओर अधिक झुकते थे, लोभी थे, काले वर्ण के थे, सफाई से नहीं रहते थे और सभी काम करते थे वही ब्राह्मण शूद्र हो गये। इस प्रकार अलग-अलग कर्मों के चलते एक ब्राह्मण समाज ही अनेक वर्णों में बँट गया। इसीलिए तो सबों के पहचान स्वरूप यज्ञ की क्रिया सभी के लिए जरूरी बताई गयी है। किसी के लिए उस यज्ञ की मनाही नहीं है।"

इन श्लोकों से कई बातें साफ होती हैं। एक तो यह कि एक समय ऐसा भी था जब वर्ण विभाग विलकुल थाई नहीं। सभी एक ही थे। पीछे वर्णों का विभाग बना। दूसरी चीज यह कि पहले सभी ब्राह्मण ही थे। क्योंकि सभी ब्रह्मा के पुत्र थे। ब्रह्मन् शब्द से ब्रह्मा बनता है और ब्राह्मण भी। ब्राह्मण का अर्थ ही ब्रह्मा का पुत्र। द्विज तो उन्हें इसीलिए कहते हैं कि उनके दो जन्म (द्वि+ज) होते हैं। एक माता-पिता वाला और दूसरा गायत्री संस्कारवाला। तीसरी बात यह कि ये जो वर्ण-भेद हुए वह स्वभाव तथा क्रिया (काम) की विभिन्नता एवं शरीर के रंग (वर्ण) की विभिन्नता से ही। इस तरह जो अनेक वर्ण बने उन्हें अपनी असली हालत (ब्राह्मणता) से पतन माना गया यह चौथी बात है। इससे पता लगता है कि एक समय ऐसा जरूर था जब किसी भी प्रकार के विभाग की जरूरत न थी इसे ही प्रारम्भिक साम्यवादी अवस्था (Primitive communism) कहते हैं। पाँचवीं बात यह है कि शूद्रों के बारे में लिखा है कि वे सभी काम करने लगे 'सर्वकर्मोपजीविनः'। इससे दो बातें सिद्ध हो जाती हैं, एक तो यह कि शूद्र सभी वर्णों के रिजर्व का काम करते थे। दूसरी यह कि उन्हें कला-कौशल और दस्तकारी वगैरह के हजारों काम करने पड़ते थे। छठी बात यह कि सबों को जो यज्ञ करने की छुट्टी है और इसकी रोक न हो के करने पर

ही जोर दिया गया है उससे पता लगता है कि फिर उसी ओर इन्हें जाना है जहाँ से आये थे। इन्हें यह यज्ञ याद दिलाता है कि पुनरपि उसी साम्यवादी अवस्था को प्राप्त करना है। यज्ञ का अर्थ है भी बहुत व्यापक, जैसा कि पहले ही भाग में लिखा जा चुका है। इन श्लोकों ने सभी वर्णों के स्वभावों का अच्छा चित्र खींचा है।

यहीं पर एक बात और जानने की है जिसका ताल्लुक वर्णसंकर से हैं। जब एक बार वर्णों का विभाग हो गया तो इस बात की पूरी व्यवस्था कर दी गयी कि फिर खिचड़ी होने न पाये—फिर ऐसा न हो कि वर्णों की खिल्लत-मिल्लत हो जाय। चाहे इस बात पर कितने ही आक्षेप किये जायँ—और दुनिया में निर्दोष तो कुछ भी नहीं है—लेकिन ऐसा करने में उनका एक खास मतलब था। वे यह मानते थे और आज के अन्वेषण तथा विज्ञान से भी यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जो काम पुश्त दर पुश्त से होता रह जाय वह एक प्रकार का स्वभाव बन जाता है। फलतः पीछे चल के जो लोग उस वंश में पैदा होते हैं वह उस काम में क्रमशः ज्यादे से ज्यादा विशेषज्ञ होते जाते हैं। बढ़ई का पेशा जिन वंशों में होता हो उनके बच्चे स्वभावतः उस कार्य में कुशल होते हैं। वे उसके सम्बन्ध में नये-नये आविष्कार आसानी से कर लेते हैं। कर सकते हैं। यही बात दूसरे पेशों, दूसरे कामों की भी है।

यही कारण है कि वर्णों के लिए जो व्यवस्था बनी उसमें विवाह-शादी और खान-पान की बड़ी सख्ती रखी गयी। असल चीज है रक्त की शुद्धि जिसका मतलब यही है कि यदि उसी पेशे या काम के माँ-बाप होंगे और उनमें जरा भी गड़बड़ी न होगी, जैसी कि पशु-पक्षियों में पायी जाती है कि एक ही ढंग के पशु-पक्षियों के जोड़े लगते हैं, तो उनसे जो बच्चा होगा उसका संस्कार उस पेशे के बारे में और भी तेज होगा। वह उस काम में साधारणतः और भी कुशल होगा—कम से कम उसकी कुशलता का सामान तैयार तो होगा ही। विभिन्न वर्णों की परस्पर विवाह-शादी को सख्ती से रोकने का यही अभिप्राय था। जब कहीं उस रोक में कुछ ढिलाई भी की तो उसे ठीक न कह के वासनायुक्त शादी—कामतस्तु प्रवृत्तानां—कह दी। आखिर ब्राह्मण पिता और क्षत्रिया माता या विपरीत माता-पिता से जो सन्तान होगी वह किसका संस्कार रखेगी? दोनों के तो संस्कार दो ढंग के ठहरे जो मेल खाते नहीं। अब अगर परस्पर विरोध हो गया तो दोनों ही एक दूसरे को खत्म ही कर देंगे। खान-पान वगैरह की सख्ती भी इसी संस्कार की ही मजबूती और रक्षा से ताल्लुक रखती है और स्वास्थ्य से भी। उस स्वास्थ्य का आखिरी असर भी संस्कारों की ही मजबूती पर पड़ता है।

जिस प्रकार चित्र में तीन चीजें होती हैं। एक तो आधारभूत कागज, दीवार या कपड़ा वगैरह। दूसरा उसी पर रंग भरना। तीसरा किसी ढाँचे (Frame) के भीतर लगा के रखना। इनमें फ्रेम या ढाँचे तो सिर्फ रक्षार्थ है। ताकि बाहरी हवा-पानी से रंग फीका न पड़े या घिस न जाये। आधारवाले कागज वगैरह भी जरूरी हैं। अगर वे ठीक न हों तो न रंग ठीक भरेगा और न चित्र ठीक उतरेगा। मगर रंग भरना

यही असली चित्रकारी है, चित्र है। फिर भी आधार भी जरूरी है और किसी हद तक बाहरी शीशे आदि का ढाँचा या फ्रेम भी।

यही बात वर्णों की भी समझिये। एक ही काम या पेशेवाले माँ-बाप का होना आधार स्वरूप कागज या दीवार की तरह है। आखिर छायाचित्र या फोटो सभी शीशों पर नहीं उतरता। उसके लिए खास ढंग की शीशे वाली पटरी (Plate) चाहिए। संस्कार की बात भी कुछ उसी से मिलती-जुलती है। उसके बाद जो सन्तान हो उसे उचित शिक्षा आदि देना यही रंग भरना है और यही असल चीज है, असल चित्र है। खान-पान आदि का संयम और विवाह-शादी की सख्ती तीसरी चीज है जो ढाँचे या फ्रेम का काम देती है। इसीलिए प्राचीन स्मृतिकारों ने लिखा है कि "तपः श्रुतं च योनिश्च एतद् ब्राह्मण कारणम्। तपः श्रुताभ्यां मोहीनो जाति ब्राह्मण एव सः" (पातंजल महाभाष्यः 5।1।115) "संयम, सदाचार आदि तप, विद्या और ब्राह्मणी ब्राह्मण से जन्म ये तीनों मिलके ब्राह्मण बनाते या पक्की ब्राह्मणता लाते हैं। इसीलिए जिनमें तप और विद्या न हो वह नाममात्र के—कहने के ही लिए—ब्राह्मण हैं।" यही बात क्षत्रियादि के सम्बन्ध में भी है। महाभाष्य के शुरू में ही पतंजलि ने जो कहा है कि ब्राह्मण का तो बिना किसी कारण या प्रयोजन के ही वेद-वेदांग को पढ़ना और जानना कर्तव्य है—"ब्राह्मणेन हि अकारणो धर्मः षडगोवेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" उसका भी यही मतलब है। बिना ऐसा किये वह ब्राह्मण होई नहीं सकता।

इससे वर्णों के निर्माण की बुनियादी बात का पता चल गया और मालूम हो गया कि उनकी क्या जरूरत थी। आज तो ऐसा पतन हो गया है कि सारी चीजें धोखे की टट्टी और मौरूसी बन गयी हैं। ब्राह्मणादि बनने का दावा तो अन्ध परम्परा की चीज हो गयी है। वर्णों में छोटे-बड़ेपन का भूत ऐसा घुस गया है और नीच-ऊँच की बात हमारे दिमाग में इस कद्र घर कर गयी है कि कुछ कहा नहीं जाता। ये निराधार बातें कहाँ से कैसे घुस गयीं यह कहना मुश्किल है। मगर पतन के साथ ऐसा होता ही है यह निर्विवाद है। पहले तो विश्वामित्रादि के सम्बन्ध में इस नियम का अपवाद भी होता था। मगर अब तो नियम का मूल मिट्टी में मिलाकर जब सारी बातें अन्ध परम्परा एवं मूर्खता के ही आधार पर बनी हैं तो वह अपवाद भी जाता रहा! जैसा कि पहले कहा जा चुका है और अभी-अभी कहा है, वर्ण विभाग के भीतर नीच-ऊँच या छोटे-बड़े की तो बात कभी आयी ही नहीं। यह तो दिल-दिमाग की बनावट के अनुसार स्वाभाविक प्रवृत्ति देख के ही सामाजिक कामों का बँटवारा मात्र था, जिसने समाज की रक्षा और प्रगति निराबाध रूप से उस जमाने में हो सके जब आज जैसी परिस्थिति न थी।

यही कारण है कि वर्णसंकर को उस समय बहुत बुरा मानते थे। क्योंकि किसी पेशे या वर्ण की माँ और किसी के बाप के संयोग से जो सन्तान होगी वह साधारणतः समाज की प्रगति में सहायक हो सकती नहीं। अपवादस्वरूप कुछ लोगों में भले ही

कुछ खास बातें हो जायँ। मगर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह व्यवस्था लक्ष-लक्ष लोगों के लिए आम तौर से थी और यह बात दूसरे ढंग से हो सकती न थी। सभी लोगों के लिए खास ढंग की व्यवस्था का प्रबन्ध होना असम्भव था। क्योंकि विभिन्न वर्गों की जोड़ी (Cross breeding) बड़ी ही कठिन चीज है यदि सफलता लानी हो। इसीलिए आम तौर से उसे चला नहीं सकते। मगर जब सभी क्षत्रिय मर्द मर जायें तो आखिर होगा क्या? वर्णसंकर तो होगा ही या ज्यादे से ज्यादा गये गुजरों से सन्तानें होंगी जो वर्णसंकर से भी बुरी चीज होगी। यही कारण है कि अगले श्लोक में इस वर्णसंकर का नतीजा बताया है कि कुल के नाशक और समस्त कुल—दोनों ही—नरक में जाते हैं। इसका सीधा मतलब यही है कि सभी का पतन हो जाता है। नरक तो पतन, नीचे गिरने अवनति या फजीती और कष्ट की दशा को ही कहते हैं और यही बात वर्णसंकर के करने से होती है। जब सारा समाज ही पतित हो जायगा, नीचे जा गिरेगा तो अकेला आदमी, जिसने कुल क्षय के द्वारा यह दशा ला दी, कहाँ जायगा, कैसे रहेगा? उसे भी तो आखिर पतितों एवं गिरे हुओं के साथ ही रहना और व्यवहार करना होगा। समाज में अकेला तो कोई कुछ कर नहीं सकता। यह तो लम्बी शृंखला है जिसकी एक-एक लड़ी हरेक व्यक्ति है। नतीजा यह होगा कि उन्नति के सभी मार्गों के अवरुद्ध होने से वह भी नीचे जा गिरेगा। पुरानी कहानी है कि किसी राजा का बच्चा दिन-रात किरातों में रहने से पूरा किरात ही बन गया था।

यही वजह है कि आगे जातिधर्म और कुलधर्मों का नाश लिखा है। वह रहने कैसे पायेंगे। उनकी तो बुनियाद ही जाती रही। एक तो उनके जाननेवाले ही नहीं रहे। और अगर कोई किसी प्रकार बचे भी तो जब समाज का समाज पथभ्रष्ट हो गया, तो वह भी उसी गढ़े में लाचार गिरेंगे ही। ऐसी हालत में कला, कौशल, कारीगरी, हुनर, हिकमत का पता कहाँ होगा? इन चीजों की विशेषज्ञता कैसे रह सकेगी और कहाँ?

जो पुरानी पोथियों में पिण्डदान और तर्पण की बात कही गयी है और जिसका उल्लेख आगे गीता में भी इसी सिलसिले में आया है कि वह भी चीज़ें चौपट हो जायँगी। वह भी ठीक ही है। ये चीजें तो व्यष्टि का समष्टि के साथ—व्यक्ति का समाज के साथ—होने वाली एकता की सूचक हैं। इसीलिए साँप, बिच्छू, अनाथ, अनजान में मरे आदि का भी तर्पण-श्राद्ध करते हैं। मन्त्रों में ऐसा ही लिखा है। इस तरह भूत, भविष्य, वर्तमान सभी के साथ हम अपनी तन्मयता और एकता का अनुभव करते हैं, अभ्यास करते हैं। यही है गीताधर्म जैसा कि कह चुके हैं। मगर जब अवनति के गर्त्त में जा गिरेंगे तो यह बात कैसे होगी। फलतः समाज विशृंखलित हो के नीचे गिरेगा। फिर तो ऊपर वाले लोग या पितर भी गिरेंगे ही। वे अलग कैसे रहेंगे? देव-पितर हमसे जुदा तो हैं नहीं।

8. ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव

गीता के 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' (13।4) में बहुत से लोग ब्रह्मसूत्र का शारीरकसूत्र या वेदान्तदर्शन के सूत्र यही अर्थ करते हैं। क्योंकि ब्रह्मसूत्र शब्द एक प्रकार से वेदान्तसूत्रों का नाम ही है। मगर शंकर ने अपने भाष्य में ऐसा न करके ब्रह्म के प्रतिपादक वचन का ही अर्थ किया है। क्योंकि वेदान्तसूत्र के अर्थ करने में एक भारी दिक्कत है। ऐसा अर्थ करने पर गीता से पहले ही वेदान्तसूत्रों का अस्तित्व उपनिषदों और वेदों की ही तरह मानना पड़ जायगा। तभी तो इन सबों का उल्लेख गीता में सम्भव है। किन्तु ऐसा मानने में अड़चन यह है कि ब्रह्मसूत्रों में ही कई जगह स्मृति शब्द से साफ ही गीता का उल्लेख आया है। खासकर 'अंशोनानाव्य-पदेशात्' (वेदां. 2।3।43) में जीव को परमात्मा का अंश लिख के उसमें प्रमाणस्वरूप गीता के 'ममैवांशो जीवलोके' (15।7) का उल्लेख 'अपि च स्मर्यते' (2।3।45) सूत्र में स्मृति शब्द से किया है। यहाँ दूसरी स्मृति की सम्भावना हई नहीं, यह सभी मानते हैं। इसी प्रकार गीता में 'यत्र काले त्वनावृत्तिम' (8।23-27) में जो उत्तरायण-दक्षिणायन का वर्णन है उसी का उल्लेख 'योगिनः प्रति च स्मर्यते' (4।2।21) में आया है। क्योंकि गीता में भी 'आवृत्तिं चैव योगिनः' (8।23) में यही 'योगिनः' शब्द आया है। इस प्रकार जब गीता का स्पष्ट और असंदिग्ध उल्लेख ब्रह्म-सूत्रों में है; तो मानना पड़ेगा कि ब्रह्म-सूत्रों से पहले ही गीता थी। फिर गीता में ब्रह्म-सूत्रों का उल्लेख कैसे सम्भव एवं युक्तियुक्त हो सकता है? इसीलिए हमें ब्रह्म-सूत्र का वैसा अर्थ करना पड़ा है।

लेकिन कुछ लोग फिर भी इसे न मान के वेदान्त सूत्र ही अर्थ कर डालते हैं। वे इस दिक्कत का सामना करने के लिए दो महाभारत और इसीलिए दो गीताएँ मानते हैं। उनके मत से पहले महाभारत न लिखा जा के भारत ही लिखा गया था। उसी में गीता भी थी। उसी के बाद वेदान्त सूत्र बने और उनमें गीता को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया। इसके बाद समय पा के भारत तखड़-पखड़ और छिन्न-भिन्न हो गया। इसीलिए व्यास ने उसे फिर से एकत्र किया और कुछ इधर-उधर से उसमें जोड़ा-जाड़ा भी। इसी से भारत का अब महाभारत हो गया। आखिर बड़ा

होने का कोई कारण भी तो चाहिए और जब तक उसमें कुछ और न जुटता तब तक वह भारत ही न कहा जा के महाभारण क्यों कहा जाता? इस प्रकार तर्क-युक्ति के साथ वे महाभारत का पुनर्निर्माण मानते हैं। या यों कहिए कि भारत में ही संशोधन और संवर्धन करके उसे महाभारत बनाते हैं। गीता भी उसी में थी। इसलिए स्वभावतः उसमें भी जरामरा संशोधन हुआ और यह 'ऋषिभिर्बहुधा' श्लोक उसी संशोधन के फलस्वरूप पीछे से उसमें जुट गया। इस प्रकार यह महाभारत वेदान्त-सूत्रों के बाद ही तैयार होने के कारण गीता में वेदान्तसूत्रों का उल्लेख 'ब्रह्मसूत्र' शब्द से होने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। यही है संक्षेप में उनके तर्कों और युक्तियों का निचोड़।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि महाभारत को भारत का संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप ही मानें और बड़ा होने से ही उसका नाम भी युक्ति-युक्त मानें, तो सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्म और पाणिनीय सूत्रों के पातंजल महाभाष्य के बारे में क्या कहा जायगा? यह तो सभी संस्कृतज्ञ जानते हैं कि सामवेद के ब्राह्मण भाग को अन्य वेदों के ब्राह्मण भागों की तरह केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण, वाजसनेय ब्राह्मण आदि जैसा न कह के ताण्ड्य महाब्राह्मण कहते हैं। इसी तरह व्याकरण के भाष्य को महाभाष्य ही कहते हैं। इतना बोलने से ही और भाष्यों को न समझ केवल पातंजल भाष्य ही समझा जाता है। तो क्या इसी दलील से यह भी माना जाय कि पहले छोटा सा ताण्ड्य ब्राह्मण और छोटा पातंजल भाष्य बना था, पीछे उन्हीं दोनों का आकार बढ़ाया गया? लेकिन यह तो कोरी कल्पना ही होगी न? कहा जाता है कि आश्वलायन गृह्यसूत्र (3।4।4) में भारत और महाभारत दोनों ही का उल्लेख है। इसीलिए इन दो की कल्पना की गयी है। मगर ताण्ड्य या पातंजल भाष्य के बारे में तो ऐसा कोई आधार नहीं है। यह भी बात है कि भारत एवं महाभारत दो तो मिलते नहीं। महाभारत ही तो मिलता है। और जब उसी में कुछ और जोड़ा गया है तो दो लिखने या कहने के मानी क्या? जब तक जुदे-जुदे पाये न जायें, दो कैसे कहे जा सकते हैं? आखिर गृह्यसूत्रों का समय उपनिषदों, ब्राह्मणों या वेदों से पुराना तो है नहीं। फलतः यदि उस समय भारत और महाभारत दोनों थे तो और ग्रन्थों की तरह दोनों का पता तो चाहिए आज भी। नहीं तो गीता भी दो क्यों न मानी और लिखी जाय, लिखी जाती? सिर्फ एक सूत्र ग्रन्थ में एक शब्द को लिखा या छपा देख के इतनी लम्बी उड़ान उचित नहीं। लिखने और छपने में भूल से एक ही नाम, एक ही शब्द दो बार लिख या छप जाते हैं। ऐसा प्रायः देखा जाता है। हाँ, यदि विभिन्न समयों के लिखे और छपे दो-चार सूत्रग्रन्थों में ऐसी चीज मिलती, तो शायद कुछ कहा जा सकता था।

यह भी तो जरा सोचें कि महात्मा और महेश्वर शब्द पहुँचे हुए बड़े लोगों या भगवान् के लिए प्रयुक्त होते हैं। मगर इसका यह आशय नहीं होता कि खामख्वाह

महात्माओं के पहले आत्मा शब्द से भी किसी को कहा जाता था, या भगवान् को महेश्वर कहने के पहले जरूर ही औरों को ईश्वर कहते थे। भगवान् की सत्ता तो सबसे पहले मानी जाती है। फिर उससे पहले कैसे कोई हुआ? 'मायिनं तु महेश्वरम्' (4।10) में श्वेताश्वतर उपनिषद् ने ब्रह्म को ही महेश्वर कहा है। मगर वहाँ ईश्वर का कोई मुकाबिला है नहीं। क्योंकि उसी उपनिषद् में और वेदों में भी महेश्वर को ही ईश्वर भी कहा है। आत्मा नाम से न तो किसी को कभी बोलते ही और न यह विशेषण ही किसी में लगाते हैं। स्वभावतः ही महान् होने से ही महात्मा या महेश्वर कहने की परिपाटी पड़ गयी है। इसी प्रकार ताण्ड्य, पातंजल भाष्य और महाभारत को भी स्वभावतः बहुत बड़े होने के कारण ही महाब्राह्मण, महाभाष्य और महाभारत कहने लग गये। यहाँ बाल की खाल खींचने की जरूरत हई नहीं। उसी में उसे कहीं भारत और कहीं महाभारत लिखा है।

जरा यह भी तो सोचें कि भारत में महज थोड़ा-बहुत जोड़ने से ही तो महाभारत होता नहीं। इसके लिए तो जरूर ही बहुत ज्यादा जोड़-जाड़ करना होगा। जहाँ अपेक्षाकृत महत्ता दिखानीं होती है तहाँ पहले से दूसरे में बहुत ज्यादा अन्तर का होना अनिवार्य है। जाल और महाजाल इस बात के मोटे दृष्टान्त हैं, समुद्र में डाले जाने वाले महाजाल के भीतर जाने कितने ही जाल आसानी से समा सकते हैं, आ सकते हैं। अन्य मारक-बीमारियों की अपेक्षा हैजा या प्लेग को हजार गुना मारक और खतरनाक समझ के ही इन्हें महामारी कहते हैं। ऐसी दशा में भारत की अपेक्षा महाभारत में बहुत ज्यादा—कई गुना—पदार्थ घुसाने से ही उसे महाभारत कह सकते थे। फिर तो दोनों की पृथक् सत्ता अनिवार्य है। यह असम्भव है कि महाभारत के रहते भारत सर्वथा लुप्त हो जाये। वराहमिहिर के वृहज्जातक के रहते लघुजातक कहीं गायब नहीं हो गया। और न मंजूषा के रहते व्याकरण की लघुमंजूषा कहीं चली गयी। वराहमिहिर की बृहत्संहिता के मुकाबिले में उनकी कोई लघुसंहिता या केवल संहिता नहीं मानी जाती। महान् तथा बृहत् का एक ही अर्थ है भी। सबसे बड़ी बात यह हो जायगी कि गीता में भी तब बहुत ज्यादा परिवर्तन मानना होगा। यह नहीं हो सकता कि जो गीता भारत में थी वही जरा-मरा परिवर्तन के साथ महाभारत में आ गयी!

परन्तु गीता के बारे में ऐसा कह सकते नहीं। यह इतनी लोकप्रिय रही है कि इसमें एक शब्द का प्रक्षेप होना या मिलाना असम्भव हो गया है। तेरहवें अध्याय में एक श्लोक घुसेड़ने की कोशिश कभी किसी ने की जरूर। लेकिन वह सफल न हो सका। वैदिक मन्त्रों, ब्राह्मणों या प्रधान उपनिषदों में जैसे कोई प्रक्षेप होना सम्भव न हुआ, वही हालत गीता की भी रही है। मालूम होता है, उन्हीं की तरह इसे भी लोग जबान पर ही रखते थे। इसकी भी 'श्रुति' जैसी ही दशा रही है। प्रत्युत इसमें तो और भी विशेषता है कि वेदों और उपनिषदों को प्रायः भूल जाने पर भी इसे लोग भूल न सके। आज भी वैसा ही मानते हैं, पढ़ते-लिखते हैं, कद्र करते हैं। जैसा

कि पहले करते थे। इसलिए यदि कभी किसी भी हालत में इसमें एक भी शब्द या श्लोक जोड़ा जाता तो खामख्वाह पकड़ा जाता, यह पक्की बात है। किन्तु 'ऋषिभिर्बहुधा' श्लोक के बारे में ऐसी धारणा किसी की भी पायी नहीं जाती। यही कारण है कि सात या ज्यादा श्लोकों की छोटी-छोटी गीताओं के थोड़ा-बहुत प्रचार होने पर भी, ऐसी गीता नहीं पायी जाती जिसमें यह 'ऋषिभिर्बहुधा' या ऐसे ही कुछ श्लोक न हों। भारत को ही महाभारत मनाननेवाले भी तो नहीं बताते कि कितने श्लोक इसमें पीछे जुटे थे। इसलिए यह सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता।

एक बात और। छान्दोग्य के सातवें अध्याय में कई बार इतिहास, पुराण आदि का उल्लेख है। इसी प्रकार वृहदारण्यक के दूसरे अध्याय में भी इतिहास, पुराण, सूत्र, व्याख्यान आदि का उल्लेख चौथे ब्राह्मण में आया है। तो क्या इससे यह समझें कि सचमुच वेदान्तसूत्रों की तरह इनसे पहले भी सूत्रग्रन्थ और आज के इतिहासों और पुराणों की ही तरह पहले भी इतिहासपुराण थे? क्या पहले भाष्य और व्याख्यान भी ऐसे ही थे यह माना जाय? यह तो सभी मानते हैं कि पुराणों का समय बहुत इधर का है। सूत्रों का समय भी ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद का ही है। फिर यह कैसे माना जाय कि इस प्रकार आमतौर से सूत्रों और उनके व्याख्यानों का उल्लेख करने मात्र से वे भी ब्राह्मण ग्रन्थों से पहले थे? खूबी तो यह है कि जब एक ही तरह का उल्लेख कई उपनिषदों में मिलता है तो मानना ही होगा कि वे सूत्र और व्याख्यान प्रसिद्ध होंगे और ज्यादा संख्या में होंगे। इतिहास-पुराण भी काफी होंगे। ऐसी दशा में इन शब्दों का रूढ़ अर्थ न मान के यौगिक ही मानने में गुजर है। जैसा कि इस श्लोक में हमने ब्रह्मसूत्र शब्द का अर्थ रूढ़ न करके यौगिक ही किया है। दूसरा उपाय हई नहीं। इसलिए हमने जो अर्थ इस श्लोक का लिखा है वह कोई एकाएक नयी कल्पना नहीं है। किन्तु ऐसी कल्पना पहले भी होती आयी है। शंकर ने उसी का अनुसरण किया है। बेशक, यह विषय और भी अधिक विवेचन चाहता है। मगर वह यहाँ के लिए नहीं है। किन्तु आगे होगा।

लेकिन दो एक ऐसी बातें और भी यहीं कह देना जरूरी है जिनके बारे में विशेष अन्वेषण एवं जाँच-पड़ताल की जरूरत नहीं है। सबसे पहली बात यह है यह जानते हुए भी कि ब्रह्मसूत्रों ने गीता को ही प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है, गीताकार के लिए यह कब सम्भव था कि उन्हीं ब्रह्म-सूत्रों को प्रमाण के रूप में स्वयं उद्धृत करते? यह तो बिलकुल ही अनहोनी बात है। व्यवहार में तो यह बात कभी देखने में आती नहीं। चाहे कितनी ही महत्त्वपूर्ण और बड़ी पोथी क्यों न हो। मगर ज्यों ही एक बार उसने किसी दूसरी को अपनी बातों के समर्थन में उद्धृत किया कि उसके सामने उसकी अपनी महत्ता वैसी नहीं रह जाती। फलतः कोई भी समझदार आदमी इस दूसरी के समर्थन में पहली की किसी बात को प्रमाण-स्वरूप पेश नहीं करता, पेश करने की हिम्मत नहीं करता। फिर गीता जैसे महान् ग्रन्थ में ऐसी बात

का होना कथमपि सम्भव होगा यह कौन माने?

दूसरी बात भी इसी से मिलती-जुलती ही है। जो लोग यह मानते हैं कि ज्ञानोत्तर कर्म करना गीता के मत से अनिवार्य है, जिनके मत से गीता की आवश्यकता ही इसीलिए हुई थी, वही यह भी मानते हैं कि उस समय "ज्ञानोत्तर कर्म करना अथवा न करना, हर एक की इच्छा पर अवलम्बित था, अर्थात् वैकल्पिक समझा जाता था" (गीतारह. पृ. 554)। वे इसके सम्बन्ध में उन्हीं वेदान्तसूत्रों या ब्रह्म-सूत्र (3।4।15) को प्रमाण के लिए उद्धृत भी करते हैं। ऐसी दशा में यह बात तो समझ में आ जाती है कि ब्रह्म-सूत्र गीता को अपने समर्थन में उद्धृत कर लें। लेकिन गीता में उन्हीं ब्रह्म-सूत्रों का हवाला कैसे दिया जा सकता है? क्योंकि ज्यों ही यह बात हुई कि गीता पढ़नेवालों की नजर में उन सूत्रों की महत्ता आ जायगी। फलतः ऐसे लोग वेदान्तसूत्रों की उन बातों पर भी स्वभावतः आकृष्ट होंगे ही जिनमें ज्ञानोत्तर कर्म करना जरूरी नहीं माना गया है। परिणाम क्या होगा? यही न, कि गीता में भी वही चीज मानने की ओर उनकी प्रवृत्ति हो जायगी? अतएव बड़ी मुसीबत और कठिनाई के बाद गीतारहस्य में जो यह सिद्ध करने की कोशिश की गयी है कि ज्ञानोत्तर कर्म करते-करते ही मरना गीताधर्म और गीतोपदेश है, उसकी जड़ में ही इस प्रकार कुठाराघात हो जायगा। जिस बात की पुष्टि के लिए यह चीज पेश की गयी उसी को कमजोर करने लगेगी! और खुद गीता अपने ही सिद्धान्त को दुर्बल करने का रास्ता इस तरह ब्रह्मसूत्र का नाम लेकर साफ कर दे, यह असम्भव है।

एक तरफ तो यह कहा जाता है कि महाभारत का तथा उसी के भीतर आ जाने वाली गीता का भी निर्माण 'बुद्ध के जन्म के बाद—परन्तु अवतारों में उनकी गणना होने के पहले ही' हुआ होगा। इसीलिए विष्णु के अवतारों में बुद्ध की गणना महाभारत में कहीं पायी नहीं जाती। गीतारहस्य में यह भी माना गया है कि यद्यपि महाभारत के युद्ध के समय भागवत धर्म का उदय हो गया था। तथापि उसकी प्रधान पोथी के रूप में इस गीता की रचना तत्काल न हो के प्रायः पाँच सौ वर्ष बाद हुई होगी। क्योंकि किसी भी सिद्धान्त या धर्म के प्रतिपादक ग्रन्थ फौरन न बन के पीछे बनते हैं। इसी से पाँच सौ साल इसके लिए मान लिया है। मगर ब्रह्मसूत्रों (2।2।18-26) का हवाला दे के उनने यह भी लिखा है कि "आत्मा या ब्रह्म में से कोई भी नित्य वस्तु जगत् के मूल में नहीं है। जो कुछ देख पड़ता है वह क्षणिक या शून्य है," अथवा "जो कुछ देख पड़ता है वह ज्ञान है, ज्ञान के अतिरिक्त जगत् में कुछ भी नहीं है, इस निरीश्वर तथा अनात्मवादी बौद्ध मत को ही क्षणिकवाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद कहते हैं" (गीता र. 580)। भला ये दोनों बातें कैसे सम्भव होंगी यदि ब्रह्मसूत्रों को गीता के पहले मान लें? क्योंकि बुद्धधर्म के भीतर इन अनेक मतों और पन्थों के खड़े होने और उनके ग्रन्थों के बनने में तो कई सौ साल लगे ही होंगे और बिना प्रामाणिक बात के केवल मौखिक बातों में तो खण्डन ब्रह्मसूत्र जैसा ग्रन्थ

करता नहीं। इस तरह यदि बुद्ध के बाद पाँच सौ साल भी इन बातों के लिए मान लें तो ब्रह्मसूत्रों का समय सन् ईस्वी के आरम्भ में ही माना जायगा। फिर गीता ने उन्हें कैसे उद्धृत किया या हवाले में दिया?

एक ही बात और। "सुमन्तु जैमिनि वैशंपायन पैल सूत्र भाष्य भारत महाभारत धर्माचार्याः" (3।4।4) इसी आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत देख के कल्पना की गयी है कि दोनों दो हैं। इस सूत्र में पहले जो सुमन्तु आदि नाम आये हैं उन्हीं का सम्बन्ध भारत महाभारत से जोड़ते हुए उनने लिखा है कि "इससे, अब यह भी मालूम हो जाता है, कि ऋषितर्पण में भारत महाभारत शब्दों के पहले सुमन्तु आदि नाम क्यों रखे गये हैं" (गी. र. 524)। मगर हमें अफसोस है कि ऐसा लिखते समय यह बात उन्हें कैसे नहीं सूझी कि नाम तो चार ही ऋषियों के आये हैं, मगर ग्रन्थ हो जाते हैं सूत्र, भाष्य, भारत, महाभारत और धर्म ये पाँच! हाँ, यदि यह मान लें कि भारत अलग न हो के भूल से महाभारत का ही 'भारत महाभारत' ऐसा लिखा गया है, तब ठीक हो सकता है। तभी चार ऋषियों के लिए क्रमशः चार ग्रन्थ आ सकते हैं और उन्हीं के आचार्य उन्हें मान सकते हैं। यह तो गीतारहस्य के लेखक भी नहीं मानते कि सभी ने पाँचों ग्रन्थ बनाये हैं। यह असम्भव भी है। धर्म शब्द शेष ग्रन्थों के साथ होने से ग्रन्थ का ही वाचक माना जाना भी चाहिए।

इस प्रकार इस विस्तृत विवेचन ने गुणवाद और अद्वैतवाद के सभी पहलुओं पर संक्षेप में ही इतना प्रकाश डाल दिया है कि उनके सम्बन्ध की गीता की सभी बातों को समझने में आसानी हो जायगी। इसके मुतल्लिक गीता की जो खास दृष्टि है—तत्त्वज्ञान एवं वास्तविक भक्ति में जो गीता की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु दोनों ही एक ही हैं—इस बात के निरूपण से इस चीज पर पूरा प्रकाश पड़ गया कि अद्वैतवाद और जगन्मिथ्यात्ववाद के विधानात्मक पहलू पर ही गीता का विशेष आग्रह क्यों है?

9. 'सर्व धर्मान्परित्यज्य'

अब हमें विशेष कुछ नहीं कहना है। फिर भी गीता के अठारहवें अध्याय के अन्त में जो "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" (66) श्लोक आया है उसके ही सम्बन्ध में कुछ लिखना हम जरूरी समझते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि अब तक के हमारे कथन ने उस पर प्रकाश नहीं डाला है। उसकी चर्चा तो बार-बार आयी है। यह भी नहीं कि हम कोई नयी बात खास तौर से यहाँ कहने जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में इतना कहा जा चुका है कि नयी बात मालूम पड़ती ही नहीं। यों तो गीता हीरा ठहरी। इसीलिए इसे जितना ही कसो, इस पर जितना ही विचार करो यह उतनी ही खरी निकलती है और इसकी चमक उतनी ही बढ़ती है। बात असल यह है कि एक तो अठारहवें अध्याय को ही गीता का उपसंहार-अध्याय माना जाता है। उसमें भी अन्त में यह श्लोक आया है। इसलिए गीता के उपसंहार का भी उपसंहार इसे मान के लोगों ने अपने-अपने मत और सम्प्रदाय के अनुसार इसके अर्थ की काफी खींच-तान की है। यदि यह कहें कि यह श्लोक एक प्रकार से गीतार्थ का कुरुक्षेत्र बना दिया गया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसलिए हम यहाँ यही दिखाना चाहते हैं कि साम्प्रदायिकता के आग्रह में गीता को उसके अत्यन्त महान् एवं उच्च स्थान से बेदर्दी के साथ घसीट के गहरे गढ़े में गिराने की कोशिश बड़े से बड़े विद्वान् भी किस प्रकार करते हैं। इसी बात का यह एक नमूना है। इसी से समूची गीता में की गयी खींच-तान और जबर्दस्ती का पता लग जायगा। हमारा काम यह नहीं रहा है कि इतने लम्बे लेख में किसी का भी खासतौर से खण्डन-मण्डन करें। हम इसे अनुचित समझते हैं। इसके लिए तो स्वतन्त्र रूप से लिखने का हमारा विचार है। मगर अन्त में थोड़ा सा नमूना पेश किये बिना शायद यह प्रयास अपूर्ण रह जायगा। इसीलिए यह यत्न है।

इस श्लोक का अक्षरार्थ तो यही है कि "सभी धर्मों को छोड़ के एक मेरी—भगवान् की—ही शरण में जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा। सोच मत कर।" गीता को तो उपनिषदों का ही रूप या निचोड़ मानते हैं और उपनिषदों में धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है कि उन्हें कैसे, कब और

क्यों छोड़ना चाहिए। 'त्यज धर्ममधम च' ये स्मृति वचन धर्म-अधर्म सभी के त्याग की बात कहते हैं। कठोपनिषद के भी 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (2।14) तथा 'नाविरतो दुश्चरितात्' (2।23) में धर्म-अधर्म सभी के छोड़ने की बात मिलती है। वृहदारण्यक (4।4।22) से धर्मों का संन्यास आवश्यक सिद्ध होता है यह हमने पहले ही सिद्ध किया है। आत्मा और उसके ज्ञान को न सभी झमेलों से बहुत दूर की बात इन वचनों ने कही है। इसके सिवाय गीता में ही 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः' (6।31), 'एकत्वेन पृथक्त्वेन' (9।15) आदि वचनों के द्वारा यही कहा गया है कि असली भजन या भक्ति यही है कि हम अपने को परमात्मा के साथ एक समझें और जगत् को भी अपना ही रूप मानें। यहाँ एक शब्द का अर्थ गीता ने स्पष्ट कर दिया है। यह भी बात है कि यद्यपि गीता का धर्म कर्म से जुदा नहीं है, बल्कि गीता ने दोनों को एक ही माना है; तथापि सभी कर्मों का त्याग तो असम्भव है। गीता ने तो कही दिया है कि "यदि सभी कर्म छोड़ दें तो शरीर का रहना भी असम्भव हो जाय"—"शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः" (3।8)। इसीलिए इस श्लोक में कर्म की जगह धर्म शब्द दिया गया है; हालाँकि इससे पहले के बीसियों श्लोकों में केवल कर्म शब्द ही पाया जाता है, धर्म-शब्द लापता है। इसीलिए परिस्थितिवश धर्म शब्द सामान्य कर्म के अर्थ में न बोला जाकर कुछ संकुचित अर्थ में ही यहाँ आया हुआ माना जाना उचित है। फलतः कुछ विस्तृत एवं व्यापक रूप में शास्त्रीय विधि-विधान के अनुसार ही यहाँ धर्म शब्द का अर्थ लिया जाना उचित प्रतीत होता है। दूसरे अध्याय के 'स्वधर्ममपि' (2।31) में जिस अर्थ में यह प्रयुक्त हुआ है, या खुद अर्जुन ने ही 'धर्मसंमूढ़चेताः' (2।7), 'कुलधर्माः सनातनाः' (1।40) आदि वचनों में जिस संकुचित अर्थ में इसे कहा है यहाँ भी वही अर्थ या उसी से मिलता-जुलता ही मान लेना ठीक है। छान्दोग्योपनिषद् में 'एकमेवाद्वितीयम्' (6।2।1) में ब्रह्म को एक कहा भी है।

इसीलिए शंकर ने अपने गीताभाष्य में धर्मशास्त्रीय बन्धनों को छोड़ के और उनमें लिखे धर्मों-अधर्मों से पल्ला छुड़ाके 'अहं ब्रह्मास्मि'—'मैं खुद ब्रह्म ही हूँ' इसी अद्वैतज्ञाननिष्ठा के प्राप्त करने का प्रतिपादन इस श्लोक में माना है। हम तो पहले अच्छी तरह बता चुके हैं कि बिना शास्त्रीय धर्मों को छोड़े या उनका संन्यास किये ज्ञाननिष्ठा गैरमुमकिन है। उसी जगह इस श्लोक का भी उल्लेख हमने किया है। यह भी बताई चुके हैं कि अठारहवें अध्याय के शुरू में जिस संन्यास और त्याग की असलियत और हकीकत जानने के लिए अर्जुन ने सवाल किया है वह संन्यास इसी श्लोक में स्पष्ट रूप से बताया गया है। इससे पहले 49वें श्लोक में सिर्फ उसका उल्लेख आया है। उससे पहले तो त्याग की ही बात को ले के बहुत कुछ कहा गया है। इसी श्लोक में जो 'परित्यज्य' शब्द आया है और जिसका अर्थ है 'परित्याग करके या छोड़के', उससे ही साफ हो जाता है कि अद्वितीय या जीव से अभिन्न ब्रह्म की

शरण जाने और उसका ज्ञान प्राप्त करने के पहले धर्मों को कतई छोड़ देना पड़ेगा। क्योंकि 'समान कर्त्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा' (3।4।21) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार पहले किये गये के मानी में ही 'क्त्वा' और 'ल्यप्' प्रत्यय हुआ करते हैं। परित्याग में त्याग के अलावे जो 'परि' शब्द है वह यही बताने के लिए है कि धर्म-अधर्म के झमेले से अपना पिण्ड कतई छुड़ा लेना होगा। विपरीत इसके अगर धर्म का अर्थ धर्मों का फल लेते हैं तो उसका त्याग तो भगवान् की शरण में जाने पर भी होता ही रहेगा। क्योंकि ऐसा अर्थ करनेवाले तो श्रवण, कीर्त्तन आदि नौ प्रकार की भक्ति को ही असल चीज मानते हैं। उनके मत से शरण जाने का अर्थ ही है यही नवधा—नौ प्रकार की—भक्ति करना। अन्य धर्मों को भी करते रहना वे मानते ही हैं। ऐसी दशा में उनके फलों का त्याग तो बाद में भी होता ही रहेगा। फिर यह कहने के क्या मानी कि सभी धर्मों से अपना पिण्ड पहले ही छुड़ा लो, अगर धर्मों का अर्थ है उनका फलमात्र?

अब जरा दूसरों का अर्थ भी देखें। मध्वसम्प्रदाय के आचार्य अपने इसी श्लोक के भाष्य में लिखते हैं कि 'यहाँ धर्मों के त्याग का अर्थ है उनके फलों का ही त्याग, न कि खुद धर्मों का ही। क्योंकि तब युद्ध करने की जो आज्ञा दी गयी है वह कैसे ठीक होगी। इसके अलावे खुद गीता के अठारहवें अध्याय के 11वें श्लोक में तो कही दिया है कि जो कर्मों के फलों का त्याग करता है उसे ही त्यागी कहते हैं—'धर्मत्यागः फलत्यागः। कथमन्यथा युद्धविधिः?' 'यस्तुकर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयत' इति चोक्तम्।'

रामानुज-सम्प्रदाय के आचार्य स्वयं रामानुज के भाष्य में भी कुछ इसी तरह की बात लिखी गयी है। वह कहते हैं कि "मुक्ति के साधन के रूप में जितने भी काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग के नाम से प्रसिद्ध हैं वे सभी भगवान् की आराधना ही हैं। इसलिए प्रेम के साथ जिसे जो धर्म करने को शास्त्रों ने कहा है उसे करते हुए ही पूर्व बताये तरीके से उनके फलों एवं कर्त्तृत्व के अभिमान को छोड़ के केवल हमीं को सबका कर्त्ता तथा आराध्यदेव मानो"—"कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोग—रूपान्सर्वान्धर्मान् परमनिः श्रेयससाधनभूतान् मदाराधनत्वेनातिमात्रप्रीत्या यथाधिकारं कुर्वाण एवोक्तरीत्या फलकर्मकर्त्तृत्वादिपरित्यागेन परित्यज्य मामेकमेव कर्त्तारमाराध्यं प्राप्यमुपायं चानुसन्धत्स्व।" "एष एव सर्वधर्माणां शास्त्रीय परित्याग"—"यही—फलादि का त्याग ही—सब धर्मों का शास्त्र रीति के अनुसार त्याग माना जाता है, न कि स्वयं धर्मों का त्याग ही।"

ये दो तो पुराने आचार्यों के अर्थ हुए। अब जरा हाल-साल के लोकमान्य तिलक के हाथों लिखे गये गीतारहस्य में माने गये अर्थ को भी देखें। वह पहले यह लिखते हैं कि "यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने व्यक्त स्वरूप के विषय में ही कह रहे हैं। इस कारण हमारा यह दृढ़ मत है कि यह उपसंहार भक्ति प्रधान ही है।" फिर कहते हैं कि "परन्तु इस स्थान पर गीता के प्रतिपाद्य धर्म के अनुरोध से भगवान् का यह

निश्चयात्मक उपदेश है कि उक्त नाना धर्मों के गड़बड़ में न पड़कर मुझ अकेले को भज, मैं तेरा उद्धार कर दूँगा, डर मत।" मगर आखिर में कहते हैं कि "मेरी दृढ़ भक्ति करके मत्परायण बुद्धि से स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले कर्म करते जाने पर इहलोक और परलोक दोनों जगह तुम्हारा कल्याण होगा; डरो मत।" इसे पढ़ने से तो एक अजीब झमेला खड़ा हो जाता है। एक ओर सब धर्म करते रहने की बात और दूसरी ओर उन्हें छोड़ने की बात! लेकिन तिलक ने कुछ खास धर्मों को यहाँ गिना के कहा है कि इन अहिंसा, दान, गुरुसेवा, सत्य, मातृपितृसेवा, यज्ञयाग और संन्याय आदि धर्मों को, जो परमेश्वर की प्राप्ति के साधन माने जाते हैं, छोड़ के साकार भगवान् की ही भक्ति करो। इस श्लोक के धर्म से उनका मतलब उन्हीं चन्द गिनेगिनाये धर्मों से ही है। उनने धर्म शब्द का अर्थ धर्मों का फल करना मुनासिब न समझ यह नवीन मार्ग स्वीकार किया है। कुछ नवीनता भी तो आखिर चाहिए ही।

हमने साम्प्रदायिक अर्थों की बानगी दिखा दी। यह ठीक है कि तिलक ने अपने अर्थ को साम्प्रदायिक नहीं माना है। बल्कि उनने शंकर, रामानुज आदि के ही अर्थों को साम्प्रदायिक कह के निन्दा की है। मगर साम्प्रदायिकता के कोई सींग-पूँछ तो होती नहीं। जो बात पहले से चली आती हो उसी का समर्थन करना यही तो साम्प्रदायिकता है। तिलक ने यही किया है भी। भक्तिमार्ग तो पुराना है। व्यक्त या साकार भगवान् की उपासना करना ही भक्तिमार्ग माना जाता है। तिलक ने न सिर्फ इसी श्लोक में, बल्कि गीतारहस्य में सैकड़ों जगह इसी भक्तिमार्ग पर जोर दिया है। वह तो गीता का विषय ही मानते हैं 'तत्त्वज्ञानमूलक भक्ति प्रधानकर्मयोग।' उनने भक्तिमार्गियों के ज्ञानकर्म-समुच्चय के समर्थन में भी बहुत ज्यादा जोर दिया है। यदि और नहीं तो गीतारहस्य के 'भक्तिमार्ग' तथा 'संन्यास और कर्मयोग' इन दो प्रकरणों को ही पढ़ के और खासकर रहस्य के 358-365 पृष्ठों को ही देख के कोई भी कह सकता है कि उसमें घोर साम्प्रदायिकता है। भक्तिमार्ग की आधुनिक वकालत तो ऐसी और कहीं मिलती ही नहीं। श्लोकों के अर्थ करने में प्राचीन लोगों की अपेक्षा कुछ नयी बात कह देने से ही साम्प्रदायिकता से पिण्ड छूट नहीं सकता। हरेक सम्प्रदाय के टीकाकारों में पाया जाता है कि वे लोग शब्दार्थ में कुछ न कुछ फर्क रखते ही हैं। वे प्रतिपादन की नयी शैली भी निकालते हैं। आखिर पुराने अर्थों एवं तरीकों में जो दोष विरोधी लोग निकालते हैं उनका समाधान भी तो करना जरूरी होता है।

हाँ, तो इन अर्थों पर विचार कर देखें कि ये कहाँ तक युक्तिसंगत और सही हैं। सबसे पहले तिलक की बात लें उनके अर्थ में दो बातें हैं। एक तो वे कृष्ण के साकार या व्यक्त स्वरूप की ही उपासना, पूजा या भक्ति का निरूपण इस श्लोक में मानते हैं। दूसरे धर्म का अर्थ कुछ खास धर्ममात्र करके सन्तोष कर लेते हैं। अब जहाँ तक व्यक्त कृष्ण की उपासना की बात है वह तो कुछ जँचती नहीं। चाहे और बातें कुछ हों या न हों, लेकिन क्या कृष्ण जैसे महान् पुरुष के लिए कभी भी

उचित था कि अपने व्यक्त स्वरूप की पूजा और उपासना की बात कहें? यह कितनी छोटी बात है! यह उनके दिमाग में आ भी कैसे सकती थी? वे ठहरे महान् विभूति। फिर इतनी सी मामूली बात को भी क्या वे समझ न सके कि खुद अपनी पूजा–प्रशंसा की बातें कितनी बुरी और निन्दनीय होती हैं? वे इतने नीचे उतरने की बात सोच भी कैसे सकते थे? उनकी ऐसी हिम्मत हो भी कैसे सकती थी? यदि यह मान लें कि उनने अपने साकार स्वरूप की उपासना की बात नहीं कह के भगवान् के ही वैसे रूप की भक्ति का उपदेश किया, तो फिर यह लिखने का क्या अर्थ है कि "यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने व्यक्त स्वरूप के विषय में ही कह रहे हैं?" इस वाक्य में 'श्रीकृष्ण अपने' इन शब्दों की क्या जरूरत थी? इनसे तो कृष्ण की अपनी ही प्रशंसा का प्रतिपादन सिद्ध होता है।

अच्छा, यदि यही मान लें कि भगवान् के ही व्यक्त रूप की उपासना है और कृष्ण अपने को भगवान् समझ के ही ऐसा उपदेश करते हैं; इसीलिए उन्हें अपनी व्यक्तिगत बड़ाई से कोई भी मतलब नहीं है; तो दूसरी ही दिक्कत आ खड़ी हो जाती है। यदि गीतारहस्य में लिखे इस श्लोक का शब्दार्थ पढ़ें तो वहाँ लिखा है कि "सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, डर मत।" यहाँ जो 'आ जा' लिखा गया है वह श्लोक के 'व्रज' का ही अर्थ है। मगर 'व्रज' का तो अर्थ होता है 'जा'। व्रज धातु तो जाने के ही अर्थ में है, न कि आने के अर्थ में। इसलिए जब तक श्लोक में 'आव्रज' नहीं हो तब तक 'आ जा' अर्थ होगा कैसे? यह तो उलटी बात होगी। हमने पहले भी यह लिखा है और बताया है कि उस दशा में इस श्लोक का क्या रूप बन जायगा। जब तक 'आ जा' या 'आओ' अर्थ नहीं करते तब तक अर्जुन के सामने खड़े कृष्ण के व्यक्त स्वरूप की शरण जाने की बात इस श्लोक से सिद्ध हो सकती ही नहीं। क्योंकि जब कृष्ण खुद सामने खड़े हैं तो अर्जुन से अपने बारे में 'मेरी शरण आ जा' यही कह सकते हैं। अगर 'मेरी शरण जा' कहें तब तो प्रत्यक्ष साकार रूप को छोड़ के अपने किसी और या निराकार रूप से ही उनका मतलब होगा। जो चीज सामने नहीं हो, किन्तु परोक्ष में या दूर हो, उसी के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसकी शरण में जाओ। परन्तु ऐसी चीज–कृष्ण का ऐसा परोक्ष स्वरूप–तो केवल वही निर्गुण निराकार ब्रह्म ही हो सकता है और यही अर्थ शंकर ने किया भी है। तो फिर इसीलिए शंकर पर तिलक के बहुत ज्यादा बिगड़ने और उन्हें खरी-खोटी सुनाने का मौका ही कहाँ रह जाता है?

दूसरी दिक्कत भी सुनिए। धर्म शब्द का इतना संकुचित अर्थ करने के लिए कारण क्या है? यदि इस प्रकार अर्थ किया जाने लगे तो क्या यह भद्दी खींचतान न होगी? जिस खींचतान का आरोप तिलक ने खुद शंकर पर बार-बार लगाया है उसके शिकार तो वे इस प्रकार स्वयं हो जाते हैं। इतना ही नहीं। स्वयं गीतारहस्य

के 440 और 848 पृष्ठों में महाभारत के अश्वमेध पर्व के 49 और शान्तिपर्व के 354 अध्यायों का हवाला दे के जिन खास-खास धर्मों को गिनाया है और जिनमें 'क्षत्रियों का रणांगण में मरण', 'ब्राह्मणों का स्वाध्याय', मातृपितृसेवा, राजधर्म, गार्हस्थ्य धर्म आदि सभी का समावेश है, उन्हीं के त्यागने की बात इस श्लोक में कही गयी है ऐसी मान्यता तिलक की है। तो क्या इससे यह समझा जाय कि अर्जुन को युद्ध करने से भी उनने रोका है? गृहस्थ धर्म से भी उन्हें हटाया है? माता-पिता की सेवा और क्षत्रिय के धर्म—राजधर्म—से भी उसे उनने रोका है और इन सबों को झंझट कहा है? यह तो अजीब बात होगी। युद्ध करने का आदेश बार-बार देते हैं, यहाँ तक कि उस श्लोक के पहले तक उसी पर जोर दिया है; और 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं' (4 । 13) तथा 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां' (18 । 41-44) में न सिर्फ वर्णों के धर्मों पर ही जोर दिया है, बल्कि उन्हें स्वाभाविक, 'स्वभावज' (Natural) कहा है। तो क्या अन्त में सब किये-कराये पर लीपा-पोती करते हैं? और अगर स्वाभाविक धर्मों के छोड़ने की बात का कहना माना जाय तो सिंह को अहिंसक होने की भी शिक्षा व्यावहारिक मानी जानी चाहिए। शंकर के अर्थ में तो यह दिक्कत नहीं है। क्योंकि वह तो ज्ञानोत्पत्ति के ही लिए धर्मों का त्याग कुछ समय के लिए जरूरी मानते हैं। वे ज्ञान के बाद का त्याग सबके लिए जरूरी नहीं मानते। मगर जो लोग ऐसा नहीं मान के धर्म करने की बात के साथ ही इन धर्मों के इमेले से छुटकारे की बात बोलते हैं उनके लिए ही तो आफत है। और अगर अर्जुन इस प्रकार के धर्मों को छोड़ ही दे तो फिर वह करेगा कौन से 'स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले कर्म?'

और भी तो देखिये। यदि कुछ इने-गिने धर्मों का ही त्याग करना इस श्लोक में बताया माना जाय, तो फिर धर्म शब्द के पहले सर्व शब्द की क्या जरूरत थी? 'धर्मान्' यह बहुवचन शब्द ही तो काफी है। उन धर्मों को इसी से समझ ले सकते हैं। ऐसी हालत में सर्व कहने का तो यही मतलब हो सकता है कि कहीं ऐसा न हो कि बहुवचन धर्म शब्द से कुछी धर्मों को ले के बस कर दें। इसीलिए सर्वधर्मान् कह दिया। ताकि गिन-गिन के सभी धर्मों को ले लिया जाय। पूर्व मीमांसा के कपिंजलाधिकरण नामक प्रकरण में 'कपिंजलानालभेत'—'कपिंजल पक्षियों को मारे', इस वचन में बहुवचन के खयाल से तीन ही पक्षियों की बात मानी गयी है। जब तीन पक्षी भी बहुत हईं और उतने ही लेने से 'कपिंजलान्', बहुवचन सार्थक हो जाता है, तो नाहक ज्यादा पक्षियों का संहार क्यों किया जाय? यही बात वहाँ मानी गयी है। वही यहाँ भी लागू हो सकती थी। इसीलिए 'सर्व' विशेषण सार्थक हो सकता है। मगर तिलक के अर्थ में तो यह एकदम बेकार है। उनने खुद गीतारहस्य में शब्दों के अर्थ में जगह-जगह बाल की खाल खींची है और दूसरों को नसीहत की है। मगर यहाँ? यहाँ तो वही 'खुदरा फजीहत, दीगरे रा नसीहत' हो गयी। यहाँ 'अन्यहिं राह दिखावहीं आप अँधेरे जाहिं'' वाली बात हो गयी!

सबसे बड़ी बात यह है कि गीता के उपदेश का यही आखिरी श्लोक है। इसके बाद जो बातें कही गयी हैं वे तो शिष्टाचार वगैरह की हैं कि गीता की ये बातें किन्हें सुनाई जायँ, किन्हें नहीं आदि-आदि। मगर इस श्लोक में जो पेचीदगी आ जाती है। उससे बात की सच्चाई के बदले घपला और भी बढ़ जाता है। यहाँ धर्म कहने से सभी धर्मों को लें या कुछेक को ही। यदि कुछेक को ही लेने की बात कहें तभी गड़बड़ होती है। सभी के लेने में तो रास्ता एकदम साफ है—कहीं रोक-टोक नहीं। कुछेक लेने में किन्हें लें, किन्हें नहीं, यह सवाल खामख्वाह खड़ा हो जाता है। यदि यह भी लिखा होता कि शान्ति पर्व या अश्वमेध पर्व के उन दो अध्यायों में लिखे धर्मों को ही ले सकते हैं, दूसरों को नहीं, तो भी काम चल जाता और घपला न होता। मगर ऐसा तो लिखा है नहीं। यहाँ तो धर्म शब्द से ही अटकल लगाना है कि किनको लें किनको न लें। ऐसी हालत में यदि कुछ ऐसे धर्म छूट गये जिन्हें लेना जरूरी है, या कुछ ऐसे लिए गये जिनका लेना ठीक नहीं, तो क्या होगा? तब तो सारा मामला ही गड़बड़ी में पड़ जायगा। ऐसा नहीं होगा यह कैसे कहा जाय? आखिर अटकलपच्चू बात ही तो ठहरी। फलतः अर्जुन का दिमाग साफ होने के बजाय और भी आगा-पीछा में पड़ जायगा—अगर ज्यादा नहीं तो कम से कम उतना आगा-पीछा में तो जरूर, जितना गीतोपदेश के शुरू में था। ऐसी हालत में इसके बाद ही अर्जुन का यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि "आपकी कृपा से मेरा मोह दूर हो गया, मुझे सारी बातें याद हो आयीं और अब मुझे जरा भी शक किसी भी बात में नहीं है; इसलिए आपकी बात मान लूँगा"—"नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मिगतसन्देहः करिष्ये वचनं तवं" (18। 73)? यह तो उलटी बात हो जाती है। अन्त में कृष्ण की आज्ञा क्या हुई इसका पता भी लगता नहीं। फिर उनकी किस बात को मानने का वादा अर्जुन ने किया? और जब रणांगण में मरनेवाला धर्म आखिर में छोड़ देने को ही कहा गया था तो अर्जुन कृष्ण की बात मान के लड़ने क्यों लगा?

गीतारहस्य में लिखे अर्थ के बारे में जो कुछ कहा गया है उससे शेष दो अर्थों की भी बहुत कुछ बातों पर प्रकाश पड़ जाता है। असल में रामानुजभाष्य में आगे एक दूसरा भी अर्थ किया गया है जो तिलक के अर्थ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। वहाँ धर्म का अर्थ कृच्छ्र, चान्द्रायण, वैश्वानर आदि अनेक यज्ञ-याग और व्रत विशेष ही किया गया है। इसीलिए जो बातें इस तरह के अर्थ में गीतारहस्य पर लागू हैं वही उस अर्थ पर भी। यह ठीक है कि तिलक ने एक ही धर्म शब्द के दो अर्थ कर डाले हैं। क्योंकि एक ओर तो वह कुछ गिने-चुने धर्मों को ही धर्म-शब्दार्थ मान के उनका त्याग चाहते हैं। लेकिन दूसरी ओर उसी शब्द का यह भी अर्थ करते हैं कि "स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले कर्म करते जाने पर।" इसीलिए उनके यहाँ ज्यादा गड़बड़ है। मगर धर्म शब्द का जो कुछ इने-गिने धर्मों से ही अभिप्राय माना गया है और उसके सम्बन्ध में जो आपत्ति हमने अभी-अभी बताई है वह तो दोनों पर ही लागू है।

एक बात और भी दोनों ही में समान रूप से पाई जाती है। यदि इस श्लोक के मध्व एवं रामानुज भाष्यों को उनके उन भाष्यों के साथ पढ़ें जो गीता के अन्यान्य श्लोकों के ऊपर और खासकर ग्यारहवें तथा बारहवें अध्याय के ऊपर लिखे गये हैं, तो पता लग जाता है, कि वे लोग सगुण ब्रह्म या साकार कृष्ण भगवान् की उपासना को ही इस श्लोक का विषय मानते हैं। ऐसी दशा में जो भी आपत्ति तिलकवाले अर्थ में 'व्रज' को ले के या और तरह से उठाई गयी है वह तो इनमें भी अक्षरशः लागू है। यह कहना कि गीता का पर्यवसान साकार भगवान् की शरणागति में ही है, दूसरा मानी नहीं रखता और इसमें घोर से घोर आपत्ति बताई जा चुकी है। हम तो पहले ही 'अहम्', 'माम्' आदि शब्दों के अर्थों को समझाते हुए बता चुके हैं कि उन शब्दों से साकार या व्यक्त कृष्ण को समझना असम्भव है—ऐसी कोशिश करना भारी से भारी भूल है। जो कुछ हमें इस सम्बन्ध में कहना था वही कह चुके हैं। उसे इन भाष्यों के भी सम्बन्ध में पूरा-पूरा लागू किया जा सकता है।

रह गयी इन दोनों भाष्यकारों की यह दलील कि धर्म का अर्थ उसका फल और कर्त्तृत्वादि है, न कि धर्म का स्वरूप; क्योंकि गीता के इसी अठारहवें अध्याय के शुरू में ही त्याग का यही अर्थ माना गया है। हमने पहले योग या कर्म तथा फल में अनासक्ति एवं बेलगाव की बात पर विचार करते हुए गीता के श्लोकों के बीसियों दृष्टान्त दिये हैं। उनके देखने से साफ हो जाता है कि गीता ने बार-बार कर्म और उसके फल का साथ-साथ वर्णन करके दोनों ही की आसक्ति को मना किया है। यही नहीं। 'सुखदुःखे समेकृत्वा' (2 । 38) जैसे अनेक श्लोकों में कर्म का जिक्र न भी करके उसके फलों को ही साफ-साफ लिखा और उनमें आसक्ति को सख्ती से रोका है। जैसा कि पहले विस्तार के साथ समदर्शन की बात कही जा चुकी है, यह समदर्शन कर्मों के सम्बन्ध में न हो के अनेक स्थानों पर कर्म के फलों से ही ताल्लुक रखता है। 'यदृच्छालाभसंतुष्टः' (4 । 22), 'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य' आदि (5 । 20-22), 'सुहृन्मित्रार्युदासीन' (6 । 9), 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' आदि (12 । 13 । 19) तथा 'उदासीनवदासीनः' आदि (14 । 23-25) श्लोकों को यदि गौर से देखा जाय तो कर्मों का जिक्र न भी करके फलों से ही अलग रहने की बात पर जोर देते हैं। दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ, बारहवें के भक्त और चौदहवें के गुणातीत—ये तीनों ही—हैं क्या यदि कर्मों के फलों से कतई निर्लेप रहने वाले लोग नहीं हैं?

इस प्रकार गीता ने असल चीज फल को ही माना है और उसी से बचने, उसी के त्याग और उसी की अनासक्ति पर खास तौर से जोर दिया है। यही कारण है कि कर्मों के साथ तो फलों को अलग लिखा ही है; मगर स्वतन्त्र रूप से भी जगह-जगह लिखा है। दूसरे अध्याय में जब गीता की अपनी चीज—योग—का स्वरूप उसे 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (2 । 47-48) में बताया है, तो फल को अलग कहने की जरूरत पड़ी है। उसके बिना काम चली नहीं सकता था। यदि उसे अलग नहीं कहते तो

योग ही चौपट हो जाता। उसकी असली शकल बन सकती न थी। गीता तो कर्म को न देख उसकी आसक्ति को ही देखती और उसी को रोकती है। उसी के साथ उसके फल की इच्छा और आसक्ति को भी हटाती है। यह बात हम बहुत अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं। यह भी बखूबी बता चुके हैं कि अठारहवें अध्याय के 'निश्चयं शृणु मे तत्र' (18।4) से लेकर 'स त्यागीत्यभिधीयते' (18।11) तक के श्लोकों में साफ ही उसी कर्मासक्ति तथा फलासक्ति का त्याग कहा गया है। फिर भी हमें आश्चर्य होता है कि उन भाष्यों के रचयिता महापुरुष इन्हीं 4 से 11 तक के श्लोकों के आधार पर 'सर्वधर्मान्' में धर्म का अर्थ उसका फल और धर्म के करने का अभिमान यह अर्थ कर डालते हैं! दोनों की आसक्ति अर्थ करते तो एक बात थी।

यदि उन श्लोकों या गीता के योग—कर्मयोग—की बात यहाँ होती और उसी का उपसंहार इस श्लोक में माना जाता तो क्या कभी यह बात सम्भव थी कि कर्म और फल या धर्म और फल को साफ-साफ न कहते और दोनों की आसक्ति का अत्यन्त साफ शब्दों में निषेध न करते? गीता की तो यही रीति है और इसे उसने कहीं एक जगह भी नहीं छोड़ा है। यह बात हम दावे के साथ कह सकते हैं। बीसियों जगह यह बात गीता भर में आयी है। मगर सभी जगह नियमित रूप से कर्मासक्ति और फलासक्ति का त्याग साथ कहा है। फिर उपसंहार में भी वही बात क्यों न की जाती? ऐसा न करने से तो अर्जुन के लिए साफ ही शंका की गुंजाइश रह जाती कि कहीं दूसरा ही तो मतलब नहीं है? उपसंहार में साफ न बोलने से जरूर शंका होती और उसके बाद अर्जुन हर्गिज यह नहीं कहता कि "स्थितोऽस्मि गतसन्देहः।" इसीलिए दोनों भाष्यकारों का अर्थ गीता को मान्य नहीं यह बात निर्विवाद हो गयी। यह भी तो उन्हें सोचना चाहिए था कि यदि इस श्लोक में भी संन्यास के तत्त्व का निरूपण नहीं है और इसके पहले तो और किसी श्लोक में हुआ ही नहीं, जैसा कि अच्छी तरह दिखाया जा चुका है, तो आखिर वह है कहाँ? और अगर कहीं नहीं है तो अर्जुन की शंका तो रही जाती है। फिर 'नष्टोमोहः' कैसा?

शंकर के अर्थ में तो ऐसी एक आपत्ति भी नहीं हो सकती। वह तो गीता के कर्मयोग या योग का निरूपण इसमें मानते ही नहीं। फिर धर्म और फल को अलग-अलग लिख के उसकी आसक्ति के त्याग की बात का उनके मत से यहाँ अवसर ही कहाँ रह जाता है? वह तो तत्त्वज्ञान के पहले शास्त्रीय विधिविधान के अनुसार कर्तव्य धर्मों का संन्यास ही इस श्लोक में ज्ञान के साधन के रूप में मानते हैं और वह काम 'सर्वधर्मान्' से ही चल जाता है। मुख्यतया पुराने संस्कार के वश किसी एकाध धर्म में लोग चिपके न रह जायँ इसीलिए सर्वधर्मान् कह दिया है। सबों से पिण्ड छुड़ाना जरूरी है। एक भी रहेगा तो बाधक होगा जरूर। इस सम्बन्ध में अब और लिखना यहाँ ठीक नहीं है। इसका स्वतन्त्र विचार श्लोकार्थ के प्रसंग से किया जायगा।

10. शेष बातें

गीताधर्म से सम्बन्ध रखने वाली सभी प्रमुख बातों पर जहाँ तक हो सका हमने अब तक प्रकाश डाला और इस तरह गीतार्थ समझने का रास्ता बहुत कुछ साफ कर दिया। अब हमें समाप्त करने के पहले कुछ और भी कह देना है। जो बातें हम अब कहेंगे उनका भी ताल्लुक गीताधर्म से ही है। उनसे भी गीता का आशय समझने में बहुत कुछ सहायता मिलेगी; हालाँकि ये बातें इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितनी अब तक लिखी गयी हैं। बात असल यह है कि केवल आशय समझना ही जरूरी नहीं होता। श्लोकों और पदों के अर्थों को ठीक-ठीक हृदयंगम करना भी आवश्यक होता है। इसके बिना आशय आसानी ने समझ में आ नहीं सकता। कभी-कभी तो शब्दार्थ अच्छी तरह जाने बिना आशय और भाषार्थ कतई समझ में आते ही नहीं। शब्दार्थ के सिवाय भी कुछ बातें होती हैं जिनसे श्लोकार्थ और श्लोक का आशय समझने में आसानी हो जाती है। उन बातों को जाने बिना बड़ी दिक्कत होती है। कभी-कभी तो चीज उलटे समझी जाती है। एकाध ऐसी भी बातें हैं जिनसे और कुछ न भी हो तो आशय की गम्भीरता जरूर मालूम पड़ती है। इसलिए उनका जानना भी जरूरी है। यही सब बातें लिख के और अन्त में दो-चार शब्दों में गीता-धर्म का उपसंहार करके यह वक्तव्य पूरा करेंगे। इसीलिए इसमें छोटी-मोटी-छुटी-छुटाई बातों का ही समावेश पाया जायगा।

उत्तरायण और दक्षिणायन

गीता के आठवें अध्याय के 'यत्र काले त्वनावृत्तिं' आदि 23 से 27 तक के श्लोकों में उत्तरायण और दक्षिणायन या शुक्ल और कृष्ण मार्गों का वर्णन आता है। इसके बारे में तरह-तरह की कल्पनाएँ होती हैं। पुराने टीकाकारों और भाष्यकारों ने तो प्रायः एक ही ढंग से अर्थ किया है। हाँ, शब्दों के अर्थों से किन चीजों का अभिप्राय है इसमें कुछ मतभेद उनमें भी पाया जाता है। उनने इन दोनों मार्गों को देवयान और पितृयान (याण) भी कहा है। यान रास्ते को भी कहते हैं और सवारी या ले चलने वाले को भी। घोड़ा, गाड़ी वगैरह यान कहे जाते हैं। मगर जो पथदर्शक हो

वह भी सवारी से कम काम नहीं करता। इसलिए उसे भी यान कहते हैं और वाहक भी। इन मार्गों को अर्चिरादि मार्ग और धूमादि या धूम्रादि मार्ग भी कहा है। पहले में अग्नि से ही शुरू करते हैं। और उसके बाद ही तो ज्योतिः, अर्चिः या प्रकाश है। इसीलिए उसे अर्चिरादि कह दिया है। अग्नि ही यद्यपि शुरू में है और उसके बाद ही ज्योतिः शब्द और कहीं-कहीं अर्चिः शब्द आता है; मगर अग्न्यादि मार्ग न कह के अर्चिरादि इसलिए कहते हैं कि अग्नि तो दोनों में है। उसके बाद ही रास्ते बदलते हैं। दूसरे में धूम से ही शुरू करने के कारण धूमादि नाम उसका पड़ा। इसी धूम को किसी-किसी ने धूम्र कहा है। धूम्र के मानी हैं। मलिन या अँधेरे वाला। इस मार्ग में प्रकाश नहीं होने से ही इसे धूम्रादि कह डाला। कुछ नये टीकाकारों ने यही कह के सन्तोष कर लिया कि हमें इन श्लोकों का तात्पर्य समझ में नहीं आता। असल में पुराणों की तो बात ही जाने दीजिए। छान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषदों में भी जो इन दोनों मार्गों का वर्णन है उस पर भी उन्हें या तो विश्वास नहीं है, या उसे भी वे एक पहेली ही मान के ऐसा कह देते हैं।

बेशक यह चीज पुरानी है यहाँ तक कि ऋग्वेद (10।88।15) में भी इसका जिक्र है। यास्क के निरुक्त (14।9) में भी यह बात पायी जाती है। महाभारत के शान्तिपर्व में तो हई। वेदान्त दर्शन के चौथे पाद के दूसरे और तीसरे अधिकरणों में भी यह बात आयी है। इस पर वाद-विवाद भी पाया जाता है। कौषीतकी उपनिषद् के पहले अध्याय के शुरू के 2-3 आदि मन्त्रों में भी यह बात आयी है। वहाँ बहुत विस्तृत वर्णन है जो अन्य उपनिषदों में नहीं है। वृहदारण्यक उपनिषद् के पाँचवें अध्याय के दसवें ब्राह्मण में थोड़ी सी और छठे अध्याय के दूसरे ब्राह्मण के कुल सोलह मन्त्रों में यही बात आयी है। हालाँकि कौषीतकी वाली कुछ ब्योरे की बातें इसमें नहीं लिखी हैं; फिर भी बहुत विस्तृत वर्णन है। छान्दोग्योपनिषद् के पाँचवें अध्याय के तीन से लेकर दस तक के आठ खण्डों में भी यह वर्णन पूरा-पूरा पाया जाता है। उसके चौथे अध्याय के 15वें खण्ड में भी यह बात आयी है। जब ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ से लेकर महाभारत तक में यह चीज पायी जाती है तो मानना ही होगा कि उस समय इसका पूरा प्रचार था। इस पर पूरा मनन, विचार और अन्वेषण ही उस समय जारी था। इसीलिए इस प्रश्न का महत्त्व भी बहुत ज्यादा था। यदि छान्दोग्य आदि उपनिषदों में इस विषय का निरूपण पढ़ें तो पता लगता है कि आरुणि जैसे महान् ऋषि को भी इसका पता न था। इसे वहाँ पंचाग्नि-विद्या कहा है। साथ ही छान्दोग्योपनिषद् में ही नक्षत्र विद्या आदि कितनी ही विद्याएँ (Science) गिनाई हैं, जिनका नाम भी हम नहीं जानते। छान्दोग्योपनिषद् के सातवें अध्याय के पहले और दूसरे खण्डों में नारद ने सनत्कुमार से कहा है कि ऋग्वेदादि चारों वेदों, वेदों के वेद, पाँचवें इतिहास-पुराण के सिवाय, अनेक विद्याओं के साथ देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, जनविद्या और देवविद्या जानता हूँ। ये विभिन्न वैज्ञानिक अध्ययन

नहीं तो और क्या है? मगर अन्यान्य बातों में पतन के साथ ही इस बात में भी हमारा पतन कुछ ऐसा भयंकर हो गया कि हम ये बातें पीछे चल के कतई भूल गये। आज तो यह हालत है कि इन्हें हम केवल धर्म; बुद्धि से ही मानते हैं, सो भी इसीलिए कि हमारी पोथियों में लिखी हैं। मगर इनके बारे में न तो सोच सकते और न कोई दार्शनिक युक्ति ही दे सकते हैं?

लेकिन यदि थोड़ा भी विचार किया जाय तो पता चलेगा कि इन बातों का उसी कर्मवाद से ताल्लुक है जिसका निरूपण हम बहुत ही विस्तार के साथ पहले कर चुके हैं। जब हमारे पुराने आचार्य, ऋषिमुनि और दार्शनिक पुनर्जन्म को स्वीकार करने लगे तो उनने उसके मूल में इस कर्मवाद को ही माना। सद्गति और दुर्गति या मनुष्य से लेकर कीट-पतंग एवं वृक्षादि की योनियों में जाने और वैसा ही शरीर ग्रहण करने का कारण वह कर्म को ही मानते थे। आज हम यहाँ मनुष्य शरीर में हैं। कुछ दिन बाद मर के हजार कोस पर पशु या किसी और योनि में जायेंगे। सवाल होता है कि वहाँ हमें कौन, क्यों पहुँचायेगा और कैसे? हमने यहाँ बुरा-भला कर्म किया। उसका फल हमें हजारों कोस पर कौन पहुँचायेगा? जब व्यष्टि और समष्टि दोनों ही तरह के कर्मों से हमारे शरीर बनते या बुरी-भली बातें होती हैं, तो यहाँ के गैर के द्वारा किए गये कर्मों से हमारा शरीर कहीं दूर देश में कैसे बनेगा कि हम उस गैर को वहीं उसी शरीर से सतायेंगे या आराम देंगे? श्राद्ध, यज्ञयागादि हमारे लिए कोई भी करे और उसका नतीजा हमें भी मिले—क्योंकि एक के कर्म का फल दूसरे को भी मिलता ही है, यह बता चुके हैं—इसकी व्यवस्था कैसे होती है? किसी ने हमारे मरने पर पिण्डदान या तर्पण किया और हम बाघ या साँप की योनि में जनम चुके हैं, तो उस श्राद्ध या तर्पण का फल मांस या हवा आदि के रूप में हमें कौन पहुँचायेगा? बाघ को मांस ही चाहिए न? भात या आटे का पिण्ड तो उसके किसी काम का नहीं। वह तो यहीं रह जाता है भी। साँप को भी तो हवा चाहिए। ऐसी ही बातों पर सोच-विचार करके उनने कर्मवाद की शरण ली। साथ ही सबकी व्यवस्था के लिए एक व्यापक चेतना शक्ति को मानकर उसे ईश्वर नाम दिया। ईश्वर कहते हैं शासन करने वाले को।

इसी कर्मवाद के सिलसिले में यह उत्तरायण और दक्षिणायन वाली बात भी आ गयी। हम तो कही चुके हैं कि हरेक पदार्थों से अनन्त परमाणु प्रत्येक क्षण में निकलते ही रहते और उनकी जगह दूसरे आते रहते हैं। यह भी बात अच्छी तरह लिखी गयी है कि ठीक समय पर ये परमाणु निकलते हैं, इनके कोष (Stock) हजारों ढंग के बने होते हैं, नये भी बनते जाते हैं, उनमें से ही दूसरे परमाणुओं के चावल वगैरह में शामिल होते हैं और उनसे जो निकले थे वे या तो पहले से बने परमाणु-कोष में जा मिलते हैं या उनसे नये कोष बनते हैं। यह बात दिन-रात चालू है। हमारी बाहरी आँखें इसे नहीं देखती हैं सही मगर भीतरी आँखें मानने को मजबूर होती हैं।

फिर भी यह सारी बातें कैसे हो रही हैं और इनकी क्या व्यवस्था है, हम नहीं जानते। ब्योरे की बातें हमारी शक्ति के बाहर की हैं। नहीं तो फिर ईश्वर की जरूरत ही क्यों हो? तब हमीं ईश्वर नहीं बन जाते? हम भीतर की धुँधली आँखों से इन बातों को मोटा-मोटी देखते हैं। क्योंकि इनके बिना काम चलता नहीं दीखता, अक्ल रुक जाती है, आगे बढ़ पाती नहीं और कुण्ठित हो जाती है। जो नये परमाणु आते हैं वह ऊपर ही ऊपर गर्द-गुब्बार की तरह नहीं चिपकते। वे तो चावलों के भीतर घुस जाते, उनमें प्रविष्ट हो जाते। उनके यंग-प्रत्यंग बन जाते हैं!

जिस प्रकार ये बातें भौतिक पदार्थों के बारे में उनने इस भौतिक विज्ञान-युग के आने के बहुत पहले मान ली थीं, देख ली थीं, हम यह पहले ही कह भी चुके हैं, ठीक उसी प्रकार कर्म और आत्मा के बारे में भी उनने—उनकी सूक्ष्म आँखों ने—कुछ बातें देखीं, कुछ सिद्धान्त स्वीकार किये। आत्मा या आत्मा के साथ ही चलने वाले सूक्ष्म शरीर के आने-जाने के बारे में भी उनने कुछ बातें तय की थीं। गीता ने 'ममैवांशो जीवलोके' आदि (15। 7-11) श्लोकों में जीवात्मा के आने-जाने का जो वर्णन करते हुए कहा है कि वह मन आदि इन्द्रियों को साथ ले के जाती है वह उनकी यही कल्पना है। मन आदि इन्द्रियों से मतलब वहाँ उस सूक्ष्म शरीर से ही है, जिसमें पूर्वोक्त पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राण और मन एवं बुद्धि यही सत्रह पदार्थ पाये जाते हैं—वह शरीर इन्हीं सत्रहों से बना है। मरने के समय वही निकल जाता है स्थूल शरीर से, और जन्म लेने में वही पुनरपि आ घुसता है। उसी के साथ आत्मा का आना-जाना है। खुद तो आ जा सकती नहीं। आईने के साथ जैसे किसी चीज का प्रतिबिम्ब चलता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा का प्रतिबिम्ब चलता है। आत्मा स्वयं तो सर्वत्र व्यापक है। वह कैसे आयेगी? प्राणों का काम है घोड़े की तरह खींचना। उनमें क्रिया जो है। बुद्धि आईना है। उसी में आत्मा का प्रतिबिम्ब है। वही अँधेरे में रास्ता दिखाती है।

यहाँ सवाल यह होता है कि सूक्ष्म शरीर का यह आना-जाना कैसे होता है? यह किस रास्ते से, किस सवारी या पथदर्शक की मदद से ठीक रास्ते पर जाता है और चौराहे पर नहीं भटकता? रास्ते में पड़ाव है या नहीं। पथदर्शक (guide) भी तो अनेक होंगे। क्योंकि एक ही कहाँ तक ले जायेगा? और यदि एक ही जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर को ले जाना हो तो यह भी हो। मगर यहाँ तो हजारों हैं, लाखों हैं, अनन्त हैं। रोज ही लाखों प्राणी मरते हैं। फलतः रास्ते में भीड़ तो होगी ही। इसीलिए कुछ दूर बाद ही एक पथदर्शक अपनी थाती (charge) को दूसरे के जिम्मे लगा के फौरन लौट आता होगा। फिर दूसरे को ले चलता होगा। इस प्रकार सबकी ड्यूटी बँटी होगी, बँधी होगी। कितनी दूर से कितनी दूर तक हरेक का चार्ज रहेगा यह भी निश्चित होगा, निश्चित होना ही चाहिए। जैसा यहाँ भौतिक दुनिया में हो रहा है उसी के अनुसार ही उस दुनिया में भी, जिसे आध्यात्मिक या परलोक की दुनिया

कहते हैं, उनने सोच निकाला होगा। दूसरा करते भी क्या? दूसरा तो रास्ता है नहीं, उपाय है नहीं। यही है उत्तरायण और दक्षिणायन मार्ग के मानने की दार्शनिक बुनियाद। यही है उसका मूल सिद्धान्त।

मरने के बाद शरीर को तो जलाई देते थे। कम से कम अग्नि संस्कार करते थे। यह भी कहा जाता है कि जलाने या अग्नि संस्कार के ही समय समान नामक प्राण इस शरीर से निकलता है। तब तक चिपका रह जाता है। यह खयाल अत्यन्त पुराना है। इसीलिए मृतक का जलाना और अग्नि संस्कार हिन्दुओं के यहाँ जरूरी माना गया है। यही कारण है कि जो लोग किसी वजह से मृतक को जला नहीं सकते वह भी अग्नि संस्कार अवश्य करते हैं। जलाने से बिगड़ते-बिगड़ते यह बात हो गयी! मगर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जलाने के बाद ही जीवात्मा की अन्तिम विदाई यहाँ से होती है, ऐसी ही मान्यता थी। यही कारण है कि गीता (8।24) में अग्नि से ही शुरू किया है—उत्तरायण मार्ग को लिखते हुए अग्नि से ही शुरू किया है। हालाँकि जब इस मार्ग को ज्योतिरादि या अर्चिरादि कहते हैं तब तो अग्नि के बाद जो ज्योतिः शब्द आया है उसे ही शुरू में आना चाहिए था। इसीलिए अगले श्लोक में धूम से ही शुरू किया है। मगर अग्नि देने का अभिप्राय यही है कि अग्नि से सम्बन्ध तो सभी का होता है। उसके बाद ही दो रास्ते अग्नि को ज्वाला और उसके धूम से शुरू हो जाते हैं। यही वजह है कि अगले श्लोक में अग्नि शब्द की जरूरत न समझी गयी। उसका काम तो पहले ही श्लोक से चल जाता है। उस एक ही अग्नि शब्द से और दोनों मार्गों के ज्योतिरादि एवं धूमादि नाम होने से ही लोग यह आसानी से समझ जायेंगे कि अग्नि में जलाने के बाद ही ज्योति और धूम से सम्बन्ध होगा, न कि पहले।

"यत्रकाले त्वनावृत्तिं" (8।23) में काल का उल्लेख है। उससे यह भी पता चलता है कि दोनों मार्गों में काल ही की बात आती है। लेकिन यहाँ तो शुरू में अर्चि और धूम ही आये हैं। उनके बाद अहः, रात्रि, कृष्णपक्ष, शुक्ल, उत्तरायण के छः महीने और दक्षिणायन के छः महीने जरूर आये हैं, ये काल या समय के ही वाचक हैं भी। लेकिन आगे के श्लोकों में 'गती' और 'सृती' शब्द मार्ग या रास्ते के ही मानी में आये हैं। इसलिए छान्दोग्य, वृहदारण्यक तथा निरुक्त आदि में भी उत्तरायण में आदित्य, चन्द्र विद्युत् और मानस या अमानव आदि का तथा दक्षिणायन में पितृलोक, आकाश, चन्द्रमा आदि का भी जिक्र है इसलिए भी बहुतों का खयाल है कि यहाँ काल या समय की बात न हो के कुछ और ही है। इसके विपरीत महाभारत के भीष्मपर्व (120) और अनुशासनपर्व (167) से पता चलता है कि आहत होने के बाद भीष्म बाण-शैया पर पड़े-पड़े उत्तरायणकाल को देख रहे थे कि जब सूर्य उत्तरायण हो तो शरीर छोड़ें। इसीलिए जब तक दक्षिणायन रहा वह प्राणत्याग न करके लोगों को उपदेश देते रहे। इससे तो काल की ही महत्ता उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गों

में प्रतीत होती है। गीता ने शुरू में काल ही नाम इन दोनों को दिया भी है।

इस उलझन को सुलझाने के लिए शंकर ने कहा है कि प्रधानता तो काल की ही है। इसलिए दूसरों के आ जाने पर भी काल ही कहा गया है। क्योंकि जिस वन में ज्यादा आम हों उसे आम्रवन और जहाँ ब्राह्मण ज्यादा हों उसे ब्राह्मणों का गाँव कहते हैं—'भूयसांतुनिर्देशो यत्रकाले तं कालमित्याम्रवणवत्।' कुछ लोगों ने इससे यह भी अर्थ लगाया है कि जब किसी समय में वैदिक ऋषियों का निवास उत्तर ध्रुव के पास था, जहाँ छः मास के दिन-रात होते हैं, उसी समय उत्तरायण का समय मृत्यु के लिए प्रशस्त माना गया। वही बात पीछे भी चल पड़ी। इसलिए शंकर आदि ने जो ज्योतिः, अहः आदि शब्दों से तत्सम्बन्धी देवताओं को माना है उस पर उनने आक्षेप भी किया है, हालाँकि काल तो शंकर ने साफ ही स्वीकार किया है। हमारे जानते तो शंकर का लिखना सही है। इसकी सुलझन भी हमें थोड़ा विचार करने से मिल जाती है। हमें इस बात के विवाद में नहीं पड़ना है कि उत्तर ध्रुव के पास कभी आर्य लोग या वैदिक ऋषि थे या नहीं। सम्भव है, वे रहे भी हों! मगर यहाँ वह बात नहीं है, हमारा यही खयाल है।

असल में एक बात सोचने की यह है कि प्रत्येक पदार्थ के परिपक्व होने में सबसे बड़ा हाथ काल या समय का ही होता है यह तो मानना ही होगा। कम-बेश समय के चलते ही चीजें पक्व तथा अपक्व होती हैं। यह ठीक है कि युक्ति से हम समय में कमी-बेशी कर दे सकते हैं। मगर समय की अपेक्षा तो फिर भी रहती ही है। काल और दिशा को जो प्राचीन दार्शनिकों ने माना वह इसी जरूरत को पूरा करने के लिए। काल और दिशा में कोई बुनियादी फर्क नहीं है। दोनों एक जैसे ही हैं। और एक दूसरे के सहायक हैं। इसीलिए वस्तुगत्या एक ही हैं। हम देखते हैं कि पदार्थों में परमाणुओं का आना या वहाँ से जाना भी समय की अपेक्षा करता है। कैसा परमाणु कब निकले या आये यह बात भी काल की अपेक्षा रखती है। यहाँ उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गों में क्रमशः उपासना या अपरिपक्व ज्ञान तथा कर्म के परिपाक की ही जरूरत है भी; ताकि आगे वे अपना परिणाम या फल दिखला सकें। इसीलिए जो भी परिणाम होने वाला हो उससे पहले एक लम्बा या विस्तृत काल होगा ही, फिर वह लम्बाई चाहे बहुत ज्यादा हो या अपेक्षाकृत कम हो। ऋषियों ने उसी काल की कल्पना करके उसके विभाग वैसे ही किए जैसे हमने यहाँ कर रखे हैं—जैसे यहाँ पाये जाते हैं। इस विभाग के बाद जब ज्यादा लम्बा काल आ गया तो उसे हमारी अपनी तराजू से नाप-जोख और बँटवारा न करके दिव्य या देवताओं की तराजू से ही बँटवारा किया। आखिर हमारी नन्ही तराजू से कब तक बाँटते रहते? यही रहस्य है दैवी या दिव्य वर्ष मानने का जिसमें हमारे छः महीने का दिन और उतने की ही रात मानी गयी। यह तो मामूली दिव्यतराजू हुई। मगर इससे भी लम्बी है आखिरी तराजू, जिसे हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा की तराजू कहते हैं। इसमें हमारे हजार

युगों के दिन-रात माने जाते हैं। यही बात गीता ने इस उत्तरायण-दक्षिणायन-विवेचन के पहले उसी अध्याय में 'सहस्रयुगपर्यन्तं' (8।17-19) श्लोकों में लिखी है। उसका भी इसी से ताल्लुक सिद्ध हो जाता है। क्योंकि उसी के बाद उत्तरायण आदि की बात पायी जाती है।

भीष्म की उत्तरायणवाली प्रतीक्षा भी इसी बात को पुष्ट करती है। जब उपासना या कर्म के परिपक्व होने में समय सहायक है तो उत्तरायण काल क्यों न होगा? वह तो थे उपासक। इसलिए उन्हें जाना था उसी मार्ग से। उसमें जो परिपाक होने में देर होती और इस तरह उनका वह उपासना रूप ज्ञान देर से पकता, उसी की आसानी के लिए उनने उत्तरायण की प्रतीक्षा की। यह आमतौर से देखा जाता है कि लोग रात में ही मरते हैं। आम लोग वैसे ही होते हैं। उन्हें ज्ञान से ताल्लुक होता ही नहीं। इसीलिए उनका रास्ता अँधेरे का ही होता है। दक्षिणायन कुछ ऐसा ही है भी। वहाँ धूम, रात वगैरह सभी वैसे ही हैं। यह ठीक है कि बड़े-बड़े कर्मी लोगों के बारे में ही दक्षिणायन मार्ग लिखा है। जो ऐसे उपासक, ज्ञानी या कर्मी नहीं हैं उनके बारे में छान्दोग्य के 'अथैतयोः पथोर्न' (5।10।8) में यह मार्ग नहीं लिखा है। लेकिन इसका इतना ही अर्थ है कि ऐसे लोग स्वर्ग या दिव्यलोक में नहीं जा के बीच से ही अपना दूसरा मार्ग पकड़ लेते हैं। क्योंकि मरने पर आखिर ये भी तो दूसरे शरीर धारण करेंगे ही और उन शरीर में इन्हें पहुँचाने का रास्ता तो वही है। दूसरा तो सम्भव नहीं। यह ठीक है कि उत्तरायण और दक्षिणायन शुरू में ही अलग होने पर भी संवत्सर में जा के फिर मिल जाते हैं। मगर तीसरे दलवाले जनसाधारण के मार्ग को वहाँ मिलने नहीं दिया जाता। साथ ही दक्षिणायन वाले संवत्सर या साल के छः महीनों के बाद पितृलोक में सीधे जाते हैं और इस प्रकार ऊपर जा के दो रास्ते साफ हो जाते हैं। जैसा कि छान्दोग्य (5।10।3) से स्पष्ट है। वैसे ही कर्मी लोगों के रास्ते से भी कुछी दूर जा के जनसाधारण अपना दूसरा रास्ता पकड़ लेते हैं। उत्तरायण वाले ब्रह्मलोक जाते हैं। दक्षिणायन वाले स्वर्ग जाते हैं। शेष लोग दोनों में कहीं न जा के मरते-जीते रहते हैं। यही तो वहाँ साफ लिखा है। स्वर्ग से लौटते हुए चन्द्रलोक में आ के आकाश में आते और वायु आदि के जरिये मेघ में प्रविष्ट हो के उन अन्नों में जा पहुँचते हैं जिन्हें उनके भावी माता-पिता खायेंगे। पानी से तो अन्न होता ही है। गीता ने भी यह कही दिया है। इसीलिए वृष्टि के द्वारा अन्न में जाते हैं। यही बात छान्दोग्य (5।10।5-6) में पायी जाती है। पाँच आहुतियों के रूप में इसी का विस्तार इसी से पहले के 4 से 9 तक के खण्डों में किया गया है। मगर साधारण लोग आकाश के बाद चन्द्रमा होते स्वर्ग में नहीं जाते; किन्तु वहीं से वायु में हो के वृष्टि के क्रम से अन्न में आ जाते हैं। बस, यही फर्क है।

अतः कुछ इस तरह का सम्बन्ध इस रात की मौत से मालूम होता है कि

वह साधारणतः दक्षिणायन मार्ग और उस अँधेरे रास्ते से ही जुटी है—रात्रि की मौत का दक्षिणायन या अर्द्ध दक्षिणायन वाले अँधेरे रास्ते से ही सम्बन्ध आमतौर से है। इसमें केवल अपवाद ही होता है—हो सकता है। यह बात अस्वाभाविक या आकस्मिक मृत्यु वगैरह में ही पायी जाती है जो दिन में होती है। कम से कम यही खयाल उस समय के दार्शनिकों और विवेकियों का था। इसीलिए भीष्म ने दिन और उत्तरायण की मौत को ही पसन्द किया। इसीलिए उत्तरायण की प्रतीक्षा करते रहे। उनने और दूसरे लोगों ने माना कि इस तरह उनके ब्रह्मलोक पहुँचने या उपासना के परिपक्व होने में आसानी होगी। हमारे जानते यही तात्पर्य इस समस्त वृत्तान्त और वर्णन का है। इसमें सबका समावेश भी हो जाता है। मार्ग या रास्ता कहने से तो कोई अन्तर आता नहीं है। मार्ग तो वह हई। आखिर जमीन का रास्ता तो वहाँ है नहीं। वह तो दिशा तथा समय का ही है। ऊँचे, नीचे, पूर्व, पच्छिम कहीं भी जाना हो उसका काल से सम्बन्ध हई और पूर्व आदि दिशा को काल से जुदा मानते भी नहीं यह कही चुके हैं।

उत्तरायण प्रकाशमय है और दक्षिणायन अँधेरा। इसीलिए पथपदर्शकों के नाम भी दोनों में ऐसे ही हैं। मालूम होता है, जैसे चावल के परमाणु निकलने के रास्ते और साधन हैं जिन्हें हम देख न सकने पर भी मानते हैं, नहीं तो व्यवस्था न हो के गड़बड़ी हो जाती; वैसे ही शरीरदाह के बाद उत्तरायण मार्ग में चिताग्नि की ज्योति और दक्षिणायन में उसका धुआँ मृतात्मा की सूक्ष्म देह को ले चलने का श्रीगणेश करते हैं। कम से कम प्राचीनों ने यही कल्पना की थी कि सूक्ष्म शरीर को यही दोनों यहाँ से उठाते और ले चलते हैं। आगे दिन और रात को सौंप देते हैं। वह शुक्ल और कृष्णपक्ष को। यही क्रम चलता है। ज्योति, धूम आदि को देवता तो इसीलिए कहा कि इनमें वह अलौकिक—दिव्य—ताकत है जो हम औरों में नहीं पाते। सूक्ष्म शरीर को ले जाना और पहुँचाना असाधारण या अलौकिक काम तो हई। वैदिक यज्ञयागादि कर्मों का ज्ञान या विवेक से ताल्लुक है नहीं यह तो गीता ने 'यामिमां' (2। 42-46) आदि में कहा ही है और उन्हीं का फल है यह दक्षिणायन। इसीलिए यहाँ प्रकाश नहीं है। जैसे का तैसा फल है। उधर उपासना कहते हैं अपूर्ण ज्ञान की अवस्था को ही। इसलिए उसमें प्रकाश तो हई । यही बात उत्तरायण में भी है। ज्ञान के अपूर्ण होने के कारण ही मृतात्मा की, ब्रह्मलोक में पहुँचने के उपरान्त समय पाके ज्ञान पूर्ण होने पर, ब्रह्मा के साथ ही मुक्ति मानी गयी है। इसी को क्रम मुक्ति भी कहते हैं। जैसे जनसाधारण के लिए इन दोनों की अपेक्षा जीने-मरने का एक तीसरा ही रास्ता कहा गया है; उसी तरह अद्वैत तत्त्व के ज्ञानवाले का चौथा है। वह तो कहीं जाता है न आता है। उसके प्राण यहीं विलीन हो जाते और वह यहीं मुक्त हो जाता है।

गीता ने एक ओर तो यह चीज कही है। दूसरी ओर 'त्रैविद्या मां' (9। 20-21)

में अस्थायी स्वर्ग सुख का भी वर्णन किया है। उसे भी कर्म-फल ही बताया है। वह यही दक्षिणायन वाली ही चीज है। यों तो ब्रह्मज्ञान और आत्मानन्द का गीता में सारा वर्णन ही है। स्थित प्रज्ञ, भक्त और गुणातीत की दशा उसी आत्मज्ञान और ब्रह्मानन्द की ही तो है। सवाल होता है कि स्वर्ग और ब्रह्मानन्द के अलावे उत्तरायण-दक्षिणायन के पृथक् वर्णन की क्या जरूरत थी? इससे व्यावहारिक लाभ है क्या? गीता तो अत्यन्त व्यावहारिक (Practical) है। इसीलिए यह प्रश्न होता है।

असल में कर्मों के सिलसिले में कर्मवाद की बात आते-आते यह भी आनी जरूरी थी। इससे साधारण कर्मों की तुच्छता, अपूर्ण ज्ञान की त्रुटि एवं पूर्ण तत्त्वज्ञान की महत्ता सिद्ध हो जाती है। स्वर्ग के वर्णन में केवल स्वर्ग की बात और उसकी अस्थिरता आती है। मगर ब्रह्मलोक की तो आती नहीं। एक बात और है। उपनिषदों में दक्षिणायन के वर्णन में कहा गया है कि चन्द्रलोक में जा के जीवगण देवताओं के अन्न या भोग्य बन जाते हैं। देवता उन्हें भोगते हैं। देवता का अर्थ है दिव्यशक्तियाँ। वहाँ भी गुलामी ही रहती है। दिव्यशक्तियाँ जीव से ऊपर रहती हैं। फिर वह वहाँ से नीचे गिरता है। इसीलिए उसे यह खयाल स्वभावतः होगा कि हम ऐसा क्यों न करें कि कम से कम ब्रह्मलोक जायें, जहाँ कोई देवता हम पर न रहेगा; या आत्मज्ञान ही क्यों न प्राप्त कर लें कि सभी आने-जाने के झमेलों से बचें और खुद देवता बन जायें। क्योंकि नौ, दस, ग्यारह अध्यायों में तो सभी देवताओं को परमात्मा का अंश या उसकी विभूति ही कहा है और ज्ञानी स्वयं परमात्मा बन जाता ही है—वह खुद परमात्मा है। बस, इससे अधिक लिखने का यहाँ मौका नहीं है।

गीता की अध्याय-संगति

गीता का अर्थ समझने में एक जरूरी बात यह है कि हम उसमें प्रतिपादित विषयों को ठीक-ठीक समझें और उनका क्रम जानें। इसी का सम्बन्ध ज्ञान और विज्ञान से है जिसका उल्लेख गीता (7।2-9।1) में दो बार स्पष्ट आया है। इस दृष्टि से हम गीता के अध्यायों को देखें तो ठीक हो।

पहला अध्याय तो भूमिका या उपोद्घात ही है। वह गीतोपदेश का प्रसंग तैयार करता है जो अर्जुन के विषाद के ही रूप में है। यही सबसे उत्तम भूमिका है भी। इसके करते जितना सुन्दर प्रसंग तैयार हुआ है उतना और तरह से शायद ही होता।

दूसरे अध्याय का विषय है ज्ञान या सांख्य। इसमें उसी की मुख्यता है।

तीसरे में कर्म का सवाल उठा के उसी पर विचार और उसी का विवेचन होने के कारण वही उसका विषय है।

चौथे में ज्ञान का कर्मों के संन्यास से क्या ताल्लुक है। यही बात आयी है। इसीलिए उसका विषय ज्ञान और कर्म-संन्यास है।

स्वभावतः, जैसे दूसरे अध्याय में ज्ञान के प्रसंग से कर्म के आ जाने के कारण

ही तीसरे में उसका विवेचन हुआ है, उसी तरह चौथे में संन्यास के आ जाने से पाँचवें में उसी का विवेचन है, वही उसका मुख्य विषय है।

छठे में अभ्यास या ध्यान का विवरण है। यह ज्ञान के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसे ही पातंजल योग भी कहते हैं। चौथे के ज्ञान और कर्म-संन्यास के मेल को ही ब्रह्मयज्ञ भी कहा है और वही उसका मुख्य अर्थ शंकर ने लिखा है। ठीक ही है। पाँचवें के मुख्य विषय—संन्यास—को उनने प्रकृतिगर्भ नाम दिया है। बाहरी झमेलों से पिण्ड छुड़ा के किस प्रकार प्राकृतिक रूप में ब्रह्मानन्द में मस्त हो जाते हैं यही बात उसमें सुन्दर ढंग से लिखी है। संन्यासी के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में लिखा भी है कि वह जैसे माता के गर्भ से बाहर आने के समय था वैसा ही रहे—'यथाजातरूपधरः।' इसलिए इस संन्यास को प्रकृतिगर्भ कहना सर्वथा युक्त है।

इस प्रकार छठे अध्याय तक़ जो बातें लिखी गयी हैं उनके अलावे और कोई नवीन विषय तो रह जाता ही नहीं। यही बातें आवश्यक थीं। इन्हीं से काम भी चल जाता है। शेष बात तो कोई ऐसी आवश्यक बच जाती है नहीं, जो गीता-धर्म के लिए जरूरी हो और इसीलिए जिसका स्वतन्त्र रूप से विवेचन आवश्यक हो जाय। हाँ, यह हो सकता है कि जिन विषयों का निरूपण अब तक हो चुका है उनकी गम्भीरता और अहमियत का खयाल करके उन्हीं पर प्रकारान्तर से प्रकाश डाला जाय। उन्हें इस प्रकार बताया जाय, दिखाया जाय कि वे हृदयंगम हो जायँ। इस जरूरत से इनकार किया जा सकता नहीं। गीता ने भी ऐसा ही समझ के शेष बारह अध्यायों में यही काम किया है। अठारहवें अध्याय में इसके सिवाय सभी बातों का उपसंहार भी कर दिया है। इसीलिए सातवें अध्याय में कोई नया विषय न दे के ज्ञान और विज्ञान की ही बातें कही गयी हैं। मगर कहीं लोग ऐसा न समझ लें कि यह बात केवल सातवें अध्याय का ही प्रतिपाद्य विषय है, इसीलिए नवें अध्याय के शुरू में ही पुनरपि उसी का उल्लेख कर दिया है।

यहाँ पर ज्ञान और विज्ञान का मतलब समझ लेने पर आगे बढ़ने में आसानी होगी। पढ़-सुन के या देखके किसी बात की साधारण जानकारी को ही ज्ञान कहते हैं। विज्ञान उसी बात की विशेष जानकारी का नाम है। इसके दो भाग किए जा सकते हैं। एक तो यह कि किसी बात के सामान्य (General) निरूपण, जिससे सामान्य ज्ञान हो जाय, के बाद उसका पुनरपि ब्योरेवार (Detailed) निरूपण हो जाय। इससे पहले की अपेक्षा ज्यादा जानकारी उसी चीज की जरूर होती है। दूसरा यह कि जिस ब्योरे का निरूपण किया गया हो उसी को प्रयोग (experiment) करके साफ-साफ दिखा-सुना दिया जाय। इस प्रकार अपनी आँखों देख लेने, छू लेने या सुन लेने पर पूरी-पूरी जानकारी हो जाती है, जिससे वह बात दिल-दिमाग में अच्छी तरह बैठ जाती है। हमने किसी को कह दिया, उसने सुन लिया या कहीं पढ़ लिया कि सूत से कपड़ा तैयार होता है। इस तरह जो उसे जानकारी हुई वही ज्ञान है। उसके बाद सामने कपड़ा

रख के उसके सूतों को दिखला दिया, तो उसको विज्ञान हुआ—विशेष जानकारी हुई। मगर सूत का तानाबाना करके उसके सामने ही यदि कपड़ा बुन दिया तो यह भी विज्ञान हुआ और इसके चलते उसके दिल-दिमाग में यही बात पक्की तौर से जम जाती है।

गीता में भी शुरू के छः अध्यायों में जिन बातों का निरूपण हुआ है। वह तो ज्ञान हुआ मगर उन बातों के प्रकारान्तर से निरूपण करने के साथ ही सातवें में सृष्टि के कारणों आदि का विशेष विवरण दिया है।

आठवें में अधिभूत आदि के निरूपण के साथ ही उत्तरायण आदि का विशेष वर्णन किया है।

नवें में फिर प्रकृति से सृष्टि और प्रलय के निरूपण के साथ क्रतु, यज्ञ, मन्त्र आदि के रूप में इस सृष्टि को भगवान् का ही रूप कहा है।

दसवें में इसी बात का विशेष ब्योरा दिया है कि सृष्टि की कौन-कौन सी चीजें खासतौर से भगवान् के स्वरूप में आ जाती हैं।

इस तरह जिस तत्त्वज्ञान की बात दूसरे अध्याय से शुरू हुई उसी को पुष्ट करने के लिए इन चारों अध्यायों में विभिन्न ढंग से बातें कही गयी हैं। सृष्टि के महत्त्वपूर्ण पदार्थों की ओर तो लोगों का ध्यान खामख्वाह ज्यादा आकृष्ट होता है खुद-ब-खुद। अब यदि उन पदार्थों को भगवान् का ही रूप या उन्हीं से साक्षात् बने हुए बताया जाय तो और भी ज्यादा ध्यान उधर जाता है। हम तो कही चुके हैं कि आत्मा, परमात्मा और पिण्ड, ब्रह्माण्ड इन चारों में एक ही बुद्धि—सम बुद्धि ही—तत्त्वज्ञान है। इस निरूपण से उसी ज्ञान में मदद मिलती है। इस प्रकार ब्योरेवार निरूपण के द्वारा विज्ञान में ही ये चारों अध्याय मदद करते हैं। सातवें का विषय जो ज्ञान-विज्ञान कहा है वह तो कोई नयी चीज है नहीं। इसमें ज्ञान या विज्ञान का स्वरूप बताया गया है नहीं कि वही इसका विषय हो। सिर्फ पहले के ही ज्ञान की पुष्टि की गयी है। इसी प्रकार नवें का विषय राजविद्या-राजगुह्य लिखा है। मगर उसके दूसरे ही श्लोक में ज्ञान-विज्ञान का ही नाम राजविद्या-राजगुह्य कहा गया है। इसलिए यह भी कोई नयी चीज है नहीं। आठवें का विषय जो तारक ब्रह्म या अक्षरब्रह्म है वह भी कोई नयी चीज नहीं है। अविनाशी ब्रह्म या आत्मा के ही ज्ञान से लोग तर जाते हैं—मुक्त होते हैं और उसका प्रतिपादन पहले होई चुका है। ओंकार को भी इसीलिए अक्षर या तारक कहते हैं कि ब्रह्म का ही वह प्रतीक है, प्रतिपादक है। दसवें को तो विभूति का अध्याय कहा ही है और विभूति है वही भगवान् का विस्तार। इसलिए यह भी कोई स्वतन्त्र विषय नहीं है।

इस प्रकार ब्योरे के प्रतिपादन के बाद पूरी तौर से दिमाग में बैठाने के लिए प्रत्यक्ष ही उसी चीज को दिखाना जरूरी होता है और ग्यारहवें अध्याय में यही बात की गयी है। भगवान् ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि दी है और उसने देखा है कि भगवान् से ही सारी सृष्टि कैसे बनती और उसी में फिर लीन हो जाती है। यदि प्रयोगशाला

में कोई अजनबी भी जाय तो यन्त्रों तथा विज्ञान के बल से उसे अजीब चीजें दीखती हैं जो दिमाग से पहले नहीं आती थीं। कहना चाहिए कि उसे भी दिव्य-दृष्टि ही मिली है। दिव्य-दृष्टि के सींग पूँछें तो होती नहीं। जिससे आश्चर्यजनक चीजें दीखें और बातें मालूम हों वही दिव्य-दृष्टि है। इसलिए 11वें में विज्ञान की ही प्रक्रिया है।

ग्यारहवें अध्याय के अन्त में जिस साकार भगवान् की बात आ गयी है उसकी और उसी के साथ निराकार की भी जानकारी का मुकाबिला ही बारहवें अध्याय में है। यदि उससे अन्तवाले भक्तनिरूपण को चौदहवें के अन्त के गुणातीत तथा दूसरे के अन्त के स्थितप्रज्ञ के निरूपण से मिलाएँ तो पता चलेगा कि तीनों एक ही हैं। इसी से मालूम होता है कि बारहवें की भक्ति तत्त्वज्ञान ही है जो पहले ही आ गया है यहाँ सिर्फ ब्योरा है उसी की प्राप्ति के उपाय का।

तेरहवें में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का निरूपण भी वही विज्ञान की बात है।

चौदहवें का गुणनिरूपण सृष्टि के खास पहलू का ही दार्शनिक ब्योरा है।

पन्द्रहवें में पुरुषोत्तम या भगवान् और जन्ममरणादि की बातें, सोलहवें में आसुर सम्पत्ति की बात और सत्रहवें की श्रद्धा विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है।

इसमें तथा अठारहवें में गुणों के हिसाब से पदार्थों का विवेचन गुण-विभाग में ही आ जाता है। अन्त में और शुरू में भी अठारहवें में कर्म, त्याग आदि का ही उपसंहार एवं संन्यास की बात है जो पहले आ चुकी है। ध्यानयोग भी पहले आया ही है। उसी का यहाँ उपसंहार है।

योग और योगशास्त्र

गीता के योग शब्द को लेके कुछ लोगों ने जानें क्या-क्या उड़ानें मारी हैं और गीता का अर्थ ही संन्यास-विरोधी योग उसी के बल पर कर लिया है। इतना ही नहीं। ज्ञानमार्ग के टीकाकारों और शंकर वगैरह पर उनने काफी ताने-तिश्ने भी कसे हैं और खण्डन-मण्डन भी किया है। उनने इस योग, हर अध्याय के अन्त के समाप्ति सूचक 'इतिश्री' आदि वचनों में 'योगशास्त्रे' तथा 'भगवद्गीतासु' शब्दों को बार-बार देख के यही निश्चय किया है कि एक तो गीता में केवल प्रवृत्ति रूप योग या संन्यास-विरोधी कर्म का ही निरूपण है—यह उसी का शास्त्र है; दूसरे यह योग भागवत या महाभारत वाला भागवत धर्म या नारायणीय धर्म ही है। उन्होंने उसे ही गीता का प्रतिपाद्य विषय माना है। इसीलिए जरूरत हो जाती है कि इन बातों पर भी चलते-चलाते थोड़ा प्रकाश डाल दिया जाय।

हम कुछ भी कहने के पहले साफ कह देना चाहते हैं कि गीता का विषय न तो भागवतधर्म है और न कुछ दूसरा ही। उसका तो अपना ही गीताधर्म है जो और कहीं नहीं पाया जाता है। यही तो गीता की खूबी है और इसीलिए उसकी सर्वमान्यता है। दूसरों की नकल करने में उसकी इतनी कद्र, इतनी प्रतिष्ठा कभी

हो नहीं सकती थी। तब उसकी अपनी विशेषता होती ही क्या कि लोग उस पर टूट पड़ते? यह बात तो हमने अब तक अच्छी तरह सिद्ध कर दी है। यह भी तो कही चुके हैं कि गीता ने यदि प्रसंगवश या जरूरत समझ के दूसरों की बातें भी ली हैं तो उन पर अपना ही रंग चढ़ा दिया है। मगर भागवत धर्म पर कौन सा अपना रंग उसने चढ़ाया है यह तो किसी ने नहीं कहा। अगर रंग चढ़े भी तो जब गीता का मुख्य विषय दूसरों का ही ठहरा, न कि अपना खास, तब तो उसकी विशेषता जाती ही रही। शास्त्रों और ग्रन्थों की विशेषता होती है मौलिकता में। उनकी जरूरत होती है किसी नये विषय के प्रतिपादन में। यही दुनिया का नियम एवं सर्वमान्य सिद्धान्त है। लेकिन और भी सुनिये।

सबसे पहले सभी अध्यायों के अन्त में लिखे 'योगशास्त्रे' और 'भगवद्गीतासु' को ही लें। जब इस बार-बार लिखे योग शब्द से कोई खास अभिप्राय लेने या इसे खास मानी पिन्हाने का यत्न किया जाता है तो हमें आश्चर्य होता है। गीता का योग शब्द तो इतने अर्थों में आया है कि कुछ कहिए मत। अमरकोष के "योगः संहननोपायध्यानसंगतिषुक्तिषु" (3।3।22) में जितने अर्थ इस शब्द के लिखे गये हैं और उनके विवरण के रूप में जो बीसियों प्रकार के अर्थ पातंजलदर्शन, महाभारत या ज्योतिष ग्रन्थों में आते हैं प्रायः सभी अर्थों में गीता ने योगशब्द को लिख के ऊपर से कुछ नये मानी भी जोड़े हैं। उसने अपना खास अर्थ भी इस शब्द को पिन्हाया है। यदि गीता के अठारहवें अध्याय के अन्त के 74-76 श्लोकों को गौर से देखा जाय तो पता चलेगा कि गीता के समूचे संवाद को भी योग ही कहा है। यह तो हम पहले बता चुके हैं कि गीता का अपना योग क्या है। और भी देखिए कि पहले अध्याय में जिस अर्जुन के विषाद की ही बात मानी जाती है उसे भी 'विषादयोगोनाम प्रथमोऽध्यायः' शब्दों में साफ ही योग कह दिया है। भला इसका क्या सम्बध है भागवत धर्म के साथ? अध्यायों के अन्त में जो योग शब्द आये हैं। वह तो अलग-अलग प्रत्येक अध्याय में प्रतिपादित बातों के ही मानी में हैं। जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि सभी प्रतिपादित बातें भागवत धर्म ही हैं तब तक उन योग शब्दों से यह कैसे माना जाय कि वे भागवत धर्म के ही प्रतिपादक हैं? ऐसा मानने में तो अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। यही कारण है कि हर अध्याय में लिखी बातों को ही अन्त में लिख के आगे योग शब्द जोड़ दिया गया है। इसलिए उन शब्दों से ऐसा अर्थ निकालना सिर्फ बाल की खाल खींचना है।

रह गयी बात 'भगवद्गीतासु' या 'श्रीमद्भगवद्गीतासु' शब्द की। हम तो इसमें भी कोई खास बात नहीं देखते। इससे यदि भागवत धर्म को सिद्ध करने की कोशिश की जाती है तो फिर वही बाल की खाल वाली बात आ जाती है। यह तो सभी मानते हैं कि गीता तो उपनिषदों का ही रूपान्तर हैं—उपनिषद् ही है। फर्क सिर्फ यही है कि उपनिषदों को भगवान् ने खुद अपने शब्दों में जब पुनरपि कह दिया तभी उसका नाम भगवद्गीतोपनिषद् पड़ गया। गीता शब्द जिस गै धातु से बनता है तथा

उसका अर्थ जो गान लिखा है उसके मानी वर्णन या कथन हैं। फिर वह कथन चाहे तान-स्वर के साथ हो या साधारण शब्दों में ही हो। गान भी तो केवल सामवेद में ही होता है। मगर 'वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायंति यं सामगाः' में तो सभी वेदों में और उपनिषदों में भी गान की बात ही लिखी है। यहाँ तक कि वेद के अंग व्याकरणादि में भी गान ही कहा गया है। मगर वहाँ तो गान—ताल-स्वर के साथ—असम्भव है। हम आपका गुण गाते रहते हैं, ऐसा कहने का अर्थ केवल बयान ही होता है, न कि राग और ताल के साथ गाना। यही बात गीता या भगवद्गीता में भी है। उपनिषद् स्त्रीलिंग तथा अनेक हैं। इसीलिए 'गीतासु' में स्त्रीलिंग और बहुवचन प्रयोग है, जैसा कि बहुवचन 'उपनिषत्सु' में है। आमतौर से गीता शब्द भी इसीलिए स्त्रीलिंग हो गया। नहीं तो 'गीत' होता। यदि गौर से देखा जाय तो गीता में मौके-मौके से कुल 28 बार 'श्रीभगवानुवाच' शब्द आये हैं। इनमें केवल ग्यारहवें अध्याय में चार बार, दूसरे और छठे में तीन-तीन बार, तीसरे, चौथे, दसवें और चौदहवें में दो-दो बार तथा शेष अध्यायों में एक-एक बार आये हैं। इनका अर्थ है कि 'श्रीभगवान् बोले।'' चाहे श्रीभगवान् कहें या श्रीमद्भगवान् कहें, दोनों का अर्थ एक ही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गीता में जो कुछ उपदेश दिया है या वर्णन किया है वह श्रीमद्भगवान् ने ही। बस, इसीलिए इसका नाम श्रीमद्भगवद्गीता हो गया; न कि किसी और कारण से। इतने से ही जानें कहाँ से नारायणीयधर्म को यहाँ उठा लाना और गीता के माथे उसे पटकना बहुत दूर की कौड़ी लाना है।

योग शब्द के बारे में जरा और भी कुछ जान लेना अच्छा होगा। गीता में केवल योग शब्द प्रायः 135 बार आया है। प्रायः उसी के मानी में उसी युज् धातु से बने युञ्जन्, युत्का, युक्त आदि शब्द भी कई बार आये हैं। मगर उन्हें छोड़ के सीधे योग शब्द हर अध्याय के अन्त के समाप्ति सूचक संकल्प वाक्य में दो-दो बार आये हैं। इस प्रकार यदि इन 36 को निकाल बाहर करें तो प्रायः सौ बार गीता के भीतर के श्लोकों में यह शब्द पाया जायगा। इनमें चौथे, पाँचवें, छठे तथा आठवें आदि में कुछ बार पातंजल योग के अर्थ में ही यह शब्द आया है, या ऐसे अर्थ में ही जिसमें पातंजल योग भी समाविष्ट है। तीसरे अध्याय के 'कर्मयोग' (3।1) में और 'योगिनः कर्म' (5।11) में भी योग शब्द साधारण कर्म के ही मानी में आया है। इसीलिए वहाँ कर्मयोग शब्द का वह विशेष अर्थ नहीं है जो उस पर कर्मयोग-शास्त्र के नाम से लादा जाता है। इसी तरह 'यत्रकाले त्वनावृत्तिम्' आदि (8।13-27) श्लोकों में कई बार योग और योगी शब्द साधारण कर्म करने वालों के भी अर्थ—व्यापक अर्थ—में आया है। 'योगक्षेमं' (9।22) और 'योगमाया समावृतः' (7।25) का योग शब्द भी अप्राप्त की प्राप्ति आदि दूसरे ही अर्थों में है। दसवें अध्याय में कई बार योग शब्द विभूति शब्द के साथ आया है और वह भगवान् की शक्ति का ही वाचक है। बारहवें में भी कितनी ही बार यह शब्द अभ्यास वगैरह दूसरे अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ

है। तेरहवें के 'अन्ये सांख्येन योगेन' (13 । 24) में तो साफ ही योग का अर्थ ज्ञान है।

इस प्रकार यदि ध्यान से देखा जाय तो दस ही बीस बार योग शब्द उस अर्थ में मुश्किल से आया है, जिसका निरूपण 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (2 । 47-48) में किया गया है· हालाँकि उस योग का भी जो निरूपण हमने किया है और जिसे गीताधर्म माना है वह ऐसा है कि उसके भीतर कर्म का करना और उसका संन्यास दोनों ही आ जाते हैं। मगर यदि यह भी न मानें और योग का अर्थ वहाँ वही मानें जो गीतारहस्य में माना गया है, तो भी आखिर इससे क्या मतलब निकलता है? गीता के श्लोकों में जो सैकड़ों बार से ज्यादा योग शब्द आया है उसमें यदि दस या बीस ही बार असंदिग्ध रूप से उस अर्थ में आया है और बाकी दूसरे-दूसरे अर्थों में, तो योग शब्द के बारे में यह दावा कैसे किया जा सकता है कि वह प्रधानतया गीता में उसी भागवतधर्म का ही प्रतिपादक है? चाहे आवेश में आ के औरों को भले ही कह दिया जाय कि वे तो शब्दों का अर्थ जबर्दस्ती करके अपने सम्प्रदाय की पुष्टि करना चाहते हैं। मगर यह इलजाम तो उलटे इलजाम लगानेवालों पर ही पड़ जाता है। यों तो चाहे जो भी दूसरों पर दोष मढ़ दे सकता है। मगर हम तो ईमानदारी की बात चाहते हैं, न कि खींचतान।

सिद्धि और संसिद्धि

योग शब्द जैसी तो नहीं, लेकिन सिद्धि और संसिद्धि शब्दों या इसी अर्थ में प्रयुक्त सिद्ध एवं संसिद्ध शब्दों को लेकर भी गीता के श्लोकों के अर्थों में और इसीलिए कभी-कभी सैद्धान्तिक बातों तक में कुछ न कुछ गड़बड़ हो जाया करती है। आमतौर से ये शब्द जिस मानी में आया करते हैं वह न होके गीता में इन शब्दों के कुछ खास मानी प्रसंगवश हो जाते हैं, खासकर संसिद्धि शब्द के। मगर लोग साधारणतया पुराने ढंग से ही अर्थ लगा के या तो खुद घपले में पड़ जाते हैं, या अपना मतलब निकालने में कामयाब हो जाते हैं। इसीलिए इनके अर्थ का भी थोड़ा सा विचार कर लेना जरूरी है।

सिद्धि और सिद्ध शब्द अलौकिक चमत्कार और करिश्मों के ही सम्बन्ध में आमतौर से बोले जाते हैं। साधु-फकीरों को या मन्त्र-तन्त्र का अनुष्ठान करके जो लोग कामयाबी हासिल करते एवं चमत्कार की बातें करते हैं उन्हीं को सिद्ध और उनकी शक्ति को सिद्धि कहते हैं। इसी सिद्धि की अणिमा, महिमा आदि आठ किस्में पुराने ग्रन्थों में पायी जाती हैं। अणिमा के मानी हैं छोटे से छोटा बन जाना और महिमा के मानी बड़े-से-बड़ा। लंकाप्रवेश के समय हनुमान की इन दोनों सिद्धियों का बयान मिलता है जब वे लंकाराक्षसी को चकमा देके भीतर घुस रहे थे। पातंजल योग-सूत्रों के 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' (3 । 37) में इसी सिद्धि का जिक्र है। जिसके चलते योगी भूत भविष्य की बातें जान लेता, दूसरों के दिल की बातें समझ लेता और पक्षी-पशुओं के शब्दों का भी अर्थ जानता है। इसी तरह की और भी बातें हैं। इसी प्रकार 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' (2 । 35), 'सत्यप्रतिष्ठायां

क्रियाफलाश्रयत्वम्' (2 । 36) आदि योगसूत्रों में जो लिखा गया है कि पूरे अहिंसक को साँप-बिच्छू और सिंह-बाघ आदि भी नहीं छूते और पूरा सत्यवादी जो भी कह देता है वह जरूर हो जाता है, उसे भी ऐसे आदमी की सिद्धि या शक्ति ही उन सूत्रों के व्यासभाष्य में यों कहा गया है, 'तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति।' इसी प्रकार किसी काम के पूरा हो जाने को भी सिद्धि बोलते हैं और कहते हैं कि हमारा कार्य सिद्ध हो गया। 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' (2 । 48) में गीता ने भी इसी मानी में सिद्धि शब्द का प्रयोग किया है। 'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः' (11 । 22) तथा 'सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः' (11 । 36) में जो सिद्ध शब्द हैं वह पूर्वोक्त योगसिद्धि जैसे ही अर्थ में आये हैं। देवताओं के एक ऐसे ही दल को सिद्ध कहते हैं। गीता में इनका केवल नाम आ गया है, न कि गीता के प्रतिपादित विषय में ये आते हैं। क्योंकि गीता का विषय तो ऐसा है जिसका उपयोग हम दैनिक जीवन में कर सकते हैं और ये सिद्ध हैं अलौकिक दुनिया के पदार्थ। इसलिए ऐसे स्थानों में तो कोई गड़बड़ होती ही नहीं। यहाँ तो ठीक ही काम चलता है।

मगर दिक्कत होती है और-और श्लोकों में। 'न च संन्यसनादेवसिद्धिं समधिगच्छति' (3 । 4), 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (3 । 20), 'कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवतिकर्मजा' (4 । 12), 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (4 । 38), 'अप्राप्य योगसंसिद्धिं का गतिं कृष्ण गच्छति' (6 । 37), ''यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन' (6 । 43), 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्' (6 । 45), 'नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमांगताः' (8 । 15), 'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि' (12 । 10), 'यज्ज्ञात्वामुनयः सर्वे परांसिद्धिमितो गताः' (14 । 1), 'स्वेस्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथाविन्दति तच्छृणु' (18 । 45), 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (18 । 46), 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति' (18 । 49) और 'सिद्धिंप्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे' (18 । 50) श्लोकों में ही यह दिक्कत होती है।

इन पर कुछ भी विचार करने के पूर्व यह जान लेना होगा कि कर्मों के अनेक नतीजों में एक यह भी है कि उनसे हृदय, मन या अन्तःकरण की शुद्धि होती है। 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये' (5 । 11) में आत्मशुद्धि का मन की शुद्धि ही अर्थ है। इसीलिए वहाँ योगी शब्द का अर्थ है साधारण कर्मी, न कि गीता का योगी। क्योंकि उसका तो मन पहले ही शुद्ध हो जाता है। वह मन की शुद्धि के लिए कर्म क्यों करेगा? बिना मनःशुद्धि के वह योगी होई नहीं सकता। इसीलिए योगी हो जाने पर मनःशुद्धि का प्रश्न उठता ही नहीं। फलतः यदि पूर्वापर का विचार किया जाय तो 'मदर्थमपि' (12 । 10) में भी सिद्धि का अर्थ है मनःशुद्धि ही। इसी प्रकार (18 । 45-46) में भी सिद्धि और संसिद्धि का अर्थ मन की शुद्धि ही है और वह है उसकी चंचलता

की निवृत्ति या रागद्वेष से छुटकारा 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' (4 । 38) में भी यही अर्थ है।

इसके सिवाय (8 । 15), (14 । 1) और (18 । 49) इन तीन श्लोकों में सिद्धि तथा संसिद्ध शब्द में एक विशेषण लगा है जो दो जगह 'परमां' है और एक जगह 'परां'। मगर दोनों का अर्थ एक ही है और है वह 'ऊँचे दर्जे की या सर्वश्रेष्ठ' यही। इनमें जो (14 । 1) का सिद्धि शब्द है उसी का विशेषण 'परां' है। फलतः परासिद्धि का अर्थ है परम कल्याण या मुक्ति ही। पर के साथ जुटने से सिद्धि शब्द उस प्रसंग में सिवाय मुक्ति या चरमलक्ष्य सिद्धि के अन्य अर्थ का वाचक होई नहीं सकता है। रह गये शेष दो श्लोकों वाले सिद्धि शब्द। सो यदि उनके भी इधर-उधर के श्लोकों के अर्थों पर पूरा गौर करें तो उनका अर्थ होता है पूर्ण रीति से कर्मत्याग। परम विशेषण कर्मत्याग की रही-सही भी त्रुटियों एवं कमियों को पूरा करके पूर्ण रीति से कर्मों से छुटकारे की बात ही कहता है। केवल संसिद्धि कहने से भी संभवतः सफलता अर्थ हो के कर्मों से छुटकारा अर्थ तो होता, मगर उसमें शायद खामी की गुंजाइश रह जाती। अठारहवें अध्याय के उस श्लोक के बादवाले में जो सिद्धि शब्द है वह तो परमसंसिद्धि का ही अनुवादमात्र है। इसलिए उसका भी वही अर्थ है।

यदि 'संन्यासस्तु' (5 । 6), 'नियतस्य तु' (18 । 7) तथा 'भवत्यत्यागिनांग्म्' (18 । 12) में देखें कि ब्रह्म और संन्यास शब्दों के अर्थ किस तरह पूर्व और उत्तर के वाक्यों के मिलाने से निश्चित होते हैं और वही रीति (3 । 4) श्लोक में लगायें तो वहाँ सिद्धि का अर्थ होगा नैष्कर्म्य, संन्यास की सिद्धि या उसकी पूर्णता। इसी प्रकार (4 । 12) में भी सिद्धि का अर्थ है फलप्राप्ति या लक्ष्यसिद्धि। छठे अध्याय में तो योग का प्रकरण है। इसलिए उसके 37,43 और 45 श्लोकों में संसिद्धि का व्यापक अर्थ है, जिसमें मन की शुद्धिरूप योगसिद्धि और ज्ञान की प्राप्ति भी आ जाती है। इस प्रकार हमने देखा कि आँख मूँद के या बिना सोचे-विचारे अर्थ करने से इन शब्दों के अर्थों की जानकारी में गड़बड़ हो सकती है।

गीता में पुनरुक्ति

गीता के पढ़नेवालों को प्रायः अनेक बातों की पुनरुक्ति मिलती है और कभी-कभी तो तबीअत ऊब जाती है कि यह क्या पिष्टपेषण हो रहा। मगर कई कारणों से यह बात अनिवार्य थी। एक तो गहन विषयों का विवेचन ठहरा। यदि एक ही बार कहके छोड़ दिया जाय तो क्या यह सम्भव है कि सुनने वाले के दिमाग में वह बातें बैठ जायँगी? हमने तो ताजी से ताजी अंग्रेजी की किताबों में देखा है कि कठिन बातों को लेकर उन्हें बीसियों बार दुहराते हैं। यह दूसरी बात है कि अनेक ढंग से वही बातें कहके ही दुहराते हैं। गीता में भी एक ही बात प्रकारान्तर और शब्दान्तर में ही कही गयी है, यह तो निर्विवाद है। अतएव गीता के उपदेश—गीताधर्म—की गहनता का खयाल करके पुनरावृत्ति उचित ही मानी जानी चाहिए।

गीता की शैली पौराणिक

दूसरी बात यह है कि गीता का विषय और उसके तर्क वगैरह जरूर दार्शनिक हैं; मगर विषय प्रतिपादन की शैली पौराणिक है और गीता की यह एक खास खूबी है। दार्शनिक रीति रूखी और सख्त होती है, नीरस होती है। फलतः सर्वसाधारण के दिमाग में यह बात जँचती नहीं, जिससे लोग ऊब जाते हैं। फिर भी दार्शनिक इसकी परवाह करते नहीं। उन्हें तो सत्य का प्रतिपादन करना होता है। वे उपदेशक और प्रचारक तो होते नहीं कि लोगों के दिल-दिमाग को देखते फिरें। मगर गीता तो उपदेशक का काम करती है। इसका तो काम ही है सार्वजनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कामों का विवेचन करना और उनके रहस्य को लोगों के दिल-दिमाग में पहुँचाना। इसीलिए उसने पौराणिक शैली अख्तियार की है। इसकी विशेषता यही है कि संवाद, प्रश्नोत्तर या कथनोपकथन के रूप में ये बातें इसमें रखी गयी हैं। इससे प्रसंग रुचिकर हो जाता है, उसमें सरसता आ जाती है। बच्चों के लिए यह संवाद की ही प्रणाली ज्यादा हितकर मानी जाती है। हितोपदेश में यही बात पायी जाती है और पुराणों में भी। इसके चलते कठिन से कठिन विषय भी आलंकारिक ढंग से प्रतिपादित हो के सहज बन जाते हैं। चौदहवें अध्याय में गर्भधारण के रूप में सृष्टि का निरूपण कितना सुन्दर है! अर्जुन को दूसरे अध्याय में जो डाँटा गया है कि मुँह कैसे दिखाओगे वह कितना अनूठा है! पन्द्रहवें में, मरण के समय जीव सभी संस्कारों को ले के साथ ही जाता है, इसका कितना सुन्दर वर्णन वायु के द्वारा फूलों की गन्ध ले जाने की बात से किया गया है!

गीतोपदेश ऐतिहासिक

हमें एक ही बात और कह के उपसंहार करना है। गीता के प्राचीन टीकाकारों में किसी-किसी ने गीता के वर्णन को केवल आलंकारिक मान के अर्जुन, कृष्ण आदि को ऐतिहासिक पुरुषों की जगह कुछ और ही माना है। उपदेश और उपदेश्य—गुरु तथा शिष्य—आदि को ही कृष्ण, अर्जुन आदि का रूप उनने दिया है और इस तरह अपनी कल्पना का महल उसी नींव पर खड़ा किया है। मगर हमें उससे यह पता नहीं चल सका था कि ऐसा करके वे लोग सचमुच महाभारत, गीता, उस युद्ध और कौरव-पाण्डव आदि को ऐतिहासिक पदार्थ नहीं मानते। क्योंकि इस बात की झलक उनकी टीकाओं में पायी नहीं जाती।

परन्तु कुछ आधुनिक लोगों ने यह कह के गीता को ही ऐतिहासिकता से हटाना चाहा है कि प्रायः बीस लाख फौजों—क्योंकि 18 अक्षौहिणियाँ वहाँ मानी जाती हैं, और एक अक्षौहिणी में प्रायः एक लाख आदमी के अलावे घोड़े, हाथी, तोप आदि के होते थे—के बीच में, जब वह प्रहार करने ही को थीं, यह गीतोपदेश असम्भव था। इसके लिए समय कहाँ था? इसीलिए कवि ने पीछे से कृष्ण और अर्जुन के

नाम पर उसे रच के महाभारत में घुसेड़ दिया है।

मगर यदि वह जरा भी सोचें तो पता चले कि इस गीतोपदेश के लिए दो-चार घण्टे की जरूरत न थी। सात सौ श्लोकों का पाठ तेजी से एक घण्टे में पूरा हो जाता है। किन्तु वहाँ श्लोक बोले गये, सो भी ठहर-ठहर के, यह बात तो है नहीं। कृष्ण ने अर्जुन को प्रचलित भाषा में उपदेश किया। एक घण्टे के लेक्चर को लिखने में पोथा बन जाता है। गीतोपदेश में तो कुछ ही मिनटों की या ज्यादे से ज्यादा आधे घण्टे की जरूरत थी। विश्वरूप का लेक्चर तो हुआ भी नहीं। वह तो दिखा दिया गया। अर्जुन ऐसा कुन्द थोड़े ही था कि समझता न था और बार-बार रगड़-रगड़ के पूछता था। अतः उस मौके पर भी दस-बीस मिनट का समय निकाल लेना कुछ कठिन न था।

फिर भी हमारे ही देश के कुछ महापुरुषों ने जब यह कह दिया कि महाभारत की बातें ऐतिहासिक नहीं, किन्तु कविकल्पित हैं, इसलिए गीता का संवाद भी वैसा ही है, तो हमें मर्मान्तिक वेदना हुई। केवल हमीं को नहीं। हमारे जैसे कितनों को यह कष्ट हुआ। उसी समय कइयों ने हमसे अनुरोध किया कि आप इसका प्रतिपादन समुचित रूप से करें। वे हमारे गीता-प्रेम को जानते थे। इसी से उनने ऐसा कहा। यदि गीता में किसी का अपना सिद्धान्त और उसकी हिंसा-अहिंसा न मिले तो इसमें गीता का क्या दोष? वह तो रत्नाकर सागर है। गोते लगाइये तो कुछ मोती मूँगे कभी न कभी उसमें से ऊपर लाइएगा ही। मगर आप जो चाहें सोई उसमें से लायें यह असम्भव है, और ऐसा न होने पर रत्नाकर के मूल में आघात करना उचित नहीं। गीता के अपने सिद्धान्त हैं—गीताधर्म या एक खास चीज है जो उसी का है, न कि किसी और का।

ऐतिहासिकता की बात यों है। आज से हजारों साल पूर्व कुमारिल भट्ट ने मीमांसा दर्शन की टीका, तन्त्रवार्त्तिक में, सदाचार के प्रसंग से अर्जुनादि पाण्डवों और कृष्ण के कामों पर आक्षेप करके पुनः उसका समर्थन किया है। दूसरे की दृष्टि में हमारे सत्पुरुषों का काम खटका था। इसलिए वे उन्हें सत्पुरुष नहीं मानते थे। कुमारिल ने खटका हटा के सत्पुरुष करार दिया और कृष्ण का ननिहाल पाण्डवों के यहाँ माना।

ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों—खासकर छान्दोग्य वृहदारण्यक आदि—में बीसियों बार कुरुक्षेत्र और कुरुदेश का जिक्र आया है और वहाँ अकाल एवं पाला-पत्थर की बात लिखी गयी है। कुरुक्षेत्र का कुरु तो पाण्डवों तथा कौरवों का पूर्वज ही था। हस्ती भी उनका पूर्वज था। इसी से हस्तिनापुर नाम और स्थान पाये जाते हैं। कुरुक्षेत्र के युद्ध की स्मृति अभी तक वहाँ पायी जाती है और स्थान याद किये जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के चौथे अध्याय के 17वें खण्ड में देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख है और ये थे पाण्डवों के नातेदार यह अभी कहा है। सबसे बड़ी बात यह है कि भीष्म के मरण के समय माघ में कृत्तिका नक्षत्र का सूर्य लिखा मान के और तैत्तिरीय आदि संहिताओं में भी यही देख के महाभारत के युद्ध का समय ईसा से पूर्व 1400 से लेकर 2500 साल के बीच में गणित के आधार पर ठीक किया गया है। तिलक

ने ओरायन में इसका बड़ा प्रामाणिक विवेचन किया है। इसके सिवाय बीसियों भारतीय तथा पाश्चात्य देशीय पुरातत्त्वज्ञों ने भी यह बात मानी है। तिलक ने गीतारहस्य में साफ ही लिखा है कि "सभी लोग मानते हैं कि श्रीकृष्ण तथा पाण्डवों के ऐतिहासिक पुरुष होने में कोई सन्देह नहीं है," "चिन्तामणिराव वैद्य ने प्रतिपादन किया है कि श्रीकृष्ण, यादव, पाण्डव तथा भारतीय युद्ध का एक ही काल है।" फिर निराधार बात क्यों कही जाय? तब तो रामायण आदि हमारा सभी इतिहास इसी तरह खत्म होगा। महाभारत पुस्तक को पुराण न कह के इतिहास कहते हैं और पंचमवेद भी। उपनिषद् में भी ऐसा ही कहा है। तो क्या अब उसे निरा उपन्यास माना जाय।

गीताधर्म का निष्कर्ष

जो कुछ कहना था कहा जा चुका। गीतार्थ और गीताधर्म को समझने के लिए, हमारे जानते, इससे ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं है। इससे कम से भी शायद ही काम चलता। इसीलिए इच्छा रहते हुए भी हम इस विवेचन को संक्षिप्त कर न सके। उसमें हमें खतरा नजर आया। मगर अब हमें आशा है कि हमने जो कुछ लिखा है। उसी की कसौटी पर कसने पर गीताधर्म का हीरा शानदार और खरा निकलेगा। हम जानते हैं कि उसके लिए सैकड़ों तराजू और कसौटियाँ अबतक बन चुकी हैं जो एक से एक जबर्दस्त हैं। मगर हमारा अपना विश्वास है कि उनमें कहीं न कहीं कोई खामी है, त्रुटि है। जब सभी को अपने विश्वास की स्वतन्त्रता है तो हमें भी अपने विचार के ही अनुसार कहने और लिखने में किसी को उज्र नहीं होना चाहिए। हम दूसरे के विचारों को उनसे छीनने तो जाते नहीं कि कलह हो। हम तो कही चुके हैं कि गीता तो इसी बात को मानती है कि हर आदमी ईमानदारी से अपने ही विचारों के अनुसार बोले और काम करे। इसीलिए हमने पुरानी कसौटियों की त्रुटियों का खयाल करके ही यह कसौटी तैयार की है। हमें इसमें सफलता मिली है या विफलता, यह तो कहना हमारे वश के बाहर की बात है। मगर 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' के अनुसार हम इसकी परवाह करते ही नहीं। हमारी इस कसौटी में भी त्रुटियाँ होंगी, इसे कौन इनकार कर सकता है? लेकिन गीतार्थ हृदयंगम करने में यदि इससे कुछ भी सहायता मिली तो यह व्यर्थ न होगी।

महाभारत की उस बड़ी पोथी में जनकपुर के धर्मव्याध का वर्णन मिलता है, जो कसाई का काम करके ही अपनी जीविका करता था। उसी के सिलसिले की एक सुन्दर कहानी भी है जो गीताधर्म को आईने की तरह झलका देती है। कोई महात्मा किसी निर्जन प्रदेश में जा के घोर तप और योगाभ्यास करते थे। दीर्घकाल के निरन्तर प्रयत्न से उन्हें सफलता मिली और योगसिद्धि प्राप्त हो गयी। फिर क्या था? उनने वह काम बन्द कर दिया और गाँव की ओर चल पड़े। लेकिन जानें क्यों योगसिद्धि की प्राप्ति के बाद भी उन्हें सन्तोष न था, भीतर से तुष्टि मालूम न होती

थी। खैर, रास्ते में एक वृक्ष के नीचे विश्राम करी रहे थे कि ऊपर से किसी बगुले ने उनके ऊपर विष्ठा गिरा दिया। उन्हें बड़ा गुस्सा आया और आँखें लाल करके जो बगुले को देखा तो वह जल के खाक हो गया! अब महात्मा को विश्वास हो गया कि उन्हें अवश्य योगसिद्धि प्राप्त हो चुकी है।

फिर वह आगे चले। उनने भोजन का समय होने से गाँव में एक गृहस्थ के द्वार पर पहुँच के 'भिक्षां देहि' की आवाज लगाई। देखा कि एक स्त्री भीतर है, जिसने उन्हें देखा भी और उनकी आवाज भी सुनी। मगर वह अपने काम में मस्त थी। इधर महात्मा को द्वार पर खड़े घण्टों हो गये! उस स्त्री की धृष्टतापूर्ण नादानी पर उन्हें क्रोध आया। ठीक भी था। सिद्ध पुरुष का यह घोर तिरस्कार एक मामूली गृहस्थ की स्त्री करे! मगर करते क्या? आँखों से खून उगलते खड़े रहे और दाँत पीसते रहे कि संहार ही कर दूँ। इतने में भोजन ले के जो स्त्री आयी तो आते ही उसने बेलाग सुना दिया कि आँखें क्या लाल किये खड़े हैं? मैं वृक्षवाला बगुला थोड़े ही हूँ कि जला दीजियेगा ! अब तो उन्हें चीरो तो खून नहीं। सारी गर्मी ठण्डी हो गयी यह देख के कि इसे यह बात कैसे मालूम हो गयी जो यहाँ से बहुत दूर जंगल में हुई थी! फिर तो उन्हें अपनी तपःसिद्धि फीकी लगने लगी। खाना छोड़ के उनने उस माता से पूछा कि तुझे यह कैसे पता चला? उसने कहा कि लीजिए भोजन कीजिए और जनकपुर में धर्मव्याध के पास जाइए। वही सब कुछ बता देगा!

महात्मा वहाँ से सीधे जनकपुर रवाना हो गये। परेशान थे, हैरत में थे। जनकपुर पहुँच के धर्मव्याध को पूछना शुरू किया कि कहाँ रहता है। समझते थे, वह तो कहीं तपोभूमि में पड़ा महात्मा होगा। मगर पूछते-पूछते एक हाट में एक ओर एक आदमी को देखा कि मांस काटता और बेचता है और यही धर्मव्याध है! सोचने लगे, उफ, यह क्या? यही धर्मव्याध मुझे धर्म-कर्म का रहस्य बतायेगा? मगर कौतुकवश खड़े रहे। धर्मव्याध ने एक बार उन्हें देख के मुस्करा दिया सही; मगर वह अपने काम में घण्टों व्यस्त रहा। जब काम से छूट्टी हो गयी और दुकान समेट चुका तो उसने उनसे पूछा कि महात्मन्, कैसे चले? क्या आपको उस स्त्री ने भेजा है? सिद्ध महात्मा तो और भी हैरान थे कि यह क्या? स्त्री तो भला गृहस्थी का काम करती थी। मगर यह तो निरा कसाई है। फिर भी उसकी भी नाक काटता है! खैर, हाँ कह के उसके साथ उसके घर गये! उन्हें बैठा के पहले घण्टों वह अपने वृद्ध माँ-बाप की सेवा करता रहा, जैसे वह स्त्री अपने पति की सेवा कर रही थी! माँ-बाप से फुर्सत पा के उसने उन्हें भी खिलाया-पिलाया! पीछे उसने वार्त्तालाप शुरू करके कहा कि मैंने पहले हजार कोशिश की थी कि इस हिंसा से बचूँ और दूसरी जीविका करूँ। मगर विफल रहा। तब समझ लिया कि चलो जब यही भगवान् की मर्जी है तो रहे। बस, केवल कर्तव्यबुद्धि से यह काम करता हूँ। सफलता-विफलता और हानि-लाभ की जरा भी परवाह नहीं करता। उसके बाद जो साग-सत्तू मिलता है। उसी से पहले अपने

प्रत्यक्ष भगवान—माँ-बाप—की सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें तृप्त करता हूँ। फिर यदि कोई अतिथि हो तो उसका सत्कार करके खुद भी खाता-पीता हूँ। यही मेरी दिनचर्या है, यही मेरा योगाभ्यास है, यही मेरी तपश्चर्या और यही भगवान् की पूजा है। वह स्त्री भी पति के सिवाय किसी और को जानती ही नहीं। उसके लिए भगवान् और सब कुछ वही एक पति ही है। यही उसकी योगसाधना है और यही न सिर्फ हम दोनों के बल्कि सारे संसार के कर्मों का रहस्य है, उनकी कुंजी है और वास्तविक सिद्धि का असली मार्ग है।

इस आख्यान में गीताधर्म का निचोड़ पाया जाता है। अब तक हम भगवान् को, स्वर्ग, वैकुण्ठ, नर्क और मुक्ति को अपने से अलग समझ उन्हें पाने के लिए कर्म-धर्म करेंगे और उनमें भी बुरे-भले का भेद करेंगे कि यह कर्म भला और यह बुरा है तब तक हम भटकते ही रहेंगे। तब तक कल्याण हमसे लाख कोस दूर रहेगा—दूर होता जायगा। हमें तो अपनी आत्मा को ही, अपने आप को ही, सबमें वैसे ही देखना है जैसे नमक के टुकड़े में नीचे-ऊपर चारों ओर एक ही चीज होती है—नमक ही नमक होता है। यही बात गीता कहती है, यही उसका और उपनिषदों का अद्वैत-तत्त्व है। नमक का ही दृष्टान्त देकर आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को यही बात छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय के तेरहवें खण्ड के तीसरे मन्त्र में इस तरह कही है, "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसिश्वेतकेतो।" यह अत्यन्त कठिन होते हुए भी निहायत आसान है, यदि हममें इसकी आग हो, लगन हो। यही बात सूफियों ने यों कही है कि "दिल के आईने में है तस्वीरे यार। जब जरा गर्दन झुकाई देख ली" और "बहुत ढूँढ़ा उसे हमने न पाया। अगर पाया पता अपना न पाया"। इसी के हासिल होने पर यह उद्गार निकली है कि "हासिल हुई तमन्ना जो दिल में थी मगर। दिल को आरजू है कोई आरजू न हो।" उपनिषदों में इसी उद्गार को 'येन त्यजसि तत्त्यज' कहा है।

यही गीताधर्म है और यही उसका योग है। यही वेदान्त का रहस्य है, जिसके फलस्वरूप लोकसंग्रह और मानव-समाज के कल्याणों के लिए छोटे-बड़े सभी कामों के करने का रास्ता न सिर्फ साफ हो जाता है, बल्कि सुन्दर, रमणीय और रुचिकर हो जाता है, अत्यन्त आकर्षक बन जाता है। इसी के करते लोकसंग्रहार्थ कर्म करने से तबीअत ऊबने के बजाय उसमें और भी तेजी से लगती जाती है। कितना भी कीजिए, फिर भी सन्तोष होने के बजाय और करें, और करें यही इच्छा होती रहती है। साथ ही, यदि दृढ़ संकल्प एवं पूर्ण प्रयत्न के बाद भी किसी कारण से कोई काम पूरा न हो, छूट जाय या और कुछ हो जाय, तो जरा भी बेचैनी या परेशानी नहीं होती। मस्ती हमेशा बनी रहती है। यही स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीत की दशा है। इसके चलते ही यदि कर्म सोलहों आने छूट जाय, जैसे पेड़ से पका फल गिर जाय, तो भी मस्ती ज्यों की त्यों रहती है। इसी मस्ती को हासिल करने के लिए पहले धर्मों का संन्यास आवश्यक होता है, ऐसी गीता की मान्यता है।

दूसरा : गीता भाग

पूर्वापर सम्बन्ध

गीताहृदय का अन्तरंग भाग या पूर्व भाग लिख चुकने के बाद, जैसा कि उसके शुरू में ही कहा जा चुका है, उसके मध्य के गीताभाग का लिखा जाना जरूरी हो जाता है। जिस जानकारी की सहायता के ही लिए वह भाग लिखा गया है और इसीलिए अन्तरंग भाग कहा जाता भी है, उसके बाद उसी बात का लिखना अर्थ सिद्ध हो जाता है। अन्तरंग भाग के पढ़ लेने पर गीताहृदय के इस दूसरे भाग के पढ़ने की आकांक्षा खुद-ब-खुद हो जायगी। लोग खामख्वाह चाहेंगे कि उसके सहारे गीतासागर में गोता लगायें। उसके पढ़ने से इसके समझने में—गीता का अर्थ और अभिप्राय हृदयंगम करने में—आसानी हो जायगी। इसीलिए इसे पूरा किया जाना जरूरी हो गया।

हमने कोशिश की है कि जहाँ तक हो सके श्लोकों के सरल अर्थ ही लिखे जायँ जो शब्दों से सीधे निकलते हैं। बेशक, गीता अत्यन्त गहन विषय का प्रतिपादन करती है, सो भी अपने ढंग से। साथ ही इसकी युक्ति दार्शनिक है, यद्यपि प्रतिपादन की शैली है पौराणिक। इसलिए शब्दों के अर्थों के समझने में कुछ दिक्कत जरूर होती है, जब तक अच्छी तरह प्रसंग और पूर्वापर के ऊपर ध्यान न दिया जाय। हमने इस दिक्कत को बहुत कुछ अन्तरंग भाग में दूर भी कर दिया है। फिर भी उसका आना अनिवार्य है। अतः ऐसे ही स्थानों में श्लोकों के अर्थ लिखने के बाद छोटी या बड़ी टिप्पणी दे दी गयी जिससे उलझन सुलझ जाए और आशय झलक पड़े।

आशा है, यह भाग पूर्व भाग के साथ मिल के लोगों को—गीता-प्रेमियों को—सन्तुष्ट कर सकेगा। गीतार्थ-अवगाहन के लिए उनका मार्ग तो कम से कम साफ करी देगा।

प्रवेशिका

जिनने ज्यादा गौर नहीं किया है, या जो ध्यान से गीता नहीं पढ़ते, लेकिन इतना जानते हैं कि गीता महाभारत में ही लिखी है और उसी बड़ी पोथी में से अलग करके इसका पठन-पाठन तथा प्रचार होता है, वह आमतौर से ऐसा ही समझते हैं कि महाभारत के युद्ध के आरम्भ होने के पहले ही उसका प्रसंग आने के कारण वह महाभारत की पोथी में भी उद्योग पर्व के बाद ही या भीष्म पर्व के शुरू होने के पहले ही लिखी गयी होगी। यदि और नहीं तो इतना तो खयाल उन्हें अवश्य होता होगा कि गीतोपदेश को सुनने के बाद ही लड़ाई की बात धृतराष्ट्र को मालूम हुई होगी और भीष्म आदि की मृत्यु की भी।

मगर दरअसल बात ऐसी है नहीं। यह सही है कि युद्धारम्भ के पहले ही कृष्ण और अर्जुन के बीच गीतावाला संवाद हुआ, जिसे आज की भाषा में एक तरह का चखचुख भी कह सकते हैं। यदि देखा जाय तो गीता के दूसरे अध्याय के शुरू में, गीता के असली उपदेश के पहले, जो बातें कृष्ण एवं अर्जुन के बीच हो गयी हैं वह चखचुख जैसी ही हैं। कृष्ण कहते हैं कि भई, ऐन लड़ाई के समय पर ही यह बड़ी बुरी कमजोरी तुममें कहाँ से आ गयी? राम, राम, इसे दूर करो और फौरन कमर बाँध के तैयार हो जाओ। नामर्द की तरह कमर तोड़ के यह बैठ क्या गए हो? इस पर अर्जुन अपने इस काम के, इस मनोवृत्ति के समर्थन के लिए दलीलें करता और कहता है कि पूजनीय गुरुजनों के चरणों पर चन्दन, पुष्पादि चढ़ाने के बदले उनके कलेजे में तीर बेधूँ? यह नहीं होने का। इन्हें मार के इन्हीं के खून से रंगे राजपाट जहन्नुम जायें। मैं इन्हीं हर्गिज नहीं मारने का। यही न होगा कि न लड़ने पर राजपाट न मिलेगा? तो इसमें हर्ज ही क्या है? इन्हें न मारने पर तो भीख माँग के गुजर करना भी कहीं अच्छा है। यह राजपाट ठीक है या वह भिक्षावृत्ति, इसका भी निर्णय तो हो पाता नहीं। मैं तो घपले में पड़ा हूँ। यह भी तो निश्चय नहीं कि हमीं लोग खामख्वाह जीतेंगे ही। ऐसी दशा में मुझे तो भिक्षावाला पक्ष ही अच्छा मालूम होता है।

यह प्रश्नोत्तर चखचुख ही तो है। असली चखचुख तो ऐसे संकट के ही समय

हुआ करती है। फर्क यही है कि अर्जुन और कृष्ण की बातों का तरीका अत्यन्त परिमार्जित था, गंभीर था, जैसा कि गीता के शुरू के श्लोकों से पता चल जाता है। हाँ, इसके बाद अर्जुन ने यह जरूर किया कि अपनी ही बात पर अड़े न रहे। किन्तु कृष्ण से साफ ही कबूल किया कि मेरी अक्ल इस समय काम नहीं कर रही है। इसीलिए कर्तव्य-अकर्तव्य का ठीक-ठीक फैसला कर पाता हूँ नहीं। आप कृपा करके मेरी भलाई के लिए जो बात उचित हो वही कहिए। मैं आपकी शरण आया हूँ। नहीं तो मेरे हृदय में जो महाभारत इस समय हो रहा है और जिसके करते सारी इन्द्रियाँ शिथिल होती जा रही हैं, वह मुझे मार डालेगा। उसकी शान्ति भूमण्डल के चक्रवर्त्ती राज्य की तो क्या स्वर्ग की भी गद्दी मिलने से नहीं हो सकती है। इतना कहने के बाद, मैं तो लड़ूँगा हर्गिज नहीं, ऐसा बोल के अर्जुन चुप हो गए। उसी के बाद, कुछ मुस्कराते हुए कृष्ण ने दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से गीतोपदेश शुरू किया।

बात यह है कि भीष्म के आहत हो जाने, किन्तु मरने के पूर्व, वीर क्षत्रियोचित शरशय्या पर उनके पड़ जाने की खबर जब धृतराष्ट्र को संजय ने दी, तो धृतराष्ट्र के कान खड़े हुए। उसने समझा कि रंग बदरंग है। तभी उसने संजय से घबरा के पूछा कि बोलो, बोलो, क्या हो गया? यह हालत कैसे हो गयी, लड़ाई का श्रीगणेश कैसे हुआ; पहले किसने क्या किया और यह नौबत आने तक दूसरी बातें क्या-क्या हो गयीं? शुरू में बात यों हुई कि लड़ाई की सारी तैयारी देख के और अवश्यम्भावी संहार का खयाल करके व्यास धृतराष्ट्र के पास आये। यह तो मालूम ही है कि धृतराष्ट्र उनके पुत्र थे। इसलिए भी और सान्त्वना देने के साथ ही आगाह कर देने के लिए भी उनका आना जरूरी था। वही तो अब पथप्रदर्शक बच गये थे। बाकी लोग तो लड़ाई के मैदान में ही डटे थे। उनने समझा कि शायद अन्धे धृतराष्ट्र को यह देखने की इच्छा हो कि अन्तिम समय तो भला पुत्रों और सम्बन्धियों को देख लूँ। भीष्मपर्व के पहले अध्याय में लड़ाई की तैयारी देखने और संहार का लक्षण जानने की बात कहके दूसरे में धृतराष्ट्र के साथ व्यास का संवाद लिखा गया है। वहाँ व्यास के यह कहने पर कि चाहो तो आँखें ठीक कर दूँ और सब कुछ देख लो, धृतराष्ट्र ने यही उत्तर दिया कि जिन्दगी भर तो कुछ देख न सका। तो अब आँख लेके भला यह वंशसंहार देखूँ? इसकी जरूरत नहीं है। हाँ, कृपया ऐसा प्रबन्ध कर दें कि पूरा वृत्तान्त अक्षरशः जान सकूँ।

इस पर व्यास ने धृतराष्ट्र के मन्त्री संजय को बता के कहा कि अच्छा, तो इस संजय की ही आँखों में ऐसी शक्ति दिये देता हूँ कि यह रत्ती-रत्ती समाचार तुम्हें सुनायेगा। इसे हरेक बात की जानकारी बैठे-बैठे ही हो जाया करेगी। दिन में या रात में, प्रत्यक्ष-परोक्ष जो कुछ भी होगा, यहाँ तक कि लड़नेवाले लोग मन में भी जिस बात का खयाल करेंगे, सभी की पूरी जानकारी इसे हो जाया करेगी। लेकिन

इसी के साथ व्यास ने एक बार और भी धृतराष्ट्र को समझाने की कोशिश की कि वह दुर्योधन को समझा के अब भी रोक दे, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। व्यास को तो पता था ही कि धृतराष्ट्र और दुर्योधन की एक ही राय है। मगर धृतराष्ट्र पर तो इसका असर होने जाने का था नहीं। यही बातें दो और तीन अध्यायों में आयी हैं। जब उनने देखा कि धृतराष्ट्र के मन में उनकी बात घुस नहीं रही है, प्रत्युत अभी तक उसे दुर्योधन आदि अपने ही पुत्रों की जीत की आशा लगी है, तब उनने उसका यह भ्रम मिटाने के लिए इतना ही बता दिया कि जो जीतता या हारता है उसकी हालत पहले से ही कैसी होती है। इसे ही शुभ-अशुभ लक्षण भी कहते हैं। फिर व्यास चले गये। इसके बाद धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा कि आखिर यह भूमि कितनी बड़ी है, जिसे जीतने के लिए यह मार-काट होने वाली है। भीष्मपर्व के चौथे से लेकर बारहवें अध्याय तक उसी भूमण्डल के सभी विभागों का वर्णन किया गया है। इसके बाद संजय कुतूहलवश कुरुक्षेत्र की ओर चले गये। फिर वहां से लौट के धृतराष्ट्र को सुनाया कि लो, अब तो भीष्म आहत हो के पड़े हैं। यह बात तेरहवें अध्याय से शुरू होती है और यहीं से गीतापर्व का श्रीगणेश होता है।

उसके बाद धृतराष्ट्र का रोना-गाना शुरू हुआ। फिर तो उसने भीष्म के आहत होने के सारे वृत्तान्त के साथ ही युद्ध की सारी बातें पूछीं और संजय ने बताईं। दोनों पक्षों की तैयारी की भी बात संजय ने कही। जिस प्रकार आज भी फौजों की नाकेबन्दी होती है और अनुकूल जगह पर लड़ने वाले आदमियों, घुड़सवारों या तोपखाने आदि को रखा जाता है। ठीक उसी प्रकार पहले भी रखा जाता था। इसी को व्यूह-रचना कहते थे। आज की ही तरह यह रचना कई तरह की होती थी। मगर उस समय की परिस्थिति तथा अस्त्र-शस्त्र की प्रगति के अनुसार गाड़ी के गोल चक्के की सूरत में जब लोगों को खड़ा करते थे तो उसे चक्रव्यूह कहते थे। इसमें दुश्मन चारों ओर से घिर जाता था। इसे ही आज घेरना (encirclement) कहते हैं। जब कछुए की सूरत में रखते जहाँ बीच में तोप आदि ऊँची जगह पर रहें तो उसे कूर्मव्यूह कहते थे। गीता के पहले अध्याय में इन्हीं व्यूहों का जिक्र है। ज्यादा फौज कम फौजों के अगल-बगल (Flank) में भी खड़ी हो जाती और आसानी से विजय पाती थी। इसीलिए धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा था कि हमारी फौज तो ग्यारह अक्षौहिणी—प्रायः 11-12 लाख—है, उसे उनकी सात ही अक्षौहिणी कैसे घेरेगी, या उसका सामना करेगी? संजय ने इसी के उत्तर में कहा कि कौन, कहाँ कैसे खड़े हैं और किसे कैसे खड़ा किया गया था। पश्चिम ओर पूर्व रुख पाण्डवों की और पूर्व ओर पश्चिम रुख कौरवों की सेना खड़ी थी। सारी तैयारी कैसे पूरी हुई, यह बात भी उसने कही। अन्त में कह दिया कि दोनों फौजें इस प्रकार आ के आमने-सामने डट गयीं। शुरू में दुर्योधन पक्ष के सेनापति भीष्म और पाण्डव पक्ष के भीम थे, यह भी बताया।

इस प्रकार तेरहवें से शुरू करके चौबीस तक के अध्याय में ये बातें कह के

गीतापर्व की एक तरह की भूमिका पूरी की गयी है। फिर पचीसवें से लेकर बत्तीसवें तक में गीता के कुल अठारह अध्याय पूरे हुए हैं। पूरी तैयारी और आमने-सामने डट जाने की बात सुन के ही गीता के पहले श्लोक में धृतराष्ट्र ने पूछा कि उसके बाद फौरन मारकाट ही शुरू हो गयी या कुछ और भी बात हुई? उसके उत्तर में ही समूची गीता आ गयी। इसी सिलसिले में एक और भी मजेदार बात हो गयी थी।

गीतोपदेश के बाद जब अर्जुन लड़ने को तैयार हो गये तो एकाएक देखते हैं कि युधिष्ठिर कवच वगैरह उतार के नंगे पाँव कौरवों की सेना की ओर तेजी से बढ़े जा रहे हैं। देखते ही अर्जुन आदि सभी घबरा गये। हालत यह हो गयी कि ये पाँचों भाई कृष्ण के साथ उनके पीछे-पीछे दौड़े जा रहे हैं और कहते जा रहे हैं कि राम, राम, यह क्या कर रहे हैं? ऐन वक्त पर आप यह कहाँ चले? जब युधिष्ठिर न रुके, तो कृष्ण ने ताड़ लिया और लोगों को समझा दिया कि भीष्म आदि गुरुजनों से लड़ने के पहले आज्ञा लेने जा रहे हैं। यही शिष्टाचार है। उधर कौरव सेना वालों को बड़ी खुशी हुई कि लो, बिना मारे ही दुश्मन मरा। सचमुच युधिष्ठिर नामर्द है। नहीं तो ऐसे वीरबाँकुड़े भाइयों और कृष्ण की मदद के होते हुए भी क्यों दुर्योधन के पाँव पड़ने आता?

इसी बीच युधिष्ठिर सबों के साथ ही पहले भीष्म के पास और पीछे क्रमशः द्रोण, कृप और शल्य के पास गये और चारों को प्रणाम करके लड़ने की आज्ञा तथा सफलता की शुभेच्छा चाही। पहले के तीन तो हर तरह से माननीय थे। शल्य भी था माद्री का भाई और भीम आदि का मामा। वह मद्रदेश का राजा था। उसने युधिष्ठिर को आज्ञा दी और शुभेच्छा भी जाहिर की। मगर सबों ने एक बात ऐसी कही जो विचारणीय है और जिसका जिक्र हम पूर्व भाग में कर चुके हैं। चारों के मुख से एक ही श्लोक निकला, जो इस प्रकार है, "अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्यं महाराज, बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः।" यही श्लोक भीष्मपर्व के 43वें अध्याय का 41वाँ, 56वाँ, 71वाँ तथा 82वाँ है। इसका सीधा अर्थ यही है कि "महाराज, अन्नधन का गुलाम आदमी होता है, न कि आदमी का गुलाम पैसा, यही पक्की बात है। इसलिए कौरवों ने हमें गुलाम बना लिया है।"

जिन्हें मौत पर भी कब्जा हो और जो अपनी मर्जी के खिलाफ न तो हार सकें और न मर सकें उन लोगों ने जब संसार का पक्का नियम ऐसा बता दिया और हिम्मत के साथ तदनुकूल ही अपनी स्थिति कबूल कर ली, तो मानना ही पड़ेगा कि यह बड़ी बात है। इसीलिए इस अप्रिय सत्य पर पूरा ध्यान न दे के जो लोग कोरे अध्यात्म की राग अलापते रहते हैं वे कितने गहरे पानी में हैं यह बात स्पष्ट हो जाती है। भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य तो ऐसा कहें और हम अध्यात्म से जरा भी नीचे न आयें यह विचित्र बात है! लेकिन जैसा कि हम दिखला चुके हैं, गीता इस कठोर सत्य को खूब मानती है। वह इसे स्वीकार करके ही आगे बढ़ी

है। शायद कोई ऐसा समझ ले कि उन महानुभावों ने यों ही ऐसा कह दिया है। इसलिए उसी के बाद जो श्लोक चारों जगह आये हैं वे सोलहों आने एक से न होने पर भी अभिप्राय में एक से ही हैं। वह इस बात को और भी खोल देते हैं। हम द्रोण के कहे श्लोक को लिख के उसी का अर्थ बता देना काफी समझते हैं। एक श्लोक यों है, "ब्रवीम्येतत्क्लीबवत्त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि। योत्स्येऽहं कौरवस्यार्थे तवाशास्योजयो मया" (57)। इसका भावार्थ यह है कि "यही कारण है कि आज मैं तुम्हारे सामने दब्बू की तरह बातें करता हूँ। लड़ूँगा तो दुर्योधन के ही पक्ष में मगर विजय तुम्हारी ही चाहूँगा।" उनने साफ मान लिया कि युधिष्ठिर के सामने अन्नधन के ही लिए दबना पड़ा।

उसके बाद युधिष्ठिर सदल वापस आ गये और कुछ अन्य राजनीतिक चालों के बाद महाभारत की भिड़न्त शुरू हुई जिसका वर्णन 44वें अध्याय से शुरू हुआ है। इस प्रकार अब तक जो कुछ कहा गया है उससे गीता के उपदेश की परिस्थिति का पूरा पता लग जाने से उसका तात्पर्य सुगम हो जाता है। इसीलिए गीता के प्रतिपादित विषय में प्रवेश के लिए और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

हाँ, कुछ नाम शुरू में आये हैं, उन्हें यहीं जान लेना अच्छा है। धृतराष्ट्र दुर्योधन का पिता था और संजय धृतराष्ट्र का मन्त्री यह तो कही चुके हैं। भीष्म, द्रोण और कृप को भी लोग जानते ही हैं। भीष्म बड़े बूढ़े और सबके पितामह थे। इसीलिए उन्हें भीष्मपितामह भी कहते हैं। शेष दो व्यक्ति आचार्य थे। उनने शिक्षा दी थी। अश्वत्थामा द्रोण का पुत्र था और विकर्ण था दुर्योधन का भाई। युयुधान एवं सात्यकि एक ही व्यक्ति के नाम हैं। भूरिश्रवा को ही सौमदत्ति (सोमदत्त का पुत्र) कहते थे। धृष्टद्युम्न द्रुपद का बेटा था और द्रुपद था द्रौपदी का पिता तथा पांचाल देश का राजा। विराट मत्स्यदेश का राजा था। धृष्टकेतु शिशुपाल के लड़के का नाम था। चेकितान यदुवंशियों में एक योद्धा था। वसुदेव यदुवंशी ही थे, जिनके पुत्र कृष्ण थे। युधामन्यु और उत्तमौजा भी पांचाल देश के ही निवासी थे। शिबिदेश के राजा को ही शैब्य लिखा है। कुन्ती जिस राजा को गोद में दी गयी थी उसके वंश का नाम ही कुन्तिभोज था। उसी राजा का पुत्र पुरुजित् नाम वाला था। इसीलिए पुरुजित् और कुन्तिभोज ये दो नाम न होके एक ही हैं। पुरुजित् के ही वंश का नाम कुन्तिभोज है। सुभद्रा कृष्ण की बहन थी। उसकी शादी अर्जुन से हुई थी। इसीलिए सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु को ही सौभद्र कहा है। द्रौपदेय कहा है द्रौपदी के प्रतिबिन्ध्य आदि पाँचों बेटों को। काश्य और काशिराज एक ही आदमी—काशी के राजा—को कहा गया है। शिखण्डी को तो सभी जानते हैं। वह नपुंसक था और उसी की ओट में भीष्म मारे गये। क्योंकि नपुंसक पर वार वह करते न थे। हृषीकेश एवं गोविन्द कृष्ण का ही नाम है। गुडाकेश, पार्थ, सव्यसाची अर्जुन को ही कहते हैं। भारत अर्जुन को भी कहा है और धृतराष्ट्र को भी। कृष्ण के ही कुल को वृष्णिकुल और इसीलिए

कृष्ण को वार्ष्णेय भी कहते हैं। गोविन्द, अरिसूदन, मधुसूदन, माधव नाम भी उनका है और भगवान् या श्रीभगवान् भी। अर्जुन को परन्तप भी कहा है और पार्थ भी। पार्थ का अर्थ पृथा (कुन्ती) का पुत्र। कुन्ती के पुत्र होने से ही अर्जुन कौन्तेय कहे गये हैं।

गीता के शुरू में ही जो व्यूढ़ शब्द आया है उसका अर्थ है व्यूह के आकार में बनी या खड़ी फौज। व्यूह का अर्थ पहले ही बताया जा चुका है। वहीं महारथ शब्द भी आया है। यह फौजी शब्द है। जैसे जो दस या ज्यादा शत्रु के हवाई जहाजों को खत्म कर दे उसे फ्रेंच या अंग्रेजी भाषा में एस (ace) कहते हैं। उसी तरह ये महारथ आदि शब्द भी पहले बोले जाते थे। योद्धा लोगों की ही यह संज्ञाएँ थीं और थीं ये चार—अर्द्धरथ, रथ, महारथ और अतिरथ। जो एक से भी अच्छी तरह न लड़ सके वह अर्द्धरथ, जो एक से लड़ सके वह रथ, जो अकेले दस हजार योद्धाओं से भिड़े वह महारथ और जो असंख्य लोगों से भिड़ जाये वह अतिरथ कहा जाता था—"एको दस सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स वै प्रोक्तो महारथः। अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः। रथस्त्वेकेन योद्धा स्यात्तन्न्यूनोऽर्द्धरथः स्मृतः।"

अब एक ही बात जानने के लिए रह जाती है और है वह कुरुक्षेत्र की बात। छान्दोग्य और वृहदारण्यक जैसे प्राचीनतम उपनिषदों में बार-बार कुरुदेश और कुरुक्षेत्र का नाम आता है। मनुस्मृति में भी ब्रह्मर्षिदेश को बताते हुए दूसरे अध्याय में उसके अन्तर्गत कई प्रदेशों का नाम गिना के कहा है कि "कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल, और शूरसेन इन्हीं चार देश को मिला के ब्रह्मर्षि देश कहा जाता है—"कुरुक्षेत्र च मत्स्याश्च पांचालाः शूरसेनकाः। एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः।" उसी ब्रह्मर्षिदेश का नाम पीछे कान्यकुब्ज हो गया। वर्तमान गुड़गाँव, रोहतक आदि जिले कुरुक्षेत्र के ही भीतर हैं। उनसे पश्चिम बहुत दूर तक का प्रदेश ब्रह्मावर्त्त कहा जाता था। जाबालोपनिषद् के पहले ही मन्त्र में कुरुक्षेत्र का नाम आया है। परशुराम के बारे में यही माना जाता है कि उसी मैदान में उनने बार-बार क्षत्रियों का संहार किया। दिल्ली के पास का पानीपत का मैदान इधर भी कितनी ही लड़ाइयों का केन्द्र रहा है। वह कुरुक्षेत्र का ही मैदान है। उसी में महाभारत का महायुद्ध भी हुआ था। भारत के लिए यह कत्लगाह है।

महाभारत के शल्यपर्व के कुल छब्बीस श्लोकों में इस कुरुक्षेत्र की चौहद्दी, इसके मुख्य स्थान आदि दिये गये हैं जो पुराने जमाने के नाम हैं। वहीं यह भी लिखा है प्रजापतियों की यह पुरानी यज्ञशाला है। यहीं पर देवताओं ने भी बड़े-बड़े यज्ञ किये थे। इसीलिए इसकी धूल तक पापनाशक मानी गयी है। कुरुक्षेत्र का शब्दार्थ है कुरु का क्षेत्र या खेत। कुरु था कौरव-पाण्डवों का मूरिस या पूर्वज। वहीं लिखा है कि इस जमीन को वह बराबर जोतता रहता था। इन्द्र ने उसे बार-बार रोका।

पर उसने न माना। जोतने का मतलब कुछ साफ नहीं है सिवाय इसके कि कहा गया है कि भविष्य में जो यहाँ मरें उन्हें स्वर्ग मिले इसीलिए जोतना जारी था। अन्त में इन्द्र ने जब यह वरदान दिया कि जाइए यहाँ तप करने या लड़ने में जो मरेंगे वह जरूर स्वर्गी होंगे, तब उसने जोतना छोड़ा। इसीलिए कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र या धर्मभूमि कहते हैं।

आगे श्लोकों के अर्थ में आवश्यकतानुसार बाहर से जोड़े गये शब्द कोष्ठक में दिये हैं, यह याद रहे।

इसके अलावे कहीं-कहीं श्लोकार्थ के बाद छोटी-बड़ी टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। वे साफ हैं।

पुराने समय में हाथ से पकड़ के जिन तलवार आदि हथियारों से हमला करते थे उन्हें शस्त्र कहते थे और जिन तीर आदि को फेंकते थे उन्हें अस्त्र कहते थे। उस समय फौज को भी बल कहते थे।

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।1।।

धृतराष्ट्र ने पूछा—संजय, धर्म की भूमि कुरुक्षेत्र में जमा मेरे और पाण्डु-पक्ष के युद्धेच्छुक लोगों ने क्या किया?1।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।।2।।

संजय ने कहा—उस समय पाण्डवों की सेना व्यूह के आकार में (सजी) देख के राजा दुर्योधन द्रोणाचार्य के पास जा के बात बोला (कि)—2।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढ़ां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।3।।

आचार्य, पाण्डु के बेटों की इस बड़ी सेना को (तो) देखिए। इसकी व्यूह रचना आप के चतुर चेले द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) ने की है।3।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।4।।

इसमें शूर, बड़े धनुर्धारी (और) युद्ध में भीम एवं अर्जुन सरीखे सात्यकि, विराट, महारथी द्रुपद—4।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः।।5।।

धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, कुन्तिभोज पुरुजित्, नरश्रेष्ठ शैव्य—5।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।6।।

पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, अभिमन्यु और द्रौपदी के बेटे—ये सबके-सब महारथी हैं। 6।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।। 7।।

द्विजवर, हमारे जो चुने-चुनाए लोग हैं। उन्हें भी (अब) गौर से सुनिए। मेरी फौज के जो संचालक हैं उन्हें आपकी जानकारी के लिए बताता हूँ। 7।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।। 8।।

(वे हैं), आप, भीष्म, कर्ण, युद्ध विजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और भूरिश्रवा। 8।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे तयक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।। 9।।

दूसरे भी बहुत से वीर हैं जिनने मेरे लिए प्राणों की बाजी लगा दी है, जो अनेक तरह के शस्त्र चलाने में कुशल हैं और सभी युद्धविद्या में निपुण हैं। 9।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।। 10।।

भीष्म के द्वारा रक्षित (संचालित) हमारी वह सेना काफी नहीं है। (लेकिन) इन (पाण्डवों) की यह भीम के द्वारा संचालित सेना तो काफी है।

इस श्लोक के अर्थ के सम्बन्ध में विशेष विचार पहले ही के पृष्ठों में किया जा चुका है। 10।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।। 11।।

(इसलिए) जिसकी जो जगह ठीक हुई है उसी के अनुसार आप सभी लोग नाकों पर डटे रह के केवल भीष्म की ही रक्षा करें। 11।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्।। 12।।

(इतने ही में) दुर्योधन को खुश करने के लिए सभी कौरवों में बड़े-बूढ़े और प्रतापशाली भीष्मपितामह ने सिंह की तरह जोर से गर्जकर (अपना) शंख फूँका (शंख फूँकना युद्धारम्भ की सूचना है)। 12।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।। 13।।

उसके बाद एक-एक शंख, नफीरी (शहनाई), छोटे-बड़े नगाड़े और गोमुखी (ये सभी बाजे) बज उठे (और) वह आवाज गूँज उठी। 13।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः माण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।। 14।।

उसके बाद सफेद घोड़े जुते बड़े रथ में बैठे हुए कृष्ण और अर्जुन ने भी अपने दिव्य—अलौकिक या असाधारण—शंख (प्रतिपक्षियों के उत्तर में) फूँके। 14।

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।। 15।।

कृष्ण ने पांचजन्य, अर्जुन ने देवदत्त और भयंकर काम कर डालने वाले भीमसेन ने पौंड्र नामक बड़ा शंख फूँका। 15।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।। 16।।

कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, और नकुल एवं सहदेव ने (क्रमशः) सुघोष तथा मणिपुष्पक (नाम के शंख बजाये)। 16।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।। 17।।

महाधनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि—17।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुःशंखान्दध्मुः पृथक् पृथक्।। 18।।

द्रुपद, द्रौपदी के सभी बेटे और लम्बी बाँहों वाले अभिमन्यु इन सबने हे पृथिवीराज (धृतराष्ट्र), अलग-अलग शंख फूँके। 18।

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्य पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।। 19।।

आकाश और जमीन को बार-बार गुँजा देने वाले उस घोर शब्द ने दुर्योधन के पक्षवालों का हृदय चीर दिया। 19।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।। 20।।

उसके बाद दुर्योधन के पक्ष वालों को बाकायदा तैयार देख के (और यह जान के कि अब) अस्त्र-शस्त्र छूटने ही वाले हैं, महावीर की चिह्नयुक्त ध्वजावाले अर्जुन ने,—20।

अर्जुन उवाच

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं थापय मेऽच्युत।। 21।।

हे महीपति, कृष्ण से यह बात कही कि अच्युत, दोनों फौजों के (ठीक) बीच में मेरा रथ खड़ा कर दीजिए। 21।

यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे।। 22।।

ताकि लड़ाई के मंसूबे वाले इन तैयार खड़े लोगों को देखूँ (तो कि आखिर) इस लड़ाई की दौरान में मुझे किन-किन के साथ लड़ना है। 22।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।। 23।।

ये जो युद्ध में नालायक दुर्योधन के खैरख्वाह बनके यहाँ आये हैं और लड़ेंगे उन्हें (जरा मैं) देखूँगा (कि आखिर ये हैं कौन लोग)। 23।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।। 24।।

संजय ने कहा कि हे धृतराष्ट्र, अर्जुन के ऐसा कहने पर कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में सर्वश्रेष्ठ रथ खड़ा करके–। 24।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति।। 25।।

भीष्म, द्रोण तथा सभी राजाओं के सामने ही कहा कि अर्जुन, जमा हुए इन कुरु के वंशजों को देख ले। 25।

यहाँ कुरुवंशियों से तात्पर्य दोनों पक्ष के सभी लोगों से है। इसीलिए आगे 'सेनयोरुभयोः' लिखा है।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।। 26।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

वहाँ अर्जुन ने देखा (कि ये तो अपने) पिता, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पोते, मित्र, ससुर और स्नेही (लोग ही) दोनों ही सेनाओं में खड़े हैं । 26-27।

तन्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।। 27।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

उन अपने ही सगे-सम्बन्धियों को खड़े देख अर्जुन को परले दर्जे की दया ने घेर लिया (और) विषादयुक्त हो के वह ऐसा बोला। 27-28।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।। 28।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।। 29।।

अर्जुन बोला—हे कृष्ण, इन अपने ही लोगों को युद्ध की इच्छा से यहाँ जमा देख के मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मुँह बहुत सूख रहा है, मेरे शरीर में कँपकँपी हो रही है और रोएँ खड़े हो रहे हैं। 28-29।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। 30।।

गाण्डीव धनुष हाथ से गिरा जा रहा है, त्वचा (समस्त शरीर) में आग सी लगी है, खड़ा रहा सकता हूँ नहीं और मेरा मन चक्कर सा काट रहा है। 30।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।। 31।।

हे केशव, लक्षण उलटे देख रहा हूँ। अपने ही लोगों को युद्ध में मार के खैरियत नहीं देखता। 31।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।। 32।।

हे कृष्ण, (मैं) विजय नहीं चाहता, न राज्य ही चाहता हूँ और न सुख ही। हे गोविन्द, राज्य, भोग और जिन्दगी (भी) लेकर हम क्या करेंगे? 32।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।। 33।।

जिनके लिए हमें राज्य, भोग और सुखों की चाह थी ये वही लोग (तो) प्राणों और धनों (की माया-ममता) को छोड़ के युद्ध में डटे हैं! 33।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।। 34।।

आचार्य, बड़े-बूढ़े, लड़के, दादे, मामू, ससुर पोते, साले और सम्बन्धी (लोग)—। 34।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किं नु महीकृते।। 35।।

(यदि) हमें मारते भी हों (तो भी) हे मधुसुदन, मैं इन्हें त्रैलोक्य (संसार) के राज्य के लिए भी मारना नहीं चाहता; (फिर इस) पृथ्वी की (तो) बात ही क्या? । 35।

निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।। 36।।

हे जनार्दन, धृतराष्ट्र के सम्बन्धियों को मार के हमें क्या खुशी होगी? (उलटे) इन आततायियों को मार के हमें पाप ही लगेगा। 36।

स्मृतियों में छः तरह के लोगों को आततायी कहा गया है। "जो आग लगाएँ, जहर दें, हाथ में हथियार लिए डटे हों, किसी की धन-सम्पत्ति छीनते हों, जमीन (खेत) छीनते हों और दूसरों की स्त्री को हरें—यही छः—आततायी कहे जाते हैं"—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः" (वसिष्ठस्मृति 3। 16)।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।। 37।।

इसलिए हमें अपने ही बन्धु-बान्धव कौरवों को मारना ठीक नहीं है। हे माधव, भला अपने ही लोगों को मार के हम सुखी कैसे होंगे? 37।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।। 38।।

यद्यपि लोभ के चलते चौपट बुद्धिवाले ये (दुर्योधन वगैरह) कुल के संहार के दोष और मित्रों की बुराई करने के पाप को समझ नहीं रहे हैं। 38।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यभिर्द्जनार्दन।। 39।।

(तथापि) हे जनार्दन, कुल के संहार के दोष को जानते हुए भी हम इस पाप से बचने के लिए (यह बात) क्यों न समझें?। 39।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।। 40।।

कुल के क्षय होने से सनातन—चिरन्तन या पुराने—कुलधर्म चौपट हो जाते हैं और धर्मों के नष्ट हो जाने पर समूचे कुल को अधर्म दबा लेता है। 40।

यहाँ धर्म और अधर्म शब्द संकुचित धर्मशास्त्रीय अर्थ में नहीं आये हैं। इसीलिए कुलधर्म कहने से ऐसी अनेक बातें, अनेक कलाएँ और बहुतेरी हिकमतें भी ली जाती हैं जिनके बारे में कहीं कोई लेख नहीं मिलता। किन्तु जो परम्परा से व्यवहार में आती हैं। क्योंकि पूजा-पाठ आदि बातें तो पोथियों में लिखी रहती हैं। फलतः उनके नष्ट होने का सवाल तो उठता ही नहीं। वह कायम रही जाती हैं और किसी न किसी प्रकार उनका अमल होई सकता है। मगर जिनके बारे में कुछ भी कहीं लिखा-पढ़ा नहीं है उनका तो कोई उपाय नहीं रह जाता। जब उन्हें जानने और उन पर अमल करनेवाले ही नहीं रहे तो वे बचें कैसे? हमने साँप के जहर उतार देने और मृतप्राय आदमी को भी चंगा करने का ऐसा तरीका देखा है जो न लिखा गया है और न लिखा जा सकता है। वह तो अजीब चीज है जो समझ में भी नहीं आती है। मगर उस पर अमल होते खूब ही देखा है। इसी तरह की हजारों बातें होती हैं। इस श्लोक में जो कुछ कहा गया है उसका आशय यही है कि जब किसी वंश का वंश ही खत्म हो जाता है और केवल नन्हे-नन्हे या गर्भ के बच्चे एवं स्त्रियाँ ही बच रहती हैं तो नादानी और अज्ञान के गहरे गढ़े में वह वंश डूब जाता है। फलतः बचे-बचाये प्राणी जान पाते ही नहीं कि क्या करें। इसीलिए अधर्म शब्द उसी अन्धकार के मानी में आया है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।। 41।।

हे कृष्ण, अधर्म के दबाने पर कुलीन स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं (और) स्त्रियों

के बिगड़ जाने पर, हे वार्ष्णेय, वर्णसंकर हो जाता है। 41।

इस पर विशेष विचार पहले के पृष्ठों में हो चुका है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।। 42।।

(और यह) वर्णसंकर कुलघातियों को और (समूचे) कुल को (भी) जरूर ही नरक ले जाता है। क्योंकि इनके पितर या बड़े-बूढ़े पिण्ड और तर्पण की क्रियाओं के लुप्त हो जाने से पतित हो जाते हैं—नीचे जा गिरते हैं (और जब बड़े बूढ़े ही पतित हो गये तब तो अधोगति एवं अवनति का रास्ता ही साफ हो गया)। 42।

इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में जो 'हि' आया है—हि ऐषां (ह्येषां)—वह कारण का सूचक है। साधारणतया यह शब्द कारण सूचक ही होता है। इसका मतलब यह है कि पूर्वार्द्ध में जो नरक और पतन की बात कही गयी है उसी की पुष्टि में हेतुस्वरूप आगे बातें लिखी गयी हैं। यही कारण है कि 'पितरः' शब्द को व्यापक अर्थ में लेके हमने बड़े-बूढ़े अर्थ कर लिया है। पहले भी 34वें श्लोक में 'पितरः' का यही अर्थ है। इसीलिए सिर्फ किसी स्थान या लोक विशेष में, जिसे स्वर्ग या पितृलोक कहते हैं, रहनेवालों के ही अर्थ में हमने उस शब्द को नहीं लिया है। हमारे अर्थ में वे भी आ जाते हैं। इसीलिए पिण्ड और उदक क्रिया का भी व्यापक ही अर्थ है। फलतः अन्न-जल आदि से आदर सत्कार एवं अतिथि पूजा वगैरह भी इसमें आ जाती है। साधारणतः समझा जानेवाला पिण्डदान एवं तर्पण तो आता ही है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।। 43।।

वर्णसंकर पैदा करनेवाले कुलघातियों के इन दोषों के करते सनातन जातिधर्मों और कुलधर्मों का नाश हो जाता है। 43।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।। 44।।

हे जनार्दन हम ऐसा सुनते हैं कि जिन लोगों के कुलधर्म (आदि) निर्मूल हो जाते हैं उन्हें जरूर ही नरक में जाना पड़ता है। 44।

अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यता।। 45।।

ओह, अफसोस, हम बहुत बड़ा पाप करने चले हैं। क्योंकि राज्य और सुख के लोभ से अपने ही लोगों को मारने के लिए तैयार हो गये हैं! । 45।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।। 46।।

(विपरीत इसके) अगर मैं शस्त्र-रहित हो के अपने बचने का भी कोई उपाय न करूँ (और ये) शस्त्रधारी दुर्योधन के आदमी मुझे मार (भी) डालें तो भी मेरा भला ही होगा। 46।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।47।।

संजय बोला—चिन्ता और अफसोस से उद्विग्न चित्त अर्जुन ऐसा कह के (और) धनुष बाण को छोड़ के युद्ध के मैदान में ही रथ में बैठ गया।47।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।।1।।

श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योगशास्त्र में जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका अर्जुन-विषादयोग नामक पहला अध्याय यही है।

अर्जुन का विषाद, युद्ध की हानियाँ और फलस्वरूप लड़ने में अर्जुन का जो विराग इस अध्याय में दिखाया गया है वह सभी युद्धों की समाजघातकता को बता के उनकी निन्दा करता है। जिनने बीसवीं शताब्दी के साम्राज्यवादी युद्धों को देखा और जाना है वह बखूबी समझ सकते हैं कि इनसे कुल, जाति, देश और उनके धर्मों का जितना भयंकर संहार होता है और सभी प्रकार के पतन का सामना वे किस कद्र जमा कर देते हैं। उनके चलते समूचे देश के देश की हर तरह की प्रगति किस प्रकार रुक जाती और समाज अवनति के अतलगर्त्त में जा गिरता है यह बात उन्हें साफ विदित है। इसीलिए अर्जुन की बातें वे आसानी से समझ सकते हैं। फलतः इनमें उन्हें कोई अलौकिकता मालूम न होगी।

दूसरा अध्याय

पहले अध्याय में जो कुछ कहा गया है वह अर्जुन के अपने विचार थे जो बेरोक बाहर आये थे। उनसे उसकी मनोवृत्ति पर पूरा प्रकाश पड़ता है। कृष्ण ने देखा कि यह तो अजीब बात है। लड़ाई के मैदान में ऐन मौके पर यह ज्ञान-वैराग्य की बात और तन्मूलक कर्तव्यविमूढ़ता, या यों कहिए कि निठल्ले बैठ जाना तो निराली चीज है। सो भी युद्ध में सबके अग्रणी और नेता—पेशवा—का ही बैठ जाना। अतएव वह कुछ घबराये सही। मगर फिर खयाल किया कि आखिर अर्जुन भी तो आदमी ही ठहरा और आदमियों को ऐसे मौकों पर मानवसुलभ कमजोरियाँ दबाती ही हैं। मालूम होता है, यही बात अर्जुन की भी है। वह कुछ दयार्द्र हो जाने के कारण ही कमजोरी दिखा रहा है। हिंसा का भीषण रूप यहाँ आँखों के सामने नाच रहा है। इसीलिए यह कमजोरी स्वाभाविक है। उनने यह भी खयाल किया कि इसी भावोद्रेक और प्रेमप्रवाह के करते वह अपने आपको शायद भूल गया है कि उसे वहाँ क्या करना है—वह इस युद्ध-क्षेत्र में क्या लक्ष्य और कौन मिशन (mission) ले के आया है। वह यह भी इसीलिए नहीं सोच रहा है कि इसमें उसकी बदनामी है। इसलिए यदि यह बात उसे याद दिला दी जाय और इसके चलते होने वाली हानि सुझा दी जाय तो शायद फिर तैयार हो जाय। आखिर ऐन लड़ाई के समय का यह आगा-पीछा अब तक सब किये-कराये पर पानी जो फेर देगा। इसीलिए दूसरे अध्याय का श्रीगणेश कृष्ण की इन्हीं बातों से ही हुआ। इसीलिए संजय ने यही बात धृतराष्ट्र से कही भी। फलतः इस अध्याय के शुरू में ही—

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।1।।

संजय ने कहा—इस तरह कृपा से ओतप्रोत, आँसूभरी बेचैन आँखों वाले और विषादयुक्त उस अुर्जन से मधुसूदन ने आगे वाली बात कही।1।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन।।2।।

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन, ऐसे संकट के समय में—लड़ाई के मैदान में—तुममें यह गन्दगी कहाँ से आ गयी? गन्दगी भी ऐसी कि जिसे भले लोग कभी अपनाते नहीं, जो उन्नति की ओर तो ले जाने वाली नहीं। (हाँ) बदनामी फैलानेवाली (जरूर) है।2।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।3।।

पार्थ, नामर्दी मत दिखाओ। यह तुम्हें शोभा नहीं देती। ओ दुश्मनों को तपानेवाले, हृदय की (इस) नाचीज कमजोरी को छोड़ के खड़ा हो जाओ।3।

अब अर्जुन ने देखा कि कृष्ण को मेरे दिल की बातों का ठीक-ठीक पता नहीं है। वह समझते हैं कि मैं केवल माया-ममता की कमजोरी से ऐसा कर रहा हूँ इसलिए जरूरत इस बात की है कि सारी बातें खोल के उनके समाने रख दी जायँ, ताकि परिस्थिति का पूरा पता उन्हें लग जाय। इससे यह भी होगा कि यदि संभव होगा और उचित समझेंगे तो कोई रास्ता भी सुझायेंगे। नहीं तो युद्ध में तो अब पड़ना हई नहीं। इसलिए—

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।4।।

अर्जुन कहने लगा—हे मधुसूदन—मधुदैत्य के नाशक—, हे अरिसूदन—शत्रुनाशक—, (चन्दन, पुष्पादि से) पूजा करने योग्य भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्य के साथ इस युद्ध में वाणों से लड़ूँ कैसे?।4।

गुरूनहत्त्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।।5।।

गुरुजनों—बड़े-बूढ़ों—को न मार के इस दुनिया में भीख से भी गुजर करना कहीं अच्छा है। अर्थलोलुप गुरुजनों को मारकर तो यहीं पर (उन्हीं के) खून से रंगे पदार्थों को भोगना होगा।5।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः।।6।।

यह भी तो नहीं मालूम कि हमारे लिए (दोनों में) कौन सी चीज अच्छी है (और यह भी नहीं जानते कि) हम (उन्हें) जीतेंगे या वे लोग ही हमें जीतेंगे। जिन्हीं को मार के हम जीना नहीं चाहते वही धृतराष्ट्र के बेटे सामने ही डटे हैं।6।

इस श्लोक के उत्तरार्द्ध के बारे में तो कोई विवाद नहीं। उसका अर्थ तो सभी लोग एक ही समझते हैं। मगर पूर्वार्द्ध में गड़बड़ है और कुछ लोग भटक के दूसरा ही अर्थ कर डालते हैं। असल में यदि इससे पूर्व के श्लोक से इसे जोड़ के उसी प्रसंग में इसे भी मान लें तो यह दिक्कत न हो। इसी के साथ एक बात और भी करनी होगी। हमें इस श्लोक के 'कतरत्' और 'गरीयस्' शब्दों का भी खयाल करना होगा। हमारे जानते तो इसका सीधा अर्थ इस तरह है। पहले श्लोक में जो कहा गया है कि गुरुजनों को न मार के भिक्षावृत्ति से गुजर करना कहीं अच्छा है; क्योंकि उन्हें मारने पर तो परलोक की कौन कहे यहीं पर खून में सने पदार्थों को ही भोगना होगा, उससे दो पक्ष सिद्ध होते हैं। एक तो है युद्ध न करके भिक्षावृत्ति तक के लिए तैयारी और दूसरा है लड़कर के इसी शरीर से खूनी पदार्थों का भोग। इनमें पहले पक्ष को यद्यपि अर्जुन ने अच्छा ठहरा दिया है। फिर भी इस बात की पूरी जानकारी तो उन्हें है नहीं। इसीलिए अगले श्लोक में इसी जानकारी की बात जानने के लिए 'विद्मः' शब्द बोलते हैं। जिस विद धातु से यह शब्द बना है उसी से वेद, वेत्ता, विद्वान् आदि शब्द बनते हैं। उसका अर्थ है पूरी जानकारी और वही हमें नहीं है यही बात 'न चैतद्विद्मः'—'यही तो नहीं जानते'—शब्दों में कहते हैं। इसीलिए आगे के भी सातवें श्लोक में पाँचवें जैसा ही 'श्रेयः' शब्द कहके कहते हैं कि जो मेरे लिए अच्छा हो सो कहिए।

एक बात और भी है। पाँचवें में सिर्फ इतना ही कहा है कि गुरुजनों को न मार के भीख माँगना भी अच्छा है और यह सर्वसाधारण बात है। इसका यह मतलब तो हर्गिज नहीं होता कि यह चीज सभी के लिए अच्छी है। हो सकता है क्षत्रिय के लिए ठीक न हो के भी औरों के ही लिए ठीक हो। यह चीज अच्छी है यह आम लोगों की धारणा ही तो उनने कही है, न कि अपने लिए भी उसे खामख्वाह अच्छा कह दिया है। इसीलिए सातवें श्लोक में 'मे' शब्द देकर साफ कहते हैं कि मेरे लिए जो बात 'श्रेय' हो, ठीक हो वही कहिए। यही वजह है कि पाँचवें के उत्तरार्द्ध में जो दलील देते हैं कि रोटी-पैसे के ही लिए दुर्योधन के यहाँ फँसे गुरुजनों को मार के उन्हीं के खून से रँगे पदार्थ यहीं भोगने होंगे, उससे यह झलकता है कि यदि मरने के बाद नर्क आदि की बात होती तो एक बात भी थी। तब देखा जाता। तब सोचते कि चलो, यहाँ तो आराम कर लें, आगे देखा जायगा। मगर यह तो कुछ ऐसी चीज हो जाती है कि उन्हीं के खून से रँगे पदार्थ ही हमें यहाँ मिलते हैं। उसमें एक बात और भी हो जाती है कि ये बेचारे हमारे बड़े-बूढ़े जिन्हीं चीजों को लेके एक प्रकार से पथभ्रष्ट हुए वही चीजें आखिर उनसे हम छीन ही लें, सो भी उनका खून करके, यह कैसा तो लगता है। यह तो कुछ ऐसा मालूम होता है कि वे लोग तो पथभ्रष्ट हुए ही थे। मगर अब हम भी ऐसा करके वैसे ही हो जायँगे और यह ठीक नहीं लगता। गुरुजनों को 'अर्थकाम' कहने का यही मतलब है। इसी अर्थ में

'कामकामी' (2।70) शब्द आया है।

इस प्रकार अर्जुन का मन कुछ अजीब पसोपेश और घपले में पड़ा है। क्या वह इन बातों को करते हुए भी यह नहीं जानता कि आखिर क्षत्रिय का ही धर्म तो लड़ना है, दूसरे का नहीं? फिर वह यों ही निश्चय कैसे कर लेता कि भीख माँगना ही अच्छा? मगर इतने पर भी उसके पसोपेश की गुंजाइश सिर्फ इसलिए रह जाती कि आखिर युद्ध में सीधे अपने ही लोगों एवं गुरुजनों को ही मारना पड़े यह तो कोई जरूरी नहीं है। लड़ाई तो ऐसी भी हो सकती है जिसमें यह कुछ भी न करना पड़े। ऐसी दशा में वैसी ही लड़ाई क्षत्रिय का धर्म क्यों न माना जाय, न कि ऐसी? यह शंका तो स्वाभाविक थी। उधर कृष्ण इसी में प्रोत्साहित कर रहे थे। रोकते तो थे नहीं। इसलिए यह भी खयाल होता था कि यदि यह बुरी होती तो वह ऐसा कदापि नहीं करते। यही था पूरा घपला। अर्जुन इसी की सफाई के लिए कहता है कि हमें यह भी तो पता नहीं कि इन दोनों पक्षों में कौन सा हमारे लिए उत्तम है, अच्छा है।

'गरीयस्' और 'कतरत्' शब्द भी यही अर्थ ठीक है ऐसा सूचित करते हैं। पहले 'गरीयस्' शब्द को ही लें। यह शब्द, गुरु शब्द से बना है और गुरु शब्द का अर्थ है भारी, वजनी, बड़ा, श्रेष्ठ, अच्छा। इसलिए 'गरीयस्' शब्द का अर्थ हो जाता है ज्यादा अच्छा, ज्यादा वजनदार, और भी अच्छा, और भी श्रेष्ठ। अर्जुन के कहने का यही आशय है कि यों तो दोनों ही पक्ष अच्छे हैं, वजनी हैं, श्रेष्ठ हैं। क्योंकि तर्क-दलीलें दोनों ही पक्षों में हैं जिन्हें मैं दे भी चुका हूँ। मगर दोनों में भी ज्यादा वजनदार, ज्यादा अच्छा, ज्यादा श्रेष्ठ कौन है इसका पता मुझे नहीं लगता। मेरे लिए यही तो बड़ी दिक्कत है। मेरी हालत तो 'दोलाचलचित्तवृत्तिः' है, मेरा दिमाग तो झूले की तरह दोनों ही ओर बराबर जा रहा है—कभी इधर और कभी उधर। फलतः निर्णय नहीं कर सकता है।

अब इसी के साथ 'कतरत्' शब्द को भी मिला के देखें। ये दोनों ही शब्द यहाँ पर नपुंसक-लिंगी ही हैं। पुल्लिग होने पर 'कतरः' और 'गरीयान्' होते। 'कतर' शब्द दो में से एक को चुन लेने, अलग कर लेने के मानी में आता है। इसका अर्थ है दो में कौन सा? दो से ज्यादे में से चुनना हो तो 'कतम' शब्द बोलते हैं। इसी तरह 'नः' शब्द का अर्थ है हमारा या हमारे लिए। सब मिला के अर्थ हो जाता है कि हमारे लिए इन दोनों पक्षों में कौन सा पक्ष ज्यादा अच्छा है। जहाँ कोई निश्चित लिंग न हो वहाँ नपुंसक ही बोला जाता है। यहाँ भी वही बात है। दो पक्ष, दो बातें, दो चीजें हैं और इनके लिंग का कोई ठिकाना है नहीं। मगर जब 'नः' का अर्थ करते हैं 'हम लोगों में' या 'हम लोगों में से', तो वह साफ ही पुलिंग हो जाता है। तब तो साफ ही पता चलता है कि अर्जुन अपना और दुर्योधन का खयाल करके ही कहता है कि हम दोनों में कौन वजनी है, कौन जीतेगा, यह मालूम नहीं। मगर उस दशा में उसे "कतरो नो गरीयान्" ऐसा ही कहना उचित था। श्लोक भी ठीक ही

रह जाता है। इसलिए मानना पड़ता है कि यह बात नहीं है। साफ ही पुलिंग की जगह नपुंसक देने से निस्सन्देह वही अर्थ ठीक है जो हमने माना है।

जो लोग इस नपुंसकवाली बात को मान के भी आगे के 'यद्वाजयेम' आदि को इसी के साथ मिलाते हुए यह अर्थ करते हैं कि 'हम जीतें या हमें वे लोग जीत लें—इन दोनों में श्रेयस्कर कौन है, यह भी समझ नहीं पड़ता', उनका भी कहना ठीक नहीं है। पहले की सारी दलीलें ऐसे अर्थ के विरुद्ध जाती हैं। शायद 'जयेम' और 'जयेसुः' का विधिलिङ्. देख के वे लोग इस भ्रम में पड़ गये हैं। मगर यहाँ तो चाहे विधिलिङ्. हो या भविष्य की क्रिया हो हर हालत में भविष्य ही अर्थ होगा 'जीतेंगे'। पहले के श्लोक में 'भुंजीय' क्रिया भी तो ऐसी ही है। मगर वहाँ उनने भी भविष्य ही अर्थ किया है। फिर यहाँ भी वही क्यों न किया जाय? विधिलिङ्. और आशीर्लिङ्. का भविष्य भी अर्थ होता है यह तो 'भविष्यति लिङ्लौटौ' (3।3।173) सूत्र में पाणिनि ने खुद माना है। अर्जुन का तो यही कहना है कि हम यह भी तो नहीं जानते कि हम जीतेंगे या वे लोग। इस पूर्वार्द्ध में अर्जुन ने एक तो यही कहा है। इसके पहले दूसरा यह कि इन दोनों बातों में कौन ज्यादा अच्छी है। यह भी नहीं जानते।

इन दोनों को एक साथ घोलमट्ठा करके ऐसा कहना कि हम जीतें या वह जीतें इन दोनों में हमारे लिए कौन बात अच्छी है यह मालूम ही नहीं है, कुछ अच्छा जँचता भी नहीं। भविष्य की अनिश्चित बात को अभी तौलना ठीक नहीं लगता। मारना और मरना तो निश्चित है, चाहे जीते कोई। इसलिए उसके बारे में अच्छे-बुरे का खोद-विनोद ठीक हो सकता है। मगर जो चीज अनिश्चित है उसके भले-बुरे का क्या विचार? उसी में से किसी एक को पहले ही चुन लेने का क्या प्रसंग? और जीत-हार में किसी एक को चुनने का तो यों भी प्रश्न नहीं उठता। हार तो कोई भी नहीं चाहता। फिर अर्जुन क्यों चाहने लगा? यह तो परले दर्जे की नादानी ही होगी। हाँ, उस सिलसिले में मरने-मारने का प्रश्न और उसे चुनने या पसन्द करने न करने की बात जरूर उठती है। हमने उसे माना भी है। अर्जुन ने वही बात 'या नेवहत्वा' में कही भी है। श्लोक में 'यद्वा' और 'यदिवा' शब्द भी जीत की संदिग्धता ही को सूचित करते हैं। उनका ऐसा ही अर्थ होता है। 'यदि' शब्द तो खामख्वाह शक की सूचना करता है। उसी का साथी 'यद्वा' शब्द भी यहाँ यही काम करता है।

इस श्लोक में तो अर्जुन साफ-साफ कहता है कि एक तो यही पता नहीं कि भिक्षावृत्ति ही हमारे लिए ठीक है, या मारकाट के बाद मिलने वाला राजपाट। दूसरे; अगर हम राजपाट की ही बात ठीक मान भी लें तो यह भी तो पता नहीं कि हमीं जीतेंगे या वही लोग। इसलिए यह तो 'गुनाह बेलज्जत' सी ही बात लगती है। मारकाट भी करें और राजपाट भी न हाथ लगे, यह तो और भी बुरा होगा। यह भी नहीं कि लड़ने में अपने लोगों की मारकाट न होगी। यहाँ तो साफ ही देखते हैं कि जिन्हें

मारने से हटना चाहते हैं वही दुर्योधनादि ही सामने डटे हैं। यह अर्थ इतना स्वाभाविक और मौजूँ है कि इसमें ननु नच करने की जगह रही नहीं जाती।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढ़चेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।7।।

कुछ भी निश्चय न कर सकने के फलस्वरूप मुझे कुछ सूझता ही नहीं और धर्म के निर्णय के बारे में मेरी बुद्धि घपले में पड़ गयी है। (इसीलिए) आप से पूछता हूँ। मेरे लिए जो ठीक हो वही पक्का-पक्की कहिए। मैं आपका शिष्य हूँ। मुझ शरण में आये को—शरणागत को—सिखाइए—रास्ता बताइए।7।

यहाँ धर्म का अर्थ है कर्तव्य और वह कर्तव्य-अकर्तव्य दोनों का ही वाचक है। अर्जुन का कहना यही है कि मैं कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय कर सकता नहीं। मेरी अक्ल काम करती ही नहीं। वह चकरा उठी है। इसका कारण वह बताता है। कार्पण्यरूपी दोष। कृपण शब्द से कार्पण्य बनता है और इसका अर्थ है कृपणता। उसके जानते कृपणता ही वह दोष वा बुराई है जिसने बुद्धि को घपले में डाल दिया है। शराब या भाँग के नशे में जैसे दिमाग चकराता है वैसे ही यहाँ कृपणता के नशे से बुद्धि चकरा गयी है। कहाँ नशा और दोष एक ही चीज है। कृपण और कृपणता किसे कहते हैं इसके सम्बन्ध में वृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय के आठवें ब्राह्मण का दसवाँ मन्त्र इस तरह है—'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गिविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः।' इसका आशय यही है कि "गार्गि; इस अविनाशी आत्मा को जाने बिना ही जो मर जाता है वही कृपण है, और जो इसे जान के मरता है वही ब्राह्मण है।"

गीता को जब उपनिषद् का ही रूप मानते हैं तब तो कृपण और कृपणता के अर्थ के सम्बन्ध में उपनिषद् के उक्त वचन का सहारा लेना ही होगा। आमतौर से कंजूस के अर्थ में कृपण शब्द बोला है। मगर वह मतलब तो यहाँ है नहीं। अर्जुन की कंजूसी का यहाँ सवाल ही है क्या? उसे कुछ खर्चना तो है नहीं। यह भी नहीं कि युद्ध में शक्ति खर्चने से डरता हो। उसके सामने तो मरने-मारनेवाला सवाल चट्टान की तरह खड़ा है। उसी को ले के स्वर्ग, नर्क और धर्मनाश, कुलनाशादि की समस्याएँ उठ पड़ी हैं। फिर खर्च की कंजूसी की क्या बात? वह यह खुद-ब-खुद कहता भी कैसे कि मैं कंजूसी कर रहा हूँ? और अगर कंजूसी होती तो फिर कृष्ण का जवाब दूसरे ढंग का क्यों होता? वह तो आत्मा की अजरता, अमरता और अविनाशिता से ही शुरू करते हैं। इससे भी पता चलता है कि आत्मा के यथार्थ स्वरूप के न जानने को जो वृहदारण्यक में कृपणता के नाम से पुकारा है उसी से यहाँ अभिप्राय है। नहीं तो प्रश्न कुछ और उत्तर कुंछ दूसरा ही हो जायगा न? मर्ज दूसरा और दवा निरालीवाली बात जो हो जायगी। इसलिए कृपण शब्द का वास्तविक अर्थ तो यही है। कंजूस के अर्थ में तो वह इसीलिए बोला जाता है कि वैसा आदमी भी

अज्ञानी होता है। वह अपनी चीज का ठीक उपयोग या खर्च जानता नहीं। इसीलिए तो मुनासिब मौके पर ही उलटा खिंच जाता और काम बिगाड़ देता है जिसके फलस्वरूप दूसरे ढंग से कहीं ज्यादा खर्च हो जाता है। आत्मा को ठीक-ठीक न जानने वाले भी उलटा ही काम करते रहते हैं। इसीलिए अर्जुन जानना चाहता है कि आत्मतत्त्व क्या है, आत्मा का असली रूप क्या है, बुरे-भले कर्मों का क्या रहस्य है, आदि बातें उसे अच्छी तरह समझा दी जायँ। ताकि उसके दिमाग का अँधेरा दूर हो के कर्तव्य पथ प्रशस्त हो सके। इसीलिए 'उपहतस्वभाव' में जो स्वभाव शब्द है और जिसका अर्थ पहले ही आत्मा का असली रूप या हस्ती किया जा चुका है वह भी ठीक ही है। अज्ञान के चलते आत्मा के स्वरूप का उपहत, विकृत या मरने-मारने वाला मालूम होना ठीक ही है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।8।।

क्योंकि भूमण्डल का निष्कंटक समृद्ध राजपाट देवताओं का आधिपत्य—इन्द्र का पद—मिल जाने पर भी मुझे तो (ऐसी चीज) नजर नहीं आ रही है जो इन्द्रियों (तक) को सुखा डालने वाले मेरे इस शोक को दूर कर सके।8।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।9।।

संजय कहने लगा—शत्रु को तपाने वाला अर्जुन हृषीकेश—कृष्ण—से इस तरह कह के और (उन्हीं) गोविन्द से (यह भी) कह के कि (हर्गिज) न लड़ूँगा, चुप हो गया।9।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।10।।

(इस पर), दोनों फौजों के बीच (खड़े) शोकाकुल अर्जुन से कृष्ण (उसका) कुछ उपहास करते हुए से कहने लगे।10।

यहाँ यह जान लेना होगा कि अर्जुन की इन आखिरी बातों से कृष्ण को पता चल गया कि यह मर्ज बहुत गहरा है। उनने बखूबी समझ लिया कि उनका पहला खयाल कि अर्जुन सिर्फ माया-ममता में पड़ के ही मानव स्वभाव सुलभ कमजोरियों के करते आगा-पीछा कर रहा है, गलत है। यदि यह बात होती तो पहली ही ललकार से काम चल गया होता। मगर यहाँ तो बात ही दूसरी मालूम हुई। अर्जुन तो बहुत गहराई में घुस चुका था। आमतौर से धर्मशास्त्रों के आदेशों और धर्म के अनुशासनों का अब उस पर तब तक असर नहीं हो सकता था जब तक उसकी असली कमजोरी दूर न कर दी जाय। जब तक उसे यह पता न लग जाय कि आत्मा अविनाशी है,

वह किसी को मारती नहीं और न खुद मरती है, तब तक उसमें युद्ध की मुस्तैदी आ नहीं सकती।

असल में जो साधारण समझ के या बिना समझवाले लोग होते हैं उन्हें तो पशुओं की तरह नीति एवं धर्मशास्त्रों के वचनों की लाठी से ही हाँक ले जाते हैं और जहाँ चाहें भिड़ा दे सकते हैं। उनके लिए यही बात काफी होती है। मगर जो आगे बढ़ गया और भले-बुरे का विचार स्वतन्त्र रूप से खुद ही कर सकता है उसके सामने ये आदेश और वचन बेकार होते हैं। इतना ही नहीं। गुरुजनों की आज्ञा भी उस पर कोई असर डाल नहीं सकती। जब तक उसके दिमाग में वह बात जँच न जाय। यही कारण है कि कृष्ण जैसे महापुरुष की भी बात का प्रभाव अर्जुन पर जरा भी न पड़ सका और वह टस से मस न हो सका।

इसीलिए कृष्ण को भी गहराई में जाना पड़ा। इस प्रकार जिस सूक्ष्म एवं दार्शनिक दिमाग से वह दलीलें कर रहा था उसी का आश्रय ले के उसे निरुत्तर करना और मनाना पड़ा। वह बार-बार भीष्म, द्रोण आदि के मरने और अपने मारने की बातें करता था। इसलिए लाचार हो के कृष्ण को सबसे पहले इस मरने-मारने का रहस्य बताना एवं भण्डाफोड़ करना ही पड़ा। उनने साफ ही देखा कि इसे तो आत्मा के ककहरे का भी ज्ञान नहीं है—यह जानता ही नहीं कि वह क्या चीज है। यह तो समझता है कि सचमुच वह मरने-मारने वाली कोई चीज है। यही कारण है कि वह धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा; पुण्य-पाप और स्वर्ग-नर्क का ताल्लुक आत्मा से ही जोड़ के हिचकता है। क्योंकि युद्ध में जब आत्मा ने हिंसा की तो पाप भागी होके खामख्वाह नर्क जायगी ही। इसीलिए वह हिंसा से बचना चाहता है। फलतः कुलसंहार के भयंकर दोषों से उसकी आत्मा काँपती है। क्योंकि वह उसमें अपनी और दूसरों की भी—सबों की—अधोगति देखता है।

इस प्रकार आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना ही यह सारी बला है, यह कृष्ण को साफ नजर आया। उनने देख लिया कि उस स्वरूप के जानते ही यह सारा पर्दा कुहासे की तरह फट जायगा। इसीलिए उनने आत्मा के ही स्वरूप को ले के गीतोपदेश आरम्भ किया। यदि आत्मा अकर्त्ता और अविनाशी सिद्ध हो जाय तो फिर स्वर्ग-नर्क और पाप-पुण्य का सवाल उठता ही कहाँ है? इसलिए पहले जड़ को ही साफ करना उनने उचित समझा और जरूरी भी। क्योंकि आगे चल के जो कर्मों और कर्मयोग का विवेचन उनने किया है वह भी आत्मज्ञान के बिना नहीं समझा जा सकता और न वह योग ही हासिल हो सकता है। यह बात पहले विस्तार के साथ बताई जा चुकी है। कर्मयोग का भी मूलाधार आत्मविवेक ही माना गया है। इसीलिए आत्मविवेक पहले और कर्म का विवेक पीछे इसी दूसरे ही अध्याय में आया है। शेष अध्यायों में तो उसी का प्रकारान्तर से स्वतन्त्र रूप से स्पष्टीकरण किया जाकर एक-एक चीज पर काफी प्रकाश डाला गया है।

यहाँ जो प्रहास या उपहास की बात कही गयी है उसका भी मतलब समझ लेना होगा। 'इव' शब्द देकर पूरा प्रहास रोका गया है। कहने का मतलब यह हो जाता है कि ऐसा मालूम पड़ता था कि कृष्ण अर्जुन का उपहास कर रहे हैं—उसकी मखौल उड़ा रहे हैं। अगले श्लोक में उनके कहने का जो तरीका है उससे भी ऐसा ही प्रतीत होता है। वह कहते हैं कि बातें तो बड़ी अक्ल की करते हो। मगर अफसोस ऐसे पदार्थों का करते हो जिनका करना चाहिए ही नहीं। यह एक तरह का परिहास ही तो है। यदि किसी विपक्षी से बातें करनी हों तो यही बात परिहास हो जायगी। मगर अर्जुन तो शिष्य बन के शरण में आ चुका है। वह इहलोक तथा परलोक के सुखों से पूरा विरागी भी हो चुका है, जिससे साफ हो जाता है कि वह आत्मज्ञान का पूर्ण अधिकारी बन चुका है। भला ऐसे आदमी का उपहास कृष्ण जैसा विवेकी महापुरुष कैसे कर सकता है? यह तो उनकी महत्ता के विपरीत अत्यन्त छोटी बात और विवेकशून्यता हो जायगी। उपहास तो प्रतिवादी, प्रतिपक्षी या शत्रु का करते हैं, या उसका जो समानता का दावा करे। जो शरणागत हो, शिष्य हो, संसार और स्वर्गादि के सुखों से विरागी हो, उन्हें कुछ न समझता हो और ज्ञानप्राप्ति की ही जिसे भूख हो उसका उपहास कैसा? इसीलिए कह दिया है कि कृष्ण अर्जुन का उपहास करते जैसे मालूम हुए। जिस तरह उनने उपदेश देना शुरू किया उसे बाहर से देख के सारी बातों को न जानने वाला कोई भी आदमी उपहास ही मान सकता है। यही वैसा कहने का आशय है।

असल बात यह है कि उस समय की कृष्ण की भावभंगी अजीब और मनोवृत्ति निराली थी। उनकी विलक्षण दशा थी। वैसे संकट के समय एकाएक अर्जुन की वैसी हालत देख के, जिसका उन्हें या किसी को जरा सा आभास भी पहले न मिला था, उन्हें आश्चर्य से दंग हो जाना पड़ा कि यह क्या हो गया! इस लड़ाई को ले के वह काफी दौड़े-धूपे। परेशान भी पूरे हो चुके थे। इसी के करते उनके सगे भाई बलराम एक तरह से विरागी भी हो गये थे। दुर्योधन के साथ न सिर्फ उनकी, बल्कि औरों की भी, काफी तनातनी हो चुकी थी और मामला बहुत दूर तक पहुँच चुका था। ऐसी दशा में जिस चीज की जरा भी आशा-आशंका न थी वही हो जाने से एक तो उन्हें लड़कपन जैसे जँची भी। आखिर वह बच्चा तो था नहीं। उसकी तर्क-दलीलों से ही साफ झलकता है कि काफी समझदार और दूरंदेश था। फिर उसने मैदाने जंग में आने के जरा भी पहले इसका क्यों न इशारा तक किया? आखिर जो बातें वह वहाँ कह गया। वह कोई नयी तो थीं नहीं। उन्हीं के लिए तो वर्षों से सारी तैयारी हो रही थी। इसीलिए अर्जुन का लड़कपन समझ के उन्हें कुछ क्रोध भी आया। हँसी भी आयी! साथ ही, उन्हें एकाएक भारी अन्देशा भी हो गया कि कहीं सचमुच सारा गुड़ गोबर ही न हो जाए। क्योंकि ऐसी आकस्मिक घटनाओं के चलते जो न हो जाय उसी में आश्चर्य हो सकता है। अर्जुन का वह बच्चों जैसा

रोना-धोना, उसकी वह परेशानी और बेचैनी, उसकी वह निराली मनोवृत्ति वगैरह देख के उन्हें दया भी हो आयी। उनका बहुत पुराना प्रेमी तो था ही और उसी की यह दशा ! इसके सिवाय जब इतनी गम्भीर बातों का उपदेश करना था और बारीकियों की तह में अच्छी तरह घुसना एवं उसे भी घुसाना था, तो गम्भीरता का होना भी जरूरी था।

इस प्रकार उनमें आश्चर्य, क्रोध, हँसी, दया; अन्देशा और गम्भीरता आदि अनेक बातों तथा भावनाओं एक ही साथ जमघट हो गया। उन्हीं के साथ आगे-पीछे की जानें कितनी ही घटनाओं की स्मृति भी आ धमकी। ऐसे मौके पर तो स्वभावतः हजारों बातें याद आई जाती हैं। ऐसी दशा में कृष्ण का उस समय का, जब उनने गीतोपदेश शुरू किया, स्वरूप, चेहरा और भावभंगी—ये सभी—निराले ढंग के थे, अजीब थे, अलौकिक थे। आधे दर्जन से ज्यादा खयालों और भावनाओं का, जो प्रायः एक साथ कभी पायी जाती ही नहीं और परस्पर विरोधी सी हैं, एक साथ सम्मिलित एक अलौकिक चीज थी, जिसका ठीक-ठीक वर्णन किया जा सकता नहीं। इसीलिए यहाँ यद्यपि "परिहास करते हुए की तरह" कह के ही खत्म किया। तथापि अन्त में अठारहवें अध्याय के 77वें श्लोक में तो उस रूप को—कृष्ण की उस दशा और भावभंगी को—अत्यन्त अद्भुत, अत्यन्त निराला, न भूतो न भविष्यति, कह दिया है। वहाँ संजय साफ ही कहता है कि कृष्ण के उस अद्भुत रूप को बार-बार बखूबी याद करके मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है—मैं आश्चर्य में डूब रहा हूँ और रह-रह के मुझमें आनन्द का प्रवाह भी बह रहा है—"तच्च संस्मृत्य सस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः। विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः"। सचमुच ही वह अकथनीय, अनिर्वचनीय आकृति थी।

कुछ लोगों ने 'इव' देखकर ही प्रहास का अर्थ मुस्कुराहट करके सन्तोष किया मगर यह तो प्रहास शब्द के साथ ज्यादती है। प्रहास, परिहास और अवहास ये शब्द प्रायः एक ही मानी में आते हैं। अवहास में कुछ अपमान की बात भी साफ मालूम होती है जो शेष दो में पायी नहीं जाती। किन्तु अर्थात् आती है। केवल मुस्कुराने का सवाल तो वहाँ था नहीं। वहाँ तो पेचीदा पहेली खड़ी थी जिसे सुलझाना था। इसलिए तो सारी दलीलें दी गयी हैं। केवल मुस्कुराहट की बात कहने पर सारी परिस्थिति का अनादर करना हो जायगा।

अब रही एक ही बात। आत्मा को अविनाशी, अजन्मा अकर्त्ता सिद्ध करने के पूर्व यह प्रश्न हो सकता है कि जब भीष्मादि का मरना-मारना सामने है तो देखना चाहिए कि भीष्मादि कहने से कौन सी चीज समझी जाती है। भीष्म शब्द से दोई वस्तुओं का बोध हो सकता है—या तो शरीर का या उसमें रहने वाली आत्मा का। इन दोनों को ही मान के कृष्ण ने उत्तर देना उचित समझा और दिया भी है। मगर पहले आत्मा की ही बात उठा के पीछे देह की इसीलिए उठाई है कि आमतौर से

लोग भीष्म आदि शब्दों से आत्मा को ही समझते हैं, न कि देह को। अर्जुन ने भी स्वर्ग, नर्क आदि की बातें उठाके खुद मान लिया है कि भीष्म का अर्थ है आत्मा। क्योंकि शरीर तो यहीं रह जाता, सड़-गल या जल जाता है। वह तो स्वर्ग या नर्क में जाता है नहीं। वहाँ जाने वाली चीज तो शरीर से जुदा आत्मा ही है। इसीलिए उसी आत्मा की बात ले के पहले कृष्ण ने कहना शुरू किया। मगर जो लोग भीष्मादि कहने से उनके भौतिक शरीरों या इन्द्रियादि को ही समझते हैं उन्हें भी मुँहतोड़ उत्तर देना ही चाहिए, इसीलिए आगे 'मात्रा-स्पर्शाः' (2।14) 'अन्तवन्त इमे' (2।18) तथा 'अथ चैन' (2।26) में उनकी बात भी आयी है। इसीलिए पहले—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।11।।

श्री भगवान् ने कहा—(यह अजीब बात है कि एक ओर तो) तू उन्हीं की चिन्ता करता है जिनकी करना न चाहिए और (दूसरी ओर) अक्ल की बातें बोलता है! (क्योंकि) पण्डित लोग (तो) मरे-जियों की चिन्ता करते ही नहीं। (शोक या चिन्ता के मानी हैं यहाँ परवाह करना)।11।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।12।।

ऐसा तो हो सकता नहीं कि हम पहले कभी न भी थे, तुम्हीं न थे (या) ये राजे ही न थे और यह भी नहीं कि इसके बाद भी हम सभी न होंगे।12।

आत्मा को अविनाशी सिद्ध करने में कृष्ण की जो दलील यहाँ है उसका आशय यही है कि सभी आत्माओं के तीन विभाग हो सकते हैं—कहने वाली (कृष्ण की) सुनने वाली (अर्जुन की) और शेष उन सबों की जो या तो वहाँ लड़ने को मौजूद थे या और जगह थे। लेकिन मरने-मारने का प्रसंग होने के कारण ही और जगह वालों का नाम न लेके सिर्फ रणक्षेत्र में मौजूद तीन तरह के लोगों की ओर इशारा किया है। इसीलिए 'ये राजे'—'इमे जनाधिपाः'—कहने का अभिप्राय केवल राजा लोगों से ही न होके जो वहाँ मौजूद थे सभी से है। यह ठीक है कि कुछ को छोड़ सभी राजे या क्षत्रिय ही थे—उन्हीं की प्रधानता थी। इसीलिए सबों को राजे—'जनाधिपाः' कह दिया। जैसे जहाँ ब्राह्मण अधिक हों उस गाँव को ब्राह्मणों का गाँव कह देते हैं। क्योंकि आखिर कुछ और लोग तो गाँव में खामख्वाह होंगे। नहीं तो काम कैसे चलेगा?

जो कुछ तर्क युक्ति दी है उससे यह साफ हो जाता है कि जब सभी आत्माएँ मौजूद ही हैं तो वर्तमान के लिए तो कोई बात हई नहीं। रह गयी भूत और भविष्य की बात सो तो साफ ही कह दिया है कि न तो पहले हीं ऐसा कोई समय था जब

हम सभी मौजूद न थे और न आगे ही ऐसा वक्त होगा जब हम न रहें। नतीजा यह हुआ कि जो पदार्थ सभी समयों में रहे वह तो नित्य एवं अविनाशी ही हुआ। नित्य या अविनाशी का लक्षण ही यही है कि जो तीनों कालों में—सदा—रहे। फिर आत्मा के मरने का सवाल आता ही कहाँ से है? मरने का अर्थ ही है न रहना, और आत्मा को तो आगे भी सदा रहना ही है।

यदि किसी का खयाल हो कि पहले वाली आत्मा दूसरी थी, वर्तमानवाली और ही है और आगे तीसरी ही होगी। भूत, वर्तमान, भविष्य में एक ही कैसे रहेगी? भूत, वर्तमान और भविष्य की शरीरें तो निश्चय ही तीन हैं। फिर उनमें रहने वाली आत्माएँ भी तीन क्यों न हों? तो उसका उत्तर यह है कि—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।। 13।।

जिस तरह आत्मा या जीव के इस शरीर की लड़कपन, जवानी, बुढ़ापा (ये तीन दशाएँ होती हैं), ठीक उसी तरह दूसरी देहों—जन्मों की प्राप्ति भी है। (इसलिए) उस बात में समझदार (कभी) धोखे में नहीं पड़ता है। 13।

इसके सम्बन्ध में ज्यादा बातें पहले ही कही जा चुकी हैं और यह बात खूब साफ की जा चुकी है। कहने का निचोड़ यही है कि जिस प्रकार इस जन्म में बालपन, बुढ़ापा और जवानी के तीन विभिन्न एवं भूत, वर्तमान तथा भविष्य कालवर्ती शरीरों में एक ही आत्मा सभी मानते हैं, जरा भी शक नहीं करते और न धोखे में पड़ते हैं। ठीक उसी प्रकार तीन या ज्यादा जन्मों की भूत, वर्तमान और भावी देहों में भी एक ही आत्मा क्यों न मानी जाय? तर्क-युक्ति तो दोनों जगह एक ही है। एक शरीर की तीनों अवस्थाएँ भूत, वर्तमान और भविष्य की तो हईं। बाल्यावस्था की अपेक्षा यद्यपि जवानी एवं बुढ़ापा भविष्य की चीजें हैं। फिर भी बाल्य के गुजरने पर जवानी ही वर्तमान होती है, बालपन भूत और बुढ़ापा भावी। श्लोक में तीन अवस्थाएँ जो शरीर की दिखाई गयी हैं वह एक दूसरे से बिलकुल ही जुदी हैं और उन्हीं में सारा शरीर गुजर जाता है। इन तीन अवस्थाओं से यहाँ कोई खास मतलब यह नहीं है कि कितने वर्ष तक कौन सी रहती है। यहाँ बाल की खाल खींचना है नहीं।

इस प्रकार तर्क दलीलों से आत्मा की अमरता सिद्ध हो गयी। मगर संसार का काम सिर्फ तर्क दलीलों से ही तो नहीं चलता। यहाँ तो कुछ ठोस बातें हैं जिनसे इनकार किया जा सकता है नहीं, और उन्हीं के अनुसार यह बराबर देखा जाता है कि प्रियजनों के संयोग-वियोग से सुख-दुःख होते ही हैं। चाहे आत्मा अमर हो या उससे भी बढ़ के हो। मगर शरीरान्त होने पर सगे-सम्बन्धियों को अपार कष्ट होता ही है, और यही बात इस युद्ध के चलते विस्तृत रूप में होने वाली है। फिर क्यों न इससे किनाराकशी की जायं? भीष्मादि कहने से शरीर भी तो लिये ही जाते हैं

और उनका नाश होता ही है। इसी बात का उत्तर यों देते हैं–

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।14।।

हे कौन्तेय, भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध सर्दी-गर्मी की तरह कभी सुख और कभी दुःख देते रहते हैं (जरूर)। मगर यह ठहरे तो आने-जाने वाले ही और इसीलिए चन्दरोजा ही। (अतएव) इन्हें तो बर्दाश्त करना ही होगा हे भारत!।14।

मात्रा स्पर्श ही गीता (5।21-22) में बाह्य स्पर्श कहा है। स्पर्श नाम है सम्बन्ध का। बाह्य कहते हैं भौतिक को। वहीं देखने से यह साफ हो जाता है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।15।।

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ, सुख-दुःख में एक रस रहने वाले जिस पुरुष को ये पदार्थ उद्विग्न नहीं कर पाते वही अमृतत्व–मुक्ति–प्राप्त करता है।15।

'सम दुःख-सुख' का यह मतलब नहीं कि दोनों को एक बना दें। ऐसा तो होना असम्भव है। दोनों दो चीजें हैं। फिर एक कैसे होंगी? यह भी न कि दुःख या सुख जरा भी मालूम ही न हों। चेतन पुरुष के लिए यह भी अनहोनी चीज है। किन्तु जैसे पानी की लकीर बनते ही मिट जाती है ठीक वैसे ही दिल-दिमाग पर जब ये दोनों नाममात्र का ही असर करें तभी मनुष्य सम दुःख-सुख कहा जाता है। सारांश यह कि दिल-दिमाग की गम्भीरता (serenity or balance) को ये बिगाड़ न सकें। यही गीता का साम्यवाद है जो अभी पहली बार आया है।

इस प्रकार आत्मा को अविनाशी या नित्य और शरीरादि को अनित्य तो बता दिया। इससे काम भी चल गया। मगर कौन-सा पदार्थ नित्य और कौन-सा अनित्य है इसे कौन जानें? हरेक पदार्थ को गिन-गिन के देखना और समझना तो असम्भव है। क्योंकि पदार्थ ठहरे अनन्त। फिर सबों को जाना कैसे जाय? और अगर किसी को न जान सके तो उसी को लेकर भ्रम और गड़बड़ हो सकती है कि यही आत्मा तो नहीं है? इस तरह अनिश्चय का वायुमण्डल बना रह सकता है। फलतः पूर्व के प्रतिपादन से पूरा काम चलता दीखता नहीं। इसीलिए एक तो नित्य और अनित्य या सत्य और मिथ्या के बारे में कोई दार्शनिक नियम, लक्षण तथा परिभाषा चाहिए। ताकि बेखटके पहचान हो सके। दूसरे, आत्मा की पहचान भी पक्की होनी चाहिए कि वह कौन है। नहीं तो शायद घपला हो जाय। ऐसे मामले में जितनी सफाई हो जाय उतना ही अच्छा।

एक बात और भी है। ऐसी शंका कर सकते हैं कि यह क्यों न माना जाय कि इस शरीर में जो आत्मा है उसका अस्तित्व इससे पहले न था? वह अस्तित्व तो पहले-पहल इसी शरीर में ही आया है, हुआ है। इसी तरह यह भी क्यों न मान लिया जाय कि इसी शरीर के अन्त के साथ आत्मा का भी अन्त हो जाता है और

आगे उसे पा नहीं सकते? यह भी प्रश्न हो सकता है। अतएव इसका पूरा-पूरा समाधान हो जाना जरूरी है। आगे के 16वें से लेकर 25वें श्लोक तक यही बात समझाई गयी है। उसमें भी पहले शुरू किया है इस आखिरी शंका को ही लेकर कि इस शरीर में जो आत्मा है वह पहले न थी।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। 16।।

जो पदार्थ पहले न हो उसका अस्तित्व होई नहीं सकता—वह बनी नहीं सकता, (और) जो मौजूद है—सत्तावाला है—उसका नाश या खात्मा भी नहीं हो सकता। इन दोनों बातों का निर्णय तत्त्वदर्शी लोगों ने (ही) कर दिया है। 16।

यहाँ अन्त शब्द तत्त्वदर्शी शब्द के साथ होने से निश्चय या निर्णय के ही अर्थ में आया है। क्योंकि तत्त्वदर्शी तो दार्शनिक होते हैं। जिस बात का आखिरी फैसला वाद-विवाद के बाद कर लेते हैं उसे ही सिद्धान्त, राद्धान्त तथा कृतान्त भी कहते हैं। इन तीनों शब्दों का एक ही अर्थ है। वह यह है कि जिन पदार्थों के बारे में अन्त या अन्तिम बात हो चुकी, फैसला हो चुका वही सिद्धान्त है। 'सांख्ये कृतान्ते' (18। 13) में कृतान्त शब्द और उसके अन्त शब्द का यही अर्थ है।

इस तरह सिद्ध हो जाता है कि यदि आत्मा नाम का कोई पदार्थ पहले न होता तो उसका अस्तित्व इस शरीर में होता ही नहीं। इसी तरह जब यहाँ वह है तो आगे भी रहेगा। क्योंकि जो चीज है वह खत्म हो नहीं सकती। इसलिए आत्मा अनित्य है। उसकी पहचान यों है—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति।। 17।।

अविनाशी तो वही वस्तु—आत्मवस्तु—जानो जो इस समूचे जगत् को फैलाती, बनाती है और जो इसमें व्याप्त है—इसकी रग-रग में घुसी है। इस अविनाशी—निर्विकार—का नाश कोई भी कर नहीं सकता। 17।

जो सभी पदार्थों का स्व है, निजी रूप है, अपना रूप है, स्वरूप है वही तो उसकी आत्मा है, सबकी आत्मा है। यह स्व कहाँ नहीं है? यह तो सभी जगह है, सबों में है। आखिर अपना तो सबों का कुछ न कुछ होता ही है। इसीलिए वह आत्मा अविनाशी है। क्योंकि स्व तो रहेगा ही। और नहीं, तो जो पदार्थ नष्ट होगा उसके नाश की हस्ती, सत्ता तो रहेगी ही और वह भी तो स्व है। कभी पदार्थ के रूप में वह स्व, वह आत्मा नजर आती है तो कभी पदार्थ के नाश के रूप में कभी विधि रूप में (Positively) तो कभी निषेध रूप में (negatively)। इसीलिए तो उसे अविनाशी और नित्य मानना ही होगा। ऐसा तो होई नहीं सकता कि कभी यह स्व, यह आत्मा रहेई न। क्योंकि जब कुछ न होगा, तो और नहीं तो न होने का स्व या अस्तित्व तो रहेगा ही। कम से कम उसे तो उस समय मानना ही होगा। नहीं

तो यह कहेंगे कैसे कि कुछ नहीं रह गया है? इसीलिए उसे नाश की आत्मा मान के नित्य और अविनाशी मानते हैं। जब विधि और निषेध उसी के रूप हैं और सभी पदार्थ भी उसी के हैं तो यह भी ठीक ही है कि उसी ने सबका प्रसार किया है, जगत् का यह ताना बाना फैलाया है।

मगर शरीर, घड़ा, कपड़ा, रोटी, जमीन वगैरह की क्या हालत है? ये तो सर्वत्र फैले हैं नहीं। शरीर में कपड़े का, कपड़े में शरीर का पता कहाँ है? दोनों में घड़े का और घड़े में भी दोनों की सत्ता है कहाँ? इसी प्रकार सभी पदार्थों को एक-एक करके देख सकते हैं। यहाँ तो अपनी-अपनी डफली बज रही है। किसी का किसी से ताल्लुक नहीं है, नाता-रिश्ता हई नहीं। सभी अपने ही तक सीमित हैं। यह तो घोर विभिन्नता है, अजीब जुदाई है, निराली फूट है। यह अनोखा गृहयुद्ध (Civil war) हैं भयंकर गृहकलह है। यही तो वास्तविक कौरव-पाण्डव का महाभारत है। यहाँ कोई किसी को पूछता नहीं। फलतः सभी आपस में एक दूसरे से टकरा के खत्म हो जाते हैं। कभी घड़े से टकरा के शरीर खत्म होता है, तो कभी शरीर से टकरा के घड़ा और दोनों से टकरा के कपड़ा। यही हालत सभी पदार्थों की है। ठीक ही है। मेल में, ऐक्य में जीवन है, जिन्दगी है, सृष्टि है। परमाणुओं का परस्पर या प्रकृति का पुरुष से संयोग होने से ही मेल होने से हो तो सृष्टि होती है। विपरीत इसके उनकी जुदाई या पार्थक्य होने से ही प्रलय होती है, विनाश होता है। जब गुण आपस में मिलते हैं तभी सृष्टि होती है और ज्योंही तन गये कि प्रलय आ धमकी। यही बात जगत् के सभी पदार्थों की है। मगर इन सबों के भीतर मालिक बनके स्व बैठा है, आत्मा मौजूद है और इन बच्चों के घरौंदों के बनने-बिगड़ने का तमाशा देख रही है। वह निरन्तर न रहे तो आखिर यह तमाशा देखे कौन? यही बात इस तरह कहते हैं—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।। 18।।

इन शरीरों के मालिक अविनाशी तथा अचिन्त्य (आत्मा) के ये शरीर तो विनाशी ही कहे गये हैं—माने गये हैं—। इसलिए युद्ध करो हे अर्जुन! 18।

जब इन शरीरों का नाश होना ही है तो फिर युद्ध में आनाकानी क्यों? ये शरीर अगर लड़ाई में खत्म न हुए तो कहीं और ही जगह दूसरी ही चोट खा के या बीमारी से ही खत्म होंगे ही। और नहीं तो बिजली गिरने, पानी में डूबने या हिंसक जानवरों के आक्रमण से ही खत्म होंगे। तब हर्ज ही क्या कि यहीं रणांगण में खत्म हों? फर्क इतना ही है कि यहाँ "समर मरण अरु सुरसरि तीरा। राम काज क्षणभंग शरीरा।" है। यहाँ मरने से यश है, शान है, कर्तव्य पालन का सन्तोष है, मनस्तुष्टि है, और अन्त में सद्गति है। मगर और जगह दूसरी तरह मरने में यह बात नहीं होने से जबर्दस्त घाटा है। इसलिए जरूर लड़ो।

आत्मा को जो अप्रमेय कहा है और जिसका अर्थ है कि बुद्धि या दिमाग भी

जिसे पकड़ नहीं सकता, जो उसकी भी पहुँच के बाहर की चीज है, उसका मतलब साफ है। यदि वह किसी की पकड़ या कब्जे में आ जाय तो एक तो उसका स्वातन्त्र्य जाता रहे। दूसरे पराधीन होने पर वह जिसके अधीन होगी उसके हाथों उसका सब कुछ किया जा सकता है, यहाँ तक कि खात्मा भी। दिमाग या बुद्धि आदि भी तो शरीर आदि की तरह भौतिक पदार्थ ही ठहरे, जिनकी अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकती रहती है। इसीलिए उनका खात्मा भी होता है। और अगर आत्मा भी उनकी मातहती में आ जाय तो वह कैसे बच पायेगी? तब तो उसकी खैरियत न होगी लेकिन यहाँ तो बात ही दूसरी है। बुद्धि भले ही चली जाय, खत्म हो जाय। मगर उसके स्व को निषेध रूप में रहना ही है और वही स्व है आत्मा। फिर आत्मा बुद्धि के पंजे में कैसे रहे? वह तो साफ ही उसकी पहुँच से बाहर है। यही कारण है कि उसके बारे में तरह-तरह के खयाल होते हैं। कोई उसे मरणशील मानता है, तो कोई उसे मारनेवाली ही कहता है। कोई नित्य मानता है, तो कोई अनित्य। जब बुद्धि ठोकरें खा के वहाँ तक पहुँची नहीं सकती, तो आखिर और होई क्या सकता है? जब वहाँ तक बुद्धि पहुँचती ही नहीं तो उसे मारने-मरने वाली कहना केवल नादानी है, उलटी बात है। क्योंकि इससे तो ऐसा हो जाता है कि बुद्धि ने उसे पहचान लिया है, उसकी हकीकत जान ली है, वह उस तक पहुँच चुकी है। मारने-मरने की बात तो शरीरादि में ही है और यह है आपसी टक्कर, जैसा कि अभी कहा है। आत्मा में यह बातें मानना कोरा अज्ञान है, मूर्खता है। यही बात आगे यों लिखी है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।। 19।।

(इसलिए) जो इस आत्मा को मारनेवाली मानता है और जो इसे मरनेवाली समझता है उन दोनों ही को असलियत मालूम नहीं है। क्योंकि यह तो न मारनेवाली है (और) न मरनेवाली। 19।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। 20।।

(क्योंकि) यह (आत्म वस्तु) न तो कभी जनमती है और न मरती है (और यह भी इसीलिए कि) यह पहले न रह के पीछे होती जो नहीं और हो के उसके बाद नहीं रहती भी नहीं। इसीलिए यह जन्मरहित, नित्य—काल से जो घिरी न हो—हमेशा रहने वाली और प्राचीन (से भी प्राचीन) चीज है (जो) शरीर नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती। 20।

इसमें एकाध बातें कुछ समझने की हैं, हालाँकि वह नयी नहीं हैं। जो बात 'नासतो विद्यते' में कही जा चुकी है वही यहाँ दूसरे शब्दों में कही गयी है। श्लोक के पूर्वार्द्ध के आधे में आत्मा के जनमने-मरने का निषेध है। शेष आधे में उसका कारण दिया गया है। जन्म लेने का मतलब ही है पहले न रह के पीछे होना या

अस्तित्व में आना। परन्तु आत्मा में यह बात नहीं है। वह तो पहले भी थी ही। फिर उसका जन्म हो कैसे? इसी तरह मरने के मानी हैं कभी रह के बाद में न रहना। मगर आत्मा में तो यह भी बात नहीं है। उसके कभी भी न रहने का तो सवाल ही नहीं है। तब उसका मरना कैसे सम्भव है?

आत्मा को बुद्धि पकड़ तो सकती नहीं। फिर भी उधर जाने की कोशिश करती रहती है। उसके लिए आत्मा तक पहुँचने की सीढ़ी यही है कि जो चीजें उसकी पकड़ में आती जायँ उन्हें छाँटती चली जाय। इसी को उपनिषदों में 'नेति-नेति' की रीति या निषेध प्रक्रिया कहा है। इस तरह सब भौतिक पदार्थों को छाँटते-छाँटते जो सबों का मूलाधार बच रहेगा आत्मा वही पदार्थ होगा। क्योंकि निराधार तो कोई चीज होती नहीं। इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में यही निषेधवाली रीति का अनुसरण है। इसीलिए 'अज' का अर्थ है जन्मरहित या जन्म लेने वालों से निराला। नित्य का अर्थ है जो समय से बँधा न हो। अनित्य पदार्थों को समय घेरे रहता है, वह समय के ही पेट में, उसके भीतर रहते हैं। मगर आत्मा के बारे में यह बात नहीं है। नित्य शब्द यद्यपि निषेध रूप में मालूम नहीं होता, तथापि ऐसा ही अर्थ करना ही होगा। शाश्वत का भी यही अर्थ है। जब समय से घिरा नहीं है तब उसे हमेशा रहने वाला कहने के मानी क्या हैं? इसका सीधा अर्थ है कि वह समूचे समय से घिरा है। मगर यह बात पहले कथन के विरुद्ध हो जाती है। जो समय से घिरा न हो वही समूचे समय से घिरा हो, यह कुछ अजीब-सी बात हो जाती है। बात दरअसल यह है कि हरेक भौतिक पदार्थ कुछ न कुछ समय से घिरे रहते हैं—किसी वक्त जन्म के कभी खत्म हो जाते हैं। यह भी बात है कि समय तो उनके जन्म के पहले भी था और खत्म होने के बाद भी रहता ही है। इसीलिए प्रत्येक भौतिक पदार्थों की यही बात है कि किसी न किसी समय के ही भीतर रहते हैं। समूचे समय के भीतर कोई भी नहीं रहता है। मगर आत्मा तो उनसे भिन्न है। क्योंकि निषेध की बात कह चुके हैं। इसीलिए उसे समूचे समय से घिरी वस्तु या हमेशा रहने वाली कह देते हैं। न कि सचमुच समय का अधिकार उस पर है। इसीलिए शाश्वत शब्द भी निषेधात्मक ही है। यही हालत पुराण की भी समझिए। पीछे जितने पदार्थ मिलते जाते हैं सबों का निषेध करते हैं कि यह आत्मा नहीं है यह आत्मा नहीं है। इस तरह पीछे बढ़ते जाने पर जो पुरानी से भी पुरानी चीजें मिलें उनका भी निषेध करने के बाद अर्थतः यह दिया जाता है कि वह तो पुरानों से भी पुरानी है। जब जन्म होता ही नहीं तो खामख्वाह उसे पुराने से भी पुरानी कहना ही पड़ता है?

इस तरह अज और पुराण शब्द पीछे की तरफ जा के आत्मा को ढूँढ़ते और उसकी ओर इशारा करते हैं। उत्तरार्द्ध का 'न हन्यते' आगे की तरफ जा के ढूँढ़ता और इशारा करता है और नित्य एवं शाश्वत शब्द बीच में रह के वही काम करते हैं। जैसे आवश्यकता पड़ने पर यदि कोई चूहा किसी को बिल्ली का परिचय कराना

चाहे तो बिल्ली के निकट तो वह जा सकता नहीं; किन्तु दूर से ही इशारा करता है कि देखा वह है, वह या जैसे उल्लू पक्षी सूर्य की ओर इशारा करे; ठीक उसी तरह बुद्धि आत्मा की ओर सिर्फ इशारा करती है कि देखो वह है, वह । वह उसे ठीक-ठीक बता नहीं सकती।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।। 21 ।।

(इसलिए) हे पार्थ, जो पुरुष—मर्दाना—इस आत्मा को जन्मरहित, विकार शून्य, अविनाशी और काल के घेरे से बाहर जानता है—मानता है, समझता है, अनुभव करता है—वह (भला) किसे मरवाता (और) किसे मारता है? 21।

अब यह प्रश्न होता है कि तो मरना-मारना आखिर कहते हैं किस चीज को? दुनिया में मरने-मारने जैसी चीज नहीं है, यह तो कही नहीं सकते हैं। यह तो आये दिन की चीज है, हमारे रोज के व्यवहार की बात है। हम हमेशा ही यह मरा, वह मरा, इसने मारा, उसने मारा, फलाँ ने मरवाया, की बातें करते ही रहते हैं। सभी लोग ऐसी ही बातें करते हैं। यह तो कही नहीं सकते कि सबके-सब पागल हैं। इसलिए इतना तो मानना ही होगा कि यह कोई चीज है। अब रही बात कि वह क्या चीज है? और अगर यह कुछ भी है तो फिर उसके लिए चिन्ता-फिक्र करना मुनासिब ही है। फिर भी इसकी चिन्ता न करके खुशी की चीज इसे कैसे मानें? इसका उत्तर इस तरह देते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। 22 ।।

जिस तरह पुराने कपड़ों को (खुशी-खुशी) छोड़ के (कोई भी कपड़ा पहने) आदमी दूसरे नये कपड़े पहनता है। ठीक उसी तरह देह धारण करने वाली—देही—आत्मा पुराने शरीरों को छोड़ के दूसरे नये शरीरों में पहुँचती है—उन्हें स्वीकार करती है। 22।

यहाँ कई बातों का खयाल करना होगा। पहली बात तो यह कि जन्म-मरण नये-पुराने कपड़े बदलने जैसी ही बातें हैं। जब ताजे से ताजे कपड़ों को भी खुशी-खुशी छोड़ के एकदम नये कपड़े पहनने में लोग आनन्द मनाते हैं तो मरने में गम क्यों मनाया जाय? यह तो उलटी बात होगी। इस श्लोक में 'जीर्ण' शब्द का फटा-पुराना अर्थ नहीं है। नये शरीरों का भी तो त्याग होता ही है और नये कपड़ों का भी। महाभारत में अभिमन्यु जैसा कोरा जवान भी तो मारा गया था। तो क्या उसके बारे में कोई और सिद्धान्त लागू होगा? या कि उसके सम्बन्ध में गम मनाना ही ठीक था? ये बातें तो ठीक नहीं। इसलिए जीर्ण शब्द का अर्थ है त्यागने के योग्य या जिसके त्यागने का समय आ गया था। 'जृ' धातु, जिससे यह शब्द बना है, का अर्थ भी वय की हानि ही है, यानी अवस्था—उम्र—का पूरा हो जाना। जिसे छोड़ेंगे उसकी अवस्था तो छोड़नेवाले के लिहाज से पूरी होई जाती है। या नहीं तो, यों समझें

कि अधिकांश लोग तो पुराने ही थे। इसीलिए जीर्ण शब्द प्रयुक्त हुआ है। मगर पहली ही बात ज्यादा युक्तिसंगत लगती है।

दूसरी बात है नये शरीर के ग्रहण करने या जन्म लेने की। कोई ऐसा मान सकता है कि पुराने के छोड़ने और नये कपड़े के पहनने में तो देर नहीं लगती। किन्तु छोड़ने के बाद फौरन ही नया पहन लेते हैं। बीच में समय गुजरने पाता ही नहीं। जब यही उदाहरण दिया गया है मरने और जनमने का, तब तो नया जन्म भी फौरन ही होना चाहिए। बीच में जरा भी समय नहीं लगना चाहिए। लेकिन यह समझ गलत होगी। कपड़े का दृष्टान्त केवल इसी मानी मानी में दिया है कि एक तो कपड़ेवाले की ही तरह शरीर वाला—देही—जीव शरीर से जुदा है। दूसरे वह पुराने शरीर को छोड़ के नये को खुशी से स्वीकार करता है। बस। इससे आगे दृष्टान्त का कोई भी मतलब नहीं है। नहीं तो हमें यह भी मानना पड़ जायगा कि जैसे धोती वगैरह के बदलने में ऐसा होता है कि नयी धोती को पहले ऊपर से पहन लेते और पीछे पुरानी को हटाते हैं, शायद उसी तरह जीव भी नये शरीरों को धारण करके ही पीछे पुराने शरीरों को छोड़ता हो। और अगर इतनी दूर जाने की या तो जरूरत नहीं है; या जाने में अड़चन है; क्योंकि यह बात सरासर असम्भव है, तो फौरन ही शरीर ग्रहण करने की बात तक जाने में भी वही अड़चन है। इसीलिए वहाँ तक जाने की जरूरत नहीं है।

हमने जो यह कहा है कि नये शरीरों को धारण करने के बाद ही पुरानों के छोड़ने की भी कल्पना की जा सकती है, वह केवल कल्पना ही नहीं है और न गीता के इस श्लोक से ही उसकी सम्भावना मानी जाती है। वृहदारण्यक उपनिषद् के चौथे अध्याय के चौथे ब्राह्मण के तीसरे मन्त्र में जोंक या कीड़े का दृष्टान्त देकर कहा गया है कि जिस प्रकार एक तृण पर रेंगने वाला कीड़ा जब उसके आख़िरी सिरे पर पहुँचता है तो जब तक दूसरे तृण का सहारा उसे न मिल जाये पहले तृण से अपने शरीर को कभी नहीं समेटता है, हटाता है। ठीक उसी तरह इस शरीर के त्याग के बारे में भी आत्मा की हालत है। मगर यह बात कोई अक्षरशः लागू न कर ले, इसीलिए आगे फौरन कह दिया है कि इस शरीर को छोड़ने के बाद अविद्या—सूक्ष्म और कारण शरीर—का आश्रय ले के आत्मा दूसरे शरीर में जाती है—"तद्यथा तृणजलायु का तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति।"

इसी कथन से समाधान भी हो जाता है। इस स्थूल शरीर के छोड़ने पर भी अविद्या नामक अज्ञान तो रहता ही है। वही तो जन्म-मरण का कारण है। उसी अविद्या से बना सूक्ष्म शरीर भी तो रहता ही है। उसी के आधार से आत्मा इस स्थूल शरीर से बाहर जाती है और समय पा के दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करती है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय के 'ममैवांशो जीवलोके' (15। 7-8) आदि दो श्लोकों में साफ ही

यह बात कही भी गयी है कि चक्षु आदि इन्द्रियों और मन आदि को ही ले के वह जीव शरीर छोड़ता और नये शरीर में जाता है। यही उसकी सवारी है। अपने लक्ष्य स्थान दूर देश में पहुँचने के लिए। हम भी यह चीज पहले ही अच्छी तरह समझा चुके हैं। असल में फौरन ही दूसरे शरीर का मिलना असम्भव भी तो है। कोई बने-बनाए शरीर में घुसा तो देते नहीं, जैसी बनी-बनाई कोट में शरीर घुसाते हैं। शरीर तो गर्भ में बनता है। सो भी पूरे दस महीने तक लग जाते हैं। मगर इस दस महीनों के पहले भी तो यह मानना ही होगा कि यह जीव माता और पिता दोनों के ही रज-वीर्य में रहता है। तभी तो दोनों के संयोग से बच्चे के शरीर का श्रीगणेश होता है।

फिर भी इतने से ही काम चलता नहीं। रज और वीर्य तो अन्न से बनता है। इसलिए यह भी मानना ही होगा कि रज-वीर्य में जाने के पहले वह जीव अन्न में था जिसे स्त्री-पुरुष दोनों ने खाया था। अब प्रश्न है कि अन्न में कहाँ से कैसे आया? इसका उत्तर छान्दोग्य, वृहदारण्यक और कौषीतकि उपनिषदों में लिखी पंचाग्नि-विद्या के प्रकरण में मिलेगा। वहीं लिखा गया है कि जीव मेघ में हो के वृष्टि के द्वारा अन्न या फलादि में आता है। मेघ में भी क्रमशः चन्द्रलोक, आकाश, वायु और धूम में होता हुआ आता है। यह बात भी पहले कर्मवाद के प्रकरण में विस्तार से लिखी जा चुकी है कि वह चन्द्रलोक में कैसे पहुँचता है। गीता में भी उत्तरायण-दक्षिणायन मार्गों का जो वर्णन (8। 24-25) आया है उसमें लिखा है कि अग्नि, धूम आदि के जरिए ही वहाँ पहुँचता है। यह तो बड़ी ही गम्भीर और अलौकिक बात है। मगर है यह सही। इसी प्रकार कर्मों के चलते एक जगह शरीर छोड़ने के बाद वही जीव हजारों कोस पर जा के जन्म लेता है। तब फौरन कैसे शरीर ग्रहण करेगा? बीच में तो काफी समय जरूर ही लगेगा।

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा का भी अन्त क्यों न हो जाय? जब और चीजें खत्म होती हैं तो वह भी खत्म हो जाय, नष्ट हो जाय। पानी में डूब के, सड़ के, आग में जल के, हवा से सूख के या अस्त्र-शस्त्रादि की चोट से सभी पदार्थ नष्ट होते ही हैं। तब यह क्या बात है कि आत्मा भी इसी तरह नष्ट नहीं हो जाती? इसका उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चेनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। 23।।

इसे शस्त्र काटते ही नहीं, न अग्नि जलाती है। पानी भी भिगोता नहीं और न हवा सुखाती है। 23। (क्यों? इसीलिए कि,—)

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। 24।।

यह काटा जा सकता नहीं, जलाया भी नहीं जा सकता। यह न (तो) भिगोया ही जा सकता है और न सुखाया जा सकता ही है। (इसीलिए) यह (आत्मा रूप

पदार्थ) समय के घेरे से बाहर, सर्वत्र मौजूद, सबों का आधार, अचल और हमेशा रहने वाला है। 24।

यहाँ सनातन शब्द का वही अर्थ है जो पहले शाश्वत का कह चुके हैं। इसी प्रकार जो 'येन सर्वमिदं ततम्' (2। 17) में आत्मा का सब पदार्थों में घुसा रहना कहा गया है वही सर्वगत के मानी हैं। सबों के आधार की बात जो पहले आयी है वही स्थाणु का अर्थ है। सिर्फ अचल शब्द नया है। मगर अव्यय शब्द पहले जा चुका है। उसके ही मानी में अचल आया है। विकार या गड़बड़ होने के लिए पूरी वस्तु को या उसके कुछ हिस्से को ही हिलाना-डुलाना जरूरी हो जाता है। जब तक उसमें चाल या क्रिया (action) न हो, किसी तरह की भी गड़बड़ या खराबी—विकार—का होना असम्भव है। परन्तु जो सर्वत्र मौजूद है उसमें क्रिया होगी कैसे? क्रिया का अर्थ ही है एक स्थान से दूसरे में पहुँचना या जाना।

श्लोक में जो अच्छेद्य आदि शब्द आये हैं उनका अर्थ हमने किया है काटा जा सकता नहीं, आदि। इन शब्दों के बनने में व्याकरण का जो 'ण्य' प्रत्यय लगा है उसे कृत्य प्रत्यय कहते हैं और पाणिनि के 'शकि लिङ् च' (3। 3। 172) सूत्र के अनुसार कृत्य और लिङ् प्रत्यय 'सकने' अर्थ में भी आते हैं। यहाँ यही अर्थ ठीक बैठ जाता है भी। जब हथियार वगैरह काट सकते ही नहीं, जब उनकी ताकत ही नहीं कि आत्मा को काट सकें, तो फिर काटें कैसे? इस तरह पहले श्लोक में नहीं काटने आदि की जो बात कही गयी है उसका कारण इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया है। आखिर ये शस्त्रादि काट या जला भी सकें तो कैसे? जब यह आत्मा ही है तो जैसे हमारी और आपकी, अर्जुन और कृष्ण की आत्मा है, वैसे ही अस्त्र, शस्त्र, आग, पानी, हवा वगैरह की भी। यह तो सबों की स्व है, सबों का स्वभाव है, सबों का अस्तित्व है, सत्ता है। तब यह कैसे हो कि अग्नि अपने आपको ही जलाये? क्योंकि तब तो खुद अग्नि ही खत्म हो जायगी न? फिर औरों को जलायेगी कैसे? जब वह रही ही नहीं, जब उसका अस्तित्व रही नहीं गया तो वह जलाये किसे? यही बात पानी, हवा आदि की भी है। भला अपने आपको ही ये खत्म करें! यह हिम्मत किसे होगी? यह तो सोचना भी भूल है।

पहले के 6 और 7 श्लोकों में जो 'भुंजीय', 'जयेम' आदि में लिङ् आया है उसका भविष्य के अलावे यह 'सकना' भी अर्थ हो सकता है। उसका तब यह मतलब होगा कि इन गुरुजनों को मार के ज्यादे से ज्यादा खून से रँगे पदार्थों को भोग ही तो सकते हैं। और कौन कहे कि कौन जीत सकता है? हम जीत सकते हैं या वही लोग, अभी से यह कौन बताये?

हाँ, तो इस श्लोक में जो आत्मा को अचल कहा उसकी तो वजह साफ ही है। जब वह स्थूल, या व्यक्त पदार्थ नहीं है जो इन्द्रियों के कब्जे में आ सके तो उसे हिलाये-डुलायेंगे कैसे? और जब वह बुद्धि की भी पकड़ के बाहर है तो यह

बात और भी असम्भव है। इसलिए उसे निर्विकार—विकारशून्य—ही मानना पड़ेगा। यही बात आगे इस तरह कहते हैं—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।। 25।।

यह आत्मा व्यक्त (स्थूल पदार्थ—दृष्टि में आने वाली—तो) है नहीं और न बुद्धि की ही पकड़ में आ सकती है। (इसीलिए) यह निर्विकार कही जाती है। अतएव इसे इस तरह जान लेने पर तुम्हारा बार-बार रोना-धोना ठीक नहीं है। 25।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।। 26।।

और अगर तुम इसे बराबर जनमने और मरने वाली ही मानते हो, तो भी ओ बहादुर—शक्तिशाली भुजा वाले—तुम्हारा इस तरह अफसोस करना अच्छा नहीं है। 26।

पहले श्लोक में अनुशोचितम् में जो अनु शब्द आया है। उसी की जगह यहाँ उत्तरार्द्ध में एवं आया है। उसका भी वही अर्थ है कि बार-बार शोक करना या रोना-धोना ठीक नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। 27।।

क्योंकि पैदा होने वाले की मौत ध्रुव—अवश्यंभावी—है। मरे हुए का जन्म भी ध्रुव है। इसलिए जिन बातों में किसी का वश हई नहीं उन्हीं के बारे में तुम्हारी यह चिन्ता-फिक्र कभी मुनासिब नहीं हो सकती है। 27।

जब जन्म और मरण को कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती—जब ये दोनों बातें अनिवार्य हैं—तो इनके बारे में हाय-हाय कैसी? यदि आसमान के तारे टूटें और इससे हम लोगों का भारी नुकसान हो जाय, या अगर भूकम्प से चारों ओर हड़कम्प पड़ जाय तो भी कोई समझदार हाय-हाय क्यों करेगा, कि उफ, हम ये बातें रोक न सके?

इतना ही नहीं। जिन शरीरों के मरने या नष्ट होने का खयाल करके हाय-तोबा का यह पँवारा फैला रहे हो आखिर उनकी हकीकत भी तो देखो और विचारो। ये चीजें तो सिर्फ "चार दिनों की चाँदनी" हैं, सपने की सम्पत्ति हैं, जादूगर के तमाशे हैं। क्या यह नहीं होता कि सपने में भी हम बन्धु-बान्धवों से मिलते-जुलते, बातें करते और मौज करते हैं? हम हजार कोस दूर कहीं पड़े हैं, या जेल के भीतर बन्द हैं। फिर भी सपने में स्वजनों के साथ हमारा मधुर मिलन तो होई जाता है और उससे आनन्द भी होता ही है । मगर एकाएक नींद खुली और सब मजा किरकिरा! सभी प्रेमी, स्वजन और गुरुजन गायब! ऐसी बेमुरव्वती की कुछ पूछिए मत! लेकिन क्या इसके लिए हम माथा पटकते, छाती पीटते या हाय-हाय करते हैं? क्यों? इसीलिए न, कि यह मिलन कुछी देर पहले लापता था, सपने में मिलने वाले ये स्वजन लापता

थे, नजर के ओझल थे, दीखते न थे। फिर बीच में कुछ देर के लिए आ गये, दिख गये, मिल गये! और फिर? फिर थोड़ी ही देर बाद एकाएक गायब हो गए, लापता हो गए, कहीं दीखते ही नहीं, हजार ढूँढ़ो सही, मगर मिलते ही नहीं! मालूम पड़ता है, जिस अदर्शन से अव्यक्त दशा से व्यक्त हुए थे, आये थे, दीखने लगे थे, पुनरपि उसी हालत में चले गये, उसी अव्यक्त और अदर्शन में जा मिले!

इसीलिए महाभारत के अन्त के स्त्रीपर्व में अव्यक्त न कहके अदर्शन शब्द ही आया है—"अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः। न ते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना" (2। 13)। इसका आशय यह है कि ये सभी अदर्शन से ही आये थे और पुनरपि वहीं चले गये। न तो वाकई में ये तुम्हारे हैं और न तुम इनके। फिर इसमें अफसोस क्या? इसी श्लोक का 'तत्रकापरिदेवना' गीता के अगले श्लोक में भी है। हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) नामक पश्चिमी दार्शनिक ने अपनी पुस्तक 'मूल सिद्धान्त' (First principles) में यही बात यों लिखी है कि यदि किसी पदार्थ का पूरा परिचय प्राप्त किया जाय तो पता लगेगा कि वह किसी अदृश्य दशा से निकल के कुछ दिनों बाद फिर उसी दशा में चला जाता है—"An entire history of anything must include its appearance out of the imperceptible and its disappearance into the imperceptible" (page 253) यही बात स्वयं कृष्ण इस तरह कहते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।। 28।।

हे भारत, सभी भौतिक पदार्थ आरम्भ में—पहले—अव्यक्त ही होते हैं, अदृश्य ही रहते हैं, बीच में व्यक्त और दृश्य होते हैं और अन्त में फिर खामख्वाह अदृश्य होई जाते हैं। तब इसमें चिन्ता क्या? 28।

इस पर अब एक ही बात उठती है और वह यह है कि—कहना-सुनना और तर्क-युक्ति तो यह सब कुछ ठीक है और बात भी दर हकीकत यही है। मगर दिक्कत यही है कि हमें ऐसी मालूम होती नहीं। अगर हमारे नित्य के अनुभव में यह चीज आ जाय तभी न हम समझें कि दुरुस्त है? नहीं तो जंगल में पका फल हमारे किस काम का? उस तक हमारी पहुँच हो तभी न हमारी भूख बुझे? ये सभी बातें तो सपने के साम्राज्य या बच्चों के खिलवाड़ की मिठाई जैसी ही हैं। इसीलिए इनसे असली काम तो होता नहीं, पेट तो भरता नहीं और यही है ठोस चीज। निरी बातों से तो कुछ होता जाता नहीं।

और नहीं तो कम से कम पढ़े-लिखों को तो इन बातों का अनुभव हो। नहीं तो कैसे जानें कि ये चीजें सही हैं, सत्य हैं? बड़े-बूढ़े बतायें तो भी मान सकते हैं। मगर सो भी तो नहीं है। और यह बात भी क्या है कि ऐसी खाँटी और पक्की चीज जनसाधारण की समझ में न आये? वह सौदा ही कैसा जो आम लोगों की पहुँच के बाहर हो? वह उनके किस काम का, यों चाहे वह सोना ही क्यों न हो? लाख

अच्छा-भला क्यों न हो? आखिर किसी वस्तु की सचाई-झुठाई की तराजू भी तो यह जनसाधारण का अनुभव ही है और इस आत्मा के बारे में वही अनुभव लापता ठहरा! और हमें समझाना भी तो जनसाधारण को ही है न? तब इसे क्योंकर माना जाय? इसी का उत्तर आगे देते हुए कहते हैं कि यह कुँजड़े की साग-भाजी नहीं है कि दर-दर मारी फिरे। यह तो जौहरी का अमूल्य रत्न है जिसे बिरले ही परख पाते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।29।।

इस (आत्मा) को जाननेवाला कोई बिरला ही होता है। (जानकर भी दूसरों को इसे) बताने वाला तो (और भी) बिरला होता है। (यदि कोई बताने वाला हुआ भी तो) इसके सम्बन्ध में बात सुनने वाला (तो उससे भी) बिरला होता है। (खूबी तो यह है कि) इसे पढ़-सुन के भी कोई जानता ही नहीं—शायद ही कोई मुश्किल से जाने। 29।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।30।।

(इसलिए जब) हे भारत, सबों के देह की मालिक यह (आत्मा) कभी भी मारी जा सकती है नहीं, तो (नाहक) किसी भी भौतिक पदार्थ के बारे में तुम्हारा अफसोस करना अच्छा नहीं है। 30।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।31।

अपने धर्म का खयाल करके भी तुम्हारा (युद्ध से) डिगना उचित नहीं है। क्योंकि क्षत्रिय के लिए (तो) धर्म-युद्ध से बढ़ के कोई चीज होई नहीं सकती। 31।

धर्मशास्त्र की बात पहले तो चला सकते न थे। क्योंकि अर्जुन स्मृतियों के कोरे विधानों और आदेशों को आँख मूँद के मानने को तैयार न था। वह तो कोई अनाड़ी या साधारण आदमी था नहीं कि स्मृतियाँ अपनी लाठी से उसे हाँक सकें। वह तर्क-दलील की कसौटी पर कसके ही किसी चीज को भली-बुरी मानने को तैयार था। इसीलिए कृष्ण ने पहले यही किया और दार्शनिक युक्तियों से उसे माकूल किया। उसके बाद स्मृतियों के आदेश भी मजबूती के साथ काम कर सकते थे। इसीलिए पीछे उनकी चर्चा भी दो श्लोकों में आ गयी है। मगर यह यों ही है। इसका कोई स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। इसीलिए गीताधर्म या गीता की अपनी चीजों के भीतर इसकी गिनती नहीं। यह वैसी ही बात है जैसी अपयश और मान-अपमानवाली 33-37 श्लोकों में कही बातें। वह तो गीताधर्म में आती हईं नहीं, यह निर्विवाद है। वे कही गयी हैं व्यावहारिकता की दृष्टि से ही अर्जुन में केवल गर्मी लाने के लिए। गीता व्यावहारिक मार्ग को ही पकड़ के अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है और यश-अपयश की बात सबसे ज्यादा चुभने के कारण ही व्यावहारिक है।

धर्म-युद्ध कहने का मतलब यह है कि युद्ध के समय क्या किया जाय क्या न किया जाय, आदि बातों के लिए कुछ सर्वसम्मत नियम-कायदे हमेशा से माने जाते रहे हैं। हेग की परम्परा (Hague Convention) के नाम से वर्तमान समय में भी ऐसी अनेक बातें सर्वमान्य समझी जाती हैं। इन्हीं में घायलों की सेवा-शुश्रूषा, युद्धबन्दियों के साथ सलूक, जो स्थान खुले (open) घोषित कर दिये गये उन पर आक्रमण न करना, आम जनता (Civil population) पर प्रहार न करना जहरीली गैस का प्रयोग न करना आदि बातें आ जाती हैं। हालाँकि अपनी-अपनी गर्ज से आज कभी इन नियमों में किसी को कोई तोड़ता है, तो किसी को दूसरा ही। फलतः नात्सी जर्मनी के इस युद्ध में उसके पक्ष के सबों ने ही इन्हें तोड़-ताड़ के खत्म कर दिया है। महाभारत के भीष्म पर्व के देखने से पता चलता है कि युद्धारम्भ के पहले ऐसे सभी नियम दोनों पक्षों ने साफ-साफ स्वीकार कर लिये थे। अतएव इन्हीं नियमों के अनुसार होने वाले युद्ध को धर्मयुद्ध और इन्हें तोड़-ताड़ के होने वाले को अधर्मयुद्ध कहा है। यहाँ धर्म शब्द का दूसरा अर्थ असम्भव है। धर्मशास्त्र में लिखा युद्ध ही धर्म युद्ध है यह भी मतलब यहाँ नहीं है। सभी युद्ध तो धर्म शास्त्र में ही लिखे रहते हैं। इसलिए जब तक उनके सम्बन्ध में लागू पूर्वोक्त नियमों को नहीं कहते तब तक धर्मयुद्ध कहना बेकार है। और जब स्वधर्म कही चुके हैं, तो फिर दुहराने का क्या प्रयोजन?

जो लोग यहाँ स्वधर्म की बात लिखी देख के इसकी मिलान आगे के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (2।47) से करते हैं वह भी भूलते हैं। यह प्रकरण ज्ञान का ही है। 'ऐषा तेऽभिहिता' (2।39) से ही कर्मयोग का प्रकरण शुरू होता है। इसलिए बीच में ही उसकी बात यहाँ कैसे आ सकती है? इसी प्रकार 'श्रेयान् स्वधर्मः' (3।35 तथा 18।47) में भी स्वधर्म शब्द स्मृतियों के धर्मों के लिए ही नहीं आया है। वह तो व्यापक अर्थ में कर्ममात्र का ही वाचक है। यह बात हम पहले ही अच्छी तरह लिख चुके हैं। इन नियमों के साथ लड़ी जाने वाली लड़ाई भी धर्मशास्त्र-सम्मत होनी चाहिए, यही आशय यहाँ है। 'श्रेयस्' शब्द के बारे में भी जान लेना चाहिए कि मोक्ष के अर्थ में उसका खासतौर से प्रयोग गीता में कहीं शायद ही हुआ हो, जैसा कि कठोपनिषद् के 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव' तथा 'श्रेयश्च प्रेयश्च' (1।2।1-2) में आया है। तीसरे अध्याय के शुरू के दूसरे श्लोक के 'श्रेयः' शब्द को कल्याण या मोक्ष के अर्थ में ले सकते हैं और इसका कारण भी आगे लिखा है कि कहाँ ऐसा अर्थ होता है। मगर यहाँ कल्याण ही अर्थ उचित लगता है। इसीलिए आगे 'श्रेयः परमवाप्स्यथ' (3।11) में श्रेयः का विशेषण परं हो जाने से परमश्रेय या परमकल्याण का अर्थ मोक्ष ठीक लगता है। क्योंकि वही तो आखिरी कल्याण है। असल में प्रशस्य शब्द से ही यह श्रेयस् शब्द 'प्रशस्यस्य श्रः' (5।3।60) पाणिनि सूत्र की सहायता से बनता है। इसमें प्रशस्य का अर्थ है प्रशंसनीय या प्रशंसा के योग्य अर्थात् अच्छा।

उसी से बने श्रेयस् शब्द का प्रयोग करते हैं ऐसी ही जगह जहाँ कइयों में एक को अच्छा समझ के चुन लेना हो। इससे स्वभावतः ज्यादा अच्छा सबों से अच्छा इसी मानी में श्रेयस् शब्द आता है और हमने यही लिखा है। जब दो में एक को अच्छा लिखते हैं तो उतने ही से यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि वह बहुत अच्छा है। दूसरे की अपेक्षा कहने का यही अर्थ होता है। गीता में आमतौर से ऐसा ही पाया जाता है भी। इसी के अर्थ में 'विशिष्यते' शब्द आया है। दोनों का ठीक-ठाक एक ही अर्थ है। हाँ, जहाँ किसी का मुकाबिला न हो, या दो में एक को चुनना न हो वहीं पर मोक्ष आदि अर्थ आते हैं, जैसा कठोपनिषद् का दृष्टान्त दिया गया है। वहाँ श्रेयस् शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।। 32।।

हे पार्थ, अकस्मात् या आप ही आप खुले स्वर्ग के द्वार के रूप में हाजिर इस तरह का युद्ध तो खुशकिस्मत क्षत्रियों को ही मयस्सर होता है। 32।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।। 33।।

और अगर तुम यह धर्मयुद्ध न करोगे तो अपने धर्म और कीर्ति दोनों को गँवा के (केवल) पाप बटोरोगे। 33।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।। 34।।

(इतना ही नहीं), लोग तुम्हारे अखण्ड अपयश—हमेशा रहने वाली बदनामी—की चर्चा भी करते रहेंगे। और प्रतिष्ठित (पुरुष) के लिए (यह) अपयश तो मौत से भी बढ़कर (बुरा) है। 34।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
षां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।। 35।।

(यही नहीं), महारथी लोग भी समझेंगे कि तू डर के मारे ही युद्ध से भाग गया है। (फलतः) जो लोग (आज) तुझे ऊँची नजर से देखते हैं उन्हीं की नजरों में तू गिर जायगा। 35।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।। 36।।

(इसी प्रकार) तेरे दुश्मन भी तुझे बहुत सी गालियाँ देंगे (और) तेरी ताकत की भी शिकायत करेंगे। भला, उससे बढ़ के बुरा और क्या हो सकता है?। 36।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।। 37।।

(यह भी तो देख कि) यदि युद्ध में मर जायगा तो स्वर्ग जायगा और अगर

जीतेगा तो राजपाट मिलेगा। (इस प्रकार तेरे दोनों ही हाथों में लड्डू है।) इसलिए ओ कौन्तेय, लड़ने का निश्चय करके खड़ा हो जा—डट जा। 37।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। 38।।

जय-पराजय, हानि-लाभ और सुख-दुःख में एक रस रह के युद्ध में डट जा। ऐसा होने पर तुझे पाप छूएगा भी नहीं। 38।

इसी श्लोक के साथ ही अध्यात्म विवेक के प्रकरण का इस अध्याय में अन्त हो के आगे कर्मयोग का प्रसंग शुरू होता है। उसके शुरू के आठ श्लोक भूमिका की तरह हैं। नवें या गीता के 47वें श्लोक में कर्मयोग का निरूपण शुरू हुआ है। इस श्लोक में भी समत्व या समता की बात कही गयी है। जिसे समदर्शन भी कहते हैं। यह दूसरी बार समदर्शन की बात आयी है। पहली बार, जैसा कि कह चुके हैं, 15वें श्लोक के 'समदुःखसुखं' में आ चुकी है। इसलिए इस श्लोक का अर्थ समझने में उसे भी दृष्टि के सामने रखना पड़ेगा, खासकर उसके पूर्वार्द्ध 'यंहि न व्यथयन्त्येते' आदि को। नहीं, तो बहुत गड़बड़-घोटाला हो सकता है।

बात यह है कि जब कम पानी वाले तालाब या गढ़े में मछुए मछली मारना चाहते हैं, तो उसके पानी को नीचे-ऊपर इतना ज्यादा हिला-डुला, चला और मथ देते हैं कि पानी और कीचड़ मिल के एक हो जाते हैं। इससे मछलियाँ घबरा के ऊपर आ जाती या थक-थका के ढीली पड़ जाती हैं। फलतः पहले की तरह तेजी से इधर-उधर भाग-फिर सकती हैं नहीं। इस तरह उनके पकड़ने में आसानी हो जाती है और बात की बात में वे मछुओं के कब्जे में आ जाती हैं। नहीं तो उन्हें पकड़ने में मछुओं को बहुत परेशानी होती है। इसी तरह दही को भी मथानी से ऐसा मथ देते हैं कि पानी और दही एक हो जाते हैं। बन्दर जब किसी पेड़ पर पहले-पहल चढ़ता है तो अकसर उसकी डालों को पकड़-पकड़ के झकझोर देता है और सारे पेड़ को कँपा देता है, बेचैन कर देता है। जब छोटा सा शिकार जबर्दस्त शिकारी कुत्ते के हाथ लगता है तो उसे पकड़ के शुरू में ही वह ऐसा झकझोरता है कि शिकार के होश ही गायब हो जाते हैं और कुत्ता उसे आसानी से खा जाता है।

यही दशा मन की है। वह आत्मा को अपनी मर्जी के मुताबिक नचाने के पहले उसे अपने कब्जे में सोलहों आना करना चाहता है और उसी की तरकीब करता रहता है। मात्रास्पर्श या भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध की जो बात पहले कही जा चुकी है वह उसी तरकीब का एक भाग है। मन इन्द्रियों की पीठ ठोंकता है और वह भले-बुरे सभी पदार्थों के साथ जुट जाती हैं। यही तो है मात्रास्पर्श। गुरुजनों, इष्ट-मित्रों, बन्धु-बान्धवों एवं पुत्र-कलत्र आदि का ताल्लुक और है क्या यदि मात्रास्पर्श नहीं है? जो सहृदय न हो, जड़-पत्थर हो या पत्थर जैसा हो, पागल हो उसमें या तो इन्द्रियाँ होती ही नहीं, या वह काम करती ही नहीं। इसीलिए वैसों को क्या सुख-दुःख होगा?

इस प्रकार मात्रास्पर्श होने के बाद ही बुरी-भली चीजों का अनुभव होता है उनकी जानकारी होती है, शत्रु-मित्र, शीत-उष्ण, अपने-पराए आदि की जानकारी होती है। जैसा कि आग को छूते ही गर्मी का अनुभव हुआ करता है और बर्फ को छूते ही सर्दी का। उसी के बाद हाथ-पाँव जलते या ठिठुरते हैं और फौरन तकलीफ या आराम का, दुःख और सुख का अनुभव होता है। फिर तो इन्सान या तो आनन्द में विभोर हो जाता है, या कलेजा पीट के बेहोश। यदि सुख-दुःख हलके रहे तो यह बात कम हुई। मगर अगर काफी हुए तो यह हालत भी परले दर्जे की हो गयी! मन के जाल की बात को लेकर हम आनन्द-विभोरता या तकलीफवाली बेसुधी को ही यहाँ ले रहे हैं। इस तरह जब यही बात बार-बार होने लगी तो मन ने समझ लिया कि आत्माराम पर हमारा पूरा कब्जा हो गया। वह ताड़ जाता है कि अब तो बन्दर अच्छी तरह फँस गया, इसलिए इसे जैसे चाहें नचा सकेंगे। युद्ध में भी पहले जय-पराजय, बाद में लाभ-हानि और अन्त में सुख-दुःख होता है जिसका जिक्र श्लोक में आया है।

मगर ऐसा भी होता है कि किन्हीं मस्तराम फकीर के पास चाहे आप अच्छी से अच्छी या बुरी से बुरी चीजें लायें, उन पर उनका कोई असर होता ही नहीं! क्यों असल में वहाँ उलटी बात जो है। कहाँ तो दूसरों के मनीराम—मन—आत्माराम को नाचने और फँसाने की कोशिश में रहते तथा सफल भी होते हैं और कहाँ मस्तराम के आत्माराम ने ही उलट के मनीराम पर मुसक चढ़ा दी है। यहाँ तो मन ही मस्तराम के कब्जे में पड़ा रो रहा है। उसकी आई-बाई ही हजम है। इसीलिए उसके सभी के सभी चेले-चाटी और दूत—मनहूस हैं, बेकार सी पड़ी हैं। तब मात्रास्पर्श कैसे हो और आगे की लीला भी कैसे खड़ी हो? यहाँ तो सारा नाटक ही बन्द है। यह भी नहीं कि मस्तराम पत्थर हैं या मुर्दा, जिससे सुख-दुःख आदि जानते ही नहीं। वह तो सब कुछ जानते ही हैं। मगर जान लेना दूसरी चीज है और उसमें चिपक जाना निराली बात है। स्त्री को विरागी भी देखता है और लम्पट भी। मगर दोनों के देखने में फर्क है—बहुत बड़ा बुनियादी फर्क है। यही बात सुख-दुःखादि के मुतल्लिक भी है।

पन्द्रहवें श्लोक में जो 'व्यथयन्ति' लिखा है वही इस फर्क को ठीक-ठीक बताता है। उसका अर्थ गढ़े के पानी या दही के मथने और बन्दर या कुत्ते के झकझोरने के दृष्टान्त में बताया जा चुका है। भौतिक पदार्थों के संसर्ग जिसे व्यग्र, उद्विग्न, परेशान या बेचैन नहीं कर सकते, नहीं कर पाते वही सुख-दुःख में सम है, एक रस है। समदुःख-सुख है, समदर्शी है। उसके दिल-दिमाग की गम्भीरता, स्थिरता और एकरसता बिगड़ पाती नहीं। वह इन अन्धड़-तूफानों के हजार आने पर भी पर्वत की तरह अचल, अटल रहता है, न कि घास-पात या पेड़-पल्लव की तरह काँपता और बेचैन हो जाता है। उसके दिल-दिमाग की ममता और गम्भीरता (Serenity

and balance) कभी बिगड़ती (upset) नहीं। फिर पाप-पुण्य का क्या सवाल? ये तो बहुत नीचे दर्जे की चीजें हैं और वह इतना ऊँचा उठा है कि जैसे चाँद को कोई छू नहीं सकता चाहे हजार कोशिश करे, वैसे ही उसे पुण्य-पाप छू नहीं सकते, उसके निकट फटक नहीं सकते। वह तो मस्त है। बेशक, दुनिया की बेचैनी देख-देख के मुस्कुरा उठता है, कभी-कभी हँस देता है। इस चीज का ज्यादा विचार पहले ही हो चुका है। यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।। 39।।

यहाँ तक (तो) आत्मतत्त्व की जानकारी—अध्यात्मज्ञान की खूबी और बारीकी—तुम्हें बताई जा चुकी। अब योग की भी जानकारी—कर्म की पूरी जानकारी और उसकी बारीकी—वाली वह बात भी सुन लो जिसके करते कर्मों के बन्धन से अपना पिण्ड छुड़ा लोगे। 39।

इस पर बहुत अधिक बातें लिखी जा चुकी हैं। इसका स्पष्टीकरण भी बूखबी किया जा चुका है। इसलिए यहाँ या आगे कुछ भी लिखना बेमानी है। फिर भी जिस कर्मयोग का निरूपण आगे चल के 47वें श्लोक में शुरू करेंगे वह सचमुच निराली चीज है, गीता की अपनी खास देन है। इसीलिए और कहीं वह पायी ज़ाती नहीं। अधूरी सी कहीं मिले भी तो क्या? सर्वांगपूर्ण कहीं भी नहीं मिलती। इसीलिए उसके पूर्व अर्जुन का दिमाग उसके अनुकूल कर लेना जरूरी था। सर्वसाधारण परम्परा के अनुसार वह वैसी बात एकाएक सुन के चौंक उठता कि यह क्या चीज है? यह तो अजीब बात है जो न देखी न सुनी गयी ऐसा खयाल करके वह उस बात से हट सकता था। कम से कम यह तो जरूर हो जाता कि उसका दिल-दिमाग उसमें पूरी तौर से लगता नहीं। उसमें उसे चस्का तो आता नहीं, मजा तो मिलता नहीं। फिर तो वैसे गम्भीर विषय को हृदयंगम करना असम्भव ही हो जाता। इसीलिए उससे पहले के सात श्लोकों में उसी का रास्ता साफ कर रहे हैं।

कर्मकाण्ड एवं धर्माधर्म के निर्णय तथा अनुष्ठान का सारा दारमदार सिर्फ मीमांसाशास्त्र और मीमांसकों पर ही है। उनका अपना यही खास विषय है। इसीलिए उनने इस सम्बन्ध की बहुत सी बातें लिखते हुए लिखा और माना है कि कर्मों के करने में कौन-कौन से विघ्न होते हैं, कैसा हो जाने पर सारा किया-कराया चौपट हो जाता है, क्या हो जाने पर पुण्य के बदले पाप ही पाप हो जाता है और सांगोपांग कर्म पूरा न हो जाने पर उसका फल नहीं मिलता। इस तरह की हजारों बातें और बाधाएँ कर्ममार्ग में बताई गयी हैं, खतरे खड़े किये गये हैं। यदि इनसे बचने का कोई भी रास्ता हो तो कितना अच्छा हो? तब तो लोग आसानी से मीमांसकों का मार्ग छोड़ के वही मार्ग पसन्द करें। गीता ने लोगों की इस मनोवृत्ति का खयाल करके पहले तो यही किया है कि कर्मयोग में इन खतरों का रास्ता ही बन्द कर

दिया है। वहाँ थोड़ा-बहुत या अधूरा काम होने पर भी न तो पाप का डर है, न विफलता की परेशानी और न दूसरी ही दिक्कत।

मीमांसकों के मार्ग में दूसरी दिक्कत यह होती है कि उन्हें परेशानी बड़ी होती है। पहले तो हजारों तरह के उद्देश्यों को ले के कर्म किये जाते हैं। फिर एक-एक उद्देश्य की शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं और शाखा-प्रशाखाओं की भी शाखा-प्रशाखाएँ। लोभ-लालच का कोई ठिकाना भी तो होता नहीं। ज्योंही सफलता हुई या उसकी आशा नजर आयी कि नयी-नयी कामनाएँ पैदा होने लगती हैं। यह भी होता है कि शक-शुबहे में कभी मन इधर जाता है और कभी उधर—कभी आगे बढ़ने को मुस्तैद होता है, तो कभी पीछे खिसक पड़ता है। इस तरह हजारों तरह की आशा-आकांक्षाओं, कल्पनाओं एवं उमंग-मनहूसियों के घोर जंगल में भटकता रहता है और कभी भी चैन मिलता नहीं। गीता ने इस सारी बला से भी बचने का रास्ता कर्मयोग को ही माना है। उसने साफ कह दिया है। फिर तो लोग उधर उत्सुक होंगे ही।

मीमांसकों की एक तीसरी चीज यह है कि वह स्वर्ग, धन, राज्य आदि सुख साधनों की गारण्टी करते हैं। वे कहते हैं कि विविध कर्मों के अलावे दूसरा उपाय हई नहीं कि ये सभी चीजें हासिल की जा सकें। यह भी नहीं कि इन्हें कोई चाहता न हो। ये सभी लोगों की अभिलषित हैं। इसमें कोई भी शक नहीं। परन्तु हजार युद्धादि के संकटों को पार करने पर भी इन सबों की गारण्टी है नहीं। स्वर्गादि तो युद्ध से शायद ही मिल सकें। यह तो कर्म मार्ग ही ऐसा है कि इन सभी पदार्थों को प्राप्त करवा देता है। उससे आसान रास्ता, सभी बातों पर गौर करने के बाद, दूसरा रही नहीं जाता।

बेशक उनकी यह बात काफ़ी मोहनी रखती है। मगर गीता ने कह दिया है कि ये पदार्थ बड़ी दिक्कत से यदि मिलें भी तो इनके लिए, और इनके परिणाम स्वरूप भी, जन्म-मरण का सिलसिला निरन्तर लगा ही रह जाता है। जन्म-मरण के कष्ट किसे पसन्द हैं? यह भी बात है कि मनोरथों में जब इस तरह मनुष्य फँस जाता है तो उसे कोई और बात सूझती ही नहीं। स्वर्गादि की हाय-हाय के पीछे एक तरह से वह अन्धा हो जाता है। उसे चैन तो कभी मिलता नहीं। यह करो, वह करो, यह क्रिया बिगड़ी, उस कर्म में विघ्न, इसकी तैयारी, उसकी पूर्ति की हाय तोबा दिन-रात लगी ही तो रहती है। अगर इतनी बेचैनी के बाद यदि ये चीजें मिलीं भी तो किस काम की? यह भी बात है कि मिलने पर चस्का लग जाने से फिर जन्म, पुनरपि क्रिया, फिर मरण, यह ताँता टूटता ही नहीं। मनुष्य विषयासक्त हो के विवेक मार्ग से जानें कितनी दूर जा पहुँचता है और कोई निश्चय कर पाता नहीं। मगर कर्मयोग इन सभी झंझटों से पाक साफ है।

चौथी बात उनकी यह है कि वेदों की आज्ञा जब यही है तो किया क्या जाये? उनके आदेशों को कौन टाले? हिम्मत भी ऐसी किसकी हो सकती है? इसलिए चाहे

हजार दिक्कत मालूम हो, फिर भी इसमें आना ही पड़ेगा। इसका उत्तर गीता साफ ही देती है कि ये तो सांसारिक झमेले हैं, दुनिया की झंझटें हैं जिनमें ये कर्म हमें फँसाते हैं। हमें चैन लेने तो ये देते नहीं। वेदों का काम भी तो यह आफत ही है न? वह भी तो इस त्रिगुणात्मक संसार में ही हमें फँसाते हैं। आखिर वह भी तो त्रिगुण के भीतर ही हैं। इसीलिए तो 'मियाँ की दौड़ मस्जिद तक' ही है। लेकिन जिसे दुनिया की, सांसारिक पदार्थों की परवाह न हो वह क्या करे? वह इन वेदों के झमेले में क्यों पड़े? वेदों से अभिप्राय है उसके कर्मकाण्ड भाग से ही। क्योंकि वही वेदों का प्रधान भाग है—प्रायः सब कुछ है। ज्ञान काण्ड तो बहुत ही थोड़ा है—एक लाख में सिर्फ चार हजार! वेदों के एक लाख मन्त्रों में पूरे छियानबे हजार कर्मकाण्ड के और केवल चार हजार ज्ञानकाण्ड के माने जाते हैं। 'लक्षं तु वेदाश्चत्वारः' कहा है। गृहस्थों के यज्ञोपवीत के छियानबे चतुरंगुलों का अभिप्राय उन्हीं छियानबे हजार से है। संन्यासी को यज्ञोपवीत नहीं है। उसका ताल्लुक चार ही हजार से जो है और है वह छियानबे के बाहर! बस, गीता ने कह दिया कि—"रहे बाँस न बाजे बाँसुरी"। संसार की त्रैगुण्य की परवाह छोड़ दो और वेदों के दायरे से बाहर आ जाओ। फिर तो कर्मयोग का रास्ता साफ है।

ऐसी दशा में आखिरी और पाँचवाँ सवाल यही हो सकता है कि इस प्रकार संसार के भौतिक पदार्थों से लापरवाह होने से काम कैसे चलेगा? वेदों का आश्रय लेते हैं क्या उन पर रहम करके, या किसी की मुरव्वत से? उनके बिना हमारा काम चलता जो नहीं। वेदों में तो छोटे-बड़े सभी कर्म आते हैं और उनके बिना हमारी रोज की जरूरतें भी पूरी हो पातीं नहीं। जब हम संसार से बिरागी हो जायँगे तो वेदों की परवाह नहीं करेंगे, यह कहना जितना आसान है इस पर अमल करना उतना ही सहज नहीं है। क्योंकि तब हमारी जरूरतें कौन पूरा करेगा? हमारी चीज-वस्तु की रक्षा भी कौन करेगा? एक यह बात भी है कि वैदिक कर्मकाण्ड से संकटों से तो हम जरूर बच जायँगे। मगर उनके चलते जो आनन्द मिलता है उसकी कमी कैसे पूरी होगी? वह तो रही जायगी न? कर्मयोग के आनन्द में स्वर्ग का आनन्द कैसे मिलेगा? यह तो असम्भव है।

इसका सीधा उत्तर गीता यही देती है कि इसमें सभी चीजें आ जाती हैं। कुएँ, तालाब, नदी वगैरह सबों का काम एक अकेला समुद्र जैसा लम्बा-चौड़ा जलाशय ही दे सकता है। फिर इन चीजों को अलग जरूरत नहीं रह जाती। उसी प्रकार जिसने कर्मयोग का रहस्य जान लिया उसे सभी वैदिक कर्मों के फलों की—आनन्द की प्राप्ति होई जाती है। उसके भीतर अमृत-समुद्र की जैसी गम्भीरता होती है मस्ती रहती है। फिर और चीजों की जरूरत ही क्यों हो? जरूरत की चीजों की प्राप्ति और रक्षा—योग-क्षेम—भी होता ही रहता है। यह तो आगे 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (9।22) में कहा ही है।

यही पाँच बातें, या यों कहिए कि मीमांसकों की पाँच मुख्य दलीलों के उत्तर

क्रमशः 40 से 46 तक के सात श्लोकों में दिये जाके कर्मयोग की पूरी भूमिका तैयार कर दी गयी है। इनमें पहले दो (40-41) श्लोकों में क्रमशः पहली दो बातें आती हैं। फिर बाद के तीन (42-44) श्लोकों में तीसरी आती है। अनन्तर 45वें चौथी और 46वें में पाँचवीं आ जाती है।

नेहाभिक्रमनाशाऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। 40।।

इस (योग) में (किसी भी) कदम—काम—का नाश तो होता नहीं—कोई भी कदम बेकार नहीं जाता, इसमें पाप (का सवाल) हई नहीं और इस (महान्) धर्म का थोड़ा भी (अनुष्ठान) (इसके करने वाले को) महान् भय से बचा लेता है। अर्थात् इसमें कोई खतरा भी नहीं है कि कहीं अधूरा रह जाने में उलटा ही परिणाम हो जाय। इसका परिणाम सदा ही सुन्दर होता है। 40।

यहाँ अभिक्रम का अर्थ हमने कदम किया है और यही अर्थ उस शब्द का दरअसल है भी। कोई भी काम शुरू करने के मानी में कदम उठाना या बढ़ाना बोलते हैं। अंग्रेजी में इसी को स्टेप (Step) कहते हैं। कहने का आशय यहाँ यही है कि इस कर्मयोग के सिलसिले में उठाया गया कोई भी कदम बेकार नहीं जाता। इसी प्रकार महान् भय से रक्षा का भी यही अभिप्राय है कि जैसे और कामों में खतरे हुआ करते हैं और अगर किसी आफत से बचने के लिए कोई उपाय किया जाय तो जब तक वह पूरा न हो जाय उस आफत से छुटकारा नहीं होता, सो बात यहाँ नहीं है। न तो यहाँ कोई खतरा है और न यही बात कि काम पूरा न हुआ तो आफत से पिण्ड न छूटेगा। यहाँ तक कि आवागमन जैसे बड़ी से बड़ी बला से भी छुड़ा लेता है इस चीज का थोड़ा भी अनुष्ठान। फिर तो निर्वाणमुक्ति ध्रुव हो जाती है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। 41।।

हे कुरुनन्दन (अर्जुन), इसमें तो एक ही (तरह) की बुद्धि रहती है (सो भी) निश्चयात्मक।(विपरीत इसके और मार्ग में) अनिश्चयात्मक बुद्धिवालों की बुद्धियाँ (एक तो) असंख्य होती हैं। (दूसरे उनमें भी हरेक की) अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं। 41।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।। 42।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।। 43।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तया पहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।। 44।।

हे पार्थ, वेद के कर्म-प्रशंसक वचनों को ही सब कुछ मान के उनके अलावे असल चीज दूसरी हई नहीं ऐसा कहनेवाले, वासनाओं में डूबे हुए मनवाले और स्वर्ग

को ही अन्तिम ध्येय माननेवाले नासमझ लोग इस तरह के जिन लुभावने (वैदिक) वाक्यों को दुहराते रहते हैं उन (वचनों का तो सिर्फ यही काम है कि) भोग और शासन की प्राप्ति के लिए ही अनेक तरह के बहुत से कर्मों की बतायें। (इस तरह) उनका नतीजा यही है कि लोग बार-बार जनमते तथा कर्म करते रहें। जिन भोग एवं शासन के लोलुप लोगों की बुद्धि वैसे ही वचनों में फँस चुकी है। उनके दिमाग में तो (कभी) निश्चयात्मक बुद्धि पैदा ही नहीं होती। 42। 43। 44।

इन तीन श्लोकों में जिन लोगों का सुन्दर चित्र खींचा गया है वही कर्मकांडी मीमांसक लोग हैं। उन्हें नासमझ कहके फटकार सुनाई गयी है। 'अपाम सोमममृता अभूम'—'सोमयाग में सोम का रस पी के हम लोग अमर बन गये,' स्वर्ग में देवताओं की इस तरह की गोष्ठी और बातचीत का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है। कठोपनिषद् के प्रथमाध्याय की द्वितीयवल्ली के शुरू के पाँच मन्त्रों में कल्याण या मोक्ष के मुकाबिले में स्वर्गादि पदार्थों तथा उनके इच्छुकों की घोर निन्दा की गयी है। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मुण्डक के दूसरे खण्ड के शुरू के दस मन्त्रों में विस्तार के साथ लिखा गया है कि कर्मकाण्डी लोग किन-किन कर्मों को कैसे करते और उन्हें कौन-कौन से फल कैसे मिलते हैं। वहीं दसवें मन्त्र 'इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठाः' में 'प्रमूढ़ा' शब्द आया है जो गीता के इन श्लोकों के 'अविपश्चितः' के ही अर्थ में बोला गया है। उस मन्त्र में जो बातें लिखी हैं उनका उल्लेख भी कुछ-कुछ इन तीन श्लोकों में पाया जाता है। इनके सिवाय 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्,' 'ज्योतिष्ठोमेन स्वर्गकामो यजेत्', तथा 'वाजपेयेन स्वराज्यकामो यजेत्' आदि ब्राह्मण वचनों में कर्मठों के कर्मों एवं उनके फलों का पूरा वर्णन मिलता है। वहाँ इनकी प्रशंसा के पुल बाँधे गये हैं। इन्हीं प्रशंसक वचनों को वेदवाद और अर्थवाद कहते हैं। इन्हें पढ़ के लोग कर्मों में फँस जाते हैं। इसी का निर्देश इन श्लोकों में है। पूर्वोक्त मुंडक के वचनों में 'एकने प्लवाह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः' (1। 2। 7) के द्वारा इन यज्ञयागों को कमजोर नाव करार दिया है, जिस पर चढ़नेवाले अन्त में डूबते हैं। गीता ने भी इसलिए इनकी निन्दा की है।

इनमें चसक जाने पर मनुष्य को दूसरी बात सूझती ही नहीं। एक बार इन्हें करके जब इनके रमणीय फलों को भोगता है, या ऐश्वर्य—शासन और इन्द्र आदि की गद्दी—प्राप्त कर लेता है तो फिर बार-बार इन्हीं के करने पर उतारू होता है। यही चस्का है। इसका नतीजा यही होता है कि जन्म ले के इन्हें करता, मरके फल भोगता और चसक के स्वर्गादि फल भोगने के बाद पुनरपि जनमता और कर्म करता है। यही चक्कर चलता रहता है। एक कोढ़ी और गन्दे स्वभाव के आदमी की कहानी है कि वह साल भर में कभी शायद ही नहाता हो। जाड़ों में तो हर्गिज नहीं। मगर घोर जाड़े में मकर की संक्रान्ति के दिन तड़के ही जरूर नहा लेता था। क्यों? क्योंकि उसने सुना था कि माघ के महीने में सूर्योदय के ठीक पहले पानी बहुत तेज चिल्लाता

है कि यदि महापापी भी हममें एक गोता लगा ले तो उसे फौरन पवित्र कर दें—"माघमासि रटन्त्यापः किञ्चिदभ्युदिते रवौ। महापातकिनं वापि कं पतन्तं पुनीमहे।" यही है वेदवादों और अर्थवादों की मोहनीशक्ति जिसका उल्लेख यहाँ है।

इस श्लोक में समाधि शब्द का अर्थ दिमाग या अन्तःकरण लिखा गया है। अनेक माननीय भाष्यकारों ने यही अर्थ किया है और यह घटता भी है अच्छी तरह। मगर समाधि का अर्थ योग करना भी ठीक ही है। 'समाधिस्थस्य' (2। 54) के व्याख्यान में हमने इस ओर भी इशारा किया है। यहाँ 'समाधि के लिए' यही अर्थ 'समाधौ' का है जैसा कि 'यतते च ततो भूयः संसिद्धौ" (6। 43) में 'संसिद्धौ' का अर्थ है। 'संसिद्धि के लिए'। यहाँ अभिप्राय यही है कि आगे जिस योग का निरूपण है उसके लिए जो मूलभूत जरूरी बुद्धि है वह ऐसे लोगों को होती ही नहीं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। 45।

हे अर्जुन, वेद तो (प्रधानतया) त्रैगुण्य या सांसारिक बातों के ही प्रतिपादक हैं। तुम इन बातों को छोड़ो, राग-द्वेषादि द्वन्द्व—जोड़े—दो दो—से रहित हो, हमेशा सत्त्वगुण की ही शरण लो, योगक्षेम की परवाह छोड़ दो, मन को वश में करो और आत्मतत्त्व में रम जाओ। 45।

यहाँ कुछ बातें जान लेने की हैं। साधारणतया खयाल हो सकता है कि जब त्रैगुण्य शब्द यहाँ आया है जिसका अर्थ है तीनों गुणों से बनाया त्रिगुणात्मक, तो यहाँ तीनों ही गुण बुरे बताये गये हैं। मगर सत्त्वगुण तो प्रकाशमय होने से ज्ञानवर्द्धक है। इसलिए उसे क्यों बुरा कहा। इतना ही नहीं। आगे उत्तरार्द्ध में लिखते हैं कि बराबर सत्त्वगुण की शरण लो—'नित्यसत्त्वस्थः'। यदि बुरा होता तो सत्त्व की शरण जाने की बात कहते क्यों? तब तो परस्पर विरोध हो जाता न? इसलिए सत्त्व को बुरा कहना ठीक नहीं। हाँ, रज और तम तो बुरे जरूर ही हैं। उनके बारे में कोई शक नहीं।

असल में तीनों गुणों का क्या स्वरूप है, काम है और यह करते क्या हैं, इसका पूरा विवरण गीता के चौदहवें अध्याय में मिलता है। वहाँ देखने से पता चलता है कि जीवात्मा को बाँधने और फँसाने का काम तीनों ही करते हैं। इसमें जरा भी कसर नहीं होती। सत्त्व यदि ज्ञान और सुख में फँसा देता है तो बाकी और-और चीजों में। मगर फँसाते सभी हैं। इसलिए 'बध्नाति', 'निबध्नन्ति' आदि बन्धन वाचक पद वहाँ बार-बार सबों के बारे में समानरूप से आये हैं। इसीलिए जो मनुष्य इनके पंजे से छूट जाता है उसे उसी अध्याय के अन्त में गुणातीत—तीनों गुणों से रहित उनके पंजे से बाहर—कहा गया है। इन तीनों से अपना पल्ला कैसे छुड़ाया जाय, यह प्रश्न करके उत्तर भी लिखा गया है। इसी तरह 'त्रिभिर्गुणभयैर्भावैः' (7। 13-14) आदि दो श्लोकों में, बल्कि इनके पूर्व के 12वें में भी यही लिखा है कि त्रिगुणात्मक

पदार्थ ही लोगों को मोह में, भ्रम में, घपले में डालते हैं।

तब सवाल यह जरूर होता है कि आगे इसी श्लोक में सत्त्व की शरण की बात क्यों कही गयी? बात असल यह है कि आखिर इन तीनों से पिण्ड छूटने का उपाय भी तो होना चाहिए, और जैसा कि चौदहवें अध्याय के अन्त में कहा है, 'विषस्य विषमौषधम्' के अनुसार जैसे जहर को जहर से ही मिटाते हैं, और 'कण्टकेनेव कण्टकम्' के अनुसार काँटे से ही काँटे को हटाते हैं, ठीक उसी तरह गुण की ही मद से गुणों से पिण्ड छुड़ाना होगा। दूसरा उपाय है नहीं। गुणों में भी दो तो चौपट ही ठहरे। हाँ, सत्त्व का काम है ज्ञान, प्रकाश, सुझाव, आलस्य त्याग, फुर्ती और मुस्तैदी। इसीलिए कहा गया है कि सत्त्व का ही आश्रय बराबर ले के उक्त विशेषताएँ हासिल करो और अन्त में तीनों से ही छुटकारा लो। बराबर, निरन्तर, नित्य सत्त्वगुण का आश्रय लेने को कहने का आशय यही है। जब-जब रज और तम दबा के आलस्य आदि में फँसाना चाहें तब-तब मुस्तैद हो के सत्त्वगुण की मदद से लड़ना और उन्हें भगाना होगा। तभी काम चलेगा। यही बात शान्तिपर्व के धर्मानुशासन के 110वें अध्याय के "ये च संशान्तरजसः संशान्ततमसश्च ये। सत्त्वे स्थिता महात्मनो दुर्गाण्यतितरन्ति ते" (15), में भी 'सत्त्वे स्थितः' शब्द से बताई गयी है। पहले यह कहा है कि उनके रज और तम एकबारगी दब गये हैं। फिर सत्त्व के कायम रहने की बात आयी है। इससे साफ हो जाता है कि सत्त्व नित्य रहता है, बराबर रहता है। क्योंकि दोनों शत्रु शान्त जो हो गये! खत्म जो हो गये!

शान्तिपर्व के इसी श्लोक का 'महात्मानः' शब्द गीता के 'आत्मवान' के ही अर्थ को कहता है। महात्मा लोगों की आत्मा महान् होती है। इसका तात्पर्य यह है कि उनका मन छोटी-छोटी, संसार की क्षुद्र बातों में न पड़ के बहुत ऊपर चला जाता है, बड़ा बन जाता है, आत्मतत्त्व में लग जाता है। यही वजह है कि वह द्वन्द्व या राग-द्वेष, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख आदि से अलग हो जाता है। उसे इस बात की भी फिक्र नहीं होती कि अमुक चीज नहीं है, उसे कैसे लाऊँ और मिली हुई की रक्षा कैसे हो आदि-आदि। इसे ही योग—जोड़ना या प्राप्त करना और क्षेम—रक्षा करना—कहते हैं। वह इससे भी मुक्त हो जाता है। हमने यही लिखा भी है।

शान्तिपर्व के 52वें तथा 158वें अध्यायों में जो कुछ भीष्म को आशीर्वाद तथा अर्जुन को उपदेश दिया गया है वहाँ भी बार-बार यह 'सत्त्वस्थ' पद आया है। 'ज्ञानानि च समग्राणि प्रतिभास्यन्ति तेऽनघ। नच ते क्वचिदासत्तिर्बुद्धेः प्रादुर्भविष्यति।। सत्त्वस्थं च मनो नित्यं तव भीष्म भविष्यति। रजस्तमोऽभ्यां रहितं घनैर्मुक्तइवोडुराट्' (52। 17-18), 'ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च। निर्ममा निरहंकाराः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः।। लाभालाभौ सुखदुःखे च तात प्रियाप्रिये मरणं जीवितं च। समानि येषां स्थिरविक्रमाणां बुभुत्सतां सत्त्वपथे स्थितानाम्। धर्मप्रियांस्तान् सुमहानुभावान्दान्तोऽप्रमत्तश्च समर्च्चयेथाः' (158। 33-35) इन श्लोकों में अक्षरशः गीता के इस श्लोक की ही बात है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। 46।।

(जिस तरह) जितना काम छोटे-बड़े जलाशयों से निकलता है वह सभी केवल एक ही विस्तृत जलराशिवाले समुद्र या जलाशय से चल जाता है; (उसी तरह) वेदों से जितना काम चलता है आत्मज्ञानी विद्वान् का वह सबका-सब (यों ही) चल जाता है—पूरा हो जाता है। 46।

इस श्लोक में जो कुछ कहा गया है उसका निष्कर्ष यही है कि छोटे जलाशय का काम बड़े से, दोनों का उससे भी बड़े से और अन्त में सबों का काम सबसे बड़े-से—बड़े से बड़े से—चल जाता है। अतः उसके मिलने पर बाकियों की परवाह नहीं की जाती। आत्मज्ञान हो जाने पर सांसारिक सुखों और भौतिक पदार्थों की परवाह नहीं रह जाती है। क्योंकि आत्मा तो आनन्द सागर ही ठहरी। वृहदारण्यक के चौथे अध्याय के तृतीय ब्राह्मण के 32वें मन्त्र के "ऐषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" से शुरू करके समूचे लम्बे 33वें मन्त्र में लोक-परलोक के सभी सुखों एवं आनन्दों का तारतम्य दिखाते हुए आखिर में आत्मानन्द को ही सबके ऊपर माना है। कहा है कि भी उसी के भीतर शेष सभी समा जाते हैं। अन्य उपनिषदों में भी यही बात आती है। यहाँ इसी की ओर इशारा है।

इस श्लोक में ब्राह्मण शब्द का अर्थ ब्राह्मण जाति न हो के आत्मज्ञानी ही है, यह बात पहले ही कृपण शब्द की व्याख्या के सिलसिले में कही जा चुकी है। इसीलिए 'ब्राह्मणस्य' के आगे 'विजानतः' शब्द आया है जो विज्ञ या विद्वान् का वाचक है।

इस श्लोक का अर्थ करने में किसी-किसी ने उस अर्थ पर तानाजनी की है और उसे खींचतानवाला बताया है जो हमने किया है। ऐसे लोगों का कहना है कि 'सर्वतः संप्लुतोदके' का अर्थ समुद्र या समुद्र जैसा महान् जलाशय न करके बाढ़ या जल-प्लावन कर लेना ही ठीक है। इससे श्लोक का यह अर्थ हो जायगा कि जैसे जल-प्लावन होने पर जितना प्रयोजन ताल-तलैया का रह जाता है, अर्थात् कुछ भी प्रयोजन रह जाता नहीं, वैसे ही आत्मज्ञानी विद्वान् के लिए भी उतना ही प्रयोजन वेदों से रह जाता है—अर्थात् कुछ भी नहीं रह जाता है। इस प्रकार आत्मज्ञानी के लिए वेदों की निष्प्रयोजनता का प्रतिपादन खुले शब्दों में वे लोग इस श्लोक में मानते हैं।

बेशक, इस अर्थ में वैसी खींचतान नहीं है। जैसी हमारे अर्थ में है। हालाँकि, उनके अर्थ में भी द्रविड़ प्राणायाम जरूर है। क्योंकि कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता यह बात श्लोक के शब्दों से सिद्ध न हो के अर्थात् सिद्ध होती है। लेकिन ऐसा अर्थ मानने में एक बड़ी अड़चन है। असल में साफ-साफ वेदों को निष्प्रयोजन या बेकार कह देने की हिम्मत किसी भी सनातनी ग्रन्थ या महापुरुष को नहीं होती। वेदों का स्थान हिन्दू-समाज में इतना ऊँचा है कि उनके बारे में स्पष्ट निन्दासूचक शब्द बोला और लिखा जा सकता नहीं। ऐसी बात अब तक तो पायी गयी है नहीं।

ऐसी दशा में गीता जैसे सर्वप्रिय ग्रन्थ यह बात कहे, सो भी स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के ही मुखों से, यह बात ठीक जँचती नहीं। इसीलिए तो इससे पहले के 'त्रैगुण्यविषया' श्लोक में जहाँ मुनासिब था यह कह देना कि तुम तीनों वेदों की परवाह छोड़ो—'निस्त्रिवेदो भवार्जुन' या 'निस्त्रैविद्यो भवार्जुन', वहाँ यही कहा कि तुम त्रैगुण्य-रहित या संसार के पदार्थों से अलग हो जाओ—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'। यदि श्लोक को गौर से पढ़ा जाय और उसका आशय देखा जाये तो वह यही है कि वेदों के इस जाल से बच जाओ। मगर ऐसा न कहके यही बात घुमा के कहो कि सांसारिक बातों की लालसा छोड़ दो। इससे भी अर्थात् वैदिक कर्मकाण्ड छूट ही जायँगे। फिर भी स्पष्टतः ऐसा नहीं कहा। ठीक इसी तरह यहाँ भी कह दिया है कि वेदों का काम आत्मज्ञान से भी चल जाता है। मगर उस सीधे अर्थ में तो कुछ न कुछ छींटा वेदों पर आई जाता है। यदि गौर से देखा जाय। इसी से शंकर ने वह अर्थ नहीं किया है। हमने भी उन्हीं का अनुसरण किया है।

एक बात और भी है। यदि 'सर्वतः संप्लुतोदके' शब्दों का सर्वत्र जल-प्लावन अर्थ होता है, तो 'संप्लुतोदके' की जगह 'संप्लुते दके' लिखना कहीं अच्छा होता। दक और उदक शब्दों का अर्थ एक ही है पानी। मगर उदक शब्द रखने पर संप्लुत के साथ उसका समास करना पड़ता है, जिसकी जरूरत उन लोगों के अर्थ में कतई रह जाती नहीं। वह तो तब होती है जब समुद्र अर्थ करना हो इसीलिए बहुब्रीहि समास करना पड़ता है। 'संप्लुतोदके' लिखने पर समास की गुंजाइश रह जाने से लोग वैसा कर डालते हैं। मगर यदि वैसा अर्थ इष्ट न होता तो साफ-साफ 'संप्लुते दके' लिख देते। फिर तो झमेला ही मिट जाता। इससे भी पता चलता है कि ऐसा अभिप्राय हई नहीं।

शान्तिपर्व के मोक्षधर्म के 241वें अध्याय वाला 'ये स्म बुद्धिं परां प्राप्ता धर्मनैपुण्यदर्शिनः। न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिवन्निव' (10) श्लोक देखने से पता लगता है कि वह भी परमज्ञान या आत्मज्ञान की ही बात कहता है। उसमें साफ ही कहा है कि इस परा या सर्वोच्च बुद्धि—ब्रह्म-विद्या—क्योंकि उपनिषदों में ब्रह्मविद्या को ही परा विद्या कहा है—को जिनने हासिल कर लिया है वे कर्मों की बड़ाई नहीं करते, उनकी ओर रुजू नहीं होते। इसमें दृष्टान्त देते हैं कि पीने आदि के लिए जो मनुष्य नदी में पानी पा लेता है वह कूप की परवाह नहीं करता। इससे भी पता लगता है कि जल-प्लावन से यहाँ अभिप्राय न हो के क्रमशः छोटे-बड़े और उनसे भी बड़े जलाशयों से ही मतलब है। इसी मानी में नदी और कूप का नाम लेना ठीक हो सकता है।

इस प्रकार यहाँ तक कर्मयोग की भूमिका पूरी करके अगले दो श्लोकों में उसी योग का स्वरूप बताया गया है। कर्म के सम्बन्ध की हिकमत, तरकीब, चातुरी या उपाय होने के कारण ही इसे कर्मयोग कहते हैं। इसका बहुत ज्यादा विवेचन और

विश्लेषण पहले किया जा चुका है। शान्तिपर्व के राजधर्मानुशासन के 112वें अध्याय में भी योग शब्द उपाय या हिकमत के मानी में यों आया है, "त्वमप्येवंविधं हित्वा योगेन नियतेन्द्रियः। वर्त्तस्व बुद्धिमूलं तु विजयं मनुरब्रवीत" (17)। यहाँ 'योगेन' शब्द का अर्थ नीलकण्ठ ने अपनी टीका में 'उपायेन' ऐसा ही किया है। शान्तिपर्व के 130वें अध्याय में भी "अविज्ञानादयोगो हि पुरुषस्योपजायते। विज्ञानादपि योगश्च योगो भूतिकर पर" (12) श्लोक में नीलकण्ठ लिखता है कि 'अयोग उपायाभावः'—"अयोग शब्द का अर्थ है उपाय का न होना।" इससे भी योग शब्द उपायवाचक सिद्ध होता है। योग का स्वरूप दो श्लोकों को मिला के पूरा हुआ है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। 47।।
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। 48।।

तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में है; (कर्मों के) फलों में हर्गिज नहीं। कर्मों के फलों का खयाल (भी) न करो। कर्म के त्याग में तुम्हारा हठ न रहे। हे धनंजय, योग में ही कायम रह के, आसक्ति या करने का हठ छोड़ के तथा वे खामख्वाह पूरे हों यह परवाह छोड़ के कर्मों को करो। इसी समता या लापरवाही—बेफिक्री और मस्तागी—को ही योग कहते हैं। 47। 48।

पहले दो बार कहे गये समत्व में और इसमें क्या अन्तर है और इसका मतलब क्या है ये सारी बातें पहले ही अत्यन्त विस्तार के साथ लिखी चा चुकी हैं। यह तीसरा समत्व कुछ और ही है यह भी वहीं लिखा गया है।

कर्मयोग में असल चीज योग ही है, जिसका रूप अभी बताया गया है। वह विवेक या ज्ञानस्वरूप ही है। यह बात पहले कही जा चुकी है। 46वें श्लोक में इसी योग के सम्बन्ध की भूमिका स्वरूप जो 'विजानतः ब्राह्मणस्य' कहा है उससे यह बात निस्सन्देह सिद्ध हो जाती है कि इस योग के मूल में आत्मतत्त्व का पूर्ण विवेक ही काम करता है। उसके बिना इस योग—कर्मयोग—का स्वरूप तैयार होई नहीं सकता। इसीलिए जो लोग ऐसा समझते हैं कि कर्मयोग में भी वास्तविक चीज एवं मूलाधार कर्म ही है और योग या बुद्धि—हिकमत, तरकीब—के रूप में जो ऊँची मनोवृत्ति काम करती है, वह सिर्फ सहायक है, उसके स्वरूप कों मार्जित और शुद्ध होने में केवल मदद करती है, वह भूलते हैं। यहाँ तो उलटी गंगा बहती है। कर्म तो उसका एक कार्यक्षेत्र जैसा है। असल चीज तो वह बुद्धि ही है। उसके मुकाबिले में कर्म को ऊँचा दर्जा देने का सवाल हई नहीं। किन्तु—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।। 49।।

हे धनंजय, विवेक-बुद्धिरूपी योग की अपेक्षा कर्म कहीं छोटी चीज है। (इसलिए)

उसी विवेक बुद्धि की ही शरण जा। क्योंकि जो लोग उस विवेक बुद्धि से रहित होते हैं वही तो फल की आकांक्षा करते (और इसलिए कर्म करते हैं)। 49।

यहाँ भी कृपण शब्द का वही अर्थ है जो पहले कहा गया है, अर्थात् विवेक बुद्धि या आत्मतत्त्व के ज्ञान से रहित।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। 50।।

इस संसार में (उस) विवेकबुद्धिवाला (मनुष्य ही तो) पुण्य-पाप दोनों से पिण्ड छुड़ा लेता है। इसलिए (उस) बुद्ध्यात्मक योग (की ही प्राप्ति) के लिए यत्न करो। वह योग ही तो कर्मों (के करने) की चातुरी या विशेषज्ञता है, कुशलता है। 50।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलंत्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।। 51।।

क्योंकि बुद्धियुक्त मनीषी—पहुँचे हुए—लोग ही कर्मों से होने वाले (सभी) फलों से नाता तोड़ के जन्म (मरण) के बन्धनों से छुटकारा पा जाते (तथा) निरुपद्रव पद—निर्वाणमुक्ति—प्राप्त कर लेते हैं। 51।

अब सवाल यह होता है कि तो यह बुद्धि प्राप्त होती है कब और इसकी प्राप्ति की पहचान क्या है? यह तो कोई विचित्र सी चीज है, अलौकिक सा पदार्थ है, नायाब वस्तु है, और जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है, जीते ही मौत के समान असम्भव सी है। इसलिए इसकी प्राप्ति आसान तो हो सकती नहीं। यह भी नहीं कि यह कोई स्थूल या साधारण भौतिक पदार्थ हो। यह तो असाधारण चीज है। बाहरी नजरों से देखी भी नहीं जा सकती। तब हम कैसे जानेंगे कि अब यह हासिल हो गयी? इसका उत्तर यह है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।। 52।।

जब तेरी अक्ल इस बुद्धि भ्रम के कीचड़ से पार हो जायगी (तो) उस समय तुझे सभी बातों से विराग हो जायगा, (फिर चाहे वह) जानी-सुनी हों या जानने योग्य हों। 52।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।। 53।।

(इस प्रकार वेदशास्त्रों की सभी बातों से मन के विरागी हो जाने पर) उनके करते घपले तथा दुविधे में पड़ी तेरी अक्ल जब अन्तःकरण या दिमाग के भीतर ही रुक के वहीं सदा के लिए जम जायगी तभी (समझना कि) बुद्धिरूपी योग प्राप्त हो गया। 53।

इन दोनों श्लोकों में जो बातें कही गयी हैं। उनका जरा सा स्पष्टीकरण जरूरी है। यह तो पहले ही कर्तव्याकर्तव्य के विवेचन में बता चुके हैं कि वेदशास्त्रों के

अनेक वचनों और ऋषि-मुनियों के बहुतेरे उपदेशों के करते लोगों की अक्ल कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय कर पाने के बदले और भी दुविधे में पड़ जाती है। उसकी हालत ठीक वही हो जाती है जैसे अँधेरी गुफा में पड़ी कोई चीज अन्दाज से ही टटोलने वाले की। वह कोई निश्चय कर पाता नहीं और भीतर ही भीतर ऊब जाता है। निश्चय की जितनी ज्यादा कोशिश वह करता है उतना ही ज्यादा दुविधा और पचड़ा बढ़ जाता है। ठीक "ज्यों-ज्यों भीगै कामरी त्यों-त्यों भारी होय" या "मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की" की हालत हो जाती है। मगर करे क्या? वेदशास्त्रों को छोड़ते भी तो नहीं बनता। जितना पढ़-सुन चुका होता है उसका भी बार-बार खोद-विनोद करता ही जाता है। नये-नये जो भी वचन पढ़ने-सुनने योग्य होते हैं उन्हें भी पढ़ता जाता है। समझदारी की यही तो दिक्कत है। यदि अपढ़-अजान होता तो यह कुछ नहीं होता। तब तो गलत-सही किसी बात को पकड़ के बैठ रहता कि यही ठीक है। इसीलिए तो नादानी को बहुत हद तक दिक्कतों की ढाल माना है। मगर हो क्या? यह बेचारा तो समझदार ठहरा।

इसीलिए पहले श्लोक में कहा है कि जब योगरूपी विवेक बुद्धि मिल जायगी तो यह सभी पढ़ने-पढ़ाने एवं विचार-विमर्श की परेशानी एकाएक जाती रहेगी। तब दिल चाहेगा ही नहीं कि एक भी पन्ना उलटे या एक बात का भी खोद-विनोद करें। जैसे पका फल डाल से अकस्मात् अलग हो जाता है, वैसे ही ये सभी बातें दिल से हट जाती हैं या दिल ही इनसे अलग हो जाता है। वह इन्हें पूछता भी नहीं। इसी को निर्वेद या वैराग्य कहा है।

जब मन या दिल विरागी बन गया तो फिर वेदशास्त्र के हजार तरह के वचनों के करते जो बुद्धि की परेशानी थी, बेकली और बेचैनी थी उस पर भी पर्दा पड़ जाता है, वह भी आप ही आप जाती रहती है—मिट जाती है। जैसे कोई आदमी बड़ी परेशानी में चारों ओर दौड़-धूप करता-कराता तबाह हो, मगर अन्देशे या परेशानी के मिटते ही शान्त हो जायँ और सुख की साँस लें। ठीक वही हालत बुद्धि की हो जाती है। उसकी सारी दौड़-धूप बन्द हो जाती है। हमेशा के लिए वह निश्चल एवं निश्चिन्त बन जाती है। यही बात दूसरे श्लोक में कही गयी है। यह भी बात योग के प्रताप से ही होती है। इसलिए इसे भी योगप्राप्ति की पहचान बताया है।

यहाँ पर अचला और निश्चला ये दो शब्द आये हैं जिनका अर्थ एक ही है। इसीलिए खयाल हो सकता है कि दो में एक बेकार है। मगर बात यह है कि बुद्धि में जो स्थिरता आ गयी वह दो तरह की हो सकती है। एक तो तात्कालिक या कुछ समय के ही लिए। दूसरी हमेशा के लिए। कहीं ऐसा न समझ लें कि तात्कालिक शान्ति और स्थिरता से ही काम चल जाता है। इसीलिए लिखा है कि निश्चल बुद्धि जब अचल हो जाती है। निश्चल को अचल कह देने से ही उसकी शान्ति एवं स्थिरता में स्थायित्व का अभिप्राय सिद्ध हो जाता है। निश्चल का अक्षरार्थ भी है। चलने

से बरी और अचल का अर्थ है जो कभी न चले। बरी तो थोड़े समय के लिए भी रहा जा सकता है।

समाधि शब्द का भी मनमाना अर्थ किया जाता है। अभी तक केवल दोई बार यह शब्द आया है। एक बार इस श्लोक में। दूसरी बार इससे पूर्व 'समाधौ न विधीयते' (44) में। हमने दोनों जगह एक ही अर्थ अन्तःकरण या दिमाग किया है। समाधि का अर्थ है जिस दशा में या जहाँ मन स्थिर हो, बुद्धि स्थिर हो, और दिमाग या अन्तःकरण ही ऐसी चीज है जहाँ से मन या बुद्धि की दौड़ बार-बार हुआ करती है। मगर ज्योंही यह दौड़ रुकी कि वहीं वे दोनों शान्त हो जाते हैं। एकाग्रता की दशा में यही होता है। इसीलिए हमने यही अर्थ मुनासिब समझा है। जहाँ के हैं वहीं रुक गये, यही तो शान्ति, स्थिरता या निश्चलता है और यही निश्चयात्मकता भी है। क्योंकि निश्चय न रहने पर बीस चीजों में उनकी दौड़ जारी ही रहती है।

इतना कह देने से यह तो हो गया कि योगी की पहचान मालूम हो गयी। मगर इतने से ही तो काम चलता नहीं दीखता। पहले जब गोलमटोल बात थी तो अर्जुन भी चुप थे। कृष्ण ने भी अपने ही मन से शंका उठा के जवाब दे दिया। मगर कर्मयोगी की पहचान सुनने के बाद स्वभावतः अर्जुन को नयी जिज्ञासाएँ पैदा हुईं और उसे पूछना पड़ा। उसे यह सुनते ही एकाएक खयाल आया कि जो कुछ भी पहचान योगी की बताई गयी है वह तो भीतरी है, बाहरी नहीं। बुद्धि की स्थिरता या पढ़ने-लिखने से वैराग्य यह तो मनोवृत्ति ही है न? फिर यह बाहर कैसे हो और दूसरों की पहचान में कैसे आये? अपना काम तो शायद इससे चल जाय। क्योंकि हर आदमी अपनी मनोवृत्ति को बखूबी समझ सकता है। मगर बाहर के लोग कैसे जानें कि कौन योगी है? यह नहीं कि दूसरों के जानने की जरूरत ही न हो। यदि दूसरे न जानें तो उन्हें उपदेशक कैसे मिलेगा? क्योंकि जो खुद योगी न हो वह तो उपदेश कर सकता नहीं। फलतः यदि हमें योग का रहस्य जानना है तो योगी के पास ही जाना होगा। मगर बिना पहचाने जायँगे कैसे? इसीलिए पहचान की जरूरत है, और इसके लिए बाहरी लक्षण, जो उठने-बैठने, बोलने आदि से ही जाना जा सके, मालूम होना चाहिए।

इसके सिवाय जो लक्षण, जो पहचान बताई गयी है वह बहुत ही संक्षिप्त है। उसमें एक ही बात है, या ज्यादे से ज्यादे दो बातें हैं। मगर ज्यादा बातें पहचान के रूप में मालूम हो जायँ तो आसानी हो। इन ज्यादा लक्षणों और बाहरी पहचानों से यह भी लाभ होगा कि जो खुद योगी होगा वह भी अपने आपको समय-समय पर तौलता रहेगा। आखिर योग की पूर्णता एकाएक तो हो जाती नहीं। इसमें तो समय लगता ही है। इस दरम्यान में त्रुटियों एवं कमजोरियों का पता लगा-लगा के उन्हें दूर करना जरूरी हो जाता है। इन्हीं त्रुटियों और कमजोरियों का आसानी से पता लगता है। बाहरी लक्षणों से ही। क्योंकि अपनी कमजोरी अपने आपको जल्द

मालूम न होने पर भी दूसरे चटपट जान जाते हैं। फलतः उनकी बातों से सजग हो के योगी खुद अपनी मनोवृत्ति पर कड़ी नजर रखता और उसे ठीक करता है। यही सब खयाल करके–

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।। 54।।

अर्जुन ने पूछा–हे केशव, जिसकी बुद्धि स्थिर तथा समाधि में अचल हो गयी है–जो योगी बन चुका है–उसकी परिभाषा–लक्षण–क्या है? वह किस तरह बोलता है, कैसे बैठता और कैसे चलता?। 54।

यहाँ 'समाधिस्थ' शब्द का वही अर्थ है जो 'योगस्थः कुरु कर्माणि' में 'योगस्थ' का है। यदि गौर से देखा जाय, और हम पहले विस्तार के साथ लिख भी चुके हैं, तो इस योगी की भी वैसी ही समाधि होती है जैसी पतंजलि के योगी की। यह प्राणायाम भले ही नहीं करे। फिर भी कर्म से बालभर भी इधर-उधर इसकी दृष्टि, इसकी बुद्धि जाने पाती ही नहीं। वहीं जम जाती है, रम जाती है। इसीलिए यह समाधिस्थ और योगस्थ कहा जाता है।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। 55।।

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ, जब मन के भीतर घुसी सभी कामनाओं को जड़-मूल से खत्म कर देता और आत्मा में ही–अपने आप में ही–अपने से ही–खुद-ब-खुद सन्तुष्ट रहता है तभी उसे स्थितप्रज्ञ या अचलबुद्धिवाला कहते हैं। 55।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। 56।।

दुःखों से जिनका मन उद्विग्न न हो सके, सुखों (की प्राप्ति) के लिए जो परेशान न हो और राग, भय एवं द्वेष–क्रोध–ये तीनों ही–जिसके बीत गये या खत्म हो चुके हों वही मननशील–मुनि–स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। 56।

इन दो श्लोकों में योगी या स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताया गया है। इस प्रकार अर्जुन के पहले प्रश्न का उत्तर हो जाता है। बाद के 57वें में 'किस तरह बोलता है' का और 58वें में 'कैसे बैठता है' का उत्तर दिया गया है। उसके बाद के (59-70) बारह श्लोकों में उसी उत्तर के प्रसंग में आयी बातों पर विचार करके 71वें में 'कैसे चलता है' का उत्तर दिया गया है। इस तरह सभी प्रश्नों के उत्तर के रूप में कर्मयोगी

का पूर्ण परिचय दे के उसकी वास्तविक दशा का चित्र खींचा गया है। उसी दशा को ब्रह्मनिष्ठा या ब्राह्मीस्थिति भी कहते हैं, यही बात अन्तिम श्लोक में कह के समूचे प्रकरण एवं अध्याय का भी उपसंहार कर दिया गया है।

यहाँ जो दो श्लोकों में दो लक्षण कहे गये हैं उनमें पहला तो नितान्त भीतरी पदार्थ है जिसका पता बाहर से लगना प्रायः असम्भव है। किसे पता लग सकता है कि दूसरे आदमी की सभी वासनाएँ खत्म हो गयीं? अपने ही भीतर वह मस्त है यह भी जानना क्या सम्भव है? आसान है? इसीलिए दूसरे श्लोक वाली बातें कही गयी हैं। इन बातों के जानने में आसानी जरूर है। तकलीफों में सिर और छाती पीटना, हाय-हाय करना आसानी से जाना जा सकता है। इसी तरह आराम पाने के लिए जो बेचैनी होती है उसका भी पता लगे बिना रहता नहीं । सबसे बड़ी बात यह है कि राग, भय और क्रोध तो छिपनेवाली चीजें हैं नहीं। खासकर भय और उससे भी बढ़ के क्रोध हर्गिज छिप सकता नहीं। इस प्रकार इन लक्षणों से योगी को आसानी से पहचान सकते हैं। सभी तरह के लोग इन लक्षणों से फायदा उठा सकते हैं, यही इनकी खूबी है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।57।।

जो किसी भी पदार्थ में ममता नहीं रखता—चिपका नहीं होता; इसीलिए जो बुरे-भले (पदार्थों) के मिल जाने पर न तो उनका अभिनन्दन ही करता है और न उन्हें कोसता ही है, उसी की बुद्धि स्थिर मानी जाती है।57।

इसके उत्तरार्द्ध में योगी के बोलने की बात अभिनन्दन न करने और न कोसने की बात के रूप में साफ ही आयी है। योगी के बोलने की यही खास बात है कि वह न तो किसी की स्तुति करता है और न निन्दा।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणोन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।58।

जब यह (योगी) अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से एकबारगी ठीक उसी तरह समेट लेता है जैसे (संकट के समय) कछुआ अपने सभी अंगों को, (तब) उसकी बुद्धि स्थिर मानी जाती है।58।

कछुए के चलने-फिरने से एकाएक रुक जाने और सभी गर्दन, पाँव आदि को खींच लेने की बात कहके 'योगी कैसे बैठता है' का उत्तर दिया गया है। वह अपनी सभी इन्द्रियों का दरवाजा ही बन्द कर देता है। फिर न तो किसी मनोरंजन पदार्थ के लिए कहीं आना होता है और न जाना। यों शरीर-यात्रार्थ नित्य क्रियादि के करने में आने-जाने पर कोई भी रोक नहीं होती। 61वें श्लोक में भी इन्द्रियों के ही रोकने की बात दुहराई गयी है और कहा गया है कि इन्द्रियाँ जिसके वश में हों वही स्थिर बुद्धिवाला है।

इन्द्रियों को विषयों से रोक देने की बात सुन के सवाल होता है कि यदि

योगी की यही बात है तो हठयोगी तपस्वी को भी क्या कभी गीता का कर्मयोगी कह सकते हैं? वह भी तो आखिर विषयों से किनाराकशी करी लेता है। अपनी इन्द्रियों पर वह इतनी सख्ती के साथ लगाम चढ़ाता है कि वे टस से मस होने पाती हैं नहीं। सर्दी-गर्मी और भूख-प्यास पर उसका कब्जा साफ ही नजर आता है। मगर ऐसे हठी तपस्वियों और योगियों में तो जमीन-आसमान का अन्तर है। यह कैसे होगा कि गीता का योगी तपस्वी के साथ मिल जाय—उसी तपस्वी से जिसका वर्णन स्मृतिग्रन्थों में पाया जाता है? तब तो यह योगी और योग गीता की अपनी चीज रह जायगी नहीं। वह एक प्रकार से बहुत ही आसान चीज हो जायगी। इसीलिए इसका स्पष्टीकरण आगे के बारह श्लोकों में करना जरूरी हो गया। क्योंकि यह विषय जरा गहन है। यह भी बात है कि क्या केवल विषयों के रोकने मात्र की ही जरूरत होती है, या और कुछ भी जरूरी होता है, यह भी जान लेना आवश्यक है। नहीं तो धोखा हो सकता है, होता है।

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते।। 59।।

आहार छोड़ देने वाले मनुष्य के विषय तो (स्वयं) हट जाते हैं। (मगर उनके प्रति) रागद्वेष बने रह जाते हैं। ये भी निवृत्त हो जाते हैं (सही; लेकिन) ब्रह्म-रूपी आत्मा को देखने पर ही, आत्मतत्त्व के ज्ञान के बाद ही। 59।

यहाँ आहार शब्द विचित्र है। सर्वसाधारण में प्रचलित आहार शब्द का अर्थ है भोजन। यह भी माना जाता है कि केवल खाना-पीना—अन्न—छोड़ देने से ही सभी इन्द्रियाँ अपने आप शिथिल हो के पस्त और अकर्मण्य हो जाती हैं। फलतः विषयों तक पहुँच नहीं सकती हैं। हालत यहाँ तक हो जाती हैं कि निराहार या अनशन करनेवाले के कान में हारमोनियम बजाइये तो भी उसे कुछ पता ही नहीं चलता है। नासिका के पास इतर-गुलाब लाइए तो भी उसे गन्ध का पता नहीं चलता। इसीलिए छान्दोग्योपनिषद् के सातवें प्रपाठक—अध्याय—के नवें खण्ड में लिखा भी है कि यदि दस दिन भोजन न करे तो उसके प्राण भले ही न जायें, फिर भी सुनना, सोचना, विचारना वगैरह तो खत्म ही हो जाता है—"यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्युहजीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्त्ताऽविज्ञाता भवति" (9।1)

दूसरी ओर यह मानने वाले भी बहुत से लोग हैं कि आहार का अर्थ केवल अन्न न हो के इन्द्रियों के पदार्थ या विषय को ही आहार कहना उचित है। आहार शब्द का अर्थ भी यही होता है कि जो अपनी ओर खींचे। विषय तो खामख्वाह इन्द्रियों को खींचते ही हैं। पहले श्लोक में सिर्फ भोजन की बात न आ के विषयों की ही बात आयी है। बादवाले श्लोक में भी इन्द्रियों के विषयों की ओर ही खिंच जाने और मन को खींच ले जाने की बात कही गयी है। छान्दोग्योपनिषद् के सातवें प्रपाठक के अन्त में यह भी लिखा गया है कि आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि और

सत्त्व की शुद्धि से पक्की एवं चिरस्थायी स्मृति, जिसे स्मरण या तत्त्वज्ञान कहते हैं, होती है, जिससे सारे बन्धन कट के मुक्ति होती है—"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः" (7।26।2)। यदि इस वचन से पहले वाले इसी 26वें खण्ड के ही वाक्य पढ़े जायँ या सारा प्रकरण देखा जाय तो साफ पता चलता है कि यहाँ आहार शब्द का अर्थ इन्द्रियों के विषय ही उचित हैं, न कि भोजन। यही ठीक भी है। केवल भोजन तो ठीक हो और बाकी काम ठीक न रहें तो सत्त्वगुण या उस गुण वाले अन्तःकरण की शुद्धि कैसे होगी और उसकी मैल कैसे दूर होगी? तब तो खामख्वाह रज और तम का धावा होता ही रहेगा। फलतः वे सत्त्व या सत्त्व-प्रधान अन्तःकरण को रह-रह के दबाते ही रहेंगे। इसीलिए चौदहवें अध्याय के अन्त में गीता में भी गुणों से पिण्ड छूटने के लिए ऐसी चीजें बताई गयी हैं जो भोजन से निराली और विभिन्न विषय रूप ही हैं।

यह ठीक है कि जब अनशन करने वाले लोग कहें कि इन्द्रियों को वश में करने के लिए आत्मतत्त्व विवेक की जरूरत है नहीं; केवल निराहार होने से ही काम चल जायगा, तो उनके उत्तर में इस श्लोक में यह कहने का सुन्दर मौका है कि हाँ, इन्द्रियाँ तो रुक जाती हैं जरूर। मगर रस या चस्का तो बना ही रहता है, जिसे राग और द्वेष के नाम से पुकारते हैं इसीलिए तत्त्वज्ञान की जरूरत है। क्योंकि वह रस तो उसी से खत्म होता है। इस प्रकार श्लोक की संगति भी बैठ जाती है। मगर यह संगति तो विषयों की बात मान लेने पर भी बैठ जाती ही है। क्योंकि हठी तपस्वी लोग एकदम निराहार तो नहीं हो जाते। शरीररक्षार्थ कुछ तो खाते-पीते हईं। हाँ, काम-चलाऊ मात्र ही स्वीकार करते और शीत-उष्ण की सख्ती के साथ सह के इन्द्रियों को बलपूर्वक रोक रखते हैं। आखिर उनका भी तो जवाब चाहिए। ऐसे ही लोग ज्यादा होते हैं भी। इसीलिए गीता ने उनका और दूसरों का भी उत्तर इसी श्लोक में दिया है। राग और द्वेष को ही यहाँ रस कहा गया है। इन्हीं का दूसरा नाम काम एवं क्रोध और भय तथा प्रीति भी है। इसे गीता ने खासतौर से संग कहा है।

इसी के लिए आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान जरूरी माना गया है। वही योग का मूलाधार है। उसी के लिए सबसे पहले महान् यत्न करना जरूरी है। मगर कुछ लोग ऐसा गुमान कर सकते हैं कि आत्मज्ञान जैसी दुर्लभ चीज के लिए परेशान होने और मरने की क्या जरूरत है? इन्द्रियों के रोकने का ही ज्यादे से ज्यादा यत्न और अभ्यास करके यह काम हो सकता है कि वे आगे चल के कभी भी विषयों की ओर न ताकें। आखिर राग-द्वेष लाठी से तो मारते नहीं। होता है यही कि उनके रहते इन्द्रियों के लिए खतरा बना रहता है कि कभी विषयों में जा फँसेंगी। यही बात न होने का उपाय अभ्यास है। अभ्यास करते-करते ऐसी आदत पड़ जायगी कि अन्त में विषय भूल जायँगे। मगर ऐसे गुमानवाले न तो इन्द्रियों की ही ताकत जानते हैं और न राग-द्वेष की मोहनी और महिमा ही। यह राग-द्वेष ही ऐसी रस्सी

है जो विषयों को इन्द्रियों से और इन्द्रियों को मन से जोड़ती है। जब तक यह रस्सी जल न जाये कोई उपाय नहीं। तब तक इन्द्रियाँ खुद तो विषयों में जायँगी ही। मन को भी घसीट लेंगी। यही बात आगे यों कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।60।।

हे कौन्तेय, पूरा समझदार पुरुष के (हजार) यत्न करते रहने पर भी (ये) बेचैन कर देने वाली इन्द्रियाँ मन को (अपनी ओर) बलात् खींच लेती हैं।60।

इस श्लोक में 'पुरुषस्य विपश्चितः' कहने का प्रयोजन यही है कि ऐरे-गैरे की तो बात ही मत पूछिए। विवेकी और मुस्तैद—मर्दाने—लोगों की भी दुर्गति ये बदजात इन्द्रियाँ कर डालती हैं। इसी तरह 'हरन्ति' शब्द का आशय यह है कि हमें पता नहीं लगने पाता और चुपके से मन उधर खिंच जाता है। हम हजार चाहें कि ऐसा न हो। मगर इन्द्रियाँ तो ललकार के ऐसा करती हैं और हमें पता तब चलता है जब एकाएक देखते हैं कि मनीराम गायब हैं!

इस बात का बहुत ही सुन्दर आलंकारिक वर्णन कठोपनिषद् के प्रथमाध्याय की द्वितीयवल्ली में इस तरह किया गया है। जब कोई भला आदमी घोड़ागाड़ी पर चढ़के पक्की सड़क के रास्ते कहीं जाय तो उसे सजग रह के चलना तो होता ही है। नहीं तो घोड़े कहीं बहक जायें और गाड़ी नीचे जा गिरे। उसकी यात्रा में वह खुद होता है। कोचवान, लगाम, घोड़े, गाड़ी ये भी होते ही हैं। सड़क भी होती है और उसके किनारे दोनों ओर अकसर नीचे और गहरे गढ़े भी होते हैं। यदि उस नीची जगह में हरी घास लहलहाती हो तो क्या कहना? घोड़े तो घास की ओर जरूर ही जोर मारते हैं। उन्हें लक्ष्य स्थान पर पहुँचने से क्या मतलब? वह यह भी क्या समझने गये कि यदि नीचे उतरे तो गाड़ी और गाड़ी के मालिक वगैरह के साथ खुद भी उन्हें जख्मी होना या मरना होगा? उन्हें तो हरी घास की चाट होती है, उसका चस्का होता है। बस, बाकी बातें भूल जाती हैं। ऐसी दशा में यदि कोचवान जरा भी लापरवाह हुआ या ऊँघा और लगाम जरा भी ढीली हुई तो सारा गुड़ गोबर हुआ। रथ या गाड़ी के मालिक को भी पूरा सतर्क रहना होता है।

उपनिषद् में आत्मा को रथी या गाड़ी का मालिक और सवार करार दे के बुद्धि को कोचवान—सारथी,—मन को लगाम—प्रग्रह—और इन्द्रियों को घोड़े की जगह माना है। शरीर ही रथ—गाड़ी—और संयतजीवन ही पक्की सड़क मानी है। इस संयम से हटना खन्दक में जाना है जहाँ इन्द्रियों के विषय लहलहाती घास है। लक्ष्य स्थान है निर्वाणमुक्ति या ब्रह्मनिष्ठा। जीवन की लम्बी यात्रा तय करनी है। फलतः आत्मा यदि सतर्क न रहे, बुद्धि को ताकीद न करे कि लगाम को कस के पकड़ो तो घोड़े जरूर ही ग में जायँ और सबको चौपट करें। कितना सरस, पर कितना काम का, यह वर्णन है! इसलिए वहाँ कह दिया है कि जिसकी बुद्धि चुस्त और मन कब्जे

में है वही जीवनयात्रा सकुशल पूरी करके विष्णु के परम पद—मोक्ष—तक पहुँच जाता है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।3।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुमनीषिणः।।4।।
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।5।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।6।।
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।।7।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।8।।
विज्ञान-सारथिर्यस्तु मनः-प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।।9।।

इसलिए इस विषय की विषमता को समझ के हमेशा सजग रहना ही होगा तभी काम चल सकता है। इसीलिए आत्मज्ञान की भी जरूरत है। यदि रथ का मालिक ही जगा न हो तो खुदा ही खैर करे। तब तो सारा मामला ही चौपट। इसलिए—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।61।।

उन सबों—इन्द्रियों—को रोक—कब्जे में कर—के आत्मा में ही मन को रमाये हुए डटा रहे। क्योंकि (इस प्रकार) जिसके वश में इन्द्रियाँ हों वही स्थितप्रज्ञ है ।61।

यहाँ 'मत्परः' में 'मत्' का अर्थ साकार कृष्ण नहीं है। इसका तो प्रसंग हई नहीं। यहाँ तो आत्मज्ञान का ही प्रसंग है। इसीलिए ब्रह्म या परमात्मा रूपी आत्मा से ही यहाँ तात्पर्य है। कहते हैं कि, जिस प्रकार अत्यन्त चंचल और क्रियाशील भूत को शान्त करने की लिए कभी किसी चतुर व्यक्ति ने बहुत लम्बे बाँस पर लगातार चढ़ने-उतरने का काम उसे दिया था—क्योंकि वह उससे काम माँगता ही रहता था और इस तरह बेचैन कर डालता था, यहाँ तक कि झपकी मारने भी न देता था,—ठीक उसी तरह आत्मा में ही जब मन रम जाय—जब अन्तःकरण से आत्मा तक ही आने-जाने की उसे इजाजत हो, न कि जरा भी इधर-उधर—तभी वह शान्त होता है। तभी इन्द्रियाँ भी कब्जे में रहती हैं। इस मामले में कितना सतर्क रहने की जरूरत है, किस तरह लोग धोखा खा जाते हैं। और नीचे जा गिरते हैं, पद-पद पर इसमें कितना खतरा है और अनजान में भी जरा सी रिआयत करने से किस तरह सब किये-कराये पर

पानी फिर जाता है, इसका बारीक से बारीक विवेचन और ब्योरा आगे के दो श्लोक यों करते हैं–

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। 62।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहातस्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। 63।।

विषयों–इन्द्रियों के विषयों या भौतिक पदार्थों–का खयाल करते ही मनुष्य के (दिल में उनके प्रति) राग या आसक्ति पैदा हो जाती है। राग से (उनकी प्राप्ति की) इच्छा होती है। इच्छा से क्रोध होता है। क्रोध से जबर्दस्त अन्धकार जैसा मोह पैदा हो जाता है। उस सम्मोह का फल होता है। हर तरह की स्मृति–स्मरण या याद–का खात्मा। स्मृति के खत्म हो जाने से विवेक शक्ति जाती रहती है। विवेकशक्ति के चौपट हो जाने पर वह खुद चौपट हो जाता है। 62-63।

यहाँ जितनी बातें एक के बाद दीगरे कही गयी हैं उनका क्रम क्या है और प्रक्रिया कैसी है, इसे अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। यह ठीक है कि जब तक किसी चीज का खयाल न हो उससे मन चिपकता नहीं, उसमें सटता नहीं। देखते हैं कि फोटोग्राफ के प्लेट या पटरी पर उस हर पदार्थ का बहुत बारीक असर (impression) पड़ जाता है जो उसके सामने से गुजरता है। इसी को संस्कार कहते हैं। यदि किसी सुगन्धित वस्तु को कहीं रख दें तो उसके हट जाने पर भी उसका कुछ न कुछ असर रही जाता है। इसी तरह दिमाग के सामने जो चीज आती है उसका भी असर उस पर पड़ता ही है। दिमाग तो भीतर है। इसलिए उसके सामने बाहरी चीजें इन्द्रियों की खिड़कियों से ही होकर पहुँचती हैं। सो भी वे खुद नहीं; किन्तु अन्तःकरण या मन हू-ब-हू उन्हीं के आकार का बन के भीतर लौटता है। इसी तरह वे दिमाग के सामने आती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन्द्रियों की खिड़कियाँ बन्द रहने पर भी चीजों के आकार को मन दिमाग के सामने खड़ा कर देता है। यह इसीलिए होता है कि पहले इन्द्रियों के रास्ते कभी वे भीतर आयी थीं और अपना असर छोड़ गयी थीं। बस उसी असर के आधार पर मन उनका स्वरूप तैयार कर लेता है। इसी को खयाल, स्मरण, या ध्यान कहते हैं, चिन्तन कहते हैं। इन श्लोकों में पहली बात यही कही गयी है।

उसका नतीजा यह होता है कि उन चीजों से मनीराम लिपट जाते हैं, उनमें आसक्त हो जाते हैं, फिदा हो जाते हैं। यह ठीक है कि यह आसक्ति यों ही नहीं हो जाती। कितनी ही चीजें रोज दिमाग के सामने गुजरा करती हैं। मगर सबों के साथ संग या आसक्ति कहाँ देखते हैं? हाँ, जो चीजें बार-बार सामने आ जायँ, जिनका बार-बार खयाल हो उनमें आसक्ति होती है। या ऐसा भी होता है कि यदि चीज में कोई विलक्षणता हो तो पहली बार सामने आने पर ही मनीराम उस पर लट्टू

हो जाते हैं। यह बात वस्तु की अपनी विशेषता और सामने आने की परिस्थिति पर ही अवलम्बित है। यही है दुनिया का तरीका। यही दूसरी बात यहाँ कही गयी है।

आसक्ति होने पर उसे प्राप्त करने की इच्छा, आकांक्षा या तमन्ना होती ही है। उसी के लिए रास्ता साफ करना आसक्ति का काम है। इच्छा को ही काम भी कहते हैं। इसका दर्जा तीसरा है। यह असम्भव है कि इच्छा होई न और आसक्ति यों ही रह जाये।

काम के बाद क्रोध का दर्जा आता है—उसी का चौथा नम्बर है। जिसे काम या इच्छा न हो उसे क्रोध से क्या ताल्लुक? उसमें तो क्रोध का दर्शन भी न होगा। इच्छा से क्रोध यों ही नहीं होता। किन्तु उसके मौके आते रहते हैं। इच्छित वस्तु न प्राप्त हुई, उसकी प्राप्ति में देर हुई या बीच में कोई जरा भी अड़ंगा आ गया, तो चट क्रोध उमड़ पड़ता है। इच्छा जितनी ही तेज होगी, क्रोध भी उतना ही तेज होगा और शीघ्र होगा भी। क्योंकि तब तो जरा भी बाधा या विलम्ब बर्दाश्त हो सकेगी नहीं। यह भी होता है कि मिली हुई चीज किसी वजह से दूर हो जाती है, हट जाती है और क्रोध भड़क उठता है। तात्पर्य यह है कि बलवती इच्छा के बाद इच्छित पदार्थ की जुदाई, उसका पार्थक्य या अलग होना ही इच्छा को क्रोध में परिणत कर देता है। जैसी इच्छा होगी वैसा ही क्रोध भी होगा।

यहाँ एक बात याद रखने की है। बहुत लोग गीता के 'कामात्क्रोधोऽभिजायते' का सीधा अर्थ 'काम से क्रोध होता है' करने के बजाय बीच में अपनी ओर से पुछल्ला लगा देते हैं कि काम—इच्छा—की पूर्ति में बाधा पड़ने से क्रोध होता है। वे यह भी समझते हैं कि उनने अर्थ का स्पष्टीकरण कर दिया। मगर ऐसा करने में वह भूल जाते हैं कि गीता का असली अभिप्राय ही चौपट हो जाता है। गीता के काम से क्रोध की उत्पत्ति सीधे ही कहने का मतलब यही है कि क्रोध की असल बुनियाद और अनर्थ का मूल कामना ही है। इसलिए उसी को दूर करना होगा। उन लोगों के अर्थ में यह बात—कामना को ही अनर्थ बताने की बात—नहीं रह जाती है। क्योंकि ज्योंही उनने बाधा का नाम लिया कि सबने समझ लिया कि असली बला कामना नहीं है। क्योंकि कामना होने पर भी तो खामख्वाह क्रोध होता ही नहीं। वह होता तो है जब कामना की पूर्ति में बाधा आ जाये। और अगर बाधा न आये तो? तब क्रोध क्यों होगा? इस तरह जो महत्त्व कामना को मिलना चाहिए वही मिल जाता है बाधा को। फलतः कामना से ध्यान हट जाता है—जैसा चाहिए वैसा खयाल कामना के मुतल्लिक रहता नहीं। पीछे चाहे हजार कहें कि बाधा तो होती ही है, ऐसा तो सम्भव नहीं कि सदा हर हालत में कामनाएँ पूरी हों, आदि-आदि। मगर वह बात रह जाती नहीं—वह मजा और स्वारस्य रह जाता नहीं। और जब बाधाएँ अवश्यमेव आती ही हैं, तब उनके जिक्र की जरूरत ही क्या है? गीता के तीसरे अध्याय के अन्त में 'काम एष क्रोध एष' में तो साफ ही काम और क्रोध को एक ही कहा भी है।

पाँचवीं श्रेणी में मोह या सम्मोह आता है जो क्रोध से पैदा होता है। मोह तो एक तरह का पर्दा है जो दिमाग पर, विवेकशक्ति पर पड़ जाता है। जब वही पर्दा खूब जबर्दस्त और गाढ़ा हो तो उसे सम्मोह कहते हैं। हमारी आँखों के सामने हजारों चीजें पड़ी हों और बीच में पर्दा न हो तो हम सबको ठीक-ठीक देखते, जिन्हें चाहते उन्हें चुन लेते, उनके बारे में कुछ दूसरा खयाल करते और सोचते-विचारते हैं। मगर अगर बीच में कोई पर्दा आ जाये तो यह सारी बात रुक जाती है। यही हालत दिमाग की भी है। युगयुगान्तर की देखी, सुनी और जानी हुई बातें संस्कार के रूप में उसमें पड़ी रहती हैं। उनका एक तरह का सूक्ष्म चित्र पड़ा रहता है। समय-समय पर दिमाग उन्हें देखता, विचारता, चुनता और उनसे काम लेता रहता है। उन चीजों और उसके बीच कोई पर्दा नहीं होता। हाँ, नींद, नशा, बीमारी आदि के करते मोटा या महीन पर्दा कभी-कभी आ जाया करता है और ऐसा हो जाता है कि वे ओझल हो गयीं। यही बात क्रोध के समय भी होती है। कहते हैं कि क्रोध में आदमी अन्धा हो जाता है—उसे सूझता ही नहीं। इसका यही मतलब है। क्रोध का पर्दा बड़ा खतरनाक होता है। वह बुरी तरह भटकाता और गुमराह करता है। जिससे महान् अनर्थ हो जाता है। यह बात नींद वगैरह में नहीं होती है। क्रोध में तो इन्सान क्या से क्या कर बैठता है। इसलिए उसे सम्मोह कहा है। इसीलिए गीता के तीसरे अध्याय के अन्त के (36-43) आठ श्लोकों में इसी क्रोध को सभी पापों का मूल कारण, महापाप, आवरण, कुम्भकर्ण जैसा पेटवाला, असली शत्रु, आग और कभी पूरा न होनेवाला बताया है। उससे सुन्दर चित्रण हो सकता है नहीं। क्रोध होते ही दिमाग में भादों की घोर अँधेरी छा जाती है। "त्रिविधं नरकस्येदं" (16। 21-22) आदि दो श्लोकों में काम, क्रोध और लोभ को नरक के द्वार तथा आत्मा के नाशक कह दिया है।

सम्मोह से स्मृति का खात्मा हो जाता है और यही छठी बात है। घोर अँधियारी में सूझने क्यों लगा? अँधियारी का तो काम ही है कि किसी चीज का पता लगने न दे। स्मृति या स्मरण के भ्रंश का अर्थ इतना ही है कि स्मृति हमेशा के लिए खत्म न हो के तत्काल जाती रहती है। यह तो कही चुके हैं कि दिमाग में सारी बातों के सूक्ष्म चित्र हैं। वह भौतिक या बाहरी कान, आँख आदि तो है नहीं। इसलिए प्रत्यक्ष अनुभव तो उन बातों का होता नहीं। किन्तु वह स्मरण हो आती हैं। यही दिमाग का देखना है और क्रोध के चलते यही हो पाता नहीं; रुक जाता है। जितनी बातें पहले देखी-सुनी, पढ़ी-लिखी या जानी थीं एक की भी याद नहीं हो पाती। सब चौपट!

इसका परिणाम यह होता है कि भले-बुरे, कर्तव्य-अकर्तव्य, आत्मा-अनात्मा आदि का विवेक हो पाता नहीं—यह विवेक-शक्ति ही कुण्ठित हो जाती है और अपना काम कर पाती नहीं। यही सातवीं चीज होती है। विवेक या विचार है क्या चीज

यदि जानी-सुनी बातों का जोड़-बटोर और मिलान नहीं है? समय-समय पर सभी तरह की बातें हम जानते रहते हैं और उनका संस्कार दिमाग में पड़ा रहता है। कभी कुछ जानते तो कभी कुछ। एक बार एक चीज जानते; तो दूसरी बार दूसरी और कभी-कभी पहले की विरोधी। एक लम्बी बात का एक अंश आज, एक कल, दो परसों इस तरह भी जानते रहते हैं। एक दिन जिसे सही जानते हैं, दूसरे दिन उसी को अंशतः या पूरा-पूरा गलत जानते हैं। ये सारी जानकारियाँ—सारी बातें—फोटो की तख्ती पर के चित्र की तरह दिमाग में पड़ी रहती हैं। दिमाग का यही काम है कि समय-समय पर इन्हें जोड़ बटोर कर—इन्हें स्मरण करके—एकत्र करके—और काट-छाँट के एक नयी बात, नयी चीज, नया निश्चय तैयार करे। इसे ही विवेक कहते हैं। विवेक का अर्थ है काट-छाँट, जोड़-बटोर करना, चावल को भूसे से जुदा करके राशि बनाना। मगर जब जानी-सुनी बातें याद ही नहीं, उनकी स्मृति ही नहीं, तो विवेक कैसे होगा? तब अकल और बुद्धि कैसे होगी—समझ क्योंकर होगी? इस तरह भौतिक पदार्थों का ही विवेक जब नहीं हो पाता, तो फिर आत्मा का विवेक और उसका तत्त्वज्ञान कैसे होगा? वह तो गहन विषय है। इसलिए उसके सम्बन्ध की बातों का जाना-सुना जाना तो और भी लापता हो जायगा, उड़ जायगा, खत्म हो जायगा।

और जब बुद्धि ही नहीं तो मनुष्य को चौपट ही समझिये। यही आठवीं और अन्तिम बात है। अब बाकी रही क्या गया, जब चौपट ही हो गये? पत्थर, वृक्ष और पशु-पक्षियों से मनुष्य में यही तो फर्क है कि यह बुद्धि रखता है, समझदार है—rational being—है। और भले-बुरे का विचार करता है, कर सकता है। मगर जब इसमें यही बात न रह गयी तो मनुष्य क्या खाक रहा? तब तो चौपट होई गया।

अब सवाल यह होता है कि तो आखिर किया क्या जाय? अगर किसी चीज का खयाल न करें तो क्या पत्थर बन जायें? यों तो खयाल करने पर पीछे देर से पत्थर बनने की नौबत आती है, जैसा अभी कहा है। बल्कि खामख्वाह पत्थर बन जाने की भी नौबत नहीं आती है। हाँ, मनुष्यता जरूर चली जाती है। मगर यदि खयाल करें ही न, तब तो सोलहों आना पत्थर बनी चुके। और अगर ऐसा नहीं करते तो शरीर-रक्षा एवं जीवन-यात्रा करते हुए मनुष्यता की भी रक्षा करने का कोई बीच का रास्ता नजर आता नहीं। आखिर विवेकी के लिए भी तो शरीर, इन्द्रियादि की रक्षा जरूरी है। नहीं तो विवेक-विचार वह करेगा क्या खाक? मगर इसके लिए तो पदार्थों का खयाल जरूरी हो जाता है। आखिर भूख लगने पर ही तो खायेगा और प्यास लगने पर पानी पियेगा। मल-मूत्रादि का त्याग भी बिना खयाल के होगा नहीं। उधर खयाल में आसक्ति का खतरा ही ठहरा। तो फिर किया क्या जाय? इसी का उत्तर—इसी पहेली का समाधान—आगे के दो श्लोक इस तरह करते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।64।।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।65।।

राग और द्वेष से शून्य तथा अपने कब्जे में रहने वाली इन्द्रियों के द्वारा (आवश्यक) विषयों को भोगने वाले पुरुष का तो मन अपने अधीन रहने के कारण (चित्त की) प्रसन्नता (ही) प्राप्त होती है। प्रसन्नता होने पर इस (मनुष्य) की सारी तकलीफें खत्म हो जाती हैं। क्योंकि प्रसन्नचित्त पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही सर्वथा स्थिर हो जाती है। 64।65।

यहाँ पर कई बातें जानने योग्य हैं। पदार्थों के खयाल या संसर्ग मात्र से ही कुछ होता जाता नहीं। विरागी पुरुष भी तो आखिर खाता-पीता और जीवनयात्रा करता ही है। उसके दिमाग के सामने भी पदार्थ आते ही रहते हैं। मगर वह तो चौपट होता नहीं? क्यों? इसीलिए न, कि पूर्व कथन के अनुसार उसके भीतर पदार्थों के लिए रस नहीं है, संग और आसक्ति नहीं है, राग-द्वेष नहीं है? वह तो पदार्थों से उदासीन रहता है। केवल अनिवार्य आवश्यकता से ही उनसे काम लेता है। मलमूत्र त्याग का ही दृष्टान्त लें। हर आदमी के लिए यह प्रतिदिन जरूरी बात है। मगर क्या कभी ऐसा भी देखा-सुना गया कि कोई आदमी मल-मूत्र त्याग में आसक्ति रखता हो? ऐसी तो कभी होता नहीं। क्यों? इसीलिए न कि मजबूरन लोगों को यह काम करना ही पड़ता है। नहीं तो शरीर रहेई न? अनिवार्य आवश्यकता के अतिरिक्त इस काम में और कोई वजह होती ही नहीं। इसीलिए उसमें फँसने का सवाल उठता ही नहीं। वैराग्ययुक्त विवेकी पुरुष ठीक इसी तरह खानपान वगैरह भी करता है। उनकी नजर में मल-मूत्र त्याग और खानपान आदि में जरा भी अन्तर नहीं है—दोनों ही शरीर-रक्षा के लिए अनिवार्य हैं। उसे न तो मल-मूत्र में राग-द्वेष है, आसक्ति है, चस्का है और न खानपान आदि में ही। फिर वह फँसेगा क्यों? बस, यही बात हमें करनी होगी यदि हम भी कल्याण चाहते हैं, चौपट होना नहीं चाहते और सभी अनर्थों से बचना चाहते हैं। 'रागद्वेषवियुक्तैः' में जो वियुक्त शब्द है वह यही बात बताता है कि हम इन बातों में जरा भी चसकें न, लिपटें न, जैसा कि मल-मूत्र त्याग में नहीं लिपटते।

पहले के 60वें श्लोक में "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि" आदि उत्तरार्द्ध में यह कहा गया है कि इन्द्रियाँ पुरुष को बेचैन कर देती हैं, मथ देती हैं जैसे मथानी से दही मथा जाय और मन को जबर्दस्ती खींच ले जाती हैं। मथने की बात हम 'व्यथयन्ति' की व्याख्या में बखूबी बता चुके हैं। उसका उलटा यहाँ कह दिया है कि 'आत्मवश्यैः'—अर्थात् इन्द्रियाँ अपने काबू में हो जाती हैं, अपने मन के अधीन रहती हैं। आत्मा का अर्थ स्वयं और मन दोनों ही हैं। जब चस्का और राग-द्वेष नहीं हैं, तो इन्द्रियों को यह

शक्ति होती ही नहीं कि मन को खींच सकें। क्योंकि वही तो रस्सी हैं जिनके द्वारा उनके साथ मन जुटा है। इसीलिए जब चाहती हैं उसे अपनी ओर खींच लेती हैं। मगर वह रस्सी ही अब गयी है टूट। फिर हो क्या? मगर मनीराम कौन से भले हैं? यह हजरत तो खुद इन्द्रियों की पीठ ठोंकते और ललकारते फिरते हैं कि वाह-वाह, खूब किया। ऐशी दशा में यदि इन्द्रियाँ इनके हाथ आ गयीं तो इन्हें तो मजा ही हुआ। अब पीठ ठोंकने में और भी आसानी जो होगी। इसलिए कह दिया है कि 'विधेयात्मा'। असल में मनीराम यह काम जरूर करते। मगर वे तो खुद परेशान हैं। वे आत्मा के सोलह आने कब्जे में जो हैं। इसीलिए कुछ कर नहीं सकते! कहाँ तो 'आ फँसे' वाली हालत है। असल में राग-द्वेष के खत्म होते ही सारी परिस्थिति ही उलट जाती है। कहते हैं कि किसी ऊँटनी का बच्चा उसके साथ चलते-चलते जब थक गया तो माँ से गिड़गिड़ा के बोला कि माँ, जरा ठहर जा। बहुत थक गया हूँ। थोड़ी दम तो मार लूँ। इस पर ऊँटनी ने उत्तर दिया कि बेटे, मैं भी क्या कम थकी हूँ? मैं भी तो दम मारना चाहती हूँ। मगर मेरी नकेल दूसरे के हाथ जो है और वह दाढ़ीजार रुकना नहीं चाहता। इसलिए बेबसी है। बस, ठीक यही हालत मन और इन्द्रियों की है। जब ये मन से पूछती हैं कि क्यों भई, हुक्म दो तो जरा मजा लें, तो मनीराम चट कह बैठते हैं कि बोलो मत बहनो, बड़ी बेबसी है, सारा मजा किरकिरा है। वह और भी बिगड़ जायगा।

इस तरह पहले श्लोक के स्पष्टीकरण के बाद इसके तथा दूसरे के 'प्रसाद' और सब दुःखों की हानि की बात रह जाती है। दुनिया का नियम यही है कि कोई भी अच्छे से अच्छा और बड़े से बड़ा काम करने के बाद यदि मनस्तुष्टि या चित्त की प्रसन्नता न हो तो वह काम बेकार माना जाता है और सारा परिश्रम व्यर्थ ही समझा जाता है। विपरीत इसके अगर उसके बाद प्रसन्नता हो गयी, तबीअत खुश हो गयी तो सब किया दिया सफल माना जाता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि असली चीज भला-बुरा काम नहीं है, किन्तु उसके अन्त में होने वाली मनस्तुष्टि ही, जिसे यहाँ प्रसाद कहा है और 'प्रसन्नचेतसः' में प्रसन्नता भी कहा है। दोनों का अर्थ एक ही है।

बात यों है कि वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार हृदय में या अन्तःकरण में आत्मा का लहलहाता प्रतिबिम्ब मानते हैं। जैसे साफ-सुथरे दर्पण मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उसे देख के हम खुश या रंज होते हैं जैसा मुख प्रतीत हो। ठीक उसी तरह सत्त्वप्रधान अन्तःकरण का दर्पण भी चमकदार है। उसी में आत्मा का प्रतिबिम्ब मानते हैं। आत्मा को आनन्द स्वरूप भी मानते हैं। वह आनन्द का महान् स्रोत है। इसीलिए आत्मा के प्रतिबिम्ब का अर्थ है उसके आनन्दसागर का प्रतिबिम्ब। जो लोग उसका अनुभव करते हैं वह आनन्द में मस्त रहते हैं—उसी में गोते लगाते रहते हैं। वेदान्ती यह भी मानते हैं कि आनन्द या सुख तो केवल आत्मा में ही है। केवल वही आनन्दरूप

है। भौतिक पदार्थों में सुख का लेश भी है, "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" (छान्दोग्य. 7।23।1)।

लेकिन जिस तरह जल में पड़ा प्रतिबिम्ब तभी दीखता है जब जल निश्चल एवं निर्मल हो; जरा भी हिलता-डोलता न हो। वैसे ही आत्मानन्द का प्रतिबिम्ब तभी अनुभव में आता है जब अन्तःकरण निर्मल और निश्चल हो। आईना मैला और बराबर नाचता हो तो प्रतिबिम्ब दिखेगा कैसे? इसीलिए योगी और आत्मदर्शी लोग बराबर ही चित्त की शान्ति और निर्मलता की कोशिश करते हैं। गीता ने भी इस बात पर सबसे ज्यादा जोर दिया है। राग-द्वेष आदि ही चित्त की मैल हैं। उसकी चंचलता तो सभी को विदित है। क्षण भर में दिल्ली से कलकत्ता और वहाँ से तीसरी जगह जा पहुँचता है। कहीं भी टिकना तो वह जानता ही नहीं। बन्दर या पारे से भी ज्यादा चंचल उसे कहा गया है। बिजली से भी ज्यादा तेज वह दौड़ता है।

अब रही विषय सुख या भौतिक पदार्थों से मिलने वाले सुख की बात। वेदान्तियों का इसमें कहना यही है कि जब मनुष्य को किसी चीज की सबसे ज्यादा चाट होती है तो वह दिन-रात उसी का खयाल करता रहता है। इस प्रकार उसका मन एकाग्र हो जाता है। फलतः अन्तःकरण की चंचलता दूर हो जाने के कारण उसमें आत्मानन्द का लहलहाता प्रतिबिम्ब नजर आता है। मगर मन निश्चल एवं एक ही जगह बँधा होने पर भी बाहर की उसी चीज में लगा है जिसकी चाट या प्रचण्ड अभिलाषा है। इसीलिए उस आत्मानन्द को अनुभव कर नहीं सकता, उसे देख या जान नहीं सकता। वह बाहर जो टँगा है। भीतर आ जो नहीं सकता। मगर ज्यों ही वह चीज मिली कि चट भीतर लौटा और उस आत्मानन्द का अनुभव करके मस्त हो जाता है। इस तरह उसे जिस आनन्द का अनुभव होता है वह तो आत्मानन्द ही है। फिर भी अभिलषित पदार्थ के मिलने पर ही उसका अनुभव होने के कारण ऐसा भ्रम हो जाता है, ऐसा माना जाने लगता है कि उस पदार्थ में ही आनन्द है। उस पदार्थ के ही चलते मन—अन्तःकरण—की एकाग्रता हुई है जरूर। इसीलिए आत्मानन्द का अनुभव भी हुआ है। इसीलिए उस विषय को आनन्द के अनुभव का सहकारी कारण भले ही माना जाय। मगर उसमें आनन्द तो हर्गिज नहीं है। ऐसा मानना तो सरासर भ्रम है। आनन्द तो केवल भूमा में है—महान् से भी महान् पदार्थ रूपी आत्मा में ही है।

यही कारण है कि एक ही चीज से एक आदमी को आनन्द मिलता है और दूसरे को नहीं। यदि आनन्द उस वस्तु का स्वभाव होता, उस वस्तु में ही रहता तो अग्नि की गर्मी की तरह सबों को समान रूप से ही उसका अनुभव होता। परन्तु ऐसा होता नहीं। खूब भूखे आदमी को भरपेट सत्तू या सूखी रोटी खिलाइये तो वह आनन्द-विह्वल हो उठता है। लेकिन अमीर का तो वही चीजें देख के भी कष्ट होता है, खाने की तो बात ही जाने दीजिए। यदि भौतिक पदार्थ में ही आनन्द होता तो ऐसा कदापि न होता। इसी तरह वही हलवा-पूड़ी भूखे को खिलाइये और पेटभरों

को भी। भूखे तो खा के आनन्द से लोटपोट हो जायँगे। मगर पेटभरे लोग आनन्द मनाने या खुश होने के बदले उसमें हजार ऐब ही निकालेंगे कि पूड़ी जरा नर्म सिंकी, खर न थी, घी अच्छा न था, सूजी खराब थी, कुछ अच्छी गन्ध आती न थी, मालूम होता है चीनी खाँटी न थी, घी शुद्ध न था, आदि-आदि। क्यों? इसीलिए न, कि भूखे का मन और अन्तःकरण उस अन्न की रट लगाये एकाग्र था, निश्चल था; फलतः उसे पाते ही उसने आत्मानन्द का उक्त रीति से पूर्ण अनुभव किया? मगर पेटभरों का मन तो एकाग्र था नहीं। क्योंकि हलवा-पूड़ी की रट थी नहीं। उनका पेट जो भरा था। इसीलिए वह चीजें मिलने पर भी उनमें कोई फर्क न हुआ। इसीलिए उनका मन आत्मानन्द का अनुभव कर न सका। वह तो बन्दर की तरह पहले भी दौड़ता रहा और खाने के समय एवं उसके बाद भी। फिर आत्मानुभव हो तो कैसे? वह आनन्द मिले तो कैसे?

देखा जाता है कि सूखी हड्डी को कुत्ता चबाता है। उसमें कुछ रस तो होता नहीं। केवल हड्डी की महक से कुत्ते को खयाल होता है कि जिस तरह ताजी और रसीली हड्डी में खून का रस मिलता है उसी तरह इसमें भी मिलेगा। इसीलिए खूब जोर से उसे चबाता है। जब कुछ नहीं मिलता तो और भी जोर लगाता है। नतीजा यह होता है कि हड्डी की नोकों से उसके जबड़े छिल जाते हैं और उनका खून हड्डी में टपक पड़ता है। कुत्ता उसी को चाट के खुश होता है। फिर तो पहले से भी ज्यादा जोर लगाता है। फलतः और भी जख्म होते हैं जो ज्यादा खून टपकाते हैं। यही बात देर तक चलती है जब तक वह थक के छोड़ नहीं देता। कुत्ता अपने ही खून को मिथ्या ही हड्डी का समझ के खुश होता है। क्योंकि अपने खून का स्वाद उसे उस हड्डी के ही बहाने मिल पाता है। इसी से उसे भ्रम होता है कि हड्डी में ही खून है। ठीक इसी तरह हरेक आदमी हमेशा मौका पड़ने पर अपने ही आत्मानन्द का अनुभव करता है। मगर स्वतन्त्र रूप से ध्यान और समाधि के द्वारा वह आनन्द लूटने का शऊर तो उसे होता नहीं। वह तो विषयों के बहाने ही उसे कभी-कभी लूटता है, उसका अनुभव करता है। इसीलिए उसे भ्रम हो जाता है कि विषयों—भौतिक पदार्थों—में ही सुख है। उसे अनुभव भी उस आत्मानन्द के एक तुच्छ कण का ही हो पाता है क्योंकि जरा सी देर के बाद ही उसका मन फिर चंचल जो हो जाता है। वह उसमें डूब तो सकता नहीं। इसीलिए वृहदारण्यक के चौथे अध्याय में लिखा है कि इसी परमानन्द के एक छींटे से सारे संसार का काम चलता है—"एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (4।5।32)।

इस लम्बे विवेचन से यह साफ हो गया कि चित्त की प्रसन्नता ही असल चीज है। उसके होते ही परमानन्द का अनुभव होने लगता है। फिर तो संसार के सारे कष्ट भाग जाते हैं मन तो एक ही होता है न? और जब वही आत्मानन्द में डूब चुका तो दुःखों का अनुभव कौन करे? "इक मन रह्यो सो गयो स्याम संग कौन

भजै जगदीस''? और जब अनुभव होता ही नहीं, तो दुःख रही क्या चीज? वह अन्न-वस्त्रादि की तरह कोई स्थायी या ठोस चीज तो है नहीं? वह एक विलक्षण प्रकार की मानसिक वृत्ति ही तो है, जिसका अस्तित्व उसके अनुभव के साथ ही रहता है। अनुभव के बिना वह लापता रहता है, लापता हो जाता है। इस तरह जब मन आत्मानन्द में डूबा है तो दुःखरूपी उसकी वृत्ति भी हो इसका मौका ही कहाँ रहा? इसकी फुर्सत ही कहाँ रही? जब आत्मज्ञानी या योगी राग-द्वेष में बँधता नहीं तो उसके मन की एकाग्रता हमेशा ही बनी रहती है। उसमें बाधा तो कभी पड़ती नहीं। वह निरन्तर अविच्छिन्न रहती है। इसीलिए आत्मानन्द का अनुभव भी निरन्तर अविच्छिन्न रहता है। मन वश में है यह तो 'विधेयात्मा' से स्पष्ट ही है। इसीलिए कह दिया है कि सभी तकलीफों का खात्मा हो जाता है। न तो मानसपटल की गम्भीरता कभी भंग होती है और न यह बला आती है। इसी अविच्छिन्न गम्भीरता का ही नाम प्रसाद है।

जिनने गौर से 'ध्यायतो विषयान्' आदि दो श्लोकों को पढ़के उसी तरह बाद के 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु' आदि दो श्लोकों को भी पढ़ा होगा उन्हें साफ पता लगा होगा कि पहले दो श्लोकों में जो बात शुरू की गयी थी कि रागद्वेषादि के वशीभूत होने से कैसी दुर्गति होती है, उसी के बीच में ही बादवाले दो श्लोकों के जरिये सिर्फ एक शंका को दूर किया गया है जो उठ खड़ी हुई थी और जिसका स्वरूप हम अच्छी तरह बता चुके हैं। वह शंका एकाएक उठ गयी और मौजूँ भी थी। इसीलिए अपनी बात पूरी न करके पहले उसी का उत्तर देना जरूरी हो गया। तभी तो श्रोता आगे की उस प्रधान विषय से सम्बन्ध रखने वाली बातें अच्छी तरह सुन सकेगा। इसीलिए बादवाले श्लोकों के शुरूवाले शब्द के साथ ही 'तु' जुटा हुआ है। इसका अर्थ 'तो' होता है। यह वहीं आता है जहाँ बीच में ही कोई दूसरी या उलटी बात प्रासंगिक रूप में खड़ी हो जाय और जिसका उत्तर देना जरूरी हो जाय। ऐसी बात आगे भी गीता में ''यस्त्वात्मरतिरेव'' (3।17) आदि श्लोकों में आयी है। इसीलिए असली प्रसंग अभी पूरा नहीं हुआ है यह तो मानना ही पड़ेगा।

जो लोग ऐसा समझते हों कि वह प्रसंग तो पहले के उन दोई श्लोकों में पूरा हो गया उन्हें जरा भी सोचने पर अपनी भूल मालूम हो जायगी। देखिये न? उन दोनों के अन्त में यही तो कहा जाता है—'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'। मगर क्या अर्थ है? अगर पत्थर में बुद्धि नहीं है तो क्या वह चौपट हो गया? ऐसा कौन मानता है? विपरीत इसके बुद्धि न होने से ही तो उसे तकलीफ-आराम किसी बात का अनुभव नहीं होता। यह तो मानते ही हैं कि यह अनुभव ही तो संसार है, आफत है, बला है, बुरी चीज है। आनन्द का अनुभव तो होता भी शायद ही है। होता तो है अधिकतर कष्ट का ही। इसलिए इस दृष्टि से तो पत्थर अच्छा ही ठहरा । और आत्मा तो सर्वत्र है, सबों की है यह कही चुके हैं। फिर पत्थर उससे जुदा कैसे माना जायगा?

इसलिए चौपट होने का मतलब क्या?

और क्या पागलों में मस्ती नहीं होती? उनकी समझ चली गयी और वे सभी आफतों से अलग हो गये! मौज में विचरते फिरते हैं! नंगे हैं तो भी फिक्र नहीं है! गालियाँ पड़ रही हैं या आशीर्वाद मिल रहा है। मगर लापरवाह और बेगम हैं! फिर यह कैसे कहा जाय कि बुद्धि या समझ के चले जाने से ही मनुष्य नष्ट हो जाता है ? यह भी नहीं कि पागल लोग फौरन मर जायें। वे तो बहुत दिनों तक पड़े रहते हैं, जैसे दूसरे लोग। हाँ, यह जरूर होता है कि सभी रोग-बीमारियाँ लापता हो जाती हैं। लेकिन यह तो मनमाँगा वरदान ही समझिये।

एक बात और भी है। माना कि राग-द्वेष छोड़ के और उनके फन्दे में हर्गिज न पड़ के ही शरीरोपयोगी पदार्थों का सेवन करना चाहिए। मगर क्या इतने से ही सब आफतें खत्म हो जायँगी? जन्म-जन्मान्तर के संस्कार और राग-द्वेषों के बीज तो अन्तःकरण में पड़े ही रहते हैं। वह एकाएक तो चले जाते नहीं। इस शरीर में भी अभी-अभी हमने आसक्ति छोड़ के पदार्थों का सेवन शुरू किया है। मगर इससे पहले तो यह बात थी नहीं। तब तो आसक्ति थी ही। उसी के करते दिमाग में पहले के पदार्थ बैठे हैं जो खामख्वाह उमड़ पड़ेंगे और दिक करेंगे। आखिर सपने की तकलीफें ऐसी ही तो होती है। दिमाग में बीज रूप में पड़े पदार्थ ही तो सपने में उभड़ के जाने कौन-कौन सी आफतें ढाते रहते हैं। राग-द्वेष रहित हो के खानपान करने वाले के भी ये सपने कायम ही रहते हैं। वे एकाएक तो मिट जाते नहीं। फिर क्या हो? यह गन्दगी धुले कैसे? मिटे कैसे? किस साबुन से अच्छी तरह रगड़ के धोई जाय? यह तो हजारों जन्मों की पुरानी मैल है न? इसीलिए इसे हटाने में बहुत ज्यादा मिहनत, बार-बार की लगातार रगड़ दरकार होगी। सो क्या है यह तो मालूम है नहीं।

और जो यह कह दिया कि स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश हो जाता है—'स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः', इसके क्या मानी हैं? क्या सचमुच ज्ञान रही नहीं जाता और आदमी पत्थर हो जाता है? यह बात तो ठीक नहीं। क्रोध के बाद भी आदमी तो आदमी ही रहता है। रोज ही यह बात देखी जाती है। फिर पत्थर होने की कौन सी बात? और अगर यह नहीं है तो बुद्धि के नाश के मानी भी क्या हैं? किस क्रोधी की बुद्धि खत्म हो जाती है? थोड़ी देर तक खास ढंग का कोई पर्दा सा पड़ा रहता है। मगर पीछे तो पीछे, उस समय भी समझदारी के दूसरे काम तो वह करता ही रहता है। आखिर उस समय भी उसके सभी काम पागलों जैसे ही होते नहीं। यह ठीक है कि वह कुछ काम उस समय बेविचार के—विवेकशून्य—कर डालता है जिससे मुसीबतें बढ़ जाती हैं। इसी तरह बढ़ती रहती हैं भी। मगर इसे बुद्धिनाश तो कभी नहीं कह सकते। उसकी बेचैनी और परेशानी जरूर बढ़ जाती है, इसमें कोई शक नहीं है। इसके करते यह भी सम्भव है, उसे आराम न मिले। ऐसा ही प्रायः होता भी है। बेचैनी और परेशानी की आग बढ़ जाने पर चैन कहाँ? आराम कहाँ? मगर

वह चौपट नहीं होता। उसे बुद्धि भी रहती ही है।

इस तरह की अनेक बातों के रहते ही, और सुनने वाले के मन में इस प्रकार की शंकाओं के बनी रहने पर भी यह कह देना कि मूल प्रसंग पहले दो श्लोकों में ही पूरा हो गया, कोई मानी नहीं रखता। इसीलिए आगे के श्लोक उसी बात को पकड़ के यही बातें खुद पेश करते और इनसे बचने के उपाय सुझाते हैं। हमें यहीं पर यह जान लेना होगा कि जो कुछ अभी कहा गया है अगले श्लोक उसे मानते हैं। बुद्धिनाश का वही मतलब है जो अभी कहा गया है। उस समय विवेक से काम लिया जा सकता नहीं। इस तरह बेचैनी और मुसीबतें बढ़ती जाती हैं। और जो आदमी मुसीबतों में घिरा है वह तो मरने से भी बदतर है। उससे तो मरा कहीं अच्छा। अशान्त जीवन तो जहर ही समझिये, चौपट ही मानिए। आखिर शान्ति ही तो असल चीज है न?

आगे के श्लोकों ने जन्मजन्मान्तर के पुराने संस्कारों और राग-द्वेष के बीजों को जलाने के लिए—इस गहरी से गहरी गन्दगी को मिटाने के लिए—जिस नये साबुन का नाम लिया है, जिस लगातार चिरकालीन रगड़ का आविष्कार किया है उसे भावना कहते हैं। यही नाम उसे दिया भी है। जैसे रंग को गाढ़ा करके कपड़े पर चढ़ाने में कपड़े को रह-रह के रंग में डुबोते और सुखाते हैं। सोने को भी रह-रह के गर्म करके पानी में डुबाते और इस तरह उसे टंक बनाते हैं। मामूली लोहे को भी बार-बार आँच दे के पीटते और पानी में डुबाते हैं ताकि इस्पात हो जाय। ठीक यही बात रागद्वेषादि मैलों को धो बहाने के लिए भी की जाती है, करनी पड़ती है। बार-बार सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करके मन को रोकते और आत्मतत्त्व-में ही लगाते हैं। हर मौके पार सजग रह के यही करते हैं। इसे ही पातंजल योग में ध्यान, धारणा और समाधि कहा है। इन तीनों को मिला के संयम नाम दिया है—'त्रयमेकत्र संयमः' (3।4) गीता ने भी आगे 'संयमी' (2।69) में यही कहा है। इनमें ध्यान नीचे दर्जे की चीज है। उसके बाद धारणा आती है। ध्यान करते-करते मजबूती आने पर धारणा और उसकी मजबूती होने पर समाधि का समय आता है। इन तीनों के पूरा होने पर—संयम की पूर्णता हो जाने पर—अन्तःकरण की, बुद्धि की सारी की सारी युग-युगान्तर की मैल जल-धुल जाती है। फिर तो वह निर्मल हीरे की ही तरह धप्-धप् हो जाती है। इसके बाद अखण्ड विज्ञान का व्यापक एवं सनातन—अचल—प्रकाश होता है। इसीलिए पतंजलि ने भी कहा है—'तज्जयात् प्रज्ञालोकः' (3।5)। उस प्रचण्ड प्रकाश—उस द्वादश आदित्य—के सामने अज्ञान और अन्धकार का पता कहाँ?

इसी संयम, इसी भावना के करते मन आत्मा के ही रंग में रंग जाता है—कभी भी इधर-उधर टस से मस नहीं होता। उसमें अब ऐसा करने की योग्यता एवं शक्ति ही नहीं रह जाती है। इसीलिए निर्वात समुद्र के जल की तरह एकरस, गम्भीर और शान्त रहता है। उसकी यह निश्चलता, निष्क्रियता, शान्ति अखण्ड हो जाती है। फलतः

योगी उसमें लहलहाते आत्मानन्द का अनुभव दिन-रात सोते-जागते करता ही रहता है। एक क्षण के लिए भी उसके सामने से वह आनन्द—वह मजा—ओझल हो पाता नहीं, हो सकता नहीं। मगर जो यह नहीं कर सकता है; जिसे भावना का अवसर नहीं मिला वह हमेशा बेचैन और परेशान रहता है, अत्यन्त अशान्त रहता है। फिर उसे सुख कहाँ? उसे सुख मयस्सर क्यों हो?

हमें यह भी जान लेना होगा कि इस भावना के लिए विवेक की तो जरूरत हई। वही तो इसके मूल में है। जब तक हमें बखूबी आत्मतत्त्व का और रागद्वेषादि का पता न चल जाय और यह न मालूम हो जाय कि इनमें कैसे फँसते हैं तब तक हम मन को रँगेंगे कैसे? तब तक उसे सब आफतों से खींच के आत्मा या कर्म में ही लगायेंगे कैसे? सभी बातें जान लेने पर ही तो आगे कदम बढ़ायेंगे। इसीलिए भावना के पहले बुद्धि या विवेक जरूरी है। रँगरेज रँगने की सारी प्रक्रिया अच्छी तरह जब तक न जाने सुन्दर रंग चढ़ायेगा कैसे?

मगर यही बुद्धि चौपट होती है जिस रीति से उसी का वर्णन पहले 'ध्यायतो विषयान्' में किया गया है। इसलिए वहाँ कहे गये विषयों के खयाल से लेकर स्मृति-विभ्रम तक की सारी बातें, जिनका परिणाम बुद्धि नाश है, एक ही जगह मिला के योगभ्रष्टता कहते हैं। छठे अध्याय में जिस योगभ्रष्ट और योगभ्रष्टता की बात कही गयी है वह भी कुछ इसी तरह की चीज है। उसमें पातंजल योग भी भले ही आ जाय। मगर यह तो हई, यह बात पक्की है। यदि हम गौर से उन सभी बातों को देखें जो इन दो श्लोकों में लिखी हैं तो हमें मानना ही होगा कि जो लोग गीतोक्त योगी नहीं होते हैं, मुक्त नहीं होते हैं, किन्तु उस स्थान से गिर पड़ते और पतित हो जाते हैं—च्युत और अयुक्त हो जाते हैं, उन्हीं में ये बातें अक्षरशः पाई जाती हैं। फलतः उन्हें बुद्धि होती ही नहीं। फिर भावना कैसी? भावना के अभाव में शान्ति भी कहाँ? और जब शान्ति ही नहीं, तो सुख कैसा? आनन्द कहाँ? यही बात आगे के 66वें श्लोक में कहने के उपरान्त बादवाले दो श्लोकों में इसी का विवरण दे के उपसंहार किया है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।। 66।।

अयुक्त को बुद्धि ही नहीं होती। जिसे बुद्धि ही न हो उसे भावना भी नहीं होती। जिसे भावना न हो उसे शान्ति नहीं मिलती। जिसे शान्ति ही नहीं उसे सुख कहाँ? 66।

यहाँ एक जरा सी बात सोचने की है। श्लोक के देखने से पता चलता है कि यहाँ कोई शृंखला है जिसकी लड़ें एक के बाद दीगरे आयी हैं। यदि नीचे से ही शुरू करें तो सुख के पहले शान्ति तथा उसके पहले भावना की तीन लड़ें मिल जाती हैं। शुरू में भी योग के बाद बुद्धि के आने से योग और बुद्धि की भी लड़ें

जुटती हैं। मगर बीच में 'न चाबुद्धस्य भावना' कहने के बजाय 'न चायुक्तस्य भावना' कह दिया है, जिससे बुद्धि के साथ भावना की लड़ी जुट जाने से आगे भावना से शान्ति की जुटान आदि को ले के पूरी शृंखला तैयार हो जाने के बजाय टूट सी जाती है, प्रसंग विशृंखल हो जाता है। यह कुछ ठीक जँचता भी नहीं कि योग का बुद्धि से और बुद्धि का ही भावना से सीधा सम्बन्ध जोड़ने के बजाय योग का ही सीधा सम्बन्ध दोनों से जुटे। यह असम्भव सा भी लगता है। क्योंकि यदि योग जुट चुका है बुद्धि के साथ, तो फिर भावना से कैसे जुटेगा? और अगर ऐसा मानें भी तो फिर शान्ति और सुख के साथ भी उसी को सीधे क्यों न जोड़ा जाय? इसीलिए हमने दूसरे अयुक्त शब्द का अबुद्ध ही अर्थ किया है और कहा है कि बिना बुद्धि के भावना होती ही नहीं। असल में, जैसा कि पहले ही कह चुके हैं, योग में भी बुद्धि ही वास्तविक चीज है। इसीलिए 'बुद्धियोगाद्धनंजय' (2।49) में बुद्धि को ही योग कहा भी है। इसीलिए जान पड़ता है, यहाँ भी 'अबुद्धस्य' की जगह 'अयुक्तस्य' कह दिया है। ताकि बुद्धि पर ही जोर दिया जा सके।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।67।।

क्योंकि (विषयों में) रमने वाली इन्द्रियों के पीछे जब मन लग जाता—चल जाता—है तो (अपने साथ ही) बुद्धि को भी (विवश करके) वैसे ही खींच लेता है जैसे मझधार में पड़ी नाव को वायु (विवश करके इधर-उधर खींचता और अन्त में डुबो देता है)।67।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।68।

इसीलिए हे महाबाहो, जिसकी सभी इन्द्रियाँ (अपने-अपने सभी) विषयों से पूरी तरह खींच ली गयी हैं उसी की बुद्धि स्थिर होती है।68।

इन दो श्लोकों में दो बातें हैं, जिन पर दो शब्द कह देना है। जिस तरह हवा के झकोरे में पड़ी नाव विवश हो के इधर-उधर भटकती और अन्त में डूबती या छिन्न-भिन्न होती है; फिर भी नाववाले कुछ कर नहीं सकते। ठीक उसी तरह इन्द्रियों का साथी मन हो जाने पर हालत होती है। बुद्धिरूपी नाव के लिए इन्द्रियों का वेग हवा के झकोरे का काम करता है। उसकी सफलता के लिए जिस मझधार की जरूरत है उसका काम वही मन पूरा कर देता है। मझधार न होने पर हवा के तेज से भी तेज झोंके नाव का खाक नहीं बिगाड़ सकते। इन्द्रियाँ भी मनुष्य का कुछ कर नहीं सकती हैं यदि उनका साथी मन न मिल जाय। मन के मिलने का अर्थ ही है रागद्वेष-पूर्वक पदार्थों का भोगा जाना। फिर तो सब ज्ञान-ध्यान खत्म। बुद्धि का भी होश फाख्ता ही समझिये। असल चीज यह मनीराम ही है। यही जिधर चलते हैं उधर ही सब कुछ होता है। जब ये इन्द्रियों की ओर चले तो बुद्धि पर भी वारंट जारी

हुआ और जबर्दस्ती बाँध-छान के उधर ही घसीटी गयी! और अगर ये हजरत बुद्धि की तरफ आ गये तो इन्द्रियाँ बेकार सी हो गयीं। वे हाथ जोड़ें बुद्धि की ही मातहती करती और हुक्म बजाती हैं। इन्हें तो खींचने की भी जरूरत नहीं होती। खुद हाथ जोड़े हाजिर रहती हैं और बुद्धि के काम में मदद करती हैं। वह तो अपना काम निर्बाध करती ही रहती हैं।

इसलिए विषयों से इन्द्रियों को बखूबी रोक रखने का यह मतलब हर्गिज नहीं है कि खाना-पीना, देखना-सुनना, पढ़ना-लिखना सब कुछ बन्द हो जाय। तब तो आफत ही आ जायगी और कोई भी काम होई न सकेगा। आखिर भावना के लिए भी तो शरीरोपयोगी काम करना जरूरी होता ही है। मर जाने से तो कुछ होगा नहीं। जबर्दस्ती करने में तो मरने में भी फजीती होगी। श्लोक में 'निगृहीत' शब्द है। निग्रह कहते हैं दण्ड को। जिस तरह दण्डित आदमी, बन्दी या कैदी काम-धाम तो सब कुछ करता है; मगर उसकी आजादी जाती रहती है; वह तकुवे की तरह सीधा बन के शैतानियत छोड़ देता है। ठीक यही हालत इन्द्रियों की होती है। ये भी कैदी की तरह हुक्म बजाती हैं, सब कुछ करती हैं, और तकुआ बन जाती हैं।

परन्तु यह बात असम्भव जैसी मालूम होती है और साधारण आदमी के दिमाग में घुसती ही नहीं। विषयों को जरूरत भर काम में इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा लायेंगे भी और हमें कुछ पता भी न चलेगा कि इनमें क्या मजा है, यह कुछ अजीब बात है। जिन्हीं इन्द्रियों से विषयों को भोगेंगे, उनका अनुभव करेंगे वही तो उसी के साथ उनका मजा भी बताई देंगी। इसके लिए उन्हें दूसरा काम, दूसरा यत्न तो करना होगा नहीं। यह काम एक ही साथ होगा। असल में भोग का अर्थ ही है मजा लेना, सुख-दुःख का अनुभव करना। भोग इसी को कहते ही हैं—"सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः"। फिर यह क्या बात कि मजा न आये; हम चसकें नहीं, या मन में ये बातें न आयें?

इसका उत्तर भी सुन्दर है। जिसे फाँसी की सजा हो, फाँसी दी जाने वाली ही हो उसे आप चाहे सुन्दर से भी सुन्दर पदार्थ खिलाइये और कोमल से भी कोमल शैया पर सुलाइये। मगर जरा पूछिये तो सही कि उसे कुछ भी मजा आता है? उसे तो पता ही नहीं चलता कि वह क्या खा-पी रहा है और कहाँ सो रहा है। उसका मन मौत में जा के अटक जो गया है। उसके सामने तो मौत बराबर खड़ी है। जरा भी हटती नहीं। फिर मजा आये तो कैसे? यहाँ तो मौत आयी हुई है और हटती ही नहीं, दूसरों को जगह देती ही नहीं। इसी तरह नृत्यकला में कुशल नटी को खड़ा कीजिए और उसकी कला की जाँच कीजिए तो देखिए क्या होता है। उसके सिर पर पानी से भरा एक पात्र रख के बिना उसे हाथ से पकड़े नाचने को कहिये। वह बराबर बाजे-गाजे के ताल-सुर में ही ठीक-ठीक नाचेगी, जरा भी फर्क न पड़ेगा। मगर उसका मन निरन्तर उस जलपूर्ण पात्र में ही लगा होगा। नहीं तो जरा भी चूकते

ही वह नीचे जा गिरेगा और नटी नृत्यकला की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जायगी।

ठीक यही हालत योगी, समदर्शी और आत्मतत्त्वज्ञ मस्तराम की भी समझिये। इनके मनीराम तो उधर ही टँगे रहते हैं, फँसे और लटके रहते हैं। दूसरे काम की इन्हें फुर्सत हई नहीं। फिर चस्का लगे तो कैसे? मजा आये तो कैसे? नटी के ताल-सुरवाले नृत्य की तरह मस्तराम भी खाना-पीना सब कुछ करते ही हैं। मगर मजा नहीं रहता, रस नहीं मिलता! उनके लिए सारी दुनिया जैसे अँधेरे की चीज हो, भादों की घोर अँधियाली की बात हो। इसलिए जिन चीजों में दूसरों को मजा आता है उनका उन्हें पता ही नहीं चलता। अँधियाली की चीजों का पता किसे चले, सिवाय उल्लू के? मगर जिस तरह मस्तराम लगे हैं, जिधर वे जगते हैं, जिधर उन्हें प्रखर प्रकाश और उजियाली है, जहाँ उनके लिए बिना लैम्प, चाँद, सूरज और आग के ही खुद-ब-खुद अखण्ड प्रकाश है—'आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति', 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (वृहदा. 4।3।6-8), वहाँ बाकी लोगों के लिए काली अँधियाली है, भादों की रात है। फलतः वे लोग कुछ भी जान पाते नहीं। आखिर दोनों मजा मारेंगे कैसे? एक को तो छोड़ना ही होगा। यही बात आगे का श्लोक कहता है। "पश्यतो मुनेः" का अर्थ ही यह है कि उसकी भीतरी आँखें बराबर खुली हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। 69।

सब लोगों के लिए जो रात है उसमें संयमी—योगी—जागता है। (और) जिसमें लोग जागते हैं निरन्तर भीतरी आँखें खुली रखने वाले उस मुनि—मननशील—के लिए वही रात है। 69।

इस तरह पदार्थों के भोग की बात जो कही गयी है उसका निचोड़ कह देना जरूरी है। क्योंकि सभी तो इतने गहरे पानी में उतर सकते नहीं कि इन लम्बी-चौड़ी बातों को समझ सकें। साथ ही, ऐसे आदमी की क्या हालत रहती है जो औरों को भी साफ-साफ मालूम हो जाती है, यह बता देना भी जरूरी है। ताकि योगी भी अपने आपको लोकमत की तराजू पर बराबर तौलता रहे। दूसरे लोग भी उसकी पहचान करके उससे फायदा उठा सकें, कुछ सीख सकें। इसीलिए नर्त्तकी या फाँसीवाले की अपेक्षा एक तीसरा दृष्टान्त, जो सब दृष्टियों से अनुकूल हो, पेश करके 'कैसे बैठता है' प्रश्न के उत्तर का और इस प्रसंग की सारी बातों का एक तरह का उपसंहार अगले श्लोक में करते हैं। बचे-बचाये आखिरी प्रश्न 'कैसे चलता है' का उत्तर तो उसके बादवाले श्लोक में दिया गया है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।। 70।

सभी तरफ से निरन्तर पानी के आते रहने पर भी जिसका पानी जरा भी बढ़ता नजर नहीं आता और ज्यों का त्यों बना रहता है—जिसमें जरा भी उफान नहीं आता,

ऐसे समुद्र में घुस के उसी का रूप बन जाने वाले पानी की ही तरह सभी भौतिक पदार्थ जिस (पुरुष) के पास आते हैं (और उसकी गम्भीरता में जरा भी फ़र्क डाल नहीं सकते), वही शान्ति प्राप्त करता है, न कि पदार्थों के लिए हाय-हाय मचाने वाला। 70।

इस श्लोक में जो खूबी है वह यही कि इससे योगी और आत्मज्ञानी के बाहरी लक्षण का पता लगने के साथ ही इसमें कही गयी बात बहुत मार्के की है। यहाँ 'समुद्रमापः' और 'यं प्रविशन्ति' में द्वितीयान्त शब्द आये हैं 'समुद्रं' तथा 'यं'। हालाँकि—समुद्र में पानी जाता है, इस मानी में 'समुद्रे' जैसी सप्तमी विभक्ति चाहिए और 'यं' की जगह भी 'यस्मिन्' चाहिए। किन्तु वैसा कहने पर कुछ ऐसा मालूम होने लगता है कि चाहे जो हो, फिर भी पानी समुद्र में निराली ही चीज है। क्योंकि वह पानी के पात्र की तरह आधार बन जाता है। पात्र में रहने वाले पानी की ही तरह वहाँ जाने वाला भी उससे जुदा आधेय बनता है। मगर द्वितीय विभक्ति में यह बात नहीं रह जाती है। उससे तो साफ ही मालूम होता है कि पानी समुद्र का ही रूप बन गया—उसी में विलीन हो के तद्रूप बन गया। या यों कहिए कि पानी अपने आप में ही जा मिला। इसी तरह पदार्थ भी जब योगी के पास जायें तो ऐसा हो जाय कि अपने आपके ही पास आये हैं। क्योंकि आत्मा तो सभी की है और योगी सभी की आत्मा बन चुका है, वह 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' (5।7) बन चुका है। फिर अपने आपसे ही अपनी लड़ाई या अपने ही करते अपने में उफान और बेचैनी कैसी? वहाँ तो भेद रही न गया। फिर बेचैनी का क्या सवाल? वहाँ तो मालूम पड़ता है, न कोई आया न गया! जैसी दशा पदार्थों के मिलने के पूर्व थी वैसी ही मिलने पर और बाद में भी रह गयी! जरा भी फर्क नहीं आया!

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।। 71।।

(इसलिए) सभी पदार्थों को छोड़ के—उनकी जरा भी परवाह न करके—जो पुरुष निःस्पृह विचरता है और जिसमें माया-ममता—अहन्ता ममता—जरा भी नहीं होती, वही शान्ति प्राप्त करता है—उसी को शान्ति मिलती है। 71।

अहन्ता और ममता ही तो सारी खुराफातों की जड़ हैं। मैं और मेरा यही तो है अहन्ता और ममता। अहम् और मैं, मेरा और मम एक ही अर्थ में आते हैं और यही हैं जहर जिससे सभी मरते हैं। यह खयाल ही है कालानाग जिसके डसते ही सभी मर जाते हैं। योगी में यही नहीं होता। फिर पदार्थों की उसे क्या परवाह? किसी दण्डी महात्मा से जब एक ने, जो बड़ा मगरूर मालदार था, पूछा कि महाराज, संन्यासी किसे कहते हैं? तो उनने चट उत्तर दिया कि तुमसे ले के ब्रह्मा तक को जो तृण के बराबर भी न समझे वही संन्यासी है। यही लापरवाही और बेफिक्री मस्ती की असली निशानी है। इसीलिए ऐसा आदमी मस्त हो के सर्वत्र विचरता है और शान्ति

उसके चरण चूमती रहती है। उसका तो मन जहीं जाता है वहीं समाधि है—'यत्रयत्रमनोयाति तत्रतत्रसमाधयः'। निर्मम के बारे में पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। 72।।

हे पार्थ, यही ब्राह्मी स्थिति (कही जाती) है। इसे हासिल कर लेने पर फिर मोह नजदीक फटक सकता नहीं। अन्त समय में भी इस दशा में आ जाने वाला (मनुष्य) निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। 72।

यह श्लोक आत्मविवेक और योग के समूचे निरूपण का और इसीलिए दूसरे अध्याय का भी उपसंहार है। जिस मस्तीवाली हालत का वर्णन अभी-अभी किया है उसी का नाम यहाँ ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। चाहे उसे योगी की दशा कहिये, स्थितप्रज्ञ और स्थिरबुद्धि की हालत कहिये, युक्त और मस्त की मौज कहिये, साम्यावस्था या समदर्शन कहिये। सब एक ही बात है—एक ही चीज के अनेक नाम हैं। इस मस्ती में आने पर प्रियतम, सर्वप्रिय आत्मा या माशूक से सपने में भी जुदाई होती ही नहीं। फिर मोह या भूलभुलैया कैसी? इसीलिए मस्तराम सदा मुक्त ही है। उसे कहीं आना-जाना है नहीं—न बैकुण्ठ, न ब्रह्मलोक। उसका तो शरीर ही उससे अलग होता है, न कि वह किसी से भी अलग हो सकता है। यह मस्ती यदि पहले से ही हो तो सोने में सुगन्ध ही समझिये। नहीं तो शरीरान्त से पहले भी आ जाने पर निर्वाण मुक्ति धरीधराई है। निर्वाण का अर्थ है जाने-आने से रहित। उसकी तो आत्मा ब्रह्म रूप हई। फिर आना-जाना कहाँ और कैसा?

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगोनामद्वितीयोऽध्यायः।। 2।।

श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में (जो) उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योगशास्त्र (है उस) में जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है। उसका सांख्य-योग नामक दूसरा अध्याय यही है।

तीसरा अध्याय

तीसरे अध्याय का श्रीगेणश अर्जुन के प्रश्न से ही होता है। वह प्रश्न भी कर्म के ही बारे में किया गया है। इससे साफ हो जाता है कि दूसरे अध्याय के 39वें श्लोक में जिस योग या कर्मयोग के निरूपण का सूत्रपात किया गया था, वही उस अध्याय के अन्त तक होता रहा है। क्योंकि बीच में यदि कोई दूसरी बात खासतौर से आने को होती तो अर्जुन का यह प्रश्न यहाँ न हो के वहीं हो जाता। जब कर्म के ही सम्बन्ध में यह सवाल है तब तो उसका पूरा निरूपण हो जाने और उसके मुतल्लिक सारी बातें सुन लेने के बाद ही फौरन इसे आना चाहिए। नहीं तो यों ही हवाई बात होने के कारण प्रधान विषय से इसका ताल्लुक रही न जायगा। इसीलिए और बातों के निरूपण का प्रसंग आते ही अर्जुन फौरन खामख्वाह यही प्रश्न पहले ही पूछ बैठता और इस प्रकार कृष्ण को मौका ही न देता कि दूसरा विषय छेड़ दें। क्योंकि तब तो कर्म की बात नीचे पड़ जाती और वह नया विषय ही ऊपर आ जाता। इसीलिए यह तो निर्विवाद है कि कर्मयोग वाली बात ही इसके पहले या यों कहिये कि दूसरे अध्याय के अन्त तक आयी है।

यह भी तो विदित होई चुका है कि इस कर्मयोग के निरूपण के सूत्रपात से लेकर अन्त तक जो बातें कही गयी हैं उन पर अध्यात्मज्ञान, तत्त्वविवेक, मनोनिरोध और मस्ती की मुहर कदम-कदम पर लगी हुई है। मालूम होता है कि ये सभी बातें कर्मयोग के प्राण की तरह, जीवन बिन्दु की तरह हैं। फलतः इनके अलग करते ही कर्मयोग कुछ रही नहीं जायगा—वह निरा कर्म रह जायगा। क्योंकि इन बातों को कर्मयोग से अलग करने का सीधा अर्थ हो जायगा कर्मयोग से योग को ही निकाल के कर्म को उसी रूप में छोड़ देना और अकेले रहने देना जिस रूप में आमतौर से हमेशा से पाया जाता है। कर्म के उस रूप को ही ले के गीता ने अपने निराले करिश्मे और अलौकिक मन्तर-यन्तर के रूप में उसे परिमार्जित एवं शुद्ध करने का उपाय निकाला है। गीता के इस उपाय के पहले का कर्म खाँटी, लोहे या पारे के ढंग का है। जिसका जरा भी प्रयोग मारक बन जाता है, अनेक व्याधियों को पैदा करता है—जन्म-मरण के चक्र एवं उससे उत्पन्न संकटों का अनवरत प्रवाह जारी

रखता है। गीता का उपाय उस लोहे या पारे को भस्म करके—मार के—अमृत बना देता है, रस बना देता है, जिसके सेवन से न सिर्फ व्याधियाँ दूर होती हैं, किन्तु अपार शक्ति मिल जाती है। इसीलिए कृष्ण ने इस उपाय की, इस तरकीब की, इस हिकमत और बुद्धि की—अक्ल और युक्ति की—खूब ही प्रशंसा की है कि इस बुद्धिरूप योग की अपेक्षा कर्म अत्यन्त तुच्छ है—'दूरेणह्यवरंकर्म' (2।49)। उसी श्लोक में इस योग, उपाय या हिकमत को बुद्धि ही कहा भी है। उसके पहले के 'यावानर्थ उदपाने' (2।46) में भी इस ज्ञान या बुद्धि की प्रशंसा की है और कहा है कि इसी से सब काम चल जाता है।

इसी के साथ 'एषातेऽभिहिता' (2।39) में यह साफ ही कह दिया है कि दो मार्ग स्वतन्त्र रूप से पाये जाते हैं—एक है सांख्य या सांख्ययोग का मार्ग और दूसरा है योग या कर्मयोग का मार्ग। संक्षेप में इन्हें सांख्य और योग या ज्ञान और कर्म के मार्ग भी कहते हैं तथा ज्ञानयोग एवं कर्मयोग भी । यह भी साफ ही है कि कर्मयोग के मार्ग में भी यह ज्ञान लगा ही है। अर्जुन बहुत ज्यादा बारीकी समझ सका भी नहीं। उसने सीधे और साफ देख लिया कि ज्ञान या बुद्धिवाला सांख्य मार्ग हर तरह से उत्तम बताया गया है। उसके मुकाबिले में दूसरे या कर्म के मार्ग की कोई गिनती नहीं है। यदि कर्म कर्मयोग बन जाता भी है तो इस अध्यात्मज्ञान के करते ही। फिर तो निस्सन्देह यही सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ है, उसने यही निष्कर्ष निकाला। मगर इसी के साथ उसने यह भी देखा कि 'तस्माद्युध्यस्व' (2।18), 'उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः' (2।37) तथा 'युद्धाय युज्यस्व' (2।38) में साफ ही मुझे युद्ध करने की आज्ञा दे के इस युद्धात्मक घोर कर्म में ही लगाया जा रहा है और बार-बार कहा जा रहा है कि सोच-फिक्र न कर, चिन्ता मत कर, आदि-आदि। वह कृष्ण को अपना सबसे बड़ा हितेच्छु मानता था। इसीलिए वह आगा-पीछा में पड़ गया कि यह क्या बात है? एक ओर तो ज्ञान मार्ग सर्वोत्तम बताया जा रहा है। दूसरी ओर मेरे लिए हिंसामय युद्ध ही कर्तव्य कहा जा रहा है! वह घबरा गया और इसी पसोपेश में पड़ के कुछ भी निश्चय न कर सकने के कारण कृष्ण से—

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्कि कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।1।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।2।।

अर्जुन ने पूछा—हे जनार्दन, हे केशव, यदि कर्म की अपेक्षा बुद्धि—ज्ञान—को ही श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर (हिंसात्मक युद्ध जैसे) घोर कर्म में मुझे क्यों लगाते हैं? (असल में) आपके बीच-बीच में मिले-जुले वचनों से ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे

मुझे घपले में डाल रहे हों। इसलिए पक्कापक्की निश्चय करके दोनों में एक को ही मुझे बताइये, जिससे मैं कल्याण प्राप्त कर सकूँ। 1।2।

यहाँ कृष्ण पर दो इल्जाम लगे मालूम होते हैं। पहला यह कि साफ-साफ नहीं बोल के कभी ज्ञान की बात और बड़ाई करते हैं तो कभी कर्म की, और कभी फिर उलट के कर्म की, तब ज्ञान की। इससे सफाई तो हो पाती नहीं। किन्तु उलटे सुननेवाला घपले में पड़ जाता है। इसीलिए दूसरा इल्जाम यही है कि बुद्धि को पसोपेश और घपले में डालते हैं। मगर असल में तो ये इल्जाम हैं नहीं। भला, अर्जुन जैसे शरणागत के साथ कृष्ण ऐसा क्यों करने लगे? वह तो किसी के भी साथ ऐसा नहीं कर सकते थे। फिर अर्जुन की तो बात ही जाने दीजिए। इसीलिए—और अर्जुन उन पर यह इल्जाम लगाता भी कैसे? यह तो बड़ी भारी गुस्ताखी और छोटे मुँह बड़ी बात हो जाती—इसलिए भी दूसरे श्लोक में दो बार 'इव' आया है, जिसका अर्थ यही है कि मुझे मालूम होता है कि आप ऐसा कर रहे हैं। हो सकता है, इसमें मेरी समझ का ही दोष हो। अर्जुन वह दोष अपने माथे पर ही लेने को तैयार भी था। क्योंकि वह तो शरणागत शिष्य बन चुका था। फिर दूसरी हिम्मत करता तो कैसे? इसीलिए वह अब ऐसी सफाई चाहता है जिससे बखूबी समझ जाय और सन्देह की गुंजाइश रही न जाय।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।3।।

श्री भगवान् ने उत्तर दिया—हे पापरहित (अर्जुन), इस संसार में दो प्रकार के मार्ग हमने पहले ही—पूर्व समय में—ही बताये हैं (एक तो) ज्ञानियों का ज्ञानयोग और दूसरा योगियों का कर्मयोग। 3।

यहाँ 'पुरा' शब्द का कुछ लोग 'पहले' अर्थ करके दूसरे अध्याय में कही गयी दो निष्ठाओं या बताये गये दो मार्गों को ही पुरा शब्द से लेते हैं; क्योंकि तीसरे अध्याय के पहले वह बात आ चुकी है। मगर यह बात ठीक नहीं है। पुरा का अर्थ है असल में पूर्व समय में। यही अर्थ गीता में इसी पुरा शब्द का आगे दो बार माना भी गया है। वहाँ किसी ने भी इसका दूसरा अर्थ स्वीकार नहीं किया है। एक तो तीसरे ही अध्याय में "सहयज्ञाः प्रजास्सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः" (3।10) में और दूसरा "यज्ञाश्च विहिताः पुरा" (17।23) में। गीता में तीन ही बार यह शब्द आया है। इसमें दो बार तो सबों ने 'पूर्व समय में' यही अर्थ करके "सृष्टि के आदि या युगों के आरम्भ में" यही मानी लगाया है। यही ठीक भी है। फिर दूसरा अर्थ हो गया कैसे? दूसरे अर्थ में तो यह भी दिक्कत है कि पुरा का अर्थ होगा पूर्व स्थान में। तभी तो 'दूसरे अध्याय में' यह अर्थ हो सकेगा। मगर 'पूर्व स्थान में' यह इस शब्द

का अर्थ आज तक कहीं किसी ने माना ही नहीं है। यह भी दिक्कत है कि ऐसी दशा में 'लोकेऽस्मिन्' शब्द का कोई मेल खा सकेगा नहीं। क्योंकि दूसरे अध्याय ने तो साफ ही 'एषातेऽभिहिता' में 'तुझे कहा' ऐसा लिखा गया है। नहीं तो फिर वहाँ भी 'ते' की क्या जरूरत थी? वहाँ भी 'लोके' कह देते, ताकि यहाँ बेखटके वही मान लिया जाता। 'लोक एषोदिता साख्ये बुद्धिर्योगे त्विमांशृणु' ऐसा सुन्दर श्लोक भी अनायास बन सकता था। और अगर आगे लिखी कर्मयोग की परम्परा पुराने समय वाली ही मानी गयी है, तो कर्मयोग का उपदेश भी पुराने समय का ही क्यों न माना जाय? क्योंकि बिना ऐसा हुए उसकी परम्परा पुराने समय वाली कैसे होगी? फिर उसी का स्मरण यहाँ भी पुरा शब्द से क्यों न माना जाय? गीता में जहाँ पहले कही बात को ही याद कर लेना हो वहाँ तो 'पुरा' जैसा कोई शब्द न कह के केवल इतना ही कह देते हैं कि यह बात कह चुके हैं। जैसे "दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु" (16।6)। यदि ऐसी ही बात होती तो यहाँ भी वैसा ही कहते। उसी (16।6) श्लोक में पुराने जमाने की बात है उसे 'द्वौ भूतस्वर्गौ लोकेऽस्मिन्' (16।6) कहा है और वही 'लोकेऽस्मिन्' यहाँ भी है। फिर वैसा ही अर्थ यहाँ भी क्यों न हो?

यहाँ निष्ठा का अर्थ है मार्ग या रास्ता, जिसे अंग्रेजी में कोर्स (Course) या प्रोसेस (Process) कहते हैं। स्कूल्स ऑफ थाट्स (School of thoughts) भी उसी को कहा जाता है। निष्ठा का शब्दार्थ है किसी बात में अपने को लगा देना, अर्पित कर देना, उसी में जीवन गुजार देना। ये दोनों मार्ग और दोनों विचारधाराएँ ऐसी हैं जिनमें एक-एक में जाने कितने सहस्र, कितने लक्ष महापुरुषों ने अपने जीवन लगा दिये हैं, अपने को मिटा दिया है। इसका जिक्र आगे चौथे अध्याय में है। महाभारत तथा अन्यान्य ग्रन्थों एवं उपनिषदों में भी इसका वर्णन बहुत ज्यादा आया है। कृष्ण अपनी आत्मा को सभी ऋषि-मुनियों की आत्मा के रूप में ही अनुभव करते हुए बोलते हैं कि मैंने ऐसा कहा है। फलतः कृष्ण का उपदेश उन सबों का ही उपदेश है। कृष्ण की इस मनोवृत्ति पर हम काफी प्रकाश पहले ही डाल चुके हैं। सांख्य और योग का भी अर्थ बता चुके हैं।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।4।।

(लेकिन कोई भी) आदमी कर्मों को शुरू न करके कर्मत्याग या संन्यास प्राप्त कर सकता नहीं। (और खामखा) कर्मों के त्याग से ही सिद्धि नहीं मिलती—इष्ट या कल्याण की—मोक्ष की—प्राप्ति नहीं हो जाती।4।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।5।।

(यह भी तो है कि) कोई भी क्षणभर भी बिना कर्म किये रही नहीं सकता।

क्योंकि प्रकृति के गुणों से मजबूर हो के सभी को कर्म करना ही होता है। 5।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। 6।।

(इसलिए) जो (हाथ, पाँव आदि) कर्म करने वाली इन्द्रियों को (जबर्दस्ती) रोक के मन से इन्द्रियों के विषयों को याद करता रहता है वह ढोंगी कहा जाता है। 6।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।। 7।।

(विपरीत इसके) हे अर्जुन, जो तो इन्द्रियों को मन के अधीन करके कर्मेन्द्रियों से काम करना शुरू कर देता है। (और फलादि के लिए) हाय-हाय करता नहीं रहता वही अच्छा है। 7।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। 8।।

(इसलिए) तुम अपने लिए निश्चित कर्म (जरूर) करो। क्योंकि न करने से करना कहीं अच्छा है। (आखिर) कर्म सर्वथा छोड़ देने पर तुम्हारी शरीर-यात्रा भी तो न चल सकेगी। 8।

यहाँ पर 4 से 8 तक के श्लोकों के बारे में कुछ जरूरी बातें जान लेने की हैं। चौथे का आशय यही है कि बिना कर्म किये कर्म का त्याग या संन्यास असम्भव है और खामख्वाह कर्म छोड़ देने से ही कुछ होता जाता नहीं। इसमें दो बातें हैं। एक यह कि जब कर्म करते ही नहीं तो उसे छोड़ने के मानी क्या होंगे? जो चीज हमारे पास हई नहीं उसे त्यागना क्या? यह तो प्रवंचना मात्र है, महज झूठी बात है। इसी को 'अशक्तः परमः साधुः' या 'वृद्धवेश्या तपस्विनी' कहते हैं। असल में जब तक वर्णमाला पढ़ न लें उससे पिण्ड छूटता ही नहीं। जब कभी ग्रन्थों के पढ़ने का प्रश्न उठता है तो वह वर्णमाला पहाड़ की तरह सामने खड़ी हो जाती है कि हमें पूरा करो—पार करो। बड़े ग्रन्थों के पढ़ने का अर्थ है वर्णमाला के पढ़ने का त्याग। मगर वह त्याग हो पाता नहीं जब तक वर्णमाला पढ़ ली न जाय। ठीक यही बात संन्यास या कर्म-त्याग की है। निदिध्यासन और समाधि, जो आत्मविज्ञान के लिए ही नहीं, बल्कि सभी विज्ञानों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं, बिना कर्मों के त्याग के होई नहीं सकते। कर्मों का तो पँवारा ऐसा है कि चौबीस घण्टे उनसे फुर्सत होती ही नहीं। अगर यही रहे तो निदिध्यासन और समाधि कैसी? उनका मौका ही कहाँ होगा? इसलिए उनके करने का अर्थ ही है कर्मों का त्याग। मगर जब तक कर्म न करें निदिध्यासन आदि की योग्यता होगी ही नहीं। फिर कर्मों के त्याग का प्रश्न ही कहाँ उठता है? इसकी जरूरत होती है कहाँ? और अगर इतने पर भी खामख्वाह त्याग किया जाय तो साफ ही कह देते हैं कि इससे कुछ भी होता जाता नहीं। यह तो ठगी और प्रवंचना है। यह तो अपने आपको और संसार को भी ठगना है। इसीलिए

जभी कभी वास्तविक कर्मत्याग या संन्यास की बात उठे तो उसी समय स्पष्ट हो जाता है कि पहले कर्म करें। पीछे त्याग की जरूरत होगी और अवश्य होगी। मगर अभी नहीं।

दूसरी बात यह है कि खामख्वाह यों ही कर्म छोड़ देने से काम बनने के बजाय बिगड़ता ही है। श्लोक में जो सिद्ध शब्द है उसका यही अभिप्राय है कि कोई काम नहीं बनेगा, वह लक्ष्य सिद्ध नहीं होगा जिसके लिए कर्मत्याग करते हैं। बल्कि उलटे बिगड़ेगा। जब खेत जोत-गोड़ के तैयार किया ही नहीं गया है और पानी-वानी दे के बीज उगने योग्य बनाया गया ही नहीं है तो दूसरा होगा ही क्या, सिवाय इसके कि बीज और परिश्रम दोनों की बेकार जायें? यह तो निरी बच्चों वाली बात हो जायगी, या पागलों की सी ही। इसीलिए इस बात पर जोर दिया गया है कि पहले तो हरेक आदमी को कर्म करना ही होगा। कर्म से ही दरअसल प्रगति का श्रीगणेश होता है, और संन्यास तो प्रगति के इसी सिलसिले की एक आवश्यक (unavoidable) सीढ़ी (step) है। इसीलिए इस श्लोक के पूर्वार्द्ध की उत्तरार्द्ध से मिलान करने पर 'नैष्कर्म्य' का अर्थ संन्यास ही है, न कि और कुछ। अर्जुन के दिमाग की सफाई करनी थी। इसीलिए शुरू से ही क्या कर्तव्य है, यही बात उठा के अन्त तक जाना जरूरी हो गया है। नहीं तो वह फिर भी घपले में पड़ जाता, यदि चुनी-चुनाई बातें ही कही जातीं।

इसके बाद पाँचवें श्लोक में तो यह बात भी खत्म कर दी गयी है कि खामख्वाह यों ही कर्मों का त्याग सम्भव है। चौथे उत्तरार्द्ध में यह बात मानकर ही, कि कर्मों का त्याग सम्भव है, उत्तर दिया है कि उससे सारा गुड़ गोबर होने के अलावे कोई मतलब पूरा नहीं होता। मगर अब तो जड़ को ही उड़ा देते हैं यह कह के कि कर्मों का त्याग ही असम्भव है। प्रकृति के तीन गुण माने जाते हैं। इस बात का विस्तृत विवेचन पहले कर चुके हैं। ये परस्पर-मिथुन कहे जाते हैं जिसका मतलब यही है कि तीनों ही सर्वत्र मिले-जुले रहते हैं। इन तीनों में रज का तो काम ही है क्रिया या कर्म। उसका तो स्वरूप ही है कर्म या हलचल (action and motion)। फिर यह कैसे सम्भव है कि कोई भी पदार्थ एक क्षण भी निष्क्रिय रहे। तीनों गुणों के अलावे तो कोई भी भौतिक पदार्थ है नहीं। ऐसी दशा में शरीर या इन्द्रियादि यदि क्षण भर भी निष्क्रिय रहें तो इसके साफ मानी हैं कि उनमें गुण हई नहीं। मगर यह तो बात है नहीं। संसार ही त्रैगुण्य माना गया है। तब अपना स्वभाव कोई कैसे छोड़ेगा? शरीरादि का तो स्वभाव ही है हिलना-डोलना या हलचल। जब हमारी आँखें इसका पता नहीं भी पाती हैं तब भी प्रयोगशाला में जाने या यन्त्रों के प्रयोग से पता लगता है कि क्रिया बराबर चालू है। उसे विराम नहीं। इसीलिए कह दिया है कि कर्म या क्रिया की तो मजबूरी है। इससे पिण्ड छूट सकता ही नहीं। संसार का अर्थ ही है क्रियाशील या चलने वाला।

इसीलिए जो लोग जबर्दस्ती कर्म करने वाली इन्द्रियों को रोकते हैं, रोकना चाहते हैं, उनका काम अप्राकृतिक है, प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है। क्योंकि जबर्दस्ती तो कर्म करने के लिए खुद प्रकृति कर रही है, पदार्थों का स्वभाव ही कर रहा है, और हम चले हैं उसे ही रोकने। फलतः हमारा यह हठ, हमारी यह ज़बर्दस्ती अप्राकृतिक—अस्वाभाविक—नहीं है, तो और है क्या? और अस्वाभाविक चीज तो चलने वाली नहीं, वह तो कभी होने की नहीं। इसीलिए दम्भ और पाखण्ड चलता है, ठगी होती है। ऊपर से तो देखने के लिए कर्मेन्द्रियाँ रुकी हैं। मगर भीतर ही भीतर उनका काम जारी है। क्योंकि ऐसे लोग मन को तो रोक सकते हैं नहीं। वह तो ऐसे पामरों के कब्जे के बाहर रहता ही है। उलटे यही लोग मन के कब्जे में रहते हैं। उधर मनीराम ने सभी इन्द्रियों को पीठ ठोंक दी है। इसलिए भीतर ही भीतर—छिपे रुस्तम—उनका काम जारी है। इसे ही कहते हैं 'डूब के पानी पीना', या 'खुदामियाँ से चोरी'। ज्ञानेन्द्रियों को तो यों भी ऐसे लोग नहीं रोकते। वे रोक सकते भी नहीं। उन्हीं के साथ आँख दबा के कर्मेन्द्रियाँ भी मौज करती हैं। हमने काशी में ग्रहण के समय एक बार घाट के ऊपर छोटे से मन्दिर के पास एक संन्यासी बाबा को देखा कि आसन मारे मूँड़ी नीचे किये आँखें मूँदे बैठे हैं। बगल में एक कपड़ा फैला पड़ा है कि लोग उस पर पैसे चढ़ायेंगे! हमने गौर किया तो पता लगा कि वह नीचे-नीचे रह-रह के कपड़े और पैसों को देखा करते हैं। इसे ही कहते हैं, "ऊपर-ऊपर राम-राम, नीचे-नीचे सिद्ध काम!" इसका पता तो सपने में लगता है जब यह चोरी खुल जाती और जाने क्या क्या अनर्थ होते हैं, कौन-कौन सा प्रपंच फैलता है। सपने में तो यह चोरी छिप सकती है नहीं। इसीलिए ऐसों को पाखण्डी और मिथ्याचार कहकर छठे श्लोक में दुतकारा है।

यही कारण है कि सातवें श्लोक में सबका निचोड़ निकाल के कह दिया है कि जो लोग मिथ्याचारी और पाखण्डी नहीं बनना चाहते वह उनके विपरीत कामं करें। वह यह कि सबसे पहले सभी इन्द्रियों पर और खासकर ज्ञानेन्द्रियों पर तो जरूर ही, मन का नियन्त्रण एवं अंकुश रखें। असल में मन का इन्द्रियों पर नियन्त्रण न रहने से जहाँ ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों में फँसाने के साथ ही कर्तव्य कर्मों से विमुख करके वाहियात कामों में लगा देती हैं, तहाँ कर्मेन्द्रियाँ भी ज्यादती कर बैठती हैं। फलतः किसी भी काम की सीमा लाँघ के उसे भी खराब कर देती हैं। इस तरह सब किये-कराये पर पानी फिर जाता है। इसीलिए सभी पर मन का नियन्त्रण जरूरी कहा गया है।

उसके बाद कर्मेन्द्रियों से सभी कर्मों को शुरू कर दें। जरा भी आगा-पीछा न करें। यहाँ जो 'कर्मयोगमारभते' कहा है उसका सीधा अर्थ यही है कि काम करना शुरू कर दे। यहाँ दूसरे अध्याय वाले कर्मयोग से मतलब नहीं है। उसका तो प्रसंग हई नहीं। यहाँ तो ऐसे लोगों की बात है जो सबसे नीचे पड़े हुए हैं। इस श्लोक

में 'यस्तु' में जो 'तु' है वह भी यही सूचित करता है कि इससे पहले जो कुछ कहा है उसके ही मुकाबिले में दूसरी बात यहाँ कही जा रही है। और पहले तो पतित या मिथ्याचारी की ही बात आयी है जो दरअसल कर्म नहीं करता है। हठी नालायक जो ठहरा और विषय लम्पट भी। उसी के मुकाबिले में इस श्लोक में यह कहना जरूरी हो गया कि उन नहीं करने वाले पाखण्डियों की अपेक्षा वे कहीं अच्छे हैं जो कुछ कर्म करते हैं और इन्द्रियों पर मन का अंकुश भी रखते हैं। इसीलिए ऐसे आदमी को 'स विशिष्यते'—'वह कहीं अच्छा है' कहा है। इस 'विशिष्यते' क्रिया का दूसरा अर्थ हो भी नहीं सकता है। नहीं करने से करना अच्छा है—'अकरणात्करणं श्रेयः' (something is better than nothing) यही बात यहाँ कही गयी है। न कि पहले कहे गये पतित-पाखण्डी के साथ इस कर्मी की तुलना है। ऐसा करना तो इसका भी अपमान करना हो जायगा। इसीलिए उस तुलना का सूचक कोई 'ततः' या 'तस्मात्' आदि पंचमी विभक्ति वाला पद यहाँ है भी नहीं। आगे यह बात और भी साफ हो जाती है जब खुल के कह देते हैं कि नहीं करने से करना अच्छा है, "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः" (3।8)।

ऐसी दशा में ऐसा आदमी गीता का वह महान् कर्मयोग कैसे जानने गया कि उसे करेगा? यह तो गधे को शासन की गद्दी पर बिठाने जैसी ही बात हो जायगी। यह भी तो जानना चाहिए कि यहाँ जो 'आरभते' क्रिया है और जिसका अर्थ है 'शुरू करता है', वह कर्मयोग में लागू होती भी नहीं। वह तो केवल कर्म में लागू होती है। कर्म ही या कर्म का करना ही शुरू होता है, न कि कर्मयोग। योग तो बुद्धि है यह सभी मानते हैं। तब उसको शुरू कैसे किया जायगा? सो भी कर्मेन्द्रियों से? वह तो मार्ग है, निष्ठा है, विचारधारा है। उसका आरम्भ हर आदमी कर सकता नहीं। उसका आरम्भ बहुत पहले उसके प्रवर्त्तक आचार्य ने किया था। अब आरम्भ कैसा? यदि मान भी लें, तो हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियों से उसका आरम्भ कैसे होगा? यदि आरम्भ का अर्थ है उस मार्ग में प्रवेश, तो भी वह कर्मेन्द्रियों से होता नहीं। वह तो मन और बुद्धि से या अधिक से अधिक ज्ञानेन्द्रियों से ही हो सकता है। इसीलिए कर्मयोग का यहाँ अर्थ है कर्मों का योग, जोड़ना या करना; और इसका श्रीगणेश कर्मेन्द्रियाँ ही करती हैं। इसीलिए आत्मा या मन की शुद्धि के लिए जो कर्म किया जाता है वह भी गीता के कर्मयोग में आता नहीं। क्योंकि उसमें तो शुद्धि रूप फल की इच्छा हई। फिर भी उसे कर्म कहके उसके करने वाले को भी योगी कह दिया है—'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये' (5।25)। 'दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः' (4।25) में भी योगी का अर्थ आत्मज्ञानी से भिन्न ही है। इसका विचार वहीं किया है।

इसीलिए यहाँ जो 'असक्तः' शब्द आया है उसका अर्थ उस कर्मयोगी की ही तरह कर्मासक्ति एवं फलासक्ति का त्याग, ऐसा जो लोग करते हैं वह भूलते हैं।

'भूखे बंगाली की भात भात' की तरह सर्वत्र एक ही बात देखना उचित नहीं। पूर्वापर और प्रसंग भी देखना होगा, और है वह मामूली कर्म करने वालों का ही। फिर एकाएक वह परले दर्जे की अनासक्ति यहाँ आ धमकी कैसे? उसकी तो यहाँ गुंजाइश हई नहीं। यहाँ तो असक्त कहने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि, जैसे इससे पूर्ववाला आदमी कर्म का सोलह आना विरोधी होता है और उसे देखना नहीं चाहता ठीक उसके विपरीत होने से कहीं यह ऐसा न हो जाय कि दिन-रात कर्मों या फलों के लिए हाय-हाय ही करता रहे। क्योंकि तब तो यह कुछ करी न सकेगा। यह तो उसी हाय-हाय में इतना व्यस्त रहेगा कि इसके हाथ-पाँव ठीक-ठीक काम करी न सकेंगे। इसीलिए कह दिया कि ऐसा न हो—ऐसी हाय तोबा न रहे। साधारणतः फल वगैरह की इच्छा तो रहेगी ही। क्योंकि यह तो साधारणतः कर्मी ही ठहरा। मगर गीता के कर्मी की गिनती में उसे आने के लिए इस इच्छा-आकांक्षा को बेलगाम नहीं छोड़ देना होगा, बेहद परेशान होना न होगा। यही अभिप्राय है और यही युक्तिसंगत भी है। गीता की गिनती में आने का प्रयोजन भी है। क्योंकि आगे ऐसे ही आदमी के लिए 19वें श्लोक में परमात्मा की प्राप्ति लिखी है। वहाँ भी यही 'असक्तः' शब्द कर्म के साथ ही आया है। तात्पर्य यह है कि हाय-हाय छोड़ देने से अन्तःकरण की स्थिरता और शान्ति के रूप में शुद्धि हो के परमात्मा की प्राप्ति का रास्तामात्र खुल जाता है। कुछ यह नहीं होता कि कर्मों से ही ठेठ परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

आगे बढ़ने के पहले यहीं पर उनने 8वें श्लोक में स्पष्ट ही कह दिया है कि कुछ न करने और निठल्ले बैठ रहने से तो कुछ करना कहीं अच्छा है। इसीलिए तुम अपने लिए पक्का-पक्की ठहराये गये कर्मों को जरूर ही करो। ऐसे ही कर्मों को नियत (assigned) नाम गीता में बार-बार दिया गया है। 'नियतस्य तु संन्यास' (18।7), 'नियतं क्रियतेऽर्जुन' (18।9), 'नियतं संगरहितं' (18।23) आदि में यह बात पाई जाती है। नियत या निश्चित कहने का यह मतलब है कि यों तो खान पान आदि कर्म सभी लोग करते ही हैं। इनमें तो सबों की मजबूरी है। मगर इनके सिवाय कुछ ऐसे कर्म हैं। जिनमें ऐसी मजबूरी न होने पर भी उनका करना समाजहित की दृष्टि से और अपने अन्तिम कल्याण या उदात्त स्वार्थ (enlightened self interest) के खयाल से भी जरूरी हो जाता है। ऐसे कर्म या तो समाज के द्वारा ही हरेक के लिए तय कर दिये गये हैं, या ऋषि-मुनियों, औलिया-पैगम्बरों तथा बड़े-बूढ़ों ने उन्हें बताया है और समाज ने या खुद व्यक्तियों ने भी उन्हें अपनाया है। इसीलिए वे नियत और नित्य (assigned and fixed) माने जाते हैं। आश्रितों की रक्षा, देश या घर-बार के लिए लड़ना, पीड़ितों की सेवा, सन्ध्या, पूजा, नमाज, प्रार्थना (Prayer) आदि ऐसे कर्मों में आते हैं। जब कर्मों के करने न करने की बात कहीं भी आती है तो इन्हीं से मतलब होता है न कि सामान्य कर्मों से। मल-मूत्र त्याग, खानपान आदि तो बिना कहे ही मजबूरन करने ही होते हैं। उनके बारे में करने का विधान

या उसकी ताकीद बेकार है। मगर नियत कर्मों में आलस्य आदि के चलते लापरवाही हो सकती है, हो जाती है। इसीलिए इन पर जोर देना और इनके लिए ही नियम-कायदे बनाना जरूरी हो जाता है। जब संन्यास और कर्मत्याग का सवाल आता है तो इन्हीं कर्मों के त्याग से मतलब होता है।

एक बात और भी जान लें तो अच्छा हो। जहाँ तक कर्मों के त्याग या संन्यास से ताल्लुक है, गीता ने चार सूरतें मानी हैं।

1. मन की शुद्धि हो जाने पर तत्त्वज्ञान के साधन-स्वरूप निदिध्यासन और समाधि के सिद्धि के लिए कर्मों का स्वरूपतः त्याग।

2. तत्त्वज्ञान के बाद मस्ती आ जाने पर खुद-ब-खुद कर्मों की ओर मानसिक प्रवृत्ति न होने से अलंबुद्ध्या स्वरूपतः कर्मों का वैसे ही छूट जाना जैसे पके फल का डाल से।

3. मोह और भ्रम में पड़ के प्रवंचना बुद्धि से या शरीर, इन्द्रियादि के कष्ट के खयाल से ही कर्मों को स्वरूपतः छोड़ देना।

4. फलेच्छा, अभिनिवेश, कर्म करने की आसक्ति और हठ आदि का ही त्याग न कि स्वरूपतः कर्मों का त्याग। इनमें चौथे को तो कर्म का त्याग वस्तुतः कही नहीं सकते। इस दशा में तो कर्म बने ही रहते हैं। गीता ने भी 'नियतं संगरहितं' (18 । 23) में इसे सात्त्विक कर्म ही गिनाया है। इसलिए इसे तो छोड़ ही देना चाहिए। इस पर विचार करने का प्रश्न आता ही नहीं।

रह गये तीन। बेशक इन तीनों को कर्मत्याग या संन्यास शब्द से समझ सकते हैं जरूर। इनमें जो तीसरा है उसकी बात इसी अध्याय के शुरू में ही और आगे भी आयी है। इसलिए शेष दो या पहले तथा दूसरे को ही पहले देखना चाहिए। 'योगसंन्यस्तकर्माणं' (4 । 41), 'संन्यासस्तु महाबाहो' (5 । 6) और 'योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' (6 । 3) श्लोकों में पहले को यानी समाधि आदि के लिए कर्मों के त्याग को आवश्यक और उचित बताया है। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' (18 । 66) में इसी का उपसंहार भी किया है। इसी तरह 'यस्त्वात्मरतिरेवस्यात्' (3 । 17) से स्पष्ट है कि दूसरा संन्यास या स्वयमेव कर्मों का छूट जाना भी गीता को मान्य है। इसकी आवश्यकता एवं महत्ता भी वह समझती है। द्विविध निष्ठाओं का जो वर्णन दूसरे, पाँचवें और छठे अध्यायों में खासतौर से आया है और दोनों को जो वहाँ परम कल्याण या मोक्ष के देने वाले माना है, उससे भी इसकी कर्तव्यता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। इस बात का अधिक विवेचन पहले ही किया गया है।

अब रहा तीसरा या मोह और कष्ट के डर से कर्मों का त्याग। इसी की बहुत ज्यादा निन्दा तीसरे अध्याय के इन्हीं श्लोकों में बार-बार की गयी है। इसका विवेचन हमने अभी किया है। 'नियतस्य तु' (18 । 7) और 'दुःखमित्येव' (18 । 8) में भी तामस और राजस कह के इस संन्यास को निन्दित बताया है। 'न बुद्धिभेदं जनयेत्'

(3।26) में भी इसी बात पर पूरा जोर दिया गया है कि सर्वसाधारण लोग हर्गिज कर्म न छोड़ें। इस प्रकार इस विवेचन ने संन्यास का मार्ग अर्जुन के दिमाग में साफ कर दिया है और कर्म करने का भी।

अब आगे जो कुछ विवेचन इस कर्म का किया जा रहा है वह इसी दृष्टि से कि समाज का काम चलाने, उसे कायम रखने और उसकी प्रगति के लिए कर्म अनिवार्य रूपेण आवश्यक है। इनके बिना एक क्षण भी समाज का काम चल नहीं सकता है। यज्ञचक्र के रूप में इन कर्मों का जो वर्णन किया गया है उसका रहस्य तो पहले ही बताया जा चुका है। यज्ञों का संकुचित अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है, यह बात 10 से 13 तक के श्लोकों से ही, जो यज्ञचक्र के निरूपण के ठीक पहले आये हैं, सिद्ध हो जाती है। दसवें श्लोक में जो 'प्रसविष्यध्वम्' तथा 'कामधुक्' शब्द आये हैं उनका अर्थ है फलना, फूलना और विस्तार प्राप्त करना। इनके भीतर तो संसार के सारे काम आ जाते हैं। कोई भी बचने नहीं पाता। यह बात सर्वसाधारण के द्वारा आमतौर से माने गये घृत आदि की आहुति रूपी यज्ञों से तो होने की नहीं। यह दावा तो इन यज्ञों के समर्थक भी नहीं करते कि इन्हीं से सब काम हो जायगा। फलतः खेती, गिरस्ती आदि की जरूरत हई नहीं। कामधेनु कहने से भी यही बात सिद्ध होती है कि यह सब कुछ देने वाली चीज है। 'इष्टान् भोगान्' (3।12) में यही कह भी दिया है। इसीलिए देव शब्द का अर्थ भी रूढ़ नहीं है। यहाँ खास ढंग के देवताओं से मतलब न हो के दिव्य या अलौकिक शक्ति, प्रतिभा आदि सम्पन्न सभी पदार्थों को देव कहते हैं। इसीलिए गीता ने यज्ञों का अनेक विस्तृत रूप स्वयं बताया है। हमने भी इस पर पूरा प्रकाश डाला है। यज्ञ के रूप में ही कर्मों पर जोर देने के लिए ही आगे के श्लोक लिखे गये हैं।

कुछ अर्द्धदग्ध एवं अक्षरकट्टू लोग अपनी असली मनोवृत्ति को छिपा के केवल इस दलील के आधार पर ही कर्मों से पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं कि ये तो जन्म-मरणादि बन्धन के कारण हैं। फिर इन्हें क्यों करें? उनका उत्तर यह है कि—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थ कर्म कौन्तेय मुक्तसंग समाचर।।9।।

हे कौन्तेय, (जब कि) यज्ञ के लिए किये गये कर्मों के अलावे बाकी कर्मों से ही लोग बन्धन में फँसते हैं, तो तुम आसक्ति या हाय-हाय छोड़ के यज्ञार्थ कर्मों को ही ठीक-ठीक करो।9।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।10।।

पूर्व समय—सृष्टि के आरम्भ काल—में ब्रह्मा ने लोगों—प्रजा—को यज्ञ के साथ ही पैदा करके कह दिया कि इस (यज्ञ) के जरिये खूब फलो-फूलो और तरक्की करो (और) यह तुम्हारे लिए कामधेनु का काम दे।10।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। 11।।

इस यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं को सन्तुष्ट करो, पुष्ट और समुन्नत करो और वे देवता तुम्हें भी वैसा ही करें। (इस तरह) परस्पर एक दूसरे को सुखी-सम्पन्न बनाते हुए परम कल्याण—मोक्ष—प्राप्त करो। 11।

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यै भुंक्ते स्तेन एव सः।। 12।।

क्योंकि यज्ञों के द्वारा तृप्त और प्रसन्न किये गये देवता तुम्हें सभी अभिलषित पदार्थ देंगे। इसीलिए उन्हीं के दिये इन पदार्थों को उन्हें भेंट न करके जो (स्वयमेव) हड़प लेता है वह अवश्यमेव चोर है। 12।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। 13।।

यज्ञ के बाद बचे-बचाये पदार्थों को भोगने वाले सत्पुरुष सभी पापों और बुराइयों से छुटकारा पा जाते हैं। (लेकिन) वे पापी लोग तो पाप को ही भोगते हैं जो केवल अपने ही लिए (पदार्थ) पकाते हैं—तैयार करते हैं। 13।

इस श्लोक के 'यज्ञशिष्टाशिनः' में अश् धातु भोजनार्थक है। मगर जिस भुज् धातु से भोजन शब्द बनता है उसी से भोग भी बनता है। इसीलिए भोजन या अशन का अर्थ केवल पेट में डालना ही नहीं है। मार खाने, धोखा खाने में भी तो खाना आता है। मगर ये तो पेट में रखने की चीजें हैं नहीं। उसी प्रकार यहाँ भी समझना होगा। यज्ञ के बाद जो शेष रहे उसी पदार्थ को खाना-पहनना या अपने निजी काम में लाना यही 'यज्ञशिष्टाशन' का अर्थ है। उसी तरह 'पचन्ति' में पच् धातु का अर्थ पकाना है और भात-रोटी आदि के पकाने को ही आमतौर से पकाना कहते हैं। मगर फसल पक गयी, घड़ा पक गया, आम पक गया, फोड़ा पक गया में तो तैयार होना ही अर्थ है। महाराष्ट्र में फसल को ही पाक कहते हैं। यहाँ भी तैयार करना ही अर्थ उचित है। सभी प्रकार के पदार्थों को तैयार करके पहले उन्हें यज्ञार्थ अर्पण करना चाहिए। इसका अभिप्राय यही है कि उनके कुछ अंश यथाशक्ति समाजहित या परोपकार के कामों में लगा के शेष को ही निजी काम में लाना उचित है। अन्न पका के भगवान् या देव-पितरों को अर्पण करना भी इसी में आ जाता है।

ऐसा करने के बाद जो पदार्थों को भोगता है वही महापुरुष यज्ञशिष्टाशी है। विपरीत इसके जो सब कुछ निजी कामों में ही खर्च करता है वही पापी है। उसके पदार्थ को दरअसल पाप ही कहा है, यद्यपि देखने में वह स्थूल पदार्थ प्रतीत होता है। असल में ऐसे स्वार्थी बनने पर समाज एक मिनट भी टिक सकता नहीं। जब हरेक को अपनी-अपनी ही सूझी तो समाज रहेगा कैसे? वह तो उसी क्षण खत्म हो गया। ऐसे स्वार्थी होने पर कोई भी कायम नहीं रह सकता। जब तक एक दूसरे

की फिक्र और परवाह कम-बेश न करें सभी मर-मिटेंगे। किसी का भी काम चल सकेगा ही नहीं। इसीलिए ऐसे काम को पाप और बुराई कहा है। मनु ने यज्ञशिष्ट पदार्थ को अमृत कहा है। उनका यज्ञ उतना व्यापक नहीं था। केवल देवपितरों के लिए जो कर्म होते थे उन्हीं को उनने यज्ञ माना था। इसीलिए यज्ञ के सिवाय दूसरे परोपकारी कामों में जो चीज लगे उसके शेष को उनने विघस नाम दिया था। 'यज्ञशिष्टामृतभुजः' (4।31) में गीता ने भी यज्ञशिष्ट को अमृत ही कहा है। जो बात गीता के 13वें श्लोक में लिखी है वही मनुस्मृति में भी यों लिखी है कि 'अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते' (3।118)। इस श्लोक में गीता के ही अधिकांश को अक्षरशः दे दिया है। पूर्वार्द्ध तो प्रायः जैसे का तैसा ही गीता के श्लोक का उत्तरार्द्ध है। पूर्वार्द्ध में भी गीता के उत्तरार्द्ध का आधा प्रायः ज्यों का त्यों और उसके 'सन्तः' की जगह पर ही 'सतां' दे दिया है। पुराने समय में इस यज्ञ का इतना ज्यादा महत्त्व था कि ऋग्वेद में भी गीता के 'भुंजतेतेत्वघं पापाः' की ही तरह लिख दिया है कि "नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" (10।117।6) । मन्त्र के देखने से यह भी पता चलता है कि ऋग्वेद के समय यज्ञ का व्यापक अर्थ गीता की ही तरह माना जाता है। इसीलिए अर्यमा और सखा की पुष्टि की बात इसमें आयी है। अर्यमा मेघ सरीखे देवता को और सखा बन्धुबान्धव को कहते हैं।

आगे जिस यज्ञचक्र का वर्णन है उसका संक्षिप्त रूप प्रायः इसी तरह का मनुस्मृति में यों पाया जाता है, "अग्नौप्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा"(3।76)। महाभारत के शान्तिपर्व (340।38।62) में भी इस यज्ञ की बात विस्तृत रूप से आयी है। मगर गीता के यज्ञ चक्र की खूबी कहीं है नहीं। हमने इसका पूर्ण विवरण पहले ही लिखा है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।14।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।15।।

अन्न से प्राणी और सत्ताधारी पदार्थ बनते हैं—उत्पन्न होते हैं। वृष्टि से अन्न पैदा होता है। यज्ञ से वृष्टि होती है। कर्मों से यज्ञ बनता है—यज्ञ का स्वरूप तैयार होता है। कर्म वेद (जैसे ज्ञानभण्डार) से ही मालूम होते हैं—जाने जाते हैं और वेद जैसा ज्ञानभण्डार अविनाशी (समष्टि महाभूत परमात्मा) से पैदा होता है। इसीलिए सभी बातों को अवगत कराने—जनाने—वाले वेदरूपी ज्ञान भण्डार का तात्पर्य यज्ञ करने में ही है। यज्ञ ही उसका आधार भी है।14।15।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।16।।

(इसलिए) हे पार्थ, इस प्रकार जारी किये गये (यज्ञ) चक्र को इस दुनिया में जो (आदमी) कायम नहीं रखता (उसका) जीवन पापमय है, वह केवल इन्द्रियों को ही तृप्त करने वाला है। (इसीलिए) उसका जीना बेकार है। 16।

यहाँ यज्ञचक्र के सिलसिले में इतनी सख्ती के साथ इसके चालू रखने की बात कही गयी है कि सन्देह होने लगता है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि गीता के मत से कर्मों का त्याग कभी होई नहीं सकता। जब कर्म ही संसार की स्थिति, वृद्धि और प्रगति के लिए कामधेनु हैं, जब इन्हीं के द्वारा सब कुछ हो सकता है, जब यज्ञचक्र के रूप में कर्मों का सिलसिला जारी नहीं रखने वाले की जिन्दगी व्यर्थ है, वह पापमय जीवन ही गुजारता है एवं पामर विषयलोलुपों की तरह एकमात्र इन्द्रियों का ही पोषक है, ऐसा स्वयं गीता का आदेश है, तब तो यह खयाल होना स्वाभाविक ही है कि किसी भी दशा में कर्मों से जिसका ताल्लुक टूटा वह पापी और बदमाश ही माना जायगा। कम से कम गीता का तो यही सिद्धान्त होगा—वह तो इसी पर मुहर लगायेगी। ऐसी दशा में शुकदेव, वामदेव, जड़भरत आदि की तरह जिनके कर्म खुद-ब-खुद पके फल की तरह छूट गये हैं, गिर गये हैं और जो मस्ती की लापरवाह—बेफिक्र—जिन्दगी गुजारते हैं, उनका क्या होगा? वे भी वही "अघायुरिन्द्रियारामा मोघं पार्थ स जीवति" वाले घोर अभिशाप के शिकार होंगे? होना तो चाहिए। मगर यह तो असम्भव; अप्राकृतिक, अस्वाभाविक तथा केवल हास्यजनक बात मालूम पड़ती है। वह तो इतने ऊँचे हैं कि उन तक यह अभिशाप कभी पहुँच ही नहीं सकता। यह अजीब पहेली है! यह निराली समस्या है! जो अपनी आत्मा में ही—आत्मानन्द में ही—रम गये हैं, उसी में तृप्त हैं और उसी में सन्तुष्ट हैं; जिनकी अपनी तृप्ति से ऐसा हो गया है कि फिर कभी दूसरी ओर जाई नहीं सकते—जो सदा के लिए सन्तुष्ट हो चुके हैं, उनके सम्बन्ध में सचमुच यह पेचीदा पहेली ही है जिसका सुलझाना असम्भव लगता है। मगर गीता इसको—बीच में ही एकाएक पेश इस समस्या को—आगे के दो श्लोकों में आसानी से सुलझा के पुनरपि इस कर्म के यज्ञचक्र की बात को ही पकड़ती और आगे बढ़ती है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।। 17।।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।। 18।

(लेकिन) जो मनुष्य तो आत्मा में ही रम गया है, आत्मा ही में तृप्त है। और आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसका कुछ भी कर्तव्य रही नहीं जाता है। न तो उसके करने से कुछ बनता ही है और न नहीं करने से बिगड़ता ही। सभी भौतिक पदार्थों में कोई भी ऐसा हई नहीं जिसका आश्रय वह किसी भी काम के लिए ले। 17। 18।

यहाँ अर्थ शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में आया है जैसा कि बातचीत में ऐसे

मौके पर आया करता है। आमतौर से काम, चीज या बात शब्द जिस मानी में बोले जाते हैं, ठीक उसी मानी में यह अर्थ शब्द आया है। यहाँ के सभी अर्थ शब्दों का यही मतलब है। इसीलिए सीधा अर्थ यही हो जाता है कि उसके करने-न करने से न तो कुछ बनता-बिगड़ता है और न दुनिया की कोई भी ऐसी चीज रही जाती है जिसकी प्राप्ति की कोशिश करने की उसे जरूरत हो। फिर उसके लिए कर्म करना जरूरी होगा क्यों? आखिर कर्मों की जरूरत होती है अपने या दूसरों के किसी मतलब के ही लिए न? मगर जिसके कर्मों से किसी का कोई भी मतलब सिद्ध होने वाला होई न, वह क्योंकर उन्हें करें? हाँ, यदि न करने से कुछ भी बिगड़ने वाला हो, किसी का भी बिगड़ने वाला हो, तो भी एक बात है। मगर यहाँ तो वह बात भी नहीं है। सबसे बड़ी बात, सब बातों की एक बात यह है कि राई से लेकर पर्वत तक या चींटी से लेकर भगवान् तक से कोई न कोई काम निकालने के ही लिए क्रिया या कर्म की जरूरत पड़ती है। मगर मस्तराम के लिए तो यह भी बात नहीं है। उनके कर्मों के फलस्वरूप किसी से भी कोई काम सधने-बनने का हई नहीं!

श्लोक में 'कश्चिदर्थ-व्यपाश्रयः' आया है। उसका खास महत्त्व और मतलब है किसी भी काम के लिए हमें तो किसी न किसी छोटे-बड़े पदार्थ का आश्रय—सहारा—लेना ही होता है। मगर मस्तराम के लिए ऐसा कोई पदार्थ रही नहीं जाता। उसके लिए तो सभी अपनी आत्मा ही हैं—आत्मा से जुदा कोई हई नहीं। कही चुके हैं कि वह 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' हो जाता है। तब किसका सहारा ले? किसकी ओर नजर दौड़ाये? किधर बढ़े, चले? कोई दूसरा हो तब न? यहाँ तो सब कुछ वही है—"आत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति" (वृहदा. 4।4।23),"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं जिघ्रेत्...केनकं विजानीयात्" (वृह. 4।5।15)। वह तो अपने आपको ही सर्वत्र देखता है, सुनता है, पढ़ता है, समझता है। क्योंकि उसकी नजरों में दूसरा कोई हई नहीं, द्वैत मिट गया, 'दुई' जाती रही, "दुई रा चूं बगर करदम यकी दीदम दो आलम रा। यकी जूयम यकी बीनम यकी खानम यकी दानम।" फिर तो बिना कुछ किये ही सब कुछ हाजिर है! शाहंशाह जो ठहरा! प्रकृति को हिम्मत कि उसकी दरबारदारी न करे? इसीलिए हर चीजें उसी का आश्रय लेती हैं, अनायास अधीन हो जाती हैं। महाभारत के "यदा च नाहमिच्छामि गन्धान्घ्राणगतानपि। तदा मे सर्वदा भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा" आदि कई श्लोकों में यही दिखाया है कि सभी चीजें उसके चाहे बिना ही हाजिर रहती हैं! जो लोग उसे खिलाते-पिलाते या शरीर-सेवा करते हैं उनका मनोरथ और उनकी सभी जरूरतें अकस्मात् पूरी होती रहती हैं! तब और चाहिए ही क्या?

कुछ लोगों ने यह कोशिश की है कि 'तस्य कार्यं' आदि में षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध अर्थ लगा के यहाँ यह अभिप्राय बतायें कि उसे अपने लिए कोई कर्तव्य नहीं रह जाता है। इसीलिए जो कुछ करता है वह परोपकार और लोकसंग्रह के ही

लिए। मगर वह भूल जाते हैं कि "कृत्यानां कर्त्तरि वा" (2।3।71) और "कर्त्तृकर्मणो कृति" (2।3।65) इन पाणिनीय सूत्रों के रहते उनका यह मतलब पूरा होने का नहीं। यह तो कर्त्ता के ही अर्थ में षष्ठी बताते हैं, न कि सम्बन्ध में। एक बात और भी तो देखें कि पहले तो साधारण कर्मियों की ही बात कही गयी है, जैसा कि बता चुके हैं। इसके बाद भी वही बात है। तो फिर बीच में यह कर्मयोगी की बात कैसे आ गयी? और उसका प्रसंग भी कौन सा आ गया? लोकसंग्रह की बात तो 'कर्मणैव हि' (3।20) श्लोक में फौरन ही आगे कही गयी है। फिर एक श्लोक पहले भी उसे कहने का क्या मौका? यही नहीं 20 से 26 तक के श्लोकों में इस लोकसंग्रह और परोपकार की बात बहुत विस्तार से लिखी गयी है। फिर यहाँ कैसे बेमौके आ गयी? सो भी अधूरी? किसी-किसी को बारह महीने हरियाली ही सूझने की बात ठीक नहीं। सर्वत्र एक ही चीज को देखने और बताने की कोशिश उचित नहीं है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः।।19।।

इसलिए आसक्ति छोड़ के—पूर्व बताये ढंग की हायहाय छोड़ के—अपना कर्तव्य कर्म ठीक-ठीक करते रहो। क्योंकि आसक्ति छोड़ के कर्मों को करने से मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।19।

लेकिन यदि परमात्मा को प्राप्त करना न हो तो? जो लोग आत्मज्ञानी और जीवन्मुक्त हैं। उन्हें न तो कोई सांसारिक-पदार्थ ही प्राप्त करने योग्य रहते हैं और न परमात्मा ही। वह तो खुद ही परमात्मा—निर्वाणब्रह्म—हो जाते हैं। फिर वह क्यों कर्म करेगे? वह तो नहीं ही करेंगे न? नहीं-नहीं, वह भी करेंगे, यदि पूरे मस्तराम परमहंस न हो गये हों। यदि पूछें कि क्यों? तो सुनिये—

कर्मणैव हि संसद्धिमास्थिता जनकादयाः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्त्तुमर्हसि।।20।।

आखिर संसिद्धि—ब्रह्मनिर्वाण—को प्राप्त हुए जनक आदि भी (तो) कर्म करते ही रहे—उनने कर्म को ही अपना साथी बराबर बनाये रखा। इसलिए लोकसंग्रह—संसार का पथप्रदर्शन—करने का ही खयाल करके भी (तो) तुम्हें कर्म करना ही होगा—करना ही चाहिए।20।

यहाँ जो लोग यह मानते हैं कि जनकादि को कर्म से ही मोक्ष मिला, वह एक तो यह भूल जाते हैं कि मोक्ष ज्ञान से ही मिलता है। यह बात हम बहुत ही खूबी के साथ बता चुके हैं। उनने से दूसरी जगह यही माना है। यदि मान भी लें कि कर्म से भी मुक्ति होती है, तो भी यह तो वे भी नहीं मानते कि निरे कर्म से मुक्ति होती है। वे तो ज्यादे से ज्यादा यही मानते हैं कि ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय से—दोनों की सम्मिलित शक्ति से—ही मोक्ष मिलता है। मगर यहाँ तो 'कर्मणा एव'

लिखा है, जिसका अर्थ है सिर्फ कर्म से। यह कैसे होगा? इसीलिए यहाँ कर्मणा इस तृतीया को 'कर्त्तृकरणयोस्तृतीया' (प. 2।3।18) के अनुसार साधन वाचक न मान के 'विनाऽपि तद्योगं तृतीया' के अनुसार 'सह' शब्द के न रहने पर भी उसका अर्थ प्रतीत होने पर ही तृतीया हो जाती है, यही मानना उचित है। हम इसीलिए, कर्म के साथ ही रहे, बराबर कर्म करते ही रहे, उसे कभी न छोड़ा यही अर्थ किया भी है।

सबसे मार्के की बात यहाँ, यह है कि इससे पहले के श्लोक में 'तस्मात्' कहके एक बात का उपसंहार कर लिया है, ऐसा स्पष्ट है। इसलिए इस श्लोक में कोई दूसरी नई बात शुरू हो के आगे चल रही है, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए इस श्लोक के पूर्वार्द्ध की मिलान उत्तरार्द्ध के साथ करने से और उसी के अनुसार आगे बढ़ने से सब बात ठीक हो जायगी। नहीं तो यह पूर्वार्द्ध यों ही बीच में ही लटका रह जायगा। क्योंकि उत्तरार्द्ध का तो साफ ही आगे से सम्बन्ध मानना होगा। जिस लोकसंग्रह का इसमें उल्लेख सूत्र रूप से है उसी का भाष्य आगे के पूरे छह श्लोक करते हैं। जनक को लोकसंग्रह करने वाला और पथदर्शक कर्मयोगी मानते भी हैं। इसलिए उत्तरार्द्ध के साथ मिला के हमने जो अर्थ किया है वही यहाँ पर उचित और ठीक है।

यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते।।21।।

बड़े लोग जो-जो करते हैं वही-वही काम जनसाधारण भी करते हैं। बड़े जितना करते और जिसे सही मानते लोग भी उतना ही करते और उसी को सही मानते हैं। 21।

यहाँ 'प्रमाणं' का अर्थ प्रमाण या सही भी है और नापजोख भी। 'यत्प्रमाणं' शब्द जब समस्त माना जाय तब तो इसका अर्थ है 'जितना'। और अगर यत् तथा प्रमाणं अलग-अलग दो शब्द स्वतन्त्र माने जायँ तब 'जिसे सही' यह मानी हैं।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि।।22।।

हे पार्थ, तीनों लोक—सारे संसार में—मेरा कुछ भी कर्तव्य रह नहीं गया है। ऐसा भी नहीं कि कोई वस्तु मुझे हासिल न हो (और) उसे प्राप्त करना हो। फिर भी (देखो न) कर्म में लगा ही रहता हूँ। 22।

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।23।।

क्योंकि हे पार्थ, अगर मैं (खुद) कभी भी आलस्यरहित हो के कर्म करने से हिचकूँ तो सभी लोग मेरा ही रास्ता (चट) अख्तियार कर लेंगे। 23।

इस सम्बन्ध में यह याद रखना होगा कि श्रीकृष्ण की रासलीला का इस कथन से स्पष्ट विरोध होने के कारण वह प्रक्षिप्त तथा पीछे जोड़ी गयी चीज है। शिशुपाल से बढ़कर कृष्ण का शत्रु कोई न था जो खुले आम गाली-गलौज करता और उनके

सच्चे-झूठे ऐबों के बारे में लेक्चर देता फिरता था। युधिष्ठिर के यज्ञ में जब कृष्ण की पूजा की गयी तो उसे बर्दाश्त न हो सकी। फलतः उसने बहुत कुछ अंटसंट बक डाला। उन्हें नीचा दिखाने के लिए यहाँ तक किया कि उनके मुरारि, मधुसूदन आदि नामों के अर्थ तक उसने बदल दिये, उन्हें खानदानी भगेड़ा बताया, वगैरह-वगैरह। मगर यह हिम्मत तो उसे भी न हुई कि कह डाले कि कृष्ण व्यभिचारी था, उसने गोपियों के साथ शरारत की, बदमाशी की। यदि उसे जरा भी गन्ध इस बात की मालूम होती तो ऐसा करने से वह हर्गिज न चूकता। फिर तो तिल का ताल बना छोड़ता। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण का चरित इतना ऊँचा था कि उनके कट्टर से भी कट्टर दुश्मन तक को यह हिम्मत न थी कि इस बारे में जबान भी खोले। यदि गोपियों की रासलीला की गन्ध भी उस समय होती तो शिशुपाल क्या-क्या न कर डालता, कह डालता? इसलिए मानना होगा कि उस समय इसका नाम भी न था, चर्चा भी न थी। यह बात पीछे जुटी है, जोड़ी गयी है।

श्री कुमारिल की लिखी तन्त्रवार्तिक नाम की मीमांसा की पोथी की एक महत्त्वपूर्ण चर्चा भी इस मामले में प्रकाश डालती है। मीमांसादर्शन के सूत्रों पर जो शबर भाष्य है उसी की टीका का नाम तन्त्रवार्तिक है। दरअसल भट्टपाद कुमारिल की समूची टीका तीन भागों में बँटी है। पहले अध्याय के प्रथम पाद की टीका का नाम है श्लोकवार्त्तिक। उस अध्याय के शेष को लेकर तीसरे अध्याय के अन्त तक की टीका को ही तन्त्रवार्तिक कहते हैं। शेषांश की टीका कही जाती है टुप्टीका। उसी तन्त्रवार्त्तिक में प्रथमाध्याय के तीसरे पाद के सातवें सूत्र 'अपिवा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्निति' के व्याख्यान में एक स्थान पर नास्तिक की शंका के रूप में लिखा है कि हिन्दू लोग जिस कृष्ण को महान् पुरुष मानते हैं उनकी हालत यह थी कि शराब पीते थे। उनने मामा की लड़की से शादी भी की थी। दरअसल रुक्मिणी उनके मामू की ही तो पुत्री थी। इस प्रकार धर्माचार्यों और अवतारों पर एक के बाद दीगरे दोषारोपण करके सनातन धर्म की निन्दा की गयी है। किन्तु जहाँ ब्रह्मा, व्यास आदि के बारे में उसने व्यभिचार आदि की बातें लिखी हैं तहाँ कृष्ण के बारे में उसे सिर्फ पूर्वोक्त दोष ही नजर आये हैं। लेकिन यदि भट्टपाद के समय में रासलीला की बात प्रसिद्ध होती तो वह नास्तिक के मुँह से जरूर ही वही बात कहलवाते। वह साधारण लोगों के समझ में आने की बात भी थी। मगर शराब पीने या मामू की कन्या से शादी करने की बात तो कुछ ऐसी ही है। फलतः मानना होगा कि नौवीं शताब्दी तक, जब कि भट्टपाद हुए, रासलीला का पता कहीं न था। यह तो उसके बाद ही पोथियों में घुसेड़ी गयी मालूम पड़ती है। खूबी तो यह है कि कुमारिल ने समाधान करते हुए जहाँ लिखा है कि रुक्मिणी सचमुच मामू की लड़की न थी, वहीं यह भी लिखा है कि जो कृष्ण संसार के लिए आदर्श-स्थापक थे वही खुद विरुद्ध काम भला कैसे कर सकते थे? फिर उनने गीता के उन्हीं श्लोकों को उद्धृत भी कर दिया है कि

"मम वर्त्मानुवर्त्तेरन्मनुष्याः पार्थ सर्वशः। यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते" (3। 23। 21)। उनका यह उद्धरण बड़े काम का है और वस्तुस्थिति को बताता है।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।। 24।।

(नतीजा यह होगा कि) यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सभी लोग–सारी दुनिया–ही चौपट हो जाय। (इस तरह) मैं ही वर्णसंकर करने का जिम्मेदार बन जाऊँ (और) इस सारी प्रजा का नाशक हो जाऊँ। 24।

खयाल हो सकता है कि जब सबों को एक ही लाठी से हाँका जाता है, जब कर्मों का करना विद्वान्-अविद्वान् या ज्ञानी-अज्ञानी के लिए समान रूप से ही जरूरी है, तो फिर दोनों में फर्क रही क्या जाता है? ज्ञानी को विद्वत्ता ने उसे क्या किया? यह तो कुछ उलटी सी बात हो गयी। अविद्वान् को आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक ये तीन ही कष्ट होते हैं। मगर विद्वान् होने पर बड़े-बड़े पोथों के अभ्यास करने का कष्ट, यदि कुछ भूले तो उसका, अगर कहीं विवाद में हारे तो उसका और न हारने पर जबर्दस्त साँड़ की तरह गर्व का, इस तरह कुल सात कष्ट हो जाते हैं। कहाँ चले थे तीनों से पिण्ड छुड़ाने और कहाँ चार और जुट गये! "चौबे गये दूबे बनने तो छब्बे होके लौटे" वाली बात हो गयी! इसीलिए नारद ने सनत्कुमार से कहा था कि महाराज, कोई रास्ता बताइये, नहीं तो यह तो बला हो गयी और लेने के देने पड़ गये! जितना ही पढ़ा और पोथी-पुराण उलटा उतनी ही आफत बढ़ती गयी, जैसा कि (छान्दोग्य 7। 1। 1-3) तथा "वेदाभ्यासात्पुरातापत्रयमात्रेण दुःखिता। पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभंगगर्वैश्च शोकिता" (पंचदशी 11। 19) में लिखा है। जब दोनों ही गधे की तरह दिन-रात कर्मों में खटते-मरते ही रहेंगे, तो सचमुच ही दोनों में फर्क होगा क्या? इसका उत्तर यह है–

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।। 25।।

हे भारत, कर्मों में लिपटे-चिपटे अनजान लोग जिस तरह उन्हें (पूरा दिल लगा के) करते हैं विद्वान् भी वैसा ही दिल लगा के करे। (मगर फर्क यही रहे कि एक तो वह) उनकी तरह लिपटा-चिपटा न रहे या हाय तोबा न करे। दूसरे उसका लक्ष्य लोकसंग्रह ही रहे। 25।

जो लोग खयाल करते हैं कि निजी स्वार्थ न रहने और आसक्ति खत्म हो जाने पर कर्म उतनी खूबी और लगन के साथ नहीं किये जा सकते, उनका उत्तर भी इसी में आ गया है। विद्वान् का अपना तो समस्त संसार ही हो जाता है–उसका परिवार तो बहुत विस्तृत एवं व्यापक हो गया। इसीलिए उसकी लगन कर्मों में और भी तेज हो जाती है। यह हाय-तोबा न रहने के कारण उसकी सारी दृष्टि इधर-उधर

न बँट के कर्म पर ही रहने से कर्म और भी खूबी तथा सुन्दरता के साथ पूरा होता है। यही तो है कर्म के ऊपर समस्त शक्ति का केन्द्रीभूत (Concentration) होना। हाय-तोबा खत्म हो जाने से बेचैनी—परेशानी—भी नहीं रहती। वह बराबर मस्त भी रहता है।

जिनका विचार हो कि विद्वान् स्वयं तो कर्म लगन के साथ जरूर करे। मगर अज्ञानियों को कुछ समझाता-बुझाता भी रहे कि वे कर्म में आसक्ति छोड़ें और अपनी प्रगति का रास्ता साफ करें, उन्हीं के लिए आगे के चार (26-29) श्लोकों की बातें हैं। दरअसल अविद्वान् और अज्ञानी जनों को दो दलों में बाँट सकते हैं। एक तो ऐसे लोगों का, जो कुछ न कुछ समझते हैं सही। फिर भी विद्वानों के समान या उनके समाज के लायक नहीं होते। उन्हें अक्षरकट्टू कहिये, टटुपुँजिये समझदार कहिये, या अर्द्ध-दग्ध कहिये। मगर उनमें इतनी ही विशेषता होती है कि वे बातें समझते हैं, समझाने से कम-बेश समझ सकते हैं। इसीलिए वे गीता की गिनती में और गीताधर्म की ओर अग्रसर होनेवालों में भी आ सकते हैं, यद्यपि उनका दर्जा सबसे नीचे होता है। ऐसे ही लोगों के बारे में 'असक्तः स विशिष्यते' (3।7) कहा गया है। उन्हें समझाना-बुझाना ठीक ही होता है—उसका कुछ न कुछ परिणाम होता ही है, फिर चाहे जल्द हो या देर से हो।

मगर दूसरा दल ऐसों का होता है जो चींटे की तरह कर्मों से लिपटते हैं, ऊँट की पकड़ पकड़ते हैं। वे जिस चीज को पकड़ते हैं उसे छोड़ना जानते ही नहीं। वे इतने सीधे और भोले होते हैं कि विवेक और अक्ल से उन्हें ताल्लुक होता ही नहीं। वे तो सिर्फ देखा-देखी करते हैं। उन्हें समझाइयेगा तो शायद ही समझें इसीलिए सीधे कह दीजिए कि यह काम करो और वे उसमें तन-मन से लिपट पड़ेंगे। सच पूछिये तो उन्हीं के लिए कह सुनाने की अपेक्षा कर दिखाने की जरूरत कहीं ज्यादा होती है। पहले जो कृष्ण ने अपना दृष्टान्त देकर लोकसंग्रह का विवरण बताया है वह ऐसों ही के लिए हैं। लोकसंग्रह के लोक या लोग ऐसे ही सीधे जन हैं। उन्हीं का संग्रह या सन्मार्ग पर जाना, यही लोकसंग्रह है। उन्हें इधर-उधर भटकने न दे के एक रास्ते में बाँध रखा जाता है।

ऐसे ही लोगों के बारे में एक पण्डितजी के श्राद्ध करवाने की बात कही जाती है। पण्डितजी का यजमान इतना सीधा था कि ठीक ही आँख मूँद के चलता था। पिण्डदान के समय पहले ही पण्डितजी ने उससे कह दिया कि मैं जो बोलूँ वही तुम भी बोलना। उनका आशय तो था मन्त्रों से, कि मैं जो मन्त्र जैसे पढ़ूँ तुम भी वैसे ही पढ़ते जाना। मगर वह था इतना सीधा कि उसने ऊँट की पकड़ पकड़ ली। जब पण्डित ने श्रीगणेश करते हुए उससे कहा कि तैयार हो जाओ, तो वह भी चट बोल बैठा कि तैयार हो जाओ। इस पर पण्डितजी ने रंज हो के कहा कि मैं तुमको पिण्डदान के लिए तैयार हो जाने को कहता हूँ। फिर तो वह भी बोल उठा कि मैं तुमको पिण्डदान के लिए तैयार हो जाने को कहता हूँ! अजीब बात थी! पण्डित जी जो

बोलते थे वह भी वही दुहराता जाता था। उनने लाख कोशिश की कि उसे समझा के ठीक करें। मगर घण्टों इस हुज्जत में लगने पर भी कुछ नतीजा न हुआ। उसने तो उनकी शुरूवाली बात पकड़ ली थी। बस, ऐसे ही लोगों से यहाँ मतलब है। उन्हें समझाने की कोशिश करना बला मोल लेना है, जैसी कि पण्डितजी की हालत हुई, परेशानी हुई, और अन्त में क्रोध में पटका-पटकी तक हो गयी, जिसमें उसने पण्डितजी को धर दबोचा। मजबूत तो था ही। खूबी तो यह कि इतने पर भी वह समझता था कि मैं श्राद्ध ही कर रहा हूँ और यही श्राद्ध है! ऐसे लोगों को समझाने की कोशिश करने पर वह कहीं के नहीं रह जाते। वह तो ऊँट की पकड़वाली एक ही अक्ल जानते हैं, जैसा कि हितोपदेश का मेढक केवल भागने की एक अक्ल—एक बुद्धि जानता था। उपदेश देने में वह बुद्धि भिन्न हो जाती है, टुकड़े-टुकड़े हो जाती है, बँट जाती है और वह आदमी कहीं का रह जाता नहीं।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।। 26।।

कर्मों में लिपटे-चिपटे भोले अज्ञानी जनों की (उस ऊँट की पकड़वाली एक) अक्ल को छिन्न-भिन्न (हर्गिज) न करे। किन्तु योगी विद्वान् स्वयं सभी कर्मों को करता हुआ (देखा-देखी) उनसे भी करवाये। 26।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते।। 27।।

(क्योंकि यद्यपि) प्रकृति के गुणों के द्वारा ही सभी कर्म किये जाते हैं (न कि आत्मा करती है। तो भी) जिनकी आत्मा अहन्ता-ममता—मैं और मेरे के खयाल—के करते बिलकुल ही मोह में—घोर अँधेरे में—फँसी है; फलतः जिन्हें (कुछ भी नहीं सूझता) वह अपने आपको ही करने वाले माने बैठे होते हैं। 27।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते।। 28।

हे महाबाहो, (इसके विपरीत) जो लोग गुणों और कर्मों के हिसाब-किताब और ब्योरे को पूर्ण रूप से जानते हैं—उसकी असलियत को देखते हैं—(कि किस गुण के साथ किस कर्म का कैसा ताल्लुक है) वह तो, यही जानकर कि गुणों से बनी कर्मेन्द्रियाँ ही उन्हीं से बने कर्मों में लगी हैं, उन कर्मों में लिपटते नहीं। 28।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्।। 29।।

(लेकिन) जो प्रकृति के गुणों की इन सभी बातों को कतई जानते ही नहीं, वे गुणों के कर्मों में खुद फँस जाते हैं। (इसीलिए) सारी बातों को पूर्ण रूप से न जान सकने वाले उन नादानों को सभी बातों का जानकर आदमी (हर्गिज) घपले में न डाले। 29।

हमने पहले गुणवाद के प्रकरण में इन तीनों गुणों के सभी पहलुओं पर पूर्ण प्रकाश डाला है। वहीं बताया है कि किस तरह गुण आपस में मिल के चलते और सभी कर्म करते-कराते हैं। इन्द्रियों का भी विवरण अच्छी तरह दिखाया गया है कि कौन सी इन्द्रियाँ किस गुण से बनी हैं। इन्द्रियों को और समूचे संसार को भी—इसीलिए कर्मों को भी—गुण क्यों कहते हैं यह भी बताया गया है। ऊपर के तीन (27-29) श्लोकों में यही बातें कही गयी हैं। इसीलिए कर्मों और इन्द्रियों को भी गुण कहा है और गुणों तथा कर्मों के बँटवारे या विभाग की भी बात इसीलिए कही गयी है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। 30।।

(इसलिए तुम) आत्मज्ञान के बल से सभी कर्मों को मुझमें—भगवान् में—अर्पण करके (और) सभी तरह की आसक्तियों एवं ममताओं से रहित हो के मस्ती के साथ लड़ो। 30।

यहाँ जो 'अध्यात्मचेतसा' दिया है, ठीक इसी तरह की बात 'चेतसा सर्व-कर्माणि' (18। 57) में आयी है। गौर से देखने से मालूम होता है कि दोनों जगह एक ही बात कही गयी है। मगर अठारहवें अध्याय वाले श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य' शब्द भी आया है। उससे पूर्व के (50-56) श्लोकों में ज्ञाननिष्ठा की ही बात आयी है। सो भी सबसे ऊँचे दर्जे की—परा—ज्ञाननिष्ठा की बात। उसी के सिलसिले में छठे अध्याय के ध्यानयोग की ही तरह वहाँ भी ध्यानयोग का और उसके साधन-स्वरूप नियमित भोजन आदि का वर्णन आया है। इससे स्पष्ट हो जाता है समाधि वगैरह के द्वारा पूर्ण आत्म-साक्षात्कार और आत्मानुभव की बात वहाँ कही गयी है। यही वजह है कि उसी समाधि की सिद्धि के लिए कर्मों का स्वरूपतः त्याग भी जरूरी हो जाता है। यह बात वहाँ भी आयी है। मगर आत्मज्ञान होने के बाद भी शायद कर्मों के त्याग पर हठ होने लगे, इसीलिए यह कहने की जरूरत हुई है कि पीछे तो कर्मों के स्वरूपतः संन्यास की जरूरत नहीं होती। यों स्वयमेव छूट जायँ यह बात दूसरी है। तो फिर होता है क्या? होता है यही कि तत्त्वज्ञान के फलस्वरूप कर्मों को अपने में, आत्मा में तो सटने देते नहीं—कर्म आत्मा में तो रहने पाते नहीं। वहाँ से तो निकाल बाहर कर दिये गये! फिर वे रहें कहाँ यह सवाल होने पर उत्तर मिलता है कि जहाँ सारी दुनिया रहती है। यह दुनिया तो भगवान् में ही रहती है यह बात 'मयिसर्वमिदं प्रोतं' (7। 7), 'यो मां पश्यति सर्वत्र' (6। 30), 'वासुदेवः सर्वमिति' (7। 19), 'यस्यान्तः स्थानि भूतानि' (8। 22), 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (9। 4) आदि में साफ ही कही गयी है। इसीलिए 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' (5। 10) में भी कर्मों को ब्रह्म में ही स्थापित कर देने की बात कही गयी है। वही बात यहाँ भी है। ज्ञानी यही समझता है कि मैं तो कुछ कर्त्ता-वर्त्ता नहीं। सृष्टि का काम चलता है तो चले। इसमें अड़ंगा डालने वाला मैं कौन? मैं ऐसा करूँ भी क्यों? जिसकी यह सृष्टि है

वह जाने और उसका काम जाने। मुझे इसकी फिक्र कि ये मेरे कर्म कहाँ रहेंगे और क्या करेंगे? इन सभी वाहियात खुराफातों का भार मेरे ऊपर तो है नहीं। यही है तत्त्वज्ञानपूर्वक कर्मों का भगवान् में अर्पण, निक्षेप, स्थापना या संन्यास।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवा।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यंते तेऽपि कर्मभिः।। 31।।

जो मनुष्य हमारे इस सिद्धान्त के अनुसार काम करने की बराबर कोशिश करेंगे और मेरी बातों में श्रद्धा रखने के साथ ही निन्दा की जरा भी भावना न रखेंगे उनका भी कर्मों से छुटकारा होगा। 31।

इस श्लोक में यद्यपि 'अनुतिष्ठन्ति' शब्द है, जिसका अर्थ होता है कि मेरे मत के अनुसार अनुष्ठान या काम करते हैं। फिर भी यह ठीक नहीं है। क्योंकि उत्तरार्द्ध में जो 'वे भी—तेऽपि' लिखा है उससे पता चलता है कि तत्त्वज्ञानियों के अलावे ये कोई दूसरे ही हैं। तत्त्वज्ञानियों के कर्मों से छुटकारे की बात तो पहले कही चुके। अब उसका कोई मौका हई नहीं। अब तो नयी बात कहनी है। तत्त्वज्ञानियों के लिए श्रद्धा और निन्दा न करने की बात भी नहीं आती। वे तो इन सभी बातों से बहुत दूर और ऊपर होते हैं। उनके नजदीक भी कर्म नहीं फटक पाता। फिर उससे छुटकारे का क्या सवाल? इसीलिए अनुष्ठान या काम करने की कोशिश करते हैं, यही अर्थ हमने किया है। यही उचित भी है। इसलिए नित्य या बराबर कहना भी ठीक होता है। क्योंकि बराबर कोशिश किये बिना सफलता नहीं मिलती है। ज्ञानी के लिए तो बराबर की बात हई नहीं। उसके लिए यह कहना बेकार है। उस कोशिश में ही श्रद्धा का होना और निन्दा-बुद्धि का न होना भी सहायक होता है। इसीलिए जरूरी है। श्रद्धा एवं अनसूया का इतना ही अर्थ है कि ईमानदारी के साथ दिलोजान से यत्न किया जाय।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः।। 32।।

विपरीत इसके जो लोग मेरे इस सिद्धान्त की निन्दा करते हुए इसके अनुष्ठान का यत्न नहीं करते, समझ लो कि उन्हें किसी बात की जरा भी जानकारी नहीं है। हैं वे निर्बुद्धि और चौपटानन्द ही। 32।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।। 33।

ज्ञानी भी (तो) अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलता है। (क्योंकि) सबों को प्रकृति के अनुकूल ही चलना होता है। इसमें रोकथाम क्या करेगी? 33।

इस श्लोक और इसके बाद के दो श्लोकों को समझने के लिए एक तो इसके स्थान और प्रसंग को ठीक-ठीक जानना होगा। दूसरे पूर्व के पाँच (26-30) श्लोकों के अर्थ पर दृष्टि देना पड़ेगा। यह जानने में कुछ दिक्कत नहीं है कि इस श्लोक

का असली स्थान 'मयि सर्वाणि' (3।30) के बाद ही है। क्योंकि बीच के दो श्लोक यों ही प्रासंगिक हैं। कहीं लोग ऐसा न समझ लें कि कृष्ण किसीं प्रकार अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए सारा प्रपंच रच रहे और आडम्बर फैला रहे हैं, इसीलिए 'ये मे मतमिदं' आदि दो (31, 32) श्लोकों में यह कह दिया गया है कि यह सर्वोपयोगी ध्रुवसिद्धान्त है जो सबों के लिए समान रूप से लागू है। अतः जोई इसके अनुसार चलें या चलने की कोशिश ईमानदारी से करें उन्हीं का कल्याण हो जायगा। विपरीत इसके जो ऐसा न करेंगे वे चौपट भी जरूर हो जायँगे। फलतः इन दो श्लोकों का कोई सैद्धान्तिक महत्त्व नहीं है। ये यों ही उठी शंका या खामखयाली को दूर कर देते हैं। इसीलिए बीच में इनके आ जाने पर भी इनके बाद के 33वें श्लोक का सम्बन्ध इनके पहले के 30वें के साथ ही रहता है।

अब जरा पीछे वाले उन पाँचों के अर्थों पर गौर करें। उनमें यही कहा गया है कि नासमझ एवं सीधे-सादे लोगों के सामने ज्ञान कथना न सिर्फ बेकार है, बल्कि खतरनाक भी है। क्योंकि वे दुविधे में पड़ जाते हैं। उनकी बुद्धि ऐसे घपले में आ जाती है कि वे न तो घर के रहते और न घाट के। इतना ही नहीं। यदि समझदार और बड़े-बूढ़े लोग कर्म न करें तो वह देखा-देखी वैसा ही करते हैं। फलतः चौपट हो जाते हैं। ज्ञानियों और बड़े-बूढ़ों की भीतरी बातें वे क्या जानने गये? वे तो ऊपर से कर्मों का त्याग देख के खुद भी वैसा ही कर बैठे—कर बैठते हैं। इसीलिए ज्ञानियों के कर्मत्याग में यह बड़ा खतरा है। इसी से कृष्ण ने इसे रोका है और कहा है कि परमात्मा में ही कर्मों को छोड़ के ज्ञानी लोग उन्हें करते चलें। वे तो यह समझते ही हैं कि कर्म तो गुणों में हैं, प्रकृति के भीतर हैं, हममें तो हैं नहीं, हम तो उनसे बेलाग हैं।

ज्ञानी जनों के इसी खयाल के साथ कि हममें तो कर्म हैं नहीं, किन्तु गुणों में ही हैं, यदि यह खयाल भी आ मिले, जो पीछे के सत्रहवें श्लोक में आ गया है कि मस्तराम को कुछ भी करना-धरना रह नहीं जाता; फलस्वरूप वे लोग—आमतौर से यदि यही मान बैठें कि जब कर्मों का ताल्लुक हमसे हई नहीं तो फिर हम करें ही क्यों? जब 'गुणागुणेषु वर्तन्ते' ही है तो फिर हम नाहक माथापच्ची क्यों करें? परेशानी क्यों उठायें? तो क्या होगा? नासमझ लोग तो प्रकृति के गुणों के बारे में निरे कोरे हैं, कुछ भी नहीं जानते। इसलिए वे भले ही कर्मों में चिपटें उनके लिए कर्म ठीक भी हैं। मगर हम ज्ञानीजन उनमें क्यों मरे-पिचें? हमें तो अपनी बात पहले देखनी है, पीछे दूसरों की, यदि यह खयाल पक्का हो जाय तो कर्म छूटी जायेंगे। कम से कम कर्मों के लिए एक भारी खतरा तो खड़ा होई जायगा और सारा उपदेश बेकार जायगा। बस, इसी का उत्तर आगे के श्लोक देते हैं।

ये श्लोक तीन बातें कहते हैं। श्लोक भी तीन ही हैं। इसीलिए क्रमशः तीनों की एक-एक बातें हैं। पहला—33वाँ—तो इतना ही कहता है कि मस्तराम को देख के दूसरे ज्ञानी कैसे हाथ-पाँव रोक देंगे, यदि वे चाहें भी? प्रकृति के गुणों की जो

बात उनके बारे में कही जाती है उसकी आधी ही बात क्यों ली जाय और पूरी क्यों नहीं? एक तो मस्तराम की प्रकृति निराली और शेष ज्ञानी जनों की दूसरी ठहरी। प्रकृति के मानी तो यहाँ शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि होंगे न? प्रकृति का कोई दूसरा रूप तो होगा नहीं, जब हर आदमी के प्रति उसका विचार किया जायगा। ऐसी दशा में मस्तराम के मन आदि दूसरे और शेष जनों के निराले ही ठहरे। और अगर मस्तराम के मन आदि कर्मों से हट भी जायँ या कर्म ही पके फल की तरह उनसे हट जायँ, तो इसका दूसरे के मन, इन्द्रियादि से क्या सम्बन्ध? दूसरे के मन, इन्द्रिय आदि क्यों हटेंगे? वे तो दूसरे हैं और अपनी-अपनी प्रकृति के ही अनुसार सभी चलते हैं। दूसरी बात यह भी है कि प्रकृति के गुणों की जैसी यह बात है कि कर्मों का ताल्लुक उन्हीं से है, न कि आत्मा से; ठीक वैसी यह बात भी तो है कि गुण कर्मों को कभी छोड़ नहीं सकते; मजबूरन कर्म करना ही पड़ता है—"कार्यतेह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः" (3।5)? फिर यदि कोई भी ज्ञानी जन जबर्दस्ती हाथ-पाँव रोक के कर्म से हटना चाहेंगे तो यह कैसे होगा? उनकी यह रोकथाम क्या कुछ भी कर सकेगी? वह तो महज बेकार साबित होगी।

तब फौरन यह प्रश्न उठता है कि यदि हाथ-पाँव आदि इन्द्रियों की रोकथाम होई नहीं सकती, जब रोकथाम बेकार है, क्योंकि वह कुछ भी कर सकती ही नहीं, तो ज्ञानेन्द्रियों की रोकथाम भी कैसे सम्भव है? आखिर सभी इन्द्रियाँ तो गुणों से ही बनी हैं न? और जब प्रकृति या उसके गुणों पर ही कब्जा नहीं है, तो फिर इन्द्रियों पर कैसे होगा, चाहे ज्ञानेन्द्रियाँ हों या कर्मेन्द्रियाँ, ऐसी हालत में इन्द्रियों के निग्रह, रोकथाम या नियमन का सवाल ही बेकार हो जाता है। और अगर यही बात मान लें, तो 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः' (2।58), 'तानि सर्वाणि संयम्य' (2।61) तथा 'तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि' (2।68) में इन्द्रियों के निग्रह पर जो सबसे ज्यादा जोर दिया गया है और जो स्थितप्रज्ञ और योगी के लिए बुनियादी एवं मौलिक वस्तु माना गया है वह कैसे ठीक होगा? यही नहीं। इन्द्रियनिग्रह तो अध्यात्मशास्त्र और योग की सबसे मुख्य बात मानी जाती है और वही अब झूठी साबित होती है।

इसका उत्तर बादवाला श्लोक यों देता है। आखिर शरीरयात्रा के लिए इन्द्रियों की क्रिया जरूरी है और ज्ञान या विवेक के भी लिए। हाँ, इनके विषयों के साथ जो रागद्वेष हैं उन पर जरूर ही नियन्त्रण चाहिए—राग और द्वेष को ही खत्म करना चाहिए। यह बात बराबर सम्भव भी है। प्रकृति के ही गुणों में सत्त्व ऐसा है कि यदि उसकी प्रगति हो, पूर्ण विकास हो तो रागद्वेष को मिटा दे और हमें उनके चंगुल में कभी फँसने न दे। वह खतरे से पहले ही आगाह जो कर देता है।

इसीलिए अर्जुन ने शुरू में ही जो कहा था कि मुझे यदि कर्म में भी लगाते हो, तो लगाओ, मगर हिंसात्मक युद्ध में क्यों खामख्वाह धकेलते हैं, उसका भी उत्तर हो जाता है। बाद का 35वाँ श्लोक यही उत्तर देता है कि यद्यपि युद्ध हिंसात्मक

है, तो भी क्षत्रिय के लिए और खासकर अर्जुन के लिए तो वह स्वधर्म है, उसका निजी कर्तव्य है। अठारहवें अध्याय में तो साफ ही कहा है कि युद्ध क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म है, 'क्षात्रं कर्म स्वभावजम्' (18।43) इसलिए 'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः' (18।45) तथा 'स्वभावनियतं कर्म' (18।47) में स्पष्ट कह दिया है कि ऐसे स्वधर्मों एवं स्वाभाविक कर्मों के करने में पाप और बुराई का तो सवाल ही नहीं। प्रत्युत इन्हीं से कल्याण होता है। 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' (4।13) का भी यही आशय है। प्रकृति कहिये, या स्वभाव कहिये। बात तो एक ही है। अर्जुन को यही कहा गया है कि स्वधर्म को छोड़ परधर्म में जाना खतरनाक है। वह तो 'देशी मुर्गी बिलायती बोल' वाली बात हो जायगी। फिर तो ऐसा करने वाले कहीं के न रह जायँगे।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।34।।

प्रत्येक इन्द्रिय के विषय के साथ राग और द्वेष नियमित रूप से लगे हैं। इसलिए उनके वश में कभी न जाये। क्योंकि इस आत्मा के बटमार और लुटेरे वही दोनों हैं।34।

श्रेयान्स्वधर्मो त्रिगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।35।।

दूसरे के बहुत अच्छी तरह पूरे किये गये धर्म की अपेक्षा अपना धर्म (देखने में) खराब या अधूरा रहने पर भी कहीं अच्छा है। (इसलिए) अपने धर्म के पीछे मर-मिटना ही अच्छा है। दूसरे का धर्म तो खतरनाक है।35।

लेकिन यह तो आमतौर से देखा जाता है कि लोग गलत रास्ते पर जाते हैं और अपना कर्तव्य पालन नहीं करते। युद्ध की निन्दा करना और इसे बुरा ठहराना यह आम बात है। लोग इससे हिचकते और भागते भी हैं—वही लोग जिनका यह स्वधर्म है। सभी बातों में यही देखा जाता है कि आमतौर से लोग पाप या कुकर्म की ही ओर झुकते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि नाहक की मारकाट, निर्दयता, दुराचार-व्यभिचार मिथ्या भाषण आदि ही स्वाभाविक तथा प्राकृतिक चीजें हैं। जैसे चटाई के किनारे को पकड़ के मोड़ने में ऐसा होता है कि जब तक दबाव रहता है तभी तक मुड़ी रहती है और ज्योंही दबाव हटा कि ज्यों की त्यों हुई। ठीक वैसे ही मन और इन्द्रियों पर जब तक दबाव है, कुकर्म से बचती हैं। मगर ज्योंही दबाव हटा कि फिर वही पाप और कुकर्म। कुत्ते की पूँछ की सी हालत है। जब तक दबाओ तभी तक सीधी रहती है, नहीं तो फिर टेढ़ी की टेढ़ी । जैसा उसका टेढ़ापन या चटाई का सीधापन स्वाभाविक है, वैसे ही, मालूम पड़ता है, बुराई ही इन्द्रियों का स्वभाव है। इसी से देखते हैं कि युग-युगान्तर से ऋषि-मुनि, अवतार, पीर-पैगम्बर और औलिया हजारों और लाखों हुए। उनने उपदेश भी दिया। मगर संसार में उसी असत्य, उसी व्यभिचार, उसी निर्दयता आदि का ही बोलबाला है! मानो कुछ हुआ

ही नहीं! गोया यही असली एवं अकृत्रिम बातें हैं और सत्य आदि ही कृत्रिम हैं! यहीं नहीं; बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी कभी न कभी इनमें फँसी गये हैं ! जब समाज के लिए सत्य आदि ही आवश्यक हैं और ठीक भी हैं और जब प्राकृतिक धर्मों का ही करना जरूरी है, उन्हीं को करना ही चाहिए, तो यह उलटी बात क्यों होती है, यही बड़ी सी पहेली अर्जुन के सामने खड़ी है। इसीलिए–

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। 36।।

अर्जुन ने पूछा–हे वार्ष्णेय, भला (बताइए तो सही कि) हजार न चाहने पर भी यह मनुष्य बुरा कर्म किसके दबाव से–क्यों–कर डालता है? मालूम पड़ता है, जैसे किसी ने जबर्दस्ती करवाया हो! 36।

इसीलिए दुर्योधन के बारे में कहा जाता है कि उसने कहा था कि, यह जानते हुए भी कि पाण्डवों का हक देना उचित है, मैं दे नहीं सकता। साथ ही, द्रौपदी आदि के साथ वाले दुर्व्यवहार को बुरा समझते हुए भी मैं उससे बाज नहीं आ सकता। मालूम पड़ता है, कोई बड़ी भारी शक्ति भीतर बैठी जबर्दस्ती करवा रही है–"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः। केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"। क्या चोर नहीं समझता कि चोरी बुरी है ? क्या व्यभिचारी नहीं समझता कि यह काम खराब है? फिर भी सभी वही करते ही हैं! प्रश्न होता है कि नहीं चाहते हुए भी करने का रहस्य क्या है?

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। 37।।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया–यह काम–राग–है और यही क्रोध–द्वेष–भी है। इसकी उत्पत्ति रजोगुण से होती है। इसका पेट कभी भरता ही नहीं। यह पुराना पापी है। इस दुनिया में इसी को बैरी समझो। 37।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।। 38।।

जैसे धुएँ से आग छिपी रहती है, जिस तरह मैल से आईना छिपा होता है, (या) जिस प्रकार गर्भ की झिल्ली में बच्चा छिपा रहता है, उसी तरह उस काम ने इस (ज्ञान) को छिपा दिया है। 38।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।। 39।।

ज्ञानियों के सदा के इस शत्रु ने, जिसे काम कहते हैं, जो कभी पूरा होता ही नहीं और जिसका अन्त भी नहीं होता या जो आग की तरह भीतर ही भीतर जलाता रहता है, ज्ञान को छिपा रखा है। 39।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।। 40।।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि (यही तीन) इसके अड्डे हैं। इन्हीं के द्वारा ज्ञान या भले-बुरे के विवेक पर पर्दा डाल के यह काम आत्मा को भटका देता है—किंकर्तव्यविमूढ़ कर देता है। 40।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।। 41।।

इसलिए हे भरतश्रेष्ठ, पहले तुम इन्द्रियों को ही नियन्त्रण में ला के ज्ञान और विज्ञान को चौपट करने वाले इस बदमाश को जड़ से जरूर खत्म करो। 41।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परस्ततु सः।। 42।।

(और पदार्थों की अपेक्षा) इन्द्रियाँ ऊँची या बड़ी हैं, इन्द्रियों से भी बड़ा मन है, मन से ऊपर बुद्धि है और जो बुद्धि के भी ऊपर है वही वह (आत्मा है)। 42।

एवं बुद्धेः परं बुद्धवा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। 43।।

हे महाबाहो, बुद्धि के भी ऊपर रहने वाली आत्मा को इस प्रकार जानकर और स्वयमेव मन को रोक के, वश में करके बड़ी दिक्कत से पकड़े जाने वाले कामरूपी इस शत्रु को खत्म करो। 43।

यहाँ दो-एक जरूरी बातें जाने बिना अन्त के चार-पाँच श्लोकों के अर्थ समझने में दिक्कत होगी। इसीलिए वे बातें कह देना जरूरी हैं। यह तो दूसरे अध्याय में ही कह चुके हैं कि काम और क्रोध एक ही चीजें हैं। उसी की सफाई यहाँ की गयी है। सोलहवें अध्याय के अन्त में इन्हीं दो के साथ लोभ भी जुट गया है 'कामःक्रोधस्तथा लोभः' (16। 21)। जिस तरह काम और क्रोध एक हैं, उसी तरह लोभ भी काम से भिन्न नहीं है। असल में इस काम, कामना, वासना या इच्छा के ही ये क्रोध और लोभ दो रूप हैं, जो परिस्थितिवश बन जाते हैं—काम को ही क्रोध के रूप में और लोभ के रूप में परिणत हो जाना पड़ता है। जिसे कामना नहीं उसे क्रोध और लोभ से भी कोई ताल्लुक नहीं है। क्रोध से कैसे भीतर अन्धकार हो जाता है यह 'क्रोधाद्भवति सम्मोहः' के अर्थ में स्पष्ट दिखा चुके हैं। उसी को आवरण या पर्दे के रूप में यहाँ कहा है।

यह काम ही विवेकी जनों का असल शत्रु है। इसका नाश इसीलिए जरूरी है। मगर इसके अड्डे का पता चले तब न इस पर धावा बोलें? इसलिए इन्द्रिय,

मन और बुद्धि इन तीनों को ही इसका अड्डा बता दिया है। यह रहता तो है दरअसल अन्तःकरण में और उसी के रूप हैं मन और बुद्धि। मगर इन्द्रियों के बिना बाहर तो मन या बुद्धि जा नहीं सकती और बाहरी पदार्थों में ही रागद्वेष होते हैं। बाहरी से तात्पर्य है भौतिक पदार्थों से। इसीलिए इन्द्रियों को भी अड्डा करार दिया है। बुद्धि यदि ठीक हो, विवेकयुक्त हो तो भी काम रहेई न। इसीलिए उसे भी इसका डेरा कहा है। यों तो असली डेरा मन ही है। इस प्रकार तीन अड्डे हो गये। लिखा है भी कि इन तीनों की मदद से ही देह के मालिक—देही—आत्मा को यह काम भटका देता है।

अब रहा इसे खत्म करने का उपाय। असली बला तो इन्द्रियाँ ही हैं। न वे बाहर मनीराम को जाने देंगी और न कामना होगी। इसलिए यह तो आसानी से जाना जा सकता है कि इस तरफ पहला कदम जो बढ़ेगा वह इन्द्रियों पर नियन्त्रण, अंकुश या कब्जा रखने से ही शुरू होगा। इसीलिए कह दिया है कि इन्द्रियों को सबसे पहले बिना सोचे-विचारे ही आँख मूँद के कब्जे में करो। उसके बाद आगे का उपाय सोचो। ऐसा कहने का यह अर्थ कभी नहीं है कि सिर्फ इन्द्रियों को रोक कर ही इसे खत्म करेंगे। तब तो आगे के श्लोकों में कही बातें बेकार हो जायेंगी। केवल इन्द्रियों के रोकने से यह मर भी नहीं सकता। इसके दूसरे भी तो अड्डे हैं और वही असली हैं—बुनियादी हैं। बिना मन और बुद्धि को वश में किये इन्द्रियाँ सोलह आने वश में हो भी नहीं सकती हैं। इसीलिए हमने कहा है कि उनका रोकना नींव या श्रीगणेशायनमः ही समझिए।

असली उपाय यह बताया है कि इन्द्रियाँ शरीर और अन्य पदार्थों से बड़ी या उनके ऊपर हैं। वही शरीर को दौड़ाती रहती हैं। सिनेमा, गान, भोज में खींच ले जाती हैं। यद्यपि विषय इन्द्रियों को भी खींचते हैं। तथापि उन्हें यहाँ छोड़ दिया है। क्योंकि अड्डों को ही पकड़ना था। इन्द्रियों के ऊपर है मन और मन के ऊपर बुद्धि। आत्मा तो सभी का मालिक है। देह में ही ये सब हैं और देही वही है। यह बात पहले अच्छी तरह समझाई जा चुकी है। अब काम यों होता है कि पहले आत्मा का तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। फिर बुद्धि से उसके आनन्द का अनुभव करते हैं। इस तरह बुद्धि को उसमें फँसा देने पर—क्योंकि वह आनन्द हई ऐसा कि एक बार मजा आने पर बुद्धि वहाँ से हट सकती ही नहीं—मन भी उधर ही खिंचेगा। कोचवान के ही हाथ में लगाम होती है न? और मन है लगाम और बुद्धि कोचवान। फिर तो इन्द्रियाँ भी खिंच गयीं और बाहरी पदार्थों में न जा के आत्मा में ही लग गयीं। तब काम महाराज रहेंगे कहाँ? कुछ समय इन्तजार करके हमेशा के लिए उन्हें आत्महत्या करनी पड़ती है जब पूर्ण निराश हो जाते हैं। फलतः ज्ञान और विज्ञान का ही बोलबाला रहता है। इन दोनों का अर्थ बताया जा चुका है।

इन्द्रिय और मन आदि को जो एक दूसरे के ऊपर कहा है यही...विषय, महान्

और अव्यक्त को जोड़ के कठोपनिषद् में भी दो बार यों आयी है, "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः"। 10। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्नपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः" 11। (1। 3), तथा "इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तम्। सत्त्वादधिमहानात्मामह तोऽव्यक्तमुत्तमम्। 7। अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंगएव! यज्ज्ञात्वामुच्यते जन्तुरमृतत्त्वं च गच्छति"। 8। (2। 6)। यहाँ सत्त्व का अर्थ है बुद्धि और महान् आत्मा का अर्थ है महत् या महतत्त्व। अव्यक्त नाम है प्रकृति का। क्रम तो यही है। मगर गीता को इस विस्तार से कोई काम नहीं है। वह तो बुद्धि को ही आत्मा में लगा के मन और इन्द्रियों को अपनी ही ओर खींच लेना और इस तरह काम, राग या अभिलाषा को मार डालना चाहती है। उसने यही बताया भी है।

आखिरी श्लोक जो में दुरासद शब्द है उसका अर्थ है बड़ी कठिनाई से पकड़ा जाने वाला। असल में इस राग या काम के इतने स्थूल, सूक्ष्म और विभिन्न रूप हैं कि जल्द उनका पता लगना असम्भव है। काम की हालत भी यह है कि धोखा दे के फँसा लेता है और पता ही नहीं चलता है कि फँस गये हैं। भक्ति और उपासना के नाम पर जानें कितने ही प्रपंच रचे जाते हैं जो पतन के ही मार्ग हैं। मगर पता ही नहीं लगता और लोग उनमें फँस जाते हैं; इसीलिए इसे दुरासद कहा है ताकि लोग सजग रहें।

इस अध्याय में साधारण से साधारण कर्मों से ही शुरू किया है और अन्त तक उसी की बात कहते आये हैं। मामूली से मामूली कर्मों से लेकर ऊँचे से ऊँचे या कर्मयोग तक का वर्णन इसमें आ गया है। 'मयि सर्वाणि' (3। 30) में आखिर है क्या यदि कर्मयोग नहीं है? इसलिए समूचे अध्याय पर कर्म की ही छाप लगी है। यही कारण है कि ज्ञान की जो बात आयी है वह गौण या अप्रधान है। वह या तो उसी का साधन है या मस्ती का ही; जैसा कि 'यस्त्वात्मरतिः' (3। 17) में कहा है। फलतः कर्म की प्रधानता के कारण इस अध्याय का विषय कर्म ही है। जैसे दूसरे अध्याय का विषय सांख्य या ज्ञान है। ज्ञान से ही शुरू करके बीच में और अन्त में भी उसी का वर्णन है। कर्म तो बीच में ही आया है, सो भी अप्रधान रूप से ही।

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।। 3।।

श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योगशास्त्र में जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय यही है।

चौथा अध्याय

अब तक कृष्ण ने जो उपदेश अर्जुन को दिया है उससे उसकी आँखों का पर्दा हट गया और उसे नयी दुनिया दीख पड़ी। उसने तो कुछ दूसरा ही समझ रखा था। लेकिन इन दो अध्यायों के उपदेशों के बाद पाया कुछ और ही। दूसरे अध्याय के उपदेशों के उपरान्त अर्जुन के दिमाग की सफाई हो पाई न थी। क्योंकि उसके सामने तो असली मसला था युद्ध का। यों तो सारे कर्मों की ही समस्या उसे सुलझानी थी। कारण, उसकी तर्क-दलील ने इनके पुराने आधारों और दुर्गों को ही ध्वंस कर दिया था। धर्मशास्त्रीय विधान उसके सामने लापता थे—पस्त थे। तो भी उसका असली संकट था मरने-मारने वाला यह जघन्य कृत्य जिसे युद्ध कहते हैं। सामने तत्काल वही था भी। उसी को ले के उसे इतना बड़ा विराग भी हुआ था और स्वतन्त्र बुद्धि से उसने सारे विधानों को तौल के उन्हें कच्चा तथा नाकाफी ठहराया था। इसीलिए तीसरे अध्याय के शुरू में ही उसने अपना मनोभाव साफ व्यक्त कर दिया था कि खैर एक तो कर्म ही बुरे और तुच्छ हैं। फिर उनमें भी यह घोर कर्म! मुझे इसमें फँसाने का क्या काम है यदि ज्ञान ही श्रेष्ठ है, यह उसने साफ कह दिया था। अब तक ज्ञानमार्ग की खूबियाँ वह जान सका था जरूर। मगर कर्मों की पेचीदगी उसे विदित हो सकी न थी। यह समस्या अभी उलझी हुई थी।

मगर कृष्ण ने तीसरे अध्याय में जो कुछ भी कहा उससे सारी बातें आईने की तरह झलक उठीं। अब उसके मन में शक-शुभे की जरा भी गुंजाइश रही नहीं गयी थी। अगर कहें तो कह सकते हैं कि एक प्रकार से गीता का काम इतने से ही पूरा हो जाता है। असली और मुख्य जो दो बातें गीता की हैं वे इन्हीं दोनों में आ गयी हैं। यह ठीक है कि इनके कुछ पहलू छूटे हैं और उन्हीं का निरूपण आगे के 4, 5, 6, अध्यायों में हो जाने पर शेष गीता में इन्हीं बातों का स्पष्टीकरण करके 18वें में उपसंहार किया है। इस दृष्टि से तीसरे अध्याय के अन्त में ज्ञान-विज्ञान का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। उससे पता चलता है कि जिस ज्ञान और विज्ञान की बात आगे पुनरपि सातवें अध्याय में शुरू होती है और नवें में फिर जिसका जिक्र करते हैं वही गीता की असल चीज है। उसके वर्णन दूसरे और तीसरे अध्यायों में मुख्यतया

आ भी चुके हैं। हाँ, जो कुछ उनके खास पहलू बचे थे उन्हीं का आगे छठे अध्याय तक निरूपण है, विवेचन है।

हाँ, तो पिछले अध्यायों के उपदेशों से अर्जुन को कुछ खास बातें भी मालूम हो गयीं जिनका उसे स्वप्न में भी खयाल न था। आत्मा की अजरता, अमरता और अविनाशिता का जो सुन्दर से सुन्दर वर्णन हुआ है और मरण-जीवन को जिस अपूर्व ढंग से बताया गया है कि दरअसल ये क्या हैं, उनने उसकी आँखें खोल दीं। उसने एक नयी दुनिया ही सचमुच देखी जिसकी कभी आशा भी न थी। मगर इससे भी निरालापन तीसरे अध्याय में और दूसरे के मध्य में भी उसने कर्म के बारे में पाया। जानें कहाँ की अलौकिक बातें और खूबियाँ मालूम हुईं। खासकर कर्म का जो सर्वांग रहस्य उसके सामने पूरे ब्योरे के साथ आ गया उसका तो उसे सारे पोथी-पुराणों और वैदिक ग्रन्थों के मन्थन से भी आभास तक न मिल सका था। इस मामूली से कर्म के भीतर इतनी बारीकियाँ छिपी हैं यह जान के स्वभावतः वह आश्चर्यचकित सा हो रहा है यह बात कृष्ण भी ताड़ गये थे। वह सोचता था कि इसमें अभी जानें और कितनी बातें होंगी। मगर उसे ताज्जुब था कि इतनी महत्त्वपूर्ण बातें लोगों को अब तक मालूम क्यों न थीं? यदि किसी एक को भी मालूम होतीं तो वह जरूर ही कह-सुन गया होता, लिख-पढ़ गया होता। हो न हो, यह एकदम नयी बातें कृष्ण के ही अलौकिक मस्तिष्क की उपज हैं—बिलकुल ही ताजी और नयी हैं!

इससे जहाँ एक ओर उसे गर्व और फख्र हो सकता था कि भगवान् ने मेरे ऊपर बड़ी ही कृपा की जो सारा रहस्य समझाया, अतः मैं धन्य हूँ। तहाँ दूसरी ओर इस बात की भी गुंजाइश थी कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि केवल युद्ध में जुझाने के ही लिए नयी-नयी युक्तियाँ, जो आज तक देखी-सुनी भी न गईं, पेश की जा रही हैं। जब इस तरह की बातें कहिए-सुनिए तो आमतौर से ऐसे खयाल अकसर हुआ करते हैं कि देखो न, कितना गुरुघण्टाल है कि युक्तियों के नए जाल में फाँस के अपना काम निकाल लेना चाहता है! यह भी बात है कि यदि धर्म-कर्म के मामले में लोगों को यह पता लग जाय कि एकदम नयी बात कही जाती है जो पहले कभी आयी न थी और प्रचलित धारणा या रीति-रिवाज के खिलाफ है, तो लोग एकाएक भड़क उठते हैं। यह चीज हमेशा ही देखी गयी है। इसलिए कृष्ण के इस अनूठे उपदेश में भी इसकी सम्भावना थी और काफी थी। कृष्ण जैसे विज्ञ महापुरुष को इसे ताड़ते देर भी नहीं लग सकती थी। यदि इससे बचने के लिए यह कहा जाता कि नहीं-नहीं, यह तो पुरानी बात है, प्राचीनतम है, जिसे कृष्ण ने फिर दुहराया है, तो शंका हो सकती थी कि उन्हें यह मालूम कैसे हो सकी? जब साधारणतः इसका उपदेश होता-जाता ही नहीं और न चर्चा ही सुनी जाती है—जब यह लापता है, तो एकाएक कृष्ण को मालूम कैसे हो गयी? यह भी तो दिमाग में आ सकने वाली बात नहीं है कि उन्हें यों ही विदित हो गयी।

पूर्ण व्यवहारकुशल होने के नाते, और अर्जुन की भावभंगी को देखकर भी, कृष्ण के मन में स्वयमेव ये सारे खयाल आ जाने जरूरी थे। आ गये भी। इसी लिए उनने अर्जुन को प्रश्न करने का मौका तक नहीं देकर स्वयमेव चौथे अध्याय के आरम्भ के दस श्लोकों में इस बात का पूरा खुलासा कर दिया। असल में प्रश्न के उत्तर देने पर वह मजा नहीं आता जो बिना पूछे ही अपने मन से ही ताड़ के उत्तर देने में आता है। इससे एक तो सुनने वाला बाग़-बाग़ हो जाता है। उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता कि जो विचार उसे खटक रहे थे उनकी पूरी सफाई हो गयी। इसी के साथ इससे उपदेशक की पहुँच और पूर्ण योग्यता पर भी उसे विश्वास हो जाता है। यह भी होता है कि सुनने वाले के मन में खयाल न भी उठें। ऐसी दशा में इनका उत्तर तत्काल न दिये जाने पर आगे चल के यही प्रश्न उठ सकते और विषय को कम से कम किरकिरा तो जरूर बना दे सकते हैं। क्योंकि बहुत सम्भव है कि उस उपदेशक के न रहने पर दूसरे लोग सारी बातों का रहस्य पूर्णतया हृदयंगम न कर सकने के कारण उन खयालों और प्रश्नों के यथार्थ और दिल में बैठ जाने वाले उत्तर न दे सकें। इसीलिए बिना कहे सुने ही–

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।1।।

श्री भगवान् ने कहा–मैंने (खुद) विवस्वान्–सूर्य–को (सृष्टि के आरम्भ काल में ही) इस चिरस्थायी योग का उपदेश दिया था। (उसके बाद कालान्तर में) विवस्वान् ने मनु को (इसे) बताया था और मनु ने इक्ष्वाकु को।1।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।।2।।

हे परन्तप, इस प्रकार परम्परा–गुरुशिष्य प्रणाली–से चले आने वाले इस योग को राजर्षि लोग (जरूर) जानते थे। (मगर) वही योग दरम्यानवाले वाले लम्बे समय के चलते यहाँ लापता हो गया था।2।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।3।।

यह वही प्राचीन योग है जिसे आज मैंने तुमसे कहा है। (क्योंकि) तुम मेरे साथी और भक्त (दोनों ही) हो (और) यह भी अत्यन्त गोपनीय चीज है।3।

यहाँ दो एक जरूरी बातें जान के आगे बढ़ें तो ठीक हो। आज तो कुछ इतना साफ पता चलता नहीं कि बात क्या है। मगर स्मृति-ग्रन्थों एवं इतिहास-पुराणों को देखने से यही पता लगता है कि भगवान् ने जो भी सृष्टि की वह आदित्य, सूर्य या विवस्वान् से ही शुरू हुई। उनने विवस्वान् को बनाया, उत्पन्न किया। विवस्वान्

में मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को। उसके बाद आगे का विस्तार चला। इतना तो सही है, जिसे पहले के लोग भी मानते थे और आज का विज्ञान भी मानता है, कि सूर्य अपार शक्तियों का केन्द्र है। वैदिक मन्त्रों में इसका बहुत कीर्त्तन आता है। गायत्री मन्त्र, जो हिन्दुओं का प्रतिदिन जपने का सर्वप्रधान मन्त्र है, सविता या सृष्टि के विस्तार करने वाले के रूप में ही सूर्य का ध्यान करने की बात कहता है। सूर्य से कैसे जीवसृष्टि का विकास हुआ यह बात यहाँ कहने की है नहीं। हमें तो गीता की परम्परा से ही मतलब है।

यह भी रिवाज पहले था कि अपने पुत्रों को पिता ही आवश्यक एवं गोपनीय बातें बता दिया करता था। इसीलिए पिता-पुत्र का ही नाता गुरु-शिष्य का भी हो जाता था। हाँ, जब किसी कारण से पिता उपदेश न कर सके, या वह ऐसी बातें न जानता हो जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हैं तभी दूसरे गुरु से वह सीखी जाती थीं। बस, यही गुरु-शिष्य की प्रणाली पहले थी जिसे परम्परा शब्द से यहाँ याद किया है। इसे परम्परा ही कहते भी हैं। इस प्रकार अपने-अपने पुत्रों को ही जब लोग उपदेश करते थे तो इसी नियम के अनुसार भगवान् ने अपने पुत्र विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को उपदेश किया था। इस प्रकार अन्यान्य उपदेशों के साथ ही गीतोक्त इस गीताधर्म या योग का भी उपदेश सृष्टि के आरम्भ में ही हुआ था। महाभारत के शान्तिपर्व के 346, 347, 348 आदि अध्यायों में इस बात का विशेष वर्णन पाया जाता है कि प्रत्येक सृष्टि के शुरू में किस तरह ऐसी बातों की परम्परा चलती है। वहीं लिखा है कि सत्ययुग में भगवान् ने विवस्वान् को इसे बताया था। "उनने उसके बाद त्रेतायुग के शुरू में ही मनु को बताया, मनु ने लोगों के कल्याण तथा फलने-फूलने के ही उद्देश्य से अपने पुत्र इक्ष्वाकु को और इक्ष्वाकु ने बहुत लोगों को बताया। इस तरह सभी लोगों की जानकारी में आ जाने के कारण यह धर्म कायम रहा। मगर प्रलय होने पर फिर यह चीज नारायण के ही पास वापस चली जायगी'—"त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ। मनुश्चलोकभृत्यार्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ। 59। इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः। गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप। 52।" यह जान लेना होगा कि यह बात किसी एक ही या खास धर्म के ही लिए नहीं है। प्रसंगवश किसी एक के कहने पर भी प्राचीन ग्रन्थों से यही सिद्ध होता है कि सभी आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण बातें इसी परम्परा के अनुसार प्रचलित हुईं। उन्हीं में यह गीता का योग भी एक है। हिन्दुओं के दार्शनिक ग्रन्थों तक में यह मिलता है कि समाजोपयोगी सभी कलाओं का—यहाँ तक कि बर्त्तन, वस्त्रादि बनाने का भी—इसी प्रकार उपदेश किया गया। इसीलिए पंतजलि ने योगदर्शन में लिखा है कि भगवान् ही सबों का गुरु है—गुरुओं का भी गुरु है—"पूर्वेषामपि गुरुः कालेनान-वच्छेदान्" (1। 26)

दूसरे श्लोक में जो लिखा है कि राजर्षि लोग इसे जानते थे—"इमं राजर्षयो

विदुः," यह भी एक निराली चीज है। गीता में लोक-संग्रह के दृष्टान्त के रूप में कृष्ण ने अपना और जनक का नाम कहा है। खुद तो क्षत्रिय कुल में जनमे थे ही। जनक भी ऐसे ही थे। उपनिषदों में भी जानश्रुति पौत्रायण, प्रवाहण, प्रतर्दन आदि क्षत्रियों का ही विशेष उल्लेख ऐसे मामलों में पाया जाता है। प्रवाहण को तो साफ ही राजन्यबन्धु लिखा है। यहाँ तक कि पंचाग्निविद्या के प्रकरण में छान्दोग्य (5।3।7) तथा वृहदारण्यक (6।2।8) दोनों ही उपनिषदों में साफ ही लिखा है कि जब आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से साफ ही कह दिया कि प्रवाहण के पंचाग्नि-विद्या-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर मैं भी नहीं दे सकता; क्योंकि मैं भी यह जानता ही नहीं, और इसके बाद जब दोनों बाप-बेटों ने प्रवाहण के पास जा के साफ ही कह दिया कि हम तो क्या हमारे बाप-दादे तक भी इसे नहीं जानते थे, इसलिए आप ही बताइए, तो उसे पहले तो बड़ा ताज्जुब और संकोच हुआ। फिर उसने कहा कि यदि ऐसा है तब क्या करूँगा, बताऊँगा जरूर ही, "यथा मात्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति" (छां. 5।3।7), "सहोवाच यथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्व न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास" (वृह. 6।2।8)। इतना ही नहीं, वहाँ तो यह भी लिखा है कि कोई भी ब्राह्मण यह विद्या तब तक जानता ही न था। छान्दोग्य में यह भी लिख दिया है कि शासनकार्य क्षत्रिय ही करते थे और उन्हीं को इसकी खास जरूरत भी होती थी। इसीलिए ही शायद दूसरे जान न सके। किन्तु वही लोग जानते थे—"तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रियस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मैहोवाच" (5।3।7) जो भी हो, बात बड़ी मजेदार है। यह ब्राह्मणों के इस दावे पर आघात भी करती है कि विद्या उन्हीं की चीज है और वही दूसरों को सिखाते हैं, सिखा सकते हैं। परन्तु हमें यहाँ केवल इतना ही कहना है कि विद्वान् क्षत्रिय राजे ही राजर्षि कहे जाते थे। वही इस योग को भी जानते थे। जनक के बारे में तो आख्यायिका ही है कि शुकदेव आदि महापुरुष उन्हीं से ब्रह्मविद्या सीखने गये थे।

कृष्ण के कहने का तात्पर्य यही है कि इस लम्बी मुद्दत में, जिसमें कि त्रेतायुग का अधिकांश और प्रायः सारा द्वापर गुजरा, कोई इस योग का सिखाने-पढ़ाने वाला रही नहीं गया। इसीलिए धीरे-धीरे लोग इसे भूल गये। जब परम्परा या पठन-पाठन की प्रणाली चालू रहे तभी ऐसी बातें प्रचलित रहती हैं। जब वही न रही तो इनका मिट जाना या लुप्त हो जाना स्वाभाविक ही है। महाभारत वाले युद्ध का समय तो द्वापर का अन्त या द्वापर और कलि का संधिकाल ही माना जाता है और इक्ष्वाकु से लेकर तब तक की मुद्दत बहुत बड़ी थी इसमें कोई शक हई नहीं। फलतः यह विद्या भूल गयी। यह आम लोगों के समझ की तो चीज हई नहीं। इसे तो विशेषज्ञ और पूरे जानकार ही बता सकते हैं और वे होते ज्यादा हैं नहीं। फिर कौन किसे बतायें? इसीलिए कृष्ण ने अर्जुन को साथी, श्रद्धालु तथा प्रेमी समझ के ही बताया है। यही कह भी दिया है। गोपनीय और दुर्बोध चीज यदि यों ही सबों को बताई

जाये तो एक तो लोग समझेंगे उसे खाक नहीं। दूसरे उसकी कीमत भी जाती रहेगी। समझदार लोग भी मान बैठेंगे कि कोई ऐसी ही वैसी चीज है। फलतः उस तरह भी खत्म होई जायगी।

पहले तो नहीं। मगर कृष्ण की यह बात सुन के अर्जुन को चट खयाल आया कि ऐं, यह क्या कह रहे हैं कि मैंने सृष्टि के शुरू में विवस्वान् को यही बात सिखाई थी? यह तो असम्भव है, गैरमुमकिन है। कृष्ण का तो जन्म-कर्म सब कुछ मैं जानता ही हूँ। मेरे तो मामू के पुत्र ही ठहरे। फिर यह कैसे कह दिया कि मैंने विवस्वान् को इसकां उपदेश दिया? यह कैसे मानूँ? इसी बात को इस तरह—

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।4।।

अर्जुन ने पूछा—आपका जन्म तो इधर हाल में ही हुआ है। और विवस्वान् तो बहुत पहले पैदा हुए थे। (तब) कैसे मानूँ कि आपने ही शुरू में (उन्हें यह चीज) बताई थी?।4।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।5।।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया—हे अर्जुन, हे परन्तप, मेरे और तुम्हारे भी बहुतेरे जन्म हो चुके हैं। मैं उन सबों को ही जानता हूँ। (हाँ) तुम नहीं जानते।5।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।6।।

बेशक, मैं जन्म-रहित हूँ, मेरी आत्मा निर्विकार है और मैं सभी सत्ताधारियों का शासन करने वाला भी हूँ। (ताहम) अपनी प्रकृति के नियमों के अनुसार ही मैं अपनी माया से ही जन्म लेता हूँ।6।

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।7।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।।8।।

हे भारत, जभी-जभी धर्म का ह्रास या खात्मा होता है और अधर्म की वृद्धि हो जाती है तभी-तभी मैं अपना शरीर बनाता हूँ। (इसलिए) भले लोगों की रक्षा, बुरे लोगों के नाश और धर्म की जड़ को मजबूत करने के लिए मुझे समय-समय पर जन्म लेना ही होता है।7।8।

इस अवतार के सिद्धान्त का क्या दार्शनिक रहस्य है और उस पर 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' (4।6), मे दिव्यं (4।9) में 'दिव्यं' तथा 'आत्ममायया' कहने से क्या प्रकाश पड़ता है, आदि बातों का विस्तृत विवेचन कर्मवाद और अवतारवाद के प्रकरण में पहले ही किया जा चुका है। इन श्लोकों का अभिप्राय समझने के लिए उसे पढ़ लेना जरूरी है। हाँ, यह बात जुदी है कि अर्जुन के प्रश्न और कृष्ण के उत्तर से यह प्रश्न पैदा हो जाता है कि क्या उस समय तक पुनर्जन्म तथा अवतारवाद का सिद्धान्त प्रचलित या सर्वमान्य नहीं हुआ था? क्योंकि यदि होता तो अर्जुन भी जानता ही रहता। फिर पूछता क्यों? और कृष्ण भी अवतार कह के ही आगे बढ़ जाते। दलीलें न देते। मगर यह विषय बड़ा है और गीता हृदय के तीसरे भाग के लिए ही इसे छोड़ना ठीक है। यहाँ यही कहना है कि 'बहूनि मे व्यतीतानि' श्लोक में कृष्ण ने अर्जुन को ऐसा ही मुँहतोड़ उत्तर दिया है जैसा उसका प्रश्न था। उनने साफ ही कह दिया है कि तुम्हें मेरे इस कथन से बेशक आश्चर्य हुआ होगा। यह बात तुम्हारे माथे में आई ही न होगी। मगर इसमें आश्चर्य क्या है ? ऐसी हजारों बातें हैं जो तुम्हारे माथे में आ न सकी हैं। तुम्हें क्या पता कि हमारे और तुम्हारे हजारों जन्म हो चुके? खूबी तो यह कि तुम्हें उनकी जरा भी, यहाँ तक कि अपने जन्मों की भी, जानकारी तक नहीं है। फिर मेरे जन्मों को कैसे जानोगे? मगर मैं तो सब कुछ जानता हूँ न? मैं तो अपना भी और तुम्हारा भी शुरू से आज तक का कच्चा चिट्ठा जानता हूँ। तुम कितनी बार कहाँ कैसे जन्मे, तुमने क्या-क्या किया, मैं भी कब-कब कहाँ कैसे जन्म ले के क्या-क्या करता रहा, यह सब कुछ बखूबी जानता हूँ, जैसे आँखों के सामने ही यह बातें नाच रही हों।

जानने का यह मतलब नहीं है कि लोगों से सुन के या किताबें पढ़ के जानकारी हासिल कर ली जाये। ऐसी जानकारी तो अर्जुन को भी हो सकती थी। इतिहास पढ़-सुन के तो सभी लोग जानें कितनी ही बातें जान जाते हैं। फिर अर्जुन में ही क्या कमी थी कि इतना भी नहीं जान पाता? और वैसे समझदार आदमी के लिए, जिसने स्मृतिकारों की भी धज्जियाँ शुरू में ही उड़ाई थीं और उनके तर्कों को अमान्य कर दिया था, कृष्ण का यह कहना कि तुम कुछ नहीं जानते हो कहाँ तक ठीक हो सकता है, यदि उस जानकारी का यही अभिप्राय हो? इसीलिए पाँचवें श्लोक में जो 'वेद' क्रिया लिखी है, उसका अर्थ प्रत्यक्ष अनुभव या साक्षात्कार ही है। इसीलिए आगे के 9वें श्लोक में इसी जानकारी के मानी में इसी विद धातु से बने और वेद के ही अर्थ में प्रयुक्त वेत्ति क्रिया का 'तत्त्वतः' विशेषण दिया गया है। इससे तत्त्वज्ञान ही उसका अभिप्राय सिद्ध होता है और तत्त्वज्ञान का अर्थ हमेशा साक्षात्कार ही माना जाता है। वह ऐसा ज्ञात हो जैसे कि आँखों के सामने कोई चीज खड़ी हो। कृष्ण को पूर्ण आत्म-साक्षात्कार रहने के कारण ऐसा ही ज्ञान था। मगर अर्जुन को न था। उसे अगर कुछ भी थी तो केवल धुँधली स्मृति या पढ़ी-सुनी बातों की याद मात्र।

इसीलिए उसे धीरे से कृष्ण ने हँसते-हँसते इन्हीं शब्दों में एक कनेठी दे दी कि तुम्हें क्या मालूम कि मैंने कब कहाँ जन्म लिया था, मैं कब कहाँ मौजूद था! वेद शब्द उपनिषदों में ऐसे ही देखने के मानी में बराबर आया है।

इसीलिए कृष्ण ने आगे यह भी कह दिया है कि जिस तरह मैं यहीं बैठा अपने तमाम अवतारों और तुम्हारे तथा दूसरों के अनेक जन्मों की सारी बातें जैसे आँखों देख रहा हूँ, वैसा ही अनुभव जिसे हो वही जीवन्मुक्त है। मुझमें और उसमें जरा भी भेद नहीं रह जाता। अपने भीतर जो कुछ होता हो जैसे उसका करारा और ताजा प्रत्यक्ष अनुभव होता है वैसा ही अनुभव जब सारे संसार के सम्बन्ध में होने लगे, जिसे 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' (6।32) में कहा है, तभी 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' (5।7) कहना चरितार्थ होगा। यों ही बातें करने और पढ़ी-सुनी बातें दुहराने से ही नहीं। अतएव इसी दर्शन एवं अनुभव की कोशिश होनी चाहिए।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।9।।

हे अर्जुन, हमारे इस अलौकिक जन्म और कर्म को जो इसी तरह—मेरी ही तरह—ठीक-ठीक साक्षात् अनुभव करता है वह शरीर को छोड़ के—मरने पर—फिर जन्म नहीं लेता (और) मुझी में मिल जाता है—मेरा ही रूप बन जाता है ।9।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।10।।

(यह कोई नयी बात नहीं है। पहले भी) जिनके राग, भय एवं क्रोध निर्मूल हो गये थे, जो मुझ आत्मा के सिवाय और की परवाह न करके आत्मा में ही रम चुके थे (और इस तरह) जो ज्ञान रूपी तप के प्रभाव से पवित्र हो चुके थे ऐसे बहुत से लोग मेरा स्वरूप—परमात्मा या ब्रह्म—बन चुके हैं।10।

दसवें श्लोक के पूर्वार्द्ध के देखने से तो और भी साफ हो जाता है कि पूर्व जो जानकारी की बात कही गयी है वह आत्मसाक्षात्कार रूप ही, जिसके होते ही वामदेव एकाएक बोल बैठे कि मैं ही तो मनु, सूर्य आदि सब कुछ बना था—"तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहमनुरभवं सूर्यश्च" (वृहदा. 1।4।10)। इसीलिए इसी मन्त्र में आगे साफ ही कह दिया है कि आज भी जिसे ऐसी दृष्टि मिल जाय वह भी समस्त संसार का रूप बन जाता है—समस्त जगत् को अपना स्वरूप ही देखने लग जाता है—"तदिदमप्येतर्हि या एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति।।" यह भी देखा जाता है कि इसी मन्त्र में 'वेद' शब्द आया है और देखने या दृष्टि के मानी में ही 'पश्यन्' आया है इसीलिए हमने जो पहले कहा है वही अर्थ वेद का है। 9वें श्लोक में दिव्य कहने का यह भी अभिप्राय है कि अवतारों के जन्म और कर्म असाधारण होते हैं; न कि हम लोगों जैसे। उनकी दृष्टि और शक्ति दबी न हो के व्यापक होती है। पूर्व के 6-7 श्लोकों में जो आत्मा शब्द बार-बार आया है

उसका भी यही अभिप्राय है कि आखिर मैं तो आत्मा ही ठहरा। इसीलिए जो मुझे आत्मा माने-जानेगा वह तो मेरा रूप हई, होई जायगा।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।11।।

हे पार्थ, जो लोग जिस दृष्टि से मेरे निकट आते हैं—मुझे जानते-मानते हैं—मैं (भी) उन्हें वैसा ही मानता-जानता हूँ। (यह समझ लो कि) सभी मनुष्य मेरे ही रास्ते पर चलते हैं। 11।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।12।।

इस संसार में जो कर्मों की सिद्धि चाहते हैं। वह (सभी प्रकार के) देवताओं का यज्ञपूजन करते हैं। क्योंकि इस मनुष्य लोक में कर्मों के फलों की प्राप्ति जल्दी ही होती है। 12।

इन दो श्लोकों में जो बात कही गयी है वह है तो गीता की अपनी खास चीज ही। इसका बहुत विस्तृत निरूपण भी हमने श्रद्धापूर्वक कर्मों के विचार के समय किया है। मगर इसका ताल्लुक पहले के श्लोक से भी है। गीता का यह एक मुख्य मन्तव्य है कि जोई दिल-दिमाग में आये ईमानदारी के साथ वही जबान से बोलें और हाथ-पाँव से करें तो कल्याण ही कल्याण समझिए। यही स्वधर्म-पालन का वास्तविक अर्थ है और यही बात इन दो श्लोकों में भी कही गयी है। पहले श्लोक से मिलान करने पर यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि जिनको वह दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है, जिसे आत्मसाक्षात्कार कहते हैं, वह तो ब्रह्मरूप ही होते, ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाते हैं 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (वृहदा. 4।4।6)। लेकिन जिनकी वह दृष्टि न हो वह अनेक प्रकार के होते हैं। कोई तो ईश्वर को आराध्यदेव मान के पूजा-यज्ञ करते, कोई इन्द्र-उपेन्द्रादि के रूप में उसे पूजते-मानते, कोई और भी देवी-देवता की ही सूरत में उसे याद करते और सन्तुष्ट करना चाहते, कोई पितरों के रूप में ही उसको तृप्त करते और कोई भूत, प्रेतादि मानकर ही मन्त्रतन्त्रादि से उसे अनुकूल करना चाहते हैं। इसी दृष्टि की विभिन्नता के अनुकूल उनके उद्देश्य भी अलग-अलग होते हैं। यही बात, 'कामैस्तैस्तैः' आदि (7।20।23) और 'यजन्तेसात्त्विका' (17।4) में भी कही गयी है।

इस प्रकार भगवान् को आत्मा समझने पर जब मनुष्य भगवान् का रूप बन जाता है तो अन्य देवता-देवी आदि जिस किसी रूप में भगवान् को मनुष्य समझे मानेगा वह वहीं होगा, इसमें शक की जगह हई कहाँ? बेशक ईमानदारी का सवाल है। दिल से ऐसा ही मान के काम करने वालों की ही बात है। श्रद्धा का यही मतलब है। आमतौर से ऐसी पूजा करने वाले सचमुच श्रद्धा और विश्वास के साथ ही ऐसा करते हैं। जो लोग मन में समझें कुछ और करें कुछ वे ऐसे शायद ही होते हैं। वे

लोग इन पूजापाठ के झमेलों में पड़ते भी नहीं। इसीलिए यह कहना भी ठीक ही है कि सभी मनुष्य मेरे ही रास्ते पर चलते हैं। क्योंकि नियम यही है। अपवाद में ही शायद कोई ऐसा न करते हों। भगवान् तो सभी की आत्मा ठहरे। वैसा ही अनुभव वह करते भी थे जब बोल रहे थे। इसीलिए जब मनुष्य किसी भी देव-दानव की पूजा करेगा तो जरूर ही भगवान् की ही ओर जायेगा। उसका रास्ता वही होगा जो भगवान् का है—जो उसकी ओर ले जाता है। यह ठीक है कि वह सीधा राजमार्ग न हो के पगडण्डी और टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता है, जो चक्कर काट के जाता है। इसीलिए तो महिम्नस्तोत्र में पुष्पदन्त ने साफ ही कह दिया है कि चाहे किसी की पूजा करें या किसी को जानें-मानें; मगर घूम-फिर के सभी भगवान् की ही तरफ जाते हैं। जैसे वर्षा या बर्फ़ का सभी पानी घूम फिर के समुद्र में ही जाता है,—"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषाम् नृणामे को गम्यस्त्वमसि परसामर्णव इव।"

मनुष्य-लोक में सिद्धि, कर्मों के फलों की प्राप्ति या कर्मों में सफलता जल्दी होती है, यह भी ठीक ही है। जो सुविधाएँ, जो अनुकूलताएँ मनुष्य को हासिल हैं वह पशु-पक्षी या देव-दानव किसी को भी नहीं मिली हैं, नहीं मिल सकती हैं। यहीं की कमाई से तो उन शरीरों में जाया जाता है। इसीलिए उन्हें भोग-योनि या भोगने वाले शरीर और मानव देह को कर्म-योनि माना है। भला पढ़ने-लिखने, सोचने-विचारने से, समाधि आदि करने की सुविधाएँ और किसे प्राप्त हैं, सिवाय मनुष्य के? यहाँ तक कि वह अपने यत्न से भगवान् हो जाता है। मगर दूसरे ऐसा कर नहीं सकते। देवता लोगों का तो ज्यादे से ज्यादा यही होता है कि अपनी जगह से फिर इसी मनुष्य लोक में आते हैं। वे यहीं यत्न करके सब कुछ प्राप्त करते भी हैं—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (9।21) इसीलिए इसी शरीर में अलभ्य अवसर मिलता है कि दिव्य दृष्टि तथा आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लें।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि क्यों लोग सीधे भगवान् में न लग के देवी-देवताओं में फँसते हैं? वे गलत या चक्करवाले रास्ते में क्यों पड़ते हैं? सीधा रास्ता क्यों नहीं पकड़ते? यदि कहा जाय कि प्रकृति या स्वभाव के अनुसार ही ऐसा होता है और प्रकृति तो हरेक की भिन्न-भिन्न होती ही है, तो प्रश्न होता है कि जुदा-जुदा प्रकृति या विभिन्न स्वभाव के शरीर बने ही क्यों? इनकी जरूरत ही क्या थी? और इन्हें बनाया किसने? यदि कहें कि भगवान् ने बनाया तो उसने ऐसा क्यों किया? विभिन्नता लाने में उसका प्रयोजन क्या था? और अगर उसने ही यह सब कुछ किया तो समूचे करने-धरने की जवाबदेही उसी पर आनी चाहिए, न कि किसी और पर। इतना ही नहीं। इतना बड़ा पँवारा फैलाने, असंख्य प्रकार के शरीरों एवं पदार्थों के बनाने का संकट और इस काम का बुरा-भला नतीजा क्या उसे न भोगना पड़ेगा? अगर नहीं, तो दूसरे लोग अपने कर्मों का फल क्यों भोगें और वह न भोगे? नियम-कायदा तो एक ही ढंग का होगा न? होना चाहिए न?

इन्हीं बातों का उत्तर आगे लिखा है। उसका मतलब यही है कि सृष्टि में अनेक प्रकार के कामों का बँटवारा गुणों के ही अनुसार बने स्वभाव के ही अनुकूल हुआ है। जिसके दिल-दिमाग, शरीर और इन्द्रियों में जिस गुण की प्रधानता है उसी के अनुसार उसके कर्म होते हैं। ऐसी गुण विभिन्नता होने ही क्यों पाई इसका उत्तर भी यही है कि पहले जन्म के कर्मों के अनुसार ही सभी बातें होती हैं। जो जिस चीज का अभ्यास करेगा उसे वही याद आयेगी और उधर ही वह झुकेगा। इसीलिए कहा गया है कि मरने के समय उससे पहले के अभ्यास के अनुसार जो बात, जो चीज याद आयेगी उसी शरीर में उसी के अनुकूल वाली परिस्थिति में जन्म लेगा। इस तरह आगे बढ़ते जायँगे। शुरू में क्यों ऐसा हुआ यह प्रश्न तो होता ही नहीं; क्योंकि संसार का शुरू न मान के इसे अनादि मानते हैं। यह ठीक है कि कर्मों और गुणों की सारी व्यवस्था भगवान् के बिना नहीं हो सकती है। इसीलिए वही यह सब कुछ करते हैं। मगर न तो इसका फल ही वे भोगते और न इनसे परेशानी ही उठाते! क्योंकि उन्हें तो आत्मज्ञान है न? वह तो अपने को अकर्त्ता और अभोक्ता बेलाग—देखते हैं न? श्लोक में जो चातुर्वर्ण्य या चारों वर्णों की बात है यह दृष्टान्त के रूप में भारत में उस समय प्रचलित चीज को ही खयाल करके है। असल में कर्मों के अनेक विभागों और उनकी व्यवस्था से ही मतलब है। श्लोक में कर्म शब्द पूर्व के या प्रारब्ध कर्म और आगे होने वाले कर्म—इन दोनों—का ही वाचक है। इसका पूरा विवरण कर्मवाद में मिलेगा।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्।। 13।।

चारों वर्णों को मैंने ही गुणों और कर्मों के बँटवारे के अनुकूल ही बनाया है। (लेकिन) इनका बनाने वाला होता हुआ भी मैं निर्विकार और अकर्त्ता हूँ, ऐसा जान लो। 13।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। 14।।

(क्योंकि) न तो मुझमें कर्म चिपकते ही हैं और न मुझे उन कर्मों के फलों की आकांक्षा ही है। (फिर मुझे इनसे ताल्लुक ही क्या? यही नहीं;) जो कोई दूसरा भी मुझे इसी तरह साक्षात्कार कर लेता है वह भी कर्मों से (हर्गिज) बँध नहीं सकता। 14।

यहाँ उत्तरार्द्ध में जो 'अभिजानाति' क्रिया है उसका पहले की ही तरह साक्षात्कार ही अर्थ है। इसीलिए तत्त्व की जगह 'अभि' शब्द उसमें जुटा है, जिससे उसका अर्थ होता है अच्छी तरह जानना। इसी को विज्ञान भी कहते हैं। अभिजानाति के ही अर्थ में अभिज्ञान बनता है, जिसका अर्थ है पहचान या परिचय करा देने वाला। शकुन्तलावाली अँगूठी देखते ही दुष्यन्त की आँखों के सामने उसकी मूर्त्ति नाच उठी। इसीलिए अभिज्ञान

शाकुन्तल में उसी अँगूठी को अभिज्ञान माना गया है। जो लोग ईश्वर के अकर्त्तृत्व और निःस्पृहत्व का अपने ही भीतर साक्षात्कार करने लगे, अनुभव करने लगे, वह तो स्वयं ईश्वर ही हो गये। फिर उन्हें कर्मों का बन्धन कैसा?

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।। 15।।

(यही कारण है कि) मुक्ति चाहने वाले पुराने लोगों ने भी ऐसा ही समझ के कर्म किया था। इसीलिए तुम भी पुराने लोगों के द्वारा किये गये इस अत्यन्त प्राचीन कर्म को ही करो। 15।

इस श्लोक में 'मुमुक्षुभिः' के साथ 'अपि' को जोड़ के यह अर्थ किया है कि मुमुक्षु या मुक्ति चाहने वाले लोगों ने भी कर्म किया था। इसका आशय यह है कि जो लोग पूर्ण आत्म ज्ञान वाले जीवन्मुक्त थे उनने तो किया ही था। मगर इस दशा की प्राप्ति की इच्छा या मोक्ष की कामनावालों ने भी किया था। इसलिए तुम्हें भी हर हालत में यही करना होगा, चाहे मुक्त हो, या मुमुक्षु—मोक्ष चाहने वाले। अब इसमें एक ही दिक्कत रह जाती है 'कि ऐसा ही समझ के'—'एवं ज्ञात्वा'—का मेल दोनों अर्थों से कैसे खाएगा। ऐसा समझने के तो मानी हैं यही समझना कि न तो मुझमें कर्म लिपट सकते और न मुझे उनके फलों से कोई काम है। और मुक्त या आत्मज्ञानी भले ही ऐसा समझे और उसका समझना ठीक ही है। फिर भी जो मोक्ष की इच्छा वाला है वह ऐसा साक्षात्कार कैसे कर सकता है? यह तो उसके लिए असम्भव है। इसीलिए उसके सम्बन्ध में इसका यही आशय है कि ऐसे साक्षात्कार को उद्देश्य करके ही उसने भी कर्म किया। ऐसा उद्देश्य तो ठीक ही है। उससे बन्धन तो हर हालत में होगा ही नहीं।

अब यहाँ पर एक नयी बात उठ खड़ी होती है। कृष्ण के दिल में यह खयाल आ सकता था कि कहीं ऐसा तो नहीं कि कर्म करो, कर्म करो यही बात रह-रह के कहने से अर्जुन समझ बैठे कि कृष्ण को कोई गर्ज है, तभी तो बार-बार ऐसा कहते रहते हैं, यहाँ तक कि जब तक जो बात पूछता भी नहीं हूँ तभी तक वह बात भी इस अभागे कर्म के बारे में कह डालते और चट कह बैठते हैं कि कर्म करो ही। यह समझना कोई अस्वाभाविक भी नहीं। खूबी तो यह थी कि कृष्ण एक तो बहुत बातें यों ही बोल गये। दूसरे बातें ही कह जाते तो भी एक बात थी। मगर वह तो कर्म करो, करो का तूफान सा मचाये,हुए थे। इसलिए शक-शुभे और ऐसे खयालों की गुंजाइश जरूर थी और पूरी थी।

इसी के साथ यह बात भी थी कि अब तक कर्म और उसके त्याग या संन्यास की बात आयी जरूर थी और उसे कब मानना और कैसे मानना, कब नहीं मानना वगैरह बातें भी कही गयी थीं जरूर। मगर कर्म और कर्म त्याग या उल्टाकर्म—विकर्म—किस सूरत में कैसे होता है और क्यों, यह चीज अब तक कही गयी न थी। यह बड़ी बात

है। किन-किन हालतों में कैसे कर्म ही कर्म का त्याग या विकर्म बन जायेगा—क्योंकि अकर्म शब्द जो आगे आया है उसका कर्म त्याग और विकर्म—विपरीत कर्म—भी अर्थ है, इसीलिए 17वें श्लोक में विकर्म शब्द आया भी है—और किस दशा में कैसे अकर्म ही कर्म बन जायगा, इसका जानना निहायत जरूरी था। नहीं तो कर्म का एक महत्त्वपूर्ण पहलू छूट ही जाता। इसलिए भी कृष्ण को आगे की बातें कहनी पड़ी हैं।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि आगे के श्लोकों में कर्म और अकर्म की परिभाषा या उनके लक्षण लिखे हैं वह भूलते हैं। यदि यह बात होती तो बार-बार इन्हीं शब्दों का प्रयोग न करके कुछ और शब्द बोलते। तभी तो पता चलता कि कर्म यह है और अकर्म यह है। मगर कृष्ण ने तो ऐसा नहीं किया है। इसलिए यही मानना पड़ेगा कि उन्हें परिभाषा नहीं करनी है। किन्तु यही बतलाना है कि जिसे आमतौर से लोग कर्म मानते हैं वही कर्म त्याग और विकर्म भी कैसे बन जाता है और जिन्हें अकर्म—कर्म त्याग या विकर्म—मानते हैं वही कर्म कैसे बन जाते हैं। यही वजह है कि पहले (16वें) श्लोक में प्रथमान्त और द्वितीयान्त कर्म तथा अकर्म बोलने के बाद और 18वें में ये बातें बताने के पूर्व 17वें में 'कर्मणः' 'अकर्मणः' और 'विकर्मणः' इन तीनों को षष्ट्यन्त रखते हैं। इससे एक तो पहले या आगे के अकर्म शब्द से विकर्म भी लेना होगा यह अभिप्राय निकलता है। दूसरा यह कि इन तीनों के स्वरूप या लक्षण को न जान के इनके सम्बन्ध में ही कुछ जानना जरूरी है।

श्लोक में कवि शब्द का अर्थ है अत्यन्त सूक्ष्म और भूत-भविष्य को भी देख सकने वाला। उसकी भीतरी आँखें ऐसी हैं कि गहन से गहन और बारीक से भी बारीक बातें देख सकें। वेदों में 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' शब्दों में परमात्मा को कवि कहा है।

असल में चौथे अध्याय का निजी विषय यहीं से शुरू होता है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।16।।

कर्म क्या है (और) अकर्म क्या है इस सम्बन्ध में अलौकिक विद्वानों को भी घपले में पड़ जाना पड़ा है। इसीलिए तुम्हें कर्म (की सारी बातें और बारीकियाँ) बता दूँगा जिन्हें जानकर गलती और बुराई से बच सकोगे। 16।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।17।।

कर्म के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ जानना जरूरी है और विकर्म के सम्बन्ध में भी (इसी तरह) अकर्म—कर्म त्याग—के सम्बन्ध में भी अनेक बातें जानने की हैं। क्योंकि कर्म की बात बड़ी पेचीदा है। 17।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।18।।

जो आदमी कर्म में ही अकर्म–कर्म त्याग और विकर्म–(भी) देखता है और अकर्म–कर्म त्याग एवं विकर्म–में ही कर्म (भी), वही सब लोगों में बुद्धिमान है और योगी है और वही सब कुछ कर सकता है। 18।

यहाँ कई बातें विचारणीय हैं। सबसे पहली बात तो यही है कि सीधे ढंग से यह हर्गिज नहीं मान लेना चाहिए कर्म के बराबर अकर्म ही देखना चाहिए या अकर्म में कर्म ही। आपाततः देखने से तो यही प्रतीत होता है कि यहाँ आलंकारिक विरोधाभास के रूप में ही गीता के सिद्धान्त का वर्णन है। इसलिए विरुद्ध या उलटी ही बातें देखने का सिद्धान्त इसमें होना चाहिए ऐसा ही मालूम होता है। मगर गीता तो अलंकार का ग्रन्थ है नहीं। यह तो हमारे प्रतिदिन के व्यवहारों, हलचलों, संघर्षों एवं कर्मों के करने-न करने के दार्शनिक सिद्धान्त बता के तत्सम्बन्धी कायदे-कानून का संग्रह (Manual) जैसा ग्रन्थ है। इसीलिए जो बातें बराबर होती हैं और जिन्हें व्यावहारिक या असली बातें कहते हैं उन्हें मिटा देने या भुला देने से तो गीता का काम चल सकता नहीं। तब तो यह कीचड़ में ही जा फँसेगी और इसका मूल्य भी न रह जायेगा। तब गीता वह चमकता हीरा न रह जायगी जैसा मानी जाती है।

इस दृष्टि से देखने पर इस श्लोक का अर्थ ऐसा हो जाता है कि जो आदमी कर्म में कर्म तो देखता ही है, या यों कहिये कि कर्म को कर्म तो जानता-मानता हई; लेकिन उसमें अकर्म यानी कर्म का त्याग और विकर्म भी समझता है। इसी तरह जो अकर्म यानी कर्म के त्याग में भी कर्म का त्याग तो समझता ही है; मगर कर्म और विकर्म या विरोधी कर्म-निन्दित कर्म–भी देखता है। ऐसे ही जो अकर्म यानी विकर्म या निषिद्ध कर्म को भी विकर्म तो मानता ही है; मगर उसे कर्म-त्याग और कर्म भी जानता है। वह सबों में बुद्धिमान है, वही युक्त या योगी है और वह बेधड़क कोई भी–सभी–कर्म कर सकता है, करता है। उसे कोई काम करने में खतरा तो नजर आता नहीं। फिर हिचक क्यों होगी? इस तरह आत्मज्ञानी या योगी की दृष्टि या नजर को कर्म के बारे में बहुत ही व्यापक बन जाने की बात इस श्लोक में कही गयी है। निचोड़ यही है कि वह हमेशा यही मानता है कि कोई भी कर्म, जिसे व्यवहार, समाज या शास्त्र ने अनुमोदित किया है, कर्म भी हो सकता है, कर्म-त्याग भी और विकर्म, दुष्कर्म, या पाप भी। इसी तरह वह यह भी मानता है कि शास्त्रीय या समाज-अनुमोदित कर्मों का त्याग भी त्याग तो रहता ही है। साथ ही साथ वह कर्म और विकर्म भी बन सकता है और विकर्म भी विकर्म होने के साथ ही कर्म या कर्म-त्याग हो जाता है, हो जा सकता है। मालूम होता है, कोई जादू-मन्तर या करामात है जो इनके रूपों को बदल देती है अगर उसका प्रयोग किया जाय और अगर न किया जाय तो ये ज्यों के त्यों रह जाते हैं। कोई ऐसी जड़ी-बूटी, ऐसी औषधि है जिसे गीता ने बताया है।

अब इन तीनों का दृष्टान्त ले सकते हैं। हल जोतने की बात लीजिए। एक हलवाहा ईमानदारी से हल चलाता है। यही उसका कर्म है। यह कर्म बना रहेगा

जब तक वह मजदूरी या खेती-गृहस्थी के सफल होने के खयाल से ही यह काम करता रहेगा। मगर ज्योंही इन नतीजों या परिणामों—फलों—की परवाह उससे जाती रही; फलतः कर्माशक्ति या फलासक्ति छोड़ के वह हल चलाने लगा; जैसा कि किसी ने पकड़ के जड़भरत से हल चलवाया था। बस वही कर्म अकर्म बन गया। क्योंकि पहली—कर्म की—हालत में जो उसे डर-भय रहता था या काम बिगड़ने का खतरा रहता था वही तो इसे कर्म बनाये हुए था और वही अब जाता रहा। जिससे वह उस कर्म से बेलाग हो गया। लेकिन ऐसा भी होता है कि हमारे पड़ोसी से हमारी कटाकटी चल रही है। पद-पद पर हम उसे चिढ़ाना और दिक करना चाहते हैं। ऐसी ही हालत में उसकी खेती का ऐन मौका बिगड़ रहा है। हजार कोशिश करके भी वह न तो हल ही पा सकता है और न चलाई सकता है। फलतः तिलमिलाया हुआ है। ठीक उसी समय हमने अपना हल उठाया और उसे दिखा के बिना जरूरत ही हम किसी खेत में चलाने लगे। ऐसा भी हो सकता है कि पड़ोसी की जैसी ही अपनी जरूरत को पूरा करने के बजाय हमने उसके किसी प्रचण्ड शत्रु को ही जान-बूझ के अपना हल उसके सामने ही दिया। बस, यह हमारा विकर्म या दुष्कर्म हुआ। क्योंकि नाहक दूसरे का दिल दुखाना ही उसका लक्ष्य जो है।

इसी तरह कर्म के त्याग को भी लें। यदि हमारे सामने किसी गरीब या निर्दोष को कोई जालिम पीटता हो तो उसकी रक्षा करने के लिए दौड़ पड़ना हमारा कर्तव्य है। मगर हम उसे नहीं करते हैं। यही कर्म का त्याग हुआ। मगर इसकी तीन हालतें होने से इसके भी तीन रूप हो जाते हैं। यदि हम जान-बूझ के उसकी मदद को न जायें तो यही कर्म त्याग होगा या विकर्म या पाप। यदि चाहते हुए और भरसक यत्न करने पर भी न जा सकें; क्योंकि किसी ने हमें कस के पकड़ लिया या बाँध दिया हो, तो कर्म का त्याग या अकर्म होते हुए भी यही हो गया हमारा कर्म, जिसे अच्छा काम, सत्कर्म या पुण्य कहिए। मगर ऐसा भी हो सकता है कि हम ऐन मौके पर इधर समाधिस्थ हो गये और उधर वह पीटपाट शुरू हुई। हमने सारी तैयारी पहले से ऐसी कर ली थी कि रुकना कथमपि सम्भव न था। या ऐसा भी हो सकता है कि हममें आत्मानन्द की ऐसी मस्ती हो कि सुध-बुध होई न। ऐसी दशा में उसकी मदद के लिए हमारा न जाना सचमुच कर्म-त्याग है।

अब रही विकर्म की बात। साधारणतः हिंसा बुरी है, विकर्म है। फिर भी लोग इसे बराबर करते ही रहते हैं। इसीलिए वह विकर्म का विकर्म ही रहेगी जब तक हम रोजी-रोजगार, पेट या महज वैरविरोध आदि के खयाल से यह चीज करते रहेंगे। मगर आखिर धर्म-व्याध भी तो कसाई का ही काम करता था। हालत यह थी कि एक तो कोशिश करके थक चुका था; फिर भी उससे उसका पिण्ड छूट न सका। दूसरे उसके करने या न करने में—होने या न होने में—और उसके परिणामस्वरूप पैसे मिलें या न मिलें, या और कुछ हो या न हो, उसे किसी बात की जरा भी परवाह

न थी—उसे अव्वल दर्जे की बेफिक्री थी, मस्ती थी। इसीलिए यह विकर्म उसके लिए अकर्म या कर्मों का सच्चा त्याग था। ऐसा हर समझदार, हर आत्मज्ञानी कर सकता है, करता है। लेकिन मान लें कि वही धर्म-व्याध या दूसरे ही इतनी दूर तक न पहुँचे हों। जीविकार्थ उन्हें कुछ न कुछ खामख्वाह करना भी पड़े। इसी के साथ कसाई का काम उनका खानदानी पेशा होने के कारण—जैसी कि धर्म-व्याध की बात थी—उन्हें सुलभ होने पर भी इससे बचने की सारी कोशिश उनने कर ली। मगर मजबूर हो गये और दूसरी जीविका मिली ही नहीं। ऐसी दशा में केवल जीविका के खयाल से ही वही विकर्म या हिंसा का काम करने पर भी वही उनके लिए कर्म या सत्कर्म हो जायगा। मनुस्मृति के 12वें अध्याय में लिखा है कि विश्वामित्रादि ऋषियों ने कुत्ते आदि का मांस खा-खिला के घोर दुष्काल में प्राण तथा धर्म बचाये। छान्दोग्य उपनिषद् (1।10।1-7) में लिखा है कि हाथी के जूठे उड़द खा के उषस्ति ऋषि ने प्राणों और धर्म दोनों की ही रक्षा की! इसलिए ऐसा तो होता ही रहता है।

हमने जो कुछ लिखा है वह अक्ल में आने वाली चीज है। व्यवहार में भी ऐसा होता आया है, होता है और होता रहेगा भी। इसीलिए गीता के इस श्लोक का भी अर्थ ऐसा ही करना उचित है जो व्यवहार के अनुकूल हो। यह मान लेना कि कर्म को हमेशा अकर्म ही समझते और देखते रहें, निरी नादानी है। वैसी मनोवृत्ति जब तक न हो यह कैसे हो सकता है और यह मनोवृत्ति केवल योगी के वश की नहीं है। माना कि उसने खुद ऐसी ही मनोवृत्ति केवल योगी के वश की नहीं है। माना कि उसने खुद ऐसी ही मनोवृत्ति की और वह असंग भी है। मगर कर्मों का ताल्लुक तो आखिर दूसरों से भी होता है न? और अगर वे ऐसा न समझें तो भी क्या उनके लिए भी वह अकर्म ही हो जायगा? यह उलटी बात होगी। एक ही कर्म किसी के लिए सत्कर्म, किसी के लिए दुष्कर्म और किसी के लिए अकर्म या कर्मत्याग हो सकता है। अपनी अपनी भावना के अनुसार। यही बात हरेक कर्म में निरपवाद लागू है। पूजा-पाठ, समाधि तक में हिंसा तो होती ही है। और नहीं तो साँस लेने या शरीर की रगड़ से ही जानें लक्ष-लक्ष कीटाणु खत्म हो जाते हैं। इसीलिए अष्टावक्र ने अपनी गीता में कहा है कि नादान की निवृत्ति या कर्मत्याग भी प्रवृत्ति या कर्म बन जाता है और विवेक की प्रवृति भी निवृत्ति बन जाती है; 'निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी' (18।61)। इसमें 'भी' के अर्थ में जो 'अपि' शब्द है वही हमारे आशय को व्यक्त कर देता है। 20वें श्लोक के 'प्रवृत्तोऽपि' वगैरह भी यही बात व्यक्त करते हैं।

हमने पहले ही कहा है कि चौथे अध्याय का अपना विषय इसी श्लोक से शुरू होता है। इसके पहले तो दूसरे, तीसरे अध्याय के ही प्रसंग की बातें आयी हैं। यदि कोई भी विवेकी गौर करे तो यह जरूर मानेगा कि कर्म करने और उसके त्याग या संन्यास की यह बारीकी निहायत जरूरी चीज है जो छूटी थी। इसीलिए गीता

के चौथे अध्याय ने इसे पूरा किया है। इसमें भी असल चीज है कर्मत्याग या संन्यास ही। इसी के बारे में तो उलझनें पैदा होती हैं और लोग अंट-संट कर बैठते हैं, मान बैठते हैं। लोगों को धोखे और भ्रम भी तो संन्यास या कर्मत्याग को ही ले के होते हैं। इसीलिए उसका खासतौर से स्पष्टीकरण यहाँ जरूरी था। यह संन्यास ज्ञान का साधन है और ज्ञान के बल से ही यह होता भी है। इस प्रकार एक तरह से इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है—ये दोनों अन्योन्याश्रय वाले हैं यह बात भी आगे स्पष्ट की जायगी। इस तरह यही चीजें इस अध्याय के मुख्य विषय हैं। इसीलिए इसे ज्ञानकर्मसंन्यासयोग के नाम से ही अन्त में कहेंगे भी।

इस बात का निरूपण इस 18वें श्लोक से ही शुरू हो के 37वें तक चला जाता है। बीच-बीच में एकाध बार ज्ञान की बात प्रसंग से आयी है। अन्यथा आगे के 19 श्लोक इसी एक ही श्लोक के व्याख्यान स्वरूप हैं। अनेक प्रकार से उनमें यही बात—इसी श्लोक का अभिप्राय—व्यक्त किया गया है। यह बात उन श्लोकों के अर्थ लिख चुकने पर ही हम बतायेंगे। तभी समझ में आसानी होगी भी।

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। 19।।

जिस (आदमी) के सभी काम कामना तथा फल आदि की आसक्ति के बिना ही होते हैं, (इसलिए) जिसने ज्ञानरूपी आग में सभी कर्म जला दिये हैं, विद्वान् लोग उसी को पण्डित कहते हैं। 19।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।। 20।।

(क्योंकि) ऐसा आदमी कर्मों और उनके फलों की आसक्ति को मिटा के बेपरवाह और हमेशा मस्त रहता है। (इसीलिए) वह कर्मों को करता हुआ भी (दरअसल) कुछ भी नहीं करता है। 20।

निराशीर्यत्तचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।। 21।।

जो सभी इच्छा-आकांक्षाओं को लात मार चुका है, जिसने मन और बुद्धि को अपने काबू में कर लिया है (और) जिसने सभी डल्ले-पल्ले से नाता तोड़ लिया है, (ऐसा आदमी) केवल देह या इन्द्रियों से ही कर्मों को करता हुआ भी पाप और बुराई के पास जाता तक नहीं। 21।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते।। 22।।

यों ही जो कुछ भी मिल जाये उसी से जो सन्तुष्ट हो, रागद्वेष—हर्ष-विषाद—काम-क्रोधादि द्वन्द्वों से जो बहुत दूर हो गया हो, जिसमें वैरविरोध या दूसरों की सफलता से होने वाली जलन न हो और जिसके दिल पर काम के पूरा होने या न होने का

कोई प्रभाव न पड़े वह आदमी सभी कर्मों को करके भी बन्धन में हर्गिज नहीं पड़ता। 22।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। 23।।

जो आसक्तिशून्य है, जो सभी बन्धनों से रहित है, (इसीलिए) जिसकी बुद्धि आत्मज्ञान में ही डूबी है—जो स्थितप्रज्ञ है—और जो (केवल) यज्ञ के ही लिए कर्म करता है उसके कर्म जड़-मूल से खत्म हो जाते हैं। 23।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। 24।।

(जिस यज्ञ में ऐसी भावना है कि) आहुति आदि के साधन स्रुव आदि ब्रह्म ही हैं, घृतादि हवन के पदार्थ भी ब्रह्म हैं, ब्रह्मरूपी अग्नि में ब्रह्मरूपी यजमान ब्रह्मरूपी हवन क्रिया करता है, उस समूची यज्ञात्मक क्रिया को ब्रह्म का रूप मिल जाने से वह पूर्ण समाधि ही हो गयी। इसलिए उससे ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है। 24।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। 25।।

दूसरे योगी इन्द्र आदि देवताओं के ही यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। कुछ और लोग ब्रह्मरूपी अग्नि में ही देहधारी आत्मा का हवन ज्यों का त्यों कर देते हैं। 25।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमागिनषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। 26।।

(चौथे प्रकार के) कुछ लोग श्रोत्र आदि इन्द्रियों का हवन संयमरूपी आग में करते हैं। (पाँचवें) दलवाले शब्द आदि विषयों का हवन ज्ञान-इन्द्रियरूपी अग्नि में ही करते हैं। 26।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। 27।।

(छठे प्रकार के) लोग सभी इन्द्रियों की तथा प्राण की भी सभी क्रियाओं का हवन मन के संयमरूपी अग्नि में, जो ज्ञान के द्वारा खूब धौंकी जा चुकी है, करते हैं। 27।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योग यज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। 28।।

दूसरे भी कल्याणार्थ यत्न करने वाले लोग हैं जिनके व्रत या यज्ञों के नियम बड़े ही सख्त हैं। (ये पाँच दलों में विभक्त हैं और वे हैं) अन्नादि पदार्थों से यज्ञ करने वाले, तपरूपी यज्ञ के करने वाले, अष्टांग योगरूपी यज्ञ करने वाले, सद्ग्रन्थों के पाठरूपी यज्ञ के कर्त्ता और ज्ञान यज्ञ के करने वाले। 28।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।। 29।।

(तीन तरह के और भी लोग हैं जो यज्ञ करते हैं और उनमें) एक तो अपान में प्राण का ही हवन यानी पूरक करते हैं। दूसरे प्राण में ही अपान का हवन यानी रेचक करते हैं। तीसरे प्राण और अपान दोनों की क्रिया रोक के कुम्भक में ही लगे रहते हैं। 29।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।। 30।।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। 31।।

(पन्द्रहवें प्रकार के) कुछ और भी हैं जो खानपान आदि पर सख्त संयम करके इन्द्रियों की क्रियाओं को प्राण की क्रियाओं में ही हवन कर देते हैं। (इस तरह) ये सभी यज्ञ करने वाले इन्हीं यज्ञों के द्वारा (अपने दिल-दिमाग की सभी) गन्दगियों को धो डालते हैं (और) यज्ञशिष्ट—यज्ञ के बाद बचे हुए—अमृत को ही भोगते हुए सनातन—नित्य—ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। हे कुरुसत्तम्—कुरुवंश के दीपक,—जो यज्ञ नहीं करता उसका तो काम यहीं नहीं चल सकता। परलोक का तो कहना ही क्या? 30। 31।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। 32।।

इस प्रकार अनेक तरह के यज्ञ वेद में प्रमुख रूप से कहे गये हैं। कर्मों से ही वे सभी तैयार होते हैं ऐसा जान लो; (क्योंकि) ऐसा जानने से ही मुक्त होगे। 32।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। 33।।

हे परन्तप, घृतादि भौतिक पदार्थों से किये जाने वाले यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ कहीं अच्छा है। (क्योंकि) हे पार्थ, (आखिर) सभी कर्मों का अन्तिम ध्येय ज्ञान ही तो है और ज्ञान से ही कर्मों का खात्मा भी होता है। 33।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। 34।।

तो यह याद रखो, नम्रतापूर्वक शरण में जाने, (यथाशक्ति) सेवा करने (और अवसर पा के) पूछने पर ही तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे। 34।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।। 35।।

हे पाण्डव, जिस ज्ञान को हासिल कर लेने से तुम्हें ऐसा मोह न होगा (और) जिसके चलते सभी पदार्थों को अपने आप में देखोगे और मुझमें भी। 35।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। 36।।

अगर तुम सभी पापियों से कहीं बढ़-चढ़ के भी पापी हो। (तो भी) सभी पापों—पाप समुद्र—को इस ज्ञान की नाव से ही पार कर जाओगे। 36।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।। 37।।

हे अर्जुन, जिस तरह धकूधक् जलने वाली आग समूचा ईंधन (बात की बात में ही) भस्म कर डालती है। उसी तरह ज्ञानरूपी आग भी सभी कर्मों को भस्म कर देती है। 37।

अब आगे ज्ञान की प्राप्ति के अन्य साधनों का विचार तीन श्लोकों में करके 41वें में पुनरपि इसी कर्म-अकर्म का उपसंहार करेंगे। फिर अन्तिम श्लोक में अध्याय के उपदेश का निचोड़ कह के अर्जुन को तैयार हो जाने की बात कहेंगे। इसलिए उचित है कि यहीं पर पीछे के 19 (19-37) श्लोकों का सिंहावलोकन करके देखें कि उनसे कहाँ तक 18वें के कर्म-अकर्मवाले सिद्धान्त का स्पष्टीकरण होता है और संक्षेप में उनमें कहा भी क्या गया है।

सबसे पहले शुरू के पाँच (19-23) श्लोकों को ही लें। इनमें 21वें को छोड़ शेष चारों में कर्मों के करते रहने पर भी मनुष्य कर्मरहित, अकर्म या कर्मत्यागी कैसे हो जाता है यही बात कही गयी है। बेशक, चारों में कुछ न कुछ नयी बातें भी हैं। फिर भी इन सबों को मिला लेने पर ही हम इस निश्चय पर पहुँच पाते हैं कि किस दशा में—कैसी मनोवृत्ति रहने पर—मनुष्य के कर्म अकर्म बन जाते हैं और कर्मों के करते रहने पर भी कर्मत्याग या संन्यास का काम पूरा हो जाता है। संन्यास का भी तो प्रयोजन यही है कि कर्मों के बन्धनों से छुटकारा हो जाय और वही बात यों भी हो जाती है। इसलिए यहाँ अर्थतः संन्यास है, न कि स्वरूपतः। क्योंकि स्वरूपतः तो कर्म करते ही रहते हैं।

तो अब यह देखें कि इन श्लोकों में क्या-क्या बातें हैं जो कर्म को अकर्म बनाती हैं। तत्त्वज्ञान तो चारों में ही स्पष्टतया और अर्थात् भी आया ही है। मगर उसके फलस्वरूप जो मनोवृत्ति होती है उसी से हमारा मतलब है। पहले श्लोक में काम और फलादि की कल्पना या उनकी आसक्ति, इन दोनों का पूर्ण त्याग आया है। मगर इसे संकल्प के रूप में कहा है। दूसरे—20वें—में कर्म और फल की आसक्ति त्याग के साथ बेपरवाही और सदा रहने वाली मस्ती आयी है। 22वें में कर्म के पूरे होने-न होने में बेपरवाही—समत्व—के साथ शरीरयात्रा के लिए बेफिक्री, जोई मिले उसी से सन्तोष, हर्ष-विषाद आदि के लेश का भी न होना और दूसरों की सफलता देख के जलन का न होना यही बातें कही गयी हैं। 23वें में हर तरह की असंगता, सभी बन्धनों से छुटकारा तथा बुद्धि के तत्त्वज्ञान में डूब जाने के अलावे यह भावना होना कि ये कर्म यज्ञार्थ हो रहे हैं, यही बातें कही गयी हैं। इन सबों के मिलाने से ऐसा हो जाता है कि आत्मसाक्षात्कार से ही कर्मों से छुटकारा होता है—वे जल

जाते हैं। मगर इसकी—साक्षात्कार की—पहचान क्या है, यही देखना है और यही असल चीज है। इस दृष्टि से पता लगता है कि पहली चीज है बुद्धि का आत्मा की ही ओर टँग जाना और मन का उसी में रम जाना। मगर इसका पता लगता है तब जब कामना, संकल्प, कर्म तथा फल की आसक्ति, ये सभी छूट जाते हैं और हमेशा तृप्ति बनी रहती है। लेकिन ये सभी भीतरी बातें हैं। इसीलिए इनका पता कैसे लगे? यही कारण है कि यह कह दिया है कि न तो किसी आदमी या देवता वगैरह की परवाह हो, न खाने-पीने आदि के लिए हाय-हाय, न किसी से भी वैर-विरोध, न हर्ष-द्वेष और राग और न किसी से चिपकना। इसी के साथ यह भी रहे कि काम पूरा हुआ तो क्या, न पूरा हुआ तो क्या? फलतः निश्चिन्त रहे। ये बाहरी पहचान हैं। अन्त में इनके साथ यह भी जोड़ दिया कि यज्ञ के लिए ही कर्म कर रहे हैं, कर्म हो रहे हैं यदि यह भावना हो जाय तो सुन्दर हो। जरूरी नहीं है कि यह भावना होई। मगर हो तो सुन्दर।

अब रहा बीच का 21वाँ श्लोक। इसमें विकर्म को ही अकर्म या कर्म-त्याग बन जाने की बात कही गयी है। क्योंकि किल्विष या पाप का प्रश्न तो वहीं पैदा होता है न? इसका भी रास्ता साधारणतः वही है जो कर्म को अकर्म बनाने का। मगर श्लोक में कुछ खास बातें कही गयी हैं। यही इसकी विशेषता है। जो कुछ कहा गया है उसका निचोड़ यही है कि कोई भी काम करने में शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के एक साथ होने पर ही वह पूरा होता है और उसकी पूर्ण जवाबदेही होती है। लेकिन यदि मन और बुद्धि को उधर से खींच लें और केवल शरीर या इन्द्रियों को ही—क्योंकि बाहरी इन्द्रियाँ या हाथ-पाँव आदि शरीर में ही आ जाते हैं; इसीलिए श्लोक में 'शारीरं' कहा है—उसे करने दें, तो जवाबदेही छूट जाती है। यही बात श्लोक में 'यत्तचित्तात्मा' और 'केवलं शारीरं' से कही गयी है। 'केवल शरीर से' यह तो 'यत्तचित्तात्मा होने या मन और बुद्धि को काबू में कर लेने का परिणाम ही है। इसकी पहचान के लिए 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' कहा है। सब लवाजिम और डल्ले-पल्ले से नाता तोड़ लेना—न कोई आगे हो न पीछे, न घर-बार हो और न दूसरी ही कोई जरा भी सम्पत्ति। तभी तो पक्की पहचान होती है कि सचमुच इस आदमी का मन किधर है। कुछ भी घर-गिरस्ती या कपड़ा-लत्ता होने पर मन उसी में जाता ही है।

यहाँ यह भी जान लेना होगा कि यद्यपि संकल्प और आसक्ति को आमतौर से एक ही मानते हैं, तथापि दोनों में कुछ न कुछ फर्क है। संकल्प भी आसक्ति का ही एक रूप है। मगर कोई भी काम शुरू होने के पहले जो आसक्ति होती है चाहे, उस काम के पूरे होने की या फल की, या दोनों की ही, उसके फलस्वरूप जो मन में उसके बारे में तरह-तरह की कल्पनाएँ होती हैं कि यों करेंगे, त्यों करेंगे वही संकल्प है। काम शुरू होने पर उसके खत्म होने-न होने के बाद तक जो कर्म

और फल से मन का चिपकना है वही आसक्ति है। इसीलिए मौलिक भेद न होने पर भी कुछ न कुछ भेद हई। इसीलिए दोनों को जुदा-जुदा कहा गया है। गीता में कई बार ऐसा मौका आया है। यहीं यह भी जान लेना चाहिए कि यह 'समःसिद्धावसिद्धौ' तीसरे अध्याय में तो आया नहीं। यहीं पर इस अध्याय में एक बार और तीन बार द्वितीय अध्याय में आया है। मगर पहले दो बार ज्ञान के सम्बन्ध में और बाद में एक बार कर्म के सम्बन्ध में। यहाँ भी कर्म के ही सम्बन्ध में इसमें और 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' में पूर्ण समानता है। ज्ञान और कर्म के समत्व का भेद पहले ही बताया जा चुका है।

23वें श्लोक में यज्ञार्थकर्म—यज्ञायकर्म—की बात आ जाने से 24वें से लेकर 31वें तक 8 श्लोकों में यज्ञों की ही बात आ गयी है। इनमें भी 30वें के पूर्वार्द्ध तक साढ़े छः श्लोकों में कुल पन्द्रह प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। शेष डेढ़ में उनकी महत्ता बताई गयी। यज्ञ सब पापों और बुराइयों को धो देते हैं, और यज्ञ के बाद ही बचे-बचाये पदार्थों को अमृत समझ उन्हें भोगनेवालों को ब्रह्म की प्राप्ति भी होती है, यही दो बातें कही गयी हैं। मगर 31वें के उत्तरार्द्ध में जो यह कहा है कि यज्ञ न करने वाले का तो काम यहीं नहीं चल सकता, परलोक की बात तो दूर रहे, वह यह सूचित करता है कि गीता का यज्ञ बहुत ही व्यापक है। फलतः इसके भीतर समाजोपयोगी कार्य भी एक-एक करके आ जाते हैं। असल में जिन पन्द्रह यज्ञों को गिनाया है उनके भीतर दुनिया के सभी काम आ जाते हैं। खूबी तो यह है कि पन्द्रह तरह के यज्ञों को गिना के अन्त में यह कह दिया है कि इस तरह के बहुतेरे यज्ञ वेदों में आते हैं—"एवं बहुविधा या विततता ब्रह्मणो मुखे"। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि नमूने के रूप में या दल और किस्म के रूप में ही ये पन्द्रह गिनाये गये हैं। दरअसल हरेक के पेट में सैकड़ों-हजारों तरह के यज्ञ आ सकते हैं।

यज्ञों के बारे में थोड़ा और भी विचारें तो अच्छा हो। तीसरे अध्याय में भी 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र' (3।9) में यज्ञार्थ कर्म की बात आयी है। वही यहाँ भी है। गौर से देखने से यह भी पता चलता है कि दोनों श्लोकों में एक ही बात है। इसीलिए संग या आसक्ति का त्याग वगैरह भी दोनों में ही आये हैं। अगर वहाँ 'कर्मबन्धन' से छूटने की बात है तो यहाँ कर्मों के समग्र या जड़मूल से खत्म हो जाने की बात है। मगर दोनों का आशय एक ही है। हाँ, एक अन्तर जरूर है और है वह महत्त्वपूर्ण। यहाँ 'ज्ञानावस्थितचेतसः' कहने से बुद्धि का ज्ञान में या आत्मचिन्तन में डूबना लिखा है। उसके आगे जो 'ब्रह्मार्पणं' (4।24) श्लोक है उससे भी यही सिद्ध होता है। इसमें तो कर्म को समाधि का रूपान्तर बना दिया है और कह भी दिया है। जब ब्रह्म के सिवाय और कोई खयाल हई नहीं तो समाधि तो पूरी होई गयी। मगर जैसा कि वहीं कह चुके हैं, तीसरे अध्याय में यह बात नहीं है। वहाँ जनसाधारण की बात ही आयी है, हाय-हाय छोड़ के कर्म करने की जरूरत उन्हें बताई गयी है और उन्हीं कर्मों से यज्ञ के स्वरूप का निर्माण कहा गया है। इस तरह एक पहेली सी खड़ी

हो जाती है। मगर इसका समाधान भी है।

असल में तीसरे अध्याय की स्थिति से आगे तक की स्थिति को ही दृष्टि में रख के चौथे अध्याय में कर्म, अकर्म और यज्ञ का निरूपण आया है। यह तो ठीक ही है कि पूर्ण ज्ञानी के कर्मों की बात यहाँ बार-बार आयी है। मगर 30वें के 'यज्ञक्षपितकल्मषाः' और पूरे 31वें श्लोक से ही सिद्ध हो जाता है कि पूर्ण ज्ञानी से नीचे दर्जे के लोगों के लिए भी यज्ञ की बात यहाँ कही गयी है। क्योंकि ज्ञानी को पाप से ताल्लुक ही क्या? उसका पाप तो ज्ञान ही जला देता है। वही कर्म को भी जलाता है। साथ ही, यज्ञ शेष अमृत का भोग करने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, इस कथन से भी पता चलता है कि ऐसा करते-करते जब उनका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तभी पूर्ण ज्ञान के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। क्योंकि ज्ञानी तो ब्रह्मरूप हई। फिर खा-पी के ब्रह्म को क्या खाक प्राप्त करेगा? मुमुक्षुओं के भी कर्म करने की बात इसी अध्याय में पहले कही गयी भी है। 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' (4।38) से भी पता लगता है कि कर्म से अन्तःकरण की शुद्धिरूपी संसिद्धि मिलने पर ही ज्ञान प्राप्त होता है। क्योंकि वहाँ 'योगसंसिद्धः' शब्द का सिवाय इसके दूसरा अर्थ सम्भव नहीं कि "कर्मों के करने से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है"। उसके आगे 'योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' (4।41) से भी स्पष्ट है कि कर्म करते-करते अन्तःकरण की पवित्रता हो जाने पर ही कर्मों का स्वरूपतः संन्यास करना जरूरी हो जाता है, ताकि निदिध्यासन और समाधि यथोचित रीति से हो सकें और पूर्ण आत्मसाक्षात्कार हो जाये। जब तक कर्म न करे तब तक उसका संन्यास असम्भव है, यह तो 'नकर्मणामनारम्भात्' (3।4) में कही चुके हैं। इसलिए यहाँ यह कहना कि "योग यानी कर्म करके ही जिसने कर्मों का संन्यास किया है" ठीक ही है। इसीलिए यही बात 'आरुरुक्षोर्मुनेः' (6।3) में तथा 'संन्यासस्तु महाबाहो' (5।6) में भी कही गयी है। हम इस पर विशेष प्रकाश भी डाल चुके हैं। यही कारण है कि 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' (4।37) और 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं' (4।19) के साथ इस 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' को मिला देने पर 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ' (4।33) में 'परिसमाप्यते' के पर्यवसान के दोनों ही अर्थ करने जरूरी हो जाते हैं। एक तो यह कि सभी कर्मों का फल दरअसल ज्ञान ही है। दूसरा यह कि ज्ञान के बाद सभी कर्म-जड़ मूल से खत्म हो जाते हैं। 'समग्रं प्रविलीयते' और 'सर्वकर्माखिलं परिसमाप्यते' का बहुत सुन्दर मेल भी है, यदि शब्दों के अर्थों पर गौर करें।

इतना ही नहीं। यदि यज्ञों के स्वरूपों को भी देखें तो पता चलता है कि आत्मज्ञानी के सिवाय दूसरों के भी यज्ञ उनमें आये हैं। 'ब्रह्मार्पणं' आदि श्लोक में ठीक आत्मज्ञानी का ही यज्ञ है। मगर उसके बाद जो देवयज्ञ आदि का वर्णन है वह तो निश्चय ही आत्मज्ञानियों के यज्ञ का नहीं है। वह भला देवताओं का यज्ञ क्यों करने लगे? उनकी नजरों में देव-दानव वगैरह तो हई नहीं। यज्ञ भी स्वतन्त्र कोई चीज नहीं है। शेष

चौदह यज्ञों का भी यही हाल है। 'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं' में भी ब्रह्मरूप में देही आत्मा का चिन्तन चलता है। इसीलिए वह यज्ञ भी आत्मज्ञान के पहले की चीज है इसी प्रकार ज्ञानयज्ञ भी बड़ा व्यापक है। इसीलिए गीता के अन्त (18।70) में गीता के पढ़ने-पढ़ाने को भी ज्ञानयज्ञ कह दिया है। फलतः ज्ञानयज्ञ आत्मज्ञान को ही कहते हैं यह तो माना जा सकता नहीं। जब 'ब्रह्मार्पणं' आदि आत्मज्ञानरूपी यज्ञ से पृथक् ही ज्ञानयज्ञ गिनाया है तो वह जरूर ही दूसरे ही प्रकार का है।

बात असल यह है कि यज्ञ में किसी न किसी पदार्थ की आहुति अग्नि आदि में दी जाती है। इसी समानता के खयाल से जहाँ एक पदार्थ को दूसरे के पास ला के खत्म किया वहीं यज्ञ नाम दे दिया गया है। आहुति के बाद उसके पदार्थ खत्म तो होई जाते हैं। विषयों में जाने पर इन्द्रियों की परेशानी जाती रहती है। मालूम पड़ता है कि वह खत्म हो गयी। इन्द्रियों के पास आ के विषय तो खत्म होते ही हैं। ब्रह्म के रूप में आत्मा का चिन्तन करने से उसका देहयुक्त रूप तो खत्म होई जाता है। मन के रोकने से इन्द्रियों की और प्राण की भी क्रियाएँ खत्म होई जाती हैं। पूरक में प्राण की क्रिया होती नहीं। क्योंकि वायु बाहर जाये तब न? वहाँ तो भीतर ही खींचा जाता है और वही है अपान की क्रिया। रेचक में वायु, बाहर ही निकालते हैं। इसीलिए वहाँ अपान की ही क्रिया गायब है। कुम्भक में दोनों की ही क्रिया रुक जाती है। यद्यपि प्राणायाम तीनों को ही मिला के या अलग-अलग भी कहते हैं। मगर पूरक-रेचक को जुदा गिना देने के बाद प्राणायाम के मानी हैं केवल कुम्भक। इसी प्रकार सभी यज्ञों के बारे में जानना होगा। 'सर्वेऽप्येते यज्ञविदः' (4।30) में विद का अर्थ ज्ञान नहीं, किन्तु लाभ है। अतः यज्ञविदः का अर्थ है यज्ञ करने वाले।

यहाँ आत्मज्ञान के सिवाय दूसरे यज्ञों के वर्णन करने का आशय यही है कि जिनकी मनोवृत्ति बहुत ऊँची नहीं उठ सकी है वह भी धीरे-धीरे उस दशा में पहुँच जायें। इसीलिए सभी क्रियाओं में यज्ञ की भावना का उपदेश है। 'यत्करोषि' (9।27-28) में जिस प्रकार सभी क्रियाओं में भगवान् की पूजा या भेंट की भावना का उपदेश किया गया है; ठीक वही बात यहाँ है। भगवान् की भेंट की ओर स्वभावतः लोगों का खयाल जा सकता है। इसलिए वह एक आसान उपाय है। मगर जो लोग भगवान् को नहीं मानते या उतनी दूर नहीं जा सकते—क्योंकि यह भावना आसान नहीं है—उन्हें यज्ञ की भावना के द्वारा तैयार करने का यह रास्ता है। आखिर यज्ञ, सैक्रिफाइस (sacrifice) या कुर्बानी तो सभी धर्म-मजहबों की चीज है। समाजहित की दृष्टि से तो धर्म न मानने वालों के लिए भी मान्य है। इसीलिए इस सुगम और व्यापक मार्ग का उपदेश यहाँ किया है। इसका परिणाम यह होगा कि पदार्थों को भोगते हुए भी अलग-अलग खाना, सोना आदि बुद्धि या भावना न करके सर्वत्र यज्ञ की ही बुद्धि करते रहने से मन की एकाग्रता हो जायगी। फिर तो उसे यज्ञ से मोड़ के आत्मा में लगाना अगला ही कदम होगा। 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (योग. 1।39)

में पतंजलि ने यही माना है। यही सबसे आसान मार्ग है भी।

इसीलिए 'कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे' में जो कहा है कि इन यज्ञों को कर्मों से ही होने वाले मानने से ही मुक्ति या कर्मों से छुटकारा होगा, उसका भी अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। यज्ञों को कर्मजन्य जानने से छुटकारे का मतलब यही है कि अलग-अलग कर्मों की भावना तो रही ही नहीं। अब सभी कर्म यज्ञ बन गये। फिर तो करने वाले का यह खयाल होगा ही नहीं कि हम खाते-पीते हैं, खेती करते हैं आदि-आदि। किन्तु वह तो बराबर यही समझता रहेगा कि यज्ञ हो रहा है। इस तरह कर्म की स्वतन्त्रता खत्म हो गयी। वे बन गये यज्ञ और यज्ञ बनने का फल अभी बताई गयी एकाग्रता ही है। हमने जब यह जान लिया कि कोई और काम तो होता नहीं कि उसके भले-बुरे फल होंगे। यहाँ तो केवल यज्ञ हो रहा है। तो फिर कर्मों के फल हमें मिलेंगे कैसे? हाँ, यदि ऐसी भावना न रहती तो भिन्न-भिन्न कर्मों की कल्पना करके हम उनके फलों में फँसते। मगर अब तो यज्ञ का ही फल मिलेगा और वह होगी मन की एकाग्रता। इसीलिए इन कर्मों से यज्ञ हो रहा है या इन कर्मों के रूप में ही यज्ञ हो रहा है यह ज्ञान कर्मों से छुटकारे के लिए आवश्यक है।

एक ही बात और रह जाती है जो इस श्लोक में आयी है। जब यज्ञों के भीतर आत्मज्ञान या ब्रह्मसमाधि भी आ गयी, जिसका वर्णन 'ब्रह्मार्पणं' में किया है, तो उसे कर्मजन्य कैसे कहा जायगा, प्रश्न हो सकता है। परन्तु यहाँ तो साफ ही उस समाधि को उसी श्लोक में 'कर्मसमाधि' कह दिया है। वहाँ तो क्रिया में ही ब्रह्म की भावना अथ से इति तक है, और अगर कर्म होगा ही नहीं—क्रिया होगी ही नहीं—तो यह भावना होगी कैसे? इसीलिए वह भी कर्मजन्य ही है, इसमें कोई शक नहीं। इसी से उसे सभी यज्ञों से श्रेष्ठ कहा है। 28वें श्लोक वाला ज्ञानयज्ञ यद्यपि व्यापक है और आत्मज्ञान के अलावे बाकियों को ही यहाँ ज्ञानयज्ञ मानना उचित प्रतीत होता है; फिर भी 33वें श्लोक में ज्ञानयज्ञ कहने, प्रसंग को देखने तथा उत्तरार्द्ध में सिर्फ ज्ञान शब्द होने से भी 'श्रेयान्द्रव्यमयात्', (4।33) में ज्ञानयज्ञ शब्द से केवल आत्मज्ञान का समझा जाना रुक नहीं सकता। यद्यपि यज्ञों को 'यज्ञक्षपितकल्मषाः' के द्वारा पवित्र करने वाले कहा है; तथापि "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" (4।38) में ज्ञान को जो सबसे बढ़ के पवित्र करने वाला कहा है उससे भी उसकी यज्ञरूपता सिद्ध हो जाती है। यह ज्ञान अद्वैत आत्मा का ज्ञान ही है यह बात 'ये न भूतान्यशेषेण' (4।35) श्लोक से स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि जब आत्मा और ब्रह्म एक ही होंगे तभी तो सभी पदार्थ आत्मा में और ब्रह्म में भी नजर आयेंगे।

इस प्रकार 35वें श्लोक तक कर्म को अकर्म कर देने की बात कह दी गयी और विकर्म को ही अकर्म बन जाने की भी। 36वें में भी विकर्म को ही अकर्म बना दिया है। क्योंकि वृजिन या पाप का प्रश्न तो विकर्म में ही होता है, सुकर्म या कर्मत्याग में नहीं। यह ठीक है कि यहाँ समस्त वृजिन कहने से जब पाप का समुद्र लेंगे—सभी

पाप लेंगे—तो संचित और पुराने पाप भी आयी जायेंगे। मगर इससे क्या? यह तो और भी सुन्दर हुआ कि भूत और भविष्य काल के विकर्म भी अकर्म बन गये और सिद्धान्त की व्यापकता हो गयी। इसी तरह 37वें श्लोक में ईंधनों का दृष्टान्त देकर कर्म समूह के जला देने की जो बात कही गयी है उससे भी यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान से न सिर्फ वर्तमान कर्म अकर्म बन जाते हैं। किन्तु भूत और भावी कर्म भी, और इस तरह कर्म के अकर्म बन जाने का भी सिद्धान्त व्यापक बन जाता है।

रह गयी अकर्म या विकर्म के कर्म बन जाने की बात। सो तो बड़ी मोटी है। इसमें ज्यादा कहने की जरूरत है नहीं। 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य' (3।6-7) आदि श्लोकों में ही यह बात साफ-साफ कह भी दी गयी है। उससे बढ़ के सफाई के साथ और क्या कहा जा सकता है? इसी प्रकार कर्म में विकर्म या विकर्म में कर्म की भी बात है। वह धर्मशास्त्रों में भी पाई जाती है और ज्ञान की अपेक्षा नहीं करती। असल में आत्मज्ञान के फलस्वरूप जो परिवर्तन कर्म या अकर्म में होता है, उसी का निरूपण यहाँ है, न कि और कोई। जो चीजें परिस्थिति के ही करते बदल जाती हैं, न कि ज्ञान के करते, उनका ताल्लुक दरअसल गीता से है नहीं। इसीलिए गीता ने या तो तीसरे अध्याय की तरह प्रसंगवश उनके बारे में कुछ कह दिया है या छोड़ दिया है। क्योंकि उनकी बखूबी जानकारी स्मृतियों से और अन्य ग्रन्थों से भी हो सकती है। कर्मयोग का मूलाधार आत्मज्ञान होने के कारण और इस अध्याय में ज्ञान का प्रसंग होने के कारण भी ज्ञान से होने वाली कर्म-अकर्म की बातें ही यहाँ कही गयी हैं।

सिर्फ 34वें श्लोक की एक बात रह जाती है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए तत्त्वदर्शी गुरु के पास जा के पहले तो उसके सामने नम्रतापूर्वक आत्मसमर्पण करना होगा। उसके बाद यथाशक्ति सेवा करना जरूरी है। जब नम्रता और सेवा से गुरु महाराज सन्तुष्ट दीखें तभी मौका पा के आत्मा-परमात्मा के बारे में प्रश्न करना उचित है। यही गीता ने माना है। अर्जुन ने यही किया भी था। ऐसा नहीं कि चट पहुँचे और पट प्रश्न ही कर दिया। फिर सूखे काठ की तरह तने पड़े रहे। जो आत्मज्ञानी और मस्त होगा वह इस पर कभी आँख भी न फेरेगा। प्रश्न का उत्तर देना और समझाना-बुझाना तो दूर रहा। किसी मस्त से, जो बड़े-बड़े मिट्टी के ढेलों के बीच पड़ा रहता था, जब किसी महाराजा ने तरस खा के पूछा कि कहिए कैसे कटती है तो उसने चट उत्तर दिया कि कुछ देर तो तेरी जैसी और कुछ देर तुझसे अच्छी! राजा ने समझा था कि ढेलों में कष्ट होता होगा। मगर यहाँ तो उलटी बात सुनने को मिली! असल में नींद के समय तो ढेला, काँटा या पलँग का पता नहीं रहता। इसीलिए सभी की बराबर कटती है। हाँ, जगने पर मस्त तो मस्त ही झूमते हैं। मगर राजे-महाराजे हजार चिन्ता में मरते हैं। यही वजह है कि मस्तराम की उस समय अच्छी कटती है। फिर वे किसी की परवाह क्यों करने लगे?

'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं' (4।35) श्लोक महत्त्वपूर्ण है। आत्मज्ञान की बात यों तो पहले भी बार बार 2, 3, 4, अध्यायों में आयी है। उसके प्राप्त होने पर आत्मज्ञानी योगी या मस्तराम की क्या दशा होती है। यह बात भी कितनी ही बार कितने ही ढंग से कही गयी है। मगर अभी तक यह कहीं नहीं बताया गया कि उस ज्ञान का रूप कैसा होता है। यह एक बुनियादी और मौलिक बात है जो अब तक छूटी है। ज्ञान का एक यह जबर्दस्त पहलू है जिस पर प्रकाश पड़ना जरूरी था। यह बात इसी श्लोक में पहले-पहल आयी है। यही कारण है कि इस अध्याय के अन्त में जो समाप्तिसूचक वाक्य 'इतिश्री' आदि है उसमें इस अध्याय को, इसमें प्रतिपादित मुख्य विषय के कारण ही, 'ज्ञान-कर्म-संन्यास योग' नाम दिया गया है। कर्म-संन्यास की बात भी इस अध्याय में आयी है यह तो पहले ही कहा है मगर आगे 'योगसंन्यस्तकर्माणं' (4।41) में साफ ही कर्म-संन्यास आया है न कि अकर्म शब्द के अर्थ के रूप में अप्रत्यक्ष रूप से आया है। अध्याय के अन्त में यह संन्यास और इसी के बाद 42वें में 'योगमातिष्ठ' के द्वारा कर्म का करना कह के अध्याय को खत्म किया है। इसीलिए आगे अर्जुन को शंका करने का मौका फौरन ही मिल गया है। यह भी कितना अच्छा है कि पहले ज्ञान और पीछे कर्म संन्यास आया है। फलतः 'ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग' नाम देना उचित हो गया!

हाँ, तो उस ज्ञान को जरा देखा जाय। यह तो पहले ही कह चुके हैं कि इस श्लोक में अद्वैत ज्ञान का ही प्रतिपादन है। मगर अद्वैत के मानी केवल यही नहीं है कि जीव और ईश्वर या आत्मा और परमात्मा की एकता है, जैसा कि कह चुके हैं। यह एकता तो हई इसके बिना तो यह सम्भव होई नहीं सकता कि सभी भूतों या सत्ताधारी पदार्थों को—सारे संसार को—आत्मा में और परमात्मा में—दोनों में ही—देखा जा सके। अगर दोनों दो होते तो यह कैसे सम्भव था कि जो चीजें आत्मा में दीखतीं वही एक-एक करके परमात्मा में भी नजर आतीं? दो पृथक् पदार्थों में ऐसा होना, ऐसा देखा जाना असम्भव है। असल में दोनों एक ही हैं। मगर मोह, भ्रम या अज्ञान की भूलभुलैया के चलते अलग-अलग—भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। किन्तु आत्मा का साक्षात्कार होते ही यह ज्ञानी मस्त हो के भीतर ही भीतर अपनी पुरानी नादानी पर और दुनिया की भी मूर्खता पर हँसता है कि देखिए न, हम इन्हें दो मानते थे! हालाँकि दोनों एक ही हैं! उफ, ऐसी अन्धेर कि एक को दो कर दिया! सो भी ऐसे दो, कि एक दूसरे में जमीन आसमान का फर्क! क्या गजब है! इसी के साथ वह सारे संसार के पदार्थों को अपने ही भीतर—अपनी आत्मा में—अपने आप में—एक-एक करके सिनेमा के चित्रों की तरह साफ-साफ चलते फिरते और काम करते देखता है! उन्हें परमात्मा में भी देखता है! वह तो प्रत्यक्ष ही देखता और मानता है कि मैं ही परमात्मा हूँ और मुझी में यह सारी दुनिया है! संसार के पदार्थों के रग-रग में अपने परमात्मा को—अपने आपको—ओत प्रोत एवं विधा हुआ देख

के वह आश्चर्य एवं आनन्द में मस्त हो जाता है। यही दशा होने पर हो तो वामदेव बोल उठे कि मैं ही, मनु, सूर्य और सभी कुछ हूँ! यह श्लोक अर्जुन से कहता है कि ज्ञान होने पर तुम्हारी भी यही हालत हो जायगी, याद रखो! फलतः जब तक ऐसी मस्ती की दशा न आ जाये उसके लिए निरन्तर यत्न करना ही होगा।

लेकिन यह अद्वैत तो तभी पूर्ण और सच्चा होगा जब आत्मा-परमात्मा की एकता के अनुभव के साथ ही यह भी दीखने लगे कि यह जगत् इस जगत् के सभी पदार्थ हमसे—आत्मा से—पृथक् नहीं हैं। तभी वास्तविक अद्वैत ज्ञान होगा। यह बात भी इस श्लोक में है। 'अशेषेण भूतानि' कहने से सत्ताधारी हरेक भौतिक पदार्थ के बारे में ऐसा देखने की बात साफ हो जाती है। मगर यह कैसे सम्भव है। जब तक आत्मा के अलावे अन्य पदार्थों की स्वतन्त्र, जुदी सत्ता का अभाव न माना जाय—उनके पृथक् अस्तित्व का अभाव न माना जाय? सोने के कड़े कंगन आदि को देख के कोई भी अनुभव कर सकता है कि इनमें सर्वत्र सोना ही सोना है, ये चीजें सोने में ही हैं, सोने से अलग नहीं हैं। इसी प्रकार मिट्टी के अनेक बर्तनों के बारे में भी मिट्टी ही मिट्टी का अनुभव करके कह सकता है कि ये सभी पात्र मिट्टी में ही हैं, मिट्टीमय हैं, मिट्टी से जुदे नहीं हैं। लेकिन यह कभी नहीं हो सकता कि इन बर्तनों के बारे में कहा जाय कि ये सोने में ही हैं, सोने से अलग नहीं हैं। या कंगन, कड़े आदि के बारे में कहा जाय कि ये मिट्टी ही हैं, मिट्टी से अलग नहीं हैं। क्योंकि इन दोनों में—सोने और मिट्टी में—कोई मेल है नहीं। दोनों की मौलिक विभिन्नता है। मगर श्लोक में जो अनुभव बताया गया है वह तो ठीक इसी तरह का है, इसी प्रकार का होना चाहिए कि ये सभी पदार्थ आत्मा में ही हैं, आत्मा से अलग नहीं हैं।

यहाँ दिक्कत यह पड़ती है कि संसार में असंख्य आत्माएँ हैं और उनकी चैतन्य शक्ति की समानता को देखते हुए यदि किसी प्रकार कहा जा सके भी कि ये सभी आत्माएँ मुझमें ही हैं, मुझसे जुदी नहीं हैं; या जब आत्मा-परमात्मा की एकता है तो आत्मा-आत्मा की एकता भी अर्थ सिद्ध है; इसलिए एकता के खयाल से अगर ठीक ही कह सकें कि सभी आत्माएँ मुझसे जुदी नहीं हैं। तो भी जो अचेतन भौतिक पदार्थ हैं उन्हें कैसे कहें कि ये मेरी आत्मा से—मुझसे—अलग नहीं है? किन्तु 'भूतानि अशेषेण' कहने से तो वे भी आते ही हैं। भूत कहने से ही आत्मा के सिवाय शरीरादि सभी आ जाते हैं। जब अशेषेण कह दिया तब तो कोई छूट ही नहीं सकता। इसलिए उनकी भी तन्मयता का ज्ञान आत्मा को, हमें होना ही चाहिए। हाँ, एक ही बात हो सकती है। जैसे सपने में देखे पदार्थों के बारे में जगने पर अनुभव होता है कि मुझसे अलग या मेरे अलावे और कोई चीज जो दीखती थी, कहाँ थी? वहाँ सपने में भी सब कुछ मैं ही था, मेरे अलावे और तो कुछ था नहीं। या जैसे रस्सी में भ्रम से माने गये साँप के बारे में उजाले में यही अनुभव होता है कि यह तो रस्सी ही है; यही साँप मालूम पड़ती थी; इसके अलावे कोई साँप-वाँप तो है नहीं। ठीक

यही बात संसार के बारे में भी हो कि मुझसे अलग कहाँ कोई चीज है? मैं ही तो सर्वत्र हूँ, सब में हूँ। मेरे अलावे तो और कुछ हई नहीं। तभी श्लोक का अर्थ ठीक-ठीक जँचेगा। तभी वास्तविक अद्वैतवाद भी सिद्ध होगा।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। 38।।

क्योंकि (वस्तुतः) इस दुनिया में ज्ञान से बढ़ के पवित्र—शुद्ध करने वाली—चीज दूसरी हई नहीं। कर्मों के फलस्वरूप जिसका अन्तःकरण—मन—शुद्ध हो गया है वही इसे समय पा के अपने में ही हासिल कर लेता है। (बाहर जाने या ढूँढ़ने की जरूरत नहीं होती)। 38।

जो समझते हैं कि मन की शुद्धि और स्थिरता के बाद फौरन ही ज्ञान हो जायगा, उन्हीं के लिए यहाँ 'कालेन'—समय पा के—कहा गया है। इसे प्राप्त करने में समय लगता है, देर होती है। क्योंकि भावना, निदिध्यासन और समाधि की जरूरत तो होती है और उसमें काफी समय लगता है। इसी बात का स्पष्टीकरण अगले दो श्लोक करते हैं। "आत्मनि"—आत्मा में—कहने का अभिप्राय यही है कि आत्मा का ही तो ज्ञान होना है और उसी में तो जगत् को देखना है, भीतर ही ढूँढ़ना है तीर्थ में या कहीं और तो जाना-वाना है नहीं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। 39।।

जो श्रद्धा वाला है, जिसने अपनी इन्द्रियों को बखूबी काबू में कर लिया है और जो इस बात में दिन-रात मुस्तैद है, उसी को ज्ञान होता है। ज्ञान पर अखण्ड शान्ति का अनुभव फौरन ही होने लगता है। 39।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।। 40।।

(विपरीत इसके) जो कुछ जानता ही नहीं, जिसे श्रद्धा भी नहीं है और जिसके मन में संशय ने घर कर लिया है वह चौपट ही हो जाता है। (क्योंकि हर बात में शक करने वाले का न तो यहीं काम चल सकता है और न परलोक में ही। उसे चैन तो कभी मिलता ही नहीं। 40।

यहाँ अज्ञ कहने का अभिप्राय यही है कि आत्मज्ञान के उपायों के बारे में भी कुछ न जानता हो; इसीलिए न तो उसका इन्द्रियों पर काबू ही हो और न मुस्तैदी ही। पहले श्लोक की यही बातें ज्ञान के लिए मूल रूपेण आवश्यक हैं और यही उसमें हैं नहीं। वह कोरा ही है, यही तात्पर्य है। श्रद्धा हृदय की चीज है। केवल तर्क-दलीलों पर ही निर्भर न करके विश्वास करना ही पड़ता है। तभी ज्ञान होता है। मगर जो श्रद्धालु नहीं हैं, उनका हृदय नीरस होता है। फलतः केवल दिमागी तर्कों से ही वे निश्चय करना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि बात-बात में शक

करते रहते हैं। क्योंकि 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' के अनुसार तर्क तो कहीं जा के स्थिर हो नहीं सकता। वह तो पहरेदार सिपाही है और वह पहरेदार सिपाही क्या जो बराबर चलता न रहे और स्थिर या खड़ा हो जाय? और जब कहीं किसी बात पर स्थिरता नहीं, निश्चय नहीं, तो सर्वत्र संशय का एकच्छत्र राज्य समझिए। फिर तो मौत ही मौत है। क्योंकि खान-पान आदि में भी संशय हो सकता है कि पाचक ने जहर तो नहीं दे दिया है, बाजार से मँगाई चीजों में ही किसी शत्रु ने विष तो नहीं मिला दिया है, आदि-आदि। इसीलिए इस दुनिया का काम ही जब नहीं चल पाता तो ऐसा लोगों का परलोक क्या बनेगा खाक?

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।। 41।।

हे धनंजय, जिसने कर्म करते-करते अन्त में उसके संन्यास की दशा प्राप्त कर ली है, जिसने आत्मज्ञान के बल से संशय को खत्म कर दिया है (और इसीलिए) जिसने आत्मा को पा लिया है कर्म उसे बन्धन में डाल नहीं सकते। 41।

यहाँ 'आत्मवन्तं' कहने का अभिप्राय यही है कि वह आत्मावाला हो गया है, यानी जो आत्मा खोई थी उसे प्राप्त कर लिया है। उसका प्राप्त करना तो उसे जान लेना ही है। इसीलिए इसके पहले 'ज्ञानसंछिन्नसंशयं' कहा है। संशय की अँधियारी में ही तो आत्मा लापता थी और यह संशय पैदा हुआ था अज्ञान से, जैसा कि आगे लिखा है। अब ज्ञान के दीपक ने उसी को मिटा दिया। मगर ज्ञान को पक्का और दृढ़ होने के लिए समाधि की जरूरत है। उसके बिना वह मजबूत होई नहीं सकता। किन्तु कर्मों को करते रहने पर समाधि के लिए फुर्सत कहाँ? इसीलिए कर्मों का संन्यास भी बता दिया है। किन्तु यह संन्यास मिथ्याचार और दम्भ न हो, नकली न हो, इसीलिए कह दिया कि कर्मों के करते-करते अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर जब संन्यास की योग्यता हो जाय और उसका अवसर आ जाय तभी संन्यास करना ठीक है। यहाँ और आगे योग का अर्थ है कर्म।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।। 42।।

इसीलिए हे भारत, अज्ञान से पैदा होनेवाले (और) हृदय में ही घर बना के जमनेवाले इस संशय (रूपी प्रचण्ड शत्रु) को आत्मा के ज्ञानरूपी तलवार से कत्ल करके उठ खड़े हो (और युद्धात्मक) कर्म करो। 42।

यहाँ ज्ञान को तलवार कहने का आशय यही है कि जैसे तीखी तलवार से ही जबर्दस्त शत्रु को मार सकते हैं; कमजोर या भोथरी तलवार से कोशिश करने पर उलटे खतरा रहता है। वैसे ही ज्ञान खूब दृढ़ और शक-सुभे से बिलकुल ही अछूता जब तक न हो जाय इस अज्ञान का और तन्मूलक संशय का भी खात्मा होता ही नहीं। इसलिए दीर्घकाल तक यत्न करके पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना निहायत जरूरी है।

उपनिषदों की आख्यायिकाएँ इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि कच्चे ज्ञानवाले का संशय उसे कैसे परेशान करता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।।4।।

श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योगशास्त्र में जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग नामक चौथा अध्याय यही है।

पाँचवाँ अध्याय

चौथे अध्याय में जो कुछ भी कहा गया है वह अर्जुन के और दूसरों के भी बड़े ही काम का है। इसमें शक की जगह नहीं है। अर्जुन चुपचाप ध्यानपूर्वक इसीलिए सुनता भी रहा। कर्म-अकर्म के विशद निरूपण और ज्ञान के स्वरूप के प्रतिपादन ने उसे मुग्ध कर दिया था। अन्त में जो यह कहा गया है कि कर्मों के करते-करते संन्यास प्राप्त कर लेने पर ही ज्ञान होता, आत्मा की प्राप्ति होती और कर्मों के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है, उससे भी उसे पूरा सन्तोष हुआ। फलतः भीतर ही भीतर अपने तात्कालिक कर्तव्य की उधेड़बुन वह करने ही लगा था कि एकाएक निराली बात अध्याय के आखिरी श्लोक में कह दी गयी! उसे तो यह देखना था कि मैं किस दशा में हूँ। आया मुझे अभी कर्म ही करना चाहिए, या अब मेरी योग्यता ऐसी हो गयी है कि संन्यास ले लूँ। क्योंकि उपदेश सुनने के बाद उसे सोचना-विचारना और परिस्थिति के अनुसार ही काम करना था। वह उसी उधेड़बुन में लगा भी था। तब तक चटपट आज्ञा हुई कि खड़े हो जाओ और युद्धात्मक कर्म में जुट जाओ।

इससे उसके मन में खलबली मचना और सन्देह होना जरूरी था। क्योंकि कृष्ण को क्या पता कि वह किस दशा में है, उसकी योग्यता क्या है? उसका पता तो आत्मनिरीक्षण के बाद अर्जुन को ही लग सकता था। निरीक्षण की कसौटी भी उसे चौथे अध्याय में मिली ही थी। फिर कृष्ण को यह कहने की क्या जरूरत थी कि तुम्हें तो कर्म ही करना है, न कि संन्यास लेना? तब तो उपदेश की कोई जरूरत थी ही नहीं। किन्तु सीधे आज्ञा देनी थी, फौजी फर्मान जारी कर देना था कि लड़ना होगा। मगर जब उपदेश हो रहा है और तर्क-दलील के साथ बरा-बार कहा जा रहा है कि जानो, समझो, सोचो, विचारो 'बोद्धव्यम्, विद्धि', तब यह क्यों हुआ? तब यह आज्ञा कैसी कि लड़ो? तब तो यह उपदेश का नाटक ही माना जायगा न? कम से कम इस प्रकार का खयाल उसके दिमाग में बिजली की तरह एकाएक दौड़ जाना स्वाभाविक था। फलतः कृष्ण से उसका चटपट प्रश्न करना जरूरी हो गया कि एक ही साँस में दोनों बातें क्यों कहते हैं? या तो कर्म ही कहिए और बात खत्म कीजिए; या संन्यास की ही बात कहिए और सोचने दीजिए कि आया मैं उसका अभी अधिकारी

हो पाया हूँ या नहीं। यह झमेला ठीक नहीं। साफ-साफ बोलिए। इसीलिए—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
एच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।1।।

अर्जुन ने पूछा—हे कृष्ण, आप (पहिले तो) कर्मों के संन्यास की बात कहते हैं और (फौरन ही) उन्हें करने को कहते हैं! (यह क्या?) इन दोनों में जो अच्छा हो वही मुझे पक्का-पक्की बताइए।1।

यहाँ 'कर्मणां' इस षष्ठी विभक्ति के बाद 'संन्यास' और 'योगं' लिखने से स्पष्ट हो जाता है कि संन्यास कहते हैं कर्मों के त्याग को और योग कहते हैं उनके करने को। इसीलिए हमने 'कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं' (3।7) आदि में 'करना' यही अर्थ किया है। यही वहाँ जँचता भी है। ऐसी दशा में यहाँ, चौथे अध्याय के अन्त में या ऐसी ही और जगहों में भी योग का दूसरे अध्याय वाला कर्मयोग अर्थ जो लोग कर डालते हैं, फिर भी अपने अर्थ में खींचातानी देख पाते नहीं, उनसे हमें इतना ही अर्ज करना है कि खींचतान किसी की मौरूसी नहीं है। इसलिए वे खुद अपने बारे में ही सोचने का कष्ट करें।

अर्जुन के पूछने का यह भी अभिप्राय है कि यदि ज्ञान के लिए संन्यास जरूरी न हो और कर्म से ही काम चलता हो, तो साफ-साफ कहते क्यों नहीं? आखिर आत्मज्ञान तो आवश्यक है। उसके बिना तो काम चलने का नहीं। अब अगर उसके लिए खामख्वाह संन्यास जरूरी न हो, तो यही बात साफ-साफ कह दीजिए। क्योंकि अब तक के कथन से तो पता चलता है कि दोनों की जरूरत है। मैंने समझी है भी दोनों की जरूरत समानरूप से ही। इसीलिए किसी को भी अपने मौके पर छोड़ा नहीं जा सकता। दोनों के ही अलग-अलग मौके आते भी हैं। लेकिन अगर आप ऐसा मानते हों कि मेरी समझ गलत है और दोनों की जरूरत समान नहीं है; किन्तु कर्म की ही आवश्यकता अनिवार्य है; इसलिए वही हर हालत में अच्छा है—कर्तव्य है, तो यही बात निश्चित रूप से साफ-साफ कह दीजिए। या अगर आप यह मानते हों कि जरूरत तो दोनों की इक सी ही है; दोनों के ही अपने-अपने अवसर भी आते हैं, फिर भी कर्म की विशेषता इसलिए है कि वह पहली सीढ़ी है; फलतः उस पर पाँव दिये बिना संन्यास की दूसरी सीढ़ी पर या तो पहुँची नहीं सकते या पहुँचने में खतरा है; साथ ही, कर्मों के करने में दिक्कतें और परेशानियाँ जो होती हैं, उन्हीं के करते लोग जी चुरा के उनसे भागना चाहते हैं; यही कारण है कि कर्म पर जितना जोर देना जरूरी हो जाता है उतना संन्यास पर नहीं; यही नहीं, कर्म पर ही जोर देने और उसी को अच्छा बताने पर जब लोग उसमें पड़ जायँगे तो संन्यास का मौका तो स्वयं आई जायगा और उसे लोग करी लेंगे; तो यही बात स्पष्टतया कह दीजिए।

कृष्ण खासतौर से इसी आखिरी अभिप्राय से ही बातें कर रहे थे। उनके कहने का आशय भी यही था। इसीलिए उसी को स्पष्ट करने के लिए पुनरपि–

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।2।।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया–(बेशक), कर्मों का संन्यास और उनका करना (ये दोनों ही) परम कल्याण–मोक्ष–के देनेवाले हैं। लेकिन इनमें संन्यास से योग–कर्मों का करना–ही अच्छा है।2।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।3।।

हे महाबाहु, उसी को सदा संन्यासी मानना चाहिए जिसे न राग है, न द्वेष–जो न कुछ हटाना चाहता है, न कुछ लेना। क्योंकि जो (इस प्रकार) राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित है वही आसानी से बन्धनों से छुटकारा पा जाता है।3।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।4।।

सांख्य–संन्यास (और) योग को–दोनों को–दो चीजें ना समझ लोग (ही) मानते हैं। (क्योंकि) यदि एक पर भी अच्छी तरह कायम रहे तो दोनों का फल मिली जाता है।4।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।5।।

जो स्थान संन्यास से मिलता है वही योग से भी। (इसलिए इस तरह) संन्यास तथा योग को जो एक ही समझता है (दरअसल) वही समझदार है।5।

संन्यास्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चरेणाधिगच्छति।।6।।

हे महाबाहु, बिना योग के संन्यास की सिद्धि–प्राप्ति–असम्भव है। (विपरीत इसके) जो योगयुक्त है अर्थात् कर्म करता है उसे संन्यास की प्राप्ति शीघ्र ही होती है।6।

आगे बढ़ने के पहले इन पाँच श्लोकों के सम्बन्ध में कुछ बातें कह देना जरूरी है। एक तो यह कि दूसरे श्लोक में जो कुछ कहा गया है उसका आशय वही है जो उससे पहले हमने अर्जुन के प्रश्न के अभिप्राय के विवेचन के सिलसिले में आखिर में कह दिया है। कर्म के खतरों को ध्यान में रख के ही उस पर जोर देना कृष्ण जरूरी समझते हैं। उनके जानते वास्तविक संन्यास में कोई खतरा है नहीं और कच्चे संन्यास को रोकने के लिए कर्मों पर ही जोर देना जरूरी हो जाता है। मगर सर्वसाधारण

के सामने हर बात इतनी सफाई के साथ कही तो जा सकती नहीं। क्योंकि सब लोग इसे समझ पाते नहीं और भटक जाते हैं। इसीलिए यही बातें दूसरे तरीके से कही जाती हैं जिन्हें वेदवाद या अर्थवाद का तरीका गीता ने भी माना है और पुराने लोगों ने भी। कृष्ण ने भी यही तरीका यहाँ अपनाया है।

असल में संन्यास की सीढ़ी कर्मों के बाद आने के कारण ऊँची तो हई। उसकी जवाबदेही भी बड़ी है। इसीलिए शास्त्रों ने उसकी प्रशंसा काफी की है। मगर दिक्कत यह होती है कि जन-साधारण प्रशंसा के कारणों और रहस्यों को न समझ सकने के कारण उसके बाहरी रूप पर ही लट्टू हो के उसी ओर झुक पड़ते हैं। फलतः कर्मों से हटने का खतरा बराबर रहता है। इसीलिए तीसरे श्लोक में यह दिखाया गया है कि असली संन्यासी वही है जो रागद्वेष एवं काम-क्रोध से शून्य हो, जिसमें वैर-विरोध आदि होई नहीं। उसे ही मुक्ति मिलती भी है। अब यदि यही काम-क्रोधादि का त्याग कर्म करने वाले में आ जाय तो उसके दोनों ही हाथ में लड्डू हैं। वह योगी का योगी—कर्मी—तो ठहरा ही। साथ ही, यदि देखा जाय तो संन्यासी भी हो गया और इस तरह उसने मुक्ति का रास्ता साफ कर लिया। इससे फायदा यह होता है कि एक तो पाखण्ड और मिथ्याचार के रूप में संन्यास को प्रश्रय नहीं मिलता। दूसरे जन-साधारण उससे हिचक जाते और सोचने लगते हैं कि तब तो कर्म ही अच्छा है। क्योंकि हम काम-क्रोधादि से शून्य तो हो सकते नहीं और इसमें ऐसा होना जरूरी भी नहीं, जबकि संन्यास में नितान्त आवश्यक है। इसलिए आइए, कर्म ही करें और यथासम्भव काम-क्रोधादि को भी रोकें, ताकि आगे का भी रास्ता धीरे-धीरे साफ होता चले।

एक बात और भी है। यदि यह निश्चय हो कि संन्यास और योग के फलस्वरूप जो स्थान या पद मिलते हैं, या मुक्ति होती है वह दो चीजें हैं, तो स्वभावतः खयाल होगा कि संन्यास के ऊँचे दर्जे की चीज होने के कारण उसके फलस्वरूप जिस वस्तु की प्राप्ति होगी वह अवश्य ही श्रेष्ठ होगी, और श्रेष्ठ पदार्थ कौन नहीं चाहता? इसलिए उसी की आतुरता और लोभ के चलते बहुत लोग फिर भी संन्यास पर जोर मार सकते हैं और असमय ही उस ओर पाँव बढ़ा दे सकते हैं। अतएव यह बताने की जरूरत है कि दोनों के दो फल न हो के दोनों का सम्मिलित फल एक ही है। चाहे संन्यासी हों या कर्मी हों, या आगे-पीछे दोनों ही हों, जायँगे हर हालत में एक ही स्थान पर। एक ही स्थान के रास्ते के ये दो विभाग हैं, न कि और कुछ। ऐसी दशा में एक तो बेचैनी और लोभ जाता रहेगा। दूसरे यह खयाल होगा कि जब रास्ते को पूरा ही करना है और पहले भाग के पूरा करने पर ही दूसरा आयेगा तो जल्दबाजी क्यों करें? ऐसा करने से मिलेगा भी क्या? यही बात आगे के दो—4, 5—श्लोकों में स्पष्ट की गयी है।

कुछ लोगों का भ्रम हो सकता है और हो भी गया है कि श्लोकों के अनुसार यद्यपि फल है एक ही; तथापि दोनों मार्ग उसकी प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र हैं; न कि

एक ही लम्बे मार्ग के ये दो पड़ाव हैं। मगर बात ऐसी नहीं है। चौथे श्लोक के पूर्वार्द्ध के देखने से यह खयाल जरूर हो जाता है कि दोनों—संन्यास और योग—को जो एक कहा है वह इसीलिए कि इन दोनों स्वतन्त्र मार्गों से एक ही जगह पहुँचते हैं। मगर जब उसी के उत्तरार्द्ध पर गौर करते हैं तो यह खयाल मिट जाता है और दोनों मिला के एक ही रास्ता पूरा होता दीखता है। उत्तरार्द्ध का अर्थ यह है कि "यदि एक रास्ते पर भी ठीक-ठीक चलें तो भी दोनों के फल मिल जाते हैं।" इसमें दो बातें हैं। पहली है दोनों के फल के मिलने की। यदि दोनों का फल स्वतन्त्र रूप से एक ही होता तो इतना ही कहना काफी था कि "वही फल मिलेगा"—"तदेव विन्दते फलम्।" यह कहने की क्या जरूरत थी कि एक पर चलने पर भी दोनों का फल मिलता है? दोनों कहने से तो दोनों का सम्मिलित फल मिलता है, यही अर्थ निकलता है। एक कहने के बाद दोनों का—उभयोः—कहने पर दूसरा अर्थ होई नहीं सकता। नहीं तो इतना ही कहना पर्याप्त था कि चाहे किसी रास्ते पर चलिए नतीजा एक ही होगा।

लेकिन "एक पर भी ठीक-ठीक चले"—"एकमप्यास्थितः सम्यक्" यह भाग तो और भी सफाई कर देता है। इसमें जो 'ठीक-ठीक' विशेषण लगा है वह यही बताता है कि रास्ते की पाबन्दी अच्छी तरह होना जरूरी है। जल्दबाजी में एक रास्ते को छोड़ के दूसरे पर जाने में खतरा है। यह तो सम्भव नहीं कि तीसरा भी रास्ता हो जिसमें भटक जायें और दो में एक पर भी चल न सकें। क्योंकि जब दोई का नाम लेते हैं और तीसरे की चर्चा भी नहीं करते तब उसका प्रश्न आता ही कहाँ है? और जब तीसरा यहाँ उपस्थित हई नहीं तब तो इतना ही कहना काफी है कि एक पर या किसी पर भी चलने पर वहीं पहुँचेंगे। भटकने की बात हई नहीं। हो भी क्यों? जो लोग मोक्षमार्गी हैं उनके भटकने की बात गीता क्यों कहे? वह तो सारी बातें जानते हैं। उनने तो जान लिया है कि दो रास्ते हैं। जानना शेष यही है कि आया ये दोनों ही एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं, या एक ही रास्ते के दो पड़ाव और विभाग हैं। अगर पड़ाव की बात नहीं है तो इतना ही कहना काफी था कि चाहे किसी पर भी चलिए वहीं पहुँचिएगा। ठीक-ठीक चलना तो हई। गलत जाने की तो बात हई नहीं है।

मगर जब 'ठीक-ठीक' या 'सम्यक्' कहा है तो इससे कृष्ण का यही आशय जाहिर होता है कि हरेक पड़ाव को पूरा कर लेना होगा। नहीं तो जल्दबाजी करने में रास्ता पूरा न होगा। लक्ष्य स्थान पर पहुँच भी न सकेंगे। अनजान या आतुरता में कोई जल्दी ही संन्यासी बन जाने की कोशिश न करे, इसीलिए यह चेतावनी है। क्योंकि ऐसा करने पर रास्ते पर ठीक-ठीक चलना नहीं हो सकेगा। पाँचवें श्लोक में स्पष्ट भी कर दिया है कि संन्यास और योग से जब एक ही जगह पहुँचना है तब घबराहट की क्या बात? योग में भी तो रास्ता तय करी रहे हैं। उसके पूरा होते

ही संन्यास वाला पड़ाव या वह स्थिति भी अपने आप आयेगी ही। तब अधीर क्यों हों?

अब आखिरी बात यही रह जाती है कि एक ही मार्ग के दो पड़ाव होने पर भी पहले संन्यास आता है, या योग, कौन कहे? पहले संन्यास ही क्यों न माना जाय? ऐसा सोचना असम्भव नहीं । असल में आलस्य और अकर्मण्यता के करते स्वभावतः लोग सोचते रहते हैं कि मुक्ति भी मिल जाय और विशेष कुछ करना न पड़े तो अच्छा हो। यह भी खयाल होता है कि जभी तक कर्मों के फन्दे से बचें तभी तक सही। पीछे देखा जायगा। इसीलिए ऐसा खयाल होना जरूरी है कि पहले संन्यास ही क्यों न हो। तीसरे अध्याय के शुरू में ही यह खयाल दिखाया भी गया है। इसी का उत्तर छठे श्लोक में दिया है कि संन्यास बाद की चीज है पहले तो योग ही आता है। इसीलिए योग के बिना संन्यास का होना असम्भव है। यदि सच्चा संन्यास चाहते हैं तो पहले योग या कर्म करना आवश्यक है। इस पर तीसरे अध्याय के शुरू में ही हमने काफी प्रकाश डाला है।

छठे श्लोक में ब्रह्म का अर्थ संन्यास है यह पता गौर से पूरे श्लोक के पढ़ने से ही लग जाता है। हमने यह बात बहुत पहले बखूबी सिद्ध भी की है। इसलिए जो लोग ब्रह्म का परब्रह्म या परमात्मा अर्थ करते हैं वह भूलते हैं। जब पूर्वार्द्ध में संन्यास की बात है तो उत्तरार्द्ध में एकाएक परब्रह्म कैसे और कहाँ से आ गया? शुरू में तो उसका प्रसंग भी नहीं आया है। इसी प्रकार पूर्वार्द्ध में जो 'दुःखमाप्तुम्' शब्द है उसका भी अर्थ है कि मिलना या प्राप्त करना असम्भव है। जो लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि कष्ट से मिलता है वह अक्षरों का अर्थ भले ही ठीक करते हों; मगर तात्पर्य गलत बताते हैं। ऐसा मुहावरा है कि असम्भव की जगह कह या लिख दें कि कष्टसाध्य है। जैसे अंग्रेजी से इसका कोई काम नहीं है, के मानी में 'इट् हैज लिटिल यूज' (It has little use) बोलते हैं; मगर लिटिल का थोड़ा अर्थ नहीं करते। वैसे ही संस्कृत में भी ऐसा लिखने-बोलने की रीति है।

योग या कर्म करते-करते कैसे मन और इन्द्रियों पर काबू रख के पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जाता है और इस प्रकार कर्मों से छुटकारा प्राप्त किया जाता है, या यों कहिए कि कर्मों के करते रहने पर भी आत्मज्ञान के बाद वे आत्मा में कैसे नहीं लिपटते या आत्मा उनमें नहीं चिपकती, यही बात आगे दूर तक कही गयी है। कर्मों से कैसे अन्तःकरण की, मन की शुद्धि होती है इत्यादि बातें आगे के बीस (7-26) श्लोकों में पूरी हुई हैं बल्कि यों कहिए कि कुल अध्याय ही इसी में पूरा हो गया है। क्योंकि 26वें के बाद दोई श्लोकों में पातंजल योग और समाधि की बात, ज्ञान की पूर्ण प्राप्ति के लिए, कह के 29वें में अध्याय को ही पूरा कर दिया है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।7।।

कर्म करते-करते जिसका मन या अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल और इसीलिए

अपने काबू में हो गया है (और उसके फलस्वरूप) इन्द्रियाँ भी काबू में हैं वह खुद सभी सत्ताधारी पदार्थों की आत्मा ही हो जाता है। (इसीलिए) कर्म करते हुए भी वह उसमें सटता नहीं। 7।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्।। 8।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्।। 9।।

(इस प्रकार) पूर्ण अवस्था को प्राप्त योगी तत्त्वज्ञानी हो जाने पर देखता-सुनता, छूता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, साँस लेता, बोलता, मल-मूत्र त्यागता, पकड़ता और पलकें मारता हुआ भी यही धारणा रखता है कि यह तो इन्द्रियाँ ही अपने कामों में लगी हैं; मैं तो कुछ भी करता-कराता हूँ नहीं। 8। 9।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा।। 10।।

(लेकिन जो इस तरह पहुँचा हुआ न भी हो ऐसा भी) जो कोई भगवान् को समर्पण करके और हाय-हाय तथा आसक्ति छोड़ के कर्मों को करता है वह (भी) पाप से वैसे ही नहीं सटता जैसे कमल का पत्ता पानी में रह के भी पानी से नहीं सटता। 10।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।। 11।।

(क्योंकि) कर्म करने वाले समझदारी से काम ले के और आसक्ति एवं हाय-तोबा को छोड़ के मन की शुद्धि के लिए केवल शरीर से, केवल इन्द्रियों से और केवल मन से कर्म करते रहते हैं। 11।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।। 12।।

(इस तरह) समझदार और मन पर काबू रखने वाले कर्मों के फलों से नाता तोड़ के ब्रह्मनिष्ठा—जीवन्मुक्ति—की शान्ति हासिल कर लेते हैं। (विपरीत उनके) जो लोग समझदार और मन को दबाने वाले नहीं हैं वे फलों में लिपट के जन्म-मरण आदि के बन्धनों में फँसते हैं। 12।

ऊपर के तीन—10-12—श्लोकों को देखने और एक साथ मिलाने से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें जो बातें कही गयी हैं वह आत्मज्ञानी की नहीं हैं। किन्तु साधारण कर्मियों की ही हैं, जिन्हें योगी भी कहा है और युक्त भी। यही ठीक है कि वह गीता की गिनती में आने वाले हैं, न कि लम्पट। लम्पटों की तो उलटे 12वें श्लोक के उत्तरार्द्ध में निन्दा की है, उनकी दुर्दशा लिखी है। इसीलिए 10वें श्लोक वाले 'ब्रह्मण्याधाय'—'ब्रह्म में स्थापित करके' का अर्थ हमने 'यत्करोषि' (9। 27-28) के

अनुसार भगवान् को समर्पण रूप पूजा ही किया है। ज्ञानियों को तो पहले ही कह दिया कि वह कर्म से अपना ताल्लुक मानते ही नहीं हैं। फिर वे क्या उन्हें ब्रह्म में रखेंगे? उन्हें कर्मों से लिपटने का सवाल भी कहाँ आता है? असल में ये तो वही लोग हैं जो या तो भगवान् की पूजा की ही भावना से कर्म करके मन की शुद्धि प्राप्त करते हैं, या सीधे इसी खयाल से कि कर्म से मनःशुद्धि हो। मगर यों तो निराधार कर्म होगा नहीं। मनःशुद्धि के लिए करने के भी तो कोई मानी नहीं जब तक कर्मों को कहीं एक जगह बाँधा या एक ही लक्ष्य में लगाया न जाय। फिर चाहे वह ईश्वर-पूजा हो, यज्ञ हो, या ऐसी ही और कोई चीज। इसलिए पहले—10वें—से मिलाकर ही 11वें का अर्थ करना जरूरी हो गया है। 12वें में भी जो कर्म के फल के त्याग से ब्रह्मनिष्ठावाली शान्ति की प्राप्ति कही गयी है वह भी क्रमशः मन की शुद्धि आदि के द्वारा ही होती है, न कि सीधे कर्मों से ही। क्योंकि केवल फल के त्यागने पर भी कर्म तो रही जाता है, और जब तक दोनों न छूटें वह शान्ति मिलेगी कैसे? मगर वह तो छूटेंगे ज्ञान के बाद ही और वह प्राप्त होगा मन की शुद्धि आदि के द्वारा ही। जब अध्याय के शुरू में ही सभी प्रकार के कर्मों की बात आयी है तब तो ऐसे मनःशुद्ध्यर्थ कर्मों का यहाँ निरूपण ठीक ही है।

अब रह जाती है 11वें श्लोक के उत्तरार्द्ध की एकाध बात। एक तो बुद्धि से कर्म होते नहीं हैं। वे तो होते हैं सिर्फ शरीर या इन्द्रियों से ही और दोनों का मददगार होने के कारण मन भी उसी दल में आ सकता है। मगर अगर बुद्धि या अक्ल ठीक हो, समझदारी से काम ले के कर्मों या उनके फलों की हाय-हाय को छोड़ दें और फलों में भी आसक्ति छोड़ दें, तो उन कर्मों से यज्ञ की पूर्ति या भगवान् की पूजा की भावना के द्वारा मन की शुद्धि हो जाती है। फिर तो वे कर्म केवल शरीर, मन या इन्द्रियों के ही रह जाते हैं। अर्थात् मन उनके करने में मददगार होने पर भी फल में नहीं सटता। बुद्धि भी नहीं चिपकती। ऐसी दशा में सबों की सम्मिलित चीज वे रहें तो कैसे? सम्मिलित होने के लिए तो आसक्ति और हाय-तोबा जरूरी है। 'केवलैः' कहने का यही मतलब है। यह 'केवलैः विशेषण 'कायेन मनसा' का भी है। हमने ऐसा ही अर्थ लिखा भी है।

अब आगे अध्याय के अन्त तक जो कुछ कहा गया है वह आत्मज्ञानियों के ही कर्मों के सम्बन्ध में है। उनकी क्या भावना होती है, किस प्रकार सर्वत्र उनकी समदृष्टि होती है, इत्यादि बातें अत्यन्त विशद रूप में आयी हैं।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।। 13।।

मन और इन्द्रियों को अपने अधीन रखने वाला देह का मालिक जीव मन के द्वारा विवेक से सभी कर्मों का संन्यास करके नौ दरवाजे वाले पुर में आराम से रहता है (और) न कुछ करता है, न करवाता है। 13।

जैसे कोई महाराजा या बड़ा आदमी किसी गढ़ में रहता है जिसके दरवाजे होते हैं; वही दशा यहाँ रूपक के रूप में बताई गयी है। शरीर ही वह गढ़ है। चक्षु, श्रोत्र, नासिका के छः छिद्र, मुख और मल-मूत्र त्याग के छिद्र यही नौ दरवाजे हैं। जीवात्मा गढ़ का मालिक है और मन उसका मन्त्री है। इन्द्रियाँ नौकर-चाकर हैं। वशी कहने के मानी यही हैं कि वह सभी नौकर, मन्त्री आदि पर अंकुश रखता और सतर्क रहता है। इसीलिए विवेक से काम ले के मन से ही कर्मों का संन्यास कर डालता है। क्योंकि इन्द्रियाँ ही तो दरअसल कर्म करती हैं। विवेक न होने से सभी कर्मों को अपने आप में मानता था। अब विवेक होने से मन ने उन कर्मों को आत्मा से अलग करके जहाँ वे वस्तुतः हैं वही मान लिया। यही हुआ संन्यास। देही कहने के मानी हैं कि जीते-जी यह काम करना पड़ता है। नहीं तो मरने पर छुटकारा हो न सकेगा। पुर या गाँव में रहने की बात का मतलब यह है कि जब शरीरादि के कर्मों को अपने में मानता था तो शरीर के साथ अपने-आपको एक करके कहता और समझता था कि घर में हूँ, पलंग पर हूँ, गाड़ी में हूँ, आदि-आदि। अब जब शरीरादि से अपने को जुदा समझ गया तो कहता और समझता है कि शरीर भले ही घर में, बाहर या सवारी में बैठे; लेकिन मैं तो शरीर में ही बैठा हूँ।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते।। 14।।

(ऐसी दशा में) वह जीव सबका मालिक बन जाने पर न तो अपने आप में कर्म करने की भावना लाता है, न लोगों से ही कर्म करवाता या करवाने का खयाल करता है और न कर्मों के फलों से सम्बन्ध या ताल्लुक ही पैदा करता है। (किन्तु) यह सब कुछ प्रकृति के गुणों का ही पसारा है। 14।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।। 15।।

(इसलिए) सर्वत्र फैला हुआ वह जीव न तो किसी के पुण्य का साथी या भागीदार है और न पाप का। (दरअसल बात यह है कि) अज्ञान ने ज्ञान को छिपा दिया है। (जिससे लोग बात समझ सकते नहीं। फलतः सभी) जीव भ्रम में पड़ के ही ऐसा मानते हैं कि (हम पुण्य-पाप के भागी हैं)। 15।

इन दो श्लोकों में कुछ लोग प्रभु और विभु शब्दों का अर्थ परमात्मा कर डालते हैं। मगर उसका तो कोई भी प्रसंग यहाँ हई नहीं। जब जीवत्मा को वशी कह दिया तब तो 'एकोवशी' (श्वेता. 6। 12) के अनुसार उसी को प्रभु और विभु मानना ही होगा। श्वेताश्वतर में यह लिखा भी है साफ ही। प्रभु का अर्थ भी मालिक या शासक और विभु का सर्वत्र रहने वाला है, और आत्मा ऐसा ही पदार्थ है। 'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः' (15। 8) तथा 'परमात्मेति चाप्युक्तः' (13। 22) में भी यह बात साफ लिखी है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।। 16।।

(लेकिन) जिनकी आत्मा का वह अज्ञान ज्ञान ने मिटा दिया है उन्हें तो वही ज्ञान उसी शुद्ध आत्मा को सूर्य की तरह प्रकाशित कर देता है। (फलतः वे अपने को पुण्य-पाप के भागी नहीं मानते)। 16।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।। 17।।

जिनकी बुद्धि उसी आत्मा में लग चुकी है, मन भी वहीं लगा है, उसी में जो खुद रम गये हैं और उससे अन्य किसी की परवाह नहीं करते, ऐसे ही लोग ज्ञान से समस्त पापों को बखूबी धोके जन्म-मरण-रहित पद—मुक्ति—प्राप्त कर लेते हैं। 17।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनिचैव श्वपा के च पण्डिताः समदर्शिनः।। 18।।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।। 19।।

पण्डित लोग विद्या एवं सदाचरण से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और कुत्ता खा जाने वाले प्राणी में (केवल) सम नामक वस्तु को ही देखते हैं—समदर्शी होते हैं। (इस तरह) जिनका मन इस साम्यावस्था में डँट गया—जम गया—वह तो जीते जी ही सृष्टि—जन्म-मरण—पर विजय पा जाते हैं—इससे छुटकारा पा जाते हैं। क्योंकि निर्विकार एक रस ब्रह्म ही सम है। इसलिए वे ब्रह्मनिष्ठ हो जाते हैं। 18। 19।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।। 20।।

(इसीलिए) स्थिर बुद्धि वाला, हर तरह के मोह से रहित (जो) ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानी है (वह) न तो प्रिय पदार्थ मिलने से खुशी के मारे लोट-पोट होता है और न अप्रिय मिलने से घबराता है—सिर पीटता है। 20।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते।। 21।।

भौतिक पदार्थों में (इस तरह) मन न रमने पर ब्रह्म में ही जिसका मन जम जाता है वह पुरुष जब आत्मा में ही सुख का अनुभव करने लगता है (तो) अक्षय सुख को प्राप्त कर लेता है। 21।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। 22।।

क्योंकि भौतिक पदार्थों से जो आनन्द मिलता है वह (तो) आने-जाने वाला—अस्थायी—होने से (अन्त में) दुःख का ही कारण बन जाता है। इसीलिए समझदार लोग उसमें कभी नहीं फँसते हे कौन्तेय। 22।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।। 23 ।।

जो मनुष्य मरने के पहले ही इसी शरीर में काम और क्रोध के वेग को दबा देता है वही योगी है, वही सुखी है। 23।

याऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।। 24 ।।

जिस योगी को अपने में ही आनन्द मिले तथा अपने में ही प्रकाश मिले (और) जिसका मन अपने ही में रम जाय वही ब्रह्मरूप हो के निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त करता है। 24।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।। 25 ।।

जिनके मन काबू में हैं, जिनकी दुविधाएँ मिट चुकी हैं, जिनके सभी मैल धुल चुके हैं (और) जो सभी पदार्थों के हित में निमग्न हैं ऐसे ही विवेकी निर्वाण ब्रह्म को हासिल करते हैं। 25।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ।। 26 ।।

जिनने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, जिनके मन काबू में हैं (और इसीलिए) जो काम-क्रोध से शून्य हैं, ऐसे यतियों—संन्यासियों—को दोनों दशा में—जीते-जी और मरने पर भी—निर्वाण ब्रह्म प्राप्त ही प्राप्त है। 26।

यहाँ यति शब्द का अर्थ यत्न करने वाला न हो के संन्यासी ही है। क्योंकि आत्मज्ञान हो जाने पर यत्न करने वाला कहना कुछ जँचता नहीं। आगे 28वें में मुनि का भी संन्यासी ही अर्थ उचित है। इसीलिए यहाँ, यह प्रश्न हो सकता है कि संन्यासियों की यह दशा कब और कैसे होती है? इसका उत्तर यों है—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।। 27 ।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।। 28 ।।

बाहरी विषयों को बाहर ही रोक के, दोनों दृष्टियों को भौं के बीच में ही टिका के और नासिका के रास्ते बाहर-भीतर जाने-आने वाले प्राण-अपान को मिला के—कुम्भक करके—एकमात्र मोक्ष यानी आत्मा में ही खयाल जमाए हुए जो मननशील संन्यासी अपने मन और बुद्धि को बखूबी काबू में रखता तथा इच्छा, भय और क्रोध से सर्वथा नाता तोड़ लेता है वह हमेशा ही मुक्त है। 27। 28।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।। 29 ।।

सब यज्ञों और तपस्याओं के भोगने वाले, सब लोगों के बड़े से बड़े शासक और सबों के कल्याण चाहने वाले मुझ परमात्मा को जानकर ही (वह) शान्ति प्राप्त करता है। 29।

इससे पूर्व के दो श्लोकों में ध्यान, समाधि या पातंजल योग का संक्षिप्त वर्णन किया है। उसके फलस्वरूप जो ज्ञान होता है और जिससे मुक्ति होती है उसी का जिक्र इस श्लोक में है। इस श्लोक का आशय यही है कि आत्मा और परमात्मा को एक ही देखना यही आत्मज्ञान है। समाधिस्थ संन्यासी यही अनुभव करता है कि मैं ही खुद सब चीजों का करने-धरने वाला हूँ, सारे संसार के कार-बार का चलाने वाला हूँ। असल में "अहं हि सर्वयज्ञाना भोक्ता च प्रभुरेव च" (9।24) आदि में जो कुछ कहा गया है उसी का यहाँ उल्लेख है। जिन कर्मों का वर्णन इस अध्याय में आया है वह तो नीचे से लेकर ऊँचे के दर्जे तक के सभी हैं। नवें अध्याय में स्पष्ट ही कहा है कि लोग भगवान् को ठीक-ठीक न जान के औरों की पूजा आदि करने के कारण ही पतित हो जाते हैं; हालाँकि सब पूजा, यज्ञादि का फल भगवान् ही देते हैं, फिर चाहे वह देवी-देवता आदि किसी के निमित्त ही क्यों न किये जाएँ। उसी श्लोक में प्रभु भी भगवान् को कहा है। वही बातें इस श्लोक में लिखी गयी हैं। लिखने का आशय यही है कि वास्तविक संन्यासी इधर-उधर न भटक के वस्तुतः भगवान् के ही खयाल से सब कुछ करता है, न कि देवी-देवताओं के लिए। यह भी नहीं कि भगवान् तानाशाह है। वह तो सबका सुहृद है, कल्याणकामी है। इसीलिए उसे अपनी आत्मा का स्वरूप जान लेने की पहचान यही होगी कि हम भी सबसे सुहृद बन जायें, हम भी 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु' का अमली पाठ करने लगें। भागवत में भी कहा है कि हम सभी भगवान् के आदेशों में अपने स्वाभाविक कर्मों के द्वारा, इस तरह बँधे हैं जैसे बनिये के लादने का बैल। इसीलिए जो कुछ भी हम करते हैं वह भगवान् की भेंट के ही रूप में, "यद्वाचि तंत्यांगुणकर्मदामभिः सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः। सर्वे वहामो वलिमीश्वराय प्रोता नसीवं द्विपदे चतुष्पदः" (5।1।14)।

पूर्व के दो श्लोकों में जो ध्यान और प्राणायाम है वह योगदर्शन के ही अनुसार है। योगी लोग भी मानते हैं कि दोनों भौं और नासिका की जड़ की सन्धि में नजर टिकाने से मन एकाग्र होता है। प्राणायाम उसी में सहायक होता है। यह भी माना जाता है कि प्राणायाम से जैसे मन एकाग्र होता है उसी तरह मन की एकाग्रता से प्राणों की क्रिया भी स्वयं बन्द हो जाती है। यहाँ दोनों को मिला दिया है।

पचीसवें श्लोक में जो 'सर्वभूतहितेरताः' कहा है उसका कुछ विवरण प्रकारान्तर से पहले आ गया है। विशेष विवेचन आगे मिलेगा। इस अध्याय में चार बार 'सम' आया है। उनमें आखिरी बार 27वें श्लोक में मिलाने के अर्थ में है। शेष तीन बार 18-19 में समदर्शन के मानी में है, जिसे आत्मज्ञान कहते हैं।

इस अध्याय में संन्यास की ही बात शुरू करके अन्त तक उसी का विवेचन

होने से यही इसका विषय माना गया है। शंकर ने इस अध्याय का विषय 'प्रकृतिगर्भ' लिखा है। इसका अभिप्राय बता चुके हैं और कह चुके हैं कि इसका भी अर्थ संन्यास ही है। हमने पहले जो उल्लेख अमेरिका के रक्त आदिवासियों का किया है उससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक दशा (back to the nature) में माया-ममता का स्वतः त्याग रहता है, और संन्यास में यही चाहिए।

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे संन्यास योगो नाम पञ्चमोऽध्यायः।।5।।

श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में उपनिषद् रूपी ब्रह्मविद्या प्रतिपादक योग शास्त्र में जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका संन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय यही है।

छठा अध्याय

पाँचवें अध्याय में जिस संन्यास का विशेष निरूपण आया है और सच्चे संन्यासी की मनोवृत्तियों का जो विशेष विवरण दिया गया है उसी को कुछ आचार्यों ने प्रकृतिगर्भ या प्राकृतिक अवस्था भी कहा है। काम-क्रोध, राग-द्वेषादि का सर्वथा त्याग, भीतर ही मस्ती का अनुभव, सबके हित की कामना आदि बहुत से लक्षण पूर्ण संन्यासी के बताये गये हैं। माया-ममता का तो उनमें नाम भी नहीं होता है। मिट्टी से लेकर हीरे तक एवं कुत्ते से लेकर विद्या-सदाचार-सम्पन्न ब्राह्मण तक में उन्हें कोई विभेद नजर नहीं आ के सर्वत्र एक रस आत्मा और ब्रह्म का ही दर्शन होता है, यही नजारा दीखता है। यह तो आसान बात है नहीं, ऐसा खयाल किसी को भी हो सकता है जिसने गौर से सारी बातें सुनी हों। इसीलिए उसके मन में स्वभावतः यह जिज्ञासा पैदा हो सकती है कि ऐसा आदर्श संन्यास कैसे प्राप्त होगा? वह यह बात जरूर ही जानना चाहेगा।

अन्त के 27-28 श्लोकों में जो दिग्दर्शन के रूप में इस संन्यासावस्था की प्राप्ति के साधनों का वर्णन आया है उससे यह जिज्ञासा और भी तेज हो सकती है, न कि शान्त होगी। एक तो यह बात अत्यन्त संक्षिप्त रह गयी। दूसरे बहुत ही कठिन है। प्राणायाम या दृष्टि को टिकाने की बात कहने में जितनी आसान है समझने और करने में उतनी ही कठिन। जब तक इसका पूरा ब्योरा न मालूम हो जाय और यह भी ज्ञात न हो जाय कि इस साधन में सफलता होने की पहचान क्या है, तब तक काम चल सकता भी नहीं। यह काम, कब कहाँ, कैसे किया जाय और करनेवालों की रहन-सहन वगैरह कैसी हो, आदि बातें भी जानना निहायत जरूरी है। इन्हीं के साथ यह भी जानना आवश्यक है कि आया किसी भी दशा में कर्मों का स्वरूपतः त्याग या संन्यास भी जरूरी है या नहीं। यह इसलिए कि छठे में सभी साधनों के बताने के समय यदि उन्हीं के साथ नित्य-नैमित्तिक कर्मों के बन्द कर देने—संन्यास लेने—की बात न आये तो समझेंगे कि यह कोई वैसी जरूरी चीज नहीं है। कर्मों के स्वरूपतः त्याग की जरूरत किस दशा में कैसे है, यह बात ब्योरे के रूप में पाँचवें अध्याय में आयी भी नहीं है। परन्तु कर्म-अकर्म के इस महान् झमेले में है यह निहायत

जरूरी चीज। इसलिए इसकी भी जिज्ञासा का अर्जुन के मन में पैदा होना जरूरी था।

किन्तु अर्जुन प्रश्न करे यह मौका खुद कृष्ण देना नहीं चाहते थे। क्योंकि ये बातें कुछ ऐसी-वैसी तो नहीं हैं कि ध्यान में न आयें। जिस चीज का उपदेश वह कर रहे थे ये बातें उसके प्राणस्वरूप ही कही जायँ तो भी कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती है। जब तक इन पर पूरा प्रकाश न डाला जाय, आत्मब्रह्मदर्शन, आदि का निरूपण अधूरे का अधूरा ही रह जायगा। इसीलिए कृष्ण ने बिना पूछे ही स्वयमेव इनकी सख्त जरूरत महसूस करके इन्हें उपदेश करना शुरू कर दिया। फलतः यदि छठे अध्याय का विषय ध्यानयोग माना गया है तो ठीक ही है। समूचे का समूचा अध्याय हरेक पहलू से इसी चीज पर प्रकाश डालता है। पातंजल योग और समाधि भी ध्यान के भीतर ही आ जाने वाली चीजें हैं। लेकिन कृष्ण यह अनुभव भी कर रहे थे कि यदि अथ से इति तक इसी ध्यान और स्वरूपतः कर्मत्याग की ही बात करेंगे तो लोगों को धोखा हो सकता है। परिणामस्वरूप इसके सामने कर्म करने की महत्ता वे भूल सकते हैं। क्योंकि ध्यान-वान के बारे में लोगों की कुछ ऐसी ही ऊँची धारणा पाई जाती है कि और बातें इसके सामने तुच्छ मानते हैं। इसीलिए शुरू में कर्मों के करने पर जोर दे के ही आगे बढ़ते हैं। इस तरह बहुत बड़े धोखे तथा खतरे से जनसाधारण को बचा लेते हैं। इन्हीं सब विचारों से—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः।।1।।

श्रीभगवान् बोले—जो कोई भी कर्मों और उनके फलों की परवाह न करके (केवल) कर्तव्य समझ उन्हें करता रहता है वही संन्यासी भी है और योगी भी। (न कि कर्मों के साधन) अग्नि (आदि) को और (खुद) कर्मों को ही छोड़ देनेवाला।1।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।2।।

हे पाण्डव, जिसे संन्यास कहा गया है उसे योग ही जानो। क्योंकि जो कोई सभी संकल्पों को त्याग न दे वह योगी हो नहीं सकता है।2।

यहाँ कुछ बातें जान लेने की हैं। इन दोनों श्लोकों में जो संन्यास और योग को एक कह दिया है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि इसी अध्याय में आगे "तं विद्याद्दुःखसंयोगं योगसंज्ञितम्" (6।23) में वस्तुतः वियोग को योग कहा है। सिर्फ इसीलिए यह बात है कि यद्यपि नाम तो उसका योग ही है, तथापि काम उसका उलटा है, वियोग है। क्योंकि वह दुःखों के सम्बन्ध का वियोग कर देता है, दुःखों को कभी पास में फटकने नहीं देता है। यहाँ भी संन्यास और योग हैं तो दो चीजें और हैं परस्पर विपरीत भी। मगर इनका काम मिल जाता है, एक हो जाता है।

इसीलिए नाम से नहीं, किन्तु काम से ही, दोनों की एकता बताई गयी है। इसका प्रयोजन कही चुके हैं कि जनसाधारण कहीं कर्मों से विमुख न हो जायँ, इसीलिए कह दिया है कि भई, तुम तो कर्म करते हुए भी संन्यासी ही हो। फिर चिन्ता क्या?

इसी के साथ एक निहायत जरूरी बात भी कर्म करने वालों के सामने बड़ी ही कुशलता से रख दी गयी है। जहाँ यह कहा गया है कि तुम तो योगी के योगी और संन्यासी के संन्यासी हो और इस तरह दुहरा फायदा उठाते हुए 'आम के आम गुठली के दाम' को चरितार्थ करते हो। फिर परवाह नाहक ही किसकी करते हो? तहाँ उन्हें चढ़ाने-बढ़ाने के साथ ही धीरे से यह भी कह दिया गया है कि हाँ, योगी बनने के लिए भी इतना तो करना ही होगा कि सभी संकल्पों को त्याग दिया जाय। इसके बिना तो काम चली नहीं सकता। इस तरह ठीक-ठीक योगी बनने की शर्तें भी रख दी गयीं और जल्दबाजी के खतरे से भी बचा लिया गया। इसी के साथ यह भी ज्ञात हो गया कि सच्चे संन्यासी बनने के लिए संकल्पों का त्याग आवश्यक है। यह न हो, तो सिर्फ कर्मों को या उनके साधन अग्नि आदि को ही छोड़ देने से कोई भी संन्यासी नहीं बन जाता। ऐसे लोग तो वंचक ही होते हैं। यहाँ सब संकल्पों का त्याग और कर्मफल की परवाह न करना ये दोनों एक ही चीज हैं। दोनों में जरा भी फर्क नहीं है। इसीलिए हमने 'कर्मफल' शब्द का कर्म और उनके फल यह दोनों ही अर्थ माना है और लिखा भी है। इसके लिए या तो कर्म और फल को दो जुदे—असमस्त—पद मान लें, या अगर दोनों का समास मानें तो समुच्चय द्वन्द्व मान के काम चलायें, जैसे करपादम् आदि में होता है। संकल्प कर्मों और उनके फलों—दोनों—का ही होता है, और जब तक दोनों के बारे में बेफिक्र न हो जायँ संकल्पत्याग असम्भव है।

दूसरे श्लोक में जो 'असंन्यस्तसंकल्पः' शब्द आया है उसमें भी एक खूबी है। संन्यास के बारे में जब विवाद ही है तो ऐसे मौके पर 'संन्यस्त' शब्द न दे के 'संत्यक्त' शब्द देना ही उचित था। क्योंकि संन्यास शब्द के अर्थ के बारे में जब झमेला ही है और यह तय नहीं हो पाया है कि उसमें किसी चीज का स्वरूपतः त्याग भी आता है या नहीं, तो ऐसी दशा में उसे लिखने से शक तो रही जायगा और अर्थ की सफाई हो न सकेगी। इसीलिए 'संत्यक्त' शब्द देना ही ठीक था। मगर ऐसा न करके संन्यस्त शब्द देने से यह आशय टपकता है कि संन्यास के भीतर स्वरूपतः त्याग आता है। क्योंकि संकल्पों का तो स्वरूपतः त्याग ही विवक्षित है। अब बात रही यह कि वह स्वरूपतः त्याग कर्मों का है या संकल्पों का या और चीजों का। यदि यह माना जाय कि संन्यास का अर्थ केवल संकल्पों का ही स्वरूपतः त्याग है, तो 'संन्यस्तसंकल्पः' में संकल्प शब्द देने की क्या जरूरत थी? उसका काम तो संन्यस्त शब्द से ही हो जाता इससे पता चलता है कि संन्यास का अर्थ केवल संकल्पत्याग नहीं। अब यदि और चीजों का भी त्याग मानें तो वे चीजें कौन-कौन सी हैं, यह कैसे जाना जाय?

इसलिए मानना ही होगा कि सामान्यतः सभी कर्मों, संकल्पों और रागद्वेषादि के स्वरूपतः त्याग को ही संन्यास कहते हैं। इनमें संकल्पत्याग को सबसे जरूरी समझ और उसके बिना कर्मों का त्याग कोरा ढोंग मान के ही यहाँ 'संन्यस्त संकल्पः' लिखा गया है।

इसी संकल्पत्याग को ले के आगे बढ़ने में सबसे पहले यह बताना आवश्यक हो जाता है कि संकल्पत्याग के होते हुए भी कर्मों के स्वरूपतः त्याग का असली अवसर कब और किसलिए आता है। कर्म की आवश्यकता कहाँ तक है, उसका काम है क्या, तथा उसके त्यागं अर्थात् संन्यास की भी आवश्यकता कब और किसलिए है यही बातें आगे कहते हैं–

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।3।।

(कोई भी) मननशील योग–ज्ञान या समाधि–में जाने एवं उसे प्राप्त करने की इच्छा वाला बन जाय इसका कारण कर्म है–इसी के लिए कर्म करने की जरूरत है। उसी को (आगे चल के) ज्ञान तथा समाधि में आरूढ़–पक्का–बना देने के लिए ही कर्मों के त्याग की जरूरत है।3।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।4।।

क्योंकि जब सभी संकल्पों का त्याग कर देने वाला मनुष्य न तो इन्द्रियों के विषयों में और न कर्मों में ही चिपकता है तभी वह योगारूढ़ माना जाता है।4।

इन श्लोकों के अर्थों के बारे में बहुत कुछ बातें पहले ही लिखी जा चुकी हैं। उन्हें जाने बिना इनका आशय समझना असम्भव है। यहाँ इतना ही कहना है कि जो लोग शम का अर्थ मन की शान्ति मानते हैं उन्हें भी अगत्या कर्मों का स्वरूपतः त्याग मानना ही होगा। क्योंकि आखिर मन की शान्ति का अर्थ क्या है? यही न, कि उसकी हलचलें, क्रियाएँ बन्द हो जायँ, उसकी चंचलता जाती रहे? उसकी चंचलता का भी यही अर्थ है न, कि बिजली की तरह बड़ी तेजी से एके बाद दीगरे हजारों पदार्थों पर पहुँचता है? और अगर यह चीज बन्द हो जाय तो होगा क्या? यही न, कि मन किसी एक ही पदार्थ में जम जायगा, वहीं स्थिर हो जायगा? एक पदार्थ भी वह कौन सा होगा? जब योगी और योगारूढ़ की बात है तब तो मानना ही होगा कि वह एक पदार्थ आत्मा ही होगी। उसी को परमात्मा कहिए या ब्रह्म कहिए। बात एक ही है। अब जरा सोचें कि जब मनीराम आत्मा में ही रम गये, जम गये, टिक गये तो फिर सन्ध्या-नमाज की तो बात ही नहीं, क्या कोई भी क्रिया हो सकती है? क्या पलक भी मार सकते या शरीर भी हिला सकते हैं? क्या प्राण की भी क्रिया जारी रह सकती है? यह तो मनःशास्त्र का नियम ही है कि जब तक मन किसी पदार्थ में न जुटे उसमें कोई क्रिया होई नहीं सकती। यह तो दर्शनों की मोटी और पहली बात है। फिर शम माननेवाले क्रिया कैसे करेंगे यह समझ से बाहर की चीज

है। खूबी तो यह कि यह ध्यान का ही अध्याय है और ध्यान-समाधि के साथ नित्यनैमित्तिक क्रियाएँ भी होंगी यह तो उलटी गंगा का बहना है। यह भी नहीं कि मिनट-दो मिनट या घण्टे-दो घण्टे की समाधि से ही काम चल जायगा। यहाँ तो लगातार दिनों, हफ्तों, महीनों और बरसों करने की नौबत आएगी। तब कहीं जा के सफलता की आशा कर सकते हैं। बीच में बहुत ही थोड़ा विराम कभी-कभी मिलेगा। आगे जो 'अनेकजन्मसंसिद्धः' (6। 45) और 'यतचित्तेन्द्रियक्रियः' (6। 12) लिखा है उसका आखिर दूसरा अर्थ है क्या? इसी छठे अध्याय को पढ़ के भी जो यह कहने की हिम्मत करें कि ध्यान और समाधि के साथ ही वर्णाश्रमादि के धर्मों का पालन भी हो सकता है उन्हें कुछ भी कहना बेकार है।

तीसरे श्लोक के पूर्वार्द्ध में ज्ञान की इच्छा और कामना की बात कही गयी है। इसका पता आसान है और सबों को लग सकता है। इसीलिए इसके बारे में ज्यादा कुछ भी कहने की जरूरत नहीं। मगर योगारूढ़ होना और उसे पहचानना अत्यन्त कठिन है। बल्कि एक प्रकार से यह बात असम्भव ही समझिए। यही कारण है कि चौथे श्लोक में योगारूढ़ का लक्षण, उसकी पहचान बताई गयी है। इसका दूसरे शब्दों में मतलब यह है कि जब तक वैसी दशा पूरी तौर से न हो जाय तब तक ध्यान एवं समाधि करते रहना और तदर्थ सभी कर्मों का पूर्णतः संन्यास करना ही होगा। दूसरा रास्ता है नहीं। जब तक आत्मज्ञान की इच्छा या आत्मा की जिज्ञासा नहीं पैदा होती तभी तक कर्म करना होगा। उसी से वह जिज्ञासा होगी ही मगर ज्योंही यह जिज्ञासा पैदा हो के दृढ़ हो गयी कि कर्मों का स्वरूपतः त्याग करके ध्यान, धारणा, समाधि के द्वारा आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि में फौरन लग जाना होगा। साक्षात्कार पूरा-पूरा होने तक यह काम जारी रखना ही होगा, यही दोनों श्लोकों का तात्पर्य है।

शायद यह खयाल हो कि इस प्रकार जीते-जी मुर्दा बनने की क्या जरूरत है? योगारूढ़ होना और मुर्दा बन जाना तो बराबर ही है। फर्क यही है कि मुर्दे को कुछ मालूम नहीं पड़ता, चाहे जो कीजिए। मगर योगारूढ़ को तो होश होता है, ज्ञान होता है। फिर भी किसी सुख-दुःखादि को जरा भी अनुभव न करना यह असाधारण बात है जो असम्भव जैसी है। इसीलिए तो जीते-जी मुर्दा बन जाना पड़ता है। फलतः दूसरे ढंग से काम चल जाय तो इस योगारूढ़ होने के मार्ग को दूर से ही सलाम कर लेना चाहिए। यह तो हो नहीं सकता कि परम कल्याण और मोक्ष का कोई दूसरा रास्ता होई न। इसीलिए दूसरे ही मार्ग का अवलम्बन क्यों न किया जाय? नाहक ही इन्द्रियों और मन को संकट में डाल के उन्हीं के द्वारा अपने आपको—आत्मा को—भी विपदा में डालना, संकट के अतल गर्त्त में डुबाना मुनासिब नहीं है। इस तरह के विचार जनसाधारण के लिए बहुत सम्भव हैं। इसीलिए इस प्रसंग को आगे बढ़ाने और योगारूढ़ की अवस्था का पूर्ण विवेचन करने के पहले दो श्लोकों में इस

खयाल को हटाते हुए कहा गया है कि इसके सिवाय मोक्ष का और मार्ग हई नहीं। इसीलिए लाचारी है कि यही मार्ग अपनाया जाय। इससे आत्मा को गर्त्त में गिराने के बदले उलटे उसका उद्धार है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।5।।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत्।।6।।

अपना उद्धार खुद-ब-खुद करना चाहिए। आत्मा को—अपने आपको—संकट में कभी न डालना—कभी नीचे न गिराना—चाहिए। क्योंकि अपना मददगार या दुश्मन स्वयं हर आदमी ही होता है। जिसने अपने मन को स्वयं जीत लिया वही अपना मददगार है। जिसने मन पर काबू नहीं किया शत्रुता के मौके पर (वही) मन (उसके) शत्रु का काम करता है।5।6।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।7।।

जिसने मन को जीत लिया है (और इसीलिए) जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शान्त है, उसे शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान की दशा में (भी) बराबर समाधि में परमात्मा का ही साक्षात्कार होता रहता है—उसकी मस्ती बराबर बनी रहती है, चाहे कुछ हो।7।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।8।।

ज्ञान और विज्ञान की प्राप्ति से जिसका मन तृप्त है—मस्त है, जो किसी भी दशा में विचलित नहीं होता, जिसकी (सभी) इन्द्रियाँ अपने वश में हैं (और इसीलिए) जिसके लिए मिट्टी का ढेला, पत्थर (और) सोना सभी एक से ही हैं, ऐसा ही योगी युक्त या योगारूढ़ कहा जाता है।8।

कूट नाम है लोहार की निहाई का। हजारों लोहे उस पर आके टेढ़े-सीधे और नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। मगर वह ज्यों की त्यों अचल बनी रहती है। इसीलिए विकार-शून्य और अचल को ही कूटस्थ कहते हैं—अर्थात् जो कूट की तरह बना रहे। जाल-फरेब को भी कूट कहते हैं। संसार का प्रपंच ही मायाजाल है और उसमें ही आत्मा का रहना है। मगर उनसे उसका स्पर्श नहीं है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।9।।

सुहृद्, मित्र, शत्रु, तटस्थ, मध्यस्थ, प्रत्यक्ष-अपकारी, सम्बन्धी, साधु और पापी—सबों—में जिसकी समबुद्धि है—इनमें किसी की ओर जो खिंच जाता नहीं—वही श्रेष्ठ है।9।

अकारण ही जो सबका हित चाहे वह सुहृद् कहा जाता है, परिचय होने पर जो हित चाहे वह मित्र, जो बुराई करे वह अरि, जो किसी का पक्ष न ले वह उदासीन, जो दोनों का पक्ष लेकर कलह मिटाना चाहे वह मध्यस्थ, जिसके प्रति बहुत ज्यादा जलन हो वह द्वेष्य, जो सम्बन्ध के करते ही हित चाहे वह बन्धु, जो सबका उपकार करे वह साधु और बुरा काम करने वाला पापी कहाता है। उदासीन और मध्यस्थ का फर्क यही है कि जहाँ मध्यस्थ को दोनों पक्षों की परवाह होती है तथा उदासीन को किसी की भी नहीं होती। अरि और द्वेष्य में यही अन्तर है कि जहाँ द्वेष्य के प्रति दिल में प्रचण्ड जलन होती है तहाँ अरि के प्रति इसका होना जरूरी नहीं है। इसलिए अरि शब्द व्यापक है। मित्र और बन्धु में यही फर्क है कि जहाँ बन्धु के साथ घनिष्ठता तयशुदा बात है तहाँ मित्र के साथ घनिष्ठता न होते हुए भी परिचय मात्र ही काफी है। सुहृद् स्वभावतः परहित चाहता है, चाहे कर सके या न कर सके। मगर साधु का तो यह काम ही है। वह परहित करता ही है। ये दोनों ही बदले में कुछ नहीं चाहते।

यहाँ तक युक्त, योगारूढ़, आत्मज्ञानी या संन्यासी का स्वरूप और लक्षण बता के अप्रत्यक्ष रूप से यह भी कह दिया कि ऐसा होने के लिए किस तरह के लोहे के चने चबाने जरूरी हैं। अब अगले आठ श्लोकों में उन उपायों को विस्तार के साथ बताते हैं जिन पर अमल करने पर ही इन लोहे के चनों के चबाने की योग्यता होती है। इनमें भी शुरू के पाँच में ध्यान और समाधि के उपाय बता के और छठे में उसी पर जोर दे के शेष दो में खतरों और नियमों के बारे में सावधान किया है। उसके बाद के छह (18-23) श्लोकों में ध्यान और समाधि में लगे चित्त की तौल बताई है कि उसकी क्या हालत समाधि के दरम्यान रहती है। क्योंकि उसी समय उसे आसानी से पकड़ सकते और गलती सुधार सकते हैं। उस समय लोग पूरे तैयार और सतर्क भी रहते हैं। यह अभ्यास धीरे-धीरे कैसे शुरू किया जाय और यह कमजोरी और गलती कैसे चटपट पकड़ी जा के दूर की जाय, यह बात उसके बाद के तीन (24-26) श्लोकों में कह के तदनन्तर छः (27-32) श्लोकों को योगारूढ़ पुरुष का पूरा चित्र खींच दिया है और यह बताया है कि उसकी मनोवृत्ति कैसी होती है। उसके आत्मज्ञान या साक्षात्कार का स्वरूप क्या होता है यह बात पुनरपि यहाँ दूसरी बार इन्हीं श्लोकों में से दो (29-30) में कही गयी है। पहली बार पाँचवें अध्याय में आयी है, यह वहीं कहा जा चुका है।

योगी युंजीत सतत मात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।। 10।।

ध्यान करने वाला संन्यासी निरन्तर एकान्त स्थान में अकेला ही रह के बुद्धि और मन पर कब्जा रखे हुए, बेफिक्र सारा लवाजिम छोड़ के ही मन को एकाग्र करने का यत्न करे। 10।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।। 11।।

जो न तो बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा हो, जिसमें क्रमशः कुश, मृगचर्म और वस्त्र एक के ऊपर एक पड़े हों और जो हिले-डोले न ऐसा निजी आसन (वहाँ) किसी पवित्र स्थान पर बिछा के—। 11।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये।। 12।।

मन और इन्द्रियों की बाहरी क्रियाओं को रोके हुए मन को एकाग्र करके उसे शुद्ध करने के ही लिए उसी आसन पर बैठे (तथा) ध्यान (एवं) समाधि का अभ्यास करे। 12।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।। 13।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।। 14।।

धड़, सिर और गर्दन तीनों ही सीधे—तने—और निश्चल रखे हुए घबराहट छोड़ के बैठे, अपनी नासिका के अग्र भाग पर ही दृष्टि जमाये रहे और इधर-उधर न देखे। मन की बेचैनी बिल्कुल ही न हो, डर-भय जरा भी न हो, (खान-पान आदि में) ब्रह्मचारी के ही नियमों का पूरा पालन करे। मुझमें ही मन लगाये तथा मुझको ही सब कुछ समझे हुए मन को भरपूर काबू में करके समाधि में बैठे। 13-14

यहाँ जो 10वें श्लोक में 'यतचित्तात्मा' कहके 'आत्मानं युञ्जीत' भी कहा है इससे दोनों में परस्पर विरोध जैसा लगता है। जब मन और बुद्धि को काबू में कर लिया तो फिर मन के एकाग्र करने का क्या सवाल? यह या तो पुनरुक्ति जैसी हो जाती है, या यों कहिए कि एक का कहना बेकार है। मगर दरअसल मन-बुद्धि को संयत कहने का यही अभिप्राय है कि पहले जैसी चंचलता और घबराहट उनमें न रह गयी है। वे कुछ ठण्डे पड़ गये हैं। तभी समाधि की सफलता हो सकती है। या यह कि यतचित्तात्मा का अर्थ है मन-बुद्धि की क्रिया का रोकना मात्र। उसके बाद होनेवाली एकाग्रता 'आत्मानं युंजीत' के द्वारा बताई गई। इसी तरह 12वें में मन की एकाग्रता और उसकी तथा इन्द्रियों की क्रिया के रोकने की बात है। प्रश्न होता है कि मन की एकाग्रता के बाद फिर उसकी क्रिया के रोकने के क्या मानी? बात असल यह है कि पहले जब मन कहीं एक चीज में बँधेगा तभी तो उसकी तथा इन्द्रियों की क्रिया भी रुकेगी। वस्तुतः क्रिया रुकने से एकाग्रता और एकाग्रता से क्रिया का रुकना ये दोनों ही एक दूसरे के आश्रित हैं, ठीक वैसे ही जैसे प्राण के रोकने से मन का रुकना और मन के रुकने से प्राण का रुक जाना। आगे 35वें श्लोक के व्याख्यान में इस पर और भी लिखा गया है।

अथवा 'यत्तचित्तेन्द्रियक्रियः' में चित्त का अर्थ बुद्धि ही है, जैसा कि 10वें में। बुद्धि की चंचलता का भी रुकना आवश्यक है। इसीलिए जो अन्त में पुनरपि 'युंज्याद्योगम्' लिखा है वह यद्यपि व्यर्थ सा प्रतीत होता है, तथापि उसका अभिप्राय यही है कि योग की पूर्णता और स्थायित्व प्राप्त करे। ऐसा न हो कि मन की एकाग्रता चन्दरोजा ही हो। 'आत्मानं युंजीत' और 'योगं युंज्यात!' का यह भी अभिप्राय है कि आत्मा में ही मन को लगाये, न कि और पदार्थ में इसीलिए आगे जो 'मच्चितः' और 'मत्परः' में (मत्) कहा है उसका भी अर्थ आत्मा ही है। नहीं तो आत्मा से अलग परमात्मा का खयाल हो सकता था। 'मच्चित' और 'मत्पर' कहने का आशय यही है कि एक में चित्त लगा के कभी-कभी दूसरे का भी खयाल करने की बात यहाँ नहीं होगी। आत्मा के सिवाय और किसी का भी खयाल न रहेगा। इसे ही अनन्य-चिन्तन भी कहते हैं।

13वें श्लोक में एक बार तो धड़, गर्दन और सिर को अचल और तना हुआ रखना कहा है। फिर स्थिर होना भी बताया है। यह तो पुनरुक्ति ही हुई। इसीलिए हमने घबराहट और बेचैनी छोड़ने की बात लिखी है। ऐसी भी तो बेचैनी होती है कि शीघ्र ही काम पूरा हो जाय। वह न रहे इसी मानी में स्थिर शब्द आया है। यों भी इस मानी में बोला जाता है। इसी प्रकार जहाँ यहाँ नासिका के अग्र भाग में नजर जमाने को लिखा है तहाँ पाँचवें अध्याय के अन्त में भौंहों के बीच में जमाने की बात है। असल में योगियों के यहाँ ये दोनों ही बातें पाई जाती हैं, कोई एक करता है तो कोई दूसरी। इसीलिए दोनों ही लिखी गयी हैं। भौंहों की बात आगे भी 'भ्रुवोर्मध्ये' (8।10) में आयेगी। जिसकी जब जैसी रुचि, प्रवृत्ति या अनुकूलता हो तब वह वैसा ही करता है। किन्तु परिणाम एक ही होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।15।।

इस प्रकार निरन्तर आत्मा में मन को जोड़ता हुआ उसे सोलह आने काबू में कर लेने वाला योगी उस ब्रह्मनिष्ठा रूपी शान्ति को प्राप्त कर लेता है, जिसका अन्तिम परिणाम आवागमन से छुटकारा है।15।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।16।।

हे अर्जुन, निश्चित परिणाम से अधिक खाने वाले की समाधि हो नहीं सकती, और न बिलकुल ही न खाने वाले की ही। (इसी तरह) बहुत ज्यादा सोनेवाले या अधिक जागनेवाले की भी (नहीं होती)।16।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।17।।

(किन्तु) उचित मात्रा में जो खान-पान और धूम-धाम करता है, दूसरी क्रियाएँ

भी निश्चित परिमाण में ही करता है और सोता-जागता भी है नियमित रूप से ही, उसी की समाधि सब कष्टों की नाशक होती है—पूर्ण या सफल होती है। 17।

सोने-जागने वगैरह की बात तो सभी जानते हैं। हालाँकि योगी लोगों ने इनमें भी बहुत नियम-कायदे—बनाये हैं। खानपान का नियम ऐसा ही है कि पेट का आधा अन्न से और एक चौथाई जल से भर के शेष चौथाई खाली रखे,—"अन्नेन पूरयेदर्धं चतुर्थं तु जलेन वै मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्"। नहीं तो परिपाक ठीक नहीं होता और आलस्य रोगादि बढ़ते हैं। क्या खाना, कब खाना आदि के भी नियम हैं।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। 18।।

जब काबू में बखूबी आया हुआ मन आत्मा में ही जा के टिक जाता (तथा) अन्य सभी पदार्थों से निःस्पृह (हो जाता है) तभी कहा जाता है कि (मनुष्य) युक्त या योगारूढ़ हो गया। 18।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यत्तचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।। 19।।

मन को आत्मा में टिकाने का अभ्यास करने वाले योगी का मन काबू में आ जाने पर ठीक वैसे ही हिलता-डोलता नहीं जैसे बहने वाली हवा से रहित स्थान में दीया की शिखा नहीं हिलती है। 19।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।। 20।।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।। 21।।
यं लब्ध्वा चा परं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।। 22।।
तं विद्याद् दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्।।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।। 23।।

जिस दशा में योग के अभ्यास के फलस्वरूप काबू में आया हुआ मन शान्त और निश्चल हो जाता है, जिस दशा में अपने भीतर ही स्वयमेव अपने को देख के पूर्ण सन्तोष हो जाता है, इन्द्रियों की पहुँच के बाहर केवल बुद्धि से अनुभव किया जाने वाला अपार सुख जिस दशा में जाना जाता है, जिस दशा में जम जाने पर मनुष्य की आपा बिसर जाती है और उस वास्तविक दशा से फिर वह च्युत भी नहीं होता है, जिसे पा जाने के बाद उससे बढ़ के दूसरा कोई भी लाभ माना नहीं जाता और जिस दशा में स्थिर हो जाने पर बड़े से बड़ा भी कष्ट मनुष्य को विचलित नहीं कर सकता, दुःख के सम्बन्ध को सदा के लिए मिटा देने वाली उस दशा को ही योग शब्द से समझना चाहिए। जो मन कभी ऊबना जानता ही नहीं उसी के द्वारा

दृढ़ निश्चय के साथ उस योग की सिद्धि का अभ्यास किया जाना चाहिए। 20 । 21 । 22 । 23 ।

यहाँ मन के न ऊबने के बारे में दृष्टान्त देते हुए गौडपादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् की कारिकाओं में लिखा है कि एक ही कुश की नोक डुबो-डुबो के बाहर छिड़कते हुए ही समुद्र को सुखा डालने की हिम्मत जिसे हो वही मन को काबू में कर सकता है, "उत्सेकउदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकविन्दुना। मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः।" (3 । 41)। टिट्टिभ पक्षी के नर-मादे का अपनी चोंचों से ही उलीचते-उलीचते समुद्र को सुखा के अपने अण्डे उसमें से बाहर निकालने के दृढ़ संकल्प का भी दृष्टान्त दिया जाता है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।। 24।।
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनःकृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।। 25।
यतो यतो निश्चरित मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वंश नयेत्।। 26।।

संकल्प से पैदा होने वाली सभी कामनाओं को निर्मूल करके तथा मन से ही सभी इन्द्रियों को चारों ओर से रोक के धैर्य-सहकृत बुद्धि के बल से धीरे-धीरे हर चीज से मन को हटाये और आत्मा में टिका के दूसरा कोई खयाल न करे। चंचल होने के कारण कहीं भी टिक न सकने वाला मन जिस-जिस चीज को ले के बाहर भागे उस-उससे उसे हटाते हुए केवल आत्मा में ही लगा के काबू में करे। 24 । 25 । 26 ।

यहाँ धीरे-धीरे सब ओर से हटाना और फिर भी यदि मन उधर भागे तो वहाँ से बार-बार लौटाना बताया गया है। असल में समाधि के लिए यही बुनियादी बात है। जो ऊबना जानता ही नहीं वही यह काम कर सकता है, ऐसा कहने की जरूरत इसी से स्पष्ट हो जाती है। एकाएक न तो अन्य चीजों से यह मनीराम हटी सकते और न हटने पर भी फिर उनमें जाने से बाज आई सकते हैं। यह तो नटखट बन्दर हैं। बड़ी हिम्मत और बड़े भारी दृढ़ संकल्प से ही इन्हें काबू में किया जा सकता है। इसीलिए 'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा' कहा है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।। 27।।

क्योंकि बिलकुल ही शान्त मनवाले, शान्त या दबे-दबाये रजोगुण वाले, निर्दोष (और इसीलिए) ब्रह्म स्वरूप हो जाने वाले इस योगी के पास सर्वोत्तम सुख—आत्मानन्द—खुद आ जाता है। 27।

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।। 28।।

इस प्रकार सदा आत्मा में मन को लगाता हुआ (उसके फलस्वरूप) पापशून्य योगी आसानी से ही ब्रह्मरूपी अखण्ड सुख—निरतिशय ब्रह्मानन्द—प्राप्त करता है। 28।

यदि गौर से देखा जाय तो पूर्व के 'शनैः-शनैरुपरमेद्' श्लोक का ही एक तरह का व्याख्यान बाद के इन तीन श्लोकों में है। इसमें भी उसके पूर्वार्द्ध का 'यतोयतः' में, उत्तरार्द्ध के पहले आधे का 'प्रशान्तमनसं' में और शेष चतुर्थांश का 'युंजन्नेवं' में स्पष्टीकरण है।

आगे के चार श्लोक उस आत्मसाक्षात्कार के बाद की हालत बताते हैं। खासकर पहले दो तो उस साक्षात्कार का रूप स्पष्ट करते हैं शेष दो ज्ञानी की व्यावहारिक दशा बताते हैं कि संसार के साथ उसका सलूक कैसा होता है। इन आखिरी दो में भी पहला है दूसरे की एक तरह की भूमिका ही। दूसरा—32वाँ—ही उसका बाहरी व्यवहार चित्रित करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। 29।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। 30।।

जिसका मन पूर्ण योगयुक्त हो गया है उसकी सर्वत्र समदृष्टि—ब्रह्म या आत्म दृष्टि—होती है। (इसीलिए वह) सभी पदार्थों में अपने आप को और अपने में सब पदार्थों को देखता है। (इसी तरह) जो मुझ परमात्मा को (भी) सबों में और सबों को मुझ परमात्मा में देखता है उससे जुदा न तो कभी मैं होता हूँ और न वह मुझसे अलग होता है। 29। 30।

ये दोनों ही श्लोक 'येनभूतान्यशेषेण' (4। 35) से एकदम मिल जाते। फलतः उसी के विवरण रूप ही हैं। इन दोनों ने अद्वैत या जीव, ब्रह्म और जगत् की एकता का चित्र खींच दिया है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते। 31।।

सभी पदार्थों में ओत-प्रोत—मौजूद—मुझ परमात्मा को जो योगी इस प्रकार—की एकता की दृष्टि से देखता है वह चाहे किसी भी दशा में रहने पर भी बराबर मुझमें ही डूबा रहता है। 31।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। 32।।

हे अर्जुन, चाहे सुख हो या दुःख, (दोनों को ही) सभी पदार्थों में जो अपने जैसा ही अनुभव करता है—जो अपने सुख-दुःख, जैसे ही दूसरों के सुख-दुःख का अनुभव करता रहता है—वही परले दर्जे का योगी माना जाता है। 32।

अब अर्जुन ने देखा कि ओ बाबा, यह तो बीहड़ बात है—यह संन्यास तो

आसान नहीं है। क्योंकि संन्यास का जो असली प्रयोजन ध्यान और समाधि की सिद्धि है वह मेरे पहुँच के बाहर की चीज है। मेरे मनीराम तो ऐसे भयंकर हैं; चंचल हैं कि न तो कहीं टिकना ही जानते और न आत्मा में जुटना ही चाहते। फिर यह साम्यबुद्धि और समदर्शन रूपी समाधि पूर्ण होगी कैसे? ऊँहूँ। यह नहीं होने की, असम्भव है। इसी भाव से वह–

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।। 33।।
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
एतस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। 34।।

अर्जुन कहने लगा–हे मधुसूदन, यह जो समदर्शन रूपी योग आपने (अभी-अभी) बताया है, मन की चंचलता के करते इसी की मजबूती का होना मैं (सम्भव) नहीं समझता। क्योंकि हे कृष्ण, यह मन तो चंचल है, बुरी तरह मथ देने, बेचैन कर देने वाला है, बलवान है और बड़ा मजबूत है। (इसीलिए) मैं तो इसे बाँध रखने को हवा को बाँध रखने की ही तरह कतई नामुमकिन मानता हूँ। 33। 34।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। 35।।

श्रीभगवान् बोले–हे महाबाहु, बेशक मन चंचल (और इसीलिए आमतौर से) काबू में नहीं आने वाला है। फिर भी हे कौन्तेय, अभ्यास और वैराग्य के बल से ही काबू में आता है। 34।

इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में जो कुछ लिखा है ठीक वही बात 'अभ्यासवैराग्यां तन्निरोधः' (1। 12) योगसूत्र में अक्षरशः पाई जाती है। इसका व्याख्यान करते हुए व्यास भाष्य में लिखा है कि "चित्तनदीनामोभयतोवाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। यातुकैवल्यप्राग्भारा विवेक विषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसार-प्राग्भाराऽविवेक विषय निम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते। विवेक दर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोतउद्घाट्यतइत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" इसका आशय यह है कि "निरन्तर बहने वाली नदी की ही तरह मन भी नदी ही है जो कल्याण की ओर भी बहती है और पाप की ओर भी। इनमें यदि आत्म-ज्ञान के विषयों की ओर झुकाव हो के यह नदी बहे तो कैवल्य और मोक्ष की तरफ जाकर बँध जाती है। विपरीत इसके यदि विवेक शून्य विषयभोग की ओर झुकाव हो के बहे तो जन्म-मरणादि रूपी संसार की तरफ जाती और वहीं बँध जाती है। फलतः विवेक का सोता रुक जाता है।

इसलिए वैराग्य का यह काम है कि पहले सांसारिक विषयों का दरवाजा बन्द कर दे—ऐसा बाँध बना दे कि विषयों की ओर मन जाने ही न पाए। अनन्तर विवेक का अभ्यास करते-करते विवेक के सोते को खोदकर जारी करने का काम कर डाले। फिर तो मन आसानी से उधर ही चला जायगा।" जब तक पानी का नीचे की ओर का बहाव पहले रोक दिया न जाय उसे ऊँची जमीन या बन्द सोते की ओर ले जायँगे कैसे? वह तो बहके खत्म ही हो जायगा। इसीलिए संसार से विरागी बनना पहला काम है, जिससे उधर बहकने से यह मन रुके तो सही। फिर जैसे-ऊँची जमीन को खोद के नाली बनाते और पानी ले जाते हैं; खोदने में भी बार-बार कुदाल चलानी होती है; वैसे ही मन को बार-बार आत्मा में लगाने का यत्न करना ही मोक्ष की ऊँची भूमि को खोदकर नाली या सोता बनाना है। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि जब पहले मन रुकता और एकाग्र होता है, तभी आत्मा में लगाया जा सकता है। यही बात पहले आयी है। आगे इसी का स्पष्टीकरण यों है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।। 36।।

(बेशक) मैं मानता हूँ कि जिस मन पर काबू नहीं उससे यह योग सिद्ध हो नहीं सकता। (विपरीत इसके) काबू में आये मन से कोशिश करने पर (पूर्वोक्त) उपाय और हिकमत से सिद्ध हो सकता है। 36।

यहाँ उपाय तो कुछ बताये हैं नहीं। इसलिए पहले ही बताये उपाय लेने चाहिए।

हाँ, तो इतना सुनने पर अर्जुन की निराशा जाती रही जरूर। मगर इसकी कठिनाई का विचार करके उसे खयाल आया कि एक जन्म में तो यह पूरा होने का नहीं। यदि दूसरे-तीसरे आदि जन्मों में पूरा करने का खयाल करें तो ठीक नहीं। क्योंकि एक जन्म में जो कुछ भी किया-दिया और पढ़ा-लिखा होता है वह तो अगले जन्म में भूल ही जाता है। आखिर इसके पहले भी तो हमारा जन्म हुआ था मगर हमें उसकी एक भी बात कहाँ याद है? हमें तो उसका कुछ भी पता नहीं। ऐसी दशा में फिर भी वही असम्भव-सी बात आ जाती है। यही ठीक है कि शायद किसी सौभाग्यशाली पुण्यात्मा की समाधि इसी जन्म में पूर्ण हो जाय। मगर आमतौर से लोग अत्यन्त चंचल मनवाले ही होते हैं। फलतः उनके यत्न से इसी शरीर में सफलता होगी तो नहीं ही। फिर उनकी क्या गति होगी? वे तो दोनों ओर से गये। एक तो कर्म-धर्म छोड़ा। इसीलिए उससे जो सद्गति होती सो तो हो पाई नहीं। दूसरे योग भी पूरा हुआ ही नहीं कि इसी का मजा मिलता। इसलिए उनकी तो वही दशा हुई कि "दोनों ओर से गये पाँड़े। न मिला हलवा न मिला माँड़े।" लेकिन फिर मन में दूसरा खयाल आया कि आखिर यह भी तो एक महान् कार्य ही है। तो क्या इसके पूरा न होने पर भी इसका कुछ न कुछ सुन्दर फल नहीं होना चाहिए? इसी पसोपेश और दुविधे में पड़े हुए—

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।। 37।।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।। 38।।
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्यु पपद्यते।। 39।।

अर्जुन ने पूछा—हे कृष्ण, श्रद्धायुक्त होने पर भी पूरा यत्न न कर सकने के कारण जिसका मन (किसी भी वजह से) योग से हट गया वह मनुष्य योग-सिद्धि तो प्राप्त कर सकता नहीं। (तबं) उसकीं क्या दशा होती है? हे महाबाहु, कहीं ऐसा तो नहीं होता कि बादल के टुकड़े की तरह इधर-उधर भटकता हुआ, किंकर्त्तव्यविमूढ़ और ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में टिक न सकने वाला वह मनुष्य कहीं का नहीं होता। (और यों ही) चौपट हो जाता है? हे कृष्ण, इस मेरे संशय को मिटाइये। क्योंकि आप से बढ़ के इस शक को दूर करने वाला कोई हो सकता नहीं। 37। 38। 39।

यहाँ यह बात याद रखने की है कि यत्न में पूर्णता और श्रद्धा यही दो चीजें सफलता की कुंजी हैं। इनमें श्रद्धा तो वश की चीज है और वह योगभ्रष्ट में भी है। मगर यत्न में तो हजार बाधाएँ उठ सकती हैं। इसी से इसमें पूर्णता कठिन है। ताहम श्रद्धा के रहते कभी-न कभी वह हो के ही रहेगी। यही 'अयतिः श्रद्धयोपेतः' इन दो विशेषणों का मतलब है।

बादल के छींटे या टुकड़े की यह हालत होती है कि उसे हवा इधर-उधर घसीटती और भटकाती रह के गला-पचा देती है। न तो वह बरसी सकता है और न घने बादलों में जा के मिली सकता।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति। 40।।

श्रीभगवान् ने कहा—हे पार्थ, न तो यहाँ और न परलोक में ही उसकी कोई बुरी गति होती है। क्योंकि, ओ मेरे प्यारे, कल्याण के मार्ग पर चलने वाले किसी की भी दुर्गति हो नहीं सकती। 40।

प्राप्य पुण्यकृतां लोमानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।। 41।।

योगभ्रष्ट—समाधि की सिद्धि न प्राप्त कर सकनेवाला—(मनुष्य) उत्तम कर्म करने वालों के लोकों में जाके (और वहाँ) बहुत वर्ष—मुद्दत तक—रह के पवित्राचरण

वाले श्रीमानों के घर जनमता है। 41।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।। 42।।

या नहीं तो योगियों के ही समाज में जा पहुँचता है। असल में इस प्रकार का जो जन्म है वह संसार में अत्यन्त दुर्लभ है। 42।

यहाँ श्रीमानों के घर में जन्म लेने की बात कह के फिर योगियों के कुल में जाने की बात कही गयी है। ऐसे जन्म को बहुत ही दुर्लभ भी कहा है। प्रश्न यह होता है कि श्रीमान के घर और योगी के कुल में क्या फर्क है? कुछ लोगों ने उत्तर दिया कि धनियों के घर सम्पत्ति के चलते योगाभ्यास में बाधा होती है। वहाँ आराम में ही फँसने का मौका ज्यादा रहता है। विपरीत इसके योगी कहने का अर्थ गरीब के घर में जन्म लेना है। फलतः वहाँ अभ्यास का मौका पूरा रहता है। इसीलिए यह जन्म पहले की अपेक्षा दुर्लभ है। यह बात इस चीज पर निर्भर है कि मरने से पूर्व उसकी क्या दशा थी। यदि अभ्यास में ज्यादा प्रगति कर चुका था; तब तो उसी की चिन्ता करते-करते ही शरीरान्त होने से "यं यं वापि" (8। 6) के अनुसार खामख्वाह योगियों के ही घर जनमेगा। योगी से मतलब जनकादि जैसे गृहस्थ से ही है। अन्तर यही है कि जनक थे श्रीमान और यहाँ वह बात न होगी। मगर प्रश्न होता है कि मन्दालसा तो राजा की पत्नी थी। फिर भी उसके बच्चे आत्मज्ञानी ही होते थे। बचपन से वह यही शिक्षा देती थी। इसलिए ज्ञानी होने के लिए श्रीहीन या दरिद्र होना तो जरूरी नहीं है, अस्तु। और अगर उसकी प्रगति ऐसी ही तैसी थी, तब तो इस योग की धुन होगी नहीं। फलतः धनियों के यहाँ ही जनमेगा।

अच्छा, अब यदि श्रीमान का अर्थ 'समाधि और योग के साधनों से सम्पन्न' यही करें तो क्या बुरा होगा? तब श्लोक का सीधा अर्थ यही होगा कि या तो जनक, मन्दालसा आदि के घर जन्म लेके वहीं अपना काम पूरा करता है; या अगर किसी वजह से वहाँ ऐसा न हो सका तो प्रह्लाद आदि की तरह वहाँ से भाग के योगियों के समाज में जा पहुँचता है और वहीं काम पूरा करता है। यहाँ कुल शब्द गुरुकुल के कुल जैसा ही मान लें तो क्या अच्छा हो—गुरुकुल और योगिकुल। क्योंकि तब योग के अभ्यास करने वालों का ही समाज होने से आसानी भी हो जाती है। इस श्लोक में 'जायते' न लिख के 'भवति' लिखा है। यहाँ इसका भी अभिप्राय 'जा पहुँचना' अच्छी तरह मेल खा जाता है। दो जन्म जुदा-जुदा मान के केवल दूसरे की बड़ाई करने की अपेक्षा एक ही जन्म मान के उसी की प्रशंसा भी ठीक ही जँचती है। क्योंकि अर्जुन का तो प्रश्न था योगभ्रष्ट के ही बारे में। अगर इसमें दो भाग करें तो पहले भाग में आनेवाले की दशा का ठीक-ठीक पता कैसे चलेगा? ऐसा होने पर उत्तर भी अधूरा ही रह जायगा। अगर आगेवाले श्लोकों में समान तौर पर दोनों की ही बात मान लें तो बीच की यह विभिन्नता वाली बात कुछ यों ही रह जाती

है। ठीक जँचती भी नहीं। यदि 44वें श्लोक पर गौर करें तो यह पता चलता है कि उसका मन पूर्व जन्म के अभ्यास के करते ही खिंच के इस जन्म में भी योग में ही जा लगता है। ऐसी दशा में तो श्रीमानों के यहाँ जनमने पर भी योग में ही लगेगा। फिर वह अपेक्षाकृत हलके दर्जे का कैसे माना जाय? बल्कि खिंच जाने का मतलब हमारे ही बताये अर्थ में यों मेल भी खा जाता है कि वहाँ गड़बड़ होने पर वहाँ से भाग के योगियों के समाज में जा पहुँचता है। समाज भी कोई बड़ा हो यह जरूरी नहीं है, जिससे विघ्न-बाधा की बात उठ खड़ी होगी। वहाँ तो ऐसे ही लोग होंगे जो योग की धुन वाले हैं और वे होंगे थोड़े ही।

यहीं पर प्रसंगवश एक बात और भी कहे देते हैं। अर्जुन के प्रश्न और उसके उत्तर हमारे ढंग से तो ठीक मिल जाते हैं। जब वर्णाश्रम के सभी कर्म-धर्म उसने छोड़ रखे हैं तो उसके उभयभ्रष्ट होने की बात स्वयं आ जाती है। कारण वे तो छूटे ही थे, अब योग भी छूट गया। परन्तु जो लोग यह बात नहीं मानते और बराबर यही चिल्लाते हैं कि गीता के मत से धर्म-कर्मों को किसी भी दशा में छोड़ नहीं सकते। वे इन प्रश्नोत्तरों को कैसे ठीक कहेंगे? उनके मत के अनुसार दोनों ओर से भ्रष्ट होने या गिर जाने का सवाल आता ही कहाँ है? वह जब मानते ही हैं कि योग के अभ्यास के समय भी नित्य-नैमित्तिक आदि धर्मों को वह योगी करता ही रहता है, तो फिर उनका फल कौन रोकेगा? वह तो अवश्य ही मिलेगा। इसलिए योग का फल न भी मिला तो क्या मुज़ायका? कर्मों का फल तो मिलेगा ही—एक तो मिलेगा ही। ऐसी दशा में दोनों तरफ से चौपट होने या भ्रष्ट होने का प्रश्न उठता ही नहीं। यदि मान भी लें कि अर्जुन ने भूल से ही ऐसा कह दिया था, तो कृष्ण को तो भूल सुधार लेना था। उन्हें चटपट पहले यही कहना था कि उभयभ्रष्टता की बात तो गलत है। पीछे और बातें भी कह सकते थे। मगर ऐसा न कह के उनने भी तो मानी लिया कि यही बात है। इसलिए अगत्या कबूल करना ही होगा कि जो संन्यासी या योगी समाधि का अभ्यास करता है उसे धर्म-कर्म छोड़ना ही पड़ता है। उसके लिए कोई चारा हई नहीं।

तत्रतं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।43।।

हे कुरुनन्दन, वहाँ उसे पूर्व जन्मवाली बुद्धि ही मिल जाती है। इसीलिए योग-सिद्धि के लिए और भी ज्यादा यत्न करता है।43।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते।।44।।

उस पूर्व जन्म के अभ्यास के ही फलस्वरूप वह जबर्दस्ती उधर ही खिंच जाता है। (यही कारण है कि) योग की जानकारी एवं प्राप्ति की इच्छा वाला भी शास्त्रीय विधि-विधान की परवाह नहीं करता।44।

असल में पहले श्लोक में यह कहने पर कि वह इस जन्म में और भी ज्यादा यत्न योग-सिद्धि के ही लिए करता है, यह प्रश्न स्वयमेव पैदा हो जाता है कि कैसे? दूसरे लोग ऐसा नहीं करते, वही क्यों करता है? इसका उत्तर इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में दिया गया है कि पूर्व जन्म का वह प्रबल संस्कार ही उसे योग की ओर बलात् घसीट ले जाता है। फलतः इच्छा न रहने या परिस्थितियों के विपरीत होने पर भी उसे उसी काम में लगना ही पड़ता है।

इस पर जो जबर्दस्त प्रश्न पैदा होता है वह यह कि, माना कि संस्कार जबर्दस्त है और उधर घसीटता भी है सही। मगर जब उसने कहीं जन्म लिया तो ब्रह्मचर्यादि आश्रमों से ही हो के तो संन्यासी बनेगा और समाधि का अभ्यास करेगा। यह तो सम्भव नहीं कि एकाएक संन्यासी ही बन जाय। क्योंकि वेदशास्त्रों के विधि-विधान इस सम्बन्ध में मौजूद ही रहते हैं, जो इन आश्रमों को क्रमशः पूरा करने पर ही पूरा जोर देते हैं। ऐसी दशा में जब ये इधर खींचेंगे और पूर्व संस्कार उधर, तो ज्यादे से ज्यादा यही हो सकता है कि दोनों की खींचतान में वह किसी ओर या तो झुके ही नहीं या थोड़ा-बहुत दोनों के अनुसार करे। वह सिर्फ पूर्व जन्म के संस्कारों के अनुसार योगाभ्यास ही करेगा, यह कैसे होगा?

इसी का उत्तर इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में है कि जब योग-सिद्धि की लगन उसमें पैदा हो गयी, तो फिर वह शास्त्रीय-विधि-विधान की परवाह क्यों करेगा? कर्मकाण्ड का तो प्रयोजन ही यही है कि लगन, यह उत्सुकता, यह धुन और यह जिज्ञासा पैदा हो जाए। यह तो पहले ही कहा जा चुका है। यह भी बताया जा चुका है कि यह शब्द ब्रह्म का अर्थ वेदशास्त्रदि ही है। और जब यह धुन और लगन पैदा हो गयी, तो फिर उन कर्मों या कर्मों के प्रतिपादक वचनों और तन्मूलक आश्रमों की परवाह वह करेगा क्यों ? आत्मज्ञानी तो नहीं ही करता है। वह भी नहीं करता है यह मानी हुई बात है। यही कारण है कि उन वचनों पर अमल करने के लिए जोर देने वाले पिता, आचार्य आदि शासकों की भी परवाह वह नहीं करता। प्रह्लाद आदि के बारे में यही बात पाई जाती है। उस पूर्व-अभ्यास और उससे उत्पन्न संस्कार की यही तो अपूर्व शक्ति है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।। 45।।

(इस तरह) बहुत मुस्तैदी से योग की सिद्धि के लिए यत्न करने वाला विशुद्धान्तः करण योगी (लगातार) अनेक जन्मों के प्रयत्न से ही वह सिद्धि (और) उसके फल स्वरूप परमगति प्राप्त कर लेता है। 45।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।। 46।।

हे अर्जुन, यह योगी तपस्वियों से भी श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी बड़ा माना जाता

है और कर्मियों से भी ऊँचा स्थान रखता है। इसलिए तुम (जरूर ही) योगी बनो। 46।

यहाँ बहुत गहरे पानी में उतरने की जरूरत नहीं है; हालाँकि कुछ लोगों ने इसकी बड़ी कोशिश कही है। यहाँ खींचतान की अपेक्षा सीधा अर्थ ही ठीक जँच जाता है। सत्रहवें अध्याय के 'देवद्विजगुरुप्राज्ञ' आदि (17। 14-16) श्लोकों में जिन तीन प्रकार के तपों को गिनाया है उन्हीं के करने वाले तपस्वी हुए। ज्ञान और विज्ञान का विभेद बताते हुए पहले ही कह चुके हैं कि सिर्फ पढ़-सुन के जो जानकारी किसी बात की हो जाती है वही ज्ञान और उसे जिनने प्राप्त कर लिया वही हुए ज्ञानी। सभी प्रकार के श्रोत-स्मार्त्त या दूसरे ही सत्कर्मों के करने वाले हो गये कर्मी। मगर इन तीनों से ही तो काम पूरा होता नहीं। आत्मा के साक्षात्कार के लिए, जिसे विज्ञान भी कहते हैं, कुछ और भी विशेष यत्न और उपाय करने होते हैं, जिन्हें निदिध्यासन, ध्यान, योग या समाधि कहते हैं। इन्हें करने वाले ही योगी कहे गये हैं। इससे साफ है कि योगी का काम है इन तीनों की कमियों को पूरा करना। ये तीनों योगी के लिए मार्ग साफ करते हैं, योग की तैयारी करते हैं। यह तो योगी ही का काम है कि उस योग को पूरा करे। वही आखिरी सीढ़ी है। उस पर चढ़ना ही होगा। तभी लक्ष्य स्थान पर पहुँच सकेंगे। इसलिए योगी को सबों से श्रेष्ठ कहना सर्वथा युक्तिसंगत एवं उचित है।

इस तरह कहने के लिए तो योगी को सबसे ऊँचा बना दिया। मगर आखिर योगी भी तो सभी प्रकार के होते हैं। पूर्णयोग या योग की सिद्धि के पहले जानें कितनी ही छोटी-मोटी सीढ़ियों से उसी योग की दशा में ही गुजरना पड़ता है, जैसा कि 'शनैः-शनैः' और 'अनेकजन्मसंसिद्धः' से स्पष्ट है। इसलिए इन सब हालतों से सफलतापूर्वक गुजरते हुए यदि ब्रह्मानन्द में गोते लगाने हैं तो दो बातें अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। एक तो अपने लक्ष्य की प्राप्ति में अटल विश्वास, जिसे श्रद्धा कहते हैं। यह विश्वास जब किसी भी हालत में जरा भी डिग न सके तभी लक्ष्य-सिद्धि हो सकती है। यही बात पहले 'योगोऽनिर्विण्णचेतसा' में कही गयी है। दूसरी यह कि वह लक्ष्य अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार ही है, अपनी ही आत्मा को सबमें ओत-प्रोत देखना ही है, इसी निश्चय के साथ शुरू से ही पूरी लगन और धुन के साथ मन को उसी में लगाया जाय। इसी को भजन कहते हैं। मन को ही अन्तरात्मा भी कहते हैं। जो ऐसा करता है वही योगारूढ़ है, वही योगियों में भी सबसे ऊँचे दर्जे का है, वही युक्ततम है। यही बात अन्तिम श्लोक यों कहता है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।। 47।।

सभी योगियों में भी जो मुझ आत्मारूपी परमात्मा में श्रद्धा के साथ मन को जमा के उसी में डूबा रहता है मेरे मत से वही युक्ततम है। 47।

इस अध्याय में छः बार सम शब्द का प्रयोग आया है और वह है 8, 9, 13,

29, 32, 33 श्लोकों में। इनमें 13वें में तो एक सीध में या तने रखने के अर्थ में ही है। शेष पाँच में से 8, 9 और 29 में अद्वैत-आत्मज्ञान वाला समदर्शन ही इसका अभिप्राय है। उस दर्शन का जो परिणाम व्यवहार में होना चाहिए वही 32वें में आया है। फलतः उससे भिन्न अर्थवाला यह भी नहीं है। इसी का उल्लेख मात्र 33वें में आया है। इससे स्पष्ट है कि कर्मयोगवाला 'सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा' इनमें एक भी नहीं है। यह ठीक है कि यह समदर्शन उसका आधार जरूर है। इसके बिना वह होई नहीं सकता।

इस अध्याय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ध्यान या समाधि है यह तो हम पहले ही अच्छी तरह लिख चुके हैं। इसी समाधि के सिलसिले में इस अध्याय में भी 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा' में एक बार तीसरे अध्याय की ही तरह ज्ञान-विज्ञान शब्द भी आ गया है।

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः।।6।।

श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योग शास्त्र में जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका ध्यानयोग नामक छठा अध्याय यही है।

सातवाँ अध्याय

जैसा कि हमने पहले ही गीता के अध्यायों की संगति के सिलसिले में कहा है और अवसर पा के बीच के गत पाँच अध्यायों में लिखा है, गीता के मुख्य प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण यहीं पूरा हो जाता है। इन छः अध्यायों के बाद कोई भी प्रतिपादनीय मुख्य विषय रह जाता नहीं है। यों तो, जैसा कही चुके हैं, दो और तीन अध्यायों में ही ज्ञान और कर्म रूप दोनों ही मुख्य विषय आ चुके हैं। मगर उनके कुछ प्रधान पहलू रह जाते हैं और उन्हीं का निरूपण शेष तीन अध्यायों में किया गया है। इस तरह ज्ञान के स्वरूप, संन्यास और ध्यान या समाधि पर पूरा प्रकाश पड़ गया है। यही ज्ञान है। इन विषयों और उनके मुख्य पहलुओं पर पूरा प्रकाश डालने के लिए जो कुछ भी निरूपण अब तक हुआ है उससे इन विषयों का केवल परोक्ष या दिमागी ज्ञान काफी हो जाता है। इसी से इस समूचे निरूपण एवं प्रतिपादन को भी ज्ञान कहते हैं, जैसे तेरहवें अध्याय में ज्ञान के साधनों और उपायों को ही "एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं" (13।11) में ज्ञान कहा है।

लेकिन इतने से ही काम नहीं चलता। एक तो ज्ञान को ही और भी मजबूत बनाने के लिए बार-बार उसके समबन्ध में खोद-विनोद करने और सोचने-विचारने की जरूरत होती है। इसी चीज को पुराने लोग मनन कहते आये हैं। पहले पढ़ या सुनके जो ज्ञान होता है उसी की मजबूती इस मनन से होती है। पढ़ने-सुनने को श्रवण कहते हैं। श्रवण और मनन के बाद जो तीसरी बात की जाती है, जिससे जानी-सुनी चीज की प्रत्यक्ष जानकारी हो जाये, उसी का नाम निदिध्यासन है। उसका निरूपण छठे अध्याय में किया गया है। मगर यह निदिध्यासन उन्हीं के लिए है जो साक्षात्कार या प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहते हैं। उनके उपदेशक तथा आचार्य तो यह करते नहीं। क्योंकि उन्हें तो पहले से ही साक्षात्कार होता है। लेकिन वह शिष्यों को, जिन्हें उनने श्रवण, मनन कराया है, इतनी मदद दे सकते हैं। जिससे उनका निदिध्यासन आसानी से हो सके। इसी को आज की भाषा में प्रयोग (experiment) कहते हैं। इससे सुनने और विचारनेवालों को इतनी आसानी हो जाती है कि पीछे यही काम वह खुद भी कर सकते और दूसरे को सिखा सकते हैं। इस प्रयोग के

बिना उन्हें दूसरों को उपदेश देने की पूर्ण योग्यता शायद ही हो सके। जिसे पहले कहा था उसी को पीछे कर दिया—कह सुनाये को कर दिखाया। इस पर पहले भी लिखा गया है।

सातवें से लेकर दसवें और बारहवें से लेकर अठारहवें अध्याय तक मनन का ही काम किया गया है। हाँ, अठारहवें में सभी बातों का उपसंहार भी किया है। अधिकांश में उसे उपसंहार का ही अध्याय कहना चाहिए। यों तो उपसंहार करने में भी पूरा मनन होई जाता है। केवल ग्यारहवें अध्याय में निदिध्यासन के सहायतार्थ उन्हीं बातों का प्रयोग (experiment) करके अर्जुन को साफ-साफ दिखा दिया गया है। आत्मा से जुदा परमात्मा है नहीं और यह जगत् भी परमात्मा से पृथक् न हो के उसी का स्वरूप है, यही बात अर्जुन को उस अध्याय में प्रत्यक्ष दिखाई गयी है। फलतः यह प्रयोग नहीं है तो और है क्या? मालूम होता है, किसी प्रयोगशाला में बैठ के कोई पक्का जानकार चेले को प्रयोग के द्वारा चीजें दिखा रहा है। मनन की सबसे ज्यादा जरूरत पड़ती है, सो भी निरन्तर। इसीलिए प्रयोग के बाद भी मनन जारी रखा गया है। यदि मनन न रहे तो सारा प्रयोग बेकार हो जाय और भूल जाय। यह भी भूलना न चाहिए कि श्रवण की तरह मनन के समय भी ज्ञान होता ही है। उसके बिना मनन होगा कैसे? इसीलिए आगे जो विज्ञान के लिए मनन के रूप में बातें कही गयी हैं उन्हें केवल विज्ञान न कहके 'ज्ञानं विज्ञानसहितम्' (9।1) या 'ज्ञानं सविज्ञानं' (7।2) में ज्ञान के सहित विज्ञान या ज्ञान-विज्ञान दोनों ही कहा है। विज्ञान में तो संशय की गुंजाइश रही नहीं जाती। इसीलिए सातवें के शुरू में ही 'असंशयम्' कह दिया है।

छठे अध्याय के अन्त में जो आत्म-साक्षात्कार के लिए यह कहा है कि मुझ परमात्मा में ही मन लगा के मुझी में डूब जाओ, तभी काम पूरा होगा, उसी बात को ले के सातवें अध्याय का श्रीगणेश होना इसीलिए उचित भी है। जब साक्षात्कार की आखिरी बात और उसका अन्तिम एवं ध्रुव मार्ग यही बताया गया है तब तो मनन और निदिध्यासन कराने के साधनों के रूप में उसी पर विशेष प्रकाश डालना ही होगा। यह बात ऐसी भी नहीं कि किसी के प्रश्न करने पर कही जाय। यह तो आम बात है। सभी जानकार यही करते हैं। इसके लिए प्रश्न करने की कोई जरूरत हई नहीं। इसीलिए अर्जुन के प्रश्न के बिना ही स्वयमेव—

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युं जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।1।।

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ, मुझ परमात्मा में मन को जोड़ के और मुझी को सब कुछ समझ के योग का अभ्यास करते हुए मुझे पूरी तौर से निस्सन्देह जिस

तरह जान सकोगे वही बात सुनो। 1।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।। 2।।

(लो,) मैं तुम्हें ज्ञान और विज्ञान दोनों पूरा-पूरा अभी बताता हूँ, जिसे जानने के बाद इस दुनिया में और कुछ भी जानने योग्य रही न जायगा। 2।

यहाँ 'इदं वक्ष्यामि' का 'वक्ष्यामि' पाणिनि के 'वर्त्तमान सामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' (3।3।131) के अनुसार फौरन कहने के ही मानी में बोला गया है। ऐसे मौके पर 'लो, जाता हूँ,' आदि के ही अर्थ में 'एष गच्छामि, एष गमिष्यामि, इदं गमिष्यामि' आदि बोलने की पुरानी रीति है। और इसके बाद ही चौथे श्लोक से वही बात फौरन शुरू भी तो हो गयी है। बीच में जो तीसरा श्लोक आया है वह तो इस विज्ञान की दुर्लभता और कठिनाई को ही बताता है, ताकि उधर पूर्ण रूप से लोगों का ध्यान आकृष्ट हो सके और हम गौर से सारी बातें सुन सकें, विचार सकें।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।। 3।।

(एक तो) हजारों आदमियों में (शायद ही कोई) योगसिद्ध और ज्ञानप्राप्ति के लिए कोशिश करता है (और) योग की सिद्धि को प्राप्त हुए इन यत्न करनेवालों में भी (शायद ही) कोई मुझ परमात्मा को यथार्थतः जानता—मेरा साक्षात्कार करता—है। 3।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। 4।।

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रधान या मूल प्रकृति—इस प्रकार यह मेरी प्रकृति—माया—ही के आठ विभाग हैं। 4।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। 5।।

हे महाबाहु, यह तो अपरा या नीचे दर्जेवाली मेरी प्रकृति है। (लेकिन) इससे निराली जीवरूपी मेरी उस परा या श्रेष्ठ प्रकृति को भी तो जान लो, जो इस (समूचे) जगत् को कायम रखती है। 5।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। 6।।

इन्हीं (दोनों प्रकृतियों) से ही सभी पदार्थ बनते हैं ऐसा निश्चय कर लो। (अन्ततोगत्वा तो इस तरह) मुझसे ही सारा संसार पैदा होता है और मुझी में समा जाता है। 6।

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। 7।।

(क्योंकि) हे धनंजय, मुझसे बड़ा (तो) कोई हई नहीं। यह सब कुछ (दृश्य

जगत्) मुझमें उसी तरह पिरोया हुआ है जैसे माला के दाने सूत में।7।

यहाँ चौथे श्लोक का अर्थ समझने के लिए पूर्व का गुणवाद प्रकरण पढ़ लेना जरूरी है। वहीं इसका पूर्ण स्पष्टीकरण मिलेगा। परमात्मा के सिवाय इस दृश्य तथा अदृश्य जगत् के मूल में दो पदार्थ हैं, जिन्हें जीव और माया या प्रधान कहते हैं। प्रधान को ही प्रकृति भी कहते हैं। प्रकृति का अर्थ है मूल कारण। यहाँ पर जीव और प्रधान दोनों को ही प्रकृति कहा है, जिनमें प्रधान नीचे दर्जे की और जीवात्मा ऊँचे दर्जे की है। इन्हीं दो से सारे जगत् का पसारा हुआ है। मगर इन दोनों का भी पसारा अन्त में ब्रह्म या परमात्मा से ही है। फलतः उसके सिवाय और कोई सत्य पदार्थ हई नहीं । इन दोनों में जीवात्मा तो परमात्मा का रूप ही है। किन्तु प्रकृति, माया या प्रधान अनिर्वचनीय, अनादि और मिथ्या है। इस तरह ब्रह्म-आत्मा के अलावे सत्य वस्तु जब कोई हई नहीं तो द्वैत या विभिन्नता का प्रश्न उठता ही कहाँ है? ये सारी बातें भी गुणवाद के ही प्रसंग से वहीं लिखी हैं। माले के दाने और सूत का दृष्टान्त देकर इतना ही कहा है कि जैसे सूत के बिना दाने अलग हो जायँगे और माला रही न जायगी, साथ ही, जैसे हर दाने के भीतर सूत मौजूद है, ठीक उसी तरह परमात्मा या आत्मा के बिना सभी पदार्थ बिखर जायँगे और यह जगत् रही न जायगा। सूत की तरह परमात्मा ने ही सब पदार्थों को पकड़ रखा है, रोक या धर रखा है। आखिर आत्मा तो सभी की होती है न? फलतः उसके बिना कोई चीज रहेगी ही कैसे? इसलिए वही सबों को जरूर ही धारण करनेवाली है। यह बात भी पहले खूब बता चुके हैं।

आगे के पाँच (8-12) श्लोकों में थोड़ा-सा नमूने के तौर पर इस बात का विवरण दिया गया है कि परमात्मा या आत्मा सूत की तरह पदार्थों में कैसे व्याप्त हैं, पदार्थ उनमें पिरोये हुए हैं। इसका विशेष विवरण कुछ तो नवें (16-19) और बहुत अधिक दसवें अध्याय में दिया गया है। जो भी हो, इस विवरण के पढ़ने से मालूम पड़ता है कि या तो कोई विशेषज्ञ और पूरा जानकार आदमी किसी पाठशाले में बैठ के अपने शिष्यों को यह बात समझा रहा है कि किस प्रकार ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के मिलाने से, संयोग से ही पानी बनता है; इसीलिए इन दो अदृश्य वायुवों के अलावे पानी की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, हस्ती नहीं है, या कोई वेदान्ती जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओं को बता रहा है कि सपने में जितनी चीजें नजर आती हैं, जो पदार्थ देखे जाते हैं, वह देखने वाले से वस्तुतः जुदा हैं नहीं; हालाँकि जुदा तो साफ ही मालूम होते हैं। इसीलिए जागने पर देखने वाले के सिवाय और कुछ भी पाया जाता नहीं। सिर्फ नींद के ही करते यह सारा तूफान और प्रपंच बन गया होता है। क्योंकि दरअसल नींद के ही चलते उस देखने वाले को होश नहीं रहता, उसे अपनी सुध-बुध नहीं रहती। इसीलिए दुनिया भर की अण्ट-सण्ट चीजें बात की बात में यों ही रच-बना के देखता-सुनता है। ठीक उसी तरह भगवान् की माया के ही करते उसे भी आपा

बिसर जैसा गया है। फलतः सपने की तरह सारे जगत् को यों ही बात की बात में बना के देख रहा है। नहीं तो दरअसल उसके अलावे और कुछ है वै नहीं। इसीलिए जैसे नींद के पहले कोई चीज न रहने पर भी सपने में देखनें वाले से ही सपने की सारी चीजें बन के नींद खुलते ही उसी में जा मिलती हैं, उसी तरह यह सारा जगत् परमात्मा से ही बन के उसी में जा मिलता है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।8।।

हे कौन्तेय, (देखो न,) मैं ही तो जल में (उसका सार) रस हूँ। चन्द्र और सूर्य का सार प्रकाश भी मैं ही हूँ। सब वेदों में (उनका सार) प्रणव या ऊँकार भी मैं ही हूँ। आकाश में शब्द (और) मनुष्यों में पौरुष—मर्दानगी—भी मैं ही हूँ।8।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।9।।

पृथ्वी में सुगन्ध, अग्नि में तेज, सभी पदार्थों में जीवन (और) तपस्वियों में तप मैं ही हूँ।9।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।10।।

हे पार्थ, सभी पदार्थों का सनातन मूलकारण मुझी को जानो। बुद्धिमानों में बुद्धि तथा तेजस्वियों में तेज मैं ही हूँ।10।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।11।।

हे भरतर्षभ, बलवानों में कामना और राग से रहित जो बल है वह मैं ही हूँ। प्राणियों में जो कामना धर्म की विरोधी नहीं हो वह भी मैं ही हूँ।11।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।12।।

(इस तरह संक्षेप में) जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस पदार्थ पाए जाते हैं सबके सब मुझ परमात्मा से ही बने हैं। (लेकिन याद रहे कि) मैं उनमें नहीं हूँ, (किन्तु) वही मुझमें हैं।12।

ऊपर के इन पाँच श्लोकों में इस सृष्टि के मूल कारण का जो उल्लेख आया है वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह ठीक है कि सृष्टि के कुछी पदार्थों को चुन के उन्हीं के बारे में चार श्लोकों में कह दिया है कि उनकी आत्मा, उनका हीर, उनकी असलियत मैं ही हूँ, आत्मा ही है, परमात्मा ही है। किन्तु पाँचवें श्लोक में तो सात्त्विक, राजस, तामस शब्दों में त्रैगुण्य या सभी पदार्थों को सामान्य रूप से लेकर वही बात कह दी गयी है। कुछ चुने-चुनाए पदार्थों के बारे में ऐसा करने का एक खास प्रयोजन अन्त में इसी अध्याय में कहेंगे। यहाँ यही देखना है कि उनमें भी पाँच भूतों में पृथ्वी,

जल, तेज और आकाश इन चार को ही पृथक्-पृथक् गिनाया है और वायु को इस रूप में छोड़ दिया है। इन चारों के जो असली गुण या परिचायक हैं, इनकी जो विशेषताएँ (characteristics) हैं, और इसीलिए जिन्हें इनकी आत्मा कह सकते हैं, उन्हीं को परमात्मा का रूप बना दिया है। सचमुच ही यदि भूत से गन्ध को, आकाश से शब्द को, अग्नि से तेज को और जल से रस को निकाल लें तो उन पदार्थों का अपना क्या रह जायगा? उन्हें फिर भी पृथ्वी, जल आदि के नाम से कोई पुकारेगा भी क्या? तब तो वे लापता ही होंगे। उनके अस्तित्व का कोई भी प्रमाण रही न जायगा। भूमि में दार्शनिकों ने गन्ध ही सब कुछ माना है। जहाँ वह न भी मालूम हो वहाँ भी रहता ही है। लोहे, पत्थर वगैरह में मालूम न होने पर भी उनके भस्म में स्पष्ट ही मालूम होता है।

रह गया वायु। असल में यदि देखा जाय तो इस भौतिक सृष्टि के मूल में जो पाँच भूत हैं उनमें वायु का ही महत्त्व सबसे ज्यादा है। अन्य पदार्थों के बिना तो सभी पदार्थ कुछ देर टिक भी सकते हैं। मगर हवा के बिना एक मिनट भी टिकना असम्भव हो जाता है। उसे प्राण भी इसीलिए कहा है कि वह सबों को कायम रखता है, उनमें हलचल या क्रिया जारी रखता है। असल में क्रिया ही तो अस्तित्व का लक्षण है और वह है वायु की ही चीज। इसीलिए छठे अध्याय में कहा है कि वायु को रोक देना या उसकी क्रिया बन्द कर देना असम्भव है। तब तो दुनिया ही खत्म हो जायगी। शरीर के भीतर खून का संचार क्षण भर भी रुका कि मरे। पदार्थों के भीतर से नये-पुराने परमाणुओं का जाना-आना रुका कि वे खत्म हुए। यही कारण है कि वायु के हीर को—सार को—लेने की अपेक्षा समूचे वायु को ही 'जीवनं सर्व भूतेषु' (7।9) में जीवन शब्द से ले लिया है। जीवन का सीधा अर्थ है प्राण। मगर दरअसल उसके मानी हैं अस्तित्व जिससे कायम रहे, या स्वयं अस्तित्व ही। वायु को जीवन भी कहते हैं। पानी भी तो दो वायुवों के सम्मिश्रण से ही बनता है। इसीलिए उसे भी कहीं-कहीं जीवन कहा गया है। वायु को भूतों में न गिनने का एक और भी कारण अन्त में इसी अध्याय में हमने दिखाया है।

इस प्रकार जगत् के मूलभूत पंचभूतों को ही आत्मा का रूप बना दिया है। इसके बाद कुछ खास-खास चीजें चुन ली हैं। इनमें सूर्य और चन्द्र भी आये हैं। सचमुच ही ये दोनों जगत् के बड़े काम के हैं। चन्द्र के बारे में तो पन्द्रहवें अध्याय में कह दिया है कि अमृत या रस के रूप में सभी अन्नादि को पुष्ट करता है जिन्हें खा के सभी पुष्ट और जीवित रह सकते हैं। इसी प्रकार सूर्य समस्त शक्तियों का भण्डार, सभी शक्तियों का देने वाला पहले भी माना गया है। आज के विज्ञान ने भी ऐसा ही माना है। अब यदि इन दोनों के प्रकाश को हटा लें तो इनमें रहेगा ही क्या? असल में सूर्य को तो 'प्रकाश का पुंज ही' कहा है, 'तेजसांगोलकः सूर्यः' चन्द्रमा में भी सूर्य का ही प्रकाश माना जाता है। उसे प्रकाश का स्वतन्त्र पुंज नहीं

माना है। यही कारण है कि दोनों का सार प्रकाश ही बताया गया है। यदि प्रकाश के अलावे इन दोनों में और भी स्थूल पदार्थ मानें, जैसा कि आज के वैज्ञानिक बताते हैं, तो भी क्या? प्रकाश निकाल लेने पर इन दोनों को चन्द्र और सूर्य तो कोई भी न कहेगा। बस यहाँ यही आशय है।

हिन्दू लोग वेदों को सर्वमान्य और सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। उन्हें ज्ञानागार भी मानते हैं। असल में वेद शब्द का अर्थ ही है ज्ञान या ज्ञान देने वाला। इसीलिए वेद कहने से सभी सद्ग्रन्थों और ज्ञान देने वाली पोथियों से मतलब होता है। फिर चाहे वह किसी धर्म की हों, या उन्हें धर्म से कोई वास्ता न भी हो, और केवल औषधियों आदि की हजारों वैज्ञानिक जानकारियाँ करायें। पुराने लोग प्रणव या ॐकार को ही सब वेदों का निचोड़ मानते थे, 'ॐकारः सर्ववेदानां सारस्तत्त्वप्रकाशकः।' ॐ में भी अ, उ, म् ये तीन अक्षर माने गये हैं, जिनमें प्रधानता अकार की ही है। अकार ही समस्त व्यंजनों के उच्चारण का सहायक माना गया है। ऐसा भी लगता है कि सभी स्वर अक्षरों के मूल में यह अकार ही है। क्योंकि उनके उच्चारण में पहले अकार का ही आभास होता है। अब तो नयी वर्णमाला में इस प्रकार से ही शेष स्वरों को बनाने भी लगे हैं। इस प्रकार सभी अक्षरों के मूल में अकार के होने से और सभी ग्रन्थों के इन अक्षरों से ही बने होने के कारण सबों के मूल में यह अकार आ जाता है, और वही है आत्मा का रूप।

पुरुषों में पौरुष या मर्दों में मर्दानगी, तपस्वियों में तप, बलवानों में बल, तेजस्वियों में तेज और बुद्धिमानों में बुद्धि यही पाँच चीजें और भी ली गयी हैं। असल में अर्जुन जैसे तेजस्वी, बली, बुद्धिमान और मर्द का खयाल करके ही ये बातें कही गयी हैं। वह तो तप करने के लिए भी जंगल की शरण लेने को तैयार ही था। इसीलिए तप भी आ गया है। इन पाँचों की दुनिया में भी बड़ी कद्र है। अर्जुन भी कहीं समझता हो कि मैं कुछ हूँ। इसलिए साफ ही कह दिया कि ये सभी चीजें परमात्मा रूपी ही हैं। फिर तुम्हारी अलग हस्ती हई क्या? तुम स्वतन्त्र करी क्या सकते हो?

इन सभी पदार्थों के सिलसिले में दोई बातें और आयी हैं। एक तो पृथ्वी के गन्ध को पुण्य या सुन्दर गन्ध कहा है, जिससे पता लगता है कि दुर्गन्ध परमात्मा का रूप नहीं है। दूसरे काम या कामना को भी कहा है कि वह धर्म-विरोधी न हो तो भगवान् का रूप ही है। फलतः धर्म-विरोधी कामना या अभिलाषा उसका रूप नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि गीता ने दुर्गन्ध की स्वतन्त्र सत्ता न मान के उसे विकार या खराबी ही माना है, और सृष्टि के प्रसंग में विकार या खराबी के कहने के मानी हो जाते हैं सृष्टि के नाश के। इसीलिए उसे छोड़ दिया। इसी तरह 'धर्मो धारयतेप्रजाः' के अनुसार धर्म उसी को कहते हैं जो सृष्टि को कायम रखने में सहायक हो। फलतः धर्म-विरोधी चीज सृष्टि का नाशक बन जायगी। यही कारण है कि सृष्टि की बातें गिनाने में प्रलय के सामानों को छोड़ दिया है।

अन्त में तो 'बीजं मां सर्वभूतानां' में यह भी कह दिया है कि यह तो नमूने के रूप में कुछी पदार्थों को गिनाया है। असल में तो सभी पदार्थों का सनातन बीज परमात्मा ही है। आम का बीज गुठली भले ही हो। मगर वह तो सनातन नहीं है। वह तो खुद भी नष्ट हो जाती है और पैदा होती है। फलतः उसका भी बीज कोई न कोई हई। इस तरह बढ़ते-बढ़ते अन्त में ऐसी जगह पहुँचना होगा जिस बीज का नाश नहीं होता, जो सदा रहता है और जिससे सभी पदार्थ क्रमशः बनते हैं, पैदा होते हैं। वही है मूल कारण या सनातन बीज और वह आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है।

आखिरी श्लोक में जो यह कहा है कि सभी पदार्थ मुझ परमात्मा में ही हैं, न कि मैं ही उनमें हूँ, उसका कुछ मतलब है। अब तक रस, गन्ध आदि के रूप में सभी पदार्थों के जिन मूल कारणों को बताया है उन्हें देखने से पता चलता है कि वे उन्हीं पदार्थों में रहते हैं। सप्तमी विभक्ति लगा-लगा के यही कहा भी गया है। माला के दाने का जो दृष्टान्त दिया है उसमें भी सूत दानों के भीतर ही है, न कि दाने सूत के भीतर। इससे कोई ऐसा न समझ ले कि परमात्मा के आधार ये भौतिक पदार्थ ही हैं, इसलिए कहना पड़ा कि मैं उनमें नहीं हूँ, किन्तु वही मुझमें हैं—वे मेरे आधार नहीं हैं, किन्तु मैं उनका आधार हूँ। पदार्थों को आधार मानने से अन्ततोगत्वा उनका स्वतन्त्र अस्तित्व मानना ही पड़ता और इस तरह अद्वैतवाद या सर्वभूतात्मभूतात्मावाला गीताधर्म लागू हो पाता नहीं। इसलिए ऐसा कहना जरूरी हो गया। इस कथन का तात्पर्य यही है कि इस प्रकार हर पदार्थों का विश्लेषण करते-करते अन्त में इनका पता कुछ नहीं लगता। एक आत्मरूपी परमात्मा ही सबों के मूल में रह जाता है। उसी में इनकी कल्पना सपने की तरह हुई है। इसीलिए इन्हें देख के इनके मूल का अन्वेषण करने से ही काम चलेगा जो इनमें न हो के इनसे स्वतन्त्र है। इसका विस्तृत विवेचन छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय के आठवें खण्ड में आया है। वहाँ बार-बार लिखा है कि "अन्नेन शुंगेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुंगेन तेजो मूलमन्विच्छतेजसा सोम्य शुंगेन सन्मूलयन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमा प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।"

अन्त में सात्त्विक आदि शब्दों से जो भौतिक पदार्थों को याद किया है उसका दूसरा प्रयोजन भी है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ऐसी जानकारी सबों को क्यों नहीं होती? इसका समाधान जरूरी है। यों तो तीनों गुणों के भीतर जगत् आई जाता है। फिर भी इन त्रिगुणात्मक पदार्थों की यह खूबी है कि ये अपने भीतर ही लोगों को फँसा लेते हैं। इनके फँसाने के कौन-कौन से तरीके हैं यह बात गुणवाद में विस्तृत रूप से कही जा चुकी है। नतीजा यह होता है कि इनसे आगे हम बढ़ने पाते ही नहीं। इनका फन्दा ऐसा ही जो ठहरा। लोभी बनिये की तरह हम बारह महीने, तीस दिन जीवन भर यही सोचते रह जाते हैं कि बच्चों के लिए थोड़ा यह कर लें, वह

कर लें, तो फिर भगवान् को याद करने कहीं अलग चलेंगे। जरा मन्दिर बना लें, तीर्थ कर लें, दान-पुण्य कर लें, कथा-वार्ता सुन लें, तो फिर विरागी बनेंगे। ऐसा ही सोचते-सोचते और करते-करते जीवन खत्म हो जाता है और आगे बढ़ पाते नहीं। इसीलिए कह दिया है कि इन पदार्थों में मैं नहीं हूँ, यही मुझमें हैं। इन्हें छोड़ो तो मुझे पाओगे। बिना ऐसा किये आत्मा-परमात्मा को पहचानना असम्भव है। ये माया के ही गुण और पदार्थ हैं और माया तो ठगने वाली ही ठहरी न? उसने उसी रस्सी में फाँस लिया है। उसकी हजार चालें हैं। जब तक इनसे हट के परमात्मा की ओर बिलकुल ही लग न जायें तब तक न तो माया से—इस बड़ी नींद से—पिण्ड ही छूटेगा, न जगेंहीगे और न इन पदार्थों का पूर्वोक्त रहस्य समझ सकेंगे। यही बात आगे के श्लोकों में कही गयी है। वहाँ इस जगने का, इस ज्ञान का महत्त्व सुझाया गया है। यह भी बताया गया है कि परमात्मा की ओर मुखातिब होने वाले भी लोग भटक जाते हैं। इसलिए सजग रहना होगा।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।। 13।।

इन त्रिगुणात्मक पदार्थों में ही फँस के भूला हुआ यह संसार इनसे निराले और अविनाशी मुझ भगवान् को ठीक-ठीक समझ पाता नहीं। 13।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। 14।।

(ऐसा इसीलिए होता है कि) विलक्षण चमत्कार वाली, जिससे पार न पाया जा सके ऐसी (तथा) अनेक गुणों—फँसाने के साधनों—वाली मेरी माया ही तो आखिर यह सब कुछ है। (इसीलिए) जो लोग केवल मुझ परमात्मा में ही लग जाते हैं वही इस माया से पार पाते हैं। 14।

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।। 15।।

(विपरीत इसके) जो मनुष्यों में अधम, दुष्कर्मी, आसुरी प्रकृतिवाले (और) मूढ़ हैं—विवेकशून्य हैं (और) जिनका ज्ञान माया ने हर लिया है वह तो मुझमें कभी लगते नहीं। 15।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञाना च भरतर्षभ।। 16।।

हे अर्जुन, हे भरतर्षभ, (जो) सुकर्मी जन मुझ परमात्मा में लगते हैं वे चार प्रकार के होते हैं—धन चाहने वाले, कष्ट में पड़े हुए, ज्ञान की इच्छावाले और ज्ञानी। 16।

यहाँ यद्यपि श्लोक में क्रम दूसरा है तथापि असली क्रम इन चारों का वही है जो हमने लिखा है। श्लोक में छन्द रचना के लिए ही उलट-फेर करना पड़ा है।

दरअसल भगवान् की ओर मुखातिब होने वाले भी पहले धन-सम्पत्ति में ही फँस जाते हैं, वहीं तक रह जाते हैं। यदि कोई आगे बढ़ा भी तो एकाध भारी संकट आते ही उसी से त्राण चाह के वहीं फँस जाता है। हाँ, जो इन दो फन्दों से पार हो जाते हैं उनमें पहले तो यही भावना होती है कि मुझे आत्मज्ञान प्राप्त हो। यह ठीक भी है। भटकना तो यह है नहीं। क्योंकि यही असली सीढ़ी है। इसी इच्छा से भगवान् की तरफ जाने और उसमें लग जाने वाले ही पीछे ज्ञानी होते हैं, जो समस्त जगत् को अपना स्वरूप ही देखते हैं। इस तरह यदि देखा जाय तो परमात्मा की ओर जाने वाले सभी के सभी लोग पामरों से तो अच्छे ही हैं।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।। 17।।

एक—अद्वैत ब्रह्मात्मा—ही में लीन ज्ञानी उन (चारों) में (भी) श्रेष्ठ है। क्योंकि मैं ज्ञानी का सबसे प्यारा हूँ और वह भी मेरा सबसे प्यारा है। 17।

आखिर आत्मा से—अपने आप से—बढ़कर अपना प्यारा होगा कौन? और ये ब्रह्म एवं ज्ञानी तो परस्पर एक दूसरे की आत्मा होई चुके हैं। वे एक दूसरे से जुदा नहीं हैं, पृथक् नहीं हैं। एक की हस्ती—सत्ता—दूसरे से जुदा हई नहीं। ज्ञान के यही मानी हैं।

उदाराः सर्व एवैत ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमांगतिम्।। 18।।

(यों तो) सभी अच्छे ही हैं। (लेकिन) ज्ञानी तो मेरी (अपनी) आत्मा ही हैं। क्योंकि वह मुझी में मन को जोड़ता तथा मुझसे बढ़ के दूसरा कुछ भी मानता ही नहीं। 18।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।। 19।।

बहुत जन्मों (में यत्न करते-करते तब कहीं सब) के अन्त में ज्ञान प्राप्त करके 'यह सब कुछ भगवान् ही हैं' इस प्रकार मुझ परमात्मा में जो लग जाता है वही अत्यन्त दुर्लभ महात्मा है। 19।

लेकिन कोई ऐसा न समझ बैठे कि इस प्रकार चार ही ढंग के लोग भगवान् की ओर बढ़ते हैं, इसीलिए गीता के श्रद्धावाले सिद्धान्त के अनुसार, जिसका पूरा वर्णन पहले ही किया जा चुका है, यह बताना जरूरी हो गया कि और भी लोग हैं जो घूम-घाम के भगवान् की ओर जाते हैं, न कि सीधे। फर्क यही है कि ये चार सीधे जाते हैं। इसलिए इन्हें वहाँ औरों की अपेक्षा शीघ्र पहुँचने का मौका है। बेशक, इन चारों की अपेक्षा शेष लोग भूले हुए जरूर माने जाने चाहिए। क्योंकि वे यह समझते हैं कि भगवान् तो केवल मुक्ति देता है, बाकी पदार्थ तो दूसरे देवता लोग ही दे सकते हैं, देते हैं। अपनी अनेक प्रकार की कामनाओं के करते वे अन्धे हो

जाते हैं और सोचने लगते हैं कि भला ये तुच्छ चीजें भगवान् क्या देंगे! इसीलिए भटकते भी तो हैं। क्योंकि उन्हें जानना चाहिए था कि जो कुछ भी देना-दिलाना या करना-कराना हो केवल भगवान् ही करते हैं। औरों की ओर नजर करना ठीक वैसा ही है जैसे कुत्ते का खून-मांस के लिए सूखी हड्डी चबाना। वे बेचारे ऐसा इसीलिए करते हैं कि गुण-कर्म के अनुसार उनकी प्रकृति ही ऐसी होती है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।। 20।।

अनेक प्रकार की कामनाओं के चलते समझ खराब हो जाने से (बहुतेरे लोग) अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न देवताओं की शरण में उन्हीं-उन्हीं के नियमों के अनुसार जाते हैं। 20।

यहाँ प्रकृति का स्वभाव अर्थ है। उसमें दो बातें आती हैं। एक तो उसी के अनुसार भगवान् को छोड़ के सामान्यतः राजस, तामस आदि खयाल से दूसरे देवताओं की ओर झुकते हैं। दूसरे विशेष रूप से कौन किस देवता की ओर झुकेगा इसमें भी प्रकृति से पैदा हुई रुचि कारण है। इस पर विशेष प्रकाश पहले ही डाल चुके हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। 21।।
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हितान्।। 22।।

जो-जो भक्त जिस-जिस देवता की पूजा श्रद्धा से करना चाहता है उस-उसकी उसी श्रद्धा को मैं—परमात्मा—अचल बना देता हूँ (और) वह उसी श्रद्धा के साथ उस (देवता) की आराधना करता भी है। (मगर) उसके बाद अपनी इच्छा के अनुकूल मेरे ही दिये पदार्थों को पाता है। 21। 22।

इन श्लोकों के श्रद्धा और भक्त शब्द महत्त्व रखते हैं। इन दोनों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जब तक अपने लक्ष्य में पूर्ण विश्वास के साथ सच्चे दिल और ईमानदारी से कोई काम न करे तब तक सफलता नहीं मिलती है और अगर ये बातें हैं तो वह चाहे कुछ भी करे सब ठीक ही है। जो श्रद्धा-भक्ति भगवान् के सम्बन्ध में होती है वही यहाँ भी है। फर्क यही है कि लक्ष्य और रास्ता बदल गया है। लेकिन यदि श्रद्धा-भक्ति में कमी हो गयी तो सब चौपट ही समझिए। तब तो कोई भी लक्ष्य सिद्ध होगा नहीं। श्रद्धा के अचल होने के यही मानी हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यांति मद्भक्ता यान्ति मामपि।। 23।।

(फर्क यही होता है कि) उन नासमझों को जो फल मिलता है वह अचिर-स्थायी होता है। (क्योंकि) देवताओं के पूजक (ज्यादे से ज्यादा) देवताओं तक ही पहुँच पाते हैं। (लेकिन) मेरे भक्त तो मुझ तक भी पहुँच जाते हैं—मेरा स्वरूप भी हो जाते हैं। 23।

यहाँ 'मामपि' में जो अपि शब्द है उससे 'मुझे भी' ऐसा अर्थ हो जाता है। अर्थात् भगवान् के भक्त भगवान् तक तो पहुँचते ही हैं। लेकिन दूसरे पदार्थों तक भी उनकी पहुँच होती है—उन्हें दूसरे पदार्थ भी प्राप्त होई जाते हैं। न कि वे भूखे-प्यासे मरते हैं। इसीलिए कह दिया है कि 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (9 । 22)। 'आर्त्तो जिज्ञासु' (7 । 16) में भी कही दिया है कि भगवान् की भक्ति दूसरे-दूसरे उद्देश्यों से भी होती है। इसीलिए यहाँ यह कह देना जरूरी था कि मेरी भक्ति से दूसरी चीजें भी मिलती हैं। मैं तो मिलता ही हूँ। मगर 'मियाँ की दौड़ मस्जिद तक' के अनुसार देवताओं के पूजक अधिक से अधिक उन्हीं तक जा सकते हैं।

यदि यह प्रश्न हो कि वह लोग ऐसा क्यों करते हैं? सभी भगवान् को ही क्यों नहीं भजते? क्योंकि यहाँ तो दोनों हाथों में लड्डू है, तो इसका उत्तर पहले ही दे चुके हैं 'हृतज्ञानाः' और 'प्रकृत्या नियताः स्वया' इन्हीं शब्दों से। उसी का विवेचन आगे के दो श्लोकों में है। असल में ऐसे लोग चाहते तो हैं कि भगवान् की ओर चलें। चलते भी हैं। लेकिन समझ तो होती नहीं। इसीलिए भौतिक वायु-मण्डल में पैदा हो के उसी में पले ये लोग उस परिस्थिति को डाँक सकते नहीं। फलतः इन्हीं भौतिक स्थूल पदार्थों का ही देवी-देवताओं के रूप में भगवान् समझ के पूजने लगते हैं। उनका भगवान् कोई दूसरा तो होता नहीं। वैसा निराकार और अविनाशी भगवान् तो उनकी नजरों से ओझल है। बीच में वह ठगने वाली एवं अनेक युक्ति फैलाने वाली माया जो आ गयी है और उसी में वे फँस गये हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। 24।।
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।। 25।।

मेरे निर्विकार, सर्वोत्तम एवं सबसे बढ़े-चढ़े अदृश्य स्वरूप को नासमझ लोग नहीं जानते (फलतः) मुझे स्थूल या भौतिक रूप ही मान लेते हैं। (क्योंकि) मैं तो अनेक हिकमत वाली माया से छिपा होने के कारण सर्वसाधारण की नजर में आता नहीं। (इसीलिए) ये मूढ़ लोग मुझ अजन्मा (और) अविनाशी को ठीक-ठीक समझ पाते नहीं। 24 । 25।

इस पर प्रसंगवश फौरन ही यह प्रश्न उठता है कि जब भगवान् और जनसाधारण के बीच माया का बहुरंगा पर्दा है और वही भगवान् को छिपाए हुए है, जिससे लोग उसे देख नहीं सकते, तो वह भी लोगों को, इस बाहरी दुनिया को कैसे देख सकेगा? वह पर्दा तो समानरूप से दोनों की ही दृष्टि रोकेगा। प्रत्युत जब भगवान् माया से घिरा है, आवृत है, बल्कि समावृत है, अच्छी तरह घिरा है, तब तो उसकी दृष्टि और भी संकुचित होनी चाहिए। विपरीत उसके जनसाधारण तो उसके सिवाय बाकी सभी पदार्थों को बखूबी देख सकते हैं। क्योंकि उनके लिए तो केवल भगवान् ही पर्दे में

है न? इसका चट-पट उत्तर दे के ही आगे बढ़ते हैं। उत्तर यों है–

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।। 26।।

हे अर्जुन, मैं तो पुराने गुजरे हुए, वर्त्तमान एवं भविष्य सभी पदार्थों को देखता हूँ। लेकिन मुझी को कोई नहीं देखता। 26।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।। 27।।

हे भारत, हे परन्तप, रागद्वेष से पैदा होने वाले द्वन्द्व के झमेले के चलते सभी प्राणियों को जन्म से ही भूल-भुलैया में पड़ जाना होता है। 27।

येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।। 28।।

(लेकिन) जिन पुण्यकर्मा लोगों के पाप खत्म हो चुके हैं, वे द्वन्द्वों के झमेले से छुटकारा पा के मुझ परमात्मा को ही बड़ी मुस्तैदी से पकड़ लेते हैं। 28।

बीच में प्रसंगवश जो इन तीन श्लोकों में लिखी बातें आ गयी हैं उनके बारे में कुछ और भी जान लेना आवश्यक है। यह ठीक है भगवान् पर पर्दा होने से उसकी भी दृष्टि संकुचित होने का प्रश्न पैदा होता है। उसका उत्तर देना भी इसीलिए जरूरी हो जाता है। इसी से कह भी दिया है कि भगवान् तो त्रिकालदर्शी है और सब कुछ जानता है। मगर लोग ही उसे जान नहीं सकते। इसका कारण भी यही है कि इस माया की नींद ने भगवान् को सुलाया तो है नहीं कि उसकी जानकारी जाती रहे और वह सपने देखने लगे। यह तो जीवों या जनसाधारण की ही नींद है, जिससे उनकी आँखें बन्द हैं। फलतः वे परमात्मा को, जो उन्हीं की आत्मा है, देख नहीं सकते। इसीलिए जरूरत भी इस बात की है कि भगवान् में लगन लगा के इस नींद एवं माया को मिटाया जाय, जैसा कि पहले इसी अध्याय में कह दिया है।

लेकिन इस प्रश्न की जरूरत ही क्या थी, यह पूछा जा सकता है। यदि भगवान् की दृष्टि भी तंग हो जाय तो हमारा क्या बिगड़ता है? अर्जुन का क्या घटता था? उसका काम तो वैसे ही चलता रहता। आखिर उसकी दृष्टि संकुचित से विस्तृत तो हो गयी नहीं। यह बात पहले कही जा चुकी ही है।

दरअसल अर्जुन की और दूसरे लोगों की भी हानि जरूर ही थी यदि भगवान् की नजर भी तंग हो। क्योंकि तब तो गीता का जो उपदेश है वह खासकर सृष्टि के सम्बन्ध में जो बातें कृष्ण कह रहे थे उन पर अविश्वास करने की ही नौबत आ जाती। जब साधारण लोगों जैसी ही या उनसे भी गयी गुजरी समझ उपदेशक के पास हो तो उसकी बात का क्या ठिकाना? उसमें विश्वास करेगा ही कौन? इसलिए ही यह कहना पड़ा।

लोगों की दृष्टि ऐसी क्यों होती है और भगवान् की नहीं यह बात 27वाँ श्लोक बताता है। यह ठीक है कि जीव और परमात्मा एक ही हैं। दोनों में वस्तुगत्या कोई

भी फर्क नहीं है। फिर भी जीवों के साथ अनादिकाल से काम-क्रोध तथा रागद्वेष का भारी पचड़ा लगा है और यही सब गुड़गोबर करता है। यह बात बार-बार कही गयी है। तीसरे अध्याय के अन्त में तो इस पर बहुत ज्यादा प्रकाश भी डाला गया है कि इन रागद्वेषों के चलते क्या-क्या अनर्थ होते हैं और खत्म कैसे किया जा सकता है। किन्तु ये दोनों भगवान् में हैं नहीं। इसलिए वहाँ कोई गड़बड़ हो पाती नहीं। इन रागद्वेषों के चलते अपने-पराये, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वों के बखेड़े उठ खड़े होते हैं। फिर तो मनुष्य का मानस पटल पक्का अखाड़ा ही बन जाता है, उसकी गर्द उड़ जाती है, धज्जियाँ उड़ जाती हैं और चारों ओर अँधेरा जैसा छा जाता है। यही है द्वन्द्व से होने वाला मोह। इसी को दूसरे अध्याय में क्रोध के भीतर ही शामिल कर दिया है। उसके बादवाले सम्मोह को ही यहाँ मोह कह दिया है। यही है किंकर्त्तव्य विमूढ़ता या भ्रम या अज्ञान। यह बात जन्म के साथ ही होती है। फिर तो ये रागद्वेष जरा भी मौका नहीं देते कि हम सँभल सकें। यही बात 'सर्गे यांति' (7।27) में कही गयी है। इसीलिए शुरू से ही इससे पिण्ड छूटने पर मन भगवान् में जा सकता है यह बात 28वें श्लोक में आयी है। ताकि इन्हें खत्म करने में हम जनमते ही लग पड़ें।

अब फिर पुराने प्रसंग यानी 25वें श्लोक की बात को पकड़ के आगे बढ़ते हैं। क्योंकि बीच के तीन श्लोक प्रसंगवश ही आये थे। हाँ, तो यह समस्त संसार ब्रह्मरूप ही है यही बात चलती थी। अगर शुरू के चार (8-11) श्लोकों पर, जिनमें खास पदार्थों का वर्णन आया है, गौर करें तो पता चलेगा कि उन्हें तीन दलों में बाँट सकते हैं, जिन्हें पुराने लोगों ने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कहा है। पृथिवी, जल, अग्नि और आकाश तो भूत हैं। इसीलिए इनके गन्ध, रस आदि का वर्णन आधिभौतिक हुआ। क्योंकि गन्ध, रसादि भूतों में ही रहते हैं। अतः अधिभूत हो गये। इसी प्रकार चन्द्र और सूर्य की बात आधिदैविक हो गयी और बुद्धि, बल, तेज, तप, जीवन और काम ये छः हो गये आध्यात्मिक। शरीर के भीतर ही तो ये पाये जाते हैं। यह भी एक कारण कि वायु को भूत में न रख के जीवन के रूप में यहीं रख दिया है। नहीं तो दो बार कहना पड़ता। क्योंकि अध्यात्म में प्राण जैसी प्रसिद्ध चीज को छोड़ नहीं सकते थे। उपनिषदों में भी उसे कहीं नहीं छोड़ा है। चन्द्र-सूर्य में चमक और दिव्य तेज होने से उनका दल आधिदैविक हई। इन आध्यात्मिक आदि चीजों पर विशेष प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है। वहीं यह भी बताया गया है कि अधियज्ञ नाम की चौथी चीज क्यों और कैसे आई है। यह भी बता चुके हैं कि किस प्रकार सुख-दुःख, बल, बुद्धि से बढ़ते-बढ़ते आत्मा को ही अन्त में अध्यात्म मानने लगे। ब्रह्म की बात तो बार-बार सर्वत्र आयी ही है और कर्म की भी। 'प्रणवः' 'सर्ववेदेषु' कहने से भी इस कर्म की तरफ इशारा होता है। क्योंकि 'ब्रह्मणोमुखे' कहके वेदों में कर्मों की ही प्रधानता मानी है।

इस प्रकार अधिभूत, अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदैव आदि के रूप में जो लोग

ब्रह्म का निरन्तर मनन करते हैं वही विज्ञान के अधिकारी होते हैं। इसीलिए इस सातवें अध्याय में संक्षेप से अध्यात्म आदि का उल्लेख नमूने के तौर पर ही हुआ है। मनन करने वाले इसी नमूने को बढ़ा के हजारों पदार्थों में इस बात का मनन-चिन्तन कर सकते हैं और अन्त में अद्वैत आत्मा का साक्षात्कार भी कर सकते हैं। यों कहिए कि उन्हीं को पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान या ब्रह्म का पूर्ण साक्षात्कार होता है। जिनने ऐसा कर लिया है उनकी बुद्धि चक्कर या भ्रम में—सम्मोह में—पड़ ही नहीं सकती। यहाँ तक कि मरणकाल की अपार वेदना के समय भी वह विचलित नहीं हो पाती। क्योंकि वह जिधर ही जाती है अध्यात्मादि के रूप में आत्मा ही आत्मा पाती है। यही है बहुत बड़ी विशेषता इस विवेचन की। संक्षेप में यही बातें कहते हुए दो श्लोकों में अध्याय का उपसंहार इस प्रकार करते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।। 29।।
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्त चेतसः।। 30।।

(फलतः) जन्म और मरण से छुटकारे के लिए जो मुझमें ही मन लगा के यत्न करते हैं वही उस पूर्ण ब्रह्म को, अध्यात्म को और समस्त कर्मों को जानते हैं। (इसी तरह) अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ के रूप में भी जो मुझ परमात्मा को साक्षात् अनुभव करते हैं; पूर्ण समाधि में मन लगानेवाले वही लोग मरण के समय भी मुझ परमात्मा का ही साक्षात्कार करते हैं। 29। 30।

यहाँ जरा से जन्म समझना ही ठीक है। वही मरण की साथिनी है और सर्वत्र आया करती है। असल में जन्म के कष्ट का तो अनुभव रहता नहीं। इसीलिए कष्ट दिखाने के लिए जरा लिखा है। मरण का कष्ट खुद देखते ही हैं। जन्म का कष्ट माँ अनुभव करती है, न कि बच्चा। जन्म कहने से जीवन भर के कष्ट आ जाते हैं। इसी प्रकार कर्म का अर्थ केवल यज्ञयागादि न हो के सृष्टि का सारा व्यापार ही है, जैसा कि आठवें अध्याय में लिखा है। आत्मज्ञानी को सृष्टि के समस्त व्यापार नजर आने लगते हैं कि कैसे क्या बनता है, जमीन आदि कैसे बनती है, बनी है। तभी तो उसे निस्सन्देह अद्वैत ज्ञान होता है।

इस अध्याय का विषय ज्ञान-विज्ञान है यह तो कही चुके हैं।

इति श्री. श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।। 7।।

श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका ज्ञान-विज्ञान योग नामक सातवाँ अध्याय यही है।

आठवाँ अध्याय

सातवें अध्याय के अन्त में जो बातें दो श्लोकों में कही गयी हैं उनके ही करते अर्जुन को प्रश्न करने का मौका लग गया और आठवें अध्याय का श्रीगणेश उसी प्रश्न से होता है। अर्जुन ने क्यों प्रश्न किया और उसका आशय क्या है, आदि बातों पर पूरा प्रकाश, इन श्लोकों की विस्तृत व्याख्या एवं उत्तर का पूर्ण विवेचन पहले ही किया जा चुका है। सारी बातें ठीक-ठीक समझने के लिए वह विवेचन समझ लेना निहायत जरूरी है। यहाँ इतना ही कह देना है कि अंन्त के दो श्लोकों में जो बातें कही गयी हैं वह शास्त्रप्रसिद्ध हैं। पुराने दार्शनिक इन्हें बखूबी जानते थे। इतना ही नहीं। जैसा कि सातवें अध्याय के अन्त में हमने इन श्लोकों के ही प्रसंग में कह दिया है, ये बातें स्वयं सातवें अध्याय में भी आयी हैं। यह भी ठीक है कि वहाँ उनके प्रसंग में अध्यात्म, अधिभूत आदि शब्द नहीं आये हैं। इसीलिए अर्जुन को यह खयाल होना जरूरी था कि यह कौन सी भाषा बोलते और क्या बातें कह रहे हैं। उसके लिए जैसे यह एकदम निराली चीज थी। इसी के साथ कर्म की बात भी कुछ खटकी। क्योंकि कर्म-अकर्म की बात बहुत बार बड़ी सफाई से कह के चौथे अध्याय में ही यह भी कह दिया है कि कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखनेवाला ही योगी है और वह सभी कर्म करता है, कर सकता है 'सः युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्' (4 । 18)। फिर यह क्या बला आयी कि जरामरण से छुटकारे के लिए जो लोग यत्न करते हैं और अधिभूतादि को जानते हैं वही सभी कर्मों को जानते हैं? उसे यह कुछ अजीब सी बात लगी। इसीलिए खटकी भी।

ब्रह्म की बात यद्यपि कोई नयी न थी; तथापि ब्राह्मी स्थिति की जो बात दूसरे अध्याय में कही जा चुकी है और 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं' (5 । 25) तथा 'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं' (6 । 28) में जो ब्रह्म या ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कही गयी है; उसकी अपेक्षा यह कोई नयी चीज ब्रह्म शब्द से तो नहीं कही जा रही है, यह शंका उसे हो सकती थी। क्योंकि समाधि के द्वारा ब्रह्मज्ञान की बात कहने के बाद यहाँ एकाएक यह कह देना कि पूर्ण या कृत्स्न ब्रह्म को ऐसे ही लोग जानते हैं, जरूर घपले में डालनेवाला प्रतीत होता है। यह कृत्स्न रूप से जानने योग्य कोई और ही ब्रह्म है क्या, यह खयाल

इसीलिए हो आया। ब्रह्म हैं भी अनेक यह कह चुके हैं। इसलिए भी ऐसा खयाल अनुचित नहीं कहा जा सकता है।

मरणकाल के बारे में भी शंका का होना जरूरी था। भला उस अपार वेदना के समय किसी का चित्त एकदम एकाग्र कभी रह सकता है? यह तो निराली बात होगी। जब तक वह मनुष्य दुनिया से न्यारा कोई अलौकिक पदार्थ न माना जाय तब तक यह नहीं हो सकता। ऐसा होना तो ठीक वैसा ही है जैसा लपट के बीच में बर्फ की ठण्डक का अनुभव! इसीलिए खासतौर से जोर दे के पूछना पड़ा कि प्रयाण के समय कैसे यह बात होगी? कैसे मन काबू में रहेगा? अधियज्ञ सम्बन्धी प्रश्न पर तो विशेष प्रकाश पहले ही डाला गया है कि इसका क्या आशय है। इन्हीं सब बातों को मन में रख के—

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।1।।
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिनमधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।2।।

अर्जुन ने पूछा—हे पुरुषोत्तम, हे मधुसूदन, वह ब्रह्म क्या (चीज) है? कर्म क्या है? अधिभूत भी कौन कहा गया है? अधिदैव किसे कहा जाता है? इस शरीर में अधियज्ञ कौन है और क्यों है? मरणकाल में भी मन को काबू रख के लोग आपको कैसे देखते हैं?।1।2।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।3।।
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।4।।

श्रीभगवान् बोले—हे देहधारियों में श्रेष्ठ, जो किसी भी दशा में नष्ट नहीं होता वही ब्रह्म है, पदार्थों का जो अपना रूप है वही अध्यात्म कहा जाता है, पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति (आदि) जिससे हो उसी त्याग या क्रिया को कर्म नाम दिया गया है, पदार्थों की विनाशिता ही अधिभूत है और व्यापक परमात्मा ही अधिदैवत है। इस शरीर में अधियज्ञ तो मैं ही हूँ।3।4।

प्रश्नों के जो उत्तर दिये गये हैं उन पर भी पहले ही प्रकाश डाला गया है जरूर। मगर एक चीज स्पष्ट नहीं हुई है। इसीलिए उसी के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक हो जाता है। प्रश्नों के देखने से पता चलता है कि कुल आठ प्रश्न किये गए हैं। यद्यपि सातवें अध्याय के अन्त में कही गयी जिन बातों को ले के ये प्रश्न

हुए हैं वह सात ही हैं, तथापि अधियज्ञ के बारे में दो प्रश्न होने के कारण ही इनकी संख्या आठ हो जाती है। अधियज्ञ के बारे में औरों की ही तरह सीधे ही यह सामान्य प्रश्न करने के बजाय कि अधियज्ञ क्या है या कौन है; उसने एक तो यह पूछ दिया कि इस शरीर के भीतर अधियज्ञ कौन है? दूसरे यह कि यदि है तो कैसे है, क्योंकर है? इसके बाद ही प्रयाणकाल वाली बात आने के कारण अर्जुन सोचता था कि शरीर में ही अधियज्ञ का जानना जरूरी है। क्योंकि यज्ञचक्र का सम्बन्ध सृष्टि से होने के कारण उसका अनुष्ठान हर हालत में अनिवार्य होने से मरण के समय वह बाहर तो हो सकता नहीं। इसलिए शरीर में ही यदि उसका पता लग जाय तो यह बड़ा लाभ हो जाय कि मरणकाल में भी यज्ञक्रिया निर्विघ्न होती रहे। इसीलिए उसने यह भी प्रश्न कर दिया कि यदि ऐसा कोई अधियज्ञ है तो कैसे? इसका अभिप्राय इतना ही है कि पूरा इत्मीनान हो जाय। कभी शक-शुभा न हो सके।

अभी तक दो श्लोकों में जो उत्तर दिये गये हैं वह तो सिर्फ छः प्रश्नों के ही हैं। जो अधियज्ञ शरीर में है वह कैसे है, का उत्तर अभी बाकी ही है और प्रयाणकाल में परमात्मा के साक्षात्कार का उपाय भी अभी तक नहीं बताया गया है। इनमें प्रयाणकाल वाले प्रश्न का उत्तर आगे के आठवें श्लोक से शुरू हो के तेरहवें श्लोक में पूरा हुआ है। बात बहुत बड़ी है। वह केवल जानने की ही चीज न हो के करने या अनुष्ठान की वस्तु है। इसीलिए उसकी रीति बताने में कुछ विस्तार करना ही पड़ा है। रह गये बीच के 5 से 7 तक के तीन श्लोक। बस, इन्हीं में कथं या कैसे का उत्तर आया है। अर्जुन ने तर्क-दलील पूछी थी। इसीलिए कृष्ण को युक्तियाँ देनी पड़ीं। फिर तो उत्तर लम्बा होना ही था। उत्तर का निचोड़ यही है कि मनुष्य जब अन्त समय में मुझी को स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है तभी मुक्ति पाता है, तो फिर अधियज्ञ इस देह में नहीं तो और कहाँ है? अन्तकाल में बाहर तो जाना-आना हो सकता नहीं। अन्त में जिस चीज में मन टिकता है मरने के बाद वही बनना पड़ता है यह भी नियम है। इसलिए मरण के समय मुझ में ही मन को टिकाना जरूरी हो जाता है। नहीं तो सब किये-कराये पर पानी जो फिर जायेगा। परन्तु यह तो हो सकता नहीं, यदि यज्ञपुरुष या परमात्मा कहीं बाहर हो। इसलिए मानना पड़ता है कि शरीर के भीतर ही यज्ञपुरुष या अधियज्ञ के रूप में परमात्मा मौजूद है, जिससे उसमें मन आसानी से जोड़ा जा सकता है। जो लोग यह मानने को तैयार न हों उन्हें तो यह स्वीकार करना ही होगा कि आत्मज्ञानी मरने के समय यज्ञचक्र को छोड़ देने से पापी और इन्द्रियों का पोषक हो गया। इसीलिए उसका जीवन व्यर्थ गया, 'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति' (3।16)। हमारा मतलब उन लोगों से ही यहाँ है जिनके आत्मज्ञान का पूर्ण परिपाक मरण के पूर्व नहीं हो सका है, जिनमें मस्ती नहीं आई। क्योंकि वैसे मस्तों के लिए तो कोई कर्त्तव्य रही नहीं जाता है।

यह भी बात है कि व्यष्टि और समष्टि या पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में ही

हर चीज को देखते तथा मानते हैं। 'द्वाविमो पुरुषौ' (15।16) के अनुसार पुरुष तो शरीर में हई तथा अध्यात्म और अधिभूत भी। सिर्फ अधियज्ञ का पता लगना बाकी है। और वही पूछा भी गया है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।5।।
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।6।।

हे कौन्तेय, अन्तकाल में—मरने के समय—शरीर त्यागते हुए मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़ के जो प्रयाण करता है—मर जाता है—वह मेरा ही स्वरूप हो जाता है; इसमें संशय नहीं है। (क्योंकि) शरीरान्त के समय जिसी-जिसी पदार्थ को स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है—कारण हमेशा उसी पदार्थ की भावना उसके भीतर रही है—उसी-उसी का रूप बन जाता है। 5।6।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।7।।

इसलिए हर समय मुझी को लगातार याद करो और लड़ते भी रहो। (इस तरह) मुझमें ही मन और बुद्धि को लिपटा देने पर निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होंगे।7।

इन तीन श्लोकों में जो सिद्धान्त बताया गया है कि अन्त समय में मन जिसमें जम जाता है, फलतः जिसकी स्मृति प्रबल हो उठती है, मरने के बाद आत्मा को वैसा ही शरीर मिलता है, यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त है। लेकिन यह बात यों ही अकस्मात् नहीं हो जाती। मरने के समय कथावार्त्ता सुन-सुना के ही जो लोग काम निकालना चाहते हैं वह भूलते हैं। इसीलिए तो गीता ने 'सदा तद्भावभावितः' और 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' कह दिया है। जिस बात का निरन्तर अभ्यास किया है, जिसकी भावना प्रबल है, जिसमें मन और बुद्धि दोनों ही को लगा दिया है, या यों कहिए कि इन दोनों को जिसके हवाले कर दिया है, उसी की प्रबल स्मृति अन्तकाल में होगी और मरने पर वही पदार्थ, स्थान या शरीर प्राप्त होगा। आगे के (8-13) श्लोकों में भी यही बात विस्तार के साथ कही गयी है। 'प्रयाणकाले' प्रश्न का उत्तर भी इन्हीं में है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।8।।

हे पार्थ, (इसीलिए) अभ्यास रूपी उपाय से एकाग्र तथा अन्य किसी भी पदार्थ में जा नहीं सकने वाले मन से दिव्य परमपुरुष—पुरुषोत्तम परमात्मा—का निरन्तर चिन्तन करता हुआ (मनुष्य) उसी को प्राप्त करता है।8।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयां समनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।9।।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।। 10।।

जो (आदमी) प्रयाण–मरण–काल में योग के बल से भौंहों के मध्य में प्राण को दृढ़ता से टिका के भक्तियुक्त एकाग्र मन से दूरदर्शी–सर्वज्ञ–पुरातन, अनुशासन करने वाले, परमाणु से भी परमाणु–अत्यन्त–सूक्ष्म–सब पदार्थों के आधार, अचिन्तनीय स्वरूपवाले, सूर्य सदृश प्रकाशमान और अज्ञान से दूर रहने वाले दिव्य परम पुरुष को निरन्तर याद करता है वह उसी को प्राप्त होता है। 9। 10।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।। 11।।

वेदों के ज्ञाता जिसे अक्षर–अविनाशी–कहते हैं, रागद्वेषादि से रहित संन्यासी जिस रूप में मिल जाते हैं (और) जिसकी (प्राप्ति की) इच्छा वाले (आजन्म) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उसी पद (की प्राप्ति कैसे होती है यह बात) तुम्हें संक्षेप में अभी बताता हूँ। 11।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। 12।
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहारन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। 13।।

सभी (इन्द्रियों के) छिद्रों को रोक के, मन को हृदय में ही अँटका के और अपने प्राणों को मस्तक में ले जा के योग की धारणा में लगा हुआ जो (आदमी) ओंकार रूपी एकाक्षर ब्रह्म का (मन से ही) उच्चारण करता और मुझ परमात्मा को ही निरन्तर याद करता हुआ शरीर छोड़ के प्रयाण करता है। वही परमगति–मुक्ति–प्राप्त करता है। 12। 13।

यहाँ इन चार श्लोकों के बारे में कुछ बातें जानने योग्य हैं। पहली बात यह है कि यहाँ योगबल का अर्थ पातंजल योग ही है, जिसमें प्रधानरूप से प्राणायाम आ जाता है। इसीलिए योगधारणा का भी उल्लेख है। योग के आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि में सातवाँ अंग धारणा है, जैसा कि "यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधयोऽष्टावंगानि" (पातं. 2। 29) से स्पष्ट है। इसके बिना मरणकाल में यह बात असम्भव है।

दूसरी बात यह है कि 10वें श्लोक में जो भौंहों के बीच में प्राण को टिकाने की बात कही गयी है वह आगे 12वें श्लोक में लिखी धारणा की पहली सीढ़ी है। योगियों ने प्राण के टिकाने के कई अड्डे माने हैं जिनसे घूमता हुआ वह अन्त में मस्तक में पहुँच के वहीं रुक जाता है। इस तरह समाधि पूर्ण हो जाती है। इन्हीं अड्डों को वे लोग चक्र कहते हैं। नाभि से ही प्राण को ऊपर ले चलते हैं। प्राण का सनातन अड्डा नाभि को ही मानते हैं। इसी से इसे मूलाधार चक्र भी कहते

हैं। यहाँ से आखिरी स्थान मस्तक या ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचने के पहले और भी चार स्थानों से उसे गुजरना होता है। इन चारों में आखिरी स्थान भौंहों के बीच है। अभ्यास की पुष्टि के ही लिए यह एक तरह की कसरत ही समझिये। यहीं से ब्रह्मरंध्र में जाके काम पूरा होता है। यही कारण है कि भौंहों की बात कह के आगे की बात कहने से पूर्व 11वें श्लोक में सजग कर दिया है कि लो, उसे भी सुनाये देता हूँ। असल में वह सूक्ष्म और कठिन बात है। इसीलिए सजग कर दिया है। यहाँ 'प्रवक्ष्ये' का भी वही अर्थ है जो सातवें अध्याय में कहा है। यानी अभी कहे देता हूँ। न कि भविष्यकाल इसके मानी हैं।

जो लोग दसवें श्लोक की बात से बारहवें वाली को स्वतन्त्र मानते हैं वह दरअसल यह चीज जानते ही नहीं। ये दोनों ही एक दूसरे से मिली-जुली आगे-पीछे की सीढ़ियाँ हैं। इसीलिए 11वें में पद का अर्थ ॐकार अक्षर या पद करना भी ठीक नहीं है। अक्षर ब्रह्म तो इस अध्याय के शुरू में ही आया है। आगे जो ॐकार के उच्चारण की बात कही गयी है उससे लोगों को कुछ भ्रम हो जाता है जरूर। मगर वहाँ भी समझने की बात है। एक तो यही बात बुद्धि में नहीं समाती कि प्रयाणकाल में ॐकार का जबान से उच्चारण कैसे होगा। उस समय यह शक्ति रहती ही है कहाँ? यदि शक्ति रहे भी तो दूसरी बात यह है कि जब प्राण को भौंहों के बीच दृढ़ता से टिकाने के बाद ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा देते हैं, धारणा या समाधि की दशा में मन को भी वहीं टिकाए अचल रखते हैं और इसी के लिए इन्द्रियों के सभी द्वार बन्द कर दिये जाते हैं, तो फिर जबान हिलेगी कैसे? इसीलिए वहाँ बात ही दूसरी है।

दरअसल बात यों है कि योगियों का यह कहना है कि मूर्द्धा या ब्रह्मरन्ध्र में निरन्तर ओं ओं की गम्भीर ध्वनि होती रहती ही है। किन्तु हम लोग उसे सुन पाते नहीं। कान मूँदने पर घर्र-घर्र की जो आवाज मालूम होती है वह उसी का विकृतरूप माना जाता है। हाँ, प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा के समाधि करने पर वह अखण्ड ॐकारनाद सुनाई पड़ता रहता है। यही उसका उच्चारण है। उच्चारण तीन प्रकार का माना भी जाता है—बोल के, केवल जबान हिला के और केवल मन से। सो वहाँ मानसिक ही है। मन वहीं एकाग्र है और वह नाद उसी को सुनाई देता है। इतने से ही उसे मानसिक उच्चारण कहते हैं। योगी यह भी मानते हैं कि वह नाद इतना मधुर है कि मन और प्राण दोनों ही उसी में भूल जाते हैं, लुब्ध हो जाते, रम जाते हैं। उस ॐकार को ब्रह्म का प्रतीक या सूचक मान के उसे तथा ब्रह्म को एक भी कह देते हैं, जैसा कि विष्णु के प्रतीक शालिग्राम को ही विष्णु कह देते हैं।

लेकिन ये सारे काम उन्हीं के लिए हैं जिनके ज्ञान का परिपाक नहीं हुआ है। फलतः जिन्हें मस्ती नहीं आयी है। क्योंकि जब तक कोर-कसर न रहे यह प्रपंच करने की जरूरत ही क्या है? इसीलिए पूर्ण ज्ञान और आत्म-साक्षात्कार वाले को यह सब नहीं करना होता है। यही बात आगे के श्लोक में यों लिखी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। 14।।

हे पार्थ, अनन्य चित्त से—मन को अन्य पदार्थों में जाने न देकर—जो मुझ परमात्मा को नित्य ही याद करता है उस सदा योगारूढ़ योगी के लिए तो मैं सुलभ ही हूँ। 14।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।। 15।।

परम संसिद्धि—जीवन्मुक्ति—की दशावाले महात्मा जन मुझ परमात्मा का ही रूप हो के दुःख के घर (और) बार-बार होने वाले (इस) पुनर्जन्म से रहित हो जाते हैं। 15।

आब्रह्मभुवनाल्लो काः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। 16।।

हे अर्जुन, हे कौन्तेय, ब्रह्मलोक तक के सभी स्थानों से पुनः लौटना—जन्म लेना—पड़ता ही है। केवल मुझे प्राप्त होने पर ही पुनर्जन्म नहीं होता। 16।

यहाँ यह न भूलना चाहिए कि गीता में जो बार-बार स्मरण या याद करने की बात आती रहती है और भक्ति की भी, वह माला जपने और नाचने-कूदनेवाली नहीं है। ज्ञानी को भी भक्त ही कहा है और वही सर्वोत्तम है। मगर वह तो नाचता-कूदता नहीं। भक्ति का तो अर्थ ही है समाधि या मन को आत्मा में ही डुबो देना, टिका देना। इसीलिए स्मरण का भी अर्थ है तदाकार वृत्ति या मन के सामने आत्मा के अलावे और किसी का न होना ही।

यहाँ जो कह दिया कि ब्रह्मलोक तक भी जा के वापस आना और जन्म लेना पड़ता है वह कुछ नयी-सी बात हो गयी। क्योंकि साधारणतया यही माना जाता है कि ब्रह्मलोक जाने वाले मुक्त हो जाते हैं। इसीलिए अब जरूरत पड़ गयी कि जरा विस्तार से यह बात समझा दी जाय। फलतः खुद ब्रह्मा की भी आयु की ओर इशारा करते हुए इस बात का स्पष्टीकरण आगे के तीन श्लोक करते हैं। ब्रह्म को ही हिरण्यगर्भ और प्रजापति भी कहते हैं। यहाँ अव्यक्त शब्द आया है, जो ब्रह्मा की ही नींद की अवस्था के अर्थ में है—अर्थात् जब ब्रह्मा कुछ करते दीखते नहीं। जो लोग अव्यक्त का यहाँ प्रकृति या प्रधान अर्थ करते हैं वह भूल जाते हैं कि रोज-रोज के प्रलय में आकाशादि महाभूत, महान् तथा अहंकार तो रहते ही हैं। महान् इसी ब्रह्मा का ही दूसरा नाम है। अव्यक्त का अर्थ है जो दीखे नहीं। इसी तरह अदृश्य बह्म की वह निद्रावस्था, प्रधान या प्रकृति और स्वयं अविनाशी ब्रह्म तीनों ही अव्यक्त कहे जाते हैं। आगे के श्लोक यह बात स्पष्ट दिखाते हैं कि ब्रह्मा का तो यह टकसाल ही है। दिन भर कुम्हार के बर्त्तनों की तरह सृष्टि बनाना और रात में उसका खात्मा हो जाने पर पुनः प्रातः वही काम करना। ब्रह्मा के दिन-रात बड़े हैं यह भी बताया है। यह ठीक है कि यहाँ ब्रह्मा की मृत्यु की बात नहीं कही गयी है और न ब्रह्मलोक

से लौटने की ही। मगर जब उनकी भी दिन-रात है तो इसका अभिप्राय अर्थतः वही है। आखिर दिन-रात तो काम ही है आयु का हिसाब लगाना-बताना, और जब आयु पूरी होगी तो ब्रह्मलोक से हटना तो होगा ही। यह हटना ही हुआ वहाँ से लौटना। क्योंकि ब्रह्मा को फिर शरीर नहीं मिलता। आयु के अन्त में ज्ञान के द्वारा वह मुक्त हो जाते हैं और उन्हीं के साथ दूसरे भी, जो वहाँ रहते हैं। यह बात आगे 'यत्रकालेत्वनावृत्तिं' (8। 23-26) आदि चार श्लोकों में लिखी है। फिर नये ब्रह्मा आते और नया कारबार चलता है। ब्रह्मा की आयु पूरा होने को महाप्रलय और रोज-रोज रात में उनके सोने को खण्ड प्रलय कहते हैं। कहा जाता है, इस तरह पूरे सौ साल तक ब्रह्मा भी कायम रहते हैं। तब कहीं जा के मुक्त होते हैं। इस प्रकार ब्रह्म लोक में जाने पर तत्काल मुक्ति न हो के देर से होती है। इस देर के करते ही उसे लौटना मानते हैं। लौटने में भी तो आखिर देर ही होती है न?

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।। 17।।

ब्रह्मा की दिन-रात (का हिसाब) जानने वाले जानते हैं कि (सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि इन चार) युगों के हजार बार गुजरने पर ब्रह्मा का एक दिन और उतने ही की रात होती है। 17।

यहाँ 'तेऽहोरात्रविदः' में 'ते' का 'वे' अर्थ नहीं है। यह तो यों ही आ गया है। जब किसी खास व्यक्ति को न कह के अनिश्चित रूप से कहते हैं तभी ऐसा बोलते हैं। अंग्रेजी में भी 'दे से' (they say) बोलते हैं 'ऐसा कहते हैं' इसी अर्थ में।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।। 18।।
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवन्त्यहरागमे।। 19।।

दिन आते ही—शुरू होते ही—अव्यक्त—ब्रह्मा की निद्रावस्था—से ही सारे व्यक्त पदार्थ पैदा होते हैं। रात आने पर फिर उसी अव्यक्त नामक दशा में विलीन हो जाते हैं। हे पार्थ, भौतिक पदार्थों का यह वही समूह बार-बार पैदा हो के रात आते ही मजबूरन नष्ट हो जाता और दिन आते ही फिर बन जाता है। 18। 19।

पहले भी 'अव्यक्तादीनि' (2। 28) में यही बात कही जा चुकी है। यहाँ भी वही आशय है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।। 20।।

उस अव्यक्त या स्वापावस्था वाले ब्रह्मा से भी परे—बढ़कर—जो अव्यक्त है वही सभी पदार्थों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है। 20।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।।21।।

इसी (दूसरे) अव्यक्त को ही अक्षर या अविनाशी कहा गया है। वही परम गति (भी) है, जिससे प्राप्त हो जाने पर लौटना नहीं होता। वही मेरा परम धाम (भी) है।21।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।22।।

हे पार्थ, जिसके ही भीतर ये सभी पदार्थ मौजूद हैं और जो इन सबों में व्याप्त है वह परम पुरुष केवल अनन्य भक्ति के द्वारा प्राप्त हो सकता है।22।

यहाँ पर हम यदि गौर से देखें तो पता चलेगा कि ब्रह्मलोक से लौटने की जो बात चली थी उसी के प्रसंग में पुनरपि निर्वाण मुक्ति की बात तीन (20-22) श्लोकों में कह दी गयी है। ताकि लोग दोनों का आमने-सामने मुकाबिला करके देखें कि कौन सी चीज अच्छी है—आया ब्रह्मलोक का मार्ग पकड़ के वहाँ जाना और लम्बी प्रतीक्षा के बाद ब्रह्मा के साथ मुक्त होना, जो वस्तुगत्या पुनर्जन्म के बाद मुक्त होने के समान ही है, या आत्मसाक्षात्कार के द्वारा तत्काल मुक्त होना, जिसमें यह आना-जाना और लम्बी प्रतीक्षा की गुंजाइश नहीं है।

इसलिए फिर उसी ब्रह्मलोक वाली बात पर ही आ के उसके सम्बन्ध की शेष बातें आगे के श्लोकों में बताते और अध्याय का उपसंहार करते हैं। यहाँ पर अब तक जो कुछ गीता के श्लोकों में कहा गया है उससे तो यही पता चलता है कि ब्रह्मलोक में भी जा के लोग वापस ही आते हैं, जन्म लेते हैं। मगर परम्परा से जो बात मानी जाती है उसके साथ इस कथन का कुछ विरोध हो जाता है। माना तो यही जाता है कि स्वर्गादि लोकों में जा के वहाँ से वापस आना और जन्म लेना पड़ता है। गीता में भी 'त्रैविद्या मां सोमपाः' (9।20-21।12) आदि दो श्लोकों में यही माना गया है। विपरीत इसके ब्रह्मलोक के बारे में कुछ और ही धारणा पायी जाती है। ऐसा माना जाता है कि वहाँ बड़े-बड़े तपस्वी, उपासक आदि ही जाते हैं, जिनका ज्ञान पूर्णतया परिपक्व नहीं हुआ रहता है। छान्दोग्य, वृहदारण्यक प्रभृति उपनिषदों में जो पंचाग्नि विद्या का प्रकरण है, जिसका विचार हम पहले कर भी चुके हैं, उसमें भी यही लिखा है कि ऐसे लोगों को कोई मानस या अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में ले जाता है, जहाँ से वे फिर वापस नहीं आते, "पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकानृगमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः" (वृह. 6।2।15)। इस प्रकार पुरानी परम्परा एवं उपनिषदों के साथ गीता का साफ ही विरोध हो जाता है।

इसीलिए पूर्व कथन का स्पष्टीकरण करते हुए यही बात आगे के श्लोक स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि ब्रह्मलोक जा के मुक्त होने में देर होती है और लम्बा रास्ता तय करना पड़ता है। इसीलिए उसे साक्षात् मुक्ति न मान के क्रम-मुक्ति कहते

हैं। क्रमशः अर्थात् देर से मुक्ति होती जो है। यही आशय है वहाँ से लौटने की बात कहने का भी। आगे जो उत्तरायण-दक्षिणायन या शुक्ल-कृष्ण मार्ग कहे गये हैं उनका पूरा विवरण कर्मवाद के विवेचन में दिया जा चुका है। श्लोकों का अर्थ भी वहीं समझाया गया है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।। 23।।

हे भरतर्षभ, योगीजन जिस काल में मरने पर—प्रयाण करने पर—नहीं लौटते और लौटते भी हैं वह काल अभी बताए देता हूँ। 23।

यहाँ भी वक्ष्यामि का अर्थ पहले जैसा ही है, न कि भविष्यकाल।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लःषण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।। 24।।

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीने, इनमें प्रयाण करने वाले ब्रह्म के उपासक जन (क्रमशः) ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। 24।

यहाँ 'ब्रह्मविदः' का अर्थ ब्रह्मज्ञानी न होके बह्म के उपासक और अपूर्ण ज्ञानी ही है। इसीलिए ब्रह्म की प्राप्ति में क्रमशः लिख दिया है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते।। 25।।

धूम, रात, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः महीने, इनमें प्रयाण करने वाला योगी चन्द्रमा की ज्योति तक पहुँच के वापस आता है। 25।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः।। 26।।

इस प्रकार जगत् के ये शुक्ल-कृष्ण मार्ग चिरन्तन माने जाते हैं। (इनमें) एक से (जाने पर) आना-जाना पुनः नहीं होता है। (मगर) दूसरे से होता है। 26।

इन श्लोकों में योगी उसे कहते हैं जो पूर्ण तत्त्वज्ञानी न हो और या तो कर्ममार्ग में ही दत्तचित्त हो या उससे आगे बढ़ के ज्ञान की ओर झुका हो एवं तदनुकूल ही उपाय करता हो। ये दोनों रास्ते चिरन्तन हैं। सृष्टि के साथ ही इनका ताल्लुक है यह बात बखूबी बता चुके हैं।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।। 27।।

वेदेषु यज्ञेषु तपः सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।। 28।।

हे पार्थ, जो कोई भी योगी इन मार्गों को भीतरी दृष्टि से देख लेता है वह (कभी फिर) मोह में नहीं फँसता। इसीलिए हे अर्जुन, तुम हमेशा ही योगयुक्त हो जाओ। (क्योंकि) वेदों (के पढ़ने), यज्ञों (के करने), तपस्याओं और दानों के जितने

उत्तम फल कहे गये हैं, उन सबों से बढ़कर फल इस बात के पूर्ण जानकार योगी को मिलता है। (वह तो) मूल—लक्ष्य—स्थान पर ही पहुँच जाता है। 27।28।

इन श्लोकों के योगयुक्त, विदित्वा, जानन् आदि शब्दों के अर्थों पर गौर करने से योगी का अर्थ है पूर्ण आत्मज्ञानी और आत्मसाक्षात्कार वाला मस्तराम। जिसे ऐसा ज्ञान हो जाता है वही तो हस्तामलक की तरह इन सभी मार्गों को रत्ती-रत्ती देखता है। उसकी दृष्टि के सामने ये सारी चीजें झलक जाती हैं। भीतर ही भीतर हँसता हुआ वह यह भी सोचता है कि हमने यह क्या पँवारा फैला दिया है। हम तो मकड़ी या रेशम के कीड़े की ही तरह अपने ही बनाये तार में खुद-ब-खुद अब तक फँसे छटपटा रहे थे!

पोथी-पत्रा पढ़ के या दूसरों से सुन के जो भी जानकारी इन मार्गों की होती है उससे यहाँ तात्पर्य हई नहीं। क्योंकि उस जानकारी से मूल स्थान या परब्रह्म की प्राप्ति कैसे होगी? ऐसा जानने वाला मोह से छुटकारा कैसे पा जायेगा? अगर क्रममुक्ति ही इसका भी मतलब माना जाये तो वह तो कही जा चुकी ही है। फिर दुहराने का क्या प्रयोजन? उसमें मोह की निवृत्ति का भी क्या सवाल? जब पहले मोह से छुटकारे की बात नहीं कही गयी जब कि उसका पूरा निरूपण किया गया है, तो यहाँ कहने का क्या अवसर ? इसके अलावे हमेशा योगयुक्त होने का भी तो उपदेश यहाँ दिया गया है। ठीक इसी प्रकार 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु' (8।7) में भी आया है और वहाँ तो निर्विवाद रूप से मन को आत्मा में ही लीन करने की बात है, जिसका अर्थ आत्मसाक्षात्कार ही है। इसीलिए यहाँ भी वही अर्थ उचित है।

अन्तिम श्लोक में वेदेषु प्रभृति शब्दों का अर्थ वेदों का पढ़ना आदि मान के हमने वैसा ही लिखा है। केवल वेदों से तो कोई पुण्य होता नहीं, जब तक उन्हें पढ़ा न जाय। नहीं तो कोई उन्हें पढ़ेगा क्यों? वेद तो हईं और सभी लोगों को महान् पुण्य यों ही मिल जायगा!

इस अध्याय का श्रीगणेश ही हुआ है सातवें अध्याय के अन्त की बात को लेकर। वह बात ब्रह्म से ही शुरू होकर कइयों को शामिल कर लेती है। उसी ब्रह्म को अक्षर भी कहा है। समूचे अध्याय में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अक्षर ब्रह्म का ही निरूपण है। उसी के ज्ञान का अन्त में उपसंहार भी है। अतएव ठीक ही अक्षर ब्रह्म ही इस अध्याय का विषय है। उसी अक्षर ब्रह्म को तारक ब्रह्म भी कहते हैं। तारने से ही तारक कहा जाता है।

इति श्री. अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः।।8।।

श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में. जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका अक्षर ब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय यही है।

नौवाँ अध्याय

सातवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान का निरूपण शुरू करके जिन पंचभूत आदि का उल्लेख किया था उन्हीं को अध्यात्म, अधिभूतादि के रूप में कह के उस अध्याय का उपसंहार किया गया है। यों कहिए कि अध्यात्म आदि के रूप में हजारों पदार्थों में से कुछ एक को ही नमूने के तौर पर वहाँ दिया गया है। शेष का अन्वेषण विचार एवं मनन करने वाले उसी तरह कर सकते हैं। इसी सिलसिले में अर्जुन ने अध्यात्म आदि के बारे में शंका उठा दी कि यह क्या चीजें हैं और शरीर में इनका पता है या नहीं? उसी के उत्तर में समूचा आठवाँ अध्याय पूरा हो गया। इससे अर्जुन को सन्तोष भी हो गया कि दरअसल बात है क्या।

ऐसी दशा में आठवें अध्याय के बाद हम फिर सातवें अध्याय के ही मुख्य विषय ज्ञान-विज्ञान पर स्वभावतः पहुँच जाते हैं। क्योंकि प्रासंगिक बात पूरी हो जाने पर मूल विषय का मौका खुद-ब-खुद आ जाता है। यही कारण है कि नौवाँ अध्याय इसी बात को ले के ही शुरू होता है। फलतः उसके पहले ही श्लोक में ज्ञान-विज्ञान पुनरपि आ गया है। शायद उसका महत्त्व अर्जुन के दिमाग में अच्छी तरह न आया हो। एतएव इस सम्बन्ध में बहुत ज्यादा माथा-पच्ची करना भी वह पसन्द न करे। इसी वजह से इसी ज्ञान-विज्ञान को राजविद्या और राजगुह्य नाम दे के इसकी महत्ता दिखानी पड़ी। विद्याओं के राजा को राजविद्या और गुह्यों या गोपनीय (secret) पदार्थों के राजा को राजगुह्य कहते हैं। राजा का अर्थ है सरदार या शिरोमणि। इसका मतलब यह है कि जितनी भी गुप्त से गुप्त बातें जानी जा सकती हैं उन सबों की अपेक्षा यह चीज कहीं महत्त्व रखती है। इसीलिए इसकी जानकारी सबों से बढ़ के जरूरी है। यदि इस अध्याय का विषय राजविद्या-राजगुह्य बताया गया है तो इसका यह आशय कदापि नहीं है कि यह कोई और ही चीज है। यह तो उसी ज्ञान-विज्ञान का ही दूसरा नाम है। यह नाम उसी चीज की महत्ता के पहलू पर जोर देने के ही लिए उसे दिया गया है, यह तो अभी-अभी कहा है। नामान्तर और प्रकारान्तर से एक ही बात का प्रतिपादन उसमें सरसता लाने के साथ ही आकर्षक भी होता है।

अगर हम इसमें प्रतिपादित विषय की जानकारी के लिए खास तौर से नजर

डालें कि कौन-सी बात कब और कैसे कही जा रही है तो पता चलेगा कि शुरू के तीन श्लोक तो भूमिका के ही रूप में हैं। वे इसी बात को दिल में बैठा देने के लिए हैं कि इसका बार-बार विमर्श और मनन अत्यन्त आवश्यक है। उसके बाद के तीन (4-6) श्लोकों को भी देखने से पता लग जाता है कि वे सातवें अध्याय के शुरू के दो (6-7) श्लोकों के ही स्थान में आये हैं। फलतः इनमें कुछ तो वही बातें ज्यों की त्यों हैं और कुछ उन्हीं का विवरण एवं स्पष्टीकरण है। उनके बाद के आठ (7-15) श्लोकों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि वे भी एक प्रकार से सातवें अध्याय के ही सात (13-19) श्लोकों के रूपान्तर हैं। प्रायः वही बातें इनमें प्रकारान्तर से कही गयी हैं। इसी प्रकार 20वें से 25वें तक के छः श्लोक भी सातवें के 20वें से 26वें तक के सात श्लोकों के ही रूपान्तर हैं और यह बात बहुत साफ है। इसी तरह और भी बची-बचाई बातें मिलती-जुलती हैं; हालाँकि कहने और प्रतिपादन की रीति नयी है, विलक्षण है और यही इसकी खूबी है। मनन में इसी की जरूरत होती भी है।

अब आइए जरा विज्ञान के मुख्य विषय को भी देखें। सृष्टि के विभिन्न पदार्थों को ले के उनका विश्लेषण करना और इस प्रकार उन्हें आत्मा-परमात्मा का रूप सिद्ध करना यही तो मुख्य बात है। सातवें अध्याय के शुरू में यही आयी है भी। नौवें अध्याय के चार (16-19) श्लोकों में यह बात पायी जाती है। सातवें अध्याय के पाँच (8-12) श्लोकों में भी इसी तरह की बात आयी है। उस अध्याय के 'अहं कृत्स्नस्य जगतः'' (7।6) तथा 'ये चैव सात्त्विकाः' (7।12) के ही स्थान पर 'गतिर्भर्ता' (9।18,19) आदि दो श्लोक प्रतीत होते हैं। इनमें कुछ ज्यादा ब्योरा भी नहीं मिलता है, सिवाय इसके कि उन्नीसवें के पूर्वार्द्ध में सूर्य की बात 'तपामि'—तपता हूँ—कहने से प्रतीत होती है। शेष श्लोकों में अधिकांश वेद के ही क्रतु, यज्ञ, मन्त्र आदि तथा ऋक्, साम, यजुः मन्त्रों को ही कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवें अध्याय के पृथ्वी आदि सभी पदार्थों को तो अध्यात्म, अधिभूतादि के रूप में उसी अध्याय में और आठवें में भी ले लिया है। वहीं उस पर प्रकाश भी काफी डाला है। उसका केवल 'प्रणवः सर्ववेदेषु' (7।8) बच गया है जरूर। इसीलिए उसी का विशेष विवरण और विश्लेषण इस अध्याय में करके उस बात को अच्छी तरह समझाया है। ऐसा लगता है कि 'प्रणवः सर्ववेदेषु' सूत्र है। वेद तो आखिर शब्द ही है न? और शब्द के बिना अर्थ का पता नहीं लगता। फलतः शब्द अर्थ में व्याप्त है। यहाँ तीसरे श्लोक में उसी व्यापक वस्तु का उल्लेख है, न कि दूसरे का। अतः उससे ही शुरू करने का मतलब यही प्रतीत होता है। इसी के साथ यज्ञों पर भी कुछ विशेष प्रकाश दूसरे रूप में इसी अध्याय में पड़ गया है, जब कि 'त्रैविद्या मां' में यज्ञों के स्वर्गादि फलों के साथ ही और बातें भी कही गयी हैं। यह पहलू पहले उठाया नहीं गया था। फिर

भी अधियज्ञ करने से बात तो दिमाग में थी ही। नहीं सब बातों का खयाल करके—

श्रीभगवानुवाच

इदं तु गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।1।।

श्रीभगवान् कहने लगे—दोष दृष्टि तथा निन्दा बुद्धि से रहित तुम्हें अत्यन्त गोपनीय ज्ञान-विज्ञान अभी और भी बताता हूँ। इसे जान के बुराई से छुटकारा पा जाओगे। 1।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्।2।।
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।3।।

यह सभी विद्याओं एवं गोपनीय वस्तुओं का राजा है, पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभव योग्य है, धर्म के अनुकूल है, अविनाशी है (और) आसानी से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। 2। हे परंतप, इस धर्मयुक्त बात में श्रद्धा नहीं रखने वाले मनुष्य मुझ तक पहुँच न सकने के कारण जन्म-मरण रूपी संसार में निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं। 3।

यहाँ 'प्रत्यक्षावगमं' और 'कर्त्तुं सुसुखं' विशेषण बड़े काम के हैं। पहला विशेषण तो विज्ञान के अत्यन्त अनुकूल है। विज्ञान की बातें जब तक प्रत्यक्ष न हों उनकी कोई कीमत होती ही नहीं और यह उसी प्रत्यक्ष की तैयारी ठहरी। इसी तरह 'कर्त्तुं सुसुखं' के मानी हैं जो आसानी से किया जा सके, समझा जा सके। उसमें दुविधे की गुंजाइश नहीं है। वह तो हीरे की तरह चमकने वाली प्रत्यक्ष चीज है। इसीलिए उसकी पहचान स्वर्गादि पदार्थों की अपेक्षा कहीं आसान है। जब तक उसे जान पाते नहीं तभी तक दिक्कत है। जानते ही सारी परेशानी चली जाती है। तेज धारा वाली नदी के पार दस साथी उतरे। फिर इस खयाल से कि कहीं तैरने में कोई बह तो नहीं गया, गिनती करने लगे। नतीजा यह हुआ कि पहली गिनती में एक की कमी प्रतीत हुई ! घबरा के दूसरे, तीसरे आदि सभी ने गिना और सबों ने नौ ही संख्या पायी! अब तो आफत थी! छाती पीट के लगे सभी रोने कि दसवाँ गायब है, अब क्या करें! सुनते ही कुछ लोग दौड़ आये और पूछा तो पता लगा कि इनका दसवाँ साथी ही बह गया! पूछने वालों में जब एक ने गिना तो दस-के दस ठहरे! इस पर उनने उनमें एक से कहा कि गिनो तो, कहाँ दसवाँ गायब है? उसने एक-एक करके नौ को गिना और अपने को न गिन के चट कहा कि देखिए न, नौ ही तो हैं। इस पर पूछने वाले ने कहा कि तू अपने को तो गिनता ही नहीं! बस, सबों की आँखें खुल गयीं! दसवाँ तो हरेक खुद था और इतना नजदीक था कि कुछ पूछिए मत।

मगर दूर से भी दूर हो गया था! किन्तु चतुर उपदेशक के बताते ही फिर ऐसा निकट, ऐसी पहुँच के भीतर हो गया कि वैसा कोई भी नहीं रहा! यही बात यहाँ भी है। भूला हुआ अर्जुन कृष्ण के उपदेश से आसानी से अपने आपको समझेगा। स्वर्ग-नरक को क्या इतना जल्द देख सकते हैं? क्या खेती या रोजगार में भी इतनी शीघ्र सफलता हो सकती है?

जो लोग 'आचरण करने में सुखकारक' ऐसा अर्थ इस 'सुसुखं कर्तुं' का करते हैं वे या तो संस्कृत समझते ही नहीं, या नाहक खींचतान करते हैं। वैसे अर्थ में ऐसा प्रयोग संस्कृत के विद्वान् कभी नहीं करते, उनसे मेरा यही नम्र निवेदन है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।4।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।5।।
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भू तानि मत्स्थानीत्युपधारय।।6।।

मुझ अव्यक्त—अदृश्य—मूर्ति ने ही समूचे जगत् को व्याप्त कर रखा है। सभी पदार्थ मुझी में हैं, मैं उनमें (हर्गिज) नहीं हूँ। (लेकिन) मेरा ईश्वरी करिश्मा तो देखो कि ये पदार्थ मुझमें (वस्तुतः) हैं भी नहीं! सभी पदार्थों को कायम रखने वाली मेरी आत्मा पदार्थों का भरण-पोषण भी करती है। (और) उनमें रहती ही नहीं! जिस तरह सभी जगह फैली विस्तृत हवा हमेशा आकाश में ही रहती है उसी प्रकार सभी पदार्थ मुझमें हैं यही समझो। 4। 5। 6।

इन तीन श्लोकों में जगत् के विस्तार के निरूपण की भूमिका का श्रीगणेश होता है, जैसा कि सातवें अध्याय के भी शुरू के सात श्लोकों में पाया जाता है। वहाँ भी आठवें श्लोक से विस्तृत निरूपण शुरू होता है। इनमें आखिरी श्लोक में जो दृष्टान्त दिया है उसका आशय यह है कि वायु की उत्पत्ति आकाश से ही मानते हैं। इसलिए आकाश में ही हवा रहती भी है। ऐसा ही कहते भी हैं कि आकाश में हवा है या हई नहीं, आदि-आदि। वह हवा विस्तृत है और चारों ओर फैली है। उसे कोई रोक नहीं है और न उसके फैलने या चलने से आकाश का कुछ भी बिगड़ता-बनता है। पदार्थों की भी ठीक यही दशा है। परमात्मा से ही बने और सर्वत्र फैले हैं। टूटते-फूटते भी रहते हैं और आते-जाते भी। मगर इससे परमात्मा का कोई भी बनाव-बिगाड़ नहीं है, वह निर्लेप है। असल में सूत से कपड़ा तैयार होने पर ऐसा होता है कि कपड़े के फाड़ने, जलाने या हटाने पर सूत भी टूटता, जलता या हटता है। कहीं यही बात परमात्मा में भी न हो, इसीलिए उसे निर्लेप बताना जरूरी हो गया है। सूत ने ही कपड़े को धर रखा है। उसी से वह कायम भी है। तब उसकी खराबी से सूत में भी खराबी की बात देख के परमात्मा में भी वही खयाल होना जरूरी था।

चार और पाँच श्लोकों में जो कुछ कहा है वह परस्पर विरोधी जैसा प्रतीत होता है। मगर वह विरोध हट जायगा यदि जगत् को परमात्मा में कल्पित या मायामय मान लें। जब मरुभूमि में सूर्य की किरणें बालू पर चमकती हैं तो दूर से मालूम पड़ता है कि कोई नदी या पानी की धारा मरुभूमि में बह रही है। फिर प्यासा आदमी उधर ही बढ़ता भी है। मगर वह ज्यों-ज्यों बढ़ता है धारा भी त्यों-त्यों आगे बढ़ती जाती है। वह धारा मरुभूमि में है भी और नहीं भी है। यदि उस भूमि में न होती तो वहाँ प्रतीत क्यों होती? दूसरी जगह तो नहीं दीखती है। किन्तु अगर सचमुच होती तो पहुँचने पर चाहे वह दूर भले ही चली जाती; फिर भी वह भूमि भीगी तो जरूर रहती है। लेकिन सो तो होता नहीं। पथिक चाहे कितनी ही दूर चला जाय। फिर भी मरुभूमि वही सूखी की सूखी ही मिलती है! बस, यही हालत इन पदार्थों की है। ये भी परमात्मा में मरुभूमि की धारा की ही तरह हैं, दीखते हैं। किन्तु वस्तुतः नहीं हैं।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि यदि सभी पदार्थ परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं तो उसमें रहते हैं कैसे और कहाँ? और अगर रहते हैं तो इनके करते कितना उपद्रव और तूफान होता होगा! अनन्त प्रकार की भली-बुरी चीजें हैं। फिर तो जहाँ ये रहें उसकी दुर्दशा किये बिना छोड़ेंगी थोड़े ही। यह तो दिमाग में आने की बात ही नहीं कि यों ही निर्लेप और निर्विकार छोड़ दें। यह शंका कोई नयी नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् के समूचे छठे अध्याय में आरुणि ऋषि का अपने पुत्र श्वेतकेतु के साथ वाला संवाद आत्मा के ही बारे में पाया जाता है। उसके 12वें खण्ड में श्वेतकेतु की भी ऐसी शंका के उत्तर में आरुणि ने वटवृक्ष का बीज मँगवा के फोड़ने को कहा था। फोड़ने पर पूछा कि देखो तो उसके भीतर है क्या? पुत्र ने कहा कि कुछ भी नहीं। इस पर आरुणि ने कहा कि उस बीज के भीतर जहाँ कुछ भी नहीं देखते हो वहीं बड़े से बड़ा वटवृक्ष मौजूद है। तभी तो उसी में से बाहर निकलता है। बालू के कण, चने या गेहूँ के भीतर से तो कभी वह निकलता पाया गया नहीं। यदि वटबीज में न रहने पर भी वहाँ से वह वृक्ष निकलता, तो गेहूँ, चना या बालू में भी तो नहीं ही है। फिर वहाँ से भी क्यों नहीं निकलता? अगर मानें कि उसी नन्हे से बीज में वह महान् वृक्ष मौजूद है, तो कैसे कहाँ समाया है? इतना बड़ा पेड़ उस बीज को बुरी तरह छिन्न क्यों नहीं कर छोड़ता? उसे लापता क्यों नहीं कर देता? जब इन प्रश्नों का उत्तर श्वेतकेतु दे न सका और आश्चर्यचकित हक्काबक्का सा रह गया, तो आरुणि ने कहा कि पुत्र, तर्क-दलीलों से ही सर्वत्र काम नहीं चलता। किन्तु श्रद्धा भी करनी होती है, विश्वास भी करना होता है। इसलिए श्रद्धा करो और कोरी दलील के पीछे परेशान मत हो—"यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालय से एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्वसोम्य" (6।12।2-3)।

प्रकारान्तर से गीता में इसी बात का उत्तर 'सर्वभूतानि' आदि आगे के श्लोक

देते हैं। जिसे प्रकृति कहा है उसी को दैवी माया भी तो कही दिया है। वह दिव्य एवं अलौकिक शक्ति रखती है, चमत्कार रखती है जो बुद्धि में समा न सके। पहले के श्लोक के 'योगमैश्वरम्' शब्दों में जो ईश्वरी योग या चमत्कार—करिश्मा—कहा है वह भी इस माया का ही चमत्कार है। प्रलय के समय वह अपने करिश्मे से वटबीज में वृक्ष की तरह सारे जगत् को अपने भीतर हजम कर लेती है। वहाँ तो पता भी नहीं लगता है कि किस कोने में है, या कि नहीं ही है। फिर सृष्टि के समय महान् वटवृक्ष की तरह सारे जगत् का प्रसार वही प्रकृति खुद करती है। यह बात बराबर चलती रहती है। यदि वह प्रकृति, वह ईश्वरी माया न रहती तो यह बात असम्भव थी। वट के बीज में भी उसी का करिश्मा है।

सर्वभूतानिकौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।7।।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।8।।

हे कौन्तेय, सृष्टि के नाश—प्रलय—के समय सभी पदार्थ मेरी प्रकृति में ही विलीन हो जाते हैं। फिर सृष्टि के आरम्भ में मैं उन्हें रचता हूँ। अपनी प्रकृति में का सहारा लेकर ही मैं बार-बार इस समूचे पदार्थ-समूह—जगत्—को बनाता रहता हूँ जो प्रकृति के कब्जे में आने के कारण मजबूर है (कि पैदा हो और नष्ट हो)।7।8।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।9।।
मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते।।10।।

हे धनंजय, सृष्टि-प्रलय के उन कामों में आसक्ति-शून्य और तटस्थ की तरह रहने वाले मुझको वे कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। मेरे अध्यक्ष होने (मात्र) से ही प्रकृति स्थावर-जंगम जगत् की रचना कर डालती है। इस जगत् का (इस तरह) बार-बार बनना-बिगड़ना—सृष्टि-प्रलय का यह चक्र—(भी) इसीलिए चालू रहता है।9।10।

यहाँ कल्प शब्द देखकर कुछ लोगों को भ्रम हो गया है कि आठवें अध्याय के 'अव्यक्ताद्व्यक्तयः' (8।18) में जो सृष्टि एवं प्रलय की बात आयी है उसी से यहाँ भी मतलब है; क्योंकि पौराणिक भाषा में ब्रह्मा के दिन को ही कल्प कहते हैं। मगर बात दरअसल यह नहीं है। क्लृप धातु से यह कल्प शब्द बनता है। उसका अर्थ है जो वस्तु पहले से न हो उसे तैयार करना या बनाना। यह दूसरी बात है कि यह बनाना केवल दिमागी हो, या ठोस हो या दोनों की तरह का। इस तरह इसका वही अर्थ हो जाता है जो सृष्टि, विसृष्टि आदि शब्दों का है। यह शब्द पौराणिक अर्थ में आया है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। कल्पादि का अर्थ है सृष्टि की आदि का आरम्भ। कल्पक्षय का अर्थ है उसी का प्रलय या संहार। हमने तो अभी-अभी

कहा है कि सातवें अध्याय के इसी प्रसंग में जो सृष्टि की रचना आदि कही गयी है और प्रकृति का भी उल्लेख है वही बात यहाँ भी है। यही बात तेरहवें अध्याय के क्षेत्रनिरूपण के अवसर पर 'महाभूतान्यहंकारः' (13।5) में भी कही गयी है। गीता में जब-जब भगवान् ने स्वयं सृष्टि रचना की बात कही है, तब-तब यही बात ज्यों की त्यों आती गयी है। आठवें अध्याय में तो ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि रचना और उसके मिटाने या प्रलय की बात प्रसंगवश आयी है। वह साक्षात् भगवान् के द्वारा रचना का प्रसंग तो है नहीं। फिर उसे यहाँ दुहराने का क्या सवाल?

सबसे बड़ी बात यह है कि यहाँ सृष्टि-रचना के सिद्धान्त का दार्शनिक विश्लेषण एवं विवेचन तथा निरीश्वर सृष्टिवाद का खण्डन है, जैसा कि 'मयाध्यक्षेण' और 'हेतुनानेन' (9।10) से स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रकृति का सहारा ले के किस प्रकार क्यों यह विश्व का सारा पसारा किया जाता है, इस मामले में सृष्टि के समस्त पदार्थों की क्या मजबूरी है, वह प्रकृति के वश में किस प्रकार है, ईश्वर की क्यों क्या जरूरत इसमें पड़ी, आदि सारी बातों पर पूरा प्रकाश कर्मवाद के प्रकरण में डाला जा चुका है। अन्ततोगत्वा सबों के कामों को मिलाने और सभी का लेखा-जोखा ठीक रखने (for coordination and super regulation) के लिए ही ईश्वर का मानना जरूरी हो जाता है, यह बात वहीं हमने लिखी है। इतने पर भी किस प्रकार इन सारे कामों में वह नहीं फँसता और निर्लेप रहता है यह भी वहीं तथा दूसरे स्थानों में कही चुके हैं। यदि इनमें से ईश्वर ही हटा दिया जाय या प्रकृति को ही हटा दें तो यह जो बाकायदा संसार का चक्र चल रहा है, खत्म हो जायगा। कम से कम अनियमित तो होई जायेगा। प्रकृति और उसके गुण तो बहुत बड़े नियामक (regulator) हैं। इन्हीं से प्राणियों के स्वभाव बनते हैं, जिनके अनुसार कर्म—काम—किये जाते हैं और वही काम ईश्वर के व्यापक नियमन (super regulation) में उसके सहायक बनते हैं। अनादिकाल से यह चक्र चालू है। इसीलिए किसी के ऊपर इसके शुरू करने की जवाबदेही हई नहीं। ऐसा क्यों हुआ यह प्रश्न भी उठता ही नहीं।

यहाँ पुनः एक प्रश्न वैसा ही उठता है जैसा चौथे अध्याय में शुरू में उठा था और जिसका उत्तर अवतारवाद के रूप में अर्जुन को दिया जा चुका है। इसीलिए अर्जुन को तो शंका करने की गुंजाइश रह नहीं गयी। उसने यहाँ इसी से शंका की भी नहीं। मगर कृष्ण ने जो कुछ आगे कहा है उसी से पता लगता है कि उस समय काफी ऐसे थे जो कृष्ण को भगवान् मानने को तैयार न थे। शिशुपाल उन्हीं में एक था। हालाँकि उसके ऐसा मानने-न मानने में राजनीतिक या दूसरे भी कारण थे। इसीलिए केवल उसी के न मानने को लेकर वैसी बात कृष्ण जैसा महापुरुष कभी बोल नहीं सकता था जो उनने वहाँ कही है। या यों कहिए कि चौथे अध्याय में ही कही बात को उनने पुनरपि सख्ती के साथ, और जैसे गुस्से में, दुहराया है। मालूम होता है तब तक सचमुच अवतारवाद का सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो पाया था। इसलिए यह

स्वाभाविक था कि जनसाधारण कृष्ण को भी अपने में ही एक समझें, मनुष्य ही मानें। उनमें चमत्कार था, प्रतिभा थी, विलक्षण शक्ति थी यह तो सही है। मगर ये बातें तो मनुष्यों में पायी जाती ही हैं, इतने से ही भगवान् तो नहीं हो जाता, नहीं माना जाता। फिर कृष्ण को ही क्यों माना जाय? और जब वह बार-बार यह कहते रहते हैं कि मेरी अध्यक्षता से ही प्रकृति यह करती है, वह करती है, यह सब मेरा ही करिश्मा है आदि-आदि, तब तो साफ ही वह ईश्वरता का दावा करते हैं। इसलिए यह भी सम्भव था कि लोगों की ही तरह अर्जुन के भी मन में इस तरह के खयाल कुछ-कुछ उठें। इनकी रोक चौथे अध्याय के उस उत्तर से पूरी-पूरी हो पाती नहीं, जो कृष्ण ने दिया था कि मैं सब कुछ जानता हूँ, किन्तु तुझे पता नहीं। आखिर योगी महात्मा भी तो भूत-भविष्य की बातें जानते ही हैं, यह अर्जुन को भी मालूम था ही। व्यास और संजय की ही बातें इसमें प्रमाण हैं। इसीलिए सृष्टि तथा प्रकृति को अपनी ही चीज और अपना ही काम कहने के बाद कृष्ण ने खुद यह महसूस किया कि उस धारणा का प्रतिवाद जरा सख्ती से कर दिया जाय। सृष्टि के ही सम्बन्ध में भगवान् का प्रश्न खामख्वाह आने से उसके लिए यही मौका मौजूँ भी था। ऐसा मौका फिर शायद ही आता। इसीलिए उनने कहना शुरू किया कि–

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।। 11।।
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।। 12।।

मेरे विलक्षण, निराले, निर्विकार (तथा) सर्वोत्तम स्वरूप को नहीं जान सकने के कारण ही मूर्ख लोग मानव शरीरधारी मेरा तिरस्कार करते हैं–मुझे भगवान् नहीं मानते हैं। (ये लोग) फिजूल आशाएँ बाँधते, फिजूल कर्म करते, फिजूल पढ़ते-लिखते (एवं) उलटी समझ रखते हैं। (क्योंकि) भुलावे में डालने वाली राक्षसी एवं आसुरी–राजसी एवं तामसी–प्रकृति–स्वभाव–से मजबूर हैं। 11। 12।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।। 13।।
सततं कीर्त्तयन्तो मां यतंतश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।। 14।।

हे पार्थ, इनके विपरीत दैवी–सात्विक–प्रकृतिवाले महात्माजन मुझे संसार का मूल कारण मान के अनन्य मन से मुझी को भजते हैं। (वे लोग) सदा भक्तिपूर्वक दृढ़ संकल्प के साथ मेरा कीर्त्तन करते हुए, प्रकारान्तर से (भी) यत्न करते हुए और मेरा नमस्कार करते हुए निरन्तर मुझी में लग के मेरे ही निकट पड़े रहते हैं–मेरी ही उपासना करते हैं। 13। 14।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।15।।

दूसरे (महात्माजन) ज्ञानयज्ञ से ही मेरी पूजा करते हुए उपासना करते हैं। (यह ज्ञानयज्ञवाली उपासना तीन प्रकार की होती है–) एक ही परमात्मा के रूप में, भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में अनेक तरह की और विराट् के रूप में।15।

ज्ञानयज्ञ तो बहुत ही व्यापक है। उसके भीतर सद्ग्रन्थों का पाठ भी आ जाता है, जैसा कि पहले कह चुके हैं। मगर यहाँ ज्ञानरूपी यज्ञ से ही अभिप्राय है। वह तीन तरह का है। एक तो यही है कि समस्त जगत् अद्वितीय ब्रह्म से जुदा नहीं है। और वह ब्रह्म मैं ही हूँ। इस प्रकार अपनी आत्मा ही सर्वत्र नजर आती है। दूसरी कोई भी चीज नहीं। दूसरा यह कि जब पृथ्वी, जल, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थों को देखते हैं, तो ये पदार्थ नजर तो आते हैं। मगर इन सबों में भगवान् की और आत्मा की ही भावना की जाती है। इस प्रकार बहुत रूप में भगवान् का अलग-अलग खयाल करके अभ्यास किया जाता है। या यों कहिए कि इनके रूप में ही अनेक देवताओं की ही पूजा की जाती है। तीसरा यह कि समस्त जगत् भगवान् ही है। इसमें जगत् को देखते हैं जरूर। मगर अलग-अलग चन्द्र, सूर्यादि के रूप में नहीं। किन्तु भगवान् के रूप में ही। हरा चश्मा लगाने पर पदार्थ नजर तो आते हैं। मगर सबका रंग एक ही हरा दीखता है। इसमें और विराट् दर्शन में केवल इतना ही अन्तर है कि जहाँ चश्मेवाले को पृथक्-पृथक् पदार्थ नजर आते हैं तहाँ विराट्दर्शी सभी पदार्थों को एक ही विस्तृत वस्तु के रूप में देख के उनमें भगवान् की ही सूरत देखता है। वे उसके इस काम में आईने का काम करते हैं। सब मिल के एक आईना हैं जिनमें वह आत्मा-परमात्मा को देखता है। साथ ही, आईने को भी देखता है। पहले प्रकार के ज्ञानयज्ञवालों की नजर में आईना-वाईना कुछ नहीं है। केवल आत्मा ही आत्मा है। यही दोनों में फर्क है।

अब इसी विश्वदर्शन, ज्ञानयज्ञ या विराट्दृष्टि के प्रसंग से यह कहने का मौका आ गया कि कौन-कौन से मुख्य-मुख्य पदार्थ भगवान् के रूप हैं। बेशक, यहाँ भी अधिक पदार्थों को नहीं गिनाया है। फिर भी पहले–सातवें अध्याय–की अपेक्षा ज्यादा जरूर हैं। किन्तु सातवें से यहाँ जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यही है कि जब कि वहाँ पदार्थों के रस आदि को ही सत–सार–के रूप में खींच के भगवान् का रूप बताया है, तब यहाँ वैसा न करके समूचे पदार्थों को ही उसका रूप कह दिया है। इस प्रकार सातवें की अपेक्षा एक कदम आगे बढ़े हैं। एकाएक ऐसी भावना कठिन थी, असम्भव थी। इसलिए पहले पदार्थों के निचोड़ से ही शुरू करके यहाँ ठेठ पदार्थों तक पहुँच गये। यह ठीक है कि यहाँ भी गिने-चुने पदार्थ ही हैं फलतः कमी रह जाती है जो आगे पूरी होगी। यहाँ पदार्थों को चुनने में यह बुद्धिमत्ता की गयी है कि मामूली पदार्थ न ले के यज्ञ, मन्त्र, वेद, ॐकार आदि ऐसे ही विलक्षण पदार्थों

को लिया है। जिनके बारे में ईश्वर-बुद्धि होने में कोई आनाकानी आमतौर से हो न सके। यदि प्रतिदिन के प्रयोग के मामूली पदार्थ लिये जाते तो खामख्वाह अर्जुन को और दूसरों को भी आश्चर्य होता कि ऐं, यह क्या कह रहे हैं!

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।16।।

मैं ही क्रतु हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही स्वधा हूँ, औषधियाँ (यज्ञीय अन्नादि) मैं ही हूँ, मन्त्र मैं ही हूँ, घी मैं ही हूँ, अग्नि मैं ही हूँ, (और) आहुति (भी) मैं ही हूँ। 16।

ऋतु कहते हैं वैदिक या श्रौत यज्ञयागों को। यज्ञ नाम है स्मार्त्त यज्ञों या कर्मों का। श्राद्धादि पितृकर्मों को स्वधा कहते हैं। पितरों के कर्मों का भेद न करके देवताओं के कर्मों के ही दो भेद किए हैं—श्रौत और स्मार्त्त। श्रुतियों या वेदों में लिखे कर्म श्रौत कहे गये। पीछे जब स्मृतियाँ और सूत्र-ग्रन्थ बने तो उनने जिन नये कर्मों का प्रचार किया वही स्मार्त्त कहलाए। यही मोटी पहचान दोनों की है। असल में यज्ञयागादि करने वाले लोग पहले अग्नि को निरन्तर जलाये रखते थे। वैदिक मन्त्रों से ही शुरू में उसकी स्थापना की जाती थी जिसे आधान कहते थे। यही अग्नियाँ दो प्रकार की होती थीं—श्रौत और स्मार्त्त। इन्हीं में या इन्हीं से किये जाने वाले कर्म क्रमशः श्रौत और स्मार्त्त कहे गये। यही निचोड़ है। यह जरूरी नहीं है कि श्रुतियों में कहे गए कर्म श्रौत अग्नि में ही हों, न कि स्मार्त्त में। सूत्रग्रन्थ भी दो प्रकार के हैं—श्रौतसूत्र और स्मार्त्तसूत्र। दर्शपूर्ण मासादि वैदिक यज्ञयाग श्रौतसूत्रों में और विवाह, श्राद्धादि घर-गिरस्ती के कर्म स्मार्त्त सूत्रों में पाये जाते हैं। घर-गिरस्ती के सर्वसाधारण कर्म ही आमतौर से स्मार्त्त कहे जाते हैं।

औषध या औषधि का अर्थ दवा नहीं है। 'औषध्यःफलपाकान्ताः' कोष के अनुसार जिनके फल पकने पर वह खुद भी पक और सूख जायें वही गेहूँ, जौ आदि के पौदे औषधि कहे जाते हैं। यहाँ औषधि का अर्थ है देवताओं तथा पितरों के कर्मों में प्रयुक्त होने वाले अन्नादि।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च।।17।।

मैं ही इस जगत् के लिए पिता, माता, धाय (पिलाने-खिलाने वाली, जिसे धाई भी कहते हैं) तथा पितामह—दादा—हूँ। जानने योग्य, पवित्र या शोधक पदार्थ, ॐकार, ऋक्, साम एवं यजुः भी मैं ही हूँ। 17।

यहाँ ऋक् आदि तीनों शब्द उन नामों वाले वैदिक मन्त्रों के ही हैं। जिन मन्त्रों को गाते हैं। उन्हें साम कहते हैं। जिनके बारे में पिंगल और छन्दों के नियम लागू हैं उन्हें ऋक् और जो इन दोनों के अलावे खिचड़ी जैसे हैं, उन्हीं को यजुः कहते हैं। साममन्त्र जिस मन्त्र संग्रह में ज्यादा या सभी थे उसी को सामवेद, ऋक्मन्त्र जहाँ अधिकांश थे उसे ऋग्वेद और यजुर्मंत्र जिसमें ज्यादातर थे उसे यजुर्वेद कहा

गया। अथर्ववेद का संग्रह सबसे पीछे हुआ। इसमें सभी तरह के छूटे-छुटाए मन्त्र संगृहीत हुए। यह एक तरह से वेदों का परिशिष्ट है। त्रयी या तीन ही वेद कहने का भी यही आशय है। आखिर मन्त्र भी तो तीन ही हैं। इन तीनों के अलावे तो मन्त्र होते ही नहीं। मन्त्र शब्द उन्हीं का वाचक जो है।

वेद, पवित्र और ॐकार ये तीन पदार्थ जुदे-जुदे हैं; न कि ॐकार के ही शेष दोनों विशेषण हैं। यद्यपि ॐकार का उल्लेख सातवें अध्याय में ही हो चुका है; तथापि वहाँ उसका स्वतन्त्र रूप न होके वेदों का निचोड़ ही उसे माना है। विपरीत उसके यहाँ स्वतन्त्र रूप में ही वह आया है और है यहाँ वह ब्रह्म का प्रतीक।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। 18।।

जहाँ पहुँचा जाय वह, पोषक, स्वामी, साक्षी, सबका आधार, शरण, सुहृद् जिससे उत्पत्ति हो, जिसमें पदार्थ लीन हों या जा मिलें, जिसमें कायम रहें सभी चीजों या कर्मों का कोष और पदार्थों का निरन्तर कायम रहने वाला बीज (भी मैं ही हूँ)। 18।

सातवें अध्याय का बीज मूल कारण के मानी में आया है। मगर यह बीज साधारण बीज के ही अर्थ में है। बीज तो बराबर कायम रहता ही है। यदि वह न रहे तो कोई पदार्थ पैदा कैसे हो? इसीलिए उसे अव्यय या निरन्तर कायम रहने वाला कह दिया है। गति का अर्थ है जहाँ तक जाया जाय या गन्तव्य स्थान और लक्ष्य।

तापम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।। 19।।

हे अर्जुन, मैं ही (सूर्य की किरण के रूप में) तपता हूँ, वृष्टि या जल को रोक रखता और जमा करता हूँ और वर्षता भी हूँ। अमृत, मृत्यु, सत् और असत् भी मैं ही हूँ। 19।

यहाँ पूर्वार्द्ध में सूर्य का ही तीन रूपों में वर्णन है। सूर्य की किरणें तीन प्रकार की होती हैं। एक तो तपने वाली जो जल को ऊपर उठाती या खींचती हैं। दूसरी उसे जमा करके मेघ का रूप देने वाली और तीसरी उसे बरसाने वाली। यह बात श्लोक में लिखी है। संसार के कुछ पदार्थ अमर हैं और शेष मरने वाले। ये दोनों ही जिन पदार्थों या विशेषताओं के करते ही ऐसे बने हैं उन्हीं को अमृत और मृत्यु कहा है। सत्-असत् का अर्थ है स्थूल-सूक्ष्म या कार्य-कारण। सूक्ष्म पदार्थ दीखते नहीं। इसी से खयाल होता है कि वे नहीं हैं, असत् हैं। इसी प्रकार कार्य बन जाने पर कारण की स्वतन्त्र सत्ता मालूम पड़ती ही नहीं। इसीलिए पुराने लोगों ने कारण को ही असत् भी कहा है। वह लापता सी चीज होती है। उसे ही ढूँढ़ते भी हैं। कार्य तो सामने ही होते हैं।

इस प्रकार इन चार श्लोकों में विभिन्न रूप से मुख्य-मुख्य पदार्थों को परमात्मा का रूप गिना दिया। इस प्रकार अनेक रूप से उसके चिन्तन एवं ज्ञानयज्ञ के साथ

इसका मेल भी हो गया और ज्ञान-विज्ञान के सम्बन्ध में एक सीढ़ी आगे बढ़ भी गये। मगर इस विभिन्नता के खयाल, इस तरह के ज्ञानयज्ञ या इस आगे की सीढ़ी का असली प्रयोजन यह विभिन्नता तो है ही। इसके द्वारा तो दरअसल विश्वव्यापी एकता, एकरसता तथा अद्वैत की ही ओर बढ़ना और अन्त में वहाँ पहुँच के टिक जाना ही लक्ष्य है। इसलिए जिनकी दृष्टि इस लक्ष्य से, और इसीलिए एकत्वरूपी ज्ञान यज्ञ से भी, विचलित हो के इस अनेकता में फँसती है वह चूक जाते हैं, यह बात सदा याद रखने की है। चूकने वाले भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो विभिन्न पदार्थों में एक भगवान् की ही भावना करते हैं। उनकी चूक यही है कि अनेक पदार्थों को भी देखते हैं। फिर भी उनने रास्ता पकड़ लिया है। फलतः कुछ विलम्ब से असली जगह पर ही जा पहुँचेंगे। यह ठीक है कि उनसे भी पहले विराट्दर्शी पहुँचेंगे। क्योंकि वे इनसे कुछ आगे जो हैं। वे अलग-अलग पदार्थों को देखते तो नहीं। हाँ आईने की तरह जगत् को एक देखते हैं। इसीलिए सचमुच उनके सामने दोई रह गये—आत्मा या परमात्मा और आईना। विपरीत इसके पहलेवालों के सामने तो अनन्त पदार्थ चट्टान की तरह पड़े हैं। इन सबों को तोड़ के इनकी ही तरह एक करना है, राजमार्ग बनाना है। इसमें परेशानी तो होगी ही। समय भी लगेगा। फिर भी ये दोनों ही आगे-पीछे लक्ष्य पर पहुँचेंगे ही। फिर तो सर्वत्र उन्हें आत्मा ही दीखेगी। इसीलिए इनके बारे में चिन्ता नहीं की गयी है।

मगर जो चूकने वाले दूसरे प्रकार के हैं, वह जगत् के विभिन्न पदार्थों में या तो विभिन्न देवताओं की भावना करते हैं, या इन्हीं पदार्थों से किन्हीं इन्द्र, महेन्द्रादि देवताओं का ही यजन-पूजन करते हैं। ये दोनों ही लक्ष्य से बहुत दूर चले जाते हैं। इसीलिए इन्हें कष्ट भी भोगने पड़ते हैं। इन्हीं दोनों की दुर्गति की बात आगे के क्रमशः 20, 21 तथा 23-25 श्लोकों में कही गयी है। इनमें भी इन्द्रादि की पूजा करने वाले तो और भी नीचे हैं; क्योंकि वे काल्पनिक देवताओं को मान के निरे खयाली संसार में ही विचरते और स्वर्गादि के सुख चाहते हैं। विपरीत इनके दूसरे ऐसे हैं जो दृश्य पदार्थों को ही भगवान् न मान के उसकी जगह देवताओं की ही भावना करते हैं। वे भूले तो हैं जरूर। मगर उनका संसार निरा खयाली नहीं। उपनिषदों में ऐसों का उल्लेख बहुत आया है। इसीलिए वे कुछ ऊँचे हैं। यही कारण है कि शुरू के दो श्लोकों में पहले लोगों की बातें कह के और प्रसंग से बीच के 22वें में असली लक्ष्य की याद दिला के पुनः तीन श्लोकों में दूसरे लोगों की गाथा सुनाते हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।। 20।।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।। 21।।

तीनों वेदों में बताये कर्मों के जानने वाले (लोग) यज्ञों के द्वारा मेरा पूजन

करके सोमलता का रस पीते (और इस तरह) पापरहित हो के स्वर्ग-प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। वे इन्द्र के सुन्दर लोक—स्वर्ग—में जा के वहाँ देवताओं के दिव्यभोगों को भोगते हैं। (पीछे) वही लोग उस विशाल स्वर्ग के भोगों को भोग चुकने के बाद (अपना) पुण्य पूरा हो जाने पर (पुनः) मर्त्यलोक में ही आ धमकते हैं। तीनों वेदों में बताये धर्मों के करने वाले भोगेच्छक लोग इसी तरह आवाजाही जारी रखते हैं। 20। 21।

यहाँ सोमपा शब्द का अर्थ है सोमरस के पीनेवाले। असल में वैदिक यागों में से यहाँ एक का उल्लेख नमूने के तौर पर ही हुआ है। ज्योतिष्टोम नामक वैदिक याग स्वर्ग के ही उद्देश्य से किया जाता था। इसमें प्रधान पदार्थ सोमलता ही मानी जाती थी। घी आदि की जगह प्रधान आहुति इसी लता के रस की दी जाती थी। ऐसा माना जाता है कि बर्फानी प्रदेश में ही यह लता होती है। उसे मँगवा के पत्थरों से कूटते और रस निचोड़ते थे। उसी रस से देवताओं के लिए आहुतियाँ दे के बचे-बचाये या यज्ञशिष्ट रस को यजमान वगैरह पीते थे। इसीलिए 'सोमपाः' शब्द आया है। इस प्रकार बड़े से भी बड़े वैदिक यज्ञयागादि का परिणाम यही आना-जाना ही तो है।

विपरीत इसके जो अनन्य भाव से आत्मचिन्तन में लग जाते हैं वह न सिर्फ इस आवाजाही और जन्म-मरण के चक्र से ही बचते हैं; बल्कि इस संसार में भी उन्हें किसी पदार्थ की कमी नहीं रहती है। अतः उसके मुकाबिले में यह कितनी ऊँची चीज है—"यह ज़वाल और यह जलाल"! इसीलिए उसके साथ इसका कोई भी मुकाबिला नहीं हो सकता है। यही बात प्रसंग से अगले श्लोक में कह के फिर वही बात चालू करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। 22।।

जो भक्तजन अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मुझमें ही निरन्तर लगे रहने वाले उन लोगों का योगक्षेम मैं (खुद) करता हूँ। 22।

जो आवश्यक पदार्थ अप्राप्त हों उन्हें जुटाना योग है। जुटने पर उनकी हिफाजत को क्षेम कहते हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्तायजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।। 23।।

हे कौन्तेय, अन्य देवताओं के भी जो भक्तजन श्रद्धा से उनका यजन करते हैं वे भी यजन तो मेरा ही करते हैं। (फर्क यही है कि) विधिपूर्वक या उचित रीति से नहीं करते। 23।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्चयवन्ति ते।। 24।।

क्योंकि सभी यज्ञों का भोगनेवाला—उनके द्वारा आराध्य देवता—और फल देने वाला भी मैं ही हूँ। लेकिन वे मुझे यथार्थ रूप में जानते ही नहीं। इसी से चूक जाते हैं। 24।

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यांति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।। 25।।

(बात यों है कि) देवताओं के व्रत-पूजन करने वाले उन्हीं तक पहुँचते हैं। पितरों के व्रतवाले उन तक, भूतों के पूजक भूतों तक और मेरे पूजक मुझ तक भी पहुँचते हैं। 25।

यहाँ 'अपि माम्' में अपि 'को माम्' के बाद ही लगा के अर्थ करना ठीक है जैसा कि 'यान्ति मामपि' (7। 23) में किया गया है। वहाँ तो वैसा हुई। मगर यहाँ भी अभिप्राय वही होने के कारण अर्थ भी वही होना चाहिए। इसी प्रकार जो 'तत्त्वेन' शब्द 24वें में आया है उसका तात्पर्य यही है कि अन्य देवताओं के रूप में भगवान् के पूजने वालों को भगवान् का तत्त्वज्ञान—यथार्थ ज्ञान—नहीं होता। इसी से वे चूकते हैं, उनका पतन होता है। कारण, तत्त्वज्ञान या आत्म रूप से भगवान् का साक्षात्कार ही असल चीज है। 'त्रैविद्या' और 'येऽप्यन्य' श्लोकों में—दोनों ही जगह—'माम्' आया है। इससे स्पष्ट है कि दोनों ही प्रकार के लोग एक ही श्रेणी के हैं। इनमें जो फर्क है वह बताया जा चुका है। श्रद्धा का उल्लेख होने से यह सिद्ध हो जाता है कि उसके बिना जो कुछ किया जाता है वह बेकार है।

इस प्रकार चूके तथा पथभ्रष्ट लोगों की दशा का वर्णन करने का फल यह होता है कि जो लोग आत्मज्ञान और भगवान् के मार्ग पर चलते हैं और जिनका वर्णन 'अनन्याश्चिन्तयन्तः' तथा इससे पूर्व के 'एकत्वेन पृथक्त्वेन' श्लोक में आया है उनकी ओर बलात् ध्यान आकृष्ट हो जाता है। प्रयोजन भी इस निरूपण का यही है। बिना धूप में जले छाया का महत्त्व या शीतल जल का पूरा स्वाद नहीं मिलता है। फलतः पुनरपि उसी मुख्य विषय पर आ गये। जैसा कि कहा गया है, उस उचित मार्ग पर चलने वाले भी कई तरह के लोग होते हैं। इसलिए यह बताना जरूरी हो गया कि उसके द्वारा आत्मसाक्षात्कार या सर्वत्र आत्मा-परमात्मा के ही दर्शन की दशा में कैसे पहुँचा जाता है। उन विभिन्न दर्शियों के दो विभाग करके पहले का काम घृत, सोम आदि के द्वारा इन्द्रादि देवताओं के रूप में—न कि स्वतन्त्र रूप से—भगवान् का पूजन कहा गया है। दूसरे का सीधे भौतिक पदार्थों को ही भगवान् की जगह देवता के रूप में पूजन की बात बताई गयी है। ठीक उसी प्रकार यहाँ भी विभिन्न-दर्शी लोगों को दो दलों में बाँट के पहले का काम पत्र, पुष्पादि के द्वारा स्वतन्त्र रूप से भगवान् का पूजन बताया गया है। दूसरे के बारे में सभी कामों को भगवान् की पूजा ही मान लेने और उसी भाव से उन्हें करने की बात कही गयी है। असल में भगवान् की ओर बढ़नेवाले लोगों में पहला दल तो सभी पदार्थों को अलग-अलग मानता ही है। इसीलिए वह पत्र, पुष्पादि से ही पूजन करता है। हाँ, जब दूसरा दल सभी पदार्थों को एक करके आत्मा-परमात्मा का आईना मानता है तो यह उचित ही है कि वह जो कुछ भी करे उसे भगवान् की पूजा ही माने। 26वें श्लोक में पहले

दल की और उसके बाद के डेढ़ श्लोकों में दूसरे की बात कह के 28 वें के उत्तरार्द्ध में उसका फल संन्यास और उसके द्वारा आत्मसाक्षात्कार के फलस्वरूप मुक्ति ही बताई गयी।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।। 26।।

जो (श्रद्धा) भक्ति से मुझ परमात्मा को पत्ते, फूल, फल (या) जल अर्पण करता है, मन पर काबू रखने वाले उस मनुष्य की भक्तिपूर्वक भेंट को मैं स्वीकार करता हूँ। 26।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। 27।।

हे कौन्तेय, जो दान, यज्ञ, योग, तप, या और भी कोई काम करते हो वह सब कुछ मुझी को अर्पण करो—सब कुछ मेरी ही पूजा मानो। 27।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।। 28।।

इस प्रकार कर्मों से उत्पन्न और उन्हीं में पुनः मनुष्यों को जोड़ने वाले बुरे-भले फलों से तुम्हारा पिण्ड छूट जायगा। (उसके बाद क्रमशः) संन्यास मूलक योग या समाधि में अपने मन को लगा के तुम मुक्त होगे। (और इस तरह) हमें प्राप्त कर लोगे। 28।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 29।।

(यद्यपि) मैं सभी पदार्थों में एकरस हूँ (और इसीलिए) न मेरा कोई शत्रु है न मित्र, (तथापि) जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं वे मुझमें और मैं उनमें हूँ। 29।

यहाँ 28वें श्लोक में 'कर्मबन्धनैः' पद के दो अर्थ हैं और दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। कर्मों से फलों का बन्धन है, ताल्लुक है। अर्थात् कर्मों से फल पैदा होते हैं। इसी के साथ फलों से भी कर्मों का बन्धन या ताल्लुक है। क्योंकि फलों के भोगने पर कर्मों में चस्का पैदा हो जाता है और जी चाहता है कि ऐसे ही कर्म और भी करें। मगर भगवान् के अर्पण करने पर तो यह कोई भी बात नहीं होती। फलतः मन की शुद्धि हो जाने से कर्मों का स्वरूपतः संन्यास होता है। अनन्तर समाधि में लग जाने पर आत्म-दर्शन हो के मुक्ति मिल जाती है।

इस पर यह खयाल हो सकता है कि जब भगवान् सर्वत्र एकरस है और उसके लिए न तो कोई अपना है, न पराया, तो फिर यह क्या कि ज्ञानीजन उसे प्राप्त कर लेते हैं और दूसरे नहीं? उसके सम्बन्ध में यह क्या बखेड़ा है? वह तो सभी को प्राप्त ही है। क्योंकि सभी जगह मौजूद है। इसीलिए प्राप्त करने या पहुँचने की भी कोई बात नहीं हो सकती है। ऐसी दशा में भक्तजनों का उस तक पहुँचना भी

कुछ उलटी-सी बात लगती है।

इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर 29वाँ श्लोक देता है। कोई बढ़ई दिन भर बीसियों गृहस्थों के घर जा-जा के उनका काम करता रहा। फिर कुछ दिन रहते ही फुर्सत पा के घर चला। जाड़े के दिन थे। इसीलिए कन्धे पर अपना बसूला रख के ऊपर से उसने दोहर डाल ली थी। घर के नजदीक पहुँची रहा था कि एकाएक खयाल आया कि ऐं, बसूला क्या हो गया? मैं उसे कहाँ छोड़ आया? बस, उलटे पाँव लौट पड़ा, सभी जगह दौड़ता फिरा और पूछ-ताछ करके हार गया पर बसूला मिल न सका। लाचार मनहूस मन से घर वापस चला। पहुँचते ही दरवाजे पर जलती धूनी के पास गया। जाड़े की शाम तो थी। इसी से आग की जरूरत भी थी। आग के पास उदास बैठा ही कि बच्चे ने पूछा कि पिताजी, आज उदास क्यों हैं? उत्तर मिला कि क्या कहें? जाने कहाँ बसूला ही खो गया और कमाने का आधार वही एक था! बच्चा इस पर कहता ही क्या? थोड़ी देर बाद आग की गर्मी से देह में गर्मी आने पर जो उसने दोहर उतार के रखनी चाही तो बसूला हाथ लग गया! अब तो उसकी खुशी का ठिकाना न था! उसने कहा, धत्तेरे की! बसूला तो पास ही था और मैं दौड़ता फिरा! बस, यही बात परमात्मा और आत्मा के मिलने-न मिलने की भी समझिए।

नौवें अध्याय में जो कुछ कहना था, यहीं पूरा हो गया। फिर भी अभी पाँच श्लोक रह जाते हैं। उनमें कोई नयी बात नहीं कही गयी है। किन्तु जो लोग किसी भी हालत में इस तरफ कदम बढ़ाते है उन्हीं के लिए प्रोत्साहन उन श्लोकों—का विषय है। अभी-अभी 27वें श्लोक में जो यह कहा गया है कि खाने-पीने, भोगराम या दूसरे भी कामों को भगवान् को ही अर्पण कर दो, वह तो बहुत व्यापक चीज है। ऐसा होने पर तो बुरे से बुरे कर्म इसी श्रेणी में चले आ सकते हैं। तो क्या यह ठीक और मुनासिब होगा कि ऐसे कर्मों को भी भगवान् को अर्पण किया जाय? यदि हाँ, तो फल क्या होगा? यही न, कि ऐसे दुष्कर्मी लोग भगवान् की अन्य प्रकार की पूजा का नाम न लेंगे—उसी का जिसे लोग सचमुच पूजा मानते हैं? फलतः यह तमाशा, नाटक और प्रवंचना के अलावे दूसरा कुछ न माना जाना चाहिए। यह बहुत मोटी बात है और आमतौर से सभी लोग इसे बखूबी समझते हैं। फिर भी आश्चर्य है कि ऐसी बात न सिर्फ कही गयी है, बल्कि उसका ऊँचे से भी ऊँचा फल बताया गया है। इसी का उत्तर आगे के चार श्लोक इस तरह देते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।30।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।31।।
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।32।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।33।।

अगर पक्का दुराचारी भी हो, फिर भी मुझ परमात्मा को अनन्य भाव से भजे, तो उसे साधु ही मानना होगा। क्योंकि (अब तो) उसका व्यवसाय उचित ही है। (इसलिए) शीघ्र ही वह धर्मात्मा हो जाता है। (और धीरे-धीरे उक्त रीति से) अखण्ड शान्ति-मुक्ति-बखूबी प्राप्त कर लेता है। हे कौन्तेय, मन में बिठा लो कि मेरे भक्त की दुर्गति कभी होती ही नहीं। हे पार्थ, (यहाँ तक कि) जो नीच एवं दूषित योनिवाले स्त्री, वैश्य और शूद्र भी हैं वे भी मेरा आश्रय ले के (क्रमशः) परम गति हासिल कर लेते हैं। तो फिर पुण्यजन्मा ब्राह्मणों तथा क्षत्रिय भक्तों का क्या कहना? (इसलिए) इस सुख से रहित और चन्द्ररोजा शरीर को पा के मुझी को भजो। 30। 31। 32। 33।

इन चार श्लोकों में पहले में जो अनन्य भाव से भजने की बात कही गयी है वह ठीक वही है जो 'यत्करोषि' में कही गयी है। 32वें के 'मां व्यापाश्रित्य' का भी कम-बेश वही आशय है। यह ठीक है कि ऐसे लोग एकाएक वैसा कर नहीं सकते। इसीलिए 'भजते' का अर्थ है भजन का यत्न करता है—उस ओर धीरे-धीरे कदम बढ़ाता है। श्रद्धा से उस ओर बढ़ने से ही रास्ता साफ होने लगता है। क्योंकि यदि पूरा बढ़ जाय तो अत्यन्त दुराचारी—सुदुराचारः कहने के कुछ मानी नहीं रह जाते। फलतः 'सम्यग्व्यवसितः' में कह दिया है कि उसका यह व्यवसाय, यह उद्योग उचित ही है। वह उद्योग और यत्न करता है यही आशय है। जल्द ही धर्मात्मा होने की भी बात इसीलिए कही गयी है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा करने के कुछ समय बाद उसका दुराचार धीरे-धीरे बन्द हो के वह धर्मात्मा बनता है, होता है। मगर शुरू से ही अनन्य भक्त हो जाने पर तो इसकी जरूरत हई नहीं। बिना धर्मात्मा हुए अनन्य भक्त कैसा? यदि अजामिल आदि की जैसी बात कहें, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि अजामिल दुराचारी भले ही रहा हो। मगर सुदुराचार या अत्यन्त दुराचारी हर्गिज न था। हम तो उसे प्रायः धर्मव्याध जैसा ही मानते हैं। 'न मे भक्तः प्रणश्यति' का भी यही तात्पर्य है कि मेरी तरफ भावना करके जो भी थोड़ा-बहुत किया जाता है वह कभी नष्ट नहीं होता। किन्तु धीरे-धीरे सूद के साथ बढ़ता है।

बत्तीसवें और तैंतीसवें श्लोक में स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों को पापयोनि या छोटा और ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को पुण्यजन्मा कहा है। क्योंकि 'पापयोनयः' के विपरीत 'पुण्याः' शब्द ब्राह्मणों एवं राजर्षियों—क्षत्रियों—दोनों ही—का विशेषण है। देखने से यही उचित भी प्रतीत होता है। 'भक्ताः' भी दोनों ही के लिए आया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि गीता और महाभारत के समय हमारी वर्णव्यवस्था न तो आज जैसी थी और न जैसी शुरू में थी वैसी भी थी। आज तो ब्राह्मणों को ही ऊँचा स्थान प्राप्त है। क्षत्रिय उनसे नीचे हैं। इसी प्रकार वैश्यों का स्थान शूद्रों से ऊँचा है। आज इन्हें पाप-योनि तो हर्गिज नहीं मानते, यद्यपि स्त्रियों को दुर्भाग्य से ऐसा ही मानते

हैं। यहाँ गीता में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय तथा वैश्य एवं शूद्र को समकक्ष कह दिया है। चौथे अध्याय में जो 'राजर्षयो विदुः' कहा है उससे भी क्षत्रियों का दर्जा यदि ऊँचा नहीं तो ब्राह्मणों के समकक्ष तो सिद्ध होई जाता है। विपरीत इसके शुरू में चारों वर्णों को शरीर के चार अंगों की जगह मान के यह दिखाया था कि यह वर्ण-विभाग और कुछ नहीं, केवल समाज-के संचालनार्थ कामों का बँटवारा है। इसमें ऊँच-नीच का प्रश्न नहीं। प्रत्युत चारों की अपने-अपने स्थान पर समान ही उपयोगिता है। हमने यही बात पहले लिखी भी है। लेकिन गीता पहले दो को श्रेष्ठ और शेष दो को कनिष्ठ—नीच—कहती है!

छान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषदों की पंचाग्नि विद्यावाली बात लिखते हुए हमने पहले बताया है कि उस जमाने में क्षत्रियों का दर्जा ब्राह्मणों के समकक्ष जैसा ही था, अगर ऊँचा न भी था। कम से कम ब्राह्मणों का यह दावा तब तक न हो पाया था कि सब विद्याएँ वही जानते हैं और उन्हीं से संसार को सीखनी होंगी, सीखनी चाहिए, जैसा कि मनुस्मृति में लिखा है कि 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रंशिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' (2। 20)। इसलिए यह मानने की काफी गुंजाइश है कि ब्राह्मण ग्रन्थों एवं प्रधान उपनिषदों के समय से मिलता-जुलता ही समय गीता का है। या यों कहिए कि वही समय महाभारत का है। उपनिषदों की जब खूब प्रधानता थी तभी गीता बनी। इसीलिए न सिर्फ उपनिषदों को बातें इसमें रूपान्तर से बहुत ज्यादा आयीं; बल्कि इसकी सर्वमान्यता के ही खयाल से इसे भी रूपान्तर में उपनिषद् ही कहना पड़ा। नहीं तो उपनिषदों के सामने इसे कौन पूछता? यह तो नियम ही है कि जिसकी चलती बनती है उसके ही पीछे चलने से काम बनता है। पीछे तो उपनिषदों को भी लोग भूल से गये। मगर यह विषय स्वतन्त्र रूप से विचारने का है। यहाँ तो यों ही प्रसंग से थोड़ा सा इशारा कर दिया है।

आगे के अन्तिम श्लोक में इस अध्याय का उपसंहार कुछ इस तरह करते हैं कि जो बातें प्रधान रूप से, लक्ष्य के रूप में, कही गयी हैं। वे इसमें आ जायें—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। 34।।

हमीं में मन लगाओ, हमारे ही भक्त हो जाओ, हमारा ही यज्ञ करो (और) हमारा ही नमस्कार करो। इस प्रकार हमीं को सब कुछ समझते हुए हमीं में मन को जोड़ देने से हमीं को प्राप्त हो जाओगे। 34।

बेशक, इस श्लोक को जाहिरा तौर पर देखने से तो यही पता लगता है कि पूर्ण पहुँचे हुए ज्ञानीजनों की ही बात इसमें है। मगर इतने अधिक विशेषण भक्तजन के पीछे लगे हैं कि सन्देह पैदा करते हैं। भगवान् का यजन करे, उसे नमस्कार करे और इसी के साथ मन को उसमें एकबारगी जोड़ दे, यह बात समझ में आती नहीं। मन को उसी में बाँध देने का तो अर्थ ही है कि शेष क्रियाएँ बन्द हो जायँगी। और

अगर दोनों ही तरह की क्रियाएँ चलेंगी तो 'मन्मनाः', 'मद्भक्तः' और 'आत्मानं एवं युक्त्वा' इन तीन विशेषणों की सफलता कैसे होगी? तब तो एक ही से काम चलेगा। तीनों के देने का तो प्रयोजन ही है—खासकर जब उन्हीं के साथ 'मत्परायणः' भी जुट जाता है—कि चौबीसों घण्टे आत्मा-परमात्मा में ही डूबा हुआ मस्त पड़ा है। इसीलिए हम इस श्लोक का यही आशय मानते हैं कि नमस्कार, यजन आदि के जरिए धीरे-धीरे उस अन्तिम दशा में पहुँचने को लक्ष्य करके ही यह लिखा गया है। फलतः नौवें अध्याय में जो कई प्रकार के विवेकी जन 'एकत्वेन' आदि के द्वारा कहे गये हैं वे सभी इसमें आ जाते हैं।

इस अध्याय में केवल एक ही बार सम शब्द आया है। वह समदर्शन के ही ढंग की बात का सूचक है, जैसा कि 'निर्दोषंहि समं ब्रह्म' (5।19) में है। 7-8 अध्याय में तो यह आया ही नहीं है।

इति श्री. राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः।।9।।

श्रीमद्भवद्गीता के रूप में जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका राजविद्या राजगुह्य नामक नौवाँ अध्याय यही है।।9।।

दसवाँ अध्याय

सातवें अध्याय में जिस ज्ञानविज्ञान का आरम्भ हुआ था वही नौवें के अन्त तक चलता आया है। मगर यह निरूपण केवल आंशिक और संकुचित रूप में ही हुआ है, यह हमने पहले ही बता दिया है। इसका कारण भी समझा दिया है। ठीक ही है, इतने गहन और गूढ़ विषय का, जिसके बारे में कृष्ण ने कह दिया है कि यह बात इस लम्बी मुद्दत में लुप्त हो गयी है, 'योगो नष्टः परन्तपः' (4।2), एकाएक विस्तृत निरूपण करना अर्जुन को और दूसरों को भी चकाचौंध में डालना हो जाता। फलतः इसका बखूबी समझना और भी असम्भव बन जाता। क्योंकि लोग चटपट कह बैठते कि यों ही जानें क्या-क्या अण्ट-सण्ट बके जाते हैं। जो अक्ल में समाता ही नहीं। इतना ही नहीं, तब तो इससे लोगों को एक प्रकार की अश्रद्धा ही हो जाती। इसीलिए धीरे-धीरे प्रवेश कराते-कराते कृष्ण ने अर्जुन के मन में चस्का और लगन पैदा करने के साथ ही इस गहन विषय में उसकी बुद्धि के प्रवेश का रास्ता भी साफ कर दिया। अर्जुन को अब इसमें वह कठिनाई नहीं प्रतीत होती थी जो पहले दीखती थी। उसका मन भी इधर झुकता नजर आया। यह बात दसवें अध्याय के पहले ही श्लोक के 'प्रीयमाणाय' शब्द से प्रकट हो भी जाती है। इसीलिए उसी श्लोक में कृष्ण ने साफ ही कह दिया कि अभी और भी मेरी मजेदार और महत्त्वपूर्ण बातें सुनो "भू य एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः"।

एक बात और भी है। कहा जा सकता है कि भगवान् से इस जगत् के बनने की बात तो लुप्त हुई नहीं है। जिस योग के लोप होने की बात चौथे अध्याय में कही गयी है उसके भीतर तो इसके सिवाय दूसरी अनेक बातें भी हैं और उन्हीं का विलोप हो जाने से वहाँ मतलब हो सकता है। फिर भी यह तो ठीक ही है कि जिस चीज को भगवान् खुद कहेंगे वह जितनी खूबी तथा आसानी से जानी जा सकेगी वैसी दूसरों की जबानी हर्गिज नहीं। आखिर इस चीज के करने वाले, इस लीला के फैलाने वाले और मूल कारण तो वही हैं न? यह नाटक तो भगवान् का ही फैलाया हुआ है न? इसीलिए इसका कच्चा चिट्ठा, इसकी हकीकत जितनी वह जानेंगे उतनी और कोई क्या जानेगा? क्योंकि वह तो उन्हीं से या दूसरों से ही सीख-सुन के जानेगा

और कहेगा न? फिर उसके कहने में वह मजा कैसे आयेगा जो ठेठ भगवान् के कहने में? दूसरे ऋषि-मुनि या उपदेशक तो उसके ही बनाये हुए हैं न? फिर यह कैसे आशा की जाय कि वे रत्ती-रत्ती बातें बखूबी जान सकेंगे? और जो भी जानें वे भी उस तरह कैसे समझा सकेंगे? ऐसे तो विरले ही हो सकते हैं जिन्होंने आत्मज्ञान के द्वारा इन सभी चीजों का साक्षात्कार कर लिया हो। क्योंकि 'मनुष्याणां सहस्रेषु' (7।3) की भी बात तो आखिर इसी सिलसिले में कही गयी है। और अगर किसी बिरले माई के लाल ने ऐसी योग्यता भी प्राप्त की तो भी उसका मिलना आसान तो नहीं है। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि भगवान् स्वयमेव सारी दास्तान सुनाएँ। जब उन्हीं की कृपा से विवेक आदि सद्गुण औरों को मिलते हैं, जिससे वे ये बातें जान के दूसरों को भी जनायें; मन, इन्द्रिय आदि को काबू में करके पहले इस विषय को अच्छी तरह स्वयं देख लें; अनन्तर दयार्द्र हो के अन्यों को भी बतायें, तो क्यों न भगवान् से ही यह चीज जानी जाय? दसवें अध्याय के कुल 42 श्लोकों में जो शुरू के पूरे अठारह श्लोक इन्हीं बातों के कहने में खत्म हुए हैं उसका यही रहस्य है।

उनमें भी पहले पूरे ग्यारह श्लोकों में स्वयं कृष्ण ने इस विषय की गहनता के खयाल से ही सब कुछ कहा है और बताया है कि इसे बिरले ही जानते हैं, सो भी मुझ भगवान् की ही अनुकम्पा से। तभी तो जो अर्जुन चुप बैठा था उसे एकाएक खयाल हो आया है कि ओहो, जब ऐसी बात है तब तो मुझे खुद कृष्ण से ही अनुरोध करना चाहिए कि वे स्वयमेव ये बातें बतायें और कहें किस प्रकार उनने यह विश्व का नाटक फैलाया है। कहीं ऐसा न हो कि मेरी इस चुप्पी का कुछ और भी अर्थ लगा के या तो इसे कतई छोड़ ही दें, या अगर सुनायें भी तो उस विस्तार के साथ नहीं जिसकी जरूरत है और उस मनोयोग से भी नहीं जिसके करते विषय में जीवन आ जाता है। इतना ही नहीं। आगे तो कृष्ण को ही इस 'कह सुनाऊँ' के बाद ही 'कर दिखाऊँ' भी करना था। तभी तो दिल में यह बात जा के बैठ सकती थी। इसलिए जब खुद ही वह कहेंगे तो दिखाने या प्रयोग करने में भी न तो हिचकेंगे और न आधे मन से उसे करेंगे ही। इसीलिए उसने जोर दिया कि नहीं-नहीं, महाराज, आप ही कृपा कीजिए और सुनाइए। उसके भीतर विषाद के करते जो गड़बड़ पैदा हो गयी थी उसी के चलते जानें कितनी ही बातें भूल ही गयी थीं। उन्हीं में कुछ एकाएक अब याद भी हो आयीं। इसीलिए तो जहाँ पहले उसने कृष्ण के बारे में कहा था कि आप तो अभी पैदा हुए हैं; फिर यह कैसे मानूँ कि सृष्टि के आदि में आपने विवस्वान से यही बातें कही थीं; तहाँ अब उसने यह भी कह दिया कि हाँ, हाँ, भगवन्, आपके बारे में बड़े-बड़े महर्षियों से भी सुना था वही, जो आप खुद कह रहे हैं! क्षमा करें, मेरी बुद्धि ही जानें क्या हो गयी थी कि कुछ याद ही नहीं पड़ता था! आपकी महिमा तो अपरम्पार है, इसमें कोई शक नहीं है। यह भी नहीं कि यह आपकी प्रशंसामात्र है। यह तो वस्तुस्थिति है। इसलिए अब तो आपको अपनी

लीला सुनानी ही होगी, चाहे जो कुछ हो जाय।

इसके बाद तो भगवान् के लिए कोई चारा ही न था। फलतः फौरन ही 19वें श्लोक से ही उन्हें शुरू कर देना ही पड़ा। पूरे 24 श्लोकों में इसे पूरा करके भी अन्त में उनने कह दिया कि इस पँवारे का कहीं अन्त थोड़े ही है; मैंने तो यह नमूने के तौर पर ही कुछ कह दिया है, 'नांतोऽस्ति मम', 'एषत्द्देशतः प्रोक्तः' आदि। इसीलिए जो लोग शुरू के 18 श्लोकों को पढ़ के या तो ऊब जाते, या खयाल करते हैं कि भगवान् की विभूति या प्रपंच-लीला के निरूपण वाले इस अध्याय में प्रायः आधे श्लोक बेकार ही क्यों दूसरी बातों में लगा दिये गये हैं, उन्हें अब पता लग गया होगा कि इस बात की जरूरत थी। असल में यों तो इस विषय की अहमियत को जनसाधारण समझी नहीं सकते। इतनी भूमिका के बाद भी उनके दिमाग में यह बाद शायद ही जमे। उनके लिए तो यह दूसरी दुनिया की विदेशी जैसी चीज ही है। फिर मन लगे तो कैसे लगे? इसीलिए इतनी भूमिका भी कुछ विशेष काम उनके दिमाग पर कर पाती नहीं। मगर अर्जुन के बारे में यह बात न थी। वह तो बहुत कुछ ऊँचा उठ चुका था। इसीलिए इस भूमिका ने उसे न सिर्फ प्रोत्साहित किया; बल्कि उसमें चस्का भी पैदा कर दिया। फलतः वह इसमें लिपट ही तो पड़ा। नतीजा यह हुआ कि दसवें के शेष और पूरे ग्यारहवें अध्याय में उसने कृष्ण से 'कह सुनाऊँ' तथा 'कर दिखाऊँ' दोनों करवा के ही छोड़ा।

एक बात यहीं पर और भी जान के आगे बढ़ने में अच्छा होगा। 'एतां विभूतिं योगं च' (10।7) में तथा 'विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च'। (10।18) में एक ही साथ योग और विभूति शब्द आये हैं। इसके सिवाय सोलहवें में भी कई बार विभूति शब्द आया है। इन दोनों में विभूति का अर्थ तो 'बहुत रूप हो जाना या बन जाना' साफ ही है। जो कुछ कहा गया है उससे भी साफ हो जाता है। मगर उसी के साथ जो योग है उसका स्पष्टीकरण इस अध्याय में कहीं नहीं मिलता। अन्त के 40-41 श्लोकों में भी कई बार विभूति शब्द ही आया है, न कि योग। इससे यही मालूम होता है कि इस अध्याय में विभूतियों का ही वर्णन है, विस्तार है। इसीलिए तो इसे विभूतियोग नामक अध्याय कहते हैं; जैसा कि औरों को ज्ञान-विज्ञानयोग आदि नाम दिये गये हैं।

तब प्रश्न होता है कि यहाँ योग का अर्थ आखिर है क्या? योग शब्द जिन अर्थों में गीता में बार-बार आया है वह तो इसका अर्थ है नहीं। इसके तो ज्यादे से ज्यादा चमत्कार, करिश्मा, ऐश्वर्य आदि ही अर्थ किये जा सकते हैं। मगर तब क्या विभूति से काम नहीं चल जाता कि इसकी भी जरूरत हुई? यह प्रश्न उठता है। आखिर विभूति भी तो चमत्कार या करिश्मा ही है। जादूगर जब नयी-नयी चीजें बताता है तो उसे करिश्मा ही तो कहते हैं।

असल में दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में यों ऊपर से देखने से दो जुदी बातों

का वर्णन मालूम होने पर भी इनके विषय को एक ही मान के उसे दो भागों में केवल बाँटा गया है। इनमें पहला है 'कह सुनाऊँ' वाला और दूसरा 'कर दिखाऊँ' का। दोनों को एक हीं समझने के लिए ही यहीं पर एक ही साथ विभूति और योग शब्द शुरू में ही कहे गये हैं। यही कारण है कि विभूति के खत्म होते ही, 'कह सुनाऊँ' के पूरा होते ही अर्जुन ने ग्यारहवें में चट-पट 'कर दिखाऊँ' के बारे में प्रश्न कर दिया है और जरा भी देर न की है। कृष्ण के भी 'कर दिखाने' का उसके नौवें श्लोक से शुरू करने के ठीक पहले आठवें के अन्त में 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्' में योग आ गया है। जो कुछ दिखाया गया है उसे ही वहाँ ईश्वरीय योग कहा है। इससे स्पष्ट है कि विश्व रूप का दिखाना ही योग है। दिखाने के भीतर ही देखना भी आ जाता है। इसीलिए विश्वरूप दर्शन में दर्शन का अर्थ देखना-दिखाना दोनों ही है। अतएव दसवें के 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं' (10।2) में जो प्रभव शब्द है उसका अर्थ प्रभुता या ऐश्वर्य करके उसके भीतर विभूति और योग दोनों को ही समझना होगा। कृष्ण के कहने का अभिप्राय यही है कि मैं किस प्रकार इस विश्वप्रपंच को बनाता और फैलाता हूँ इसे देवता, महर्षि आदि कोई भी ठीक-ठीक नहीं जानते, नहीं जान सकते। जानें भी कैसे? यदि उस समय होते तब न? इन्हें तो मैंने ही उसी सिलसिले में पीछे से बताया है। इस प्रभव शब्द का अर्थ उत्पत्ति या उत्पत्तिस्थान आदि करना उचित नहीं है। उसमें वह मजा नहीं आता जो हमारे बताये अर्थ में है।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।1।।

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो, मेरी और भी (एक) बड़ी बात सुनो, जिसे मैं तुम्हारे हित के खयाल से तुम्हें (केवल) इसीलिए कहूँगा कि तुम्हें मजा आ रहा है।1।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।2।।

मैं विश्वप्रपंच कैसे फैलाता हूँ इसे न तो देवगण जानते हैं और न महर्षि लोग ही। क्योंकि मैं ही तो सभी देवताओं और महर्षियों का बनाने वाला ठहरा।2।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढ़ः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।3।।

मनुष्यों में जो (बिरला ही) पूर्ण जानकार होता है वही मुझ अजन्मा, अनादि और सभी प्रपंच के बनाने-चलाने वाले को अच्छी तरह जानता है (और इसीलिए) सभी पापों से छुटकारा (भी) पाता है।3।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।4।।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।5।।

विवेकशक्ति, विवेक, मोह का संसर्ग कतई न होना, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों पर काबू, मन पर काबू, सुख, दुःख, पदार्थों का होना, न होना, भय, अभय, अहिंसा, सब में समबुद्धि या सबके साथ समानता का व्यवहार, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश (आदि) ये सभी विभिन्न पदार्थ मैं ही पैदा करता हूँ।4।5।

जिन बीस पदार्थों को प्रधानतया इन दो श्लोकों में गिनाया है उनका इस प्रसंग में इतना ही उपयोग है कि आत्मसाक्षात्कार या दिव्य-दृष्टि प्राप्त करने और तदनुकूल ही दूसरों को उपदेश करने के लिए ये जरूरी हैं। इनके बिना वह नजर और वह दृष्टि एक तो मिली नहीं सकती। मिलने पर भी दूसरों को इन्हीं के अनुकूल पथदर्शन में किसी की प्रवृत्ति होई नहीं सकती, जब तक ये गुण उसमें पूर्णरूप से आ न गये हों। जिसे सुख-दुःख का कटु अनुभव न हुआ हो, जो क्षमाशील न हो, जिराने भय-अभय की खूबियाँ और कारनामे कभी देखे ही नहीं, वह क्या लोकसंग्रह करेगा? यही चीजें और ऐसी ही दूसरी भी उसे उस ओर जबर्दस्ती लगाती हैं, उसके दिल को पिघला देती हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाःप्रजाः।।6।।

सबसे पूर्व या सृष्टि के आरम्भ के सात महर्षि और चार मनु—ये सभी—मुझी से मेरे मन के संकल्प से ही पैदा हुए थे, जिनने दुनिया में ये प्रजाएँ पैदा कीं—यह जनता पैदा की।6।

इस श्लोक में जो 'पूर्वे' शब्द है वह 'महर्षयः सप्त' और 'चत्वारो मनवः' के बीच में आने के कारण दोनों ओर जुटता है। "लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा" (14।12) में 'कर्मणां' का भी वही हाल है। वह 'आरम्भः' और 'अशमः' दोनों से ही जुटता है। इसी को देहलीदीपकन्याय कहते हैं। बीच द्वार में जो दीपक रहता है वह बाहर-भीतर दोनों ही तरफ उजाला करता है। वही बात यहाँ भी है। इस तरह इसका अर्थ यह हो जाता है कि पूर्व के, शुरू के या यों कहिए कि सृष्टि के आरम्भ के सप्त महर्षि या सप्तर्षि और शुरू के ही चार मनु, ये ग्यारह भगवान् के मानसपुत्र हैं, मन के संकल्प से ही उत्पन्न हुए लोग हैं। इसीलिए इन्हें भगवान् के प्रतिनिधि मान के इनके द्वारा हुए सृष्टिविस्तार को भगवान् का ही विस्तार, उसी की विभूति मानते हैं। 'मद्भावाः' शब्द का यही अर्थ है कि ये लोग मेरे ही स्वरूप हैं। अतः मेरी जगह पर ही काम करते हैं। आखिर समूची सृष्टि का विस्तार खुद भगवान् अकेले तो कर सकते नहीं। इसीलिए उनने अपने सहायक पैदा किए। पैदा करना भी क्या

था? उनने मन में खयाल किया और ये आ हाजिर हुए। मानसपुत्र का यही मतलब है।

असल में प्रत्येक कल्प या सृष्टि में चौदह मनु माने जाते हैं जिन्हें मन्वन्तर भी कहते हैं। हरेक मनु के शासनकाल और काम के समय को ही अन्तर या पहले और दूसरे के बीच का समय कहने के कारण हरेक को मन्वन्तर कहा गया। यही है पौराणिक कल्पना। इसी के साथ यह भी बात है कि हरेक मनु या मन्वन्तर के लिए भिन्न-भिन्न सप्तर्षि लोग पुराणों में गिनाये गये हैं। मगर गीता ने न तो चौदह मनुओं को ही माना है और न सब मिला के पूरे 98 महर्षियों या सप्तर्षियों को ही। गीता की रचना के समय तक इस कल्पना का यह विस्तार हो पाया न था, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए इसका नाम उसने न लिया। मालूम होता है तब तक केवल चार ही मनुओं और सात ही महर्षियों की कल्पना हो पाई थी। इसीलिए उसने इन्हीं दो को लिखा। यदि पीछे और भी हों तो गीता को उनसे मतलब भी क्या हो सकता है? सृष्टि के शुरू में उसका विस्तार कैसे हुआ यही बात बतानी है। क्योंकि जोई सुने वही समझदार पूछ सकता है कि अकेले भगवान् ने भला यह सब कुछ कैसे बना डाला? इसलिए बनी-बनाई सभी चीजों और सभी पदार्थों के वर्णन के पहले ही कृष्ण ने ऐसा कह दिया जिससे किसी को शंका के लिए जगह रही नहीं जाती। ऐसी दशा में पीछे बने मनुओं या ऋषियों से गीता को प्रयोजन ही क्या? उनने सृष्टि के प्रारम्भिक विस्तार में मदद तो दी न थी।

अब प्रश्न होता है कि ये कौन से चार मनु और सात महर्षि थे? क्योंकि गीता में तो उनका नाम है नहीं। इसलिए खामख्वाह जिज्ञासा होती ही है। खासकर चौदह मनुओं और 98 महर्षियों की बात इधर चालू हो जाने के कारण यह उत्कण्ठा और भी बढ़ जाती है कि आखिर ये सात ही ऋषि और चार ही मनु कौन से हैं।

इसके उत्तर में हमें गीताकालीन या उससे पूर्व प्रचलित साहित्य से ही सहायता मिल सकती है और वह साहित्य है ऋग्वेद आदि वैदिक ग्रन्थों, निरुक्त और वृहदारण्यक आदि उपनिषदों का ही। शेष साहित्य तो पीछे का ही माना जाता है। अब यदि देखें तो वृहदारण्यक में गोतम या गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप और अत्रि इन सात का उल्लेख यों मिलता है, "इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्र जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेवं वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिः" (2।2।4)। इसी के पहले 'तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे' यह मन्त्र का प्रतीक लिख के उसी का व्याख्यान इस ब्राह्मण में किया गया है। क्योंकि उपनिषद् तो ब्राह्मण-ग्रन्थ का ही एक भाग है। इससे स्पष्ट है कि उस मन्त्र में भी इन्हीं सात महर्षियों का उल्लेख है। इसी प्रकार यदि वेदों के सूक्तों या उन मन्त्र-समूहों को, जिनमें एक-एक विषय का प्रतिपादन है, देखें तो पता चलता है कि उनके कर्त्ता या ऋषि प्रायः यही सात महर्षि पाये जाते

हैं क्योंकि हरेक मन्त्र के ऋषियों को पहले से ही लोगों ने लिख रखा है।

इसी तरह जब मनुओं के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करते हैं तो पता चलता है ऋग्वेद के आठवें मण्डल के 51, 52 तथा दसवें के 62 सूक्तों में कई बार वैवस्वत, सावर्णि एवं सावर्ण्य नामक तीन मनुओं का उल्लेख पाया जाता है। दृष्टान्त के लिए 51-52 सूक्त के पहले मन्त्रों को देखें। वे यों हैं "यथा मनौ सावरणौ सोममिन्द्रापिबः सुतम्। नीपातिथौ मघवन्मेधातिथौ पुष्टिगो श्रुष्टिगौ तथा", "यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिबः सुतम्। यथात्रितेच्छन् इन्द्र जुजोष स्यायौ मादयसे स च"। इसी तरह दसवें मण्डल के 62वें सूक्त में सावर्णि तथा सावर्ण्य का उल्लेख है। इसका सावरणि और उसका सावर्णि ये दोनों एक ही हैं। इसी तरह निरुक्त के 'मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' (3।1।5) में स्वायम्भुव मनु का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार वैवस्वत, सावर्णि, सावर्ण्य और स्वायम्भुव यही चार मनु गीता में माने गये हैं। हमारे जानते यही प्रामाणिक और उचित बात भी है और गीता के इस श्लोक का यही अर्थ मुनासिब भी है।

मगर कुछ लोगों ने, जो इस बात का बहुत बड़ा दावा करते हैं कि उनके अर्थ में खींचातानी नहीं है, इस श्लोक का निराला ही अर्थ किया है। उनके दिमाग में यह बात बैठ चुकी थी कि गीता में भागवत या नारायणीय धर्म का ही प्रतिपादन है और वह भी ऐसा ही जैसा उसे वह समझते हैं। वह कहते हैं कि वह भागवतधर्म है तत्त्वज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग। कर्मयोग का भी अर्थ वह यही करते हैं कि कर्मों का स्वरूपतः त्याग कभी नहीं करके उन्हें करते-करते ही मर जाना। वह केवल फलासक्ति का त्याग ही मानते हैं। वह इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को तीन टुकड़ों में बाँटते हैं। वे हैं महर्षयः सप्त, पूर्वे चत्वारः, तथा मनवः। फिर इनके अर्थ यों करते हैं कि सात महर्षि, उनके पहले के चार और मनु। उनके कथन से मरीचि, अत्रि, अंगिरस्, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु यही सात ऋषि हैं। इनका वर्णन महाभारत के शान्तिपर्व के 335 और 340 अध्यायों में आया है। अब रहे इन महर्षियों से भी पहले के चार। उन्हें भागवतधर्म में चतुर्व्यूह के नाम से पुकारते हैं और वे हैं वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। इनकी उत्पत्ति का क्रम इन सप्तर्षियों से भी पहले माना गया है। इनका उल्लेख भी उसी प्रसंग में ही महाभारत में आया है। मनु शब्द से भी उनने सात मनु लिये हैं, जिनमें छः तो गीता से पहले गुजर चुके थे और सातवाँ उसी समय गुजर रहा था। उनके नाम क्रमशः ये हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तम या औत्तमी, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत। उस समय वैवस्वत ही गुजर रहा था। बाकी मनु तो गुजरे न थे और न वर्तमान ही थे; फिर उनका उल्लेख गीता क्यों करती? संक्षेप में उनका यही कथन है, उनकी यही दलील है। उनने यह भी लिख मारा है कि आने वाले ही मनुओं में सावर्णि है।

हमें कहना यही है कि केवल पौराणिक बातों के आधार पर गीता के श्लोक का अर्थ करना कभी उचित नहीं है, खासकर जबकि वे खुद मानते हैं कि गीता का

समय बहुत पुराना और ब्राह्मणग्रन्थों के समकालीन या उनके बाद का ही है। परन्तु पौराणिक काल तो बहुत इधर का है। गीता के 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं' (10। 35) श्लोक के, जो इसी अध्याय का है, अर्थ में ही उनने ये सारी बातें स्वीकार की हैं। हम तो कही चुके हैं कि ऋग्वेद में ही सावर्णि का उल्लेख है और उसी को ये महाशय भावी मनु मानते हैं! वृहदारण्यक में लिखे और वेदों में भी माने गये सात महर्षियों को न मान के महाभारत या पुराणों के सात को मानने में भी हमें आश्चर्य ही होता है! क्या सचमुच ज्यादा माननीय ये पुराण आदि ही हैं? मगर वे भी तो ऐसा नहीं मानते। तब मनु और ऋषियों के ही बारे में ऐसा मानने में कौन सा औचित्य है? इस तरह कहाँ-कहाँ से खींच-खाँच के पदार्थों को लाना, उन्हीं के बल पर श्लोक का अर्थ करना और फिर भी यह मानना कि यह खींचातानी नहीं है, कुछ अजीब सी चीज हैं!

जरा और भी तो देखिए। अगर यही अर्थ करना है तो फिर केवल 'महर्षयः' कहने से भी यही सात लिये जाते, जैसे मनवः कहने से सात ही आपने माने हैं। और अगर 'मनवः' के साथ 'सप्त' विशेषण की जरूरत नहीं हुई तो महर्षयः के साथ भी क्या जरूरत थी? आखिर जिन पौराणिक वचनों के बल से यह अर्थ किया गया है वे तो कहीं चले जाते नहीं। वे तो 'सप्त' के रहने पर भी रहते और न रहने पर भी। फिर व्यर्थ ही उसके लिखने की क्या आवश्यकता थी। यह भी बात है कि जब सावर्णि, सावर्ण्य नाम दो मनुओं को भी हम पहले होने वाले ही बता चुके हैं; इसीलिए ऋग्वेद में उनका उल्लेख भी है, तो सात से ज्यादा तो होई गये। फिर सात मनु कहने की हिम्मत उनने कैसे की? केवल बहुवचनान्त 'मनवः' पद से तो ज्यादा भी ले सकते हैं। कम से कम नौ तो लेना ही होगा। इसी तरह यदि 'महर्षयः' कहने से उनके बताए सात लिये जायँ, तो वृहदारण्यक वाले सात तो जरूर ही लिए जाने चाहिए। फिर 'महर्षयः' का विशेषण यह 'सप्त' कैसे उचित होगा? इसी प्रकार चत्वारः का अर्थ यदि वासुदेव आदि चार ही हों, तो आगे जो यह कहा है कि वह मेरे मानव संकल्प से ही पैदा हुए 'मानसा जातः', वह कैसे युक्ति-युक्त होगा? वासुदेव के ही मानससंकल्प से स्वयमेव वासुदेव ही पैदा हों, यह कैसी बात ? और इसकी जरूरत भी क्या थी ? वासुदेव तो मौजूद थे ही। फलतः संकल्प के द्वारा केवल तीन को ही पैदा करते तो ठीक होता और काम भी चलता। वासुदेव तो कृष्ण को और भगवान् को भी कहते ही हैं। गीता ने भी 'वासुदेवः सर्वमिति' (7। 19) में यही कहा भी है। फिर वासुदेव ने ही अपने को भी क्यों और किसलिए नाहक पैदा किया? आखिर यह जादू या करिश्मे की बात न हो के सृष्टि का दार्शनिक विवेचन है न? फिर ये बेसिर-पैर की बातें कैसी?

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। 7।।

मेरी अभी कही जाने वाली इस विभूति और योग का जो ठीक साक्षात्कार कर लेता है उसे सुदृढ़ योग की प्राप्ति हो जाती है, इसमें संशय (जरा भी) नहीं है। 7।

यहाँ 'एतां विभूतिं' का अर्थ है कि जिस विभूति का वर्णन अभी होने वाला है। 'तत्त्वतो वेत्ति' का अर्थ तत्त्वज्ञान या आत्मरूपेण साक्षात्कार ही है। इसीलिए उत्तरार्द्ध के योग का अर्थ 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' (2।48) वाला ही योग है। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार के बाद वही योग प्राप्त होता और अचल रहता है। यहाँ इस कथन के दो अभिप्राय हैं। एक यह कि महर्षियों तथा मनुओं के अलावे भी जोई इसे जान जाय वही वैसा ही हो जाता है। दूसरा यह कि इसे जाने बिना काम चलने का नहीं। जो जानेगा वही पक्का योगी होगा। इसलिए इसे जानने का यत्न पूरा-पूरा होना चाहिए। इस तरह अर्जुन के दिमाग को इसके लिए तैयार किया गया है।

जो लोग समझते हैं कि भगवान् बड़ा दयालु है; अतएव उसकी प्रार्थना वगैरह करने से वह कृपा करता और निस्तार करता है, वह भूलते हैं। यहाँ कृपा का प्रश्न हई नहीं। भगवान् तो समस्त शक्तियों का सर्वप्रधान स्रोत है। वहीं से सारी चीजें चलती हैं, फैलती हैं, विराट् या विश्वरूप के निरूपण और विभूतियों के विवेचन के भीतर यही आशय छिपा है। यह तो मालूम ही है कि जो सोते में जायँगे, डुबकी लगायेंगे वह शीतल होंगे, स्नान करेंगे, पवित्र होंगे। इसमें सोते की दया-माया का कहाँ सवाल आता है? पके फलों से लदे पेड़ के पास जाने पर फल भी मिलेंगे और वृक्ष की कृपा की बात आयेगी भी नहीं। यही है वास्तविक दृष्टि। इसी दृष्टि से हमें उधर जाना चाहिए, उधर बढ़ना होगा। आगे वाले चार श्लोक इसी का स्पष्टीकरण करते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।8।।
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।9।।

मैं ही सभी चीजों का मूल स्रोत हूँ और मुझी से सभी चीजें बाहर जाती हैं, विवेकी लोग यही समझ के पूर्ण श्रद्धा-भक्ति के साथ मुझे भजते हैं। अपने चित्त और इन्द्रियों को मुझी में लगा के परस्पर एक दूसरे को समझाते-बुझाते और निरन्तर मेरी ही चर्चा करते हुए वे मुझमें ही रमते और सन्तुष्ट रहते हैं।8।9।

यहाँ प्राण का अर्थ इन्द्रियाँ ही हैं। उपनिषदों में उन्हें भी प्राण कहा है। वायुरूपी प्राणों को कहीं भी रोकें। मगर आत्मा या परमात्मा में उन्हें कभी लगा नहीं सकते, यह मानी हुई बात है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।10।।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।11।।

निरन्तर मुझी में लगे (और) मुझे ही प्रेमपूर्वक भजने वाले उन लोगों को वह आत्मसाक्षात्कार रूपी बुद्धियोग प्राप्त करवा देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते

हैं। (यह यों होता है कि) उन्हीं पर अनुकम्पा करके (तथा) उनकी आत्मा के रूप में ही विदित हो के उस प्रचण्ड ज्ञानदीप से उनके अज्ञान-मूलक हृदयान्धकार को खत्म कर देता हूँ। 10-11।

बस, इतना कहना था कि अर्जुन का दिमाग साफ हो गया, उसमें चसक आ गयी, जैसा कि पहले ही बता चुके हैं और उसने सोचा कि कहीं यह स्वर्ण सुअवसर मेरी चुप्पी के ही करते हाथ से यों ही चला न जाय; इसलिए फौरन ही अपनी सफ़ाई देता हुआ और यह कहता हुआ कि आप ही यह बात अपने मुँह से ही कहें तभी इस विषय के साथ पूर्ण न्याय हो पायेगा।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।। 12।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।। 13।।

अर्जुन कहने लगा—आप ही परब्रह्म, ज्योतियों की ज्योति और पवित्र से भी पवित्र हैं। आपको ही सभी ऋषि (तथा खासकर) देवर्षि नारद, असित, देवल (और) व्यास सनातन दिव्य पुरुष, आदि देव—देवताओं के भी देव—अजन्मा और सर्वव्यापी बताते हैं। आप स्वयं भी तो मुझसे यही कह रहे हैं। 12। 13।

सामान्यतः ऋषियों को कह के फिर नारद, असित, देवल और व्यास का खासतौर से नाम लेना यह सूचित करता है कि उन दिनों इनकी ही अधिक धाक थी और सभी लोग आमतौर से इन्हीं की बातें मानते थे। ऋषि के मानी हैं ज्ञानी या द्रष्टा—सूक्ष्मदर्शी। ऋषियों में भी जो मनुष्य माँ-बाप से जन्म न लेकर ब्रह्मा वगैरह के मानसपुत्र थे वही देवर्षि कहे जाते थे। ऋषि लोग ही उस जमाने के नेता, उपदेशक, कानून बनाने वाले (Lawgiver) और रहनुमा थे।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।। 14।
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्य त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देव देव जगत्पते।। 15।।

हे केशव, आप जो कुछ मुझे बता रहे हैं मैं उसे सही मानता हूँ। भगवन्, आपकी व्यक्ति—आपकी हस्ती—को ठीक-ठीक न तो देवता ही जानते हैं और न दानव लोग ही। हे पुरुषोत्तम, हे भूतभावन, हे भूतेश, हे देवदेव, हे जगत्पति आप खुद अपने आप ही अपने को जानते हैं। 14। 15।

यहाँ भूतभावन का अर्थ है पदार्थों को पालने तथा कायम रखने वाला। भूतेश का अर्थ है पदार्थों का शासक और नियामक। जैसे बोलचाल में कहते हैं कि आप

की हस्ती, आपकी शख्सियत को कोई नहीं जानता, आपकी व्यक्ति को भला कौन जाने, आदि-आदि; ठीक वैसा ही यहाँ भी है।

यहाँ यह कहना, कि मैं आपकी सभी बातें सही मानता हूँ, इस बात की सफाई है कि पहले जैसा सन्देह अब मेरे मन में रह नहीं गया, आप विश्वास रखें; फलतः आपका उपदेश जरा भी व्यर्थ न जायगा।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।। 16।।

(इसलिए) आप अपनी सभी दिव्य विभूतियों को जरूर ही कह सुनाइए—उन्हीं विभूतियों को जिनके द्वारा सभी जगहों में व्याप्त हो के सर्वत्र मौजूद हैं। 16।

कथं विद्यामहं योगिस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया।। 17।।

हे योगिन्, आपका किस प्रकार सदा चिन्तन करते हुए (आपको) जान सकूँगा? और, भगवन् (खासतौर से) किन-किन पदार्थों में आपका चिन्तन किया जाना चाहिए?। 17।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन!
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।। 18।।

हे जनार्दन, अपनी विभूति और योग—दोनों ही—को और भी विस्तार से कहिए। क्योंकि (आपके वचनरूपी) अमृत—मधुर वचनों—को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती है। 18।

अब श्रीकृष्ण ने समझ लिया कि जरा भी देर करना ठीक नहीं। क्योंकि सब परिस्थिति बनी बनाई मौजूद है। इसलिए चटपट—

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। 19।।

श्रीभगवान् ने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ, लो अभी-अभी अपनी प्रधान दिव्य विभूतियों को (संक्षेप में) तुम्हें सुनाये देता हूँ। (क्योंकि) मेरी (इन विभूतियों के) विस्तार का अन्त हई नहीं। 19।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। 20।।

हे गुडाकेश, सब पदार्थों के भीतर—हृदय, अन्तःकरण या मर्म में—रहने वाली आत्मा मैं ही हूँ। पदार्थों का आदि, मध्य और अन्त भी—उनका सब कुछ—मैं ही हूँ। 20।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।। 21।।

(बारह) सूर्यों में विष्णु नामक सूर्य मैं हूँ, सभी प्रकाशवान् पदार्थों में किरण वाला सूर्य, (उनचास) पवनों में मरीचि नामक पवन और (रात में जगमगाने वाले) तारों में चन्द्रमा मैं हूँ। 21।

पहले श्लोक में सामान्य वर्णन के बाद 21वें से चुनचुन के विशेष वर्णन शुरू हुआ है।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।। 22।।

वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ (और जीवधारियों में) चेतनता हूँ। 22।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।। 23।।

(ग्यारह) रुद्रों में शंकर हूँ, यक्ष-राक्षसों में कुबेर (हूँ), (आठ) वसुओं में अग्नि हूँ (और) चोटीवालों में सुमेरु (हूँ)। 23।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।। 24।।

हे पार्थ, पुरोहितों में (सबके) मुखिया बृहस्पति मुझी को समझो। सेनापतियों में कार्त्तिकेय और जलाशयों में समुद्र मैं हूँ। 24।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।। 25।।

महर्षियों में भृगु (और) वाणी में एक अक्षर—ॐकार—मैं हूँ। यज्ञों में जपयज्ञ और न हिलने-डोलने वालों में हिमालय हूँ। 25।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।। 26।।

सभी वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ नामक गन्धर्व और सिद्धों में कपिल मुनि (मैं हूँ)। 26।

उच्चै श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।। 27।।

घोड़ों में (अमृत के साथ उत्पन्न) उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा मुझे समझो, बड़े हाथियों में ऐरावत—इन्द्र का हाथी—और मनुष्यों में राजा (भी मुझे ही समझो)। 27।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।। 28।।

हथियारों में वज्र (तथा) दुही जानेवालियों में कामधेनु हूँ। सन्तानोत्पादक काम मैं हूँ (और) सर्पों—रेंगनेवालों—में वासुकि नामक सर्प मैं हूँ। 28।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।। 29।।

नागों यानी दिव्य–विलक्षण–सर्पों में शेषनाग हूँ। (और) जलजन्तुओं में वरुण। पितरों में अर्यमा नामक पितर और (लोगों को सुधारने के लिए) दण्ड करने वालों में यम हूँ। 29।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।। 30।।

दैत्यों में प्रह्लाद और गिनने या हिसाब लगाने वालों में काल–समय–मैं हूँ। पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ। 30।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।। 31।।

पवित्र करने, सुखाने या चलने वालों में वायु और शस्त्रधारियों में राम हूँ। जलजन्तुओं में मगर और सोतों में भागीरथी गंगा मैं हूँ। 31।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।। 32।।

हे अर्जुन, सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ। (सभी) विद्याओं में अध्यात्म विद्या–आत्मज्ञानशास्त्र–(और) विवाद करने वालों में वाद मैं हूँ। 32।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।। 33।।

अक्षरों में अकार और समासों में द्वन्द्व मैं हूँ। मैं ही अविनाशी काल हूँ (और) जगत् को कायम रखने वाला सर्वव्यापी भी मैं हूँ। 33।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।। 34।।

सबको मारने वाली मौत और आगे होने–पैदा होने या प्रगति करनेवालों की उत्पत्ति तथा प्रगति मैं हूँ। स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा (भी मैं हूँ)। 34।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।। 35।।

(अनेक प्रकार के) सामों में बृहत् नामक साम और छन्दों में गायत्री हूँ। महीनों में मार्गशीर्ष–अगहन–और ऋतुओं में वसन्त हूँ। 35।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।। 36।।

छलने वालों में जुआ (और) तेजस्वियों में तेज हूँ। (विजयियों का) विजय, (उद्योगियों का) उद्योग (और) सात्त्विक पदार्थों का सत्त्वगुण मैं हूँ। 36।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशनाः कविः।। 37।।

वृष्णियों में कृष्ण (और) पाण्डवों में अर्जुन हूँ। मुनियों में व्यास और कवियों में कवि शुक्राचार्य हूँ। 37।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।। 38।।

दूसरे को दबाने वालों में दण्ड हूँ (और) विजयेच्छुओं में नीति हूँ। गोपनीयों में मौन (और) ज्ञानियों में ज्ञान मैं हूँ। 38।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्यस्यानम्या भूतं चराचरम्।। 39।।

हे अर्जुन, सभी पदार्थों का जो बीज है सो भी मैं ही हूँ। (क्योंकि) स्थावर और जंगम पदार्थों में ऐसा एक भी नहीं है जो मेरे बिना टिक सके। 39।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। 40।।

हे परन्तप, मेरी दिव्य विभूतियों का आर-पार नहीं है। यह तो मैंने विभूतियों का विस्तार (केवल) संक्षेप में (नमूने के तौर पर ही) कहा है। 40।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्ज्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्।। 41।।

(सबका निचोड़ यही है कि) जो-जो पदार्थ चमत्कार वाले, गुणवाले या शक्तिशाली हों उन-उनको मेरे ही तेज के अंश से ही बने मानो। 41।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।। 42।।

अथवा, हे अर्जुन, इस तरह बहुत बातें जानने से तुम्हारा क्या होगा? (तुम यही समझ लो कि) इस समूचे जगत् को मैं अपने एक कोने में रखे हुए पड़ा हूँ। 42।

इस अध्याय के इधर के प्रायः 22 श्लोकों में ऐसी बातें आयी हैं जिनके बारे में कुछ कह देना जरूरी है। 20वें में पदार्थों का आदि, मध्य, अन्त कहा है और 32वें में सर्गों का। यहाँ सर्ग का अर्थ है सृष्टि। जितनी बार सृष्टि हुई है सभी से यहाँ मतलब है। इसीलिए अन्त का अर्थ है प्रलय। मगर 20वें में एक ही सृष्टि के पदार्थों से तात्पर्य है। इसी प्रकार 25वें में महर्षि, 26वें में देवर्षि तथा 37वें में मुनि आये हैं। ऋषि कहते हैं द्रष्टा या ज्ञानी (seer) को। वैदिक मन्त्रों के द्रष्टा और कर्त्ता ऋषि माने जाने हैं। मुनि कहते हैं मनन करने वालों को। दार्शनिक वाद-विवाद मुनियों का ही काम है। ऋषि लोग तो सत्य बातें कह देते हैं। वे न तो विवाद में ही पड़ते और न विशेष तर्क-दलील देते हैं। देवर्षि की बात कही जा चुकी है। सनक,

सनन्दन आदि देवर्षि ही माने जाते हैं। 29वें में संयमन का अर्थ है जीवों को सुधारने के लिए दण्ड करना। 38वें में दमन का अर्थ सुधार न हो के दबाना या मिटाना ही है। 25 वें में जपयज्ञ को सब यज्ञों से श्रेष्ठ मान लिया है। तभी तो उसे भगवान् का रूप बताया है। मगर 'श्रेयान्द्रव्य' (4।33) में ज्ञानयज्ञ को ही उत्तम कहा है। असल में ज्ञान वैसा यज्ञ नहीं है जैसे अन्य यज्ञ। आमतौर से यज्ञ-व्यवहार होता है औरों में ही, न कि ज्ञान में। बेशक सद्ग्रन्थों का पाठ वगैरह ज्ञानयज्ञ है और है यह अन्य यज्ञों जैसा ही। ऐसे ज्ञानयज्ञ से भी जपयज्ञ तो उत्तम हई। जप तो मानसिक भी होता है। वह बिना मन की एकाग्रता के हो सकता भी नहीं। इस प्रकार ध्यान या समाधि भी जपयज्ञ में आ जाती है। इसीलिए 'ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्' (8।13) वाली बात समाधि में ही आयी है। यह भी बात है कि 'श्रेयान्द्रव्य' (4।33) में सिर्फ द्रव्ययज्ञों से ही ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ बताया है। मगर यहाँ तो सभी यज्ञों से जपयज्ञ को उत्तम कहा है।

पवन का उल्लेख 31वें में है और राम का भी। क्रिया से शुद्धि होती है। अग्नि, वायु, जल या मिट्टी से ही शुद्धि होती है और ये सभी क्रियाशील हैं। इसीलिए शोधकों या क्रियाशीलों में वायु की प्रधानता मानी गयी है। इसी तरह राम् का अर्थ दशरथपुत्र ही है, न कि परशुराम। यह ठीक है कि प्रसिद्ध शस्त्रधारी परशुराम ही माने जाते हैं। मगर उन्हें भीष्म ने पछाड़ा था। दशरथपुत्र राम से भी वह हारे थे। शस्त्रधारण क्षत्रियों का ही काम है भी। इसीलिए दशरथपुत्र राम को ही यहाँ लेना ठीक है। उस समय यह काम ब्राह्मणों के लिए उचित नहीं माना जाता था, यह भी इससे सिद्ध हो जाता है।

वेदों में सामवेद की प्रधानता की बात 22वें में और 35वें में बृहत्साम की बात है। यह ठीक है कि ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। मगर साम तो गान है। मालूम होता है यह ज्ञान उस समय ज्यादा प्रचलित था। इसीलिए सामगान के यज्ञायज्ञी, बृहत्, रथन्तर आदि अनेक प्रकारों का भी उल्लेख इशारे से करके उन सबों में बृहत्साम को ही श्रेष्ठ माना है। साम की ही प्रसिद्धि उस समय थी, यही इससे सिद्ध होता है।

हाँ यहाँ जो 'तेजस्तेजस्विनामहम्' (10।36) कहा है वही सातवें अध्याय (7।10) में भी ज्यों का त्यों आया है। वहाँ का प्रसंग देखने से पता चलता है कि वह लड़ने-भिड़ने वाला तेज नहीं है। क्योंकि लड़ने में काम तथा राग होते ही हैं और वहाँ इसी की रोक है। फलतः ब्रह्मतेज या ब्रह्मवर्चस आदि से ही वहाँ मतलब है। क्षत्रियादि में भी यह तेज होता ही है। हाँ, यहाँ लड़ने-भिड़ने वाले ही तेज से तात्पर्य है, पूर्वापर से यही पता लगता है।

34वें में जो कीर्त्ति आदि को स्त्री कहा है उससे पता चलता है कि कभी ये आदर्श स्त्रियाँ ही थीं जिन्हें आज निर्गुण के रूप में ही माना जाता है। पुराणों में

ये दक्ष प्रजापति की पुत्रियाँ मानी गयी हैं। चाहे जो हो, पहले ये आदर्श स्त्रियाँ अवश्य थीं। इससे यह भी इशारा है कि साधारण स्त्री-समाज उस समय ऊँचा न था। यही कारण है कि 'स्त्रियो वैश्या' (9।32) में आमतौर से स्त्रियों को नीच कहा है।

33वें में द्वन्द्वसमास को ही औरों से अच्छा कह दिया है। इसमें जितने पद मिले होते हैं सभी के अर्थ प्रधान होते हैं। अन्य समासों की तरह कोई किसी का विशेषण या अप्रधान नहीं होता है। शायद इसी से उसे पसन्द किया हो। या इसका नया-नया अन्वेषण होने से उस समय यही ज्यादा प्रसिद्ध रहा हो, कौन कहे? यह ठीक है कि द्वन्द्व तो दुनिया का नियम है और इसे सहर्ष स्वीकार करने वाले ही प्रगति करते हैं। सम्भवतः यहाँ यही आशय हो भी।

30वें में गिननेवालों में काल या समय को बड़ा माना है। वैसी गिनती और हिसाब सचमुच कोई नहीं कर पाता। आप सोये रहें या जगे। उसका हिसाब ठीक चलता रहता है। वह हिसाब पूरा होते ही पदार्थों का पकना, तैयार होना, सूखना, खत्म होना वगैरह होता रहता है। यह काम क्षणभर भी नहीं रुकता। मगर 33वें में जो अक्षय काल की बात कही गयी है वह पहले की तरह किसी की अपेक्षावाला काल नहीं है। यहाँ तो स्वतन्त्र रूप से काल को भगवान् का रूप ही माना है।

36वें में जो व्यवसाय और सत्त्व की बात है उसमें व्यवसाय का अर्थ है दृढ़ निश्चय तथा तन्मूलक उद्योग। इसी प्रकार सत्त्व का अर्थ सत्त्व गुण भी है और तन्मूलक बल भी। यह बल लड़ने वालों का ही है, न कि सातवें की तरह काम राग-शून्य।

यहाँ उपसंहार में 'यच्चापि सर्व' (10।39) में जो कुछ कहा है सातवें में 'बीजं मां' (7।10) में भी वही है। ठीक ही है। उपसंहार तो सर्वत्र एक ही होगा न?

'मासानां मार्गशीर्षः' (10।35) में जो मार्गशीर्ष को और महीनों से श्रेष्ठ कहा है उसकी बड़ी महत्ता है। इससे अन्वेषण करने वालों ने यह अर्थ निकाला है कि उस समय या उसके पूर्व साल का आरम्भ मार्गशीर्ष से ही होता था। जैसे आज वर्ष के आरम्भ के बारे में चैत्र की स्मृति बनी है और रंग, होली आदि के द्वारा उसे याद करते हैं। बंगाली लोग वैशाख की ही स्मृति महीने भर गा-बजा के जगाते हैं। मेष की संक्रान्ति की स्मृति तो सभी हिन्दू मानते हैं। वही बंगला का वैशाख है। असल में यह विषय गहन है। हरेक महीनों के नाम नक्षत्रों के नामों से ही बने हैं। पाणिनीय व्याकरण का 'सास्मिन्पौर्णमासीति' (4।2।21) सूत्र भी यही कहता है। इसके सिवाय साल के ही नाम समा वर्ष, शरद आदि भी हैं। जब दिन रात सम या बराबर होते होंगे तभी किसी समय वर्ष का आरम्भ होता होगा। इसी प्रकार वर्षा के श्रीगणेश के समय या शरद ऋतु में भी कभी शुरू होता होगा। मगर यह स्वतन्त्र विषय भविष्य के लिए रहे।

41वें श्लोक में 'विभूति मत' शब्द आने से विभूति के मानी केवल पदार्थ न

हो के चमत्कार-युक्त पदार्थ है। इसलिए विभूति में भी योग आ जाता है। मगर वास्तविक योग आगे है। आगे ग्यारहवें अध्याय के 47वें श्लोक में विराट् रूप दिखा के कहेंगे भी कि मैंने अपने योग से, 'आत्मयोगात्', इसे दिखाया है।

इति. विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।। 10।।

श्रीम. जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय यही है।

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन ने दसवें अध्याय में जो विराट् रूप का विस्तृत विवरण सुना उससे उन्हें ऐसी आतुरता हुई कि उसे जल्द से जल्द आँखों से देखने को लालायित हो उठे। चुन-चुन के प्रायः सभी पदार्थों को भगवान् का रूप बताना तो केवल कहने की एक रीति है। चमत्कार-युक्त पदार्थों पर ही तो पहले दृष्टि जाती है और एक बार जब उन्हें परमात्मा का रूप मान लिया, जब एक बार उनमें वह भावना हो गयी, तब तो आसानी से सभी में वही भावना हो सकती है। कहने का कौशल यही है कि इस बुद्धिमत्ता से बातें बतायें कि कुछी बातें कहने से काम चल जाये और सुनने वाला बाकियों को खुद-ब-खुद समझ जाये। कहते हैं कि किसी ने दूसरे से पूछा कि तुम्हारा क्या नाम है? उत्तर मिला कि तिनकौड़ी। फिर प्रश्न हुआ कि बाप का? जवाब मिला छकौड़ी। इसके बाद तो पूछने वाले ने स्वयमेव कह दिया कि बस, ज्यादा कहने का काम नहीं। अब तो मैं खुद तुम्हारे सभी पुरुषों तक के नाम जान गया। क्योंकि इसी प्रकार दूना करता चला जाऊँगा। ठीक वही बात यहाँ भी हुई है। जब सिंह को भगवान् मान लिया, तो शेष पशुओं को भगवान् से अलग मानने के लिए कोई दार्शनिक युक्ति रही नहीं जाती। सभी तो एक से हाड़-मांसवाले हैं। यही बात अन्य पदार्थों में भी लागू है। इस प्रकार चुने-चुनाये पदार्थों के नाम लेने से ही सबों का काम हो गया। यह भी बात है कि आखिर जब आँखों से प्रत्यक्ष देखने का मौका आये तो सबों को जुदा-जुदा देखना असम्भव भी है। थोड़े से चुने पदार्थों को ही देखते-देखते तो परेशानी हो जायेगी। लाखों तरह के पदार्थ जो ठहरे। इसलिए नमूने के रूप में जिन्हें दसवें में गिनाया है ग्यारहवें में उन्हीं को देखने में आसानी होगी, मजा भी आयगा और बात दिल में बैठ भी जायगी कि ठीक ही तो कहते हैं। जैसा कहा वैसा ही देखते भी तो हैं। जरा भी तो फर्क है नहीं। नहीं तो सबों का देखना असम्भव होने से नाहक की परेशानी (Confusion) हो जाती और काम भी वैसा नहीं बनता।

इसीलिए आगे अर्जुन ने स्वयमेव कह दिया है कि भगवन्, आप जो कहते हैं वह अक्षरशः सही है। इसमें शक-शुभे की गुंजाइश है नहीं। हाँ, कमी यही रह गयी है कि जरा इन्हें आँखों देख नहीं लिया है। तो क्या देख सकता हूँ? यदि हाँ,

तो बड़ी कृपा हो, अगर आप दिखा दें। इस कथन से और चटपट प्रश्न कर देने से भी उनकी आतुरता का पता चल जाता है। जो देखा नहीं, सुना है, उसको देख लेना ही काफी है, यही उनका आशय है। इससे अब तक के मन की पुष्टि हो के निदिध्यासन में प्रत्यक्ष सहायता भी हो जायगी। फिर तो स्वतन्त्र रूप से युद्ध के बाद अर्जुन यही काम कर सकेंगे। ग्यारहवें अध्याय के पढ़ने से पता चलता है कि कोई विशेषज्ञ अपनी प्रयोगशाला (laboratory) में बैठ के उन्हीं बताई बातों का प्रयोग (experiment) शिष्यों के सामने कर रहा है। ताकि उन्हें वे बखूबी हृदयंगम कर लें, जिन्हें अब तक समझाता रहा है। अर्जुन को शक था कि भला ये चीजें देख सकेंगे कैसे? इसीलिए उसने कहा भी। जनसाधारण भी तो यही मानते हैं कि भला कहीं दो हवाओं—ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन—के सम्मिश्रण से ही पानी बन सकता है। मगर प्रयोगशाले में जब उनकी आँखों के सामने विलक्षण आला और यन्त्र लगा के प्रत्यक्ष दिखाया जाता है तब मान जाते और आश्चर्य में डूब जाते हैं। अर्जुन की भी वही दशा हुई। आश्चर्यचकित होने के साथ ही वह घबराया भी। क्योंकि यहाँ भयंकर और बीभत्स दृश्य भी सामने आ गये जो दिल दहलाने वाले थे 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः', 'न तु मां शक्य से' (11।8) के द्वारा कृष्ण ने दिखाने के पहले अर्जुन को दिव्य दृष्टि क्या दी, मानो कोई विलक्षण आला या यन्त्र आँखों पर लगा दिया।

हाँ, तो देखने की ही आतुरता से चटपट—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।1।।
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।2।।

अर्जुन बोल उठा—मेरे ऊपर दया करके आपने अध्यात्म नामक जो परम गोपनीय बात कही है उससे मेरा यह मोह तो खत्म हो गया। हे कमलनयन, मैंने आपके मुख से पदार्थों के उत्पत्ति-प्रलय विस्तार के साथ सुने और आपका विकारशून्य माहात्म्य भी (सुन लिया)।1।2।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।3।।
मन्य से यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।4।।

हे परमेश्वर, हे पुरुषोत्तम, जैसा आप कहते हैं वह तो ठीक ही है। (अब केवल) मैं आपका वह ईश्वरीय रूप देख लेना चाहता हूँ। प्रभो, यदि आप ऐसा मानते हों

कि मैं उसे देख सकता हूँ तो, हे योगेश्वर, अपना अविनाशी रूप मुझे दिखाइए। 3। 4।

यहाँ प्रसंग से एक बात कह देनी है। अब तो अर्जुन ने मान लिया कि कृष्ण का जो कुछ भी अपने बारे में कहना है वह अक्षरशः सही है, उसमें जरा भी शक नहीं है। और कृष्ण ने अपने अवतार की बात के साथ ही यह भी तो कही दिया है मुझे मनुष्य शरीरधारी समझ जो लोग मेरा तिरस्कार करते हैं वह बिगड़े दिमागवाले बदबख्त लोग ही हैं। इतना ही नहीं। 'यद्यदारचित श्रेष्ठः' (321-26) आदि श्लोकों में उनने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि मैं स्वयमेव सभी कर्म इसीलिए करता हूँ कि मेरी देखादेखी जनसाधारण भी ऐसा ही करें। नहीं तो यदि मैं उलटा करूँ तो वह भी वैसा ही करेंगे। क्योंकि उनके पास समझ तो होती नहीं कि तर्क-दलील करके अपने फ़ायदे की बातें करें। वे तो आँख मूँद के यही सोचते हैं कि जब खुद कृष्ण ही ऐसा करते हैं तो हम क्यों न करें? यह जरूर ही अच्छा काम होगा। नतीजा यह होगा कि मेरे चलते सारी दुनिया चौपट हो जायगी।

इससे गोपियों के साथ रासलीला वाली बात बिलकुल ही बेबुनियाद और निराधार सिद्ध हो जाती है। भला, जो महापुरुष औरों के बारे में और अपने बारे में भी इतनी सख्ती से बातें करे कि लोगों को जरा भी विपथगामी होने का मौका हमें अपने आचरणों के द्वारा नहीं देना चाहिए, वही ऐसा जघन्य और कुत्सित कार्य कभी करेगा, यह दिमाग में भी आने की बात है क्या? जो लोग ऐसी वाहियात बातों के समर्थन में लचर दलीलें पेश किया करते हैं उन्हें गीता के इन वचनों को जरा गौर से पढ़ना और इनके अर्थ को समझना चाहिए। तब कहीं बोलने की हिम्मत करनी चाहिए। हमने जो इन श्लोकों में स्पष्टीकरण में बहुत कुछ लिखा है उससे उनकी भी आँखें खुल जायँगी, यह आशा कर सकते हैं। गोपियाँ वेद की ऋचाएँ थीं, अनन्य भक्त थीं आदि-आदि जो कल्पनाएँ की जाती हैं और इस तरह बाल की खाल खींची जाती है उससे पहले यह क्यों नहीं सोचा जाता है कि इतनी गहरी और बारीक बातें क्या जनसाधारण समझ सकते हैं? और अगर यही बात होती तो फिर यह कहने की क्या जरूरत थी कि वे तो हमारी देखादेखी ही करेंगे और चौपट हो जायँगे? तब तो कृष्ण चाहे जो भी करते। फिर भी लोग कभी पथ-भ्रष्ट होते ही नहीं।

बस अर्जुन का यह कहना था और कृष्ण ने अपना नाटक फौरन ही फैला ही तो दिया। वे तो पहले से ही इसके लिए तैयार बैठे थे कि आखिरी काम यही करना होगा। उनके जैसा विज्ञ सूक्ष्मदर्शी भला ऐसा समझे क्यों नहीं? इसीलिए—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।। 5।।

श्रीभगवान् कहने लगे—हे पार्थ, मेरे सैकड़ों (और) हजारों तरह के बहुरंगी,

अनेक आकारवाले दिव्य रूपों को देख लो। 5।

अर्जुन पीछे कहीं घबरा न जाय, इसीलिए उसे पहले ही सजग कर देते हैं कि अजीब चीजें देखने को मिलेंगी, जो कभी दिमाग में भी नहीं आयी होंगी।

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।। 6।।
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।। 7।।
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।। 8।।

हे भारत, (द्वादश) आदित्यों, (आठ) वसुओं, (एकादश) रुद्रों, दोनों अश्विनी कुमारों, (तथा उनचास) मरुतों को देख लो (और) पहले कभी न देखे बहुतेरे आश्चर्य-जनक पदार्थ भी देख लो। हे गुडाकेश, आज यहीं पर मेरे शरीर में ही चराचर जगत् को एक ही जगह देख लो और जो कुछ और भी देखना चाहते हो (सो भी देख लो)। लेकिन अपनी इन्हीं आँखों से तो मुझे (उस तरह) देख सकते नहीं। (अतः) तुम्हें दिव्यदृष्टि दिये देता हूँ। (फिर बेखटके) मेरा ईश्वरी योग या करिश्मा देख लो। 6। 7। 8।

यहाँ सातवें श्लोक में जो यह कहा है कि और भी जो कुछ देखना चाहते हो देख लो, 'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि', उसका मतलब यही मालूम पड़ता है कि अर्जुन ने जो शुरू में ही कहा था कि यह भी तो निश्चय नहीं कि हमीं जीतेंगे या वही लोग, उसको कृष्ण भूले नहीं हैं और इशारे से ही कह देते हैं कि यह भी अपनी आँखों देख लो कि कौन जीतेगा। सचमुच आगे जो यह दिखाई पड़ा कि भीष्मादि सभी भगवान् के मुँह में घुसे जा रहे हैं वह तो नयी बात ही थी न? उसकी तो अब तक चर्चा भी नहीं हुई थी। वह बात अर्जुन के मन में थी जरूर। इसीलिए तो उसने शक जाहिर किया था। ताहम उसकी खुली चर्चा हुई न थी। फिर भी देखने को वह भी मिली। पूछने पर कृष्ण ने आगे कहा भी कि सबों का संहार करने चला हूँ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पर्थाय परमं रूपमैश्वरम्।। 9।।

संजय ने (धृतराष्ट्र से) कहा—हे राजन् महायोगेश्वर कृष्ण ने ऐसा कह के चटपट अर्जुन को (अपना इस तरह का) विलक्षण ईश्वरीय रूप दिखा ही तो दिया। 9।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।। 10।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।। 11।।

उस रूप में बहुत ज्यादा मुँह और आँखें हैं, बहुतेरी निराली दर्शनीय बातें हैं, बहुत से दिव्य अलंकार हैं, अनेक प्रकार के दिव्य (एवं) सजे-सजाये हथियार हैं, दिव्य मालाएँ (तथा) वस्त्र सजे हैं, दिव्य सुगन्धित पदार्थों का लेप लगा है। वह सब तरह से आश्चर्यमय, दिव्य, अनन्त और विश्व-व्यापक है। 10। 11।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।। 12।।

अगर एक ही साथ आकाश में हजार सूर्य निकल पड़ें तो उनका जो प्रकाश हो वही (शायद) उस महात्मा की प्रभा के जैसा हो सकता है। 12।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।। 13।।

वहाँ उस समय देवताओं के भी देवता कृष्ण के शरीर में अर्जुन को एक ही जगह समूचा संसार अनेक रूप में विभक्त दिखाई पड़ा। 13।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत।। 14।।

अब तो धनंजय—अर्जुन—के रोंगटे खड़े हो गये (और) वह आश्चर्य में डूब गया। (फिर) सिर झुका भगवान् को प्रमाण करके हाथ जोड़े हुए कहने लगा। 14।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।। 15।।

अर्जुन कहने लगा—हे देव, आपके देह के भीतर सभी देवताओं को, विभिन्न पदार्थों के संघों को, कमल के आसन पर बैठे सबों के शासक ब्रह्मा को, सभी ऋषियों को और अलौकिक सर्पों को देख रहा हूँ। 15।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।। 16।।

आपके अनेक बाहु, पेट, मुँह (एवं) आँखों से युक्त अनन्तरूप को ही चारों ओर देख रहा हूँ। हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप, न तो आपका अन्त, न आदि और न मध्य ही देख पाता हूँ। 16।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।। 17।।

मुकुट, गदा और चक्र धारण किये, तेज की राशि, चारों ओर प्रकाश फैलाये, जिस पर नजर टिक न सके ऐसा, सब तरफ दहकते सूर्य एवं अग्नि के समान देदीप्यमान और अपरम्पार आप ही को देखता हूँ। 17।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।। 18।।

तुम्हीं जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् ब्रह्म (हो), तुम्हीं इस विश्व के आखिरी आधार (हो), तुम्हीं विकारशून्य हो, सनातन धर्म के रक्षक हो (और) मेरे जानते तुम्हीं सनातन पुरुष हो ।18।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।। 19।।

आदि, मध्य, अन्त—तीनों—से रहित, अनन्त शक्तिशाली, अनन्त बाहुवाले, चन्द्र-सूर्य जिसके नेत्र हों, दहकती आग जैसे जिसके मुख हों और जो अपने तेज से इस विश्व को तपा रहा हो, मैं आपको ऐसा ही देख रहा हूँ।19।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हिं व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।। 20।।

आकाश और जमीन के बीच की इस जगह को और सभी दिशाओं को भी अकेले आप ही ने घेर रखा है। इसीलिए, हे महात्मन्, आपके इस उग्र रूप को देख के सारी दुनिया काँप रही है।20।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्यक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।। 21।।

देखिए न, (कुछ) देवताओं के झुण्ड आपके भीतर घुसे जा रहे हैं, (और) कुछ मारे डर के हाथ जोड़े प्रार्थना कर रहे हैं। महर्षियों एवं सिद्धों के दल (भी) 'स्वस्ति हो' की पुकार के साथ बहुत ज्यादा स्तुतियों के द्वारा आपका गुणगान कर रहे हैं।21।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।। 22।।

जो भी रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेव, दोनों अश्विनी कुमार मरुत, पितर तथा गन्धर्वों, यक्षों एवं असुरों के गिरोह के गिरोह हैं सभी विस्मित हो के आप ही को देख रहे हैं।22।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।। 23।।

हे महाबाहु, बहुत मुँहों तथा नेत्रोंवाला, अनेक बाहुओं, जंघों एवं पाँवों से युक्त, बहुतेरे पेट वाला और बहुत सी डाढ़ों के करते भयंकर यह तुम्हारा विशाल रूप देख के लोग घबराये हुए हैं और मैं भी व्यथित हूँ।23।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो।। 24।।

हे विष्णो, आकाश चूमते हुए, चकमक, रंग-बिरंगे, मुँह फैलाये तथा जलते हुए लम्बे नेत्रों से युक्त आपको देख के मेरी आत्मा दहल उठी है और मुझमें न तो धैर्य

है और न चैन। 24।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।। 25।।

डाढ़ों के करते विकराल (तथा) प्रलयकाल की अग्नि के समान (दहकते) हुए आपके मुँहों को देख के ही मुझे न तो दिशाएँ सूझती हैं और न चैन ही मिल रहा है। (इसलिए) हे देवेश, हे जगदाधार, प्रसन्न हो जाइए—कृपा कीजिए। 25।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।। 26।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः।। 27।।

राजाओं के गिरोह के साथ ही ये सभी धृतराष्ट्र के बेटे आपके भीतर—पेट में—तेजी से घुसे जा रहे हैं। भीष्म, द्रोण और यह कर्ण भी हमारे दल के प्रमुख योद्धाओं के साथ, डाढ़ों से विकराल दीखने वाले आपके भयंकर मुँहों में, तेजी से दौड़े जा रहे हैं। किसी-किसी की तो यह हालत है कि दाँतों के बीच में ही सट गये हैं और उनके सिर चूर्ण-विचूर्ण नजर आ रहे हैं। 26। 27।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।। 28।।

जिस तरह नदियों की बहुत सी तेज धाराएँ समुद्र की ही ओर दौड़ी चली जाती हैं, उसी तरह आपके धक्धक् जलते मुखों में नरलोक के ये वीर बाँकुड़े घुसे जा रहे हैं। 25।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।। 29।।

जिस प्रकार खूब तेज आग में पतिंगे बड़ी तेजी से घुस मरते हैं, वैसे ही आपके मुखों में ये लोग भी बड़ी तेजी से घुस रहे हैं। 29।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।। 30।।

(और) आप अपने जलते मुँहों में चारों ओर से सभी लोगों को निगल के जीभ चाट रहे हैं! हे विष्णो, आपकी उग्र प्रभाएँ अपने तेज से समस्त जगत् को घेर के खूब तप रही हैं। 30।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।। 31।।

हे देवताओं में श्रेष्ठ, मैं आपको प्रणाम करता हूँ, आप प्रसन्न हों (और भला) बतायें तो (सही कि) यह उग्र रूपवाले आप हैं कौन? मैं आदि (पुरुष) आपको जानना चाहता हूँ। क्योंकि आपको क्या करना मंजूर है यह मैं जान नहीं पाता हूँ। 31।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।। 32।।

श्रीभगवान् कहने लगे—मैं लोगों का संहार करने वाला मोटा-ताजा काल हूँ (और) यहाँ लोगों का संहार करने में लगा हूँ। (इसीलिए) तुम्हारे बिना भी—तुम कुछ न करो तो भी—परस्पर विरोधी फौजों में जितने योद्धा मौजूद हैं (सभी) खत्म होंगे ही। 32।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।। 33।।

इसलिए, हे सव्यसाची (अर्जुन), तुम तैयार हो जाओ, यश लूट लो (और) शत्रु को जीत के समृद्धियुक्त राज्य (का सुख) भोगो। मैंने तो इन्हें पहले ही मार डाला है। अतएव केवल एक बहाना बन जाओ। 33।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।। 34।।

मेरे हाथों (पहले ही) मरे-मराये द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्यान्य वीर बाँकुड़ों को तुम मार डालो, घबराओ मत (और) लड़ो। युद्ध में शत्रुओं को (जरूर) जीतोगे। 34।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।। 35।।

(तब) संजय (धृतराष्ट्र से) बोला—किरीटी (अर्जुन) कृष्ण की यह बात सुन के हाथ जोड़े काँपता हुआ कृष्ण को नमस्कार करके अत्यन्त भय के साथ रुँधे गले से पुनरपि कहने लगा। 35।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।। 36।।

अर्जुन बोला—हे हृषीकेश, (यदि) आपके गुणगान से संसार हर्ष-प्रफुल्लित होता और अनुरागी बनता है (तो) ठीक ही है (और अगर) राक्षस लोग (आपके) डर से इधर-उधर भागते फिरते हैं तथा सिद्ध लोगों के सभी संघ (आपका) अभिवादन करते हैं (तो यह भी उचित ही है)। 36।

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यतु।। 37।।

हे महात्मन्, गुरुओं के भी गुरु (और) ब्रह्मा के (भी) आदि कारण तुम्हें वे प्रणाम क्यों न करे? हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास, स्थूल (एवं) सूक्ष्म (तथा) उससे भी परे जो अक्षर ब्रह्म है वह तुम्हीं हो। 37।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।। 38।।

तुम आदिदेव (और) सनातन पुरुष (हो), तुम्हीं इस विश्व के परम आधार (हो), तुम्हीं ज्ञाता, ज्ञेय और परम ज्योतिस्वरूप (हो)। हे अनन्तरूप, तुमने विश्व को व्याप लिया है। 38।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽतु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।। 39।।

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति—ब्रह्मा, कश्यप, दक्ष आदि—और उनके भी दादा हो। आपको हजार बार नमस्कार है और पुनरपि आप ही को बार-बार नमस्कार है। 39।

यहाँ प्रजापति का अर्थ ब्रह्मा, दक्ष, मरीचि, कश्यप आदि सभी हैं। एकवचन कहने में कोई हर्ज नहीं है। तभी तो सभी लिये जायँगे, न कि खास तरह से एकाध ही। यह कहना कि ये ब्रह्मा के बेटे हैं गलत बात है। मनु, सप्तर्षि आदि की ही तरह ये सभी मानस हैं। मनु आदि भी प्रजापति ही हैं। सबको भगवान् ने संकल्प से ही पैदा किया। ब्रह्मा को पितामह भी कहते हैं और वह प्रजापतियों में ही आ गए। इसीलिए भगवान् को ही प्रपितामह या उनका दादा कहा है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।। 40।।

हे समस्त जगत्स्वरूप, आपको आगे से नमस्कार, पीछे से नमस्कार, और सब ओर से नमस्कार है। आप अनन्तवीर्य तथा अमित पराक्रम वाले हैं। आप ही सभी पदार्थों के रग-रग में व्याप्त हैं। इसीलिए सभी के स्वरूप ही हैं। 40।

वीर्य कहते हैं वीरता या शक्ति को, सामर्थ्य को। उसके अनुसार आगे बढ़ने या काम को पराक्रम कहते हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।। 41।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।। 42।।

साथी समझ के (और) आपकी महिमा को इस तरह न जान के (कभी) जो आपको अपमान के रूप में हे कृष्ण, हे यादव, हे साथी इस तरह मैंने प्रमाद से या

प्रेम के चलते ही कह दिया हो, और हे अच्युत हँसी-मजाक में जो घूमने-फिरने, सोने, बैठने या भोजन के समय अकेले में या लोगों के सामने आपका अपमान कर दिया हो, उसके लिए अपरम्पार महिमावाले आपसे क्षमा चाहता हूँ। 41 । 42।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।। 43।।

हे संसार भर में अतुल प्रभाव वाले, तुम इस चराचर संसार के पिता हो, पूज्य (हो), (और) गुरु के भी गुरु (हो)। तुम्हारी बराबरी का तो कोई हुई नहीं, बड़ा कोई कैसे होगा?। 43।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।। 44।।

इसीलिए साष्टांग प्रणाम करके ईश्वर और स्तुति-योग आपको खुश करना चाहता हूँ। हे देव, जैसे पुत्र का अपराध पिता, साथी का साथी और स्त्री का पति क्षमा कर देता है वैसे ही—आप मेरी भूलें भी क्षमा कर दें। 44।

यहाँ उत्तरार्द्ध में 'प्रियायाः' का 'अर्हसि' के साथ सम्बन्ध होने पर व्याकरण के अनुसार 'प्रियाया अर्हसि' यही होना चाहिए, न कि सन्धि के करते अकार विलुप्त हो जायगा, या 'प्रियाया' के 'या' के आकार में मिल जायगा। किन्तु गीता में तो ऐसा बहुत बार हुआ है। और तो और, इसी से तीन ही श्लोक पहले हे सखे, इति का हे सखे इति की जगह हे सखेति कर दिया है। वहाँ भी ठीक इसी तरह का नियम लागू है। मगर इसकी परवाह गीता उतनी नहीं करती। स्मरण रखना चाहिए कि गीता का समय मान्य उपनिषदों के ही आस-पास है और उनमें ऐसा पाया ही जाता है। लेकिन कुछ लोग इसी को प्राचीन भाष्यकारों की भारी भूल मानते और 'प्रयायार्हसि' में षष्ठी की जगह चतुर्थी मान के 'प्रियायअर्हसि' ऐसी सन्धि करते हैं। काफी लेक्चर भी उनने दे डाला है। किन्तु वे इतना भी न सोच तके कि पिता-पुत्र और साथी-साथी के दो विशेष दृष्टान्त देने के बाद प्रिय को प्रिय माफी दे यह कहना कैसे उचित होगा। हाँ, यदि 'प्रियः'—की जगह 'प्रिय' ऐसा सम्बोधन होता, तब शायद 'हे प्रिय' के लिए 'प्रिय' कह देने से काम चल सकता। लेकिन यहाँ तो सो है ही नहीं। अर्जुन अपने को पुत्र न कहके प्रिय कहे यह भी ठीक नहीं। सखा आदि की बात के लिए तो माफी माँगी चुका है।

यहाँ दो या तीन 'इव' की भी बात नहीं उठ सकती है। ऐसा तो बार-बार मिलेगा कि ऐसे मौकों पर तीन की जगह एक ही या दोई शब्द आते हैं। स्त्रियों का दृष्टान्त आलंकारिक नहीं, किन्तु वस्तुस्थिति है। जो माफी पुत्र या साथी को भी नहीं दी जाती वह स्त्री को दी जाती है, बशर्ते कि वह प्रिया हो और उसमें दिल लगा हो। इसीलिए उसका दृष्टान्त दिया है। ऐसा भी होता है कि पुत्र को भी जो माफी नहीं मिलती वह साथी को मिलती है। इसीलिए क्रमशः ऊँचे दर्जे के दृष्टान्त

आये हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।।45।।

जो कभी न देखा था उसे देख के मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं और भय से मेरा मन व्याकुल है। (इसलिए) हे देव, हे देवेश, हे जगन्निवास, कृपा कीजिए (और) वही (पुराना) रूप मुझे फिर दिखाइए।45।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तामिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।46।।

(अभी) जो आप मुकुट (एवं) गदा लिये (तथा) चक्रधारी बने हैं (उसकी जगह) मैं आपको पहले ही की तरह देखना चाहता हूँ। हे चतुर्भुज, हे स्वामिन्, हे सहस्रबाहु, हे विश्वमूर्ति, (आप) वही (पुराना) रूप बन जाइए।46।

इन दो श्लोकों के पदविन्यास को देख के और उस पर पूरा गौर न करके बहुतेरे टीकाकार धोखे में पड़ गये हैं। फलतः उनने यह अर्थ कर लिया है कि आप किरीट, गदा और चक्र लिये चतुर्भुज रूप बन जाइए, यही अर्जुन चाहता है। परन्तु आगे जब कृष्ण ने अपना विराट् रूप हटा के अर्जुन की इच्छा पूर्ण कर दी है, तो 51वें श्लोक में अर्जुन जो यह कहता है कि आपका सीधा-सादा मनुष्य रूप देख के अब कहीं मुझे होश हुआ है और मेरा मिजाज ठीक हुआ, वह कैसे संगत होगा? चतुर्भुज रूप तो मनुष्य का था नहीं और न चक्रधारी ही। किसने कहाँ कहा कि किरीट और गदाधारी रूप आदमी का होता है और कृष्ण का भी वही रूप था? कहा जाता है कि जन्म के समय ही उनने ऐसा रूप देवकी-वसुदेव को दिखाया था। मगर उसे फौरन हटाना पड़ा। यही नहीं, 'किरीटिनं गदिनं' (11।17) आदि से तो स्पष्ट ही है कि विराट् रूप ही ऐसा था। फिर अर्जुन उसे ही कायम रखने को कैसे कहता? उसे ही देख के तो उसके देवता कूच कर गये थे न? और जो रूप सामने ही था उसे 'वह' या 'उसी तरह' का कहना कैसे उचित था? उसे तो 47वें में ठीक ही यह—इदम्—कहा है। 'यह' के मानी ही है मौजूद या हाजिर। 'वह'—तेनैव, तदेव—और 'उसी तरह'—तथैव—तो सामने की चीज को न कह के परोक्ष या दूर की चीज को ही कहते हैं। और सच कहिये तो कृष्ण का सीधा-सादा आदमी वाला रूप ही उस वक्त सामने न था। अर्जुन उसे ही देखने को परेशान भी था।

इसीलिए हमने अर्थ किया है कि जो अभी किरीट, गदा चक्र को धारण करने वाला आपका रूप है उसे ही पुराने और आदमी के रूप में देखना चाहता हूँ। क्योंकि यह आदमी का न होके भगवान् का ही रूप है। इसमें 'तथा' और 'तेनैव' भी ठीक बैठते हैं। यही वजह है कि हमने 'चतुर्भुजेन' शब्द को एक न मानकर दो—चतुर्भुज+इन—माना है और 'सहस्रबाहो तथा विश्वमूर्ते' की ही तरह इन दोनों को भी सम्बोधन ही माना है। 'इन' शब्द का अर्थ है स्वामी और श्रेष्ठ। इस तरह हे चतुर्भुज, हे स्वामिन्, ऐसा

अर्थ हो जाता है। एक यही शब्द कठिनाई पैदा करता था और वही अब दूर हो गयी।

इस पर—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।। 47।।

श्रीभगवान् कहने लगे—हे अर्जुन, (तेरे ऊपर) प्रसन्न हो के ही मैंने तुझे अपनी सामर्थ्य से यह (वही) तेजमय, अनन्त, मूलभूत, विलक्षण विश्वरूप दिखाया है जिसे तुझसे अन्य (किसी) ने भी पहले देखा न था। 47।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।। 48।।

हे कुरुवीर शिरोमणि, न वेद (पढ़ने) से, न यज्ञ (करने) से, न (सद्ग्रन्थों के) अध्ययन से, न दान से, न अन्य क्रियाओं से (और) न कठिन तपस्याओं से ही (इस) मनुष्य लोक में तुम्हारे अलावे दूसरा कोई मुझे इस रूप में देख सकता है। 48।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोर मीदृङ्ममेदम्।
व्यपेत भीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।। 49।।

मेरा यह ऐसा घोर रूप देख के तुम्हें (अब) व्यथा मत हो और घबराहट या किंकर्त्तव्यविमूढ़ता भी मत हो। (किन्तु) निर्भय हो के खुशी-खुशी तुम पुनरपि मेरे उसी रूप को यह अच्छी तरह देख लो। 49।

इस श्लोक से और भी साफ हो जाता है कि कृष्ण ने असली पुराने नररूप को ही फिर से बना लिया था। क्योंकि पुनरपि—फिर भी—उसी रूप को देख लो, ऐसा कहते हैं। इसका तो आशय यही है न, कि जिसे पहले देखा था उसी को फिर देखो? दुबारा देखने का और मतलब होगा भी क्या? जो चतुर्भुज रूप सामने ही है उसी को पुनः देखना क्या ? इसीलिए जब फिर मानव रूप बनाया है तो कहते हैं यही अच्छी तरह देख लो—'इदं प्रपश्य'। इतना कहना था कि फौरन वही रूप नजर आ गया।

ठीक यही बात—

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।। 50।।

संजय कहने लगा (कि), कृष्ण ने अर्जुन से ऐसा कह के (फौरन ही) अपना रूप फिर दिखा दिया और (इस तरह) सीधा-सादा स्वरूपवान बन के महात्मा कृष्ण ने उस डरे हुए अर्जुन को पुनरपि आश्वासन दिया। 50।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेतः प्रकृतिं गतः।। 51।।

(इस पर फौरन ही) अर्जुन ने कहा (कि) हे जनार्दन, आपका यह सौम्य—सीधा-सादा मानव रूप देख के मुझे अभी होश हुआ है और मिजाज भी ठीक हुआ है। 51।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।। 52।।

(तब), श्रीभगवान् कहने लगे (कि आज) तुमने जो मेरा रूप देखा है इसका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। देवता लोग भी बराबर ही इस रूप के दर्शन की आकांक्षा रखते हैं। 52।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।। 53।।

तुमने अभी-अभी मुझे जिस तरह देख लिया है इस रूप में मैं वेद, तप, दान और यज्ञ (किसी भी उपाय) से देखा नहीं जा सकता। 53।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।। 54।।

हे अर्जुन, हे परन्तप, किन्तु अनन्य भक्ति से ही मुझे इस प्रकार जाना, आँखों देखा और उसी रूप में—वैसा ही स्वयं भी हो के—उसमें प्रवेश किया (भी) जा सकता है। 45।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। 55।।

(इसीलिए) हे पाण्डव, जो मेरे ही लिए—पदार्थ—कर्म करे, मुझी को अन्तिम (लक्ष्य वस्तु) माने, मेरा ही भक्त हो, आसक्तिशून्य हो और किसी भी पदार्थ से वैर न रखे, वही मुझे प्राप्त करता है। 55।

यहाँ संक्षेप में ही दो-तीन बातें जान लेनी हैं।

पहली बात यह है कि यद्यपि 48वें तथा 53वें श्लोक में वेद आदि की बातें एक ही हैं, जिससे व्यर्थ की पुनरुक्ति प्रतीत होती है; फिर भी पहले श्लोक में अर्जुन को आश्वासन देने के ही लिए वह बातें कही गयी हैं कि कहाँ तो वेदादि के बल से भी जो दर्शन नहीं हो सकता है वही तुझे मिला है और कहाँ तू उलटे घबराता और बेहोश होता है! यह क्या? राम, राम! लेकिन वही बात दूसरे श्लोक में अनन्य भक्ति के साथ वेदादि के मुकाबिले के लिए ही आयी है; ताकि इस भक्ति का पूर्ण

महत्त्व समझा जा सके।

दूसरी बात यह है कि यहाँ जो कई बार कहा है कि कभी किसी और ने यह रूप नहीं देखा, उसका मतलब यह है कि यह तो आत्मदर्शन का प्रयोग था जो अर्जुन के ही लिए किया गया था। इससे पहले यह प्रयोग किसी ने किया ही नहीं। अगर कभी किसी ने देखा भी हो तो कौतूहलवशं ही। क्योंकि उसे यह दृष्टि कहाँ मिली और न मिलने पर वह इस दृष्टि से कैसे देखता? प्रयोग तो करता न था।

तीसरी बात है अन्तिम श्लोक की। इसमें जो कुछ कहा गया है वह आत्मदर्शी की बात न हो के उधर अग्रसर होने वाले की ही है, जो अन्त में सब कामों के फलस्वरूप आत्मदर्शन करके ब्रह्मरूप बनता है। प्रसंग और शब्दों से यही सिद्ध होता है।

इति श्री. विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः।।11।।

श्रीम. जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका विश्वरूप दर्शन नामक ग्यारहवाँ अध्याय यही है।

बारहवाँ अध्याय

यह तो पहले ही कह चुके हैं कि दसवें अध्याय में जिस योग का उल्लेख विभूति के साथ हुआ है वह विराट्दर्शन या विश्वरूपदर्शन का ही दूसरा नाम है। इसे प्रमाणित भी किया जा चुका है। यदि यह बात न होती तो जहाँ अन्य सभी अध्यायों की समाप्ति वाले वाक्य में 'सांख्ययोगः', 'कर्मयोगः' आदि लिख के सांख्य, कर्म प्रभृति के साथ योग का उल्लेख बराबर ही किया गया है, तहाँ केवल इसी ग्यारहवें अध्याय में सिर्फ 'विश्वदर्शनं' इतना ही क्यों लिखा जाता ? सभी प्रामाणिक भाष्यों एवं टीकाओं में यही पाया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब यह विश्वरूपदर्शन निर्विवाद रूप से स्वयमेव योग है तो पुनरपि योग शब्द के नाहक पुनरुक्ति क्यों करना? जहाँ विवाद की गुंजाइश हो वहीं उसका लिखा जाना ठीक था।

इस प्रकार विश्वरूपदर्शन की बात खत्म करके आगे बढ़ने की बात आती है। वहीं तेरहवें अध्याय में पायी भी जाती है। वहाँ उन्हीं पदार्थों का दार्शनिक ढंग से विश्लेषण तथा विवेचन किया है जिन्हें ग्यारहवें अध्याय में दिखाया गया है। यह बात वहीं विशेष रूप से बतायेंगे और दिखायेंगे कि मनन का सिलसिला क्यों नहीं टूटना चाहिए। बल्कि यह बात तो पहले भी कही चुके हैं कि निदिध्यासन, समाधि या प्रयोग के बाद भी मनन की जरूरत होती ही है। नहीं तो सारी बातें भूल ही जायँ और किया-कराया सब कुछ चौपट हो जाये। इसीलिए उससे पूर्व का यह बारहवाँ अध्याय भी मनन के ही रूप में प्रसंग से आ गया है। यह प्रसंग भी ग्यारहवें के अन्त के चार और खासकर आखिरी दो श्लोकों के ही चलते आया है। इस प्रासंगिक बात को बीच में पूरा कर लेना भी जरूरी था। तभी असली बात का सिलसिला ठीक-ठीक चल सकता था।

बात यों हुई कि कृष्ण ने अपना साकार विराट् रूप दिखा के अर्जुन से साफ कह दिया कि इसके जानने और देखने का कोई दूसरा उपाय नहीं है, सिवाय इसके कि अनन्य-भक्ति की जाय। उनने यह भी कह दिया कि जो कुछ भी किया जाय वह भगवदर्पण बुद्धि से ही। जब तक यह न होगा यह दर्शन असम्भव है। यह ठीक है कि सिर्फ दर्शन हो के ही खत्म हो न जायगा। किन्तु दर्शक को मुक्ति भी मिलेगी। फिर भी इस दर्शन के रास्ते मुक्ति तक पहुँचना दुर्लभ चीज है। इससे अर्जुन के

दिल में फौरन ही यह खयाल होना जरूरी था कि ऐं, कृष्ण तो इसी साकार की उपासना और भक्ति को यज्ञादि से भी बड़ी चीज मानते तथा इस साकार दर्शन को दुर्लभ कहते हैं। मगर यहाँ तो बराबर ही देखा-सुना जाता है कि निराकार ब्रह्म में ही विवेकी लोग दिन-रात लगे रहते हैं। आखिर ऐसा क्यों होता है? यदि यही उत्तम मार्ग है तो लोग उसमें क्यों पड़ते हैं? यह भी नहीं कि मामूली लोग ही उधर जाते हैं। नहीं, नहीं। वह तो बड़े-बड़े अगड़धत्तों और विवेकियों का ही मार्ग है। बल्कि जनसाधारण के लिए तो वह दुर्लभ ही है। इसलिए यह तो मानना ही होगा कि वह मार्ग भी उत्तम ही है। खुद कृष्ण ने भी तो पहले उस पर बहुत ही जोर दिया है। फिर उत्तम क्यों न हो? मगर अभी-अभी इनने जो कुछ कह दिया उससे तो साकार की उपासना ही अच्छी साबित होती है! यह तो अजीब घपला है! यह पहेली तो निराली है!

इसीलिए उसने चटपट कृष्ण से पूछ ही तो दिया कि बात क्या है? रास्ते तो दोनों आपके ही बताये हैं। इसीलिए अब साफ-साफ कहिए न, कि इन दोनों में कौन अच्छा है? इन दोनों पर चलने वालों में जोई अच्छे और कुशल होंगे मैं उन्हीं को पसन्द करूँगा। 'योगवित्तमाः' शब्द देने का भी मतलब है। योग तो उपाय ही ठहरा, जिसे मार्ग कहिए या रास्ता। इन दोनों मार्गों के जानकार और इन पर अमल करने वाले लोग योगवित् हुए, यह भी ठीक ही है। मगर दोनों में ज्यादा कुशल कौन हैं, अच्छे कौन हैं, योगवित्तम कौन हैं यही बता दीजिए तो काम चले, यही आशय अर्जुन का है। दरअसल ग्यारहवें अध्याय के समूचे प्रसंग में अन्त के वचनों को सुन के ही अर्जुन को एकाएक यह खयाल हो आया और उसने फौरन उसे जाहिर कर दिया। उसने बहुत ज्यादा इस बारे में सोचा-विचारा नहीं। नहीं तो शायद उसे ऐसा पूछने की जरूरत होती ही नहीं। उसे खुद-ब-खुद सन्तोष और समाधान हो जाता।

क्योंकि छठे अध्याय के बाद भी कृष्ण ने निराकार आत्मा में लगने तथा उसके अनन्य चिन्तन की बात कही ही है। छठे अध्याय में या उससे पहले तो यह बात खूब ही आयी है। सांख्ययोग तो दरअसल यही है भी और उसी से गीता का श्रीगणेश हुआ है। ज्ञान का जो रूप पहले भी और खासकर चौथे तथा छठे अध्याय में आया है वह कितना महत्त्वपूर्ण है! उसकी प्राप्ति के लिए यत्न करने पर भी कितना जोर दिया है! यही नहीं। यदि ग्यारहवें अध्याय के अन्तवाले इन श्लोकों को ही देखें तो उनमें क्या लिखा है? उनमें यह कहाँ कहा गया है कि ज्ञानमार्ग या निराकार ब्रह्म की समाधि से भी यह साकार चिन्तन या सगुण की भक्ति श्रेष्ठ है? वहाँ तो इतना ही कहा है कि वेद, तप, दान और यज्ञ से भी यह दर्शन होने को नहीं। इसलिए अनन्य भक्ति करो। यह तो नहीं कहा कि ज्ञान और समाधि से भी यह होने को नहीं। यदि वेद, तप, दान और यज्ञ से इस उपासना को श्रेष्ठ बताया, तो बुरा क्या किया? यह तो ठीक ही है। ये चारों तो बेकार हैं यदि इनके करते भगवान् में भक्ति न हो। यह भी नहीं कि यज्ञ शब्द से ज्ञान भी लिया जाय। ऐसा करना तो दूर की

कौड़ी लाना हो जायगा। हम तो यह भी कह चुके हैं कि ग्यारहवें अध्याय का यज्ञ शब्द ज्ञान को छोड़ के और यज्ञों को ही, और आमतौर से प्रसिद्ध यज्ञों को ही बताता है। जिस ज्ञान से इस भक्ति को तरजीह देनी हो, जिससे इसे श्रेष्ठ कहना हो उसी का नाम सीधे न लिया जाकर यज्ञ के रूप में ही उसे ला के इसकी विशेषता बताई जाय, यह निराली समझ का काम है। जब आगे बारहवें में स्पष्ट ही वही बात अर्जुन कहता है, तो कृष्ण को उससे पहले कहने में क्या हिचक हो सकती थी, यदि उनका वही आशय होता?

इसीलिए अगत्या मानना ही होगा कि कृष्ण का ऐसा कोई आशय न था। नहीं तो साफ ही बोल देते। सो भी तीसरे अध्याय में अर्जुन के यह कहने के बाद, कि गोलमोल बातें कह के, ऐसा लगता है कि आप मुझे घपले में डाल रहे हैं, कृष्ण के लिए यह जरूरी हो गया था कि स्पष्ट कहें। उनने बराबर ऐसा ही किया भी है। इसीलिए पुनरपि अर्जुन को यह इल्जाम लगाने का मौका नहीं मिल सका है। मगर अगर ऐसा ही मानें, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, तब तो यहीं पर उस इल्जाम का सुन्दर मौका था और अर्जुन को वही कहना भी चाहता था। लेकिन यह तो अर्जुन भी नहीं कहता है कि साकार उपासना को कृष्ण ने श्रेष्ठ कहा है। वह तो इतना ही मानता है कि दोनों ही पर कृष्ण का जोर काफी है। मगर ग्यारहवें अध्याय में प्रसंग साकार का ही है। इसीलिए उसने खुद पूछा कि आया दोनों रास्ते बराबर ही हैं या इनमें कोई श्रेष्ठ भी है। दोनों पर बराबर ही जोर देना उसे मालूम हुआ था जरूर। फिर भी हरेक तो दोनों को कर नहीं सकता। इसलिए दोनों में एक को उसे चुनना ही होगा। इसी से वह पूछता भी है कि कौन सा एक अच्छा है।

अच्छा, मान लें कि अर्जुन दोनों में किसी एक की विशेषता ठीक ही समझ न सका था। इसीलिए तो उसने पूछा। फिर भी कृष्ण ने उत्तर में साकारोपासना को उत्तम करार दे दिया। लेकिन यह भी अजीब बात है। ग्यारहवें अध्याय के अन्त में साकार की बात सम्भव थी। उसी का तो वहाँ प्रसंग ही था। इसलिए स्वभावतः अर्जुन का झुकाव उसी ओर होना था। ताहम निश्चय न कर सकने के कारण ही उसने पूछ दिया। इतना तो मानना ही होगा। किन्तु जरा यह भी तो सोचें कि आखिर वह पूछता ही क्या है। यही न, कि दोनों में योगवित्तम कौन हैं? और योग का अर्थ 'समत्वं योग उच्यते' तो हो नहीं सकता। क्योंकि उसमें छोटे-बड़े का क्या प्रश्न, उत्तम-मध्यम की क्या बात? वह तो एक ही तरह का होता ही है। और दोनों ही योगी हों यह तो गैरमुमकिन भी है। योग के मूल में तो आत्मदर्शन है न? वह साकारोपासक को होगा ही कैसे? तब तो यह उपासना ही बेकार होगी। इसलिए यहाँ योग का अर्थ उपाय, रास्ता या मार्ग ही मानना होगा। हम तो कही चुके हैं कि योग का उपाय अर्थ भी होता ही है। अर्जुन के पूछने का तो केवल इतना ही आशय है कि कल्याण का मार्ग जानते हैं तो दोनों ही। मगर उन जानने वालों में कुशल कौन है?

असल में मार्ग तो सबके लिए एक होता नहीं। वह तो योग्यता या अधिकार के हिसाब से ही जुदा-जुदा होता है। मार्ग जानने वाले की कुशलता का भी यही मतलब होता है कि जिसे जिसके योग्य समझे उसे वही बताये; न कि सब धान पूरे बाईस पंसेरी ही तौलने लगे। तब तो अनर्थ ही होगा। किसी के लिए उसकी योग्यता के अनुसार जो मार्ग सर्वोत्तम हो सकता है वही दूसरे के लिए बेकार या हानिकारक भी हो सकता है। इसीलिए चतुर उपदेशक और जानकार की जरूरत होती है। अर्जुन के पूछने का यही आशय है। कृष्ण ने उत्तर भी इसी दृष्टि से दिया है। जनसाधारण के लिए तो साकारोपासना ही श्रेष्ठ है। कारण, निराकार की बात उनकी पहुँच के बाहर ही ठहरी। जंगल में फल पके भी तो गाँववालों के किस काम के?

कृष्ण के उत्तर का यही आशय है कि जनसाधारण को वहीं से शुरू करना होगा। उनके लिए वही श्रेष्ठ है, सर्वोपरि है। निराकार वाले तो बिरले ही होते हैं। उस दशा में तो लोग अपने आप पहुँच भी जाते हैं। इसलिए उस पर जोर देने की अपेक्षा इसी पर जोर देना उचित भी है। जनसाधारण की, आम लोगों की ही बात जो ठहरी। इसीलिए यदि ज्ञान-मार्ग से इसे उत्तम कहा है तो उसका ऊपर लिखा आशय समझ लेने से भ्रम न होगा। इसी बात को अर्थवाद की रीति, प्ररोचना या प्रशंसा भी कहते हैं। क्योंकि ऐसा करने से ही जनसाधारण इस तरफ झुकेंगे।
यही आशय मन में रख के–

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।1।।

अर्जुन ने पूछा (कि) इस तरह निरन्तर भगवान् में लगे हुए जो लोग तुम्हारी–भगवान् की–साकार–उपासना करते हैं। और–जो अविनाशी, निराकार या अक्षरब्रह्म में लगे रहते हैं, इन उपाय जानने और करने वालों में सबसे चतुर कौन हैं?।1।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।2।।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया (कि) मुझ (साकार भगवान) में मन को जुटाके निरन्तर उसी में पूर्ण श्रद्धा के साथ लगे हुए जो लोग उपासना करते हैं, मेरे जानते वही अत्यन्त कुशल जानकार हैं।2।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यः मव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।3।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः।।4।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।5।।

विपरीत इनके जो सर्वत्र समदर्शी लोग सभी इन्द्रियों को काबू में करके अक्षर, न बताये जा सकने वाले, अदृश्य सर्वव्यापी, चिन्तन के अयोग्य, निर्विकार एकरस, क्रियाशून्य और स्थिर (ब्रह्म) की पूर्ण उपासना या समाधि करते हैं, समस्त संसार के-हित में लगे हुए वे लोग (भी) मुझ भगवान् को ही प्राप्त करते हैं (सही)। (मगर) निराकार में जिनके चित्त चिपक चुके हैं। ऐसे लोगों को (पहले) दिक्कतें बहुत ज्यादा (होती हैं)। क्योंकि शरीरधारियों के लिए अव्यक्त में जा लगना असम्भव सा ही होता है। 3।4।5।

यहाँ एकाध बातें विचारणीय हैं। इन श्लोकों में उन्हीं समदर्शियों का वर्णन है जिनका 'विद्याविनयसम्पन्ने' (5।18-21) में पाया जाता है। इसीलिए उनके बारे में, 'उपासते' के पहले 'परि' लगा के पूर्ण उपासना या समाधि के ही रूप में उनकी स्थिति का वर्णन किया है। पाँचवें श्लोक में 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' में जो 'आसक्त' पद आया है उससे भी यही सिद्ध हो जाता है कि वे समाधि की पूर्णावस्था वाले ही हैं। ऐसी दशा में जो अन्त में कहा है कि अव्यक्त में लगन का होना शरीरधारियों के लिए असम्भव सा ही है उसका यह मतलब हर्गिज नहीं है कि ऐसे लोगों को कोई कष्ट होता है। वे तो पहुँचे हुए हईं। उन्हें क्या दिक्कत होगी? वे तो दिक्कतें पार कर गये हैं। शायद 'दुःखं' पद को देख के लोग ऐसा आशय निकालना चाहते हैं। वे इसमें इससे पहले के 'क्लेशोऽधिकतरः' से भी सहायता लेते हैं। मगर यह क्लेश तो उस दशा में पहुँचने से पहले का ही है। वहाँ पहुँच के कैसा क्लेश? कहने का आशय यही है कि बहुत ही ज्यादा दिक्कत से बिरला कोई उस दशा में पहुँच पाता है। इसीलिए वह असम्भव या अप्राप्यसी ही वस्तु है। 'दुःखं' विशेषण जब क्रिया में लगता है तो उसका कष्ट अर्थ नहीं होता, किन्तु सब मिला के 'प्रायः असम्भव' यही अर्थ हो जाता है। यह बहुत ही मार्के की बात है। किन्तु इधर ध्यान न देके लोग ऊल-जलूल अर्थ कर बैठते हैं। हाँ, इस अर्थ से यह सिद्ध होता है जरूर कि वह मार्ग बहुत ही कष्टसाध्य है। कृष्ण का यही आशय है। ऊँचे दर्जे की बात ठहरी और वह जनसाधारण के लिए असम्भव सी हो तो ठीक ही है।

दूसरी बात 'सर्वभूतहितेरताः' की है। इसके पहले भी एक बार (5।25 में) आत्मज्ञानियों के ही सम्बन्ध में यह शब्द आया है। इसका अर्थ है 'सभी पदार्थों के हित में लगे हुए'। 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' (5।7) भी उन्हीं को कहा गया है, जिसका अर्थ है कि सभी पदार्थों की आत्मा ही उनकी आत्मा बन गयी है। इन दोनों के मिला देने पर इसका आशय यही हो जाता है कि सर्वत्र वे अपनी ही आत्मा देखते हैं। इसीलिए सभी के हितसाधन, भलाई या कल्याण ही में संलग्न रहते हैं। नीति का इससे उत्तम और व्यापक सिद्धान्त होई नहीं सकता। इस पर अधिक विवाद करने

की गुंजाइश यहाँ नहीं है। इसीलिए इसका विशद विवेचन आगे के लिए छोड़ देते हैं। मगर इतना तो कहना ही पड़ता है कि जो लोग "अधिकांश लोगों के अधिक से अधिक हित" (The greatest good of the greatest number) वाला सिद्धान्त ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णायक तथा पथदर्शक मानते हैं उनसे गीता सहमत नहीं है। यह तो सभी पदार्थों के हित को ही अपना पथदर्शक मानती है। केवल स्वार्थ, दूरदर्शी स्वार्थ और उच्च स्वार्थ की गोलमाल बातों की तो यहाँ पूछ भी नहीं है। गीता तो मनुष्यों के हित से भी आगे जा के सभी प्राणियों तक पहुँचती है और उन्हें भी अपना के आगे बढ़ने पर सभी पदार्थों के हित को ही देखती है। क्योंकि करने वाले की आत्मा तो कहीं सीमित न होके अपरिमित है। फलतः सभी पदार्थों को अपने गोद में रख लेती है।

गीता के इस महान् मन्तव्य के निकट केवल मार्क्स का ही सिद्धान्त पहुँच पाता है। क्योंकि मार्क्स तो समूचे समाज का ही आमूल परिवर्तन करके उसका पुनर्निर्माण चाहता है जिससे किसी एक को भी किसी प्रकार की असुविधा जरा भी न रह जाय। प्रकृति, रोगव्याधि तथा मृत्यु आदि पर भी विजय प्राप्त की जा सके। सभी तरह की बीमारियों, प्राकृतिक उपद्रवों, युद्धों और संघर्षों पर मानव-समाज का ऐसा आधिपत्य हो जाय कि ये जड़मूल से मिट जायँ और अखण्ड शान्ति सर्वत्र विराजने लगे। यदि मानव-समाज को आराम दे सकें भी तो प्राकृतिक उपद्रवों, रोगों और युद्धों से मनुष्यों, पशु-पक्षियों और जमीन, पहाड़, घर-बार वगैरह का संहार होता ही रहेगा। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि सभी भूतों का हित हो गया? सभी भूतों के हितों का साधन किया जा रहा है? इन उपद्रवों को निर्मूल करने में जब तक सफलता न मिले तब तक यह बात कही जा सकती नहीं। इसलिए उस सफलता के लिए जो लोग दत्तचित्त हैं और समाज को नये साँचे में ढालना चाहते हैं सचमुच वही 'सर्वभूतहितेरताः' कहे जा सकते हैं। या नहीं, तो ऐसों के निकटवर्ती तो वे अवश्य ही माने जा सकते हैं। उनमें तथा सर्वभूतहितेरतों में बहुत ही कम अन्तर रह जायगा।

ऐ तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।6।।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।7।।

हे पार्थ, (इनके विपरीत) जो लोग सभी कर्मों को मुझमें अर्पण करके मुझ (साकार भगवान्) को ही सबसे बढ़ के मानते हुए तथा अनन्यभाव से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मुझी में अपने चित्त को चिपका देने वाले ऐसे लोगों का (इस जन्म) मरण रूपी संसार-सागर से जल्द ही उद्धार कर देता हूँ।6।7।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।8।।

(इसलिए) मुझी में मन जोड़ दे (और) बुद्धि को भी मुझी में लगा दे। (परिणाम यह होगा कि) इसके—मरने के—बाद या इतना कर लेने पर बेशक तू मुझमें ही निवास करेगा—मेरा ही स्वरूप हो जायगा। 8।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।। 9।।

लेकिन यदि, हे धनंजय, मुझमें चित्त को निश्चल रूप से लगा नहीं सकता, तो (इस बात के) अभ्यासरूपी उपाय से ही मुझे (क्रमशः) प्राप्त करने का संकल्प कर ले। 9।

यहाँ 'आप्तुं इच्छ'—'पाने की इच्छा कर ले' का ही अभिप्राय हमने 'संकल्प कर ले' लिखा है और यही उचित भी है। इच्छा मात्र से तो कुछ होता जाता नहीं, जब तक संकल्प न कर लें।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।। 10।।

(और अगर) अभ्यास भी न कर सके तो मदर्थ कर्म करने में ही लग जा। (क्योंकि) मदर्थ कर्मों को करते हुए भी (धीरे-धीरे) इष्टसिद्धि प्राप्त कर ही लेगा। 10।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।। 11।।

लेकिन यदि मुझे ही अर्पण करते हुए यह करने में भी असमर्थ हो तो मन पर अंकुश रखके सभी कर्मों के फलों की परवाह छोड़ दे। 11।

आगे बढ़ने के पूर्व यहाँ कुछ विचार कर लेना जरूरी है। 6, 7 श्लोकों में जो बातें कही गयी हैं उन्हीं का उपसंहार आठवें में है। न कि कोई नयी बात। यही है साकार भगवान् की अनन्य भक्ति, जिसका उल्लेख ग्यारहवें अध्याय के अन्त में आया है और बारहवें के शुरू में जिसके बारे में ही प्रश्न हुआ है। मगर यह पूर्ण भक्ति है, उसकी आखिरी निष्ठा या स्थिति है। यह भी तो कही चुके हैं कि ग्यारहवें के अन्तिम श्लोक में जो कुछ कहा गया है वह पूर्ण भक्ति ही न हो के पहले की सीढ़ियाँ भी उसी में आ गयी हैं, हालाँकि उनका इतना स्पष्ट वर्णन होना वहाँ असभव था। अतएव प्रश्न के बाद उनकी स्पष्टता अपने आप यहाँ हो जाती है और बाद के तीन (9-11) श्लोक यही काम करते हैं। इनमें 9वाँ पहली बात कहता है कि यदि पूर्ण भक्ति की दशावाला मन न हो पाया हो और इधर-उधर दौड़ता हो तो अभ्यास ही उसे काबू में करने का उपाय है। इस अभ्यास की बात पहले खूब ही आ चुकी है। लेकिन यदि वह बहुत ही गन्दा हो और इतना चंचल हो कि अभ्यास भी न हो सके, तो दसवें श्लोक में बाद की सीढ़ी के रूप में कहा गया है कि 'यत्करोषि' (9।27) के अनुसार भगवदर्पण बुद्धि से कर्म ही करते जाओ। फिर तो समय पा के अभ्यास को योग्यता आई जाएगी। किन्तु यदि दुर्भाग्य से यह भी न हो सकने

वाला हो और मन अत्यन्त पतित हो, तो आखिरी बात यह है कि सभी भले-बुरे कर्मों के फलों को ही भगवान् के अर्पण करके बेफिक्र बन जाओ। यही बात ग्यारहवें श्लोक में है। यदि ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक के 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' का यहाँ के दसवें के 'मत्कर्मपरमः' से मिलान करें तो पता चल जायगा कि उस श्लोक में इन सीढ़ियों का समावेश जरूर है। इस प्रकार मन की निरन्तर साकार भगवान् में जोड़ देने की पूर्ण भक्ति के नीचे क्रमशः तीन सीढ़ियाँ हैं—अभ्यास, भगवदर्पण कर्म और कर्मफलों को ही भगवदर्पण करना। यही कारण है कि इन श्लोकों में क्रमसूचक पद न रहने पर भी हमने वैसा ही अर्थ किया है।

ये तीनों क्रमशः नीचे की सीढ़ियाँ कैसे हैं यह जान लेना भी जरूरी है। यह तो मोटी बात है कि उधर से हटने पर बार-बार मन को खींच के लगाना ही होगा। दूसरा रास्ता हई नहीं। इसे सभी लोग यों ही समझ भी सकते हैं। मगर जब मन इतना गन्दा हो कि भगवान् की ओर बिलकुल जाये ही नहीं, तो अभ्यास क्या करेंगे खाक? वज्र की धरती को मामूली कुदाल से खोद के उधर ही पानी बहाने का यत्न जिस तरह बेकार होता है वैसा ही यह भी है। कुदाल से तो वज्र कटे-टूटेगा ही नहीं उलटे कुदाल ही टूटेगी और परिश्रम बेकार होगा। फिर भी वैसी दशा में क्रियाओं में तो मन जायेगा ही। फिर चाहे भली में जाये या बुरी में। अतएव अब यह कर सकते हैं कि उन सभी क्रियाओं को, कर्मों को ही भगवदर्पण करें और इस प्रकार कर्मों के द्वारा ही मन को वहाँ तक पहुँचाने का यत्न करें; यदि सीधे नहीं जाता है। और अगर यहाँ भी वह चारों पाँव चित हो के वैसा करने से इनकार करे तो? ठीक भी है। कर्मों के करने में पहले से ही ऐसा खयाल हो जाना कि यह भगवान् की पूजा है, आसान नहीं है। सो भी जब मन बहुत ही पापी और पतित है। कर्मों के कर लेने पर तो यह बात होई नहीं सकती। क्योंकि तब तो उन पर हमारा कोई अधिकार रही नहीं जाता। वे तो हाथ से छूटे हुए तीर हो गए। फलतः कर्मों के पहले या उनकी दौरान में भी यह खयाल होना प्रायः असम्भव है। इसलिए अन्त में यही बताया है कि फलों को ही भगवान् के समर्पण करो। असल में कर्म करने के पहले तो जोश रहता है। इसीलिए कुछ भी सूझता ही नहीं। मगर कर चुकने पर ठण्डक होती है और पश्चात्ताप होने लगता है कि उफ, ठीक नहीं किया। यह भी आम बात है कि पतित मन वाले ज्यादातर बुरे ही कर्म करते हैं। इसलिए पीछे दिमाग दुरुस्त होने पर सोच लिया कि चलो इनके फलों को ही भगवान् को समर्पित करें। इस तरह भले फल तो शायद ही थे जो गये, मगर बुरे तो प्रायः सभी थे और सभी गये—खत्म हो गये। इसी आशय से 'सर्वकर्म फलत्यागं' कहा है। सर्व कहने से बुरे-भले सभी आ जाते हैं। इस प्रकार चक्कर काट के फल और कर्म के द्वारा मन को वहाँ तक पहुँचाते हैं। यही अन्तिम सीढ़ी है।

कहते हैं कि किसी वेश्या का कोई नौकर था। वह प्रतिदिन सुन्दर-सुन्दर फूल

उसके लिए चुन लाता था। एक दिन रास्ते में फूल लिए आ रहा था। अकस्मात् उनमें दो-एक फूल नीचे गिर पड़े। उसने जो उन्हें उठाने की कोशिश की तो देखा कि फूल विष्ठा पर ही जा पड़े हैं। अब तो विवश था और कलेजा मसोसकर रह गया। फिर कुछ सोच के बोला, 'विष्णवे स्वाहा'। कभी सुना था कि विष्णु को अर्पण करने से पुण्य होता है। उसने जब कोई उपाय न देखा तो हार के पुण्य ही लूटना चाहा। कहानी तो बताती है कि उसी के करते उस पतित को भी बैकुण्ठ का दर्शन मिला। मगर हमें उससे मतलब नहीं है। हमें तो यहाँ इतना ही कहना है कि वेश्या के नौकर की ही तरह पीछे हार के कर्मों के फलों को भगवान् के अर्पण किया जा सकता है। यह कोई असम्भव बात नहीं है। हाँ, है यह सबसे नीचे की, छोटी और आखिरी बात।

अब हमें प्रसंगवश उन लोगों से एक प्रश्न करना है जो साकार भगवान् की भक्ति को ही दरअसल सबसे बड़ी चीज गीता के मत से बताने पर तुले बैठे हैं। हमने गीता के ही श्लोकों के आधार पर, जो इसी अध्याय के इसी मौके के ही हैं, कम से कम चार प्रकार की भक्तियों को दिखाया है। इन्हें तो वह भी मानेंगे ही। क्योंकि यह तो हमारी अपनी मनगढ़न्त चीजें हैं नहीं। तो अब वही बतायें कि इनमें कौन सी भक्ति सबसे ऊँची है जिसका ढिंढोरा गीता ने पीटा है? ज्ञान और समाधि की अपेक्षा जो ऊँची चीज उन्हें जँचती है वह इनमें कौन सी है? चारों तो हो नहीं सकती हैं। और अगर चारों ही हों, तो गजब होगा। क्योंकि सांख्य, ज्ञान या समाधि की अपेक्षा उस आखिरी भक्ति को भी श्रेष्ठ ठहराने की हिम्मत जिसे हो वह सचमुच बहादुर है, दिलेर है! अगर यह कहा जाये कि सबसे ऊपर वाली श्रेष्ठ है तो क्यों? गीता ने तो सबों को ही एक ही सिलसिले में गिनाया है। यह भी तो नहीं कहा है कि इनमें फलाँ से ही हमारा आशय है।

लेकिन अगर हमारी कही बात मानी जाए तब तो वस्तुस्थिति का सवाल होता ही नहीं। तब तो मार्ग का सवाल ही रहता है और अधिकारियों के हिसाब से ये चारों ही अच्छी हैं—जो जिसके योग्य हो, जिसका अधिकारी हो वह उसे ही करे। क्योंकि जनसाधारण के अनुकूल चारों ही हैं। इनमें भी जो सबसे नीचे की है वही सबसे ज्यादा लोगों के लिए सम्भव होने से उस दृष्टि से वही सबसे श्रेष्ठ है, इस कहने में कोई हर्ज नहीं है। क्योंकि वह ज्ञान की जगह लेने या सचमुच उससे भी ऊँचा दर्जा लेने तो जाती नहीं। यहाँ तो काम चलाने की ही बात है।

इसी अभिप्राय से आगे का—12वाँ—श्लोक भी इस मौके पर ठीक-ठीक आ बैठता है। यों तो इस श्लोक की बड़ी फजीती की गयी है। हरेक टीकाकार ने अपने ही खयाल के अनुसार इसे बुरी तरह घसीटा है। किन्तु हमारे जानते जो इसका सीधा-सादा अर्थ है वह यों है। फलत्याग के द्वारा मन को थोड़ी सी शान्ति और थोड़ा सा चैन मिलना शुरू हो जाता है। जो धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। असल में

जोश में आ के नासमझ लोग जितनी मुश्तैदी से भले-बुरे काम कर बैठते हैं, पीछे जोश ठण्डा होने पर उतनी ही ज्यादा उन्हें बेचैनी और घबराहट होती है, अशान्ति होती है। क्योंकि उन कर्मों के भयंकर परिणाम आँखों के सामने नाचने जो लगते हैं। मगर ज्योंही उनने यह समझा कि फल तो भगवदर्पण हो गये, कि उन्हें खामख्वाह चैन और शान्ति की प्राप्ति फौरन ही हुई। यह स्वाभाविक बात है। चाहे पीछे कुछ हो, मगर तत्काल मन की घबराहट और उसका उद्वेग तो जाता रहा। और एक बार ऐसा होते ही उनने जो इसका तत्काल मजा चख लिया तो फिर यही बात रह-रह के करने लगे। इस तरह उलटे धक्के से मन की शान्ति होते-होते ध्यान की योग्यता होती है। फिर यह ध्यान चाहे सीधे भगवान् में मन लगा के हो, या भगवदर्पण बुद्धि से कर्म करके हो। यह तो आदमी की दशा और योग्यता पर ही निर्भर करता है। इसलिए ध्यान के भीतर भगवदर्थक कर्म भी आ गया। क्योंकि उसके द्वारा भी मन की एकाग्रता ही तो होती है। हाँ, सीधे ही तो और अच्छी बात हो। इस तरह जब एकाग्रता हुई और ध्यान का रास्ता खुला, तो जो बात पहले दिल में बैठती ही न थी वह भी बैठने लगी। अनन्य भावना से भगवान् की भक्ति करें, चाहे निराकार की हो, या साकार की—निराकारवाली को ही आत्मदर्शन या समदर्शन भी कहते हैं—यह बात पहले तो दिल में बैठती ही न थी। मगर अब मन पर काबू होने से बैठी। यही है ज्ञान। इसके बाद ही फौरन अभ्यास की सीढ़ी आ जाती है। क्योंकि यह ज्ञान होते ही एकाएक मन पूर्ण स्थिर तो हो जायगा नहीं। अतएव अभ्यास तो करना ही होगा। इस प्रकार अभ्यास करते-करते अनन्य भक्ति आप ही हो जायगी। यदि साकार में मन टिकाने का अभ्यास होगा तो उसकी नहीं तो निराकार की ही।

इस प्रकार देखने से पता चल गया कि अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान और ध्यान से भी कर्मों के फलों के त्याग को जो बड़ा या अच्छा बनाया है वह केवल इसीलिए कि वह क्रमशः नीचे की ही सीढ़ियाँ हैं। फलतः आम लोगों के काम की चीजें वही हैं। न कि सचमुच ही उनका दर्जा ऊँचा है। ऐसा मानना तो निरा पागलपन ही न हो के इससे पूर्व के श्लोकों के उलटा जाना भी हो जायगा। हाँ, हमने जो कुछ कहा है उसे मानने में ही यह बात न होगी। इसी के साथ 10वें श्लोक में 'क्योंकि' के अर्थ में जो 'हि' आया है वह भी दुरुस्त सिद्ध होगा। क्योंकि हमारे रास्ते से तो 12वाँ पहले के तीन श्लोकों की ही बातों की पुष्टि करता है न? 'त्यागाच्छान्तिरन्नतरम्'—'त्याग के अनन्तर ही शान्ति' यह भी हमारे अर्थ में ठीक-ठीक लग जाता है। इतना ही नहीं। अभ्यास के बाद निराकार और साकार दोनों की ही अनन्य भक्ति हो सकती है, हमारे इस कथन का 12वें के बाद वाले श्लोकों से भी पूरा सम्बन्ध जुट जाता है। क्योंकि उनमें जिस दशा का और जिस समदर्शन का विवरण 13 से 19 तक के श्लोकों में है उसमें और 'विद्याविनयसम्पन्ने' (5। 18-21) वाले समदर्शन में जरा भी अन्तर नहीं है। 'विद्याविनय' वाला आत्मज्ञानी का ही है यह तो सभी मानते

हैं। इसलिए यहाँ भी उसी को मानने में कोई उज्र नहीं हो सकता है। साकार भक्ति का भी पर्यवसान उसी में है; क्योंकि उस समदर्शन के बिना तो मोक्ष होई नहीं सकता। यही कारण है कि स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीत—तीनों ही—के वर्णन एक से ही हैं।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।। 12।।

क्योंकि अभ्यास से अच्छा—काम का—तो ज्ञान है, ज्ञान से भी अच्छा ध्यान है (और) ध्यान से भी अच्छा—कारगर—है कर्मों के फलों का त्याग। (क्योंकि इस) त्याग से फौरन ही शान्ति मिलती है।। 12।।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।। 13।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे मद्भक्तः स मे प्रियः।। 14।।

हमारा जो योगी भक्त किसी पदार्थ से द्वेष न करे, सबके साथ मैत्री और करुणा का भाव रखे, ममता और अहन्ता—माया-ममता—से रहित हो, सुख और दुःख में एक रस रहे, क्षमाशील हो, बराबर सन्तुष्ट रहे, मन को काबू में रखे, दृढ़ निश्चयवाला हो और मन एवं बुद्धि को हममें ही जिसने अर्पित कर—बाँध—दिया हो वही हमारा प्रिय है। 13। 14।

यस्मान्नीद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।। 15।।

जिससे न तो लोग (किसी भी तरह) उद्विग्न हों, जो लोगों से भी उद्विग्न न हो सके और जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग—घबराहट या परेशानी—(इन सबों) से रहित हो वही मेरा प्रिय है। 15।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। 16।।

जो मेरा भक्त बेफिक्र या बेपरवाह, पवित्र, चतुर (और) पक्षपात रहित (हो), जिसमें भय या परेशानी न हो (और) जो सभी प्रकार के संकल्पों से सर्वथा रहित हो वही मेरा प्रिय है। 16।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।। 17।।

जिस भक्त को न तो किसी चीज से खुशी हो और न रंजिश, जिसे न तो कोई चिन्ता हो न आकांक्षा और जो बुरे-भले सभी से नाता तोड़ चुका हो वही मेरा प्रिय है। 17।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।। 18।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। 19।।

जो शत्रु और मित्र में सम है—जिसके शत्रु-मित्र हई नहीं, मान-अपमान में भी जो सम है—विचलित नहीं होता, शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि में भी जो एक ही तरह रहे, जिसे कहीं भी आसक्ति न हो, निन्दा और स्तुति जिसके लिए एक सी हों, जिसकी जबान काबू में हो, (आवश्यकता होने पर कामचलाऊ) जोई मिल जाये उसी से जो संतुष्ट हो जाए, जिसका कोई घरबार न हो और जो अचल बुद्धिवाला हो, वही मनुष्य मेरा प्रिय है। 18। 19।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।। 20।।

जो भक्तजन मेरी ऊपर बताई इन धर्मयुक्त (एवं) अमृततुल्य बातों के अनुसार श्रद्धापूर्वक चलते और मेरे सिवाय अन्य किसी की परवाह नहीं करते वह मेरे अत्यन्त प्रिय हैं। 20।

यहाँ 13वें श्लोक में जो मैत्र और करुण शब्द हैं वह "मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्" (योग. 1। 33) के अनुसार मैत्री तथा करुणा गुणवालों के ही वाचक हैं। जैसे साबुन से कपड़े की मैल हटाते हैं वैसे ही चित्त की मैल हटाने और उसे न आने देने के ही लिए ये दोनों गुण माने गये हैं। यदि सुखिया के साथ मैत्री न हो तो ईर्ष्या हो सकती है। इसी तरह दुखिया पर करुणा न हो तो दुःख से द्वेष हो सकता है। यही दोनों भारी मैल हैं।

इसी प्रकार उद्वेग का अर्थ है घबराहट। जिसके आचरण या रहन-सहन से औरों को तथा औरों के कामों से जिसे परेशानी जरा भी न हो वही सच्चा भक्त है।

सर्वारम्भपरित्यागी का अर्थ है किसी भी भले-बुरे काम का संकल्प न करे। क्योंकि संकल्प के बाद जो कामना होती है वही फँसाती है।

उदासीन के मानी हैं, 'कोई मेरे कोई जिये, फक्कड़ घोल बताशा पिये' यानी दुनिया के झमेलों का जिस पर कोई असर न हो—जो किसी ओर न झुके।

यद्यपि इन श्लोकों में सम शब्द दोई बार आया है और उसी के अर्थ में तुल्य एक बार आया है; तथापि अन्त के सात श्लोक समदर्शन का ही चित्रण करते हैं और यही है आत्मज्ञान। इस अध्याय में प्रतिपादित भक्ति का रहस्य तो बताई चुके हैं और वही इसका विषय है।

इति श्री. भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।। 12।।

श्री. जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका भक्ति-योग नामक बारहवाँ अध्याय यही है।

तेरहवाँ अध्याय

यह बात बारहवें अध्याय के शुरू में ही कह चुके हैं कि वह समूचा अध्याय ग्यारहवें के बाद प्रसंगवश आ गया है। इसीलिए उसे पूरा करने के बाद पुनरपि मुख्य विषय ज्ञान-विज्ञान एवं उसके पदार्थों पर आ जाना जरूरी है—उन्हीं पदार्थों पर जिनका सविस्तर निरूपण दसवें तथा प्रदर्शन ग्यारहवें अध्याय में हुआ है। वहाँ आत्मा से ही शुरू करके प्राण, चेतना, मन आदि सभी पदार्थों के साथ ही नदी, पहाड़ आदि मुख्य-मुख्य पदार्थों का वर्णन आया है। उन्हीं में से कुछ प्रमुख पदार्थों के साथ ही कितनी ही रहस्यमय वस्तुओं को ग्यारहवें अध्याय में दिखाया भी गया है इस तरह दसवें और ग्यारहवें का पूरा मेल है। बल्कि यों कह सकते हैं कि दोनों मिल के वस्तुतः एक ही अध्याय हैं। इसी से विभूति और योग दोनों का ही उल्लेख दसवें में एक ही साथ किया भी है। इसे दो भागों में बाँटा तो गया है सिर्फ आसानी के लिए। जिससे दसवें में मौखिक विवरण और ग्यारहवें में उसी का प्रत्यक्ष प्रयोग होने से समझने में आसानी हो। यही वजह है कि तेरहवें अध्याय का श्रीगणेश दरअसल विभूतियों से ही शुरू होता है। यही उचित भी है। ग्यारहवें में जब उन्हीं विभूतियों का प्रदर्शन है तब तो मौखिक विचार या विवेचन-विलेषण के लिए विभूतियों को ही लिया जाना चाहिए। यह तो पहले ही कई बार कह चुके हैं कि मनन का काम चालू रहना ही चाहिए। यही कारण है कि ग्यारहवें के प्रयोग के बाद भी शेष अध्यायों में वह चालू है। तेरहवें में भी वही शुरू हो के आगे बढ़ता है।

यहीं यह भी जान लेने की चीज है कि तेरहवें तथा चौदहवें अध्याय में भी इस सृष्टि का ही विश्लेषण-विवेचन है। सोलहवें एवं सत्रहवें में इस विवेचन-विश्लेषण से होने वाले ज्ञान के सम्बन्ध की ही कुछ बातों का प्रकारान्तर से निरूपण है। ज्ञान की असली बुनियाद क्या है, उसके लिए कौन-सी चीज जरूरी है, उसमें क्या-क्या बाधाएँ कैसे आती हैं, यही बातें सोलह तथा सत्रह अध्यायों में मुख्यतः आयी हैं। रह गया बीच का पन्द्रहवाँ अध्याय। सो इसमें दोनों का मिश्रण है। कुछ दूर तक शुरू में मुख्यतः सृष्टि की बात है और अन्त में प्रधानतया ज्ञान की ही बात आयी है। इस प्रकार पाँच अध्यायों का बँटवारा प्रायः दो समान भागों में करके ज्ञानविज्ञान

का निरूपण एक प्रकार से पूरा कर दिया गया है। अठारहवें में समस्त गीता का उपसंहार है। इसीलिए स्वभावतः ज्ञानविज्ञानी की भी बातें आयी ही हैं, जैसा कि त्रिगुणात्मक पदार्थों के निरूपण से स्पष्ट है।

हाँ, विभूति सम्बन्धी पदार्थों को देखने और जानने के बाद जो पहला सवाल किसी भी समझदार के मन में हो सकता है वह यही कि आखिर इन सभी भौतिक या प्राकृतिक पदार्थों का निर्लेप आत्मा से ताल्लुक क्या है और क्यों है? यदि कुछेक का सम्बन्ध रहे भी, तो भी सभी महाभूतों और पर्वतादि भीषण पदार्थों से क्या ताल्लुक? अगर यह भी मान लें कि क्लिष्ट से क्लिष्ट और भीषण से भीषण हिम-प्रदेशों तक में भी जीवों की सृष्टि तो मिलती ही है, उस जीव से सुना तो कोई पदार्थ हई नहीं, तो सबाल होता है कि काजी को शहर की फिक्र से दुबले होने तथा मरने की क्या जरूरत? अर्जुन चला था अपनी शंकाएँ मिटाने। उसे थी अपनी आत्मा के कल्याण की चिन्ता। फिर सारे संसार के इस पँवारे की क्या जरूरत? और अगर यही मान लें कि आत्मा तो एक ही है और उसी के ये अनन्त रूप हैं; इसीलिए सभी की फिक्र करनी ही पड़ती है, तो प्रश्न होता है कि ये अनन्त रूप हुए क्यों और कैसे? यह आत्मा इस भारी बला में आ फँसी क्योंकर ? इन वाहियात पदार्थों से इसका मेल भी क्या है कि इनमें आ फँसी? यदि ये पूर्व जाने वाले हैं तो वह पच्छिम। फिर यह क्या हो गया कि दोनों की जुटान आ जुटी और सारी विडम्बना खड़ी हो गयी? इस तरह के प्रश्नों का उठना निहायत अनिवार्य है। कृष्ण इसे बखूबी समझते थे। यही कारण है कि बिना पूछे ही इनका उत्तर देना तेरहवें अध्याय के पहले श्लोक से ही शुरू कर दिया।

सचमुच गीता का यह अध्याय बहुत ही सुन्दर है। इसकी व्यावहारिक उपयोगिता होने के साथ ही निरूपण की शैली कितनी सरस और चित्ताकर्षक है! देखिए तो सही, आखिर खेतों का और खेतिहर किसान का भी क्या ताल्लुक होता है किसान जब चाहे छोड़ के भाग जा सकता है। उसी ने तो खेतों को अपनाया है। और उनके हानि-लाभ की जवाबदेही माथे पर अपने मन से ही ली है। परिणाम यह होता है कि वह खेतों के साथ बँध जाता है, उसका उनके साथ अपनापन हो जाता है, उन्हें वह अपना—निजी—मान बैठता है। हालाँकि जमींदार और सरकार पद-पद पर उसे उनसे बेदखल करने को तैयार रहती है। बेदखल कर भी देती है। फिर भी उसका अपमान पिण्ड नहीं छोड़ता और वह छाती पीट के मरता है। बेदखली के पहले भी न सिर्फ उनकी उपज के ही लिए जवाबदेह होता है; किन्तु उनसे होने वाले हानि-लाभ का भी उत्तरदायित्व उसी पर होता है। वह उसी के पीछे मरता रहता है। इतना ही नहीं। यों तो उसने अपने मन से उन्हें हथियाया था। मगर अगर यों ही उन्हें छोड़ भागना चाहे तो जाने कितनी ही कानूनी-गैरकानूनी अड़चनें खड़ी हो जाती हैं, जिनके करते छोड़ के भाग भी नहीं सकता। इस बुरी गति के लिए बेशक उसकी नादानी,

बेअक्ली और पस्तहिम्मती ही जवाबदेह हैं। यह बात हमारी नजरों के सामने रोज ही गुजरती है।

बस ठीक यही हालत आत्मा की है। वह खेतिहर है, खेती करने वाला है, खेतों की सारी बातें जानता है कि खेत कैसे हैं, किनमें क्या पैदा होता है, हो सकता है। वगैरह-वगैरह। वह क्षेत्रज्ञ है, क्षेत्री है। और ये इन्द्रियादि भौतिक पदार्थ? यही तो खेत हैं, क्षेत्र हैं। यही तो लम्बे-चौड़े चारों ओर फैले हैं और जाने हजारों तरह की बुरी-भली फसलें पैदा करते रहते हैं। इन्हीं के मालिक आत्माराम हैं। वह इन्हीं को ले के परेशान हैं, पामाल हो रहे हैं, जल-मर रहे हैं। इन खेतों के भी दो विभाग हैं, व्यष्टि और समष्टि। व्यष्टि या टुकड़े-टुकड़े के भीतर सभी के जुदे-जुदे शरीर वग़ैरह आ जाते हैं। समष्टि, जो एक जगह मिलीमिलाई चीज है, के भीतर, प्रधान या मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार आदि आ जाते हैं। यह बात हम पहले ही बखूबी बता चुके हैं। वहीं कह चुके हैं कि महत्; महत्तत्त्व या महान् नाम समष्टि बुद्धि का ही है। इसी बात को इस तेरहवें के शुरू में ही अच्छी तरह लिख दिया है। आत्मा के शरीर के ही भीतर इस स्थूल शरीर और प्रकृति को लिखा है। उसके बाद इससे सम्बन्ध रखने वाली सभी चीजों का ब्योरा भी दिया है। इस तरह समूचे संसार को शरीर और शरीर वाले या शरीरी—देही—के रूप में दो हिस्सों में बाँट दिया है और कह दिया है कि यह सब ब्रह्म, आत्मा या परमात्मा का ही—मेरा ही—पसारा है। जब शरीर की सारी बातों की जवाबदेही शरीरी पर ही है यह रोज ही देखते हैं; इसीलिए शरीर के सुख-दुःखों को भी उसे ही भोगना पड़ता है, तो फिर समूचे संसार की बला भी उसी के माथे क्यों न आये? जैसे रस्सी का काम है किसी पदार्थ को कहीं बाँध देना, फाँस देना; रस्सी को गुण या गोन भी कहते है; ठीक उसी तरह तीनों गुणों ने इस खेतिहर आत्माराम को शरीर में बाँध और फाँस दिया है। यही बात 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (13।21) में कही गयी है। जिस तरह वेश्या किसी भोले-भाले को फँसा के उसे खराब कर डालती है, वैसे ही प्रकृति अपनी अनेक वेषभूषा बना के आत्मा को फँसा लेती और तबाह कर डालती है। यही बात 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्' (13।21) में कही गयी है।

प्रश्न होता है कि क्षेत्रज्ञ इन क्षेत्रों में खुद ही बँध तो गया है। अब इनसे पिण्ड छूटने में दिक्कत भी है। वेश्या ने इस भोले-भाले को अनजान में फँसा लिया है सही। काफी बर्बाद भी कर डाला है। मगर क्या इस आफत से छूटने का कोई उपाय नहीं है? और अगर है तो कौन सा?

उत्तर है कि उपाय जरूर है । जब हम सारी बातें ठिकाने से समझ जायँ, अपनी हालत बखूबी जान जायँ, हमारा क्या अधिकार है, हम क्या कर सकते हैं, फँसने की वजह क्या है, आदि चीजें जान लें, तो हिम्मत कर इन्हें उठा फेंकेंगे। दूसरा रास्ता है नहीं। इसके लिए खेतों का पूरा ब्योरा और शुरू से उनका इतिहास भी

जान लेना जरूरी है कि ये कब कैसे तैयार हुए और हम इनमें कैसे-कैसे फँसे। क्योंकि इसी जानकारी से हमें काफी वजहें मिल जायँगी, जिनके बल पर बाजीदावा दे के हट जायँ। और माकूल वजह होने पर इसमें अड़चन भी क्यों होगी? यही बात शुरू के 'महाभूतान्यहंकार' प्रभृति श्लोकों में है। इनमें खेतों का कच्चा चिट्ठा है। 'अमानित्वमदंभित्व' आदि में जानकारी के उपाय बताये गये हैं जिससे हम पूरे आगाह हो जायँ और हिम्मत ला सकें। वेश्या का कच्चा चिट्ठा जान लेने पर ही, उसके सभी गुणों—सभी कारनामों—को बखूबी समझ लेने पर ही, उसके जाल से छूट सकते हैं। इसीलिए प्रकृति का ब्योरा दिया गया है; ताकि जानकर सजग हो सकें। इन्हीं सब बातों को दिमाग में रख के—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।1।।

श्रीभगवान् कहने लगे (कि) हे कौन्तेय, इस शरीर को (ही) क्षेत्र—खेत—कहा जाता है (और) जो इसे बखूबी जानता है उस (आत्मा) को ही उसके जानकार लोग क्षेत्रज्ञ या खेतिहर कहते हैं।1।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।2।।

हे भारत, सभी क्षेत्रों में (रहने वाला) क्षेत्रज्ञ भी मुझी को जानो। (इस तरह) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही ज्ञान मैं ठीक मानता हूँ।2।

यहाँ 'भी' के मानी में जो 'च' आया है, और इसी की ओर इशारा करते हुए उत्तरार्द्ध में जो क्षेत्र तथ क्षेत्रज्ञ दोनों का उल्लेख है उससे भी, यही मानना पड़ता है कि 'भी' कहने से क्षेत्र ही लिया जाना चाहिए। इस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों ही परमात्मा या ब्रह्म से जुदा सिद्ध नहीं होते। फलतः अद्वैतवाद स्थापित होता है। इसी अद्वैत ज्ञान को कृष्ण अपना मत, निजी मन्तव्य कहते हुए सही बताते हैं। यहाँ सभी क्षेत्रों में के अर्थ में 'सर्वक्षेत्रेषु' कह के 'क्षेत्रज्ञ' जो एक वचन दिया है उसका आशय यही है कि एक ही आत्मा सबमें व्याप्त है। उसी के ये अनन्तरूप हैं, शरीर हैं और सब कुछ है। इसीलिए अर्जुन के वास्ते सभी की जानकारी और चिन्ता जरूरी थी।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।।3।।

वह क्षेत्र जो कुछ है, जितने प्रकार का है और उसके जितने विकार या कार्य हैं, (साथ ही) वह (क्षेत्रज्ञ) भी जो कुछ है और उसका जो प्रभाव है, सभी कुछ संक्षेप में मुझसे सुन लो।3।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।4।।

ऋषियों ने (यही बात) बहुत ढंग से वर्णन की है, वेद के अनेक मन्त्रों ने जुदा-जुदा (कही है) और ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषद् वाक्यों ने भी तर्कयुक्ति के साथ निश्चित रूप से बताई है।4।

इस श्लोक में इस विषय के प्रमाणों को कह चुकने के बाद अगले श्लोक में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की पूर्वोक्त सारी बातें कहना शुरू करेंगे और इस प्रकार तीसरे श्लोक में छिड़ी बातों को बतायेंगे। यही बात 18वें श्लोक तक जाएगी। उसके बाद इन्हीं का विशेष विश्लेषण चलेगा। यहाँ ऐसा कहने का प्रयोजन यही है कि यह एकदम कोई नयी बात नहीं है। जिसे पहले पहल कृष्ण ही कह रहे हों। क्योंकि सृष्टि और उससे आत्मा का सम्बन्ध यह चीज बहुत ही पुरानी है। इसीलिए इस पर ऋषि-मुनियों, वैदिक मन्त्रों और उपनिषदों का ध्यान जाना जरूरी था। और अगर फिर भी न गया है, तो हो न हो कुछ बात है, ऐसा खयाल हो सकता था। फलतः आगे के उपदेशों में अश्रद्धा की गुंजाइश भी हो सकती थी। इसलिए पहले ही कह दिया कि ये बातें अपने-अपने ढंग से पहले भी सबने खूब ही लिखी हैं। कर्म-अकर्म या कर्मयोग की बात तो जुदी है। इसलिए उसमें मतभेद या नवीनता की गुंजाइश हो सकती है। वह मानी भी जा सकती है। मगर जिस आत्मज्ञान के आधार पर वह बात कही गयी है उसमें ही यदि गड़बड़ हो तो समूचा आधार ही खत्म समझिए। यह भी नहीं कि इसमें भी मतभेद रहेगा ही। यह तो कर्तव्य की बात न हो के वस्तुस्थिति या ठोस चीज (hard fact) की बात है न? और अगर इसमें ही मतभेद या नवीनता चले तो सर्वत्र अविश्वास ही अविश्वास हो जायगा। इसीलिए यह कह देना जरूरी था कि इसमें सभी की एक ही राय है। हाँ कहने का तरीका जुदा-जुदा जरूर है।

इस श्लोक में ऋषियों, वैदिक मन्त्रों और ब्राह्मणों या उपनिषदों के वचनों का निर्देश है। वैदिक मन्त्रों के द्रष्टा या बनाने वाले बहुतेरे ऋषियों को तो मानते ही हैं। उन्हीं की ओर इशारा करते हुए उपनिषदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः जगह-जगह लिखा पाया जाता है कि 'ऐसा तो ऋषि ने भी कहा है' 'तदुक्तमृषिणा' वेदमन्त्रों के रूप में ही सही या और रूप में भी सही। हर हालत में ऋषियों ने पहले बहुत कुछ कहा है जरूर। वह लोग स्वतन्त्र रूप से आत्मा और सृष्टि का विवेचन न करते, भला यह कैसे सम्भव था? उनका तो यही काम ही था। इस तरह एक तो उनका स्वतन्त्र कथन है। दूसरे वैदिक मन्त्रों में भी 'नासदीय सूक्त' में जो ऋग्वेद के दसवें मण्डल का 129वाँ सूक्त माना जाता है तथा अन्यान्य बीसियों मन्त्रों में ब्रह्म से इस सृष्टि के विस्तार का उल्लेख है। वैदिक मन्त्रों को ही यहाँ छन्द पद से लिया है। 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' (ऋग्वेद 10।114।5), 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ. 1।164।46), 'देवानां पूर्वेय्युगेऽसतः सदजायत' (ऋ. 10।72।2), तथा 'द्वासुपर्णा

सयुजा' (1।164।20) आदि में कितना सुन्दर और वाद-विवादात्मक वर्णन है! पुरुषसूक्त में, जो यजुर्वेद में भी पाया जाता है, यही बात कितनी विशद रूप में है। वैदिक मन्त्रों के सिवाय वेद के ही ब्राह्मण भाग में जो उपनिषद् माने जाते हैं उनमें तो इस सृष्टि का वर्णन तर्क और युक्तियों के साथ आया ही है। यदि केवल छन्दोग्य के छठे अध्याय को ही देखें तो तबीयत खुश हो जाय। यों तो प्रश्न, श्वेताश्वतर आदि में भी यही बातें आती हैं। वहाँ भी पूरा वाद-विवाद एवं गम्भीर विवेचन पाया जाता है। मुण्डकोपनिषद् (3।1।1) में तो ऋग्वेद का 'द्वासुपर्णा सयुजा' मन्त्र ही ज्यों का त्यों आया है।

छान्दोग्य के छठे अध्याय के दूसरे ही खण्ड में पहले कहा है कि सृष्टि के पहले केवल सत् या ब्रह्म था और उसी से सृष्टि हुई 'सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। उसके बाद ही कुछ मतवादों का उल्लेख करके और यह कह के कि वह तो पहले असत् या शून्य ही मानते और उसी से सृष्टि का पसारा स्वीकार करते हैं, यह सुन्दर तर्क दिया है कि भला यह कैसे होगा? भला, असत् से यह विरोधी सत् पदार्थ कभी पैदा हो सकते हैं? 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाचकथमसतः सज्जायत'? भला, इससे बढ़के निश्चित और तर्कयुक्त बात और क्या हो सकती है? इसी अध्याय में पूर्वोक्त वटबीज का दृष्टान्त दे के समझाया गया है। यह भी कहा गया है कि जल, अग्नि आदि से ही उसके मूल कारण ब्रह्म का पता लगता है। ऐसी ही हजारों युक्तियाँ दे के और विश्लेषण-विवेचन करके ब्रह्म का तर्क-दलील के साथ अत्यन्त निश्चित प्रतिपादन किया गया है। इन्हीं वचनों का इस श्लोक में ब्रह्मसूत्रपद या ब्रह्म के सूचक एवं प्रतिपादक वाक्य कहा है। इस पर विशेष विचार पहले ही हो चुका है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः।।5।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।6।।

पाँच महाभूत, जिन्हें पंचतन्मात्रा या सूक्ष्म भूत कहते हैं, अहंकार समष्टि बुद्धि या महत्तत्त्व, प्रकृति, ग्यारह इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, जो इन्द्रियों के सम्बन्ध से सुख-दुःख का अनुभव करता है, चेतनता या बुद्धि और धैर्य—संक्षेप में यही क्षेत्र और उसके विकार—कार्य—कहे गये हैं।5।6।

इस पर यहाँ ज्यादा लिखने की जरूरत नहीं। पहले ही पूर्ण प्रकाश डाल चुके हैं। सांख्य दर्शन में प्रकृति, महान्, अहंकार और पंचतन्मात्रा ये आठ-दस इन्द्रियाँ और अन्तःकरण ये ग्यारह और इन्द्रियों के रूप, रस आदि पाँच विषयों को मिला के सोलह, इस प्रकार कुल चौबीस पदार्थ मान के प्रकृति या प्रधान को मूल माना है। वही यहाँ तीसरी श्लोक का क्षेत्र है। जिन सात को उसके बाद गिनाया है ये प्रकृति-विकृति कहाते हैं। प्रकृति से पैदा होने से विकृति या विकार और कार्य कहे जाते हैं। खुद इन्द्रियादि को पैदा करने के कारण ही प्रकृति या कारण भी कहे जाते

हैं। तीसरे श्लोक में जो क्षेत्र के प्रकार का उल्लेख है वह यही सात हैं। प्रकृति-विकृति की जगह यादृक् या जितने प्रकार का कह दिया है। शेष सोलह और इच्छादि सात कुल तेईस को यहाँ विकार, विकृति या कार्य कहा है। सांख्य के सोलह की संख्या को कुछ और भी बढ़ा दिया है। दूसरा फर्क नहीं है। इसका और भी विस्तार हो सकता है। इसीलिए कह दिया है कि संक्षेप में ही इतने गिनाये हैं।

तीसरे श्लोक में 'जिससे जो बनता या होता है'—'यतश्चयत्'—भी एक बात कही गयी है। उसका उत्तर या विवरण आगे के पाँच श्लोकों में है। तीसरे श्लोक में इसके बाद ही क्षेत्रज्ञ की बात आ गयी है, जिसका विवरण इन पाँच श्लोकों के बाद ही 12वें से 17वें तक में आया है। फिर 18वें में सभी का उपसंहार कर लिया है। यहाँ तक तो तीसरे श्लोक की बातें संक्षेप में ही कह दी गयी हैं। इसीलिए 19वें से फिर विशेष विवरण और निरूपण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ही बारे में चला है, न कि अन्य ब्योरे के बारे में। 18वें में लिखा है कि क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय—क्षेत्रज्ञ—को कह चुके। उससे पता चलता है कि पाँच श्लोकों में जो ज्ञान की बात आयी है वही 'यतश्चयत्' का उत्तर या विवरण है। इन शब्दों का मोटा अर्थ यह है कि 'जिससे जो हो सके'। साढ़े चार श्लोकों में जो कुछ गिनाया है वह ज्ञानोत्पत्ति के साधन हैं। उनके बिना ज्ञान होई नहीं सकता। उनमें हरेक ज्ञान के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, जैसा कि उनके नामों से ही स्पष्ट है। कुल 21 बातें गिनाई गयी हैं और सभी ऐसी ही हैं। यों तो 'जन्म-मृत्युजराव्याधि' (13।8) में चारों के अलग-अलग दुःख एवं दोष देखने से आठ हो जा सकते हैं। फलतः 21 की जगह 27 हो जायँगे। शेष आधे या 11वें के उत्तरार्द्ध में कह दिया है कि ये ज्ञान हैं और इनसे उलटी बातें हैं अज्ञान हैं। ज्ञान के साधन होने से ही इन्हें ज्ञान कह दिया है। इसी तरह अज्ञान के साधन या पैदा करने वाले अभिमान, दम्भ, हिंसा आदि को अज्ञान भी इसीलिए कह दिया है। इससे साफ हो गया है कि किनसे ज्ञान पैदा होता है और किनसे अज्ञान। इस तरह जिससे जो पैदा होता है यह जो तीसरे श्लोक में कहा गया है उसका विवरण इन पाँचों में पूरा हो गया। पाँचों ने कह दिया कि अभिमान-शून्यता आदि से ज्ञान होता है और अभिमान आदि से अज्ञान।

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।7।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्।।8।।
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।9।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।।10।।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।। 11।।

अभिमान-शून्यता, दम्भ या दिखावटी काम की शून्यता, अहिंसा, क्षमा, नम्रता, आचार्य या उपदेश की सेवा-शुश्रूषा, पवित्रता, स्थिरता, मन पर काबू, इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य, अहंकार का त्याग, जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-रोग इन चारों के दुःखों और बुराइयों का निरन्तर खयाल, पुत्र-स्त्री-घर-बार आदि में आसक्ति का त्याग तथा इनमें तन्मयता का न होना, बुरी-भली बातें हो जाने पर भी हमेशा चित्त में उनका असर होने न देना, भगवान् या आत्मा में ऐसी अनन्य भक्ति जो कभी डिग न सके, एकान्त स्थान का सेवन, लोगों के भीड़-भड़क्के में रुचि का न होना, अध्यात्मशास्त्र में निरन्तर लगे रहना और तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार के प्रयोजन पर नजर रखे रहना, यही ज्ञान के साधन हैं। इनके विरुद्ध अभिमान, दम्भ आदि अज्ञान को पैदा करते और बढ़ाते हैं।। 7। 8। 9। 10। 11।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।। 12।।
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लो के सर्वमावृत्य तिष्ठति।। 13।।
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।। 14।।
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।। 15।।
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।। 16।।
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।। 17।।

जो जानने योग्य—क्षेत्रज्ञ—है और जिसके ज्ञान से मोक्ष मिलता है वही वस्तु अभी-अभी कहे देता हूँ। (वह वस्तु) आदि शून्य परब्रह्म ही है। वह न तो स्थूल और कार्य कहा जाता है और न सूक्ष्म और कारण ही। उसके हाथ, पाँव, आँख, सिर और मुँह सभी जगह हैं—अर्थात् वह सर्वत्र मौजूद है। उसके कान (भी) सर्वत्र हैं। वह सभी पदार्थों को घेरे पड़ा है। सभी इन्द्रियों के कामों में वह लिपटा सा रहता है (जरूर)। (मगर वस्तुतः) सभी इन्द्रियों से रहित है। कहीं भी चिपका नहीं है। (फिर भी) सबों को कायम रखता है। निर्गुण है। (साथ ही) गुणों (के कामों और फलों) को भोगता (भी) है। सभी पदार्थों के बाहर भी है और भीतर भी। (स्वयमेव) चर, अचर (पदार्थ रूपी भी) है। सूक्ष्म होने से ही बखूबी जाना नहीं जा सकता। दूर भी है (और) नजदीक भी। पदार्थों के बँटा न हो के सबमें एकरस है। (मगर)

अलग-अलग जैसा लगता है। पदार्थों का भरण-पोषण करने वाला उसी को जानना चाहिए। वही सबको ग्रस लेने वाला और बनाने वाला भी है। वही ज्योतियों को भी ज्योति देने वाला (तथा) अँधेरे से परे माना जाता है। (वही) पूर्वोक्त ज्ञान है और ज्ञेय भी। ज्ञान के द्वारा प्राप्त करने योग्य भी वही है। वही सबों के हृदय में मौजूद है। 12। 13। 14। 15। 16। 17।

इन श्लोकों में जो कुछ भी वर्णन है वह आलंकारिक होने के साथ ही वास्तविक स्थिति से पूरा ताल्लुक रखता है। यही इसकी खूबी है। आत्मा के बारे में जो कुछ हमने पहले लिखा है यदि उसे अच्छी तरह से हृदयंगम कर लिया जाये तो ये सारी बातें बखूबी समझ में आयें। इन्हें पढ़ के मजा भी आये। हाँ, एक बात कह देना जरूरी है। आत्मा तो ऐसी ठसाठस भरी हुई जैसी है कि उसमें विभाग करने या उसे अलग-अलग देखने की गुंजाइश हई नहीं, बशर्ते कि हमारी दृष्टि ठीक हो आखिर इंच भर भी, अणु या बाल भर भी कोई जगह है नहीं जो खाली हो। जहाँ कुछ नहीं वहाँ अनन्त परमाणु ही मौजूद हैं, या अगर और नहीं तो दिशा और काल (Space and time) तो हईं, और वह है इन सबों की आत्मा। इसीलिए बीच-बीच में फाँक पड़ने की संभावना ही कहा है? फलतः चाहे हम कुछ बोलें, कहीं जायँ, कहीं हाथ बढ़ायें किधर भी मुँह, सिर या आँखें करके इशारा करें, सर्वत्र सब कुछ जानने-सुनने के लिए वह मौजूद ही है। उसके बिना टिके कौन? और न टिकने में भी तो निषेध रूप से (Negatively) उसे रहना ही पड़ता है।

यहाँ ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य ये तीन बातें कही गयी हैं। इनमें दो तो पहले ही आ चुकी हैं—ज्ञान और ज्ञेय। इसीलिए उचित समझते हैं कि उन्हीं का उल्लेख इन श्लोकों में माना जाय, न कि सर्वसाधारण ज्ञान और ज्ञेय का। 18वें श्लोक में भी, जो आगे आ रहा है, उसी ज्ञान और ज्ञेय का नाम लिया है। अतएव बीच में दूसरे ज्ञान और ज्ञेय को लेना हमने उचित नहीं समझा। तब तो जबर्दस्ती सी हो जाती—अकाण्ड ताण्डव बन जाता। एक बात और भी इस ज्ञान और ज्ञेय के ही सम्बन्ध में जान लेने की है। पहले भी 'क्षेत्रक्षेत्रयोर्ज्ञानं' (13। 2) में ज्ञान की बात आयी है। वहाँ ज्ञेय की जगह क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ आये हैं। बेशक 'अमानित्व' आदि में जो ज्ञान शब्द है वह ज्ञान के साधनों के ही लिए आया है। मगर इसके यह मानी हर्गिज नहीं कि उससे उन साधनों का ही बोध होता है, न कि ज्ञान का भी। उसका तो असली मतलब यही है कि इन्हीं साधनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का यथार्थ ज्ञान हो सकता है, उसी से हम इन दोनों की हकीकत जान सकते हैं। फिर भी 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः' इस षष्ठी के रहने के कारण उन दोनों के ज्ञेय या ज्ञान के विषय होने पर भी उस ज्ञेय और इस ज्ञेय में फर्क है। वहाँ ज्ञान ही प्रधान और वही दोनों अप्रधान हैं। क्योंकि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के जो रूप हैं और जिनका ज्ञान होता है वह तो मायामय हैं, कल्पित हैं। उनकी भी हकीकत तो ब्रह्मात्मा ही

है। इसीलिए षष्ठी लिख के उन्हें अप्रधान या अमुख्य बना दिया है। मगर यहाँ तो साफ ही 'ज्ञेयम्' लिखा है। इसलिए यह मुख्य है। अतएव 'ज्ञानगम्यं' विशेषण यहाँ लगा दिया है। इसका आशय यह है कि ज्ञान के द्वारा अन्त में हमें वहीं पहुँचना है। फिर वह असल और हकीकत क्यों न हो? ऊपर के श्लोकों में जिन अनेक रूपों में इस ब्रह्मात्मा को दिखाया है कहीं लोग उन रूपों को ही ठीक न मान बैठें इसलिए भी 'ज्ञानगम्यं' कह दिया, जिससे स्पष्ट हो गया कि ये सब रूप या ढंग केवल उसे जानने, देखने या नजर में लाने के लिए ही हैं न कि वही वस्तुगत्या इन रूपोंवाला है। इस तरह उसके प्रभाव की भी जानकारी हो जाती है। यह बात 'यत्प्रभावश्च' में पहले ही आयी थी भी।

अब आगे के श्लोक में यहाँ तक कही गयी सभी बातों का उपसंहार करते हुए इसकी आवश्यकता भी बता देते हैं। किन्तु उसके बाद पुनरपि क्षेत्र या प्रकृति का विशेष ब्योरा जानना जरूरी है। क्योंकि उसके गुणों और चालों को जाने बिना उससे पार पा नहीं सकते। साथ ही, क्षेत्रज्ञ, उसमें किस तरह फँसता है यह भी जान लेना जरूरी होने के कारण उसका भी कुछ ब्योरा आगे दिया गया है। इस तरह 'यो यत्प्रभावश्च' इन दोनों का विशेष विवरण भी हो जाता है। खासकर 'यः' या 'जो' का विवरण बहुत जरूरी है। क्योंकि वह अभी अच्छी तरह बताया जा सका है नहीं।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।। 18।।

संक्षेप में क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय यही कहे गये हैं। मेरा भक्त इसे ठीक-ठीक जान के मेरा ही रूप हो जाता है। 18।

उत्तरार्द्ध से तो यह भी स्पष्ट है कि जिस भक्ति की बात बारहवें अध्याय में आयी है वह साधन ही है। उसका भी नतीजा अन्त में यह ज्ञान ही है, जिसे विज्ञान या आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। आखिर भक्त कहने के बाद और मेरा स्वरूप बनने के पहले पूर्वकालिक क्रिया के रूप में जो 'विज्ञाय' बीच में आ गया है उसका स्वरसिक अभिप्राय और होई क्या सकता है? यदि हठ या पक्षपात छोड़ के देखें तो मानना होगा कि पहले भक्ति होने से भक्त बने, फिर विज्ञान हुआ और उसके बाद अन्त में मुक्ति हुई। हाँ, यह विज्ञानी भी भक्त होता है। मगर वह तो 'चतुर्विधाः' (7। 16-19) के 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः' शब्दों में ही कहा जा चुका है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। 19।।

प्रकृति और पुरुष यह क्षेत्र एवं आत्मा इन दोनों को ही अनादि समझो। (इनमें भी) (सभी पूर्वोक्त) विकारों और गुणों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न जानो। 19।

यहाँ अनादि कह देने से यह प्रश्न जाता रहा कि आत्मा के फँसने या प्रकृति

के संसर्ग में आने की क्या जरूरत थी। क्योंकि यह चीज तो कभी शुरू हुई नहीं कि इसकी वजह बताई जाय। यह तो सदा से ऐसी ही बनी है।

कार्यकरणकर्त्तृत्त्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।। 20।।

कार्य और करण को बनाने में कारण प्रकृति ही है। पुरुष (तो सिर्फ) सुख-दुःखों के भोगने में ही कारण है। 20।

पूर्व के श्लोक के उत्तरार्द्ध में जो कहा गया है कि सभी विकारों या कार्यों और गुणों को प्रकृति ही पैदा करती है, उसी का स्पष्टीकरण इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में है। इसीलिए कार्य शब्द का अर्थ है व्यष्टि तथा समष्टि शरीर। इसी प्रकार करण के मानी हैं व्यष्टि-समष्टि सभी इन्द्रियाँ, जिनमें बुद्धि आदि आ जाती हैं। इन्हीं से सब संसार चलता है। कहीं-कहीं कार्यकारण पाठ है। उस दशा में पूर्वोक्त महत्तत्वादि सात को कारण और शेष इन्द्रियादि को कार्य कहने में ही तात्पर्य है। गुण शब्द के मानी हैं गौण या पीछे बनी इन्द्रियादि और तीनों गुण भी। हर हालत में समस्त संसार ही आ जाता है। केवल एक ही बात की कमी रह जाती है जिसे सुख-दुःखादि का भोग कहते हैं। क्योंकि उसके बिना संसार पूरा कैसे होगा? यदि सुख-दुःखादि किसी को भोगना न हो तो संसार कैसा? तब तो सारा मामला ही फीका हो जाय। इसीलिए उसकी पूर्ति उत्तरार्द्ध कर देता है कि पुरुष या आत्मा के ही चलते भोग होते हैं। यदि वह न हो तो इन्द्रियादि जड़ पदार्थ कुछ करी न सकें। इसीलिए तो पुरुष की सत्ता भी मानना जरूरी हो जाती है। प्रकृति एवं उससे बने पदार्थ तो जड़ हैं। अन्धे हैं। वह भोग का काम करी नहीं सकते, सभी बातों को नियन्त्रण के द्वारा मिला-जुला के (Coordinate) रख नहीं सकते और बिना इसके भोग हो नहीं सकता। भोग के मानी ही हैं सभी चीजों को जोड़-जाड़ के सामने लाना। जैसे समष्टि के नियमन आदि (Coordination) के लिए अगत्या ईश्वर की सत्ता माननी पड़ती है, वैसे ही व्यष्टि के लिए आत्मा की। आगे यही तर्क दिया भी है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।। 21।।

क्योंकि पुरुष ही प्रकृति के सम्बन्ध से ही उससे उत्पन्न त्रिगुण पदार्थों को भोगता है। (इस तरह जो) इन गुणों में उसकी आसक्ति है वही उसके भले-बुरे जन्मों का कारण है। 21।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।। 22।।

(असल बात यह है कि) इस देह में (यह जो) परमपुरुष है वह तो अलग हो के सभी बातों को सिर्फ देखता (और इसी रूप में) अनुमोदन करता है, कायम रखता है और (अन्त में उन्हें) भोगता भी है। (वही) महेश्वर और परमात्मा भी कहा

गया है। 22।

साक्षी होने से ही उपद्रष्टा कहा गया है। चेतन के बिना जड़ पदार्थों का काम हो नहीं सकता। कहीं न कहीं मूल में चेतन चाहिए ही। यही अनुमोदन है जिसे हमने सम्मेलन और नियन्त्रण (Coordination) कहा है। यदि ऐसी शक्ति न हो तो सभी चीजें तखड़-पखड़ हो जायँ। भर्त्ता कहने का भी यही आशय है। इस तरह के दूर के संसर्ग से ही वह भोगने वाला बन जाता है। क्योंकि शीशे में दूरस्थ रक्तपुष्प का प्रतिबिम्ब पड़ के वह भी लाल नजर आता ही है उसी तरह इन्द्रियादि के सारे अनर्थ उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। यही भोग है। लेकिन यह प्रतिबिम्ब जैसा ही है। इसीलिए वस्तुतः यह आत्मा महेश्वर ही है, परमात्मा ही है।

य एवं वेत्ति पुरुष प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।। 23।।

(इसीलिए) जो पुरुष को और प्रकृति को भी गुणों के साथ इस तरह ठीक-ठीक जान जाता है वह चाहे किसी भी दशा में रहे, (फिर भी) पुनर्जन्म नहीं पाता। 23।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगे न चापरे।। 24।।
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।। 25।।

कुछ लोग ध्यान से ही अपने ही भीतर अपने आप आत्मा को (इस प्रकार) देखते हैं—साक्षात् करते हैं। दूसरे लोग सांख्ययोग से ही (ऐसा करते हैं) तथा तीसरे (दलवाले) कर्मयोग से ही। लेकिन इस प्रकार नहीं जान सकने वाले कुछ लोग तो दूसरों से सुन के ही उपासना करते हैं। सुनने के अनुसार ही पूरा अमल करने वाले वे भी जन्ममरण से छुट्टी पाई जाते हैं। 24। 25।

ये दोनों श्लोक कुछ अजीब से हैं। विशेष विचार न कर सकने वाले इनसे धोखे में पड़ के आत्मज्ञान के चार स्वतन्त्र मार्गों का प्रतिपादन इन श्लोकों में मान बैठते हैं; हालाँकि 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा' (3। 3) के अनुसार पहले वही लोग दोई स्वतन्त्र मार्ग मानते हैं। इस तरह इन श्लोकों के करते उन्हें भी घपले में पड़ना पड़ा है। लेकिन सच पूछा जाय तो इनमें ऐसी कोई बात है नहीं।

24वें के पूर्वार्द्ध में उसी समाधि का वर्णन है जिसका सविस्तार निरूपण छठे अध्याय में और उससे पहले भी आया है। यही तो ज्ञानप्राप्ति की अन्तिम सीढ़ी है। मगर जो वहाँ तक न पहुँच सके हों उनके ही लिए उसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में नीचे की दो सीढ़ियाँ कही हैं। ऐसे लोग दो तरह के होते हैं, जैसा कि 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' (4। 38) और 'संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये' (5। 11) में कहा गया है, उसी के अनुसार कर्मों के करते-करते जिनका मन शुद्ध हो चुका है ऐसे लोग एक दल में हैं। अभी तक जिनके मन की शुद्धि शेष ही है वही दूसरे हैं दल में। फलतः पहले

ऊपर और दूसरे नीचे हैं। तदनुसार ही पहले दलवाले सांख्य की रीति के अनुसार गुणों का विवेचन आत्मा से करके उसे निश्चय करते हैं। क्योंकि जब तक ऐसा निश्चय न हो जाय समाधि होगी किसकी? बस यही है सांख्ययोग या सांख्य की रीति। परन्तु जो दूसरे दलवाले ऐसे नहीं हैं वह कर्म करते रहते हैं जिसे कर्मयोग कहा है। वह कर्म की ही रीति या मार्ग है जिससे धीरे-धीरे मन शुद्ध होता है। यह भी बात है कि यह सभी बातें पूरी जानकारी से ही हो सकती हैं। यहाँ तक कि कर्मों का मार्ग भी बीहड़ होने के नाते बहुत जानकारी चाहता है। लेकिन जिन्हें यह जानकारी होई नहीं, वह क्या करें? ऐसे लोग ही तो दुर्भाग्यवश ज्यादा होते हैं। इसीलिए उन्हीं के खयाल से 25वें श्लोक में सबसे नीचे की सीढ़ी कही है। ऐसे लोग दूसरे जानकारों से सुन-सुना के ही धीरे-धीरे इस काम में लगते हैं और आगे बढ़ते हैं। कहने का आशय यही है कि कर्म करने वालों में भी वे लोग नीचे दर्जे के ही होते हैं। बेशक वे ऐसे नहीं जो गीता की गिनती में आयें ही न । वैसों की तो यहाँ चर्चा ही नहीं है। तीसरे अध्याय के शुरू में ही गीता की गिनती में जिन्हें लिया है उन्हीं में ये भी आ जाते हैं। अतएव ये चारों स्वतन्त्र मार्ग न हो के एक ही मार्ग की नीचे-ऊपर की सिर्फ सीढ़ियाँ हैं।

इस तरह ध्यान या समाधि के फलस्वरूप जो समदर्शन होगा वही ज्ञान का असली रूप है। उसी का वर्णन इस अध्याय के शेष श्लोकों में है। इसी वर्णन में उसकी महत्ता भी आ गयी है और वह कब पूरा होता है यह भी कह दिया है। कुछ तर्क-दलीलें भी दी गयी हैं। इसका श्रीगणेश कहाँ से होता है। यह भी बताया गया है। क्योंकि जब तक यह न जान लें कि क्या मर्ज है। तब तक औषधि क्या करेंगे? इसीलिए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ या प्रकृति और पुरुष के पूर्वोक्त आलंकारिक सम्बन्ध से ही इसका निरूपण यों शुरू करते हैं जिसका उल्लेख शुरू में ही है, ताकि अन्त में भी वह चीज याद आ जाये—

यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रसंगोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।। 26।।

हे भरतवंश में श्रेष्ठ, जो कुछ भी स्थावर और जंगम पदार्थ हैं या बनते हैं वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध से ही होते हैं यह जान रखो। 26।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 27।।

(इसीलिए) सभी पदार्थों में एकरस रहने वाले तथा उनके नष्ट होने पर भी नष्ट न होने वाले परमेश्वर (रूपी आत्मा) को जो देखता है—साक्षात् करता है—(दरअसल) वही देखता है—यथार्थदृष्टिवाला है। 27।

यहाँ निषेध दृष्टि से (Negatively) ही आत्मा की सत्ता मानी गयी है, जिसे उपनिषदों में नेति-नेति की दृष्टि या मार्ग बताया है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परांगतिम्।। 28।।

क्योंकि सर्वत्र एकरस रहने वाले ईश्वर को ही जो देखता रहता है वह स्वयं आत्मा को नष्ट नहीं करता—उसका असली रूप जान जाता है। इसीलिए वह परमगति—मुक्ति—पा जाता है। 28।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।। 29।।

(इसीलिए) जो यह देखता है कि सभी कर्म तो प्रकृति के द्वारा ही किये जाते जाते हैं; आत्मा को (इसी से) जो अकर्त्ता—कुछ भी न करने वाला—देखता है, वही (तो) देखने वाला है—जानकार है। 29।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनु पश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा।। 30।।

जब (मनुष्य) जुदे-जुदे दीखनेवाले पदार्थों को एक ही रूप—आत्मरूप—में देखता है और उसी से इनका पसारा देखता है तभी ब्रह्मरूप हो जाता है। 30।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।। 31।।

हे कौन्तेय, अनादि एवं निर्गुण होने के कारण ही यह विकारशून्य परमात्मा (रूपी पुरुष या जीव) शरीर में रहने पर भी न तो कुछ करता है और न किसी में सटता है। 31।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।। 32।।
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।। 33।।

जिस तरह सर्वत्र रहने पर भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही आकाश किसी से भी नहीं चिपकता, उसी तरह सभी शरीरों में रहने वाली आत्मा भी किसी से लिप्त नहीं होती। जिस तरह एक ही सूर्य सारे संसार को प्रकाशित करता है, उसी तरह (एक ही) क्षेत्रपति—खेतिहर या क्षेत्रज्ञ—सभी क्षेत्रों को प्रकाशित करता है। 32। 33।

यहाँ दो-एक महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं। एक तो आत्मा को एक ही माना है। सूर्य का दृष्टान्त भी साफ-साफ इसी मानी में दिया है। क्योंकि 'एक ही सूर्य' ऐसा कह दिया है। यों तो आकाश के दृष्टान्त से भी आत्मा की एकता ही—अद्वैतवाद ही—सिद्ध है। दूसरी बात है निर्लेपता की। आकाश इतना बारीक है, सूक्ष्म है कि उसे कोई भी गन्दगी या मैल पकड़ सकती ही नहीं। मगर जो आत्मा आकाश में भी है वह कितनी सूक्ष्म होगी यह तो आसानी से जाना जा सकता है फिर वह क्यों न निर्लेप हो? इस पर प्रश्न होता है कि सभी शरीरों का पथदर्शन या हिलना-डोलना

एक ही आत्मा से कैसे होगा? उत्तर है कि एक ही सूर्य तो संसार को चलाता है, रास्ता बताता है। फिर जो सूर्य का भी सूर्य हो—उसकी भी आत्मा हो—वह सारी अन्धी प्रकृति को क्यों न चलाये?

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।34।।

इस तरह क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ में क्या विलक्षणताएँ हैं, फर्क हैं यह बात और जड़ प्रकृति का अन्त या नाश भी ज्ञानदृष्टि से जो लोग जानते हैं वही परब्रह्म तक पहुँचते हैं। 34।

पहले सातवें अध्याय में प्रकृति दो प्रकार की कही गयी है, परा और अपरा। यहाँ अपरा प्रकृति से ही मतलब है। उसी की पहचान के लिए उसे भूतप्रकृति यानी पंचभूतों की जननी कह दिया है। आत्मा तो ऐसी है नहीं। जो सांख्यवादी प्रकृति का नाश नहीं मानते वे गलत हैं यही जनाने के लिए कह दिया है कि प्रकृति का मोक्ष या नाश होता ही.है। मिथ्या जो ठहरी। नाश के बाद ही तो मुक्ति होती है।

इस अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के रूप में ही संसार का विवेचन होने से वही इस अध्याय का विषय है।

इति श्री. क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।13।।

श्रीम. जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग नामक तेरहवाँ अध्याय यही है।

चौदहवाँ अध्याय

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, चौदहवाँ अध्याय भी सृष्टि का विवेचन-विश्लेषण ही करता है लेकिन यह करता है इस काम को एक प्रकार से स्वतन्त्र रूप से। इसकी वजह भी है जिससे यह अध्याय ही स्वतन्त्र हो गया है। तेरहवें अध्याय ने बहुत फैली-फैलाई सृष्टि की, जो काबू के बाहर सी प्रतीत होती थी, काबू में कर दिया। क्योंकि खेतिहर या किसान और क्षेत्र या खेत के रूप में सारी बातें रख के इन्हें और इनको ही लेके बनी सृष्टि को भी जैसे छोटी सी बना के काबू में कर दिया गया है। क्षेत्र से बाहर जब कुछ हई नहीं और उसके बिना सारी घर-गिरहस्ती ही चौपट है, तो काबू और कहते हैं किसे? इस तरह जो चीज समझ में समा भी नहीं सकती थी वह अब दूसरी ही जान पड़ने लगी। अब उसका रूप इतना छोटा हो गया कि उसके नाम से होने वाली घबराहट दूर हो के उस समूची चीज के समझने-विचारने में सरसता आ गई। इसने ही उसमें चस्का भी पैदा कर दिया।

लेकिन इतने पर भी शरीर इन्द्रियाँ, प्राण प्रभृति और विषयों एवं विकारों के रूप में यह सृष्टि विस्तृत की विस्तृत ही है। सबों का खयाल-विचार करते-करते मन में थकान या ऊब सी भी हो जाती है। शरीर, इन्द्रियाँ वगैरह कह देना जितना आसान है इनका विचार उतना आसान नहीं है। विचारिए और देखिए कि लम्बी-चौड़ी दुनिया सामने खड़ी हो जाती है या नहीं। फिर तो उधेड़-बुन करते-करते नाकों दम हो जाती है, घबराहट पैदा हो जाती है। इसलिए जरूरत थी इस बात की कि और भी संक्षिप्त रूप में इसे रख दिया जाय। साथ ही, वह संक्षिप्त रूप ऐसा हो कि साफ-साफ मालूम पड़े, समझ में आये। सभी पदार्थों को उसने अपने उदरस्थ कर लिया हो यह भी स्पष्ट नजर आता रहे। यदि ऐसा उपाय निकल आये तो कितना सुन्दर हो, कितनी आसानी हो! भला, सभी विषयों का पूरा-पूरा विचेचन कर सकना और उनके गुणदोष को समझ पाना किसकी ताकत की बात है? यह भी कहना कि सभी चीजें बन्धन में ही डालती हैं या बुरी हैं कितना खोखला लगता है! आखिर संसार के भीतर ही तो उपदेशक, विवेक और समाधि प्रभृति भी हैं! तो क्या ये भी बुरे हैं? यदि नहीं, तो समस्त संसार को बुरा क्यों कहा? क्या ये संसार में आ जाते नहीं? ऐसी हजार

पेचीदा बातें पड़ी हैं जिनका समाधान तेरहवें अध्याय से नहीं हो पाता। इसलिए भी जरूरत थी कि कोई सरल मार्ग निकलता, कोई निराला आईना आविष्कृत होता, जिसमें सारी चीजें झलक पड़तीं और उनकी बुराइयाँ साफ मालूम हो जातीं। इन्हीं सब खयालों से चौदहवें अध्याय की स्वतन्त्र आवश्यकता पड़ी।

इसमें सारी सृष्टि को तीनों गुणों के भीतर 'गागर में सागर' की ही तरह रख के कमाल कर दिया है! फिर भी खूबी यह है कि इनमें सारी दुनिया आईने की तरह चमकती है और यह पता फौरन चल जाता है कि क्यों और कैसे हरेक चीज बन्धन का कारण होने से बुरी है। इतना आसान और सुन्दर रास्ता शायद ही कहीं कभी मिल सकने वाला था। एक बात यह भी है कि तेरहवें में जो यह कह दिया है कि "गुणों के साथ लिपटने और फँसने से ही आत्मा का नीच-ऊँच योनियों में जन्म होता रहता है"—'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (13।21), उसका स्पष्टीकरण भी हो जाना जरूरी था कि यह बात कैसे होती है। इस अध्याय में हरेक पदार्थ का विश्लेषण करके बुरे-भले सभी को तीन गुणों का ही रूप बता दिया है। यह बात भी है कि ये तीनों ही गुण बन्धन में डालने वाले हैं। फलतः सभी पदार्थ आसानी से बन्धनकारी सिद्ध हो गये। आखिर गुण तो रस्सी को ही कहते हैं न? और रस्सी से लिपटना ही तो बन्धन है। इस अध्याय का व्यावहारिक संसार में सबसे ज्यादा महत्त्व इस बात में है कि इसने बता दिया है कि स्वभाव से ही परस्पर विरोधी और एक दूसरे को मिटा डालने वाले पदार्थ भी किस प्रकार आपस में अच्छी तरह मिल के साथ चल सकते, एक दूसरे की मदद कर सकते और सारा काम अंजाम दे सकते हैं। यह अपूर्व उपदेश तो शायद ही कहीं मिला हो या मिलेगा।

यही कारण है कि चौदहवें के शुरू में ही इसे सबसे श्रेष्ठ बताया गया है, सर्वोत्तम कहा गया है। भला, इससे बढ़ के ज्ञान का सुन्दर, सर्व-सुलभ और विशद मार्ग होई क्या सकता है? दूसरी तरह से ज्ञान या जानकारी प्राप्त करने पर तो कभी धोखा भी हो सकता है। मगर इसकी जो सबसे बड़ी खूबी है वह यही कि कहीं भी किसी भी पदार्थ में धोखे की गुंजाइश रहने पाती नहीं। यह तो सबों का छिपा रूप नंगा कर देता है। यही वजह है कि इस अध्याय में प्रकृति से सीधे ही गुणों का विस्तार और पसारा शुरू कर दिया है। गीता की पौराणिक शैली की सबसे सुन्दर खूबी इस अध्याय में यह पायी जाती है कि शुरू में ही आलंकारिक भाषा में सन्तानोत्पत्ति की जगह सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना करके ब्रह्म के द्वारा प्रकृति में गर्भाधान लिखा गया है और उससे पहले-पहल एक ही साथ तीन बच्चों का जन्म बताया गया है। एक तो यही विलक्षणता है कि एक ही साथ तीन बच्चे! इससे खामख्वाह लोगों का ध्यान आकृष्ट हो जाता है कि बात क्या है। फिर वे खोद-विनोद करने लग जाते हैं, मनन में पड़ जाते हैं। दूसरे जब वे बच्चे परस्पर विरोधी और एक दूसरे को खाने पर ही तुले जैसे हों तब तो और भी आश्चर्यजनक चीज हो जाती है कि ये माता-पिता

भी खूब हैं जिनने ऐसे बच्चे जने! इस तरह ब्रह्म को पिता और प्रकृति को माता के रूप में चित्रित करने का प्रयोजन भी पूरा हो जाता है।

सृष्टि के सम्बन्ध में शुरू-शुरू का जो गोलमोल और सामान्य ज्ञान या खयाल है वही गर्भाधान है। उसी के बाद प्रकृति से गुण-विस्तार के द्वारा सृष्टि फैलती है यह बात गुणवाद में बखूबी समझाई जा चुकी है। इस अध्याय का आशय समझने के पहले उसे पढ़ लेना आवश्यक है।

चौथे श्लोक तक तो भूमिका के रूप में यही बात कही गयी है। उसके बाद के पाँच (5-9) श्लोकों में गुणों के निजी स्वभाव और काम बता के अनन्तर 9 (10-18) श्लोकों में यह बताया गया है कि इन तीनों गुणों की आपसी शर्त्तबन्दी है, जिससे एके बाद दीगरे क्रमशः तीनों मुखिया होते हैं। मगर हर समय एक ही मुखिया और शेष दो उसी के अनुयायी होते हैं। किसकी नायकता की क्या पहचान है यह भी बताया गया है। उसी के साथ किस गुण की प्रगति के समय शरीरान्त होने से मनुष्य की क्या गति होती है यह भी कहा है। अनन्तर दो (19-20) श्लोकों में इन गुणों से छुटकारा पाने पर ही मुक्ति होती है, यह बता के शेष सात श्लोकों में इनसे छुटकारा पाने का उपाय और छुटकारा पाये हुए की पहचान बताई गयी है। छुटकारा पाये हुए को ही गुणातीत कहा है। इन्हीं सात में पहला—21वाँ—श्लोक अर्जुन के प्रश्न का है। क्योंकि जब ऐसी बात है तो घबरा के या उत्सुकतावश इनसे पिण्ड छुड़ाने की बांत फौरन ही पूछ लेना उसके लिए अनिवार्य हो गया था। यह विषय ऐसा जरूरी और काम का है कि बिना पूछे ही कृष्ण ने इसका कहना आरम्भ कर दिया था। वे खुद-ब-खुद इसकी महत्ता और जरूरत महसूस कर रहे थे। इसका कारण हम बताई चुके हैं। इसीलिए अर्जुन के बिना कुछ कहे ही स्वयमेव—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।1।।
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।2।।

श्रीभगवान् कहने लगे (कि) सभी ज्ञानों में उत्तम ज्ञान, जिसे हासिल करके सभी मुनिगण यहाँ से (देह छोड़ने के बाद) परम कल्याण पा गये, मैं अभी-अभी कहता हूँ (सुनो) इस ज्ञान का आश्रय लेने पर मेरा स्वरूप हो जाने वाले न तो सृष्टि (के शुरू होने) पर जन्म लेते और न प्रलय में व्यथित होते या मरते हैं।1।2।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।3।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं वीजप्रदः पिता।।4।।

हे भारत, महत्तत्त्व गर्भित प्रकृति ही मेरी स्त्री है और मैं उसी में गर्भाधान करता हूँ। उसी से सभी पदार्थों की उत्पत्ति होती है। हे कौन्तेय, सभी (पशु आदि) योनियों में जितनी तरह की आकृतियाँ हैं उन सबों की माता (वही) प्रकृति और गर्भाधान करने वाला पिता मैं हूँ। 3। 4।

सत्त्वं रजस्तम् इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। 5।।

हे महाबाहु, सत्त्व, रज, तम यही (तीन) गुण प्रकृति से पैदा होते हैं (और) विकाररहित आत्मा को देह में फाँसते हैं। 5।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ।। 6।।

हे निष्पाप, उनमें भी निर्मल होने के कारण प्रकाशक और निर्दोषी सत्त्व गुण सुख और ज्ञान में आसक्ति पैदा करके आत्मा को फँसाता है। 6।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्।। 7।।

हे कौन्तेय, रजोगुण तृष्णा एवं आसक्ति को पैदा करने वाला (और) राग रूपी ही है, ऐसा समझो। वह कर्म में आसक्ति पैदा करके जीवात्मा को फँसाता है। 7।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।। 8।।

हे भारत, तमोगुण तो अज्ञान को पैदा करने और सभी जीवात्माओं को मोह में फँसाने वाला है। वह असावधानी, आलस्य और निद्रा के द्वारा ही फँसाता है। 8।

प्रमाद कहते हैं बातों का खयाल न होना, न रखना। खयाल रहते हुए भी कर्म में प्रवृत्त न होने को ही आलस्य कहते हैं।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।। 9।।

हे भारत, सत्त्व सुख में लिपटा देता है और रज कर्म में। (परन्तु) तम तो ज्ञान को छेंक के असावधानी में ही लिपटाता है। 9।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।। 10।।

हे भारत, रज और तम को दबा के—अपने अधीन करके—ही सत्त्व आगे आता है। (इसी तरह) सत्त्व एवं तम को दबा के रज और सत्त्व तथा रज को दबा के तम (आगे आता—बढ़ता है)। 10।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वामित्युत।। 11।।

जब इस शरीर के सभी द्वारों—इन्द्रिय-छिद्रों—से अँधेरा हटके ज्ञान पैदा होता

है तभी सत्त्व की वृद्धि जानें। 11।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।। 12।।

हे भरतश्रेष्ठ, रज के बढ़ने पर लोभ, काम में झुकाव, क्रियाओं का आरम्भ, उनका लगातार जारी रहना और हाय-हाय ये बातें होती हैं। 12।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।। 13।।

हे कुरुनन्दन, तम की वृद्धि होने पर (दिमाग के सामने) अँधेरा, कामों में झुकाव न होना, असावधानी और मोह या उलटी समझ, यही बातें होती हैं। 13।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धेतु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते।। 14।।

जब देहधारी सत्त्व की वृद्धि के समय मरता है तो उत्तम बातें जानने वालों के निर्मल लोक या समाज में ही जनमता है। 14।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।। 15।।

(इसी तरह) रज की वृद्धि में मरने पर कर्म में लिपटे लोगों में तथा तम की वृद्धि में मरने पर विवेकशून्य योनियों में जनमता है। 15।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।। 16।।

सात्त्विक कर्मों का सुन्दर, निर्मल, सात्त्विक फल बताते हैं, राजसी कर्मों का दुःख और तामसी कर्मों का अज्ञान—अज्ञान की वृद्धि—फल (कहते हैं)। 16।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।। 17।।

सत्त्व से ज्ञान की एवं रज से लोभ की ही वृद्धि होती है और तम से प्रमाद, मोह और अज्ञान (फैलते हैं)। 17।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।। 18।।

सत्त्वगुण (की विशेषता) वाले ऊपर जाते या प्रगति करते हैं, रजोगुण वाले बीच में ही रह जाते—न प्रगति करते और न अधोगति, (और) निचले तमोगुणवाले अवनतिशील होते हैं। 18।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।। 19।।

जानकार—पूर्ण आत्मज्ञानी—ज्यों ही गुणों के सिवाय दूसरे को कर्मों का करने वाला नहीं मानता है और गुणों से निराली (आत्मा) को जान लेता है, (त्योंही) वह

मेरा स्वरूप—मुक्त—हो जाता है। 19।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।। 20।।

देह (धारण) के कारण इन तीन गुणों से पार जाने पर ही मनुष्य जन्म, मरण (और) बुढ़ापे के दुःखों से छुटकारा पा के मुक्ति हासिल करता है। 20।

अर्जुन उवाच

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते।। 21।।

अर्जुन ने पूछा (कि) हे प्रभो, इन तीन गुणों से पार पाये (मनुष्य) के चिह्न क्या हैं? उसके आचरण कैसे होते हैं? और इन तीन गुणों से पार पाते हैं कैसे?। 21।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।। 22।।

श्रीभगवान् ने कहा—हे पाण्डव, (तीनों गुणों के क्रमशः कार्य) प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के होने पर न तो (उनसे) द्वेष रखता है और न यही चाहता है कि वे हट जायें। 22।

यही है पहले प्रश्न का उत्तर। गुणातीत की पहचान पूछी थी। वही इसमें कही गयी है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते।। 23।।
समदुःखसुखं स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।। 24।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।। 25।।

(अतएव) जो उदासीन की तरह रहता है, जिसे गुण हिला-डुला नहीं सकते, 'ये तो गुण ही अपना काम कर रहे हैं, (मुझे इससे क्या?)' इस प्रकार (खयाल किये) जो निश्चिन्त पड़ा रहता है (और) जरा भी हिलता-डोलता नहीं, जिसके लिए दुःख-सुख समान हैं, जो कभी बेचैन नहीं होता, जिसकी नजरों में मिट्टी का ढेला, पत्थर एवं सोना बराबर ही हैं, जिसके लिए प्रिय-अप्रिय एक से हैं, जो हिम्मतवाला है, जिसके लिए अपनी निन्दा या स्तुति एक सी ही है, जो मान-अपमान में ज्यों का त्यों रहता है, जिसके लिए शत्रु या मित्र के पक्ष हईं नहीं (और) जो सभी संकल्पों से बिलकुल ही बरी है, वही गुणातीत कहा जाता है। 23। 24। 25।

यही है दूसरे प्रश्न, 'गुणातीत का आचरण कैसा होता है' का उत्तर। आगे का 26वाँ श्लोक तीसरे का उत्तर है। तीसरे में इसका उपाय पूछा था।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतोत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।। 26।।

जो कभी भी न डिगनेवाली भक्ति के ही रास्ते मेरा सेवन करता है वही इन गुणों से बखूबी पार पा के ब्रह्मरूप हो जाता है। 26।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।। 27।।

क्योंकि अहम्—आत्मा—ही अविनाशी, निर्विकार, नित्य धर्मस्वरूप और बराबर बने रहने वाले सुख रूपी ब्रह्म का आधार है। 27।

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द बल्ली के शुरू में ही लिखा है कि सत्य एवं ज्ञानरूप ही ब्रह्म है और है वह अनन्त। जो उसे गुफा के भीतर विस्तृत आकाश में रहने वाला जान लेता है उसके सभी मनोरथ एक ही साथ ज्ञानरूपी ब्रह्म के रूप में पूरे हो जाते हैं,—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां पर मे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह। ब्रह्मणा विपश्चितेति।" इसके बाद उस गुफा का, जिसमें विस्तृत आकाश है, निरूपण शुरू हुआ है। संक्षेप यही है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय नामक कोषों का ही वर्णन वहाँ विस्तार के साथ गुफा के रूप में पाया जाता है। तलवार के म्यान को कोष कहते हैं। जिसके भीतर कोई चीज छिपी हो, छिपाई जा सके असल में कोष वही कहा जाता है। रेशम का कीड़ा अपने बनाये ही रेशम के कोये के भीतर छिप जाता है। वह निकाला न जाए तो मर भी जाता है। कोये को खुद भी काट के निकल आता है। उस कोये को कोशा कहते हैं और यह कोशा इसी कोष शब्द का बिगड़ा रूप है। आत्मा भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरों के भीतर छिपी है। एके बाद दीगरे उस पर पाँच म्यान चढ़े हैं। स्थूल शरीर को ही अन्नमय कोष कहते हैं। सूक्ष्म या लिंग शरीर के भीतर पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि मिला के कुल सत्रह पदार्थ माने जाते हैं। इनमें पाँच प्राणों का प्राणमय, मन और कर्मेन्द्रियों का मनोमय और बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियों का विज्ञानमय, ये तीन कोष हैं। अविद्या या अज्ञान को ही कारण शरीर और आनन्दमय कोष कहते हैं। यह संसार अज्ञानमूलक ही तो माना जाता है। इस तरह इन्हीं पाँच कोषों के भीतर जो आत्मा है उसी का वहाँ उल्लेख है। उसे सत्य, ज्ञान और आनन्दरूप कहा है। अन्त में ब्रह्म को आनन्दमय कोष का अन्तिम भाग या पुच्छ स्थानीय मान के 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' ऐसा लिखा है। असल में इन कोषों को पक्षी का आकार दे के पूँछ की जगह ब्रह्म को माना है। पूँछ के द्वारा ही पक्षी को पकड़ने से यहाँ मतलब है। ब्रह्म को पकड़ने से ही ये पाँचों कोष पकड़े जा सकते हैं, यही कहना है। इसीलिए शुरू में उसी ब्रह्मात्मा से आकाश आदि के द्वारा इन सबों की उत्पत्ति

लिखी गयी है, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' आदि।

इस श्लोक में हमारे जानते यही बात लिखी है। कृष्ण का कहना है कि 'अहम्' ही अर्थात् आत्मा ही तो ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा है, मूलाधार है। यदि ब्रह्म का पता लेना है, उसे पकड़ना है तो आत्मा को ही पकड़ने से वह मिल सकता है, पकड़ा जा सकता है। इससे पहले के श्लोक में यह कहा है कि कभी न डिगने वाली भक्ति के द्वारा ही जो मेरा यानी आत्मा का सेवन करता है वही इन तीनों गुणों से—त्रिगुणात्मक संसार से—पार जा सकता है। उस पर शायद किसी को खयाल हो कि कृष्ण अपनी या आत्मा की भक्ति क्यों कहते हैं और ब्रह्म की क्यों नहीं बताते? क्योंकि वही तो सबका मूलाधार है और उसी के जानने से यह भव-जाल छँटता है। उसी का जवाब इस अन्तिम श्लोक में है। कहते हैं कि असल चीज तो 'अहम्' है, आत्मा है। उसी के जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। यों ही ब्रह्म को कहाँ ढूँढ़ा जाय? और इस बात में उनने तैत्तिरीय की उस आनन्दबल्ली को ही लिया है, जिसमें आत्मा को ब्रह्मरूप कहते हुए और यों ब्रह्म को लापंता या परोक्ष—'तस्मात्'—बताते हुए आत्मा से ही सृष्टि का पसारा माना है। अन्त में सबकी प्रतिष्ठा या नींव ब्रह्म को कह के उसे आत्मस्वरूप ही कहा है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' के द्वारा आनन्दरूप भी कह दिया है। इसी से कृष्ण ने कह दिया कि सबकी प्रतिष्ठा या नींव तो 'अहम्' है, आत्मा है। यहाँ 'अहम्' कितना महत्त्वपूर्ण है! इसमें कितनी खूबी और सुन्दरता है!

यदि आनन्दबल्ली को देखा जाय तो वहाँ धर्म के रूप में जानें कितनी ही चीजें कही गयी हैं। मगर ब्रह्मात्मा का जो असली स्वरूप सत्य, ज्ञान और आनन्द है, कृष्ण ने इन्हीं तीन धर्मों को पकड़ा है, यही जगत् के धारण करने वाले हैं। इसीलिए धर्म हैं। पंचदशी में विद्यारण्य ने इनकी यह खूबी समझाई है। इनमें सत्य को 'अमृतस्याव्ययस्य' पदों से, ज्ञान की 'शाश्वतस्य धर्मस्य' पदों से और आनन्द को 'सुखस्यैकान्तिकस्य' पदों से कह दिया है। धर्म हैं यों तो सभी। फलतः सभी के साथ 'धर्मस्य' को लगा भी सकते हैं। मगर नमूने के रूप में एक को ही कहा है।

इस अध्याय के गुणातीत प्रकरण में ही दो बार सम और चार बार उसी अर्थ में तुल्य शब्द आये हैं। यहाँ भी आत्मज्ञानी की ही समदृष्टि बताई गयी है। इस अध्याय का विषय तो स्पष्ट है।

इति श्री. गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।14।।

श्रीम. जी श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका गुणत्रय-विभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय यही है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

यह तो हमने पहले ही कहा है कि पन्द्रहवाँ अध्याय मिला-जुला है। इसमें कुछ तो संसार का ही, इस सृष्टि का ही विवेचन-विश्लेषण है। कुछ ज्ञान की बातें भी हैं। आत्मा की जानकारी के लिए यत्नों की चर्चा तथा दूसरे उपाय प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में कहे गये हैं। इसीलिए पिछले और अगले अध्यायों की सन्धि के रूप में इसका यहाँ आ जाना उचित ही है। सचमुच यदि देखा जाय तो शुरू के दस श्लोकों में किसी न किसी रूप में सृष्टि के निरूपण की प्रधानता है। फिर 'यतन्तो योगिनः' आदि ग्यारहवें श्लोक से ज्ञान के साधनों की ही बात प्रधानतया पायी जाती है। 'द्वाविमौ' आदि अन्त के पाँच श्लोकों में तो यह बात आयी ही है। यदि उनसे पहले के श्लोकों में विराट् की कुछ बातें आ गयी हैं, तो एक तो वे चिन्तन और यत्न के साधन के रूप में ही आयी हैं। दूसरे, यही तो आखिरी बार उनका उल्लेख है। या यों कहिए कि प्रकारान्तर से उनके उपसंहार द्वारा उनसे बिदाई है।

चौदहवें अध्याय के अन्त में जो आत्मा को सबका आधार या प्रतिष्ठा कह दिया है उससे आनन्दबल्ली वाली बात सामने आ जाती है, जिसमें इस भौतिक सृष्टि के शरीर आदि के निर्माण का उल्लेख है। उसी के साथ-साथ यह सृष्टि भी दिमाग में खामख्वाह आ जाती है। उसी का जिक्र पन्द्रहवें अध्याय के शुरू में ही है। एक बात और भी है। यदि गुणों से या त्रिगुणात्मक संसार से पार जाना है, पार पाना है, तो क्या किया जाय यह जो प्रश्न उठा था, उसका उत्तर यही दिया गया है कि आत्मा में ही लग जाओ। वही ब्रह्म का भी आधार है, नींव है, प्रतिष्ठा है। इससे साफ हो जाता है कि शरीर के भीतर ही उसे ढूँढ़ना होगा। एतदर्थ क्रमशः भीतर या नीचे जाना होगा। क्योंकि एके बाद दीगरे बहुत से पर्दे उस पर पड़े हैं। मगर इसमें कुछ खतरे भी हैं। हमारा खयाल इससे संकुचित हो जा सकता है और हम बाहरी दुनिया की परवाह, उसके सुख-दुःख की फिक्र छोड़ दे सकते हैं, जो बात गीता को आमतौर से पसन्द नहीं है। इसी के साथ यह भी हो सकता है कि हम दुनिया से ऊँचे उठें ही न। हम तो अपनी आत्मा के अन्वेषण में नीचे ही जायँगे न ? भीतर ही घुसेंगे न ? गुफा में ढूँढ़ना जो है। मगर दुनिया का मजा लेने और जीवन को

आनन्दमय बनाने के लिए इस बात की जरूरत है कि हम उससे ऊँचे उठें, ऊपर जायें। समूचे संसार को फाँद के जब ऊपर जा पहुँचें तभी मस्ती आ सकती है। डर था, शायद यह बात न हो सके। इसीलिए चौदहवें के अन्त में आत्मा के उल्लेख के साथ ब्रह्म का भी उल्लेख किया गया है। उसका सीधा मतलब यही है कि हम ढूँढ़ते-ढूँढते नीचे भी जायें और ऊपर भी। आत्मा की तलाश में नीचे और ब्रह्म की खोज में ऊपर बढ़ें। नतीजा यह होगा कि सबसे नीचे और सबसे ऊपर जाना ही होगा। इस तरह अन्तिम छोरों के मिल जाने (Extremes meet) के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक हो जायेंगे और हमारा काम हर तरह से पूरा हो जायगा। बिना सबके नीचे और ऊपर गये तो इन दोनों का ठीक-ठीक पता लग नहीं सकता है। 'अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्' के द्वारा वैदिक ऋषियों ने तो ऐसा ही बताया है। और ऐसा होने पर दोनों का अन्तिम मिलन अनिवार्य है। इसी बात का स्पष्टीकरण पन्द्रहवाँ अध्याय करता है।

कुछ और भी बातें हैं। 'वासुदेवः सर्वमिति' (7। 19) में समस्त संसार को वासुदेव कह के इसी रूप में इसे देखने वाले ही पक्के और पहुँचे महात्मा बताये गये हैं। ज्ञान का आखिरी रूप यही कहा गया है। इधर हमारे यहाँ पुरानी से भी पुरानी परिपाटी है कि पीपल के वृक्ष को वासुदेव कहते और मानते हुए इसकी जड़ को सींचते रहते हैं। यह एक धार्मिक प्रथा है। पीपल को ही अश्वत्थ भी कहते हैं। उधर उपनिषदों में इस संसार को ही अश्वत्थवृक्ष के रूप में लिखा है। इसकी जड़, पत्ते आदि भी बताये गये हैं। कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय की छठी बल्ली का पहला ही मन्त्र यों हैं, 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदैवामृतमश्नुते'। गीता के पन्द्रहवें अध्याय का पहला श्लोक इसके पूर्वार्द्ध से बिलकुल ही मिलता सा है। उपनिषद् ने कहा है कि इस अश्वत्थ की जड़ ऊपर और शाखाएँ नीचे हैं और यह सनातन है, अनादि है। यह कब बना कोई कह नहीं सकता। मगर जिसे अविनाशी ब्रह्म कहते हैं और मोक्षावस्था में जिसकी प्राप्ति होती है वह इससे जुदा नहीं है। इसके मूल में वही है। गीता ने सनातन की जगह 'अव्यय' कह दिया है। मगर आशय वही है। इस प्रकार वासुदेव या ब्रह्मरूप में इस जगत् को मानने तथा देखने की जो पुरानी प्रणाली है वह गीता के मत के अनुकूल ही है। इसीलिए उसी का श्रीगणेश इस अध्याय में किया है।

हम इस संसार को सचमुच ही मजबूत और सनातन न मान बैठें, इसीलिए अश्वत्थ नाम दिया गया है। अश्वत्थ का तो अर्थ ही है कि जो कल न रहे। यह तो सदा परिवर्त्तनशील है, कमजोर है और आत्मज्ञान से इसका खात्मा पलक मारते हो जाता है। आज ज्ञान हो और कल ही यह लापता! यह है भी तो भायनक ही। इसमें तो कष्ट ही कष्ट है। इसीलिए तो योगदर्शन में पतंजलि ने कहा है कि अथ से इति तक यह केवल दुःखमय ही है ऐसा विवेकी मानते हैं। साफ ही देखते हैं

कि यहाँ तीनों गुणों की ऐसी आपसी कुश्ती और खींचतान है कि कुछ पूछिए मत, 'परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (2। 15)। नैयायिकों ने भी संसार को दुःखात्मक ही माना है। यहाँ तक कि सुख को भी दुःख ही कहा है। उनके मत से छः इन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन—उनके छः विषय-ज्ञान और छः विषय, शरीर, सुख और दुःख यही इक्कीस दुःख उनने माने हैं। उनके मत से यह संसार दुःखात्मक है और इन्हीं का ध्वंस मुक्ति है। मगर यहाँ तो उलटी ही गंगा बहती नजर आती है। सभी लोग फूले मस्त हैं, राजपाट, बाल-बच्चों और स्वर्ग-बैकुण्ठ के ही पीछे मस्त हैं। उन्हें तो संसार की दुःखरूपता दीखती ही नहीं। फिर इससे पार जाने का यत्न वे क्यों करने लगे? प्रश्न है कि ऐसा हुआ क्यों? बात तो उलटी है न? कष्टात्मक ही तो यह संसार है। तब यह ऐसा हुआ कैसे? इसके ऐबों को किसने छिपाया?

इसका उत्तर गीता पहले ही श्लोक के उत्तरार्द्ध में देती है कि वैदिक कर्मकाण्ड ने ही तो आँखों में धूल झोंक दी है। दिन-रात उसी के पीछे पड़े रहते हैं और फुर्सत मिलती ही नहीं! जहीं-तहीं वैदिक साहित्य में, वेदमन्त्रों में स्त्री-पुत्रादि की प्रशंसा, स्वर्ग की बड़ाई, राजपाट की महिमा लिखी मिलती है। फलतः जनसाधारण यदि कभी ऊबें भी तो पुनरपि इसी वजह से उसी में पड़े रहते हैं। जैसे वृक्ष के हरे-भरे पत्ते उसे छेंके और घेरे रहते हैं। इसीलिए उसके तने और शाखा-प्रशाखाओं की नग्नता दूर से मालूम नहीं होती। किन्तु ज्यों ही पत्ते हटे कि समूचा पेड़ नंग-धड़ंग, बेढंगा और भयावना नजर आता है। ठीक वैसे ही वैदिक मन्त्रों और तन्मूलक साहित्य ने इस अश्वत्थ के लिए भी पत्ते का काम कर दिया है, जिससे हम इसकी भयावनी सूरत देख नहीं पाते। इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञान की ओर बढ़ने में गीता का यह वर्णन कितना आलंकारिक एवं महत्त्वपूर्ण सहायक है, खासकर ऐसा कह के कि जो इसके नग्नरूप को जानता है। दरअसल वही वेद का ज्ञाता है। वह पर्दे के भीतर घुस जो जाता है।

पीपल में यह भी देखा जाता है कि ऊपर से बरोहें निकलती हैं। ये हैं दरअसल जड़ें ही। पकड़ी, बरगद और पीपल में ही ऊपर की डालों से निकल के नीचे लटकती हैं। बरोह के मानी हैं ऊपर से निकलनेवाली। बर+आरोह से ही बरारोह बनके बरोह हो गया। बर कहते हैं ऊपर को। यह बात कितनी खूबी के साथ जगत् से मिलती है। ऊपर ठहरा ब्रह्म। वहीं से जगत् की सारी जड़ें निकली तथा फैली हैं। यदि इन जड़ों का पता लगाना है तो ऊपर जायें। तभी इन्हें पायेंगे और काट देंगे। ऊपर जाने या संसार के पदार्थों से अलग होने में अगर हजार ढंग के ताल्लुक बाधक हैं, तो वैराग्य की शरण लें और मन को इनसे हटायें। इनमें आसक्ति का त्याग करें। यही त्याग तलवार का काम करता है इन्हें काट डालने में; ताकि ऊपर जा सकें। बिना इसके वह मूलाधार ब्रह्म मिलने का नहीं। इस तरह इसके काटने का उपाय

है सही। फिर भी यह है दरअसल लोहे का चना। सांसारिक वासनाएँ इतनी मजबूती से जकड़ी और चारों ओर फैली हैं कि इनसे पिण्ड छुड़ाना मुश्किल है। इस तरह संसार के पार जाना वैराग्य और विवेक के सहारे आसान भी है और मुश्किल भी। क्योंकि जहीं जाइए एक फन्दा लगा है और हम उसी में फँस जाते हैं।

कहते हैं कि किसी अच्छे पण्डित ने मौत से पहले ही किसी प्रकार यह जान लिया कि मरने पर सूअर का शरीर पाऊँगा। उनने अपने बच्चों को यह बात कह दी। यह भी बता दिया कि कहाँ कब सूअर का शरीर मिलेगा। उनने पहचान भी बता दी कि फलाँ-फलाँ चिह्न होंगे; ताकि लड़के बेखटके पहचान सकें। फिर उनने कहा कि वह योनि तो बड़े कष्ट की है, यह जानते ही हो। इसलिए पता लगा के फौरन मार देना; ताकि कष्टमय जीवन से चटपट छुटकारा हो जाय। पीछे जब वह मर गये तो ठीक समय पर खोजते-पूछते उनके लड़के उस मुकाम पर पहुँची तो गए जहाँ वह सूअर बने विचरते थे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उनने पता भी पा लिया कि हो न हो, यही वही सूअर है। उसके बाद उसके मालिक से बातें करके सूअर के मारने का हर्जाना भी तय कर लिया। बाद में तलवार ले के उसके पास पहुँचे ही थे कि खत्म कर दें कि वह गिड़गिड़ा के बोल उठा कि "नहीं-नहीं, मुझे मत मारो, तुम्हें शपथ है, मैं खूब मौज में हूँ"। देखा न? यही है भारी बन्धन। आत्मा जहीं हो, मौज ही मालूम पड़ती है।

इसी से नीचे-ऊपर, इधर-उधर सर्वत्र ही जहाँ भी इस संसार की शाखाएँ हैं बन्धन का ही काम करती हैं। क्योंकि आखिर त्रिगुणात्मक तो हईं और तिहरी रस्सी बड़ी मजबूत भी होती है। सभी जगह इन्द्रियों के विषय सुन्दर कोंपलों जैसे लुभावने दीखते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि बुरे-भले कर्मों के संस्कार के रूप में वासनाएँ पैदा होती हैं। फिर उनके फलों को भोगने के बाद दूसरे ढंग की वासनाएँ पैदा होती हैं, जिन्हें चसक कह सकते हैं। उन्हीं के करते हम पुनरपि कर्मों में लगते हैं, इस तरह यह चक्र चालू रहता है। यों तो वास्तविक मूल ब्रह्म हई। मगर जिस मूल को काटना है, ताकि यह वृक्ष सूख जाये, वह तो यह वासनाएँ ही हैं। ये इतनी गहरी और नीचे पड़ी रहती हैं कि इन्हें पकड़ना कठिन है। यही हैं इस अश्वत्थ की अपनी निजी जड़ें। अश्वत्थ की जड़ें यों भी सचमुच बहुत गहराई में जाती हैं। वे बहुत ज्यादा होती भी हैं। वासनाओं की भी यही हालत है। ये भी अनन्त हैं, बहुत फैली हैं। आशा की बात यही है कि पूर्ण-विवेक-दृष्टि के सामने न तो ये वासनाएँ और न संसार का यह लुभावना रूप ही टिक सकता है। केले की मूसली के छिलकी की तरह उधेड़-बुन करते जाइए और अन्त में कुछ भी सार हाथ नहीं लगता। पता ही नहीं चलता कि कहाँ शुरू, कहाँ बीच और कहाँ अन्त है। समूचे का समूचा निस्सार ही सिद्ध हो जाता है।

इस पन्द्रहवें अध्याय में जो खूबी है वह यही कि इसने हमारी पुरानी भावनाओं

से फायदा उठाके वासुदेव के रूप में ही संसारवृक्ष को सामने ला दिया है। इस रूपक के द्वारा इसे काट बहाने की भावना भी जाग्रत कर दी है। नहीं तो कहाँ क्या करें और इसे कैसे खत्म करें यह अथाह समुद्र की सी बात हो रही थी। इसमें उपनिषदों की भी सहायता इसे मिली है। उनका अनुसरण भी अच्छी तरह हो गया है। पहले की सारी बातें सुनने और गुणातीत अवस्था को जानने के बाद जो एक प्रकार की किंकर्तव्य-विमूढ़ता सी अर्जुन को और दूसरों को भी हो सकती थी कि कहाँ से कैसे इन गुणों को काटना शुरू करें, वह भी इस प्रकार दूर हो गयी। उसे खयाल करके ही तो कृष्ण ने बिना पूछे ही यह कहना शुरू भी कर दिया। चौदहवें अध्याय के अन्त में यह कहा है जरूर कि आत्मा की भक्ति करें। मगर वह तो आसान नहीं। मन को बाहर से रोकना जो पड़ेगा। यह रोक किस चीज से कैसे शुरू करें, यही तो सबसे बड़ा सवाल था। ऐसी बात का मालूम हो जाना जरूरी था जहाँ से श्रीगणेश करते। कृष्ण ने इस वृक्ष को, इसकी जड़ों को और काटने के हथियार को भी बता के सारी समस्या ही हल कर दी। इस तरह गुणों के निरूपण से भी आसानी से फायदा उठाया जा सकता था। क्योंकि जब सभी चीजें बन्धक हैं, खतरनाक हैं, तो उनसे मन को हटाने में दिक्कत वैसी न होगी जैसी पहले होती। इन्हीं सब विचारों को मन में रख के–

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित।।1।।

श्रीभगवान् ने कहा (कि) ऊपर जिसकी जड़ें और नीचे शाखाएँ हों तथा वेदमन्त्र जिसके पत्ते हों ऐसे (संसार रूपी) पीपल वृक्ष को सदा रहने वाला कहा गया है। (मगर) उसे जो यथार्थ रूप में जान जाता है वही वेदज्ञाता है।1।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।2।।

(दरअसल) उसकी शाखाएँ नीचे-ऊपर (सर्वत्र) फैली हैं (जो) गुणों के चलते खूब बढ़ी हैं और विषय ही जिनकी कोंपलें हैं। (उसकी) जड़ें भी बहुत गहराई में जा के खूब फैली हुई हैं (और) इस दुनिया में कर्म करने में (चस्का पैदा करके लोगों को उसमें) लगाती हैं।2।

न रूपमस्येहतथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।3।।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्त्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।4।।

(लेकिन इसका जैसा सनातन और दृढ़) रूप (कहा जाता) है वैसा (तो विचारने पर) दीखता नहीं और न इसके आदि, अन्त (और) मध्य (का ही पता चलता है)।

(फिर भी) जिसकी जड़ें बहुत ही मजबूत हैं उस इस अश्वत्थ वृक्ष के बन्धनों को (वैसे ही) मजबूत वैराग्य—आसक्तित्याग—रूपी शस्त्र से काट के—संसार से वैराग्य प्राप्त करके—अनन्तर उस पद का अन्वेषण करना चाहिए जहाँ जाने पर फिर वापस आना—जन्म-मरण—नहीं होगा। 'हम उसी आदिपुरुष—परमात्मा—की शरण आये हैं, जिससे यह पुरानी सृष्टि पैदा हुई', (इसी प्रकार) वह अन्वेषण करना चाहिए। 3। 4।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।। 5।।

अभिमान और मोह से रहित, आसक्ति के दोष से बरी, आत्मा में निरन्तर लगे हुए, सभी कामनाओं से शून्य, सुख-दुःख संज्ञक द्वन्द्वों से छुटकारा पाये पूर्णज्ञानी ही उस अविनाशी पद को पाते हैं। 5।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।। 6।।

न तो वहाँ सूर्य का प्रकाश जाता है, न चन्द्रमा का और न अग्नि का ही (और) जहाँ जाने पर फिर वापस नहीं आते वही मेरा परम धाम है। 6।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। 7।।
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।। 8।।
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।। 9।।

मर्त्यलोक में मेरा ही सनातन अंश जीव बन के प्रकृति में रहने वाली मनसंयुक्त छः इन्द्रियों को साथ खींच ले जाता है। जब (नया) शरीर धारण करता है और जब मरता है, इन इन्द्रियों को वैसे ही साथ ले जाता है जैसे हवा गन्ध के आश्रय (पुष्पादि) से गन्ध ले जाती है। श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना, घ्राण और मन (इन्हीं छः इन्द्रियों) का अधिष्ठाता बन के विषयों का सेवन करता है। 7। 8। 9।

पाँचवें श्लोक में ज्ञान के कुछ साधनों का वर्णन कर दिया है। अगर कोई यह प्रश्न करे कि यह कब सम्भव है कि संसार में लिपटा हुआ जीव ब्रह्मरूप हो जाय, तो उसी का उत्तर सातवें में यह दिया है कि वह तो ब्रह्म का ही रूप है। अंश कहने का तात्पर्य हिस्सा या भाग से नहीं है। क्योंकि निरवयव और निर्विकार ब्रह्म का भाग या चीड़-फाड़ कैसे हो सकती है? जैसे एक लोटा पानी घड़े भर पानी का अंश होने से उसी का रूप है वैसे ही जीव भी ब्रह्म का रूप है, इतना ही तात्पर्य है। सौ आईने रख के एक ही चन्द्रमा के सौ प्रतिबिम्ब या सौ चन्द्रमा देख लीजिए। यही दशा जीव की है। अन्तःकरण आईने की तरह है जिसमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव बना है। बिम्बरूप चन्द्रमा, जो आकाश में है, प्रतिबिम्ब से न तो भिन्न है और

न जरा भी दोनों के बीच फर्क है। ठीक इसी तरह प्रतिबिम्ब रूप जीव ब्रह्म से जरा भी भिन्न नहीं। इस तरह जितने शरीर हों उतने जीव बन भी गये और वे ब्रह्मरूप भी रहे।

प्रश्न होता है कि यदि जीव ब्रह्म का स्वरूप ही है तो फिर उसका आवागमन या जीवन-मरण कैसा? ब्रह्म तो सभी जगह है। इसीलिए उसमें क्रिया असम्भव है। साथ ही, वह सांसारिक विषयों से नाता कैसे रखता है? वह तो सर्वत्र एकरस है। फिर विषयों को भोगने और सुख-दुःख में पड़ने के मानी क्या हैं? इन्हीं बातों के उत्तर सातवें के उत्तरार्द्ध और शेष दो श्लोकों में दिये गये हैं। आईने के चलाने से उसमें रहने वाला चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब इधर-उधर डोलता है। यहाँ मन, इन्द्रियादि को मिला के जो सूक्ष्म शरीर होता है वही आईना है। उसमें रहने वाले प्राण खूब चलते हैं। इन्द्रियाँ और मन भी क्रियाशील हैं। बस इन्हीं के चलने से जीव का आवागमन माना जाता है। जब मनुष्य मरने लगता है तो जीव इसी सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर से निकल जाता है। वही घूमता-घामता पति-पत्नी के वीर्य और रज में प्रवेश करके नवीन शरीर के गर्भाशय में और पीछे नवीन शरीर में भी इसी सूक्ष्म शरीर के साथ प्रविष्ट होता है। इस पर बहुत ज्यादा प्रकाश पहले ही कर्मवाद प्रकरण में डाला जा चुका है। इसी प्रकार इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा ही विषयों का भोग भी करता है। विषयों में तो जाती हैं इन्द्रियाँ ही। मगर यही उनका अधिष्ठाता है। इसीलिए इस पर ही जवाबदेही आती है। मालिक या अधिष्ठाता ही नौकरों की हार-जीत या कामों का जवाबदेह होता है। उनके करते सुख-दुःख और हानि-लाभ का भी अनुभव करता है। यदि नाता तोड़ ले तो कुछ न हो। मगर शरीर से जीव का नाता तो ज्ञान से ही टूटता है न?

मरणोत्तर प्रयाण करने और फिर नये शरीर में आने के दरम्यान इन्द्रियाँ तो रहती हैं वही पुरानी। मगर उनमें वह शक्ति नहीं होती जो शरीर में रहने के समय पायी जाती है। उस समय इनसे विषयों का भोग तो करना है नहीं। फलतः उनकी सूक्ष्म या बीज रूपी अवस्था ही उस समय रहती है, न कि ऐसी प्रकट और चलबल वाली। यही बात जानने के लिए उन्हें 'प्रकृतिस्थ'—'प्रकृति में रहने वाली' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय वे अपने सूक्ष्म या बीज रूप में ही रहती हैं। यही कारण है कि आत्मा का अधिष्ठातृत्व उस समय नहीं हो पाता है। जैसे इमली में नमक डालने से उसमें रहने वाली खटाई का पता जबान से नहीं चल पाता, वही बात उस समय इन्द्रियों की भी होती है। आत्मा का सम्बन्ध रहते हुए भी वह उन्हें विषयों में प्रेरित कर नहीं सकती। इसलिए उसकी अधिष्ठातृता मुर्दा या बेकार सी हो जाती है। मगर स्थूल शरीर में आने पर वह बात चालू हो जाती है और स्थिति में परिवर्तन हो जाता है। इसी परिवर्तन की सूचना नौवें श्लोक का 'अधिष्ठाय' पद देता है।

इस पर यदि कोई कह बैठे कि ऐसा मालूम तो किसी को होता नहीं; फिर यह बात मानी कैसे जाय? तो इसी के उत्तर में अगले दो श्लोक आये हैं। और आगे उन्हीं का विस्तार किया गया है। मोटी बात यह है कि यदि अन्धे सूर्य को नहीं देखते तो क्या वह गायब हो जायगा? देखना तो आखिर आँखवालों का ही काम है न ? यहाँ भी ज्ञान-दृष्टि और विवेक-शक्ति जिनके पास है वह जरूर देखते हैं। हाँ, जिनके पास यह चीज नहीं है वह नहीं देखते। मगर इसमें दोष उनका है, न कि वस्तु का। यदि ऐसे देखने वाले कम हैं तो इससे क्या? एक आँख वाला हजार और लाख अन्धों के मुकाबिले में किसी चीज को ठीक बता सकता है। उसकी ही बात मानी भी जाती है। आखिर बीमारी का अस्तित्व केवल डॉक्टर की ही बातों से माना जाता है; न कि लाखों दूसरों के न बताने से उसका इनकार हो जाता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुजानं व गुणान्वितम् ।
विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।। 10 ।।
यतन्ता योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।। 11 ।।

मरणोपरान्त प्रयाण करते हुए, नया शरीर धारण करके उसमें स्थित या इन्द्रियादि के साथ विषयों को भोगते हुए भी इस आत्मतत्त्व को अज्ञानी नहीं देख पाते; (किन्तु) ज्ञान दृष्टिवाले ही देखते हैं। (जिन्हें यह दृष्टि न भी प्राप्त हुई है ऐसे) योगी भी (समाधि आदि के रूप में) यत्न करते हुए इस आत्मा की झाँकी अपने भीतर ही पा जाते हैं। (मगर) जिनके मन मलिन हैं ऐसे मूढ़ लोग हजार यत्न करके भी नहीं देख पाते हैं। 10 । 11 ।

अन्तिम श्लोक में यह बता दिया है कि आत्मदर्शन के लिए कोई भी यत्न करने के पूर्व मन पर काबू होना चाहिए और इन्द्रियों पर नियन्त्रण। नहीं तो 'मन न रंगायो तू रंगायो योगी कपड़ा' वाली बात होती है। इसी का जिक्र इसमें है।

यत्न के बारे में अब प्रश्न होता है कि वह किस तरह किया जाय? समाधिवाला यत्न तो सबके लिए सुलभ है नहीं और उसके लिए भी तो पहले तैयारी चाहिए। तो आखिर वह है कौन सी? और जो लोग ऐसे नहीं हैं वह भी कैसे इस आत्मा को देख पायेंगे? आत्मा को भी तो आखिर में परमात्मा के रूप में ही देखना है न? सो कैसे होगा? परमात्मा को आत्मा का रूप कैसे जानेंगे?

इन्हीं बातों को समझाने के लिए आगे के चार (12-15) श्लोक हैं। इनमें ऊपर से ही शुरू करके धीरे-धीरे शरीर और अन्तःकरण के भीतर घुसने तथा आत्मवस्तु के देखने की रीति कही गयी है। परमात्मा तो अत्यन्त देदीप्यमान एवं सूर्य, चन्द्र आदि को भी प्रकाश देने वाला पहले ही कहा गया है। इसलिए वहीं से शुरू करके पृथिवी में आते हैं वहाँ से जठरानल में जा के शरीर में घुसते हैं और अन्त में हृदय में प्रवेश करके उस आत्मा को देखते हैं। योगी लोग भी यही रीति अपनाते हैं। योगसूत्रों

में धारणा के प्रसंग से ये बातें आयी हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।12।।
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।13।।
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।14।।
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।15।।

सूर्य में रहने वाला जो तेज समस्त संसार को आलोकित करता है, जो (तेज) चन्द्रमा में और जो अग्नि में है, वह (सभी) तेज मेरा ही जानो। पृथ्वी में प्रवेश करके अपने बल से मैं ही पदार्थों को धारण कर रखता हूँ। (नहीं तो पृथ्वी धँस जाती, टूट जाती और पहाड़ वगैरह का भारी बोझ बर्दाश्त कर न पाती।) रसमय चन्द्रमा बन के सभी अन्नादि औषधियों को पुष्ट करता हूँ। मैं ही जठरानल होके प्राणधारियों के शरीर में रहता और प्राण तथा अपान (की धौंकनी) से प्रदीप्त हो के चार प्रकार के खाद्य पदार्थों को पचाता हूँ। मैं ही सबों के हृदयों में प्रविष्ट हूँ। मुझी से (लोगों को पदार्थों के) स्मरण और ज्ञान होते हैं, विस्मृति और भूल होती है। मैं ही सभी वेदों के द्वारा जाना जाता हूँ। वेदान्त का बनाने वाला एवं वेदवेत्ता भी मैं ही हूँ। 12। 13। 14। 15।

यहाँ जो चार प्रकार के अन्न कहे गये हैं उन्हें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य कहते हैं। जिनके खाने में दाँतों से काम लिया जाय ऐसी पूड़ी, पुआ, रोटी, चबेनी वगैरह भक्ष्य हैं। जिनमें दाँतों से काम लेने की जरूरत न हो ऐसे, दूध, दही, हलवा आदि भोज्य हैं। जबान से ही जो चाटे जायँ वही कढ़ी, चटनी आदि लेह्य हैं। जिन्हें चूसा जाय ऐसे आम, ऊख आदि चोष्य हैं। 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते'। (वृहदा. 5।9।1।) आदि वचनों में जठरानल को वैश्वानर कहा है। इसी प्रकार 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (यजु. 32।6) 'स दाधार पृथिवीम्' (यजु. 25।10) में पृथिवी का धारण करने वाला परमात्मा ही कहा गया है। उसी से यहाँ तात्पर्य है। इस अध्याय में शशांक और सोम को दो कामों के लिए उल्लिखित देख के एकाएक खयाल हो जाता है कि सोम और शशांक (चन्द्रमा) दो पदार्थ तो नहीं हैं? दोनों में कुछ अन्तर तो नहीं है?

आगे के तीन (16-18) श्लोक जीवात्मा और परमात्मा में कितना फर्क है। यही बात बता के उसी अन्तर को दूर करने के लिए अर्थतः ज्ञान की आवश्यकता सुझाते हैं। क्योंकि यदि आत्मा को ब्रह्म का रूप ही मान लें तो फिर सारे यत्न ही बेकार हो जायँगे। कोई भी क्यों आत्मज्ञानार्थ ध्यान, समाधि या श्रवण, मनन आदि

करेगा? ऐसी दशा में गीतोपदेश की भी व्यर्थता हो जायगी।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।। 16।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।। 17।।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।। 18।।

दुनिया में दो पुरुष हैं, क्षर या विनाशी तथा अक्षर या अविनाशी। सभी जड़ पदार्थ यानी प्रकृति क्षर है और निर्विकार आत्मा अक्षर। (इन दोनों से ही) उत्तम पुरुष तो तीसरा है जो परमात्मा कहा जाता है और जो अविनाशी, शासनकर्त्ता (एवं) सारी दुनिया के भीतर प्रवेश करके उसे कायम रखता है। क्योंकि मैं तो क्षर से निराला हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ। इसीलिए वेद में और लोक में भी पुरुषोत्तम विख्यात हूँ। 16। 17। 18।

यहाँ संसार में रहने वाले पदार्थों से ही शुरू करके देखा कि प्रकृति तो पूर्ण या सर्वत्र मौजूद है, व्यापक है, इसीलिए उसे पुरुष कहा। पुरुष का अर्थ ही है पूर्ण या व्यापक। इंच भर भी जगह प्रकृति या प्राकृतिक पदार्थों से शून्य नहीं है। यह ठीक है कि ये पदार्थ विनाशी हैं। फिर जागे बढ़े और सोचा कि जब ये पदार्थ विनाशी हैं तो इनके मूल में कोई होना ही चाहिए। इस प्रकार आत्मा का पता लगाया। अब यदि उसे भी विनाशी मानें तो उसका मानना ही बेकार होगा। क्योंकि उसका भी मूल कारण ढूँढ़ना होगा और उसे ही आत्मा मानेंगे। इस पर ज्यादा तर्क पहले ही लिख चुके हैं। इस प्रकार किसी न किसी को अविनाशी तो मानना ही होगा जिससे सभी पदार्थ बने। इसीलिए उसे कूटस्थ या निर्विकार कहा। क्योंकि कोई पदार्थ बिना विकार या खराबी के नाश हो नहीं सकता। साथ ही, वह भी पुरुष होगा, पूर्ण या व्यापक होगा। नहीं तो फिर विनाशी पदार्थ रूप पुरुष को वह बनायेगा कैसे? फलतः उसे पुरुष का भी पुरुष होना चाहिए। मगर ऐसा तो कुछ होता नहीं। इसलिए उसे भी पुरुष ही कह दिया।

किन्तु उसका संसर्ग तो विनाशी से ही है, क्षर से ही है न? इन्हीं के बीच वह रहता जो है, सुखी-दुःखी होता जो है। कलाली के पास खड़ा रहने वाले की ही तरह कम से कम वह बदनाम होता ही है। परमात्मा में यही बात नहीं है। इसीलिए वह अक्षर पुरुष से उत्तम जरूर है। है तो वह इसी की जाति-बिरादरी का। मगर उत्तम है। क्षर के साथ तो उसका कोई मुकाबिला हई नहीं है वह तो इससे विपरीत है—लाख कोस दूर है। इसीलिए कह दिया कि यह क्षर से तो निराला हई, अलग हई, जुदा हई, भिन्न हई—'यस्मात्क्षरमतीतः'। किन्तु अक्षर से भी उत्तम है। इसीलिए पुरुषोत्तम कहा जाता है। जीव को, अक्षर पुरुष को भी यही बनना है। एतदर्थ उसकी

मैल धोना जरूरी है, उसमें साबुन लगाना जरूरी है। मैल है क्षर या प्रकृति का संसर्ग और साबुन लगाना है आत्मज्ञान। यही है हमारे सभी प्रयत्नों का और मानवजीवन का चरम लक्ष्य। पुरुषोत्तम हो जाना ही सब कुछ है। यही बात नीचे के दो श्लोकों में कह के अध्याय पूरा कर दिया है।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति माँ सर्वभावेन भारत।। 19।।
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृत्यश्च भारत।। 20।।

हे भारत, पूर्ण विवेकी मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार जान जाता है वही सब पदार्थों का जानकार है और मुझे सम्पूर्ण जगत् के रूप में ही भजता है। हे अनघ, मैंने यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र बताया है। हे भारत, इसे ही जानने पर बुद्धिमान हो सकते हैं और कृतकृत्य भी। 19। 20।

इन श्लोकों में और इनसे पहले भी जो आत्मा के ही लिए 'अहम्' 'माम्' आदि बार-बार आये हैं वे सचमुच ही अमूल्य हैं। ये शब्द आत्मा को किस सुन्दर रूप में खड़ा करते और उसे सम्पूर्ण संसार का रूप बना देते हैं, ब्रह्म रूप बना देते हैं, वासुदेव बना देते हैं! इन्हें बलात् तोड़-मरोड़ के साकार ईश्वर या कृष्ण के मानी में घसीटना कितनी बड़ी निर्दयता है! इसी की पुष्टि में कह दिया है कि इस आत्मा को जानने वाला सब कुछ जान जाता है। उसकी दृष्टि से कोई भी क्षर अक्षर बच पाता नहीं। इसीलिए अपने को आपको सभी पदार्थों का रूप देखता है, मानता है, बना डालता है, खुद सबों की आत्मा बन जाता है। यही है उसका सर्वभावेन भजन। उफ, कितना ऊँचा खयाल है, कितना ऊँचा आदेश है! एक पत्थर भी तोड़िये तो वह ज्ञानी अपने को ही टूटता देखता है! और चिहुँक उठता है! सहसा आह भर लेता है! उससे बढ़ के जन-सेवक, संसार-सेवक और कौन है? सचमुच ही उससे बढ़ के 'सर्वभूतात्मं भूतात्मा' तथा 'सर्वभूतहितेरत' कौन हो सकता है? इसीलिए उसे पुरुषोत्तम कहा है। व्यष्टि और समष्टि की या पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता जो हो गयी! उससे उत्तम और ऊँचा कोई भी, कुछ भी हई नहीं! यही कारण है कि उसे अब कुछ भी करना-धरना रह नहीं जाता! उसने सब कुछ कर धर लिया! वह कृतकृत्य हो गया! अब अगर कुछ भी करता है तो इसीलिए कि उसका स्वभाव ही वैसा हो गया, न कि उस करने-धरने में कुछ प्रयोजन देखता है। इस अध्याय का विषय यदि यही पुरुषोत्तम है तो उचित ही है। सारे अध्याय का पर्यवसान ही उसी में है।

इति॰ पुरुषोत्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः।। 15।।

श्रीम. जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका पुरुषोत्तम योग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय यही है।

सोलहवाँ अध्याय

जिस ज्ञान के बाद कृतकृत्यता हो जाती है और मस्ती आ जाती है, जिस दृष्टि के चलते जर्रे-जर्रे और परमाणु-परमाणु में 'अहम्' नजर आता है, आत्मा ही दीखती है, वह कैसे प्राप्त हो यह बात अन्तिम बार अच्छी तरह बता दी जाय तो बेड़ापार हो। यद्यपि पहले भी इसके उपाय बताये गये हैं; अभी-अभी पन्द्रहवें अध्याय में ही यही यत्न सुझाया गया है; तथापि उतना ही कहना काफी नहीं है। उसमें अभी कसर है, कुछ और भी कहना रह जाता है जिसे पूरा करना जरूरी है। वह कमी खासी है, महत्त्वपूर्ण है, न कि ऐसी ही तैसी। उसे पूरा न कर देने में खतरा है, भारी खतरा है, यह बात कृष्ण स्वयमेव समझते थे। यही कारण है कि उनने बिना कहे-सुने, बिना पूछे ही उसे पूरा कर दिया और इसमें पूरे दो 16-17—अध्याय लगा दिये! यह कोई मामूली बात नहीं है, यह मानना ही होगा।

बात असल यह है कि ज्ञान की प्राप्ति के साधनों को बता देने पर भी दो चीजें रह गयी हैं। एक तो यह कि इन साधनों पर चलने में खतरे क्या हैं, उन्हें अच्छी तरह से बता देना! दूसरे यह कि जो भी साधन कहे गये हैं उनमें बुनियादी और मौलिक चीज क्या है जिसके बिना बाकी बेकार हो जाते हैं। साधनों के इन दोनों पहलुओं को, या यों कहिए कि इन दो स्पष्ट पहलुओं के साथ-साथ उन साधनों को अन्त में याद करा लेना जरूरी था। पहली बात निषेधात्मक (negative) है और दूसरी विधानात्मक (positive)। इस दृष्टि से भी इन्हें जान लेना जरूरी था। निषेधात्मक पहलू में सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह न सिर्फ ज्ञानप्राप्ति के ही लिए जरूरी है, किन्तु उसके बाद भी आत्मज्ञानी पुरुष के व्यवहार में वह कसौटी का काम करता है और इस प्रकार समाज-हित-साधन में काम आता है। उसी प्रकार विधानात्मक पहलू भी ऐसा पारस है कि हजारों लोहे को सोना बना देता है। उसके हासिल हो जाने से मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की हजारों विधिनिषेधवाली दिक्कतें हट जाती हैं और क्या करें, क्या न करें, इस तरह के उठने वाले रोज के पचड़ों से पिण्ड छूट जाता है। इस उधेड़बुन की जरूरत रही नहीं जाती है। इस दृष्टि से यह भी व्यावहारिक जीवन की कसौटी ही है। मगर दोनों की उपयोगिता का रूप दो होने से दोनों की

महत्ता भी दो है। जिस प्रकार ये खुद निषेधात्मक और विधानात्मक हैं, उसी प्रकार इनकी उपयोगिता भी है। इस प्रकार इन दो अध्यायों का गीताधर्म की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है। यह बात हम पहले ही बखूबी समझा चुके हैं।

इन दो बातों में भी निषेधात्मक पहलू, अपेक्षाकृत सरल है। किसी चीज से बचना उतना कठिन नहीं है जितना किसी बात का सम्पादन करना। यह बात भी है कि निषेधात्मक पहलू कूड़ा-करकट हटा के सफ़ाई कर देता है। उसके बाद विधानात्मक वस्तु के लाने या कायम रखने में गन्दगियों का खतरा नहीं रहने से आसानी हो जाती है। जब तक प्याले को धो-धा के निर्मल न बनायें उसमें दूध रखा कैसे जायगा? और उस रखने के मानी क्या होंगे? वह गन्दा और जहरीला न बन जायगा? यही कारण है कि सोलहवें अध्याय में निषेधात्मक पहलू का ही विवेचन-विश्लेषण किया गया है। इसके पूरा हो जाने पर ही सत्रहवें अध्याय में विधानात्मक पहलू की बातें विस्तार के साथ लिखी गयी हैं। इस तरह गीतोपदेश की प्रगति स्वाभाविक ढंग से हो सकी है। इसकी इस अपूर्व लोकप्रियता का यह भी एक कारण है।

इस दृष्ट से यदि हम सोलहवें अध्याय के प्रारम्भ में कही गयी दैवी सम्पत्तियों पर गौर करें, तो देखेंगे कि जो बातें यहाँ कही गयी हैं वह अधिकांश या रूपान्तर में सबकी-सब वही हैं जिनका उल्लेख 'अमानित्वमदंभित्व' (13। 7-11) आदि श्लोकों में हुआ है। संख्या बढ़ जाने पर खामख्वाह कुछ नयी चीजें भी नजर आएँगी ही। जहाँ पहले कुल इक्कीस ही बातें कही थीं तहाँ अब पूरी सत्ताईस आ गयीं! एक तो इसी से अन्तर हो गया। दूसरे, गीता का काम हू-ब-हू दुहराना या 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' तो करना है नहीं। इसका तो काम है प्रकारान्तर से उन्हीं बातों को इस तरह कहना कि सुनने वाले को ऊब न हो सके और बातें दिल में बखूबी बैठ भी जायें। आखिर कठिन तो हईं। इसीलिए दिल में उनका जमना आसान नहीं है। जरूरत भी उन पर प्रकारान्तर से जोर देने की इसीलिए पड़ती है।

इसे यों समझें। पतंजलि ने योगसूत्रों में जिन यमों और नियमों को गिनाया है। वह योग के लिए नींव हैं। दीवार हैं। उनके बिना योग का महल खड़ा होई नहीं सकता। इसीलिए योग के आठ अंगों में पहले दो यही यम-नियम ही हैं। हम पहले ही उस सूत्र को लिख भी चुके हैं। यह योग है भी क्या यदि गीता की वह समाधि या ध्यान नहीं है जो ज्ञानपूर्णता के लिए अनिवार्य माना गया है और जिसका ब्योरे के साथ गीता ने वर्णन किया है? इसीलिए यम-नियम ही ज्ञान-प्राप्ति के मूल साधन हैं। दोनों ही पाँच-पाँच प्रकार के माने जाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय—चोरी न करना—ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह या पदार्थों और लवाजिम का न जमा करना यही पाँच यम हैं, "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (2। 30)। इसी प्रकार शौच—शुचिता या पवित्रता—सन्तोष, तप, स्वाध्याय—सद्ग्रन्थों का अभ्यास और ईश्वर-भक्ति यही नियम हैं, "शौच सन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः" (2। 32)। इनका जो

कुछ विवरण भाष्य, टीकाओं में तथा स्मृतियों में दिया गया है उसे पढ़ के इन्हीं के आईने में अगर पहलेवाले 21 और यहाँ के 27 को देखें तो साफ पता चलेगा कि वे यही दस हैं, वे नामान्तर से इन्हीं का स्पष्टीकरण मात्र हैं।

इस सिलसिले में एक बात और भी ध्यान देने की है। पुराने लोगों ने प्रायः कहा है कि इन यम-नियमों में भी यमों को तो कभी छोड़ नहीं सकते। उन्हें तो सदा करना ही होगा। हाँ, नियमों को ज्ञान के बाद छोड़ सकते हैं, छोड़ दें, 'यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परस्त्यजेत्' (भागवत 11।10।5)। पतंजलि ने भी यमों के बारे में लिखा है कि इनके पालन के लिए किसी खास देश, विशेष जाति, वंश, कुल, निश्चित समय या कारण जरूरी नहीं है कि उन सबों के पूरा न होने या न रहने पर ये यम छोड़ दिये जायँ। ये तो महाव्रत हैं और इन्हें हर हालत में सब देश-काल में सभी आदमियों को करते ही रहना होगा, 'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' (2।31)। असल में इन यमों का दूसरों से, समाज-से सम्बन्ध होता है। यह बात नहीं है कि इन्हें जो पालन करे, जो इन पर अमल करे उसी का ताल्लुक और हिताहित इनसे होता है। यही कारण है कि इन्हें समाज-हित-साधन के खयाल से ही, या यों कहिए कि समाज की बुनियाद समझ के ही निरन्तर करना जरूरी हो जाता है। इसी दृष्टि से इनका महत्त्व ज्यादा है। महाव्रत भी इन्हें कहने का यही अभिप्राय है।

विपरीत इसके नियमों को व्रत ही माना है। उनके देखने से ही साफ मालूम हो जाता है कि उनका ताल्लुक केवल उसी व्यक्ति से है जो उन पर अमल करे। इसीलिए अपनी जरूरत न रहने पर उन्हें वह छोड़ भी दे सकता है, छोड़ भी देता है। सोलहवें अध्याय में जो कुछ कहा गया है वह इन्हीं यमों के इसी पहलू पर पूर्ण प्रकाश डाल देता है।

बेशक, शुरू के श्लोकों में विधानात्मक बातें गिनाई गयी हैं। इस तरह पूरे तीन श्लोकों को उनने ही ले लिया है। विपरीत इसके एक ही—चौथे—श्लोक में निषेधात्मक बात कही गयी है। मगर जब हम गौर करें तो पता लगेगा कि दैवी सम्पत्ति के रूप में जो बातें कही गयी हैं वह आसुरी सम्पत्ति के मुकाबिले के ही लिए; ताकि इनका महत्त्व झलक जाये और लोग मुस्तैदी से इन्हें सम्पादन करें। यही वजह है कि जहाँ तेरहवें अध्याय में एक भी आसुरी बात को न कह के साफ ही कह दिया था कि दैवी सम्पत्तियों एवं ज्ञान के साधनों से उलटी जितनी हैं वह सभी आसुरी सम्पत्ति तथा अज्ञान के साधन हैं और इस तरह कम से कम इक्कीस तो आ गयी हैं, तहाँ यहाँ चौथे श्लोक में सिर्फ छः का ही नाम ले के काम खत्म किया है। इससे यह मतलब तो हर्गिज नहीं निकलता कि बाकियों को छोड़ ही दिया है। यह भला कैसे होगा? फलतः इसका यही अभिप्राय है कि नमूने के रूप में छः को गिना के इसीलिए छोड़ दिया है कि आगे के कुल पूरे 16 (7-22) श्लोकों में इन्हीं का विवरण

मौजूद है, इनका नंगा चित्र खींच दिया गया है। बल्कि छठे श्लोक को भी उन्हीं में गिन सकते हैं। क्योंकि भूमिका के ही रूप में वह आया है। उसमें कहा गया है कि जरा गौर से सुनिए कि बात क्या है। इसीलिए छः के मानी हैं कम से कम सत्ताईस दैवी सम्पत्तियों के विपरीत सत्ताईस आसुरी तो जरूर ही। अगर कुछ और भी आ जायें तो ठीक ही है। बीच में जो पाँचवाँ श्लोक है वही इस अध्याय के मुख्य विषय की ओर ध्यान दिलाता है। वह बताता है कि यही इसकी असल बात है। उसमें अर्जुन को आश्वासन देने की बात तो यों ही प्रासंगिक है; ताकि उसकी घबराहट जाती रहे।

तीन गुणों का पहले वर्णन आता रहा है। उनमें सत्त्वगुण के सम्पादन पर 'नित्यसत्त्वस्थः' (2।45) में जोर दिया गया है। उसी गुण के फलस्वरूप कुछ विशेषताएँ शरीर में नजर आती हैं। शरीर और इन्द्रियाँ हलकी होती हैं, भारी नहीं रहती हैं, आलस्य नहीं रहता है और प्रकाश प्रतीत होता है। यह बात चौदहवें (14।11) में कही गयी है। ऐसी ही दशा में जितनी भी सात्त्विक बातें मनुष्य में पायी जाती हैं उन्हीं को दैवी सम्पत्ति कहा है। विपरीत इसके रजोगुण एवं तमोगुण की वृद्धि की दशा में जो बातें चौदहवें (14।12-13) में पायी जाती हैं तथा उन्हीं के फलस्वरूप उनका जितना भी परिवार हो वही आसुरी सम्पत्ति है। इसमें भी तामसी बातों पर ही ज्यादा जोर है। इस दल में उन्हीं की प्रधानता है। लेकिन जब राजसी बातें दैवी सम्पत्ति में आ सकती हैं नहीं, तो उन्हें आसुरी में ही जाना होगा।

अभिजात शब्द में जो 'अभि' आया है उसके चलते ऐसा अर्थ हो जाता है कि जो दैवी या आसुरी सम्पत्तियों में लिपटा और सना हुआ जो, जिसके चारों तरफ वही पायी जायें।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्त्प आर्जवम्।।1।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।2।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।।3।।

श्रीभगवान् बोले—हे भारत, निर्भयता, अन्तःकरण की निर्मलता, ज्ञान एवं योग में जम जाना, दान, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, यज्ञ, सद्ग्रन्थ-पाठ, तप, नम्रता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का त्याग, पदार्थों का त्याग, शान्ति, दूसरे का ऐब न देखना, पदार्थों पर दया, विषयों की ओर ज़्यादा झुकाव न होना, कोमलता, लज्जा, चपलता का न होना, हिम्मत, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, दूसरों को सताने का खयाल न होना, मगरूरी का न

होना—(यही चीजें) दैवी सम्पत्तिवालों में पायी जाती हैं। 1।2।3।

सत्त्व की शुद्धि का अर्थ है मन और बुद्धि की निर्मलता। वह तभी होती है जब सत्त्व गुण खूब वृद्धि पर होता है और रज, तम को अच्छी तरह दबाये रहता है। इसीलिए सत्त्व शब्द का प्रायः प्रयोग अन्तःकरण के मानी में होता है। क्योंकि वह तो सत्त्व-प्रधान होता ही है। संशुद्धि में सत्त्व की वह प्रधानता और भी काफी बढ़ जाती और जम जाती है।

ज्ञान एवं योग दो चीजें हैं। ज्ञान का अर्थ है पढ़-लिख या सुन के जानकारी। योग का अर्थ है उसी पर अमल।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजात्स्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।4।।

हे पार्थ, दिखावटी बात, फूल के कुप्पा हो जाना, घमण्ड, क्रोध, कटुवचन और अज्ञान—(यही) आसुरी सम्पत्तिवालों में पाये जाते हैं। 4।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।5।।

दैवी सम्पत्ति जन्म-मरण से छुटकारा दिलाती है और आसुरी बन्धन में डालती है ऐसा माना जाता है। हे पाण्डव, चिन्ता मत करो, तुम दैवी सम्पत्ति वाले ही हो। 5।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।6।।

हे पार्थ, पदार्थों की (और इसीलिए प्राणियों की भी) सृष्टि दोई प्रकार की है—देव और असुर। इनमें दैवी प्रकृतिवालों को तो विस्तार से कही चुके हैं। (अब) असुरों को भी मुझसे सुन लो। 6।

"द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" (वृहदा. 1।3।1।) के अनुसार सृष्टि के दोई विभाग माने गये हैं। इनमें दैव या दैवी प्रकृतिवालों का तो स्थितप्रज्ञ, भक्त, गुणातीत तथा अन्य अनेक रूपों में पहले वर्णन आया ही है। सो भी बार-बार। इनके विस्तृत वर्णन के कहने का आशय यही है कि असुरों या आसुरी स्वभाववालों का यदि वर्णन कहीं पहले आया भी है तो संक्षेप में ही। दृष्टान्त के लिए 'अवजानन्ति मां मूढ़ा' (9।11-12) में। इसी प्रकार 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य' (3।6) तथा 'भुंजते ते त्वघं पापा' (3।13) में भी जरा सा वर्णन है। तेरहवें अध्याय में असुरों का तो नहीं, मगर उनकी प्रकृति का जरा सा 'अज्ञानं वदतोऽन्यथा' (13।11) में उल्लेख है। इसी तरह के उल्लेख जरामरा आते गये हैं सही। मगर विस्तृत वर्णन कहीं न हो सका है। इसीलिए यहाँ एक ही बार पूरे का पूरा दे दिया गया है। हमने इस पर सभी पहलुओं से विचार करके पहले ही काफी प्रकाश डाला है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।7।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।8।।

असुर लोग कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य जानते ही नहीं! उनमें पवित्रता, आचरण—जैसा कहना वैसा करना और सत्य का तो पता ही नहीं होता। सत्पदार्थ या ब्रह्म से ही यह जगत् बना है, उसी में कायम है और अन्त में उसी में जा मिलता है, ऐसा न मान के वह जगत् को बिना ईश्वर के ही मानते हैं (और कहते हैं कि) कामवासना के वशीभूत स्त्री-पुरुष या नर-मादा के सम्बन्ध से पैदा होने के अलावे इसमें और हई क्या?।7-8।

बहुत लोगों ने इस आठवें श्लोक के अर्थ में अपने संस्कृत के व्याकरणज्ञान का अजीर्ण मिटाया है। उनने कहा है कि अपर तथा पर शब्दों का समास होने पर अपरपर होगा न कि अपरस्पर; हालाँकि 'अपरस्पराः क्रियासातत्ये' (पा. 6।1।144) के अनुसार ही अपरस्पर बनता है। यहाँ क्रियासातत्य या काम का जारी रहना तो हई। सारा संसार ही निरन्तर पदार्थों के सम्मिश्रण से ही बनता है। इसमें जरा भी विराम नहीं है। असुर लोग यदि यह भी कहने लगें कि दो पदार्थों के संयोग से कुछ भी नहीं बना है, जब कि हमेशा संयोग से ही असंख्य पदार्थ और जीव-जन्तु पैदा हो रहे हैं, तो यह कितनी नादानी होगी? 'कामहैतुकम्' का भी मेल यहाँ बिना परस्पर संयोग के होई नहीं सकता। काम का अर्थ है प्रेरणा या इच्छा, चेतन प्राणधारियों की ही तरह जड़ों में भी प्रेरणा होती ही है और पदार्थों का परस्पर सम्मिश्रण हो के नया पदार्थ तैयार हो जाता है। यहाँ तक कि परमाणुवादी दार्शनिकों ने सृष्टि के आरम्भ में परमाणुओं में ही परस्पर प्रेरणा मान के उनमें संयोग माना है। यह कहना भी कि 'असत्यम्' आदि पूर्व के तीन शब्दों की ही तरह नहीं के ही अर्थ में अपरस्पर शब्द में पहले का अकार है, ठीक नहीं है। उत्तरार्द्ध में यह बात नहीं है, किन्तु पूर्वार्द्ध में है। उत्तरार्द्ध में तो 'कामहैतुकम्' आदि कई शब्द हैं। मगर किसी के साथ ऐसा अकार जुटा नहीं है। तब उन्हीं के साथी अपरस्पर में ही क्यों माना जाय? और निकट के साथियों को छोड़ दूरवर्तियों से उसकी मिलान भी क्यों की जाय?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतसोऽहिताः।।9।।

जिनकी आत्मा पतित हो चुकी है ऐसे नासमझ लोग इसी विचार को ले के जगत् के अहित बन जाते और उसके सत्यानाश के लिए (घोर से) घोर कर्म तक कर डालते हैं।9।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः।।10।।

कभी पूरी न हो सकने वाली आकांक्षाएँ लिये, दिखावटी बात, घमण्ड तथा

नशे में चूर और नापाक कामों में ही लगे (ये लोग) भूल से गलत बातों के हठ में आ के काम करते रहते हैं। 10।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।। 11।।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।। 12।।

मरण तक कायम रहने वाली बेहिसाब फिक्र में डूबे हुए, 'खाओ-पिओ, मौज करो' यही जिनका सब कुछ निश्चय है, सैकड़ों आशाओं के फन्दे में फँसे हुए तथा विषयों के भोग में ही लिपटे हुए (ऐसे लोग) अन्याय से ही धन-संचय का यत्न करते रहते हैं। 11। 12।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।। 13।।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।। 14।।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।। 15।।
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।। 16।।

यह चीज तो आज मैंने हासिल कर ली, यह (दूसरी) भी पा लूँगा ही, इतना धन तो मेरे पास हई (और) यह और भी मिली जायगा, अमुक शत्रु तो मैंने खत्म करी दिया, दूसरों को भी मार डालूँगा, मैं सबका मालिक हूँ, मैं ही भोग करने वाला हूँ, सब तरह से सम्पन्न, बलवान और सुखी भी मैं ही हूँ। धनी हूँ, कुलीन हूँ। मेरे समान और कौन है? यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और मौज करूँगा। इसी तरह की भूल-भुलैयाँ में (वे लोग) पड़े रहते हैं। (इस तरह) अनेक (वाहियात) खयालों में ही भूले, मोह के जाल से अच्छी तरह घिरे और विषयभोग में डूबे (ऐसे लोग) गन्दे नरकों में जा डूबते हैं। 13। 14। 15। 16।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।। 17।।

खुद अपनी तारीफ के पुल बाँधने वाले, उजड्ड तथा धन के अभिमान के नशे में चूर वे लोंग दिखाने के लिए नाममात्र के यज्ञ भी कर डालते हैं। 17।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।। 18।।
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।। 19।।

अहंकार, बल, मनमानी घरजानी, काम तथा क्रोध के वशीभूत, अपने एवं दूसरे शरीरों में आत्मा के रूप में रहने वाले मुझसे बुरी तरह जलने वाले और हर चीज के निन्दक (ही ये होते हैं)। इस तरह जलने या द्वेष करने वाले, उन निर्दय एवं नापाक नराधमों को मैं इस संसार की आसुरी योनियों में ही निरन्तर डाला करता हूँ। 18। 19।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यांत्यधमां गतिम्।। 20।।

हे कौन्तेय, (ये) मूढ़ लोग लगातार (अनेक) जन्मों में आसुरी या गन्दी और पतित योनियों में ही जन्म लेने के कारण मुझ (आत्मा-परमात्मा) को तो जान पाते ही नहीं। फलतः उनकी और भी अधम गति होती है। 20।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। 21।।
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।। 22।।

आत्मा को चौपट करने वाले नर्क के यही तीन द्वार हैं—काम, क्रोध, लोभ। इसलिए इन तीनों से पिण्ड (जरूर) छुड़ा लें। हे कौन्तेय, नर्क रूपी अन्धकार के इन तीन द्वारों से जिसका पल्ला छूटा है वही अपने कल्याण का काम कर सकता है और फलस्वरूप परमगति प्राप्त करता है। 21। 22।

पहले भी 'कामात्क्रोधोऽभिजायते' (2। 62) 'कामएष' (3। 37-43) में काम और क्रोध का इसी सिलसिले में पूरा वर्णन आ चुका है। वहाँ दोनों को एक ही कहा है। यहाँ भी वही बात है। केवल दोनों के साथ तीसरा—लोभ—जुट गया है। मगर यह भी दोनों से जुदा नहीं है। सच पूछिए तो काम के क्रोध रूप में परिणत हो जाने के लिए बीच में ही यह लोभ आता है और दोनों को जोड़ने वाली सीढ़ी का काम करता है। काम या इच्छा की तीव्रता ही तो लोभ है, जिसके चलते पदार्थ को अपने आप से जुदा न होने देने और न मिले हुए को चाहे जैसे हो प्राप्त कर लेने का खयाल भी आ जुटता है। फिर तो जरा भी बाधा या देर होने से वही काम जलते क्रोध का रूप खामख्वाह बन जाता है। हमने इन बातों का बहुत कुछ विवेचन पहले किया है।

अब तक जो कुछ निरूपण किया गया है उससे पूरा पता चल गया है कि ज्ञानमार्ग में और समाज के संचालन में असली खतरे कौन-कौन से हैं। उनका नग्न रूप पिछले सोलह श्लोकों में आ गया है, जिससे किसी भी सहृदय पुरुष का हृदय एकाएक सिहर जा सकता है। फलतः वह इनसे पूरी तौर से सजग हो सकता है। मगर यह निरूपण एक प्रकार का जंगल सा हो गया है। इसलिए जनसाधारण उसमें आसानी से भटक जा सकते हैं। इसीलिए और आसानी तथा सरलता के भी लिहाज

से, जैसे सृष्टि के पँवारे और विस्तार को अन्त में तीन गुणों के रूप में ही बता दिया गया है वैसे ही, इन सारी जंगल जैसी विस्तृत बातों का भी काम, क्रोध, लोभ इन तीन के ही रूप में यहाँ निचोड़ दे दिया है। अब इन्हें आसानी से समझा और पकड़ा जा सकता है। ये सबों की समझ में आते भी हैं। इसीलिए सबों से बचने की अपेक्षा इन्हीं तीन से बचने की बात आसानी से कह के काम भी पूरा कर दिया है। इससे साफ है कि जब सबों की जड़ में यही हैं, जैसा कि 'ध्यायतो विषयान्' (2।62) में साफ बता दिया है, तो फिर सबों से ही क्यों न बचेंगे?

अब प्रश्न होता है कि इनसे बचें कैसे? पिण्ड कैसे छुड़ाएँ? आखिर कोई प्रणाली या तरीका तो चाहिए ही। यों ही तो कुछ होगा नहीं। इसी का उत्तर यों है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।23।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि।।24।।

जो शास्त्रीय प्रणाली को छोड़ के अपने मन से चलेगा उसका न तो कार्य ही सिद्ध होगा, न उसे आराम ही मिलेगा और न परमगति ही। इसीलिए तुम्हें उचित है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य की पक्की व्यवस्था करने में शास्त्र को ही प्रमाण मानो। शास्त्रविधान को जानकर ही तुम्हें इस दुनिया में सब कुछ करना होगा। 23।24।

इस पर पूरा प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है।

इति॰ देवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः।।16।।

श्रीम. जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका दैवासुर-सम्पत्ति-विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय यही है।

सत्रहवाँ अध्याय

गीता में श्रद्धा की बात पहले बहुत बार आ चुकी है। किसी भी काम की सफलता के लिए उसे बुनियादी तौर पर जरूरी माना गया है। 'श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः' (3 । 31), 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं' (4 । 39), 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च' (4 । 40), 'अयतिः श्रद्धयोपेतः' (6 । 37), 'श्रद्धा वान्भजते' (6 । 47), 'श्रद्ध-यार्चितुमिच्छति', 'श्रद्धां तामेव' , 'स तया श्रद्धया युक्तः' (7 । 21-22), 'अश्रद्दधानाः पुरुषाः' (9 । 3) तथा 'येप्यन्यदेवताभक्ता' (9 । 23) आदि में सभी प्रकार की सफलता के लिए यह श्रद्धा आवश्यक मानी गयी है। हमने जगह-जगह यह बात स्पष्ट भी कर दी है। फिर भी दार्शनिक ढंग से उसका विवेचन और विश्लेषण अभी तक नहीं हो पाया है और है यह निहायत जरूरी बात। ऐसी मौलिक बात यों ही एक श्रद्धा शब्द से या इसी के सूचक किसी और शब्द से ही कह दी जाय, यह तो अत्यन्त नाकाफी है। इस बात का तो पूरा विवरण होना चाहिए। इसकी सारी भीतरी बातें खुल जानी चाहिए। जैसे सोलहवें अध्याय में यम-नियमों का हीर निकाल के रख दिया गया है और उस सम्बन्ध की सारी बातों का नग्न चित्र खींचा गया है, उससे कम जरूरत इस बात की नहीं है। प्रत्युत सोलहवें में तो अन्ततोगत्वा निषेधात्मक बात ही कही गयी है न? परन्तु यह है विधानात्मक। इसीलिए इसकी कठिनता तथा उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। ऐसी दशा में इसका विश्लेषण और भी ज्यादा होना चाहिए और यही बात सत्रहवें अध्याय में की गयी है। गीताधर्म से इसका कितना गहरा एवं बुनियादी ताल्लुक है और इस निरूपण का असली आशय क्या है यह बात हमने खूब विस्तार के साथ पहले ही बता दी है। उसे पढ़े बिना इसके पढ़ने में न तो मजा आयेगा और न यह बात ठीक-ठीक समझी ही जा सकेगी।

यह श्रद्धा तीन प्रकार की मानी गयी है। क्योंकि श्रद्धा तो मनुष्य में ही होती है और उसके हरेक गुण होते हैं तीनों गुणों के आधार पर बनी उसकी प्रकृति के ही अनुसार। यह बात भी अच्छी तरह प्रतिपादित हो चुकी है। यही वजह है कि श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती ही है। इसीलिए उसी श्रद्धा के अनुसार किये गये सभी कर्मों का भी तीन प्रकार का हो जाना जरूरी है। इसी दृष्टि से नमूने के रूप में ही भोजन, यज्ञ, तप, दान का वर्णन भी आ गया है। असल में भोजन का ताल्लुक

तो सीधे श्रद्धा से है नहीं। हाँ, गुणों से तो हई। यह बात भी है कि जैसा भोजन होता है वैसा ही स्वभाव भी होता है। इस तरह भोजन का सम्बन्ध सभी चीजों से मूल रूप में हो जाता है। श्रद्धा भी इसीलिए भोजन के साथ घनिष्ठता के साथ जुट जाती है। इसीलिए पहले भोजन का ही विवरण दे के उसके बाद तीन प्रमुख कर्मों का विवरण दिया है। श्रद्धा के बिना जो कुछ भी क़िया जाता है वह गीता के दायरे के बाहर की चीज है। इसीलिए गीता उसे पूछती तक नहीं। वह गीता की गिनती में हई नहीं। वह तो न यहाँ का है, न वहाँ का। वह तो 'धोबी का कुत्ता न घर का है, न घाट का' इसीलिए गीता ने इस अध्याय के अन्त में उसे असत्, व्यर्थ, रद्दी कह के एक प्रकार से धिक्कारा है।

तप में एक बात और भी आ गयी है। वह कायिक, वाचिक, मानसिक रूप में तीन प्रकार का होता है। फिर हरेक के तीन-तीन प्रकार, श्रद्धा के भेद से कहिए, गुण के भेद से कहिए, होने से तप के नौ प्रकार हो गये हैं।

इसका प्रसंग भी सोलहवें अध्याय के अन्त वाले दो श्लोकों ने ला दिया है। वहाँ तो सीधा प्रसंग था काम, क्रोध एवं लोभ के ही मिटाने का। मगर वह तो निचोड़ ठहरे उन समूची सम्पत्तियों के ही जो समाज के लिए घातक हैं। फिर आत्मदर्शन जैसी नाजुक चीज का क्या कहना? इसे तो वे पलक मारते ही मटियामेट कर दें। इसीलिए जो मार्ग उनके मिटाने का वहाँ बताया गया है वह केवल काम, क्रोधादि तक ही सीमित न रह के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य क्षेत्र के विस्तृत दायरे के भीतर आ जाने वाली सभी बातों को ही उसने साथ में ले लिया है। फलतः कर्म या कर्त्तव्य मात्र के ही बारे में तय पाया गया कि शास्त्रीय विधान को जान के ही तदनुसार ही अमल करना चाहिए। ठीक भी है। हरेक बातों के जुदे-जुदे शास्त्र होते हैं। यहाँ तक कि खेल-कूद के लिए भी लम्बे-चौड़े शास्त्र बन चुके हैं। इसलिए यह तो उचित ही है कि जो कुछ करना हो उससे पहले तत्सम्बन्धी शास्त्र का अनुशीलन किया जाय, उसके जानकारों से ही पूछताछ की जाय। दूसरा चारा हई नहीं, यदि सफलता चाहते हैं।

इस पर एकाएक अर्जुन के भीतर खलबली का मच जाना और उसका चटपट प्रश्न कर बैठना स्वाभाविक था और इसी से इस अध्याय का श्रीगणेश भी हो गया। शास्त्र और उसका विधान ये शब्द कुछ ऐसे हैं कि जनसाधारण को खटक जाते हैं, इस मानी में कि वे बहुत बड़ी चीजें हैं जो उनकी पहुँच के बाहर की हैं। तिस पर भी तुर्रा यह है 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' (4।16) के द्वारा खुद कृष्ण ने ही पहले ही कह दिया है कि कर्म-अकर्म की पहेली ऐसी पेचीदा है कि बड़े-बड़े दिमागदार भी चकरा उठते हैं। तो फिर जनसाधारण उन दिमागदारों के बनाये शास्त्र को कैसे जान पायेंगे? यह तो निरी असम्भव सी बात है। और अगर न जानें तो सारा कारबार ही बन्द हो जाये। क्योंकि ऐसा ही हुक्म हो गया। अर्जुन ने स्पष्ट देखा कि जिस पर हमारा कोई वश न हो उसी के पहिये में हमें और हमारे कर्त्तव्याकर्त्तव्य को बाँध देना कहाँ तक उचित है। उसे तो यह बात जँच न सकी। हाँ, जो चीज

अपने वश की है और जिसे ईमानदारी तथा दृढ़ संकल्प कहते हैं, अपने लक्ष्य और उसकी सिद्धि के उपाय में अटल विश्वास कहते हैं, उसके ऊपर यदि कर्म-अकर्म की निर्भरता हो तो यह बात समझ में आती है। यही उचित भी है। इसी का दूसरा नाम श्रद्धा है। लेकिन अगर किसी ने श्रद्धा के साथ कर्म तो किया, फिर भी शास्त्रीय विधिविधान नहीं जानता है, तो उसकी क्या गति होगी, यह प्रश्न स्वाभाविक था। उसने समझा कि वह तो कहीं का न रहेगा, जैसा कि अभी कहा है। मगर यह तो ठीक नहीं जँचता।

निष्ठा, गति या हालत एक ही बात है और घबरा के यही जानने के लिए–

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विता।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।1।।

अर्जुन ने पूछा (कि) हे कृष्ण, जो लोग शास्त्रीय विधि की पाबन्दी न करके श्रद्धा के साथ यज्ञादि क्रिया करते हैं उनकी क्या हालत है? (उनकी गिनती किस श्रेणी में है?) सत्त्व, रज या तम में?।1।

असल में तीन गुणों के बाहर तो कोई जा सकता नहीं। इसीलिए स्वभावतः अर्जुन ने पूछा कि वे लोग सात्त्विक होंगे या राजस या तामस? कृष्ण ने उत्तर भी वैसा ही दे दिया कि जैसी श्रद्धा होगी वैसे ही वे लोग होंगे, चाहे शास्त्रीय विधि की पाबन्दी करें या न करें। असल में उनके कहने का आशय यही है कि शास्त्रीय पाबन्दी न रखने से नीचे से ऊपर तक अराजकता हो जायगी और सब गड़बड़-घोंटाले में पड़ जायगा। इसलिए कोई व्यवस्था तो चाहिए ही और वह हो सकती है केवल शास्त्रीय विधि ही। दूसरे की तो सम्भावना हई नहीं। यदि यों ही श्रद्धा के नाम पर छोड़ दिया जाए तो लाखों में शायद ही एकाध ठीक-ठीक उसके अनुसार करें। शेष तो अन्धाधुन्धी ही मचा देंगे। यदि दुनिया में ईमानदारी और सचाई ही सबों में होती और दृढ़ संकल्प ही पाया जाता, तो फिर उपदेश की जरूरत ही क्यों होती? यहाँ तो उलटी गंगा बहती है। इसीलिए नियन्त्रण रखना जरूरी है। मगर जो लोग सच्चे, ईमानदार और धुनवाले हैं उनके लिए तो छुट्टी ही है। उनके तो चरण चूमते हैं शास्त्रीय विधिविधान। कारण, इनका भी तात्पर्य है धीरे-धीरे वैसे ही लोगों को पैदा करना। यही बात–

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।2।।
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।3।।

श्रीभगवान् बोले (कि) देहधारियों की वह स्वाभाविक श्रद्धा तीन तरह की होती

है--सात्त्विक, राजस और तामस। उसके बारे में और भी सुन लो। हे भारत, सबकी श्रद्धा सत्त्वगुण (की कमी-बेशी, प्रधानता-अप्रधानता) के ही अनुसार होती है। (क्योंकि) मनुष्य तो श्रद्धामय है। (इसीलिए) जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही है। 2।3।

प्रश्न हो सकता है कि इसकी पहचान क्या है? आखिर कैसे जानें कि कौन आदमी कैसा है? उत्तर सुनिए—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।4।।
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।5।।
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।6।।

सात्त्विक जन देवताओं का यजन-पूजन करते हैं, राजस लोग यक्ष-राक्षसों का और शेष तामस लोग प्रेतों तथा भूतगणों की यज्ञपूजा करते हैं। शास्त्रों में विहित न हो ऐसे तप को दम्भ, अहंकार से युक्त और काम, राग, बलवाले जो लोग करते हैं (और इस तरह) शरीर के भीतर रहने वाले पदार्थ समूह को और अन्तःकरण में रहने वाले मुझ आत्मा को भी कमजोर करते रहते हैं, उन्हें आसुरी निश्चयवाले ही समझो। 4।5।6।

यहाँ पहले तो ऐसे लोगों के तीन भेद बताये गये हैं और उनकी पहचान दी गयी है। देव से अभिप्राय है सात्त्विक दिव्यशक्तियों से ही; न कि साधारण देवताओं से। क्योंकि वे तो राजस और तामस ही हुआ करते हैं। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः' (श्वेता. 6।11), 'ये पूव देवा ऋषयश्च तद्विदुः' (श्वेता. 5।6) तथा 'एष देवो विश्वकर्मा' (श्वेता. 4।17) आदि में भगवान, विष्णु, विद्वान् आदि को ही देव कहा है। यही उचित भी है। साधारण देवताओं के पूजक तो स्वर्गादि चाहते हैं और सत्त्व का काम है ज्ञान। इसीलिए यक्ष, राक्षस का अर्थ वैसे ही देवताओं से है। जो तामसी देवता हैं उन्हीं को प्रेत-भूत के नाम से गिनाया है। वे हजारों हैं और उन्हें जनसाधारण खूब मानते-जानते हैं। इसीलिए उनके गण का उल्लेख किया है। बाकियों के गण या समूह होने पर भी वे उतने परिचित नहीं हैं। मगर भूत-प्रेत तो घर-घर जुदे-जुदे हैं। जोई मर गये या गुजर गये उन्हीं को भूत-प्रेत कहते हैं। शब्दार्थ भी यही है।

यहाँ पाँचवें और छठे श्लोकों में जो कुछ कहा है वह यद्यपि शास्त्रीय विधि से बाहर वालों के ही कर्म हैं, तथापि उनसे मतलब श्रद्धाशून्य कर्मों से ही है। दिखावटी या अहंकारपूर्वक किये गये कर्म तो सदा श्रद्धाशून्य हुआ ही करते हैं। इसी तरह काम, राग या बलपूर्वक भी जो कुछ किया जाता है वह भी श्रद्धाशून्य ही होता है। श्रद्धा की वहाँ गुजर कहाँ? पहुँच कहाँ ? इसीलिए तो आत्मा, इन्द्रियों तथा रक्त-मांसादि के कृश करने की बात कही गयी है। इन्द्रियों या रक्त-मांसादि की कृशता उनकी

कमजोरी और दुर्बलता कही है। मगर आत्मा की कृशता है उसका पतन, उसकी विवेकशून्यता। यदि कर्शयन्तः की जगह कर्षयन्तः पाठ हो तो भी नीचे खींचना या ले जाना—घसीटना—ही उसका अर्थ है और कोई फर्क नहीं है। इसीलिए श्रद्धा का पता वहाँ नहीं रहता। ऐसे कर्मों की गिनती गीता करती ही नहीं। अन्तवाले (28वें) श्लोक में आमतौर से इन्हें दूषित ही ठहराया है। यहाँ भी उसी का नमूना बताया गया है। परन्तु यह बात यों ही प्रसंग से आ गयी है। प्रसंग तो त्रिविध गुणमूलक पदार्थों का ही है। इसीलिए आगे के श्लोकों में वही तीन प्रकार का वर्णन यों लिखा है—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।7।।

सभी का प्रिय आहार भी तीन प्रकार का होता है (और) यज्ञ, तप तथा दान भी। इनके ये प्रकार सुन लो।7।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।8।।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।9।।
यातयामं गतरसं पूर्ति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।10।।

आयु, सत्त्वगुण, बल, नीरोगता, सुख एवं प्रसन्नता को बढ़ाने वाले, रसीले, चिकने या स्नेहयुक्त, कुछ देर में पचने वाले और चित्त को पसन्द आने वाले आहार सात्त्विक जनों के प्रिय होते हैं। कड़वे, खट्टे, नमकीन, ज्यादा गर्म, चरपरे, रूखे तथा जलन पैदा करने वाले आहार राजस लोगों के प्रिय होते तथा दुःख, शोक, बीमारी पैदा करते हैं। जिसे बने एक पहर गुजर गया हो ऐसा, नीरस, दुर्गन्ध—युक्त, बासी, जूठा और नापाक भोजन तामस लोगों को पसन्द आता है। 8।9।10।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।11।।
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।12।।
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।13।।

फल की आकांक्षा न रखने वाले लोग शास्त्रीय विधि के अनुकूल जो यज्ञ 'हमारा यह कर्त्तव्य है' इसी विचार से मन को निश्चल और एकाग्र करके करते हैं वही सात्त्विक यज्ञ है। हे भरतश्रेष्ठ, जो यज्ञ फलेच्छा रख के और दिखाने के लिए भी किया जाता है। उस यज्ञ को राजस जानो। शास्त्रीय विधि से रहित, अन्नदानशून्य, बिना मन्त्र (और) बिना दक्षिणा के ही तथा श्रद्धा के बिना ही किये गये यज्ञ को तामस कहते

हैं। 11। 12। 13।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। 14।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।। 15।।
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। 16।।

देवता, ब्राह्मण, गुरु, विद्वान् इन सबों की सत्कार-पूजा, पवित्रता, नम्रता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा (यही) शरीर का तप कहा जाता है। किसी को न चुभने वाला सत्य, प्रिय और हितसाधक वचन (बोलना) और सद्ग्रन्थों का अभ्यास (यही) जबान की तपस्या है। मन की निर्मलता, हँसमुखपन, जबान पर काबू, मन पर नियन्त्रण (और) निष्कपट व्यवहार यही मन की तपस्या कही जाती है। 14। 15। 16।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।। 17।।
सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।। 18।।
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।। 19।।

पहले दर्जे की श्रद्धा से फलाकांक्षारहित, मन को एकाग्र किये हुए मनुष्यों के द्वारा किये गये उन तीनों ही प्रकार के तपों को सात्त्विक कहते हैं। मौखिक बड़ाई, इज्जत और पूजा के लिए और दम्भ से भी जो तप किया जाता है, उस क्षणभंगुर और अनिश्चित फलवाले तप को यहाँ राजस कहा है। जो तप नासमझी से ऊँट की पकड़ की तरह हठात् अपने को (केवल) पीड़ा दे के ही या औरों के विनाश के लिए किया जाता है उसे तामस कहा है। 17। 18। 19।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।। 20।।
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।। 21।।
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।। 22।।

देना चाहिए ऐसा समझ के ही जो दान उपकार के बदले में न हो के (जरूरत की जगह) जरूरत के समय दान के योग्य को ही दिया जाता है उसी दान को सात्त्विक माना है। जो दान, उपकार के बदले में या किसी प्रयोजन से बहुत रो-गा के दिया जाता है उस दान को राजस कहा है। (जो दान बिना जरूरत के और इसीलिए अनुचित)

देश, काल और पात्र में बिना सत्कार के ही तिस्कारपूर्वक दिया जाता है उसे तामस कहा है। 20। 21। 22।

आगे बढ़ने के पूर्व यज्ञ, तप और दान के सम्बन्ध में दो-एक बातें कह देनी हैं। यह तो मोटी बात है कि दान के लिए देश, काल, पात्र का होना जरूरी है। देश से मतलब खामखा काशी, अयोध्या आदि तीर्थों से, काल से मतलब ग्रहण आदि से ही और पात्र से अभिप्राय ब्राह्मण, साधु आदि से ही नहीं है। जहाँ पानी, औषधालय, स्कूल आदि के बिना बहुत हर्ज हो वहीं पर कुआँ, तालाब, अस्पताल, स्कूल आदि बना देना देश में दान हुआ। इसी तरह जाड़े के दिनों में या अकाल वगैरह के समय भूखे-नंगों को वस्त्र, अन्नादि देना काल का दान हो गया। मगर हमारे पास एक ही सेर अन्न है। जिसे लेने को एक ओर दो-चार भूखे और दूसरी ओर साधु-फकीर या पुजारी के नाम पर मुश्चण्ड लोग खड़े हैं, तो दान के पात्र वहाँ भूखे ही होंगे, न कि चण्ड-मुचण्ड लोग। सारांश, जहाँ जिस समय जिन लोगों को कुछ भी देने से अधिक से अधिक लाभ समाज का या व्यक्तियों का हो वही दान देश, काल, पात्र का दान है।

लेकिन इन यज्ञादि के बारे में जो असल बात विचारने की है वह तो दूसरी ही है। पहले श्रद्धा को सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकार का कहा है। मगर जब नमूने के लिए यहाँ यज्ञादि को दिखाने लगे तो कहीं तो श्रद्धा का नाम केवल सात्त्विक में ही लिया है जैसा कि बीच में तप में स्पष्ट ही देखा जाता है और कहीं—यज्ञ तथा दान में—वह भी नहीं किया है। बल्कि उसकी जगह यज्ञ में शास्त्रीय विधि का ही नाम लिया गया है। इसी के साथ यह भी देखा जाता है कि सात्त्विक तथा राजस यज्ञों को छोड़ केवल तामस में ही यह कह दिया कि वह श्रद्धा से रहित होता है और शास्त्रीय विधि से हीन भी। इससे दो बातें झलक जाती हैं। एक तो यह कि शास्त्रीय विधि और श्रद्धा साथ चलती हैं; हालाँकि अर्जुन का प्रश्न इससे विपरीत है। वह तो यही मान के है कि शास्त्रीय विधि न होके भी श्रद्धा हो सकती है। दूसरी यह कि तामस कर्मों से श्रद्धा होती ही नहीं। इसी को दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि तामसी श्रद्धा होती ही नहीं। मगर यह भी पूर्व के उस कथन के विपरीत है कि श्रद्धा तीन तरह की होती है।

दान की भी यह हालत है कि न तो उसमें श्रद्धा का ही उल्लेख है और न विधि का ही! इस तरह तप में भी जब सात्त्विक को श्रद्धापूर्वक कह के शेष दो में चुप्पी मारते हैं तो यह खामख्वाह हो आता है कि राजस और तामस तप में श्रद्धा होती ही नहीं। विपरीत इसके जब तामस यज्ञ को ही श्रद्धा के बिना किया गया कहते हैं तो एकाएक विचार हो आता है कि हो न हो सात्त्विक तथा राजस यज्ञों में श्रद्धा जरूर होती है। मगर अगर वहाँ होती है तो तप में भी क्यों नहीं, यह प्रश्न अनायास उठ खड़ा होता है। इस प्रकार सबों का विचार करने से अजीब घपला दीखता है, गड़बड़ मालूम पड़ती है। जब इसी के साथ 'ॐ तत्सदिति' (23-27) आदि पाँच

श्लोकों को इसके बाद ही पढ़ते हैं तो यह खयाल होता है कि श्रद्धा के साथ ही 'ॐ तत्सत्' इस छोटे मन्त्र का उच्चारण भी हर कर्म में जरूरी हो जाता है। इस तरह श्रद्धा की छाती पर शास्त्रीय विधि खामख्वाह बैठी-बैठाई सी दीखती है। लेकिन तब तो अर्जुन के प्रश्न का उत्तर ठीक-ठीक मिलता नहीं। विपरीत इसके जब आखिरी या 28वाँ श्लोक देखते हैं तो कुछ उलटी ही समां नजर आती है। वह तो बेलाग कहता है कि चाहे शास्त्रीय विधि हो या न हो। मगर यदि श्रद्धा न हो तो सब किया-कराया चौपट! इस प्रकार एक विचित्र गोलमाल सा हो गया है और किसी बात की सफाई मालूम पड़ती ही नहीं।

इसी सिलसिले में एक बात और भी पाई जाती है। जो यज्ञ और तप दम्भपूर्वक या महज दिखावटी होते हैं उन्हें राजस कहा है। दोनों ही में दम्भ शब्द पाया जाता है। मगर यदि पाँचवें तथा छठे श्लोकों को देखें तो दम्भपूर्वक किया गया तप आसुरी माना गया है। उसी को शास्त्रविधि-शून्य भी कहा है। सात्त्विक, राजस, तामस कर्मों से उसे जुदा भी माना है, जैसा कि प्रसंग देखने से ही स्पष्ट हो जाता है। उसके विपरीत यहाँ ये दोनों एक तो राजस हो गये। दूसरे शास्त्रीय विधि के बाहर हैं यह तो लिखा गया ही है। बल्कि तामस यज्ञ को विधिहीन कहने से ही यह राजस विधि-युक्त अर्थतः सिद्ध हो जाता है। उसी का साथी तप भी वैसा ही माना जाना चाहिए। सोलहवें अध्याय में यह भी देखी चुके हैं कि दम्भवाले यज्ञों को आसुरी कहा है। इस तरह पूर्वापर-विरोधक आ जाने से और भी दिक्कत पैदा हो गयी है।

लेकिन दरअसल बात ऐसी है नहीं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जब उपसंहार या अन्त में श्रद्धारहित यज्ञ, तप, दानों का—क्योंकि हुत या हवन तो यज्ञ में ही आ जाता है—नाम ले के स्पष्ट ही उन्हें चौपट बताया है, तो इससे निर्विवाद हो जाता है कि उससे पहले सर्वथा श्रद्धाशून्य कर्मों का जिक्र हई नहीं। क्योंकि यह तो सामान्य रूप से सभी प्रकार के ही यज्ञों, दानों, तपों के बारे में कहना है। फिर बीच में किसी एकाध का नाम लेने का क्या मौका? वह तो व्यर्थ ही ठहरा न? उसकी जरूरत तो वहाँ है नहीं। उससे काम भी तो नहीं निकलता और अन्ततोगत्वा सभी कर्मों के बारे में 'अश्रद्धयाहुतं दत्तं' का कहना जरूरी होई जाता है। ऐसी दशा में यदि कहीं-कहीं अश्रद्धा आ गयी है तो उसका आशय कदापि यह नहीं है कि उनमें श्रद्धा का सर्वथा या बिलकुल ही अभाव है। किन्तु केवल यही कि श्रद्धा अधूरी है, कच्ची है। जब भोजन में नमक कम हो तो कभी-कभी कह बैठते हैं कि इसमें तो नमक हई नहीं। इसी तरह कहा जाता है कि आज तो हवा कतई हई नहीं। मगर हवा न रहे, यह तो सम्भव नहीं। इसलिए उसके मानी यही होते हैं कि कम है, बहुत थोड़ी है। यही बात यहाँ भी समझिए। पूरी श्रद्धा होने पर सात्त्विक, उसमें कमी होने पर पर राजस और नाममात्र की श्रद्धा या बहुत कम होने पर तामस यही मतलब होता है। मगर जहाँ श्रद्धा कतई हई नहीं वही आसुरी है। यही बात अन्त में और

5-6 श्लोक में भी कही गयी है।

असल में दैवी और आसुरी के अलावे तीसरा दल तो हई नहीं। इसीलिए राजस यज्ञ और तप में जो दम्भ आया है उससे इस अध्याय के और सोलहवें के भी आसुरी स्वभाव का मेल हो जाना उचित ही है। हमने यह बात पहले कह भी दी है। मगर यह बात हमेशा याद रखने की है कि आसुरी कहने और राजस, तामस श्रद्धा का नाम लेने से यह कभी नहीं मानना होगा कि राजस और तामस यज्ञादि करने वाले श्रद्धाशून्य हैं। इसीलिए 'अश्रद्धया हुतं दत्तं' वाले में ही उसकी गिनती है। इसीलिए, 5-6 श्लोकों में जो दम्भ आया है वही यज्ञ तथा तप में भी आ गया है, जिससे ये तीनों एक ही हो जाते हैं—इनमें जरा भी फर्क नहीं है, यह समझना भी भूल है। 5-6 श्लोकों की बात दूसरी है, निराली है और वही मिल जाती है। 'अश्रद्धया हुतं दत्तं' के साथ। न कि यज्ञ और तप के राजस, तामस आदि भेद मिलते हैं। दम्भ शब्द के बारे में तो कही चुके हैं कि क्यों आया है। 5-6 श्लोकों में जो कुछ कहा गया है वह केवल अश्रद्धा की निन्दा के ही लिए। न कि यहाँ उसका कोई खास प्रयोजन है। क्योंकि उसमें केवल तप की बात आती है। किन्तु अन्त वाले श्लोक में यज्ञ, तप, दान तीनों को ही चौपट बताया है। ऐसी दशा में यदि सिर्फ निन्दा ही प्रयोजन न हो के किसी खास बात का प्रतिपादन मतलब होता तो उसकी जरूरत ही क्या थी? वह तो बेकार हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि पूर्ण श्रद्धा होने पर सभी कर्म सात्त्विक हो जाते हैं, फिर चाहे वह यक्ष-राक्षसों की पूजा हो या भूत-प्रेतों की। यह बात हम पहले 'येप्यन्यदेवता भक्ताः' (9। 23-25) आदि में अच्छी तरह बता भी चुके हैं। अगर फिर भी वैसे कर्मों में कसर रह जाती है या उन्हें तामस और राजस कहते हैं तो केवल इसीलिए कि वह रास्ता, वह समझ, उन कर्मों के करने की सारी बुनियाद ही गलत है। यही बात 'न तु मामभिजानन्ति' (9। 24) में कही जा चुकी है।

जो यह कहा गया है कि सात्त्विक यज्ञ और दान में श्रद्धा नहीं पायी जाती है, उसका उत्तर साफ है। जब वह सात्त्विक तप में लिखी है तो शेष दो में भी उसे समझ लेना ही होगा। इसमें कोई विशेष युक्ति की जरूरत है नहीं। सभी सात्त्विकों की एक सी बात है न? यह भी तो देखते ही हैं कि तीनों के बारे में फलाकांक्षा या बदले के उपकार का खयाल करके ही करने को लिखा है। बल्कि यज्ञ और तप में तो 'अफलाकांक्षिभिः' यही शब्द दोनों जगह है और जब एक जगह 'श्रद्धया' से उसका सम्बन्ध है तो दूसरी जगह भी उसे मान लेना आसान है, अर्थ सिद्ध है। असल में तो प्रयोजन या फल की इच्छा का न होना ही पूर्ण श्रद्धा की पक्की निशानी है। ये दोनों साथ ही चलने वाली हैं। इसीलिए जहाँ श्रद्धा में कमी हुई कि फलाकांक्षा, उपकार का खयाल, दम्भ आदि धीरे-धीरे घुसने लगे। इसलिए यदि तप में श्रद्धा कही भी गयी है तो उसकी खास जरूरत नहीं है। फिर भी कहीं लोग ऐसा न समझ बैठें

कि श्रद्धा के बिना भी सात्त्विक कर्म होते हैं, इसीलिए बीच में 'श्रद्धया' लिख दिया, जो पहले वाले यज्ञ में और बादवाले दान में भी माना जायगा। श्रद्धा न कहके जो शास्त्रविधि कही गयी है वह भी श्रद्धा का सूचक ही है। पूरी शास्त्रविधि में तो पूर्ण श्रद्धा रहेगी ही। उसके बिना तो शास्त्रविधि कभी पूरी होई नहीं सकती, यह पक्की बात है। प्राचीन विद्वानों और ऋषि-मुनियों ने यही माना भी है।

अब केवल एक ही बात रह जाती है और वह यह कि इसके बाद के पाँच श्लोकों में जो कुछ कहा गया है वह भी तो शास्त्र की विधि ही है न? किन्तु उसकी जरूरत यहाँ क्या थी जब कि श्रद्धा की बात आयी गयी है? ऐसा प्रश्न किया जाता है सही। फिर भी शास्त्रविधि के उल्लेख का जो प्रयोजन अभी कहा है उसके बाद तो इसकी भी गुंजाइश नहीं रह जाती है। परन्तु यहाँ कुछ खास बात है। बात यों है कि जो लोग शास्त्रीय विधि को जनसाधारण की पहुँच के बाहर की चीज मानते हैं और इसीलिए उसे हौवा समझते हैं उनका भी तो खयाल गीता को करना ही है। गीता धर्म तो सर्वसाधारण के ही लिए है, खासकर यह श्रद्धावाली बात। इसीलिए इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर गीता का ध्यान जाना अनिवार्य था और उसी ध्यान के परिणामस्वरूप ये पाँच श्लोक हैं।

जो लोग यह समझते हैं कि शास्त्रीय विधि बहुत बड़ा जाल और पँवारा है और इसलिए उससे और उसके नाम से ही बुरी तरह घबराते हैं उन्हें गीता का कहना है कि तुम नाहक ही ऐसा समझ के घबराते हो। देखो न, ब्रह्मवादी और मोक्षकांक्षी लोग भी इस शास्त्रीय विधि को कितनी आसान मानते हैं? जो कर्म यज्ञार्थ या भगवदर्पण होते हैं उन्हें भी किस आसानी से शास्त्रीय विधि से किया जा सकता है! फिर घबराने का क्या सवाल? एक ॐकार, तत् या सत् शब्द—तीनों में हरेक—ही ऐसा है कि इसके उच्चारण मात्र से शास्त्रविधि पूर्ण हो जाती है और अगर तीनों को मिला के ॐतत्सत् कह दिया तब तो कहना ही क्या? इन पाँच श्लोकों का यही आशय है और जब ब्रह्मवेत्ता, मोक्ष के इच्छुक या उत्तमोत्तम कर्मों के करने वाले ही ऐसा करते हैं तो इसे शास्त्रीय विधि न कहें तो और कहें क्या? आगे 'विधानोक्ताः' शब्द आया भी है। इस तरह गीता ने सर्वसाधारण के लिए—उनके भी लिए जो वेद-वेदांग जान पाते नहीं और ऐसे ही लोग ज्यादा हैं—भी शास्त्रीय विधि सुलभ कर दी। हाँ, जो वेद-शास्त्र के ज्ञाता हैं वह तो खामख्वाह लम्बी-चौड़ी विधि करेंगे ही। किन्तु गीता को उनकी कुछ ज्यादा परवाह है भी नहीं। जब ब्राह्मणों, वेदों तथा यज्ञों की उत्पत्ति इन्हीं तीन शब्दों का उच्चारण करके ही हुई तो फिर इनकी महत्ता का क्या कहना? यज्ञादि कर्मों के आधार तो वेद और ब्राह्मण ही हैं और जब वही और खुद यज्ञ भी इन्हीं शब्दों के उच्चारणपूर्वक ही प्रकट हुए तब और बचता ही है क्या?

श्रद्धा के बाद और 'अश्रद्धयाहुतं' के पहले इन पाँच श्लोकों की बातों का दूसरा मतलब होई नहीं सकता, शुरू से ही शास्त्रविधि का प्रश्न उठा भी है। फिर

भी इस अध्याय में श्रद्धा की ही प्रधानता है और वही इसका विषय भी है। इसीलिए श्रद्धा के बाद ही शास्त्रीय विधान पर अपनी दृष्टि से प्रकाश डाल देना आवश्यक भी था। इसमें एक बात और भी है। ॐतत्सत् का उच्चारण और प्रयोग तो श्रद्धा के बिना होई नहीं सकता। जिन्हें इसमें या ऐसे कर्मों में पूरा विश्वास नहीं, निश्चय नहीं है वह भला ॐतत्सत् का नाम भी क्यों लेने जायँगे? इस तरह गीता ने इस बहाने ही श्रद्धा की भी जाँच कर ली। नहीं तो इसके नाम पर प्रवंचना और ठगी का होना आसान था। इससे यह भी होगा कि श्रद्धा में अगर जरा भी कोर-कसर होगी या वह पूरी न होगी, तो इस उच्चारण से पूर्ण हो जायगी। क्योंकि यह तो उसका राजमार्ग ही है। शुरू में ही हमने जो कहा था कि श्रद्धा आसान नहीं है, वह सबमें पायी जाती है नहीं और उसका सम्पादन जरूरी है, वह जरूरत भी इससे पूरी होती है। इस तरह एक ही तीर से कई शिकार हो जाते हैं।

आगे जो यह लिखा है कि ॐ, तत् और सत् ये तीनों ब्रह्म के नाम तथा ब्रह्मवाचक शब्द माने जाते हैं उसमें तो खुद गीता ही साक्षी है। 'ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (8।13) तथा 'प्रणवः सर्व' (7।8) में ॐ को ब्रह्म कही दिया है। इसी प्रकार 'तद्बुद्धयस्तदात्मानः' (5।17) आदि में जिस ज्ञान को तत् कहा है वह आत्मा-ब्रह्म स्वरूप ही है और इस श्लोक में उसी की सम्भावना है। ऐसा और भी आया है। यों तो बार-बार ब्रह्म को सत् कहा ही है। लेकिन 'न तदस्ति बिना यत्स्यात्' (10।39) में स्पष्ट ही ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र मानी गयी है। उपनिषदों में भी 'ॐ मितिब्रह्म' (तैत्ति. 1।7), 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दो. 6।8-16) तथा 'सदेव सोम्येदमग्र' (6।2।1) आदि में यही बात पायी जाती है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।। 23।।

ॐ, तत्, सत् यही तीन नाम ब्रह्म के माने गये हैं और सृष्टि के आरम्भ में इन्हीं तीनों (के उच्चारण) से ब्राह्मण, वेद और यज्ञ बने (भी)। 23।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।। 24।।
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः।। 25।।
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।। 26।।
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।। 27।।

इसीलिए ॐ का उच्चारण करके ही ब्रह्मवादियों की शास्त्रीय-विधिविहित यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ हमेशा हुआ करती हैं। (इसी तरह) मोक्ष की इच्छावाले फल

का खयाल न करके अनेक प्रकार की यज्ञ, दान, तप रूपी क्रियाएँ तद् का उच्चारण करके ही करते हैं। हे पार्थ, किसी चीज के अस्तित्व के लिए तथा अच्छा हो जाने के लिए भी सत् शब्द बोला जाता है। श्रेष्ठ कर्मों में भी सत् शब्द का प्रयोग होता ही है। यज्ञ, तप और दान में जो निष्ठा एवं दत्तचित्तता होती है उसे भी सत् कहते हैं। यज्ञार्थ या ब्रह्म के लिए जो भी कर्म हो सत् ही कहा जाता है। 24। 25। 26। 27।

यहाँ, यज्ञ, दान, तप का उल्लेख उदाहरण-स्वरूप ही है, जैसा कि पहले भी तीन का ही नाम आया है। यही प्रधान कर्म हैं भी। अगर तात्पर्य सभी कर्मों से है। यह तो सभी जानते हैं कि दान आदि क्रियाओं और उत्तम कर्मों को सत्कर्म कहते हैं। यज्ञादि करने वालों को भी कहते हैं कि आप तो अंच्छा कर्म, सत्कर्म, समीचीन कर्म करते हैं, ठीक करते हैं। उसी से यहाँ मतलब है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।। 28।।

(विपरीत इसके) जो हवन, दान, तप आदि श्रद्धा से नहीं किया जाता है वह असत् कहा जाता है। (इसीलिए) न तो वह मरने पर ही किसी काम का होता है और न यहीं पर। 28।

यहाँ यज्ञ की ही जगह हुत या हवन आया है। श्रद्धाशून्य कर्मों को असत् कह देने से बिलकुल ही साफ हो जाता है कि ॐ तत्सत् का श्रद्धा से ही सम्बन्ध है। फलतः श्रद्धा के बिना ये किसी भी कर्म में बोले जा सकते नहीं। श्रद्धा के हटते ही वह कर्म असत् जो हो जायगा। फिर उसमें सत् शब्द के प्रयोग का अर्थ क्या होगा? यह तो उलटी बात हो जायेगी न? इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि अथ से इति तक इस अध्याय पर श्रद्धा की छाप लगी हुई है। फिर चाहे वह सात्त्विक हो, राजस हो या तामस। इसीलिए समाप्ति-सूचक संकल्प वाक्य में भी 'श्रद्धात्रयविभागयोगः' लिखा है। यहाँ जो विभाग शब्द है वह भी महत्त्वपूर्ण है और बताता है कि तीन गुणों के बीच में संसार के विभाग की ही तरह उन सभी कर्मों का, जिनकी गणना गीता करती है, तीन श्रद्धाओं के बीच बँटवारा हो गया है। वहाँ भी 'गुणत्रयविभागयोगः' ऐसा ही लिखा गया है। हमने जो कुछ अब तक कहा है, वह भी यही है। बेशक, इस अध्याय में कर्त्तव्याकर्त्तव्य की एक निराली, और गीता की अपनी, कसौटी कही गयी है जिस पर काफी प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है। यहाँ उससे ज्यादा लिखने का मौका है नहीं। लेकिन अभी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहना जरूरी है, जो आगे के लिए ही छोड़ दिया जाना ठीक है।

इति श्री. श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।। 17।।

श्रीम. जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका गुणत्रय-विभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय यही है।

अठारहवाँ अध्याय

पीछे के सत्रह अध्यायों में ही गीता के सभी विषयों का आद्योपान्त निरूपण हो गया। अब कुछ भी कहना बाकी न रहा। इसीलिए कृष्ण को भी स्वयं आगे कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। इसीलिए अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में ही बची-खुची बातें कहते हुए, या यों कहिए कि कही हुई बातों को ही दुहराते एवं शब्दान्तर से उनका स्पष्टीकरण करते हुए, उनने सबों का उपसंहार इस अध्याय में किया। यदि गौर से देखा जाय तो इस अध्याय में न तो कोई नयी बात ही कही गयी है और न किसी बात को कोई ऐसा रूप ही दिया गया है जो पहले दिया गया न रहा हो, या जो बिलकुल ही नया हो। त्याग का ब्योरा, कर्त्ता, बुद्धि आदि की त्रिविधता, वर्णों के स्वाभाविक कर्म आदि में एक भी बात नयी नहीं है और न यहाँ किसी को नया रूप ही मिला है। या तो गीता के बाहर ही ये बातें प्रचलित रही हैं या, ऐसा न होने पर भी, गीता में ही पहले आ गयी हैं। जो लोग इससे पहले के अध्यायों को ध्यान से पढ़ गये हैं उन्हें यह बात साफ मालूम होती है। त्याग के बारे में कई मत कह देना यह गीता की बात न भी हो तो कोई नयी तो है नहीं। इसकी बुनियादी चीजें, जिन्हें फलेच्छा और आसक्ति का त्याग कहते हैं, पहले जानें बीसियों बार कही जा चुकी हैं। सात्त्विकादि तीन विभाग तो चौदहवें में और सत्रहवें में भी आया ही है। कुछ चुने-चुनाये और भी दृष्टान्त देने से ही नवीनता आ जाती नहीं। आत्मा का अकर्त्तृत्व और गुणों का कर्त्तृत्व भी पहले आयी चुका है। सो भी अच्छी तरह। इस तरह प्रारम्भ के चौवालीस श्लोकों तक पहुँच जाते हैं।

उसके बाद के पूरे 22 श्लोक में कुछ में जो स्वधर्मानुष्ठान की महत्ता बताई गयी है और उसी के द्वारा कल्याण की बात कही गयी है वह भी पहले खूब ही आयी है। फिर संन्यास यानी स्वरूपतः कर्मों के त्याग की बात जरूरी बता के जिसके लिए वह जरूरी है उस समाधि या ध्यान का भी वर्णन कुछ श्लोकों में किया है। अनन्तर उसी समदर्शन का वर्णन किया है जिसका बार-बार वर्णन आता रहा है। उसी में ज्ञानीभक्त नामक चौथे भक्त का भी जिक्र है। जो लोग ज्ञान के बाद भगवान् में ही कर्मों को छोड़ के लोकसंग्रह के काम करते हैं उनका वर्णन करके हठ के

साथ उलट-पलट करने या बातें न मानने से अर्जुन को रोका-समझाया है। यह भी कहा है कि यकीन रखो, तुम्हें प्रिय समझ के ही यह उपदेश दे रहा हूँ; न कि इसमें मेरा कुछ दूसरा भी मतलब है। फिर भी आँखें मूँद के कुछ भी करने को नहीं कहता। करो, मगर खूब सोच-समझ के! अन्धपरम्परा अच्छी नहीं है। अन्त में 66वें श्लोक में संन्यास यानी कर्मों के स्वरूपतः त्यागने का, जिसके बारे में अर्जुन का प्रश्न था, वर्णन कर दिया है। इस तरह गीतोपदेश पूरा किया है। अन्त में ऐसा कहने का मौका भी इसीलिए आ गया है कि आत्मा में मन को हर तरह से बाँध देने का जो अन्तिम उपदेश अर्जुन को दिया है वह तब तक सम्भव नहीं जब तक नित्य-नैमित्तिक या नियत धर्मकर्मों से छुट्टी न ली जाए? इसके बाद से अन्त तक गीतोपदेश के नियम, शिष्टाचार और परम्परा आदि का ही वर्णन है। अन्त में कृष्ण ने पूछा है कि बातें समझ में आयीं या नहीं? इस पर अर्जुन ने उत्तर दिया है कि हाँ, सब समझ गया और आपकी बातें मानूँगा। इसके बाद के पाँच श्लोक तो संजय की उस समय की मनोवृत्ति की विचित्रता बताने के साथ ही कौन जीतेगा, कौन हारेगा यही बातें कहते हैं। एक श्लोक कृष्ण के उस निराले तथा अलौकिक स्वरूप की याद दिलाता है जो अर्जुन को उपदेश देने के समय था और जिसका वर्णन हमने पहले ही अच्छी तरह कर दिया है। अब इनमें नयी बात कौन सी आ गयी है जिसके पीछे माथापच्ची की जाय?

यही वजह है कि अर्जुन ने आरम्भ में प्रश्न भी नहीं किया। उसने तो केवल इच्छा जाहिर की। सो भी संन्यास या त्याग का न तो अर्थ ही जानने के लिए है और न उनके लक्षण ही। दोनों शब्दों के अर्थ तो एक ही हैं यह पहले ही बता चुके हैं। यह भी दिखा चुके हैं प्रश्न के बाद दोनों शब्द यहाँ भी एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। लक्षण की भी बात नहीं है। क्योंकि यहाँ लक्षण न कह के त्याग के बारे में नाना मत ही बताये गये हैं। इसे लक्षण तो कहते नहीं। चार मतों के सिवाय कृष्ण ने जो अपना मत कहा है वह भी न तो नया है और न लक्षण ही है। किन्तु केवल कर्त्तव्यता की बात ही उसमें है। असल में ज्ञान के अलावे गीता की तो दोई खास बातें हैं। उनमें एक को कर्मों का संन्यास या स्वरूपतः त्याग कहते हैं तथा दूसरे को साधारणतः केवल 'त्याग' कहते हैं। मगर हैं ये दोनों कठिन तथा विवादग्रस्त। इसीलिए पहले बार-बार इनका जिक्र आया है। संन्यास का तो आया ही है। त्याग का भी 'संगं त्यक्त्वा धनंजय' (2।48), 'त्यक्त्व कर्मफलासंगं' (4।20) 'संग त्यक्वात्मशुद्धये' (5।11), 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा' (5।12) तथा अन्त में 'सर्वकर्मफलत्यागं' (12।11) आदि में जिक्र आया है। इसलिए अन्त में अर्जुन यही जानना चाहता है कि जब ये दोनों इतने विलक्षण हैं, गहन हैं, और 'कवयोऽप्यत्रमोहिताः' (4।16) में यह भी कहा गया है कि बड़े से बड़े चोटी के विद्वान् भी इनके बारे में घपले में पड़ जाते हैं, तो इन दोनों की अलग-अलग हकीकत, असलियत या तत्त्व

क्या है। उसके कहने का यही मतलब है कि इनके बारे में जो भी विभिन्न विचार हों उन्हें जरा सफाई और विस्तार के साथ कह दीजिए, ताकि सभी बातें जान लूँ। इसीलिए त्याग के ही बारे में पहले पाँच तरह के विचार कृष्ण ने दिखाये हैं—चार दूसरों के और एक अपना। संन्यास के बारे में तो ऐसे अनेक विचार हैं नहीं। इसीलिए अर्जुन के शब्दों में पहले आने पर भी कृष्ण के शब्दों में वह पीछे आया है। उसके बारे में केवल यही बात विस्तार से कहने की थी कि उसका मौका कब और कैसे आता है। यही उनने बताई भी है। वह अन्तिम चीज भी तो है। इसलिए अन्त में ही उसे कहना उचित भी था। कुछ लोग नादानी से कर्मों को हर हालत में छोड़ देना ही संन्यास समझते हैं। उससे निराली ही चीज संन्यास है, यह भी बात संन्यास का तत्त्व बताने से मालूम हो गयी है। नहीं तो मालूम हो न पाती। इसीलिए जो लोग संन्यास के सम्बन्ध की जिज्ञासा का उत्तर पहले ही मान लेते हैं वह मेरे जानते भूलते हैं। क्योंकि उनके मन से तो पीछे संन्यास का जिक्र निरर्थक हो जाता है।

इसी अभिप्राय से ही—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।1।।

अर्जुन ने कहा (कि) हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे केशिनाशक, संन्यास और त्याग दोनों ही की अलग-अलग हकीकत जानना चाहता हूँ।1।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।2।।
त्याज्यं दोषवदित्ये के कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।3।।

श्री भगवान् ने कहा (कि) (कुछ) विद्वान् सकाम कर्मों के त्याग को ही त्याग मानते हैं, (दूसरे) विवेकी जन सभी कर्मों के फलों के त्याग को ही त्याग कहते हैं, कोई-कोई मनीषी—मननशील पुरुष—कहते हैं कि कर्ममात्र का ही त्याग करना चाहिए जैसे बुराई का त्याग किया जाता है। और चौथे दलवाले कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप जैसे कर्मों को छोड़ना चाहिए ही नहीं।2।3।

यहाँ चार स्वतन्त्र मत बताए गए हैं और चारों का ताल्लुक त्याग से ही है। अपना पाँचवाँ मत कृष्ण आगे बताते हैं। इनमें तीसरा ही मत ऐसा है जो कर्मों का त्याग हर हालत में हमेशा मानता है और कहता है कि जैसे दोष का त्याग हमेशा हर हालत में करते हैं वैसे ही कर्म का भी होना चाहिए। यहाँ 'दोषवत्' का अर्थ

है दोष की तरह ही। दोषवत् का अर्थ दोषवाला भी होता है। इस तरह यह अर्थ होगा कि कर्म तो दोषवाला हुई। इसी से उसे छोड़ ही देना ठीक है। मगर कर्म का यह स्वरूपतः त्याग संन्यास नहीं है यही गीता का मत है। यह मानती है कि ऐसा न करके केवल समाधि के पहले ही उसे त्यागने को संन्यास कहते हैं। यही बात 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' में आगे लिखी गयी है। पूर्ण ज्ञान के परिपाक के हो जाने पर मस्ती की दशा में भी कर्मों का त्याग स्वरूपतः हो जाता है ऐसा गीता का मान्य है, जैसा कि 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' (3।17) में स्पष्ट है। मगर हर हालत में कर्मों का त्याग न तो उसे मान्य है और न सम्भव, जैसा कि 'नहि कश्चित्' (3।5) से स्पष्ट है।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः।।4।।

हे भरत श्रेष्ठ, हे पुरुषसिंह, उस त्याग के बारे में मेरा निश्चय भी सुन लो। क्योंकि त्याग तीन तरह के होते हैं।4।

इस श्लोक के उत्तरार्द्ध का यह भी आशय हो सकता है कि "क्योंकि त्याग के बारे में तीन बातें कही जा सकने के कारण वही तीन ढंग से जानने योग्य है।" इनमें पहली बात वह है जो पाँचवें श्लोक के पूर्वार्द्ध में आयी है कि यज्ञ, दान, तप को न छोड़ के करना ही चाहिए। दूसरी उत्तरार्द्ध में पहले कथन के हेतु के रूप में ही आयी है कि ये यज्ञादि मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं। इसीलिए इन्हें करना ही चाहिए। तीसरी बात छठे श्लोक में है कि आसक्ति और फल दोनों को ही छोड़ के इन्हें करना चाहिए। इस प्रकार तीन बातें हो गईं। सारांश रूप में पहली यह कि यज्ञ, दान, तप को कभी न छोड़ें। दूसरी यह कि उन्हें जरूर करें; क्योंकि यह पवित्र करने वाले हैं। तीसरी यह कि इनके करने में भी कर्म की आसक्ति और फल की इच्छा को छोड़ ही देना होगा। यही तीन तरह की बातें त्याग को लेकर हो गयीं।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव च।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।5।।
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।6।।

यज्ञ, दान, तप इन कर्मों को (कभी) नहीं छोड़ना, (किन्तु) अवश्य ही करना चाहिए। (क्योंकि) यज्ञ, दान, तप ये मनीषियों को भी पवित्र करते हैं। (फिर औरों का क्या कहना?) (लेकिन) इन कर्मों को भी, इनमें आसक्ति और फलेच्छा को छोड़ के ही, करना चाहिए, यही मेरा निश्चित उत्तम मत है। 5।6।

चौथे श्लोक में जो सीधा-साधा अर्थ करके त्याग के तीन प्रकार कहे हैं वह ये हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।7।।
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।8।।
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।9।।

जो कर्म जिसके लिए तय कर दिया गया है उसका त्याग तो उचित नहीं (और अगर) मोह से उसका त्याग (कर दिया गया) तो वह तामस (त्याग) कहा जाता है। शरीर के कष्ट के भय से दुःखदायी समझ के ही कर्म का त्याग जो करता है वह (इस तरह) राजस त्याग करके त्याग का फल हर्गिज नहीं पाता। हे अर्जुन, कर्त्तव्य समझ के ही आसक्ति एवं फल के त्यागपूर्वक जो निश्चित कर्म किया जाता है वही सात्त्विक त्याग माना जाता है।7।8।9।

आगे के तीन श्लोक इस सात्त्विक त्याग की रीति और आकार बताने के साथ ही उसके कारण और परिणाम भी कहते हैं। ये तीनों बातें क्रमशः तीन श्लोकों में पायी जाती हैं।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।10।।
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।11।।
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।12।।

संशयरहित विवेकी सात्त्विक त्यागी न तो बुरे कर्म से द्वेष करता है। (और) न अच्छे में आसक्त हो जाता है। जब कि देहधारी के लिए सभी कर्मों का त्याग करना सम्भव ही नहीं है, तो जो केवल कर्म के फल का त्याग करता है। वही (सात्त्विक) त्यागी कहा जाता है। बुरा, भला और मिश्रित यह तीन तरह का कर्म फल मरने के वाद सात्त्विक त्याग न करने वालों को ही मिलता है; न कि त्यागियों को भी कहीं (मिलता है)।10।11।12।

पतंजलि ने योगदर्शन में लिखा है कि साधारण मनुष्यों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं, जिन्हें शुक्ल, कृष्ण और शुक्ल-कृष्ण या मिश्रित कहते हैं। इन्हीं को भले, बुरे और मिले हुए भी कहते हैं। इनके फल भी क्रमशः भले, बुरे और मिश्रित ही होते हैं। इन्हीं को इष्ट, अनिष्ट और मिश्र इस आखिरी श्लोक में कहा है। इसके विपरीत योगियों का कर्म चौथे प्रकार का होता है, जिसे अशुक्ल-कृष्ण कहते हैं। इसका अर्थ है—न भला, न बुरा। 'कर्माशुक्ल कृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' (4।7) योगसूत्र और उसके भाष्य को ध्यानपूर्वक पढ़ने से इसका पूरा ब्योरा मालूम होगा।

बारहवें श्लोक के सात्त्विक त्यागी को उसी योगी के स्थान में माना गया है। बेशक, राजस और तामस त्यागी साधारण लोगों में ही आते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब कर्मों का कर्त्ता आत्मा ही है, तो आसक्ति या फलों के त्याग मात्र से ही कर्मों के फलों से उसका पिण्ड कैसे छूट जायगा? अगर कोई चोरी करे तो क्या आसक्ति और फलेच्छा के ही छोड़ देने से उसे चोरी का दण्ड भोगना न होगा? इसका उत्तर आगे के पाँच श्लोक देते हैं। उनका आशय यही है कि आत्मा कर्मों की करने वाली हई नहीं। करने-कराने वाले तो और ही हैं और हैं भी वे पूरे पाँच। ऐसी दशा में जो आत्मा को कर्त्ता मानता है वह नादान है, मूर्ख है। चोरी की बात और है। वहाँ जिस शरीर से वह काम करते हैं वही जेल-यन्त्रणा भी भोगता है।

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।। 13।।
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्।। 14।।
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः।। 15।।
तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।। 16।।
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। 17।।

हे महाबाहो, सभी कर्मों के पूरे होने के लिए सांख्य सिद्धान्त में बताये इन (आगे लिखे) पाँच कारणों को मुझसे जान लो। (वे हैं) आश्रय या शरीर, आत्मा की संसर्गवाली बुद्धि, जुदी-जुदी इन्द्रियाँ, प्राणों की अनेक क्रियाएँ और पाँचवाँ प्रारब्ध कर्म। शरीर, वचन या मन से मनुष्य जो भी कर्म—कायिक, वाचिक, मानसिक—शुरू करता है चाहे वह उचित हो या अनुचित, उसके यही पाँच कारण होते हैं। ऐसी दशा में अपरिपक्व समझ होने के कारण निर्लेप आत्मा को जो कोई कर्त्ता मानता है वह दुर्बुद्धि कुछ जानता ही नहीं। (इसलिए) जिसके भीतर 'हम करते हैं' ऐसा खयाल नहीं और जिसकी बुद्धि (कर्म या फल में) लिप्त नहीं होती, वह इन सभी लोगों को मार के भी न तो मारता है और न (कर्म में फलस्वरूप) बन्धन में फँसता है। 13। 14। 15। 16। 17।

कर्त्ता का अर्थ है कर्तृत्व का अभिमान जिसमें वस्तुगत्या रहे। दरअसल बुद्धि को ही कर्त्ता कहते हैं। मगर बिना आत्मा के संसर्ग के वह खुद जड़ होने के कारण कुछ कर नहीं सकती। इसीलिए आत्मा के संसर्ग या प्रतिबिम्ब से युक्त बुद्धि को ही कर्त्ता कहते हैं। इसी प्रकार दैव का अर्थ प्रारब्ध पहले ही कह चुके हैं। यह भी

बता चुके हैं कि इसे दिव्य या दैव क्यों कहते हैं और यह क्यों कारण माना जाता है। यह भी जान लेना चाहिए कि कारण दो प्रकार के होते हैं—साधारण और असाधारण। साधारण उसे कहते हैं जो सबों को या अनेक कार्यों को पैदा करे। प्रारब्ध ऐसा ही है। वह समस्त संसार का कारण है। किन्तु शरीर, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा प्राण की क्रियाएँ या पाँच प्राण अलग-अलग कार्यों के कारण हैं। इसीलिए ये असाधारण या विशेष कारण कहे जाते हैं। अपने-अपने शरीर आदि से ही अपने-अपने कर्म होते हैं। प्राणों के निकल जाने पर या इन्द्रियों के खत्म हो जाने पर भी क्रिया नहीं होती। बुद्धि की भी जरूरत हर काम में होती ही है। बिना जाने कुछ कर नहीं सकते।

आखिरी श्लोक में जो कुछ कहा गया है उसका आशय यही है कि जैसे दूसरे की चोरी का माल अपने घर में रखने वाला नाहक अपराधी बनता है और परेशानी में पड़ता है, ठीक वही हालत आत्मा की है। कर्मों के करने वाले तो ठहरे शरीर आदि। मगर उनकी क्रिया को धोखे में, भूल से अपने भीतर मानने के कारण ही इस निर्लेप और निर्विकार आत्मा को फँसना पड़ता है। पुत्र के साथ ज्यादा ममता होने से कभी-कभी ऐसा होता है कि पुत्र की मौत का निश्चय होते ही पिता उससे भी पहले एकाएक चल बसता है। शरीर दुबला और मोटा होने से आत्मा को खयाल होता है कि हमीं दुबले या मोटे हैं। यही है गैर के साथ एकता या तादात्म्य-तदात्मा का अभिमान। इसे तादात्म्याध्यास भी कहते हैं। आत्मा का शरीर, इन्द्रियादि के साथ तादात्म्याध्यास हो गया है। फलतः उनके कामों एवं गुणों को अपना मानने का स्वभाव इसका हो गया है। इसे ही मिटाने का अर्थ है अहंकार का त्याग, 'हमीं करते हैं' इस भावना और खयाल का त्याग।

लेकिन इसके होने पर भी कर्म में आसक्ति होने पर, आग्रह हो जाने पर और फल की भावना होने पर भी फँस जाता है। यह है दूसरा खतरा और भारी खतरा। इस पर पूरा प्रकाश पहले डाला जा चुका है। आत्मा का साक्षात्कार होने के बाद अहंकार वाला भाव मिट जाने पर भी यह खतरा बना रहता है। इसीलिए बुद्धि के लिप्त न होने की बात कह के इसी खतरे से बचने की हिकमत सुझाई गयी है। फिर तो पौ बरह समझिए। इस तरह एक प्रकार से आत्मा को कर्म से निर्लिप्त और अलग बता के काम निकाल लिया है।

अब आगे दूसरे ढंग से भी आत्मा का कर्मों से असंसर्ग सिद्ध करते हैं। ऐसा भी होता है कि स्वयं कर्म न भी करें तो भी दूसरों से करवा सकते हैं। इसे ही प्रेरणा कहते हैं। इसी को शास्त्रों में चोदना कहा है। ऐसों को करने वाले तो नहीं, लेकिन कराने वाले मान के ही अपराधी बताते हैं और दण्ड देते हैं। हिंसा, चोरी आदि में ऐसा होता है कि ललकारने या राय देने वाले भी फँसते हैं और दण्ड भोगते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमने न तो चोरी की, न उसमें राय-सलाह ही दी

और न ललकारा ही। यह भी नहीं जानते कि कहीं चोरी हुई या नहीं। मगर यदि किसी से शत्रुता हुई तो चुपके से चोरी का माल हमारे यहाँ रख के फँसा देता है। अकसर गैरकानूनी रिवॉल्वर वगैरह चुपके से किसी के घर में रख के फँसा देते हैं। यदि कर्म का प्रेरक ही आत्मा हो जाय, या वस्तुतः कर्म उसी में रहते हों, हर हालत में उसे उनके फलों में खामख्वाह फँसना होगा। इसीलिए आगे के पूरे ग्यारह श्लोकों में यह बताया है कि कर्म के प्रेरक भी दूसरे ही हैं और कर्म रहता भी अन्य ही जगह है। यहाँ कर्मचोदना का अर्थ है कर्म के प्रेरक और कर्मसंग्रह का अर्थ है जिनमें कर्म देखा जा सके—जिनके देखने से ही कर्म का पता लग सके।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।।18।।

ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता यही तीन कर्मों के प्रेरक हैं। (और) करण (इन्द्रियादि साधन) कर्म, (जो बने, जहाँ कुछ हो), कर्त्ता इन्हीं तीन में कर्म का संग्रह होता है। 18।

इस श्लोक में ज्ञाता और कर्त्ता का एक ही अर्थ है। इन दोनों में केवल उपाधि या काम करने के तरीके का फर्क है। जब किसी बात की जानकारी होती है तब वह ज्ञाता या जानकार कहा जाता है। जब जानकारी के बाद काम करने लगता है तो वही कर्त्ता कहा जाता है। अकेली बुद्धि एक चीज है और उसे बुद्धि ही कहते हैं भी। उसका विवेचन आगे आयेगा। मगर जब वही आत्मा के संसर्ग के फलस्वरूप उसके आभास, उसके प्रकाश से युक्त हो जाती है, जैसी कि आईने की चमक पड़ने पर दीवार उतनी दूर तक चमक उठती तथा ज्यादा प्रकाशवाली बन जाती है जितनी दूर तक आईने की रोशनी का असर उस पर होता है, तो वही बुद्धि ज्ञाता और कर्त्ता दोनों ही कही जाती है। इसीलिए ज्ञाता और कर्त्ता को एक ही कहा है। अतएव आगे सात्त्विक आदि रूपों का विचार करने के समय कर्त्ता का ही विचार करके सन्तोष करेंगे। क्योंकि कर्म की दृष्टि से ज्ञाता तथा कर्त्ता दोनों का एक ही असर कर्म पर माना जाता है। चाहे ज्ञाता सात्त्विक हो या कर्त्ता—और जब एक होगा तो दूसरा भी होईगा, क्योंकि हैं तो दोनों एक ही—कर्म सात्त्विक ही होगा और उसकी सात्त्विकता में कमी-बेशी न होगी, चाहे दोनों का नाम लें, या एक का। यहाँ कर्म का विचार और ही दृष्टि से हो रहा है। इसीलिए दोनों का कहना जरूरी हो गया। जो जानता है वही करता भी है। जब तक हम यह न जान लें कि हल कैसे चलाया जाता है तब तक उसे चलायेंगे कैसे? जब तक जान जायें नहीं कि कपड़ा कैसे बनता है, उसे बनायेंगे तब तक क्योंकर?

इसी तरह ज्ञेय और कर्म की भी बात है। पूर्वार्द्ध के तीन में जो ज्ञेय और उत्तरार्द्ध के तीन में जो कर्म आया है ये दोनों भी एक ही हैं। ज्ञेय का अर्थ ही है जिसका ज्ञान हो, जिसके बारे में ज्ञान हो। कर्म का अर्थ है जो किया या बनाया जाय, जिस पर या जहाँ हाथ-पाँव चलें। पूर्व के ही दृष्टान्त में हल या कपड़े को

लीजिए। पहले उनकी जानकारी होती है, ज्ञान होता है। पीछे उन्हीं पर हाथ-पाँव आदि चलते हैं। फर्क इतना ही है कि हल पहले से ही मौजूद है और उसी पर क्रिया होती है। मगर कपड़ा मौजूद नहीं है। किन्तु सूत वगैरह पर ही क्रिया शुरू करके उसे तैयार करते हैं। वह क्रिया के ही सिलसिले में तैयार होता है। इसीलिए क्रिया का विषय, उसका आधार वह भी बन जाता है। मगर कपड़ा बुनना शुरू करने के पहले उसकी जानकारी जरूरी है। इसलिए इस श्लोक में जो दो त्रिपुटियाँ या त्रिक—तीन-तीन (trinity) हैं उन दोनों के ज्ञेय और कर्म एक ही हैं। यह कर्म वही है जिसे पाणिनीय सूत्र ने 'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा. 1।4।49) के रूप में बताया है। इन दोनों के सात्त्विक या राजस, तामस होने, न होने पर कर्म या क्रिया में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसीलिए इन दोनों का आगे विचार नहीं किया गया है। हाँ, आगे जिस कर्म को तीन प्रकार का बताया है वह इस श्लोक के अन्त के 'कर्म-संग्रहः' वाला कर्म ही है, जिसका विचार पहले से ही हो रहा है और जिसे काम, क्रिया (action) कहते हैं। वह जरूर सात्त्विक, राजस, तामस होता है। इन तीनों गुणों का उस पर असर जरूर होता है। इसीलिए उसका विचार आगे भी जरूरी हो गया है।

अब इन दोनों त्रिपुटियों में केवल ज्ञान और करण बच रहे। इनमें ज्ञान का आगे और भी विचार किया गया है। ज्ञान कहिए, जानकारी कहिए, इहसास (Knowledge) कहिए सब एक ही चीज है। इसके बिना कुछ होई नहीं सकता है। इस पर सत्त्वादि गुणों का असर भी होता है। साथ ही ज्ञान जैसा सात्त्विक, राजस या तामस होगा कर्म भी वैसा ही होगा। वह कर्म दरअसल किसमें है, किसमें नहीं इस निश्चय पर भी उसका असर खामख्वाह होगा। इसीलिए ज्ञान की तीन किस्मों का विवेचन इस कर्म-विवेचन के ही सिलसिले में आगे जरूरी हो गया है।

इस तरह करण कहते हैं कर्म या क्रिया के साधन को। जैसे कुल्हाड़ी से लकड़ी चीरते हैं और बसूले से भी। इसीलिए लकड़ी चीरने की क्रिया में, कर्म में कुल्हाड़ी और बसूला करण हो गये। इन्द्रियों की ही मदद से हम कोई भी क्रिया कर सकते हैं। इसीलिए हाथ-पाँव आदि कर्म-इन्द्रियाँ भी कर्म में करण बन गईं। मगर इस करण के सात्त्विक, राजस, तामस होने पर भी कर्म के बारे में, कि वह दरअसल किसमें है, किसमें नहीं, कोई असर नहीं होगा। इसलिए आगे इस करण का और भी विचार जरूरी नहीं माना गया है।

बुद्धि और धृति या धैर्य का भी असर कर्म पर पड़ता है। ये जिस तरह की हों कर्म भी वैसे ही सात्त्विकादि बन जाते हैं। कम से कम उनके ऐसा होने में इन दोनों का असर पड़ता ही है। इन्द्रियों की सी बात इनकी नहीं है कि इन्द्रियाँ चाहे कैसी भी हों और उनके करते काम पूरा या अधूरा भले ही रहे, फिर भी सात्त्विक राजस या तामस नहीं हो सकता है। ये दोनों तो कर्म पर उसके सात्त्विकादि बनने में ही बहुत बड़ा असर डालती है। पीछे इस निश्चय में भी कि वह वाकई आत्मा

में है या नहीं, इनका काफी असर पड़ता है। बुद्धि का तो यह सब काम हई, यह सभी जानते हैं। धृति का भी यही काम है। जिसमें धैर्य या हिम्मत न हो वही दब्बू और डरपोक होने के कारण दबाव पड़ने पर अण्ट-सण्ट कर डालता है। कमजोर ही तो दबाव पड़ने पर झूठा बयान देता है। हिम्मतवाला तो कभी ऐसा करता नहीं। इसलिए इस प्रसंग में इन दोनों का विचार भी उचित ही है।

अब रह गया अकेला सुख, जिसका त्रिविध विवेचन आगे आया है। वह उचित ही है। सुख के ही लिए तो सब कुछ करते हैं। स्वर्ग, धन, पुत्रादि के ही लिए सारी क्रियाएँ की जाती हैं। लोगों की जो धारणा है कि स्वयं ही—हमीं—भला-बुरा कर्म करते हैं वह है भी तो इसीलिए न, कि दूसरे के करने से दूसरे को सुख होगा कैसे? यदि इस सुख की फिक्र-चिन्ता छूट जाये तो मनुष्य की सारी विपदा और परेशानी ही कट जाये। तब तो वह रास्ता पकड़ के पार ही हो जाये। बुरे कर्म तथा दुःख तो सुख की फिक्र के ही करते आ जाते हैं। सुख की लालसा के मारे हम इतने परेशान और बेहाल रहते हैं कि बुरे-भले की तमीज उस हाय-हाय में रही नहीं जाती। फलतः बुरे से भी बुरे सुख के ही लिए कर बैठते हैं।

सुख के विवेचन में भी जो सबसे पहले सात्त्विक सुख ही बताया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि असली सुख केवल बुद्धि की सात्त्विकता और निर्मलता से ही मिलता है, न कि कर्मों से । कर्मों से मानना भारी भूल है। वह सुख तो भीतर ही है, आत्मा में ही है, मौजूद ही है। केवल निर्मल बुद्धि चाहिए जो उसे देख सके, जान सके। उसे कहीं बाहर से लाना थोड़े ही है। इस तरह कर्मों को आत्मा में मानने की जरूरत रही नहीं जाती है। जिस तरह इन्हीं कर्मों के सिलसिले में पहले त्रिविध त्यागों का वर्णन आया है वैसे ही यह भी वर्णन है, न कि नये सिरे त्रिगुणात्मक सृष्टि का कोई खास वर्णन है। पहले ही कही गयी बातों का कर्म के सम्बन्ध में यहाँ केवल उपयोग कर लिया गया है। इसीलिए ये 'न तदस्ति पृथिव्यां वा' (18।40) में एक ही बार कह दिया है कि सभी भौतिक पदार्थ तो त्रिगुणात्मक ही हैं। इसीलिए यह कोई नयी बात नहीं है।

इस तरह कई प्रकार से कर्मों का असम्बन्ध आत्मा के साथ सिद्ध कर चुकने पर आगे के श्लोक प्रकारान्तर से यही बात बताते हैं। इनका आशय केवल इतना ही है कि यदि ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, बुद्धि और धृति सात्त्विक हों और सात्त्विक सुख की असलियत भी हम जान जायें, तो फिर वह नौबत आये ही नहीं जिससे इन कर्मों को जबर्दस्ती आत्मा पर थोपें। आत्मा में इनके दरअसल न रहने और उससे हजार कोस दूर रहने पर भी जो इनकी कल्पना और थोपा-थोपी आत्मा में हो जाती है उसकी असली वजह यही है कि हमारे ज्ञान, कर्म आदि सात्त्विक न हो के राजस या तामस ही होते हैं। यदि यह बात न रहे, यदि सबके सब ठीक हो जायें, सात्त्विक ही हो जायें और हम सात्त्विक सुख को बखूबी समझ के उसी की प्राप्ति में लग

जायें, तो सारी आफतें मिट जायें। यह सही है कि सबों के ठीक होने पर भी यदि हमारी लगन सात्त्विक सुख में न रहे, तो सब किया-कराया चौपट ही समझिए। इसीलिए वह सबसे जरूरी है। अन्त में वह आया भी है इसलिए। आगे के 22 श्लोकों का सारांश यही है।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।। 19।।

(तीनों) गुणों के भिन्न-भिन्न होने से ज्ञान, कर्म और कर्त्ता भी सांख्यशास्त्र में तीन प्रकार के कहे गए हैं। उन्हें भी ठीक-ठीक सुन लो। 19।

सर्वभूतेषु ऐनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।। 20।।
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।। 21।।
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।। 22।।

जिस ज्ञान के फलस्वरूप सभी जुदे-जुदे पदार्थों में सर्वत्र एकरस, व्याप्त और अविनाशी वस्तु ही देखते हैं वही ज्ञान सात्त्विक समझो। सभी पदार्थों में भिन्न-भिन्न अनेक वस्तुओं की जो जुदी-जुदी जानकारी है वही ज्ञान राजस जानो। जो ज्ञान कुछ भौतिक पदार्थों तक ही सीमित, उन्हीं को सब कुछ मानने वाला, बेबुनियाद मिथ्या और तुच्छ है वही तामस कहा जाता है। 20। 21। 22।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।। 23।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।। 24।।
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।। 25।।

फलेच्छा न रखने वाले के द्वारा जो कर्म निश्चित रूप से आसक्ति से शून्य हो के बिना रागद्वेष के ही किया जाय वही सात्त्विक कहा जाता है। जो कर्म फलेच्छापूर्वक अहंकार या आग्रह के साथ किया जाए और जिसमें बहुत परेशानी हो वही राजस कहा जाता है। जो कर्म परिणाम, बीच के नफा-नुकसान, हिंसा और अपनी शक्ति का खयाल न करके भूल से ही किया जाय वही तामस कहा जाता है। 23। 24। 25।

यहाँ साहंकारेण शब्द का अर्थ है कर्म में हठ या आसक्ति। क्योंकि फल की इच्छा और कर्म की आसक्ति ये दो चीजें हैं जिन्हें पहले बखूबी समझाया जा चुका है। पहले श्लोक में दोनों का त्याग कहा गया है इसीलिए इसमें दोनों का आना जरूरी है। मगर 'कामेप्सुना' शब्द तो फलेच्छा को ही कहता है। इसीलिए 'साहंकारेण' का

ऐसा अर्थ हमने किया है। ठीक भी है यही। जब जिद्द होती है तभी तो 'मैं जरूर ही कर डालूँगा' यह खयाल होता है। इसी प्रकार क्षय शब्द का भी अर्थ हमने चलती भाषा में 'नफा-नुकसान' किया है, जिसे घाटा या टोटा भी कहते हैं। मगर यह अन्तिम घाटा नहीं है। क्योंकि उसके लिए तो अनुबन्ध शब्द आया ही है। इसीलिए दरम्यानी टोटा ही अर्थ ठीक है।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते।। 26।।
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वित कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः।। 27।।
अयुक्तः प्राकृत स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते।। 28।।

जो आसक्ति से शून्य हो, जो बहुत बहके न, जो धैर्य और उत्साहवाला हो (तथा) कर्म के पूर्ण होने, न होने में जो बेफिक्र हो वही कर्त्ता सात्त्विक कहा जाता है। रागयुक्त, फलेच्छुक, लोभी, हिंसा में लगा हुआ, नापाक और (कर्म के पूरे होने, न होने में) हर्ष और शोकाकुल कर्त्ता राजस है। बुद्धि को ठिकाने न रखने वाला, गँवार, अकड़ा हुआ, ठग, दूसरे की हानि करने वाला, आलसी, रोने-धोने वाला और असावधान कर्त्ता तामस कहा जाता है। 26। 27। 28।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय।। 29।।

हे धनंजय, गुणों के भेद से बुद्धि और धृति के भी जो तीन प्रकार हैं उन्हें भी पूरा-पूरा अलग-अलग कहे देता हूँ, सुन लो। 29।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विको।। 30।।
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।। 31।।
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।। 32।।

हे पार्थ, जो बुद्धि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हो सकने, न हो सकने वाली चीज, डर-निडरता, बन्धन और मोक्ष (इन सबों) को (बखूबी) जानती है वही सात्त्विक है। जिसे बुद्धि से धर्म-अधर्म तथा कार्य-अकार्य को ठीक-ठीक न जान सकें वही राजस है। हे पार्थ, तम से घिरी जो बुद्धि अधर्म को धर्म और सभी बातों को उलटे ही जाने वही तामसी है। 30। 31। 32।

यहाँ पहले श्लोक में जो प्रवृत्ति और निवृत्ति है उसी के अर्थ में शेष दो श्लोकों में धर्म-अधर्म शब्द आये हैं। इसीलिए हमने प्रवृत्ति-निवृत्ति का अर्थ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य

किया है। धर्म-अधर्म का भी वही अर्थ है। कार्य-अकार्य के मानी यह हैं कि पहले से ही अच्छी तरह देख लेना कि यह काम हमसे हो सकता है, साध्य है या नहीं। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निश्चय के बाद भी साध्य-असाध्य का निश्चय जरूरी हो जाता है। क्योंकि जो कर्त्तव्य हो वह जरूर ही साध्य हो यह बात नहीं है। इसीलिए असाध्य काम में भी कर्त्तव्यता के निश्चय के बाद बिना सोचे-बूझे पड़ जाना ठीक नहीं है, नादानी है। बन्ध और मोक्ष तो प्रवृत्ति-निवृत्ति की कसौटी के रूप में ही लिखे गये हैं। जिसका चरम परिणाम बन्धन और जन्म-मरण हो वही अकर्त्तव्य और जिसका मोक्ष हो वही कर्त्तव्य माना जाना चाहिए। अतएव 31वें श्लोक में न लिखे जाने पर भी इसे समझ लेना ही होगा। यही वजह है कि 32वें में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को कह के एक ही साथ बाकियों के बारे में कह दिया है कि जो सभी बातें उलटे ही समझे। सभी बातों में बन्ध-मोक्ष, कार्य-अकार्य भी आ गये।

इन तीनों श्लोकों का सारांश यही है कि सात्त्विक बुद्धि सभी बातें ठीक-ठीक समझती है। वह मनुष्य का ठीक पथदर्शन करती है। मगर राजस बुद्धि में किसी भी बात का ठीक-ठीक निश्चय हो पाता नहीं। न तो यथार्थ निश्चय और न उलटा। हर बात में पसोपेश, दुविधा और घपला पाया जाता है, जिससे कर्त्ता किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। ऐन मौके पर उसका उचित पथप्रदर्शन नहीं हो पाता। दोनों के विपरीत तामस बुद्धि हर बात में उलटा ही निश्चय करती-कराती है और गलत रास्ते पर ही बराबर ले जाती है। इसमें न तो दुविधा होती है और न कभी यथार्थ निश्चय हो पाता है।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।। 33।।
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।। 34।।
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।। 35।।

हे पार्थ, योग से जिसका सम्बन्ध कभी टूटने वाला न हो ऐसी जिस धृति—विशेष प्रकार के यत्न—के बल से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को काबू में रखते हैं वही सात्त्विकी धृति है। हे अर्जुन, हे पार्थ, जिस धृति के बल से कर्म में आसक्त (एवं) फलेच्छुक (पुरुष) (केवल) धर्म, काम और अर्थ की ही बातें करता है वही राजसी है। जिस धृति के बल से आलस्य, डर, शोक, घबराहट, मद (इन सबों) को भ्रष्ट बुद्धिवाला (मनुष्य) छोड़ नहीं सकता वही तामसी मानी जाती है। 33। 34। 35।

कहीं-कहीं 'पार्थ तामसी' की जगह 'तामसी मता' पाठ है। शंकर ने यही पाठ माना है। हमने सम्मिलित अर्थ कर दिया है। क्योंकि 'मता' शब्द न देने पर भी उसका अर्थ तो यहाँ हई। उसके बिना तो काम चलता नहीं। यहाँ पहले श्लोक में

जो योग है उसका अर्थ कर्मों में आसक्ति एवं फलेच्छा का न होना यह पहले ही कह चुके हैं। इसका मूलाधार आत्मदर्शन बता चुके हैं। सात्त्विक धृति का आधार यही बातें हैं। इन्हीं के बल से मन, प्राण और इन्द्रियों को डँटा देते और जरा भी डिगने नहीं देते, चाहे हजार बलायें आयें। ऐसी ही धृतिवाले मोक्ष तक को ध्यान में रखके ही कोई काम हिम्मत के साथ करते हैं। मगर राजसी धृति वाले मोक्ष को छोड़ के भटक जाते हैं। वे कर्मों में आसक्त एवं फलेच्छा के गुलाम बन जाते हैं। जहाँ सात्त्विक धृतिवाले धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों की परवाह रख के ही कुछ भी करते हैं, तहाँ राजस धृतिवाले मोक्ष को भूल जाते और पूरे चतुर सांसारिक बन के धर्म, अर्थ, काम तीन की ही परवाह रखते हैं। यही बात दूसरे श्लोक में कही गयी है। काम का अर्थ है वही आसक्ति और इच्छा। छोटी सी बातों से लेकर स्वर्ग तक की कामना को ही काम कहते हैं। अर्थ कहते हैं धन को, सम्पत्ति को। सम्पत्ति के भीतर सभी पदार्थ आ गये। उनके धर्म, अर्थ और काम का परस्पर सम्बन्ध है– तीनों एक-दूसरे से मिले रहते हैं। फलतः यदि एक भी हट जाये तो तीनों गड़बड़ी में पड़ जायें। यह भी खास बात है कि उनके धर्म और अर्थ को एक साथ जोड़ने की बात यह काम ही करता है। किन्तु सात्त्विक धृत्ति में यह बात नहीं है। उसमें तो काम आसक्ति के रूप में प्रबल न हो के मामूली इच्छा के ही रूप में नजर आता है। जिससे हरेक क्रिया में प्रगति मिलती है।

अब रही तामसी धृति की बात। ऐसी धृति को धृति कहना उसका निरादर ही माना जाना चाहिए। फिर भी हरेक पदार्थ त्रिगुणात्मक ही हैं। इसलिए लाचारी है। असल में तामसी धृतिवालों के मन, प्राण और इन्द्रियों पर अपना काबू नहीं रहने से उनकी क्रियाएँ मनमानी चलती-बिगड़ती रहती हैं। ऐसे लोगों में हिम्मत तो होती ही नहीं। इसीलिए डर, अफसोस, मनहूसी में पड़े रहते हैं। एक तरह का नशा भी उन पर हर घड़ी चढ़ा रहता है। आलस्य का तो पूछिए मत। इसीलिए नींद का अर्थ हमने आलस्य किया है। स्वप्न का अर्थ गाढ़ी नींद तो सम्भव नहीं। जग के उठ बैठने को उनका जी नहीं चाहता। इसीलिए ऐसे लोग कुछ भी कर पाते नहीं।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।। 36।।

हे भरतश्रेष्ठ, अब तीन प्रकार के सुखों को भी मुझसे सुन लो, (उन्हीं सुखों को), जिनके बार-बार के मिलने से उनमें मन रम जाता है और दुःख भूल जाते हैं। 36।

जिस ढंग से इस श्लोक में शब्द दिये गये हैं उनसे भी यही स्पष्ट हो जाता है कि सभी कामों का आखिरी ध्येय यह सुख ही है। इसीलिए कहते हैं कि अब आखिर में उसे भी जरा सुन लो। नहीं तो बात अधूरी ही रह जायगी। इसके बाद उत्तरार्द्ध में उसी सुख का सर्वसामान्य या साधारण रूप कह दिया है। इसमें दो बातें

कही गयी हैं। एक यह कि सुख वही है कि जिसके अभ्यास या देर तक के या बार-बार के अनुभव से ही उसमें मन रमता है। वह बिजली की चमक, नीलकण्ठ का दर्शन या तीर्थ के जल का स्पर्श नहीं है कि जरा से अनुभव या संसर्ग से ही काम चल जाता है। ऐसा होने से तो सुख के बजाय दुःख ही होता है। जबान पर हलवा रख के फौरन उठा लें तो सुख तो कुछ होगा नहीं, झल्लाहट और तकलीफ भले ही होगी। ऐसा भी होता है कि बहुत सी चीजों के प्रथम संसर्ग से कुछ मजा या सुख नहीं मिलता। किन्तु निरन्तर के अनुभव और संसर्ग से ही, प्रयोग और इस्तेमाल से ही उनमें मजा आने लगता है। जो लोग असभ्य हैं, जंगली हैं उन्हें सभ्यता की चीजों का चस्का लगाना होता है। पहले तो वे उलटे झल्लाते हैं। मगर धीरे-धीरे उनकी आवृत्ति और अभ्यास होते-होते मन उनमें रम जाता है। क्योंकि मन के बिना रमे तो मजा आता ही नहीं। यही वजह है कि सुख निरन्तर बना रहे, वह कम से कम बार-बार मिलता रहे, सो भी अल्प से अल्प विलम्ब के बाद ही, इसी खयाल से लोग उसी की हाय-धुन में लगे रहते और बुरा-भला सब कुछ कर डालते हैं। कर्म को आत्मा में घुसेड़ने का यह एक बहुत बड़ा कारण है।

दूसरी बात है दुःख के खात्मे को पा जाना, जिसे हमने दुःख का भूल जाना लिखा है। सुख की इच्छा अधिकांश में कष्टों से ऊब के ही तो होती है। लोग आराम चाहते ही हैं इसीलिए कि वेदना और पीड़ा से पिण्ड छूटे। इसीलिए तकलीफ कम होते ही कहने लगते हैं कि आराम हो रहा है। बीमार लोगों के बारे में प्रायः ऐसा कहा जाता है। इसीलिए हितोपदेश में इसी रोग की कमी के दृष्टान्त को ही ले के यहाँ तक कह दिया है कि दुनिया में सुख तो हई नहीं, केवल दुःख ही है। इसी से बीमार की तकलीफ कम होने पर उसे ही सुख कह देते हैं, "दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलक्ष्यते। दुःखार्त्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते"। मगर हमें इतने गहरे पानी में यहाँ उतरना है नहीं और न इसकी जरूरत ही है। गीता का यह सिद्धान्त है भी नहीं। वह तो स्वतन्त्र आत्मानन्द को मानती है। यह यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि सुख मिलते ही या तो दुःख खत्म हो जाता है, वह रही नहीं जाता, या कम से कम वह भूल तो जरूर जाता है, जब तक सुख का अनुभव रहे। इसलिए भी सुखकर अभ्यास चाहते हैं। क्योंकि जब तक ऐसा रहेगा दुःख भूला रहेगा। दुःख के भूल जाने में दोनों बातें आ जाती हैं, दुःख का खत्म हो जाना भी और खत्म न होने पर भी उसका अनुभव तत्काल न होना भी। इसीलिए हमने यही अर्थ किया है। यह दुःख के भूलने की भी चाट ऐसी है कि हमें सभी तरह के कर्मों को करने को विवश करती है। साथ ही, आतुरतावश आत्मा को ही हम कर्मों का करने वाला तथा आधार मान लेते हैं। अतएव सुख के बारे में कही गयी ये दोनों बातें बड़े काम की होने के साथ ही प्रसंग के अनुकूल भी हैं।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।। 37।।
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।। 38।।
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।। 39।।

जो सुख अपने आरम्भ के समय विष की तरह कड़वा और अन्त में अमृत की तरह लगे, अपनी ही बुद्धि को निर्मलता मात्र से ही पैदा होनेवाला वही सुख सात्त्विक कहा गया है। विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से होनेवाला जो सुख शुरू में अमृत जैसा, (लेकिन) अन्त में विष की तरह काम करे, वही राजस माना गया है। ज्यादा नींद, आलस्य और असावधानी में मालूम होने वाला जो मजा शुरू से लेकर अन्त तक आत्मा को मोह में डालने—भटकाने—वाला ही होता है वही तामस कहा जाता है। 37। 38। 39।

यहाँ पहले श्लोक में आत्मानन्द का ही वर्णन है। इसीलिए उसके वास्ते किसी और बात की जरूरत नहीं बताई गयी है। केवल अपनी बुद्धि को ही निर्मल और स्वच्छ करने की आवश्यकता कही गयी है। वह तो मौजूद ही है, पास ही है। सिर्फ बुद्धि को एकाग्र और समाधिस्थ करने की जरूरत है। बुद्धि का अर्थ मन, चित्त या अन्तःकरण है। ऐसा होते ही वह आनन्द आप ही आप मिलने लगता है। कहा भी है कि "दिल के आईने में है तस्वीरे यार। जब जरा गर्दन झुकाई देख ली"। गर्दन झुकाने का मतलब मन की एकग्रता से ही है। 'आत्मबुद्धि प्रसादजम्' में जो आत्म शब्द है वह इन्हीं बातों का सूचक है। यह मन की एकाग्रता और समाधि बहुत ही कष्टसाध्य है। इसीलिए उस सुख को शुरू में जहर जैसा कहा है। वह जहर जैसा है के मानी हैं कि उसके लिए जो कुछ करना होता है वह बहुत ही कठिन है।

विषय सुख को राजस कहा है। वह पहले तो बहुत ही अच्छा लगता है और मन को रमाता है। मगर परिणाम उसका बुरा होता है। क्योंकि बाल-बच्चों और सांसारिक पदार्थों में ही जिसे चस्का हो गया वह परलोक और कल्याण की बात कुछ भी करी नहीं सकता। उससे समाजहित का भी कोई काम नहीं हो सकता है। मनोरथों की न कभी पूर्त्ति होती है और न इनसे और इनके करते होने वाले झंझटों से छुटकारा ही मिलता है। फिर और बात हो तो कैसे? इसीलिए सौभरि ऋषि के बारे में कहा जाता है कि उनने समाधि को त्यागकर पूरे पचास विवाह किये! फिर महल बना के सांसारिक सुख का भोग शुरू किया! बच्चे, पोते, परपाते आदि हो गये, भारी परिवार बढ़ गया और 'गीता फैल गयी'! अन्त में ऊब के उनने सबको लात मारी और कहा कि लाखों वर्षों में भी मनोरथों की पूर्त्ति हो नहीं सकती, आदि-आदि—"मनोरथानां न समाप्तिरस्ति वर्षायुतेनापि तथाब्दलक्षैः। पूर्णेषु पूर्वेषु पुनर्नवानामुत्पत्तयः संति मनोरथानाम्।

पद्भ्यां गता यौवनिनश्च याता दारैश्च संयोगमिताः प्रसूताः। दृष्ट्वा सुतं तत्तनयप्रसूतिं द्रुष्टुं पुनर्वाञ्छति मेऽन्तरात्मा। आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाऽद्य। मनोरथासक्तिपरस्य चित्ते न जायते वै परमात्मसंगः"। यही आशय इस श्लोक का है; न कि वेश्यागामियों या दूसरे कुकर्मियों से यहाँ मतलब है। उनका वर्णन तो तामस सुख में ही आया है। क्योंकि उस सुख का काम ही है आत्मा को भटकाना। प्रमाद से ही वह पैदा भी होता है। कुकर्म तो प्रमाद और भटकना ही है न? दिन-रात पड़े-पड़े ऊँघते रहें और आलस में दिन गुजारें यही तो तामसी वृत्ति है। ऐसे लोगों को इसी में मजा भी मिलता है। यहाँ निद्रा का अर्थ है ज्यादा निद्रा। क्योंकि साधारण नींद में तो सभी को मजा मिलता है। गाढ़ी नींद के बाद हरेक आदमी कहता भी है कि खूब आरम से सोये, ऐसा सोये कि कुछ मालूम ही न पड़ा—'सुखमहमस्वाप्सन्न किंचिदवेदिषम्'।

इस प्रकार त्रिगुण रूप में सुख आदि का वर्णन कर दिया। इसका प्रयोजन हम पहले ही कह चुके हैं। शायद कोई कहे कि केवल सात्त्विक कर्म, ज्ञान, कर्त्ता आदि के ही वर्णन से काम चल सकता था और लोग सहज हो के आत्मा को कर्म से अलग मान सकते थे। फिर राजस, तामसों के वर्णन की क्या जरूरत थी? बात तो सही है। मगर जब सात्त्विक का नाम लेंगे तो खामख्वाह फौरन आकांक्षा होगी कि राजस, तामस क्या हैं। जरा उन्हें भी तो जानें। और अगर यह इच्छा पूरी न हो तो निरूपण बेकार जायगा। बातें भी अच्छी तरह समझ में आ न सकेंगी। मन दुविधे में जो पड़ गया और समझना ठहरा उसे ही। एक बात और भी है। यदि राजस, तामस का पूरा ब्योरा और वर्णन न हो तो लोक चूक सकते हैं। वे दरअसल राजस या तामस को ही भूल से सात्त्विक मान बैठ सकते हैं। इसीलिए साफ-साफ तीनों को एक ही साथ रख दिया है; ताकि आईने की तरह देख लें और धोखे से बचें।

इस प्रकार सब कुछ कह चुकने के बाद इसका उपसंहार करते हुए, जैसा कि कहा है, अगला श्लोक बताये देता है कि यह तो आश्चर्य की कोई बात है नहीं। जमीन-आसमान कहीं भी जो चीज होगी उसमें तीनों गुण होंगे ही। इसीलिए केवल सजग होने की जरूरत है। नहीं तो इनके सिवाय औरों से भी धोखा हो सकता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।। 40।।

भूमण्डल में या आकाश और स्वर्ग के निवासी देवताओं तक में भी ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो। 40।

पृथिवी के किसी पदार्थ का नाम न लेकर स्वर्ग के देवताओं का नाम लेने का प्रयोजन इतना ही है कि पार्थिव पदार्थों को तो सभी लोग त्रिगुणात्मक मानते-जानते हैं। अन्य स्वर्गीय पदार्थों को भी ऐसा शायद समझ सकते हैं। स्वर्ग में देवताओं के

अलावे और भी पदार्थ यक्षादि होते ही हैं। साथ ही, दिव तो आकाश को भी कहते हैं और उसमें प्रेतादि भी रहते ही हैं। वे भी त्रिगुणात्मक हो सकते हैं। किन्तु देवताओं को दिव्य या अलौकिक खयाल करके कोई शायद त्रिगुण न माने, इसीलिए उनको खास तौर से कह दिया। वजह भी दे दिया कि सभी तो प्रकृति से ही बने हैं। इसीलिए किसी पर भी भरोसा न करके अपनी बुद्धि की निर्मलता का ही सहारा लेना होगा।

इसी तरह सत्त्व का अर्थ पदार्थ है, न कि सत्त्व गुणमात्र। यह ठीक है कि सत्त्वगुण कहीं भी विशुद्ध नहीं है। उसमें भी रज और तम का मेल कभी कम, कभी ज्यादा रहता ही है। इसी से सत्त्व का अर्थ पदार्थ हो भी गया। क्योंकि किसी में कम और किसी में अधिक सत्त्व तो रहता यही है। आशय यही है कि खबरदार, विशुद्ध सत्त्व कहीं नहीं है। इसलिए सतर्क रहना ही होगा। नहीं तो बुद्धि की पूरी सफाई के बाद भी उस पर रज, तम का धावा हो सकता है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि इसका उपाय क्या है कि सात्त्विक कर्म, ज्ञान, बुद्धि, सुख आदि ही रहें और राजस, तामस, रहने न पायें—लोग इन दोनों के फेर में न पड़ के सात्त्विक के ही पीछे लगे रहें? बिना उपाय जाने काम चलेगा भी कैसे? साथ ही, जो उपाय हो भी वह किस तरह काम में लाया जाय, जिसमें कभी गड़बड़ी की गुंजाइश न रहे, यह भी प्रश्न होना स्वाभाविक है। इसीलिए आगे के श्लोकों में इन्हीं दोनों का उत्तर देते हुए समूचा अध्याय पूरा करके गीता का भी उपसंहार कर दिया गया है। इसमें भी पहले के चार (41-44) श्लोकों में उपायों को बता के शेष श्लोकों में उन्हीं का प्रयोग बताया गया है। यह ठीक ही है कि दवा का प्रयोग निरन्तर तो होता है नहीं। बीच-बीच में विराम तो करते ही हैं। कभी-कभी तो लम्बी मुद्दत तक दवा छोड़ के देखते हैं कि मर्ज गया या नहीं। उस समय दवा का छोड़ देना ही दवा का काम करता है। नहीं तो आवश्यकता से अधिक दवा का प्रयोग कर देने का खतरा आ सकता है। ठीक यही बात कर्मों की है। वर्णों के कर्म तो उपाय के रूप में ही कहे गये हैं। मगर उन्हें छोड़ देने की भी जरूरत दवा की ही तरह हो जाती है। नहीं तो इनका जरूरत से ज्यादा प्रयोग हो जाने से ही हानि हो सकती और काम बिगड़ सकता है। इस प्रकार कर्मों के स्वरूपतः त्याग की भी बात इसी सिलसिले में आ जाती है, आ गयी है और वह उचित ही है। जलचिकित्साशास्त्र का तो यह एक नियम ही है कि बीच-बीच में जरूर हो जलचिकित्सा बन्द कर दी जानी चाहिए। नहीं तो वह मनुष्य का एक तरह का स्वभाव बन जाती है। फिर तो उसका कुछ भी असर नहीं होता है।

हाँ, तो आगे के चार श्लोकों में जो वर्णों के धर्म कहे गये हैं वह त्रिगुणों से बने विभिन्न स्वभावों के अनुसार ही माने गये हैं। बार-बार उन श्लोकों में यह बात कही गयी है। यहाँ तक कि हरेक वर्ण के बारे में अलग-अलग उसका जिक्र किया है। पहले श्लोक में चारों के बारे में एक साथ भी कह दिया है कि ये कर्म

स्वाभाविक होते हैं, प्रकृति के अनुसार ही होते हैं। हमने इस बात पर बहुत ज्यादा प्रकाश पहले ही डाल दिया है। इस प्रसंग में इनके कहे जाने का आशय यही है कि यदि गुण-तारतम्य के अनुसार बनी हुई मानव प्रकृति की जाँच करके उसी के अनुसार उसके कर्म निर्धारित किये जायें, तो राजस-तामस का झमेला खड़ा होगा ही नहीं। क्योंकि सात्त्विक प्रकृतिवाले तो उनसे यों ही बच जायेंगे। उन्हें दूसरे कर्म मिलेंगे ही नहीं। इसीलिए राजस-तामस सुखों का भी मौका ही उन्हें न लगेगा। उनकी बुद्धि और धृति भी वैसी ही होगी। यदि कुछ कसर भी रहेगी तो ये कर्म ही उसे ठीक कर देंगे।

रह गये राजस तथा तामस प्रकृति वाले। जब इन्हें भी प्रकृति के अनुसार ही कर्म करने की विवशता होगी तो वे उसमें विशेषज्ञ और पारंगत हो जायँगे। नतीजा यह होगा कि उनकी हकीकत और असलियत समझने लगेंगे। फिर तो धीरे-धीरे अपने भीतर ऐसी भावना और ऐसे संस्कार पैदा करेंगे कि स्वयमेव उनकी प्रकृति बदलेगी। फलतः इस जन्म में नहीं, तो आगे सात्त्विक मार्ग पर आयी जायँगे। विशेषज्ञता का तो मतलब ही है उसका रस-रेशा पहचान लेना। उसका सिर्फ यही मतलब नहीं होता कि उस पर अमल अच्छी तरह किया जाय। किन्तु उसकी कमजोरियाँ, बुराइयाँ और हानियाँ भी मालूम हो जाया करती हैं, आँखों के सामने नाचने लगती हैं और यही चीज आगे का रास्ता साफ करती है। वर्णाश्रमों के धर्मों की इस तरह सख्ती के साथ पाबन्दी की जो बात पहले जमाने में थी उसका यही मतलब था। हम यह पहले ही अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं। आज जो श्रम-विभाजन (division of labour) का सिद्धान्त बहुत व्यापक रूप में काम में लाया जाकर पराकाष्ठा को पहुँचा दिया गया है, वह कोई नयी बात नहीं है। वर्णाश्रम धर्मों के विभाग के मूल में यही सिद्धान्त काम करता है। इससे ही समाज की प्रगति पहले के ऋषि-मुनि मानते थे। आश्चर्य है कि आधुनिक विज्ञान भी यही बात रूपान्तर में मानता है। डॉ. ऐडम स्मिथ ने अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जो एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक राजनीतिक अर्थशास्त्र के बारे में लिखी है और जिसका नाम है 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' (The wealth of Nations by Dr. Adam Smith), उसके शुरू में, पहले ही परिच्छेद में, वह यही बात यों लिखते हैं—

"In the progress of society philosophy or speculation becomes, like every other employment, the principal or sole trade and occupation of a particular class of citizens. Like every other employment, too it is sub-divided in to a great number of different branches each of which affords occupation to a peculiar tribe of class of philosophers; and this subdivision or employment in philosophy as well as in every other business, improves dexterity, and saves time. Each individual becomes more expert

in his own peculiar branch, more work is done upon the whole, and the quantity of science is considrably increased by it."

इसका आशय यह है, "समाज की प्रगति के सिलसिले में हरेक दूसरे कामों की ही तरह दर्शन या मनन-चिन्तन भी नागरिकों के एक खास वर्ग का मुख्य या सोलहों आना काम और पेशा बन जाता है। फिर दूसरे कामों की ही तरह यह भी अनेक विलक्षण विभागों में बँट जाता है और हरेक विभाग एक विलक्षण वर्ग या जाति के दार्शनिकों और दिमागदारों के लिए काम दे देता है। दर्शन और चिन्तन का यह विभाग हरेक दूसरे पेशों के विभाग की ही तरह कुशलता एवं विशेषज्ञता की प्रगति करता है और समय भी बचाता है। इस तरह हरेक व्यक्ति अपने खास विभाग या उसकी शाखा में अधिक कुशल हो जाता है, सब मिला के इस तरह काम भी ज्यादा होता है और विज्ञान के प्रसार में प्रगति ज्यादा हो जाती है।"

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। 41।।

हे परन्तप, स्वभाव को बनाने वाले तीनों गुणों के (तारतम्य के) फलस्वरूप ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के कर्म बिलकुल ही बँटे हुए हैं। 41।

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। 42।।

शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, नम्रता या सिधाई, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता, (ये) ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं। 42।

आस्तिकता का अर्थ श्रद्धा है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। 43।।

शूरता, दब्बूपन का न होना, धैर्य (युद्ध शासनादि में) कुशलता, युद्ध से न भागना, दान और शासन की योग्यता, (ये) क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं। 43।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।। 44।।

खेती, पशुपालन (और) व्यापार (ये) वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं। शूद्रों का भी स्वाभाविक कर्म सेवा-रूप ही है। 44।

यहाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों के स्वतन्त्र रूप में विस्तृत कर्मों का जुदा-जुदा वर्णन और शूद्रों तथा वैश्यों के कर्मों का एक ही श्लोक में संक्षेप में ही वर्णन यह सूचित करता है कि उस समय वैश्य और शूद्र का दर्जा प्रायः समकक्ष, परतन्त्र और छोटा माने जाने लगा था। मगर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय प्रायः समकक्ष होने के साथ ही ऊँचे एवं स्वतन्त्र माने जाते थे। शूद्र के काम का तो खास नाम भी नहीं दिया है किन्तु 'सेवा-रूप' कह दिया है। इससे खयाल होता है कि जरूरत होने पर उससे हर तरह

का काम करवा के उस काम को सेवा का रूप दे दिया जाता था। इससे यह भी स्पष्ट है कि समाज के लिए वह फिर भी बहुत ही उपयोगी और जरूरी था। आखिर सेवा के बिना समाज टिकेगा भी कैसे? हमने इस पर पूरा प्रकाश पहले ही डाला है। इस श्लोक में 'शूद्रस्यापि' में शूद्र के साथ 'भी' के अर्थ में 'अपि' आया है। उससे यह भी साफ झलकता है कि उस समय सेवा धर्म शेष तीन वर्णों का भी था और आज उसे जितना बुरा मानते हैं, पहले यह बात न थी। इसी के साथ यह भी सिद्ध हो जाता है कि शूद्रों का कोई अपना खास पेशा या काम न था। जरूरत होने पर वह तीनों वर्णों का काम करते रहते थे। हमने इस पहलू पर भी पहले ही ज्यादा प्रकाश डाला है। शेष तीन के साथ 'अपि' न दे के केवल शूद्र के साथ ही देने का दूसरा आशय हो नहीं सकता। ऐसी दशा में शूद्रों को छोटे या नीच मानने का एक ही कारण हो सकता है और वह यह कि उनकी स्वतन्त्र हस्ती न थी, जैसी कि शेष तीन की थी। क्योंकि उनका कोई निजी पेशा न था। और जान पड़ता है, उस समय निजी पेशे का होना जरूरी एवं प्रतिष्ठा का चिह्न माना जाता था। इसीलिए शूद्र छोटे समझे गये। वैश्यों के भी छोटे माने जाने की प्रवृत्ति शायद इसीलिए हुई कि खेती, व्यापार या पशुपालन की उस समय कोई खास जरूरत न थी। या तो इनके द्वारा होने वाला समाज का काम आसानी से चला जा रहा था और खेती, पशुओं या व्यापार की प्रचुरता थी; या यह कि अभी उस ओर समाज का विशेष ध्यान न गया था। फलतः ये बीज रूप में ही थे। भरसक यह दूसरी ही बात थी। मगर इस पर अधिक विचार यहाँ हो नहीं सकता।

फिर भी इतना तो जान ही लेना होगा कि जब तीन ही गुणों के अनुसार वर्णों के कर्म बँटे हैं और यह बँटवारा स्वाभाविक है, न कि जबर्दस्ती बना या बनावटी, तब तो दरअसल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन्हीं तीन वर्णों की संभावना रहती है, न कि चौथे की। यों तो हमने भी पहले इसी तरह के प्रसंग में चारों वर्णों का बँटवारा कर दिया है। मगर वह बात हमारी अपनी न हो के परम्परासिद्ध ही है। वहाँ हमने अपनी ओर से इस तीन या चार के बारे में कुछ न कह के उसी का उल्लेख कर दिया है। अपनी बात तो हमने अलग ही कही है। शूद्र नाम का कोई स्वतन्त्र वर्ण न था, हमने यही लिखा है। लेकिन जब यहाँ इन श्लोकों के शब्दों और प्रसंगों को देखते हैं तो हमें साफ कहना ही पड़ता है कि शब्दों के अर्थ से भी तीन ही वर्ण सिद्ध होते हैं। अगर सत्त्व, रज, तम की मिलावट में कमी-बेशी करके चौथे का भी रास्ता निकाल लें, जैसा कि किया जाता है और हमने भी लिखा है, तो इस तरह चार से ज्यादा जानें कितनी ही वर्ण बन सकते हैं। क्योंकि मिलावट में जो कमी-बेशी होगी वह तो हजारों तरह की हो सकती है न? आधा, चौथाई, दशमांश, शतांश, सहस्रांश आदि के हिसाब से वह सम्मेलन, वह मिश्रण हजारों तरह का हो जायगा। इसलिए हमारे जानते यह बात दार्शनिक युक्ति से शून्य है।

देखिए न, 41वें श्लोक में ही तो 'प्रविभक्तानि' लिखा है, जिसका अर्थ है कि सबों के कर्म बिलकुल ही जुदे-जुदे हैं। मगर जब सेवा सबों का धर्म बन गयी और शूद्र के लिए दूसरा कुछ बताया ही नहीं, तो उसके कर्म को प्रविभक्त कहना कैसे उचित होगा? और अगर यह बात न हो तो उसे स्वतन्त्र वर्ण कैसे माना जाय?

इसी 41वें श्लोक में ही एक मजेदार बात और है। आगे तो ब्राह्मण और क्षत्रिय को अलग-अलग श्लोकों में कह के शूद्र और वैश्य को एक ही में कह दिया और जैसे-तैसे काम चला लिया है। पहले भी 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः' (9।32) में इसी तरह की बात आयी है। हमने वहीं इसका इशारा भी कर दिया है। मगर 41वें श्लोक में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों का एक ही समस्त पद बना के 'ब्राह्मण क्षत्रियविशां' कह दिया है। केवल शूद्र को अलग 'शूद्राणा' कहा है। समास करने पर श्लोक में अक्षर न बढ़ जाय और छन्द में गड़बड़ न हो जाय इसके लिए वैश्य की जगह उसी अर्थ में विश्शब्द रखना पड़ा है। फिर भी चाहते तो 'विप्राणांक्षत्रियाणां च विट्शूद्राणां च भारत' ऐसा श्लोक बना दे सकते थे। किन्तु ऐसा न करके तीनों को एक जगह जोड़ने में यही आशय प्रतीत होता है कि दरअसल विभक्त कर्म तीन के ही हैं और स्वतन्त्र वर्ण भी यही हैं। हाँ, शूद्र भी माना जाता है। मगर उसके कर्म ऐसे नहीं हैं।

और जब सब चीजें तीन ही तीन गिनाई गयी भी हैं तो वर्णों को एकाएक चार कह देना भी प्रसंग से अलग सा हो जाता है। वैश्य के व्यापार को सत्यानृत या झूठ-सच की चीज कहते भी हैं और खेती भी हिंसामय ही है, और ये दोनों तामसी ही हैं। इसलिए उसे तामस, क्षत्रिय को राजस और ब्राह्मण को सात्त्विक मानना ही उचित है। यही बात खूब जँचती भी है। क्षत्रिय तो राजा भी कहा जाता है और उसकी राजसी ही बात मानी भी जाती है। ज्ञान तो सात्त्विक हई। बस, अधिक आगे के लिए।

अब आगे 45वें श्लोक से जो बात शुरू होती है वह यही कि जो उपाय कर्म के रूप में बताया गया है वह इष्टसिद्धि के लिए काम में लाया कैसे जाए।

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।45।।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।46।।

अपने-अपने कर्मों में लगे रहने वाला मनुष्य ही मन की शुद्धि—बुद्धि की निर्मलता—प्राप्त कर लेता है। अपने कर्मों में ही लगा हुआ (वह यह) शुद्धि जैसे प्राप्त करता है वह भी सुन लो। जिस भगवान् से ही पदार्थों की सृष्टि हुई और जो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है, मनुष्य अपने कर्मों से ही—कर्मों के रूप में ही—उसी की पूजा करके (यह) सिद्धि—मनःशुद्धि—पा जाता है।45।46।

पहले जो 'यत्करोषि' (9।27) आदि के द्वारा अपने-अपने कर्मों के करने को ही भगवान् की पूजा कहा है। उसी से यहाँ मतलब है, न कि किसी और चन्दन, अक्षत, घण्टीवाली पूजा से। स्वकर्मणा शब्द से यह बात साफ है। ऐसा करने से कैसे मन की शुद्धि होगी अब यही बात कहना जरूरी था और 49वें श्लोक में यही कही भी गयी है। लेकिन शायद लोग अपने-अपने कर्मों से डिग जायें और पूजा का दूसरा ही आरती, घण्टीवाला रूप खड़ा कर दें; इसीलिए उधर से रोकने और स्वकर्म पर ही जोर देने की जरूरत आगे बढ़ने के पहले ही समझी गयी। दो श्लोक में यही बात कह भी दी गयी है। ठीक भी है न? पूजा तो और ही चीज मानी जाती है। यह निराली पूजा कैसी? लोगों को सहसा ताज्जुब हो सकता है। इसलिए उसकी सफाई कर देना जरूरी हो गया। ऐसा भी हो सकता है कि शासन और युद्धादि के कामों को निर्दयता और हिंसा की चीज समझ लोग उससे हिचकें। इस तरह सारे गुड़ के गोबर हो जाने की शंका बनी रहेगी ऐसे कामों को तो खामख्वाह कोई भी पूजा मानने को जल्दी तैयार होगा ही नहीं। इसलिए फौरन ही ये बातें साफ कर दी गयी हैं। निर्दयता और हिंसा की दलील का भी यही उत्तर दे दिया है कि सृष्टि के त्रिगुणात्मक होने के कारण सर्वत्र ही बुराइयाँ रहती ही हैं। भले-बुरे सभी मिले-जुले हैं। क्या साँस लेते और आरती-चन्दन में हिंसा नहीं है? फिर इस वाहियात बात में क्या पड़ना ?

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।47।।
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।48।।

दूसरे के धर्म या स्वाभाविक कर्म को अच्छी तरह या आसानी से कर लेने पर भी उसकी अपेक्षा अपना अधूरा या दीखने में बुरा भी धर्म कहीं अच्छा है। (क्योंकि) स्वभाव के ही अनुसार निश्चित कर्मों के करने में (दरअसल) कोई पाप या बुराई नहीं होती। (इसीलिए) हे कौन्तेय, (देखने में) दोषयुक्त भी स्वाभाविक कर्म कभी न छोड़े। क्योंकि जैसे आग धुएँ से घिरी होती ही है वैसे ही सभी काम दोष से घिरे ही (नजर आते) हैं। 47।48।

इन श्लोकों में एक तो 'विगुणः' 'स्वनुष्ठितात्' तथा 'सदोषम्' पदों के अर्थ जरा लम्बे-चौड़े हैं। दोष में सभी तरह की छोटी-बड़ी बुराइयाँ, हानियाँ और त्रुटियाँ आ जाती हैं, न कि सिर्फ हत्या वगैरह पापों से यहाँ मतलब है। दूसरी बात यह भी है कि ऊपर से देखने में ही ऐसा मालूम होने से यहाँ तात्पर्य है। क्योंकि वाकई तो बुराई किसी में भी नहीं है। सबके-सब तो पूजा ही हैं। और अगर बुराई है तो सबों में है। यह ठीक है कि किसी में साफ दीखती है और किसी में नहीं। बस, यही आशय है। इसी तरह विगुण का अर्थ है अधूरा किया हुआ और देखने में दोषयुक्त।

हमने ये दोनों ही अर्थ मिला के लिख दिये हैं। स्वनुष्ठितात् (सु+अनुष्ठितात) के भी दो मानी हैं, अच्छी तरह किया गया और आसानी से किया गया। सहज शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य के जन्म के साथ ही जो कर्म पैदा हुए वही स्वाभाविक कर्म हैं, जैसे बत्तख का तैरना, न कि पीछे से सिखाये या बलात् लादे गये। वर्णधर्म की यही बड़ी खूबी थी, न कि आज जैसी धक्कममुश्ती।

यों तो हमने कही दिया है कि वर्णव्यवस्था विशेषज्ञता सम्पादन के द्वारा आत्मा को कर्म से अलग करने या सात्त्विक कर्म में धीरे-धीरे लग जाने का रास्ता साफ करती है। मगर उतनी दूर न जा के भी यदि स्वाभाविक कर्मों को अनासक्ति के साथ करें तो भी काम बन जाय। यह अनासक्ति भी स्वाभाविक कर्मों में ही पूरी-पूरी हो सकती है, जैसे साँस लेने या मलादि के त्याग में। इनमें कौन सी आसक्ति किसी को होती है? बनावटी कर्मों में यह बात या तो असम्भव है या अत्यन्त दुःसाध्य। ऐसे कर्मवाले पथभ्रष्ट जो ठहरे। और पथप्रष्ट को रास्ते पर लाना तो कठिन हई। इस तरह अनासक्तिपूर्वक स्वधर्म करते हुए ही मन की पूर्ण शुद्धि हो जाती है। फिर तो फौरन समाधि की दशा आ जाने पर कर्मों का स्वरूपतः त्याग करके पूरी निष्कर्मता प्राप्त हो जाती है। क्योंकि आसक्ति के त्याग से एक तरह का कर्म त्याग तो पहले से ही रहता है। मगर स्वरूपतः कर्मों के करते रहने से वह पूर्ण या परम कर्म-त्याग नहीं होता; किन्तु अधूरा। वही परमत्याग हो गया, जब समाधि के लिए स्वरूपतः भी कर्म छोड़ दिये गये। यदि 'न कर्मणामनारम्भात्' (3।4) श्लोक की मिलान हम इस 49वें से करें तो पता लग जाये कि वही नैष्कर्म्य और सिद्धि शब्द यहाँ भी हैं। मगर जो कमी वहाँ बताई गयी है उसकी पूर्त्ति करके यहाँ परम नैष्कर्म्य का सच्चा रूप खड़ा कर दिया है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।49।।

सभी चीजों में जिसकी बुद्धि आसक्ति शून्य है, काबू में है और जो सभी इच्छा से रहित है, (वही मनुष्य कर्मों के स्वरूपतः) संन्यास के द्वारा परम नैष्कर्म्य की प्राप्ति कर लेता है। 49।

इसीलिए हमने पहले भी कह दिया है कि इसी श्लोक में संन्यास शब्द का अर्थ है स्वरूपतः कर्मों का त्याग। नैष्कर्म्य का परम विशेषण भी इसी से संगत हो सकता है। इसके बाद तो 'संन्यस्य' शब्द एक ही बार 57वें श्लोक में आया है। मगर वहाँ कर्मों का स्वरूपतः त्याग अर्थ है नहीं। वह शब्द क्रियावाचक है और अर्पण, रखने या समर्पण के ही मानी में आया है। हाँ, तो इस तरह पूर्ण कर्म-त्याग हो जाने पर किस तरह ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार होता है और उसमें कर्म की निर्लेपता प्रतीत होने लगती है, झलक जाती है, यही बात आगे के चार श्लोक (50-53) बताते हैं। इसी को समाधि कहते हैं, ध्यानयोग कहते हैं तथा ज्ञाननिष्ठा, समाधिनिष्ठा और

ध्याननिष्ठा भी कहते हैं। इसी के चलते पूर्ण ज्ञान और आत्मदर्शन की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए ज्ञाननिष्ठा इसे कहा गया है। बिना ऐसा किये ज्ञान परिपक्व नहीं होता और न सर्वत्र आत्मदृष्टि होती है। फिर कर्म छूटे कैसे और आत्मा निर्लेप दिखे कैसे?

इसके बाद 54वें श्लोक में उस ज्ञान या आत्मदर्शन का स्वरूप कहके 55वें में कारण बताया है कि क्यों उसे पूर्ण ज्ञान, ज्ञाननिष्ठा या आत्मदर्शन कहते हैं। उसका परिणाम भी कह दिया है कि आत्मा ब्रह्मरूप ही हो जाती है, उसी में मिल जाती है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।। 50।।
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।। 51।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।। 52।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।। 53।।

(इस प्रकार पूर्ण नैष्कर्म्य की) सिद्धि प्राप्त कर लेने पर (मनुष्य) जिस तरह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है और जिसे परले दर्जे की ज्ञाननिष्ठा कहते हैं वह मुझसे जान लो। निर्मल सात्त्विक बुद्धिवाला (मनुष्य) (सात्त्विक) धैर्य के बल से मन को रोक के, शब्द आदि (इन्द्रियों के) विषयों को छोड़ के और रागद्वेष को हटा के एकान्त देश का सेवन करते, हलका भोजन करते तथा जबान, मन और शरीर को काबू में रखे हुए निरन्तर ध्यानयोग में ही दत्तचित्त होता एवं वैराग्य को पक्का कर लेता है। (फलतः) अहंकार, बलप्रयोग, ऐंठ, काम, क्रोध और सभी लवाज़िम से नाता तोड़े हुए, ममतारहित (तथा पूर्ण) शान्तियुक्त हो के ब्रह्म का रूप हो जाता है। 50। 51। 52। 53।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।। 54।
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।। 55।

ब्रह्मस्वरूप निर्मल मनवाला (मनुष्य) न तो कोई चिन्ता रखता है, न इच्छा। वह सभी पदार्थों में समदृष्टि-रूप मेरी परमभक्ति पा जाता है। मुझ आत्मा-ब्रह्म का जो भी और जैसा भी स्वरूप है उसे इस समदर्शन रूप भक्ति के बल से अच्छी तरह जान जाता है (और) (इस तरह) मेरे तत्त्वज्ञान के बाद ही फौरन मुझमें प्रवेश कर जाता है। 54। 55।

यहाँ भक्ति को परा कहा है। इसका अर्थ है सबसे ऊँचे दर्जे की भक्ति, जिसे

'ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्' (7।18) में पूर्ण ज्ञान कहा है और जिसका स्वरूप 'वासुदेवः सर्वमिति' (7।19) बताया है। यदि परा भक्ति न हो तो वहाँ निचले दर्जे के तीन भक्त गिनाये हैं उन्हीं वाली भक्ति हो जायगी। यहाँ भी उसका रूप 'समः सर्वेषु भूतेषु' कह दिया है। इसीलिए उसका पूरा विवरण भी 'भक्त्या मामभिजानाति' में कर दिया है, जिसमें कोई शकशुभा रही न जाय। मुझमें प्रवेश करने का अर्थ कहीं जाना-आना नहीं। इसीलिए 'मयि विशते' न कह के 'मां विशते' कहा है। इसका ठीक-ठीक अर्थ 'समुद्रमापः प्रविशन्ति' (2।70) जैसा ही है। वहाँ भी वही द्वितीयान्त है जैसा यहाँ।

इस प्रकार जब आत्मदर्शी और ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है तो उसकी क्या दशा होती है यह प्रश्न स्वभावतः उठता है और उसका उत्तर जरूरी हो जाता है। उसकी दोई हालतें हो सकती हैं। वह वामदेव, शुकदेव आदि की तरह बिलकुल ही मस्तराम हो सकता है। फिर तो कोई सुधबुध उसे रही न जायगी। उसी की बात 'यस्त्वात्मरतिरेव' (3।16) में कही जा चुकी है। असल में ऐसे लोग एक तो कम होते ही हैं। क्योंकि जीते-जी मुर्दा बनना आसान नहीं। यह बड़ी ही दुर्लभ बात है। दूसरे व्यावहारिक दुनिया में आमतौर से न तो उन्हें लोग पहचानी सकते और न उनसे कोई फायदा ही उठा सकते । गीता को व्यावहारिक संसार की ही ज्यादा परवाह भी है। अर्जुन के लिए यही उपयुक्त भी था। प्रथमतः तो उसी को यह उपदेश दिया भी गया है। इसीलिए मस्तरामों की बात फिर कहने की कोई खास जरूरत रही नहीं गयी थी, हालाँकि अगले श्लोक में उनकी भी बात है, यह आगे स्पष्ट हो जायगा। उनके बारे में किसी को कोई शकशुभा भी तो नहीं हो सकता कि वह निर्वाण मोक्ष प्राप्त करेंगे या नहीं। मगर जिनकी दूसरी हालत होती है और जो लोकसंग्रह करते हैं उनका व्यवहार में पूरा उपयोग होने के साथ ही उनके बारे में यह खयाल हो सकना स्वाभाविक है कि जब वे जनसाधारण की ही तरह सब कुछ करते-धरते नजर आते हैं, तो उन्हें निर्वाण मुक्ति कैसे होगी? फलतः इन्हीं के बारे में अन्त में स्पष्टतया कह देना जरूरी हो गया कि चाहे वह कहीं किसी भी दशा में रहें और कुछ भी करते रहें, फिर भी परम धाम, शाश्वत पद या निर्वाण मुक्ति उनके लिए धरी-धराई ही है। यही बात आगे के पाँच श्लोकों में कही गयी है। अर्जुन को यह भी कह दिया गया है कि तुम्हारे जैसों के लिए तो यही रास्ता है। दूसरा हई नहीं। इसीलिए यदि तुमने नादानी की और दूसरा मार्ग लिया, तो चौपट हो जाओगे। यह भी बात है कि तुम ऐसा कर भी नहीं सकते। क्योंकि तुम्हारी तो क्षत्रियवाली प्रकृति है। इसलिए वह तुम्हें युद्ध से अलग जाने न देगी। प्रत्युत इसी में तुम्हें जरूर जोत देगी।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।56।।

सदा सभी तरह के कर्मों को करता हुआ भी मेरा स्वरूप बना हुआ (ऐसा

मनुष्य) मेरी कृपा से—आत्मसाक्षात्कार के फलस्वरूप—निर्विकार शाश्वत पद—मोक्ष—पा जाता है। 56।

इसीलिए अर्जुन को आगे स्पष्ट उपदेश दिया गया है कि तुम मोक्ष या परलोक की चिन्ता छोड़ के जैसा कहा जाता है करो और आत्मदर्शन, जिसे बुद्धियोग, ज्ञानयोग और सांख्ययोग भी कहते हैं, के बदले सभी कर्मों को भगवान् को सौंप के उनकी जवाबदेही से अलग हो जाओ। अब तक जो तुम समझते थे कि आत्मा में ही कर्म हैं उसे गलत समझ कर्म को भगवान् में फेंक के भस्म कर दो और आत्मा के सिवाय और कुछ देखो ही मत। इस तरह यहाँ कर्मों को आत्मा में न रहने देने या न मानने की बात का उपसंहार भी साफ-साफ हो जाता है। इस 57वें श्लोक का आशय पहले ही बताया जा चुका है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।। 57।।
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि।। 58।।
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।। 59।।
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।। 60।।

(इसी ज्ञानयोग की शरण जा के) मन और हृदय से सभी कर्मों को परमात्मा में समर्पित करो, उसी में चित्त लगाओ और उससे बढ़ के और कुछ न जानो। परमात्मा में चित्त लगाने से उसी की कृपा से—आत्मज्ञान के ही प्रताप से—सभी संकटों से पार हो जाओगे। लेकिन यदि घमण्ड में आ के (मेरी यह बात) न सुनोगे तो चौपट हो जाओगे। (इतना ही नहीं) अगर अहंकार में आ के तुमने नहीं ही लड़ने का निश्चय किया भी तो तुम्हारा यह उद्योग—यह निश्चय—झूठा होगा—व्यर्थ होगा (और) तुम्हारा स्वभाव तुम्हें (लड़ाई में) डाल के ही रहेगा। (क्योंकि) हे कौन्तेय, अपने स्वाभाविक कर्म के साथ जकड़े होने के कारण यदि यह काम—युद्ध—भूल से नहीं भी करना चाहो तो भी मजबूरन तुम्हें इसे करना ही होगा। 57। 58। 59। 60।

कर्मों का भगवान् में संन्यास या अर्पण क्या चीज है और इस तरह आत्मा से उनका कैसे सम्बन्ध छूट जाता है इस पर बहुत ज्यादा प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है।

वहाँ जो बार-बार 'मयि', 'मत' आदि शब्दों के द्वारा परमात्मा का उल्लेख किया गया है उससे शायद लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि ईश्वर या परमात्मा कोई दूसरा पदार्थ है जो कहीं अन्यत्र रहता है। उसी में मन लगाने और उसे ही कर्मों को अर्पण करने की बात कही गयी है। क्योंकि यदि वह आत्मा का स्वरूप ही हो

तो कर्मों को आत्मा में ही रखना हो जायेगा न? संन्यस्य शब्द जो पहले 57वें श्लोक में आया है उसका तो अर्थ ही है धरोहर या थाती रखना। ऐसी दशा में अब तक का यह कहना व्यर्थ हो जायगा कि आत्मा में कर्म रहता ही नहीं, उसका कर्म से ताल्लुक हई नहीं। इसीलिए ईश्वर को अलग ही मानना ठीक है।

मगर ऐसा समझने वालों के सामने भी तो यह दिक्कत रही जाती है कि आत्मा या जीव का कर्म, या यों कहिए कि मनुष्यों का कर्म वहाँ कैसे रखा जायगा? और जब पहले ही कह दिया है कि 'न च मां तानि कर्माणि' (9।9)—'इन कर्मों से मेरा कोई ताल्लुक हई नहीं', तो फिर कर्म उसमें रहने पायेंगे कैसे? यदि यह कहा जाय कि ईश्वर तो कर्मों के लिए अग्नि जैसा ही है, और भस्म हो जाने के लिए ही उसमें कर्म डाल दिये जाते हैं, तो यह बात तो 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (4।37) के द्वारा पहले ही कह दी गयी है कि आत्मज्ञान के द्वारा ही सभी कर्म दग्ध हो जाते हैं। इसलिए एक तो ईश्वर में डालने का भी अर्थ समदर्शन ही होगा। दूसरे ईश्वर आत्मा से जुदा फिर भी सिद्ध न होगा। फिर तो वह शंका बेबुनियाद ही सिद्ध होगी।

असल बात यह है कि आत्मज्ञानी कर्मों की परवाह करता ही नहीं कि वे क्या चीज हैं और कब कैसे हो रहे हैं। उनका परिणाम क्या होगा यह भी खयाल उसके दिल में भूलकर भी नहीं आता है। वह तो यही जानता है कि सृष्टि का अर्थ ही है, क्रिया, कर्म (action)। इसलिए जो कुछ होता है वह तो सृष्टि के इसी के नियम के अनुसार ही हो रहा है। इसमें मुझे क्या लेना-देना है? मैं क्यों नाहक इस बला में फँसने जाऊँ? जिसने यह सब कुछ बनाया है वह जाने, उसका काम जाने। इस प्रकार आत्मा को निर्लेप समझ के लोकसंग्रह के कर्मों को करते रहना ही उन कर्मों का भगवान् या ब्रह्मात्मा में संन्यास है, अर्पण है, डाल देना है।

इसलिए अगले श्लोक यही बात बताते हैं कि भगवान् कहीं बाहर नहीं है। न तो वह बैकुण्ठ या ब्रह्मलोक में है और न तीर्थों या मन्दिरों में। वह तो अपनी आत्मा ही है। फलतः हृदय में ही बसता है। हृदय में बसने का भी यह अर्थ नहीं है कि हृदय उसका घर है। उसका पहला आशय तो यही है कि वह आत्मा से अलग नहीं है। दूसरा आशय यह है कि वह तर्क-दलीलों और युक्तियों से न जाना जाकर हृदय-ग्राह्य ही है। 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्' (13।17) तथा 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' (15।15) में भी यही बात कही गयी है। केवल तर्क-दलीलों का आश्रय लेना नास्तिकता और निरीश्वरवाद में पहुँचा देता है और केवल हृदय अन्धपरम्परा का भक्त बना देता है। इसीलिए यहाँ हृदयग्राह्य करने का तात्पर्य यही है कि तर्क-युक्ति की सहायता से रास्ता साफ करने के बाद हृदय से ही आत्मा-परमात्मा का ग्रहण होता है। मनु ने भी कहा है कि 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' (मनु. 12।106)—'जो तर्क से विचार करता है वही धर्म जानता है, दूसरा नहीं।"

यहाँ उच्छृंखल तर्क रोक के हृदय का साथी तर्क ही माना गया है। मनु ने तो तर्क को 'वेदशास्त्र का अविरोधी' कहा है उसका यही तात्पर्य है। जिस हृदय ने ईश्वर को देख लिया उसमें अलौकिक शक्ति होती है, ऐसी कि दुनिया को हिला दे, डुला दे, चला दे। यह बात हम पहले बहुत विस्तार के साथ लिख चुके हैं। 61वें श्लोक का यही आशय है, न कि सचमुच हृदय में बैठ के ईश्वर मशीन की तरह चलाता है। इसलिए उसी हृदय को सम्पादित करना, हृदय को वैसा ही बनाना यही हमारा काम है।

इस श्लोक का यह भी आशय है कि हृदय में जिस परमात्मा का स्वरूप व्यक्त होता है वह मनुष्य को चलाता है उस हृदय के ही बल से। जहाँ हृदय जा लगा वहाँ पहुँचना टल नहीं सकता। हृदय में वह ताकत है जो और कहीं नहीं है। हिरण बाँसुरी का शब्द सुन के अपने आपको भूल जाता है। साँप भी सँपेरे की बीन की आवाज से मुग्ध हो जाता है। इसी से शिकारी और सँपेरा उन दोनों को आसानी से पकड़ लेते हैं। उनके हृदय के ही चलते यह बात हो जाती है। उसका स्वभाव ही है। और जब क्षत्रिय का हृदय स्वभावतः युद्ध में ही रहता है, वहीं फँसा होता है, तो फिर अर्जुन हजार कोशिश करे, मगर वह रुकेगा कैसे? वह तो युद्ध में जायगा ही, लड़ेगा ही। भगवान् ही हृदय में बैठ के ऐसा करता है इस कहने का आशय 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः' (9।10) में बताई चुके हैं। उनके बिना जब प्रकृति कुछ करी नहीं सकती, तो हृदय तो उसी का रूप है न? फिर वह बिना भगवान् के कैसे करेगा? इस प्रकार हृदय में भगवान् के रहने का बहुत विस्तृत आशय इस श्लोक में व्यक्त हो जाता है।

जो लोग 'अहं' 'मम' आदि शब्दों को आत्मा के अर्थ में न लगा के एक निराले ही ईश्वर में लगाते, उसे सर्वशक्तिमान मानते और जीव को उसका स्वरूप न मान के सेवक मानते हैं, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे वृहदारण्यक उपनिषद् के चौथे अध्याय का तीसरा ब्राह्मण पूरे का पूरा पढ़ जायें और देखें कि उसमें आत्मा का ही निवास हृदय में स्वयं-ज्योतिरूप में लिखा गया है या नहीं, सृष्टि का बनाने-बिगाड़ने वाला उसे कहा गया है या नहीं और उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु हई नहीं है, यह बार-बार दिखाया गया है या नहीं। वहीं यह भी लिखा गया है कि वह स्वयं-ज्योति है, उसका प्रकाशक कोई नहीं और जैसे ही सपने में वैसे ही जगने में सारी चीजें अपनी ही शक्ति से बनाता और देखता है, लीला करता है, सभी जगह विहरता-विचरता है, मौज करता है। यह भी वे लोग देखें। 'ध्यायतीव लेलायतीव' लिखा गया है जिसका अर्थ है, कि सभी लीलाएँ करता है।

जब उस ब्राह्मण के शुरू में ही जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा है कि इस आत्मा के मददगार प्रकाश कौन-कौन से हैं—'किंज्योतिरयं पुरुषः'? (3।1), तो याज्ञवल्क्य ने, जितने भी उजाला करने वाले या पथदर्शक सम्भव हैं उन्हीं सबों को पहले गिना

के कहा है कि एके बाद दीगरे इन्हीं से उसका पथदर्शन होता है। सबसे पहले सूर्य की ही प्रचण्ड ज्योति से उनने शुरू किया है। मगर रात में तो वह ज्योति मिलती नहीं, ऐसा कहने पर चन्द्रमा का नाम लिया है। लेकिन कृष्णपक्ष की अँधियारी और अमावस्या में? तब तो चन्द्र होता नहीं। अत अग्नि के प्रकाश, दीपक आदि से ही काम चलता बताया है। तो निरे अँधेरे में, जहाँ दीपक भी न हो, क्या काम बिलकुल ही बन्द हो जाता है ? अँधेरे में भी तो लोग दूर से बातें सुन के ही जान जाते हैं कि कौन सा आदमी है। जबान से रास्ते की बात सुनके वैसे ही चलते भी हैं। इसीलिए बात या शब्द को ही उस समय प्रकाशक और पथदर्शक मानना पड़ा है। मगर जब नींद के समय आत्मानन्द का अनुभव करता है और उठने पर याद करता है कि बड़े आनन्द से सोए थे, तब वहाँ कौन सा प्रकाश रहता है, जो आनन्द को दिखाता है? और अगर अनुभव न करता तो उठने पर फौरन ही उसे याद क्यों करता? जिसका अनुभव न हो उसका तो स्मरण होता नहीं। इसलिए शरीर के भीतर सुषुप्ति या गाढ़े नींद में आनन्द का अनुभव मानना ही पड़ता है। इसी प्रकार सपने में जानें क्या-क्या देखता-सुनता है। हजारों चीजें देखी जाती हैं, यह तो सभी मानते-जानते हैं। मगर वहाँ भी न तो शब्द ही हैं और न सूर्य आदि ही हैं। फिर वहाँ कौनसा प्रकाश है, सो भी भीतर शरीर में? इसी का उत्तर दिया है कि "आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति" (4।3।6)।

इसका आशय यही है कि "उस समय मनुष्य की आत्मा ही ज्योति का काम करती है और वह उसी के बल से बैठने, जाने, आने-लौटने और अन्य सभी कामों में लग जाता है" इस पर प्रश्न हुआ है कि वह आत्मा है कौन सा? 'कतमोऽयमात्मा?' (4।3।7)। क्योंकि शरीर के भीतर मन, बुद्धि, हड्डियाँ, मांस आदि हजार चीजें हैं न? इसी के उत्तर में कहना पड़ा है कि वह विज्ञानमय है, सभी इन्द्रियादि को चलाता है और हृदय के भीतर रहता है, 'विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तज्योतिः पुरुष' (4।3।7)। उसी के बारे में यह भी लिखा है कि जागरण और सपना इन्हीं दोनों हालतों में वह काम-धाम करता है, लीला करता है ऐसा जान पड़ता है। वह सर्वत्र एक ही है, एक सा ही है, 'स समानः सन्नुभौलोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव' (4।3।7)। उसके तीन लोक या क्रीड़ास्थल माने गये हैं। इनमें सुषुप्ति में तो संसार रहता नहीं। वहीं से कभी सपने में जाता और चीजें बना के मौज करता है, तो कभी जाग्रत दशा में आ के,—"तस्यवाएतस्यपुरुषस्यद्वे एवस्थानेभवतः इदं च परलोक स्थानं च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्न स्थानं तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यति" (4।3।8)। यहाँ सन्धि-स्थान को स्वप्न-स्थान कहा है। स्वप्न का अर्थ है गाढ़ नींद या सुषुप्ति। यहीं से दोनों में पहुँचता है। जाग्रत् को इहलोक और सपने को परलोक कहा है।

इसके बाद से लेकर 18वें ब्राह्मण के अन्त तक सपने की सृष्टि के बनाने

और बिगाड़ने की बात सविस्तार कही गयी और लीला बताई गयी है। आत्मा ही सब कुछ करती है यह भी बताया गया है। अनन्तर गाढ़ नींद या सुषुप्ति का प्रसंग ला के उसका चित्र खींचा गया है। वहाँ यह प्रश्न उठा है कि सुषुप्ति में कोई पदार्थ आत्मा को मालूम क्यों नहीं होता है? पदार्थ तो हजारों हैं। शरीर के भीतर ही जाने कितने हैं। फिर उनका अनुभव वहाँ आत्मा को होता क्यों नहीं? इसी का उत्तर बहुत ही विस्तार के साथ 31वें ब्राह्मण के अन्त तक दिया गया है और कहा गया है कि अगर सचमुच कोई दूसरा भी पदार्थ उसके अलावे हो तब न उसे देखे, सुने, सूँघे, छुए, खाये, पीये दरअसल तो आत्मा के सिवाय और कुछ हई नहीं—'न तु तद्द्वितीयमस्ति'। यही बात बीसियों बार कही गयी है। सचमुच ही आश्चर्य है कि यदि इन्द्रियों से देखे-सुने न भी तो मन से तो सोचे-विचारे। मगर वहाँ तो कुछ भी नहीं होता। मन को तो बाहर जाना भी नहीं कि इन्द्रियों की मदद चाहिए। वह भीतर ही सोचता क्यों नहीं? आखिर सपने में तो मन ही सब कुछ करता है न? फिर सुषुप्ति में भी क्यों नहीं करता? इसीलिए मानना ही पड़ता है कि उस समय आत्मा के सिवाय और कुछ हई नहीं। ठीक ही है, जिसका ज्ञान नहीं उसके अस्तित्व में प्रमाण ही क्या? यदि कहा जाय कि जिसे नींद न हो उसे तो उस समय ज्ञान होता ही है; अतएव वही ज्ञान उन वस्तुओं के लिए प्रमाण होगा, तो प्रश्न होता है कि सुषुप्तिवाले को क्या मालूम कि किसी को ज्ञान होता है? और अस्तित्व का प्रश्न तो उसी के लिए है न? और अगर सभी को सुषुप्ति हो जाय तो ? यह असम्भव भी नहीं है। प्रलय की ही तरह वह भी हो सकती है। फलतः अद्वैत-तत्त्व को मानना ही पड़ता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया।। 61।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। 62।।

हे अर्जुन, सभी प्राणियों के हृदयस्थान में ईश्वर मौजूद रहता है, (और अपनी) मायाशक्ति से उन्हें कठपुतली की तरह घुमाता रहता है। हे भारत, समस्त संसार को उसी का स्वरूप जानो और इसी रूप में उसकी शरण जाओ। उसी की कृपा से परम शान्ति और शाश्वत स्थान पा जाओगे। 61। 62।

61वें श्लोक की पूरी व्याख्या पहले ही हो चुकी है। 62वें में जो 'सर्वभावेन' पद है ऐसा ही पद पहले भी 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत' (15। 19) में आया है। अन्तर यही है कि वहाँ 'भजति' है और यहाँ 'शरणं गच्छ' है। मगर मानी दोनों के एक ही हैं। भजने या शरण जाने का ही रूप 'सर्वभावेन' कहा है। 'वासुदेवः सर्वमिति' की ही तरह सभी को आत्मा-परमात्मामय ही देखना यही शरण जाना है।

इस प्रकार उपदेश करके उसका उपसंहार करते हुए अर्जुन को मौका देते हैं

कि वह खूब सोच-विचार ले, तभी कुछ करे। कहीं ऐसा न हो कि आवेश में आ के या बातों में पड़ के कुछ कर डाले। क्योंकि ऐसे कामों का नतीजा कभी अच्छा नहीं होता। लेकिन इसी के साथ उसे यह भी याद रखना होगा कि जो उपदेश दिये गये हैं वह ऐसे-वैसे नहीं हैं; किन्तु दुर्लभ और गोपनीय से भी गोपनीय हैं। ऐसी बातें शायद ही सुनने को कभी मिलती हैं, कभी मिलें। इसलिए इन पर पूरा गौर करना होगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।63।।

मैंने तुम्हें यह गोपीनय से भी गोपनीय अक्ल और सोचने-विचारने की बात कही है। इस पर खूब अच्छी तरह सोच-विचार के जो चाहो सो करे।63।

श्लोक से स्पष्ट है कि जो कुछ उपदेश है वह ज्ञान ही है, न कि और कुछ। चाहे जितनी बातें भी शुरू से अन्त तक आयी हों सब ज्ञान के ही सिलसिले में आयी हैं। गीतोपदेश का असली विषय ज्ञान ही है। उसी के भीतर विज्ञान भी आ जाता है। फिर भी जो यह कह दिया है कि समझ-बूझ के करो और जो चाहो सोई करो, उससे साफ हो जाता है कि आज्ञा या हुक्म की गुंजाइश गीता में है नहीं। यहाँ तो अपने दिल से ही चलने की बात है। यह ठीक है कि जो कुछ करना हो उसे बखूबी समझ-बूझ के करना चाहिए। मगर करना है अपनी ही मर्जी से, अपनी राय से ही, जिसे इच्छा कहते हैं। क्योंकि जवाबदेही तो अपने ही ऊपर आने को है न? फिर दूसरे के दबाव या हुक्म का क्या सवाल? वह क्यों माना जाय ? और अगर माना गया तो जवाबदेही करनेवाले पर न हो के आज्ञा देनेवाले पर ही जो हो जायगी। इस पर तो हमने पहले श्रद्धा के प्रसंग में बहुत लिखा है।

'अशेषेण विमृश्य' कहने का एक और भी अभिप्राय है। एक तो विमर्श ही व्यापक चीज है। इसके मानी ही हैं कि सभी पहलुओं पर अच्छी तरह गौर कर लिया जाय। लेकिन जब उसके साथ 'अशेषेण' भी जुटा है, तब तो कहने का मतलब साफ हो जाता है कि खबरदार, एक बात भी छूटने न पाये। शुरू से यहाँ तक जितनी बातें कही गयी हैं सभी को सामने रख के अच्छी तरह उन पर सोचो-विचारो और गौर करो। उसके बाद जिस निश्चय पर पहुँचो उसी के अनुसार काम करो। असल में गीतोपदेश की पूर्वापर बातों को भूल जाने से ही ज्यादा गड़बड़ होती है और लोग कुछ का कुछ निश्चय कर बैठते हैं। दृष्टान्त के लिए 'ईश्वरः सर्वभूतानां' को ही ले सकते हैं। जाने कितनों ने इसका सचमुच ही आत्मा से भिन्न ईश्वर अर्थ करके इस आत्मा को उसके चरणों में झुका दिया है, उसका सेवक और गुलाम बना दिया है। हम तो इसे आत्मा का पतन मानते हैं, न कि और कुछ भी। फिर भी ऐसा ही किया गया है; हालाँकि यदि गीता की ही पहले की बातें याद रहें तो यह बात कभी न हो। 'न कर्त्तृत्वं न कर्माणि (5।14-15) श्लोकों में आत्मा के ही लिए प्रभु

और विभु शब्द आये हैं, जो आमतौर से ईश्वर के ही लिए प्रयुक्त होते हैं। बल्कि इसी से बहुतेरे यहाँ भी धोखा-खा गये हैं और ईश्वर ही अर्थ कर डाला है; हालाँकि हमने यह भूल वहीं सुझा दी है।

मगर इसे भी जाने दीजिए। क्योंकि यहाँ विवाद की गुंजाइश है। 'भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः परमात्मेति चाप्युक्तः'' (13।22) में तो साफ ही जीवात्मा को ही ईश्वर क्या महेश्वर और परमात्मा तक कहा है, परम-पुरुष तक कहा है। कहा ही नहीं है, बल्कि ऐसा ही पहले से कहा जाता है यह बताया है। यहाँ विवाद की जगह हई नहीं। इसके बादवाले 'तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (13।27) को हम छोड़ ही देते हैं; हालाँकि वहाँ भी परमेश्वर शब्द जीवात्मा के ही लिए आया है। मगर 'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः' (15।8) में तो साफ ही मरने-जीने के प्रसंग में ईश्वर शब्द जीवात्मा के ही लिए आया है। यहाँ तो सन्देह के लिए जरा भी स्थान नहीं है। फिर भी 'ईश्वरः सर्वभूतानां' में अगर ईश्वर का अर्थ आत्मा न करके और कुछ किया जाय तो मानना ही होगा कि पूर्वापर विचार के बिना ही ऐसा होता है। फलतः 'विमृश्यैतदशेषेण' कहना जरूरी था। यही वजह है कि इतना कहने के बाद भी एक बार और यही बातें शब्दान्तर में चलते-चलाते याद दिला देते हैं, ताकि धोखे की भी गुंजाइश रहने न पाये और अर्जुन का निश्चय सही और दुरुस्त हो के ही रहे।

इतना कहने पर भी स्वयं कृष्ण को सन्तोष न हुआ। क्योंकि परिस्थिति नाजुक थी। उनने उपदेश के शुरू में अर्जुन की आश्चर्यजनक मनोवृत्ति को भी खुद अनुभव किया था। वह देख रहे थे कि उसमें कितनी कमजोरी आ गयी है। जिस बात के लिए वह सपने में भी तैयार न थे वही देख के वह एक तरह से दहल उठे थे। उन्हें अर्जुन का अनुभव बचपन से ही था। पाँचों भाइयों में उसे सबसे ज्यादा वह मानते भी थे। यही वजह थी कि सबों के बुरा मानने और लाख नाक-भौं सिकोड़ने पर भी अपनी बहन सुभद्रा से अर्जुन की शादी तक उनने करा दी थी। जिसे लँगोटियायारी कहते हैं वही ताल्लुक अर्जुन के साथ उनका था। फलतः उसका रगरेशा वह पहचानते थे, उसे रत्ती-रत्ती जानते थे। जानें कितने ही भीषण से भीषण संकट के समय पाण्डवों के सामने आये थे। बचपन में ही पिता के मर जाने से वे एक प्रकार से अनाथ जैसे हो गये थे। क्योंकि धृतराष्ट्र का रुख उनके प्रति आरम्भ से ही खराब था और यह बात छिपी न थी। ऐसी दशा में विपदाओं के वज्रों के एके बाद दीगरे गिरने की बात जितनी न थी उतनी उनकी परेशानी, पामाली तथा असीम कष्ट की बात थी। कोई भी उनका पुर्सां हाल था जो नहीं। द्रौपदी की नग्नता के काण्ड से यह बात और भी साफ हो चुकी थी। भीष्म आदि की जबान तक पर ताला लग चुका था। ऐसे मौकों पर बड़े भाई युधिष्ठिर तक अधीर हो जाया करते थे। मगर अर्जुन ने न तो कभी हिम्मत हारी थी, न बुजदिली दिखाई थी और न आँसू बहाये थे! ऐसा था वह इस्पात और वज्र का बना! कृष्ण को यह बात बखूबी विदित थी। क्योंकि

सबों के साथ छोड़ देने पर भी वही तो पाण्डवों के सदा के सच्चे साथी, पुर्सा हाल थे। फिर जानते क्यों नहीं?

लेकिन वही अर्जुन गीतोपदेश के पहले बच्चों जैसा रो रहा था। उसके हाथ-पाँवों में ही क्या, सारे अंग में जैसे लकवा मार गया था। वह खड़ा रह सका नहीं और, जैसे कोई कटा पेड़ हो, धड़ाम से रथ के बीच में पड़ गया था! गिर गया था! इसमें अनुमान की भी जरूरत न थी। उसने तो खुद ही कहा था कि मेरा मन जैसे चक्कर काट रहा है और मैं खड़ा रह सकता नहीं, 'न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः' (1।30)। जिसका धनुष सदा साथ रहा, बगल में ही बाणों के साथ पड़ा रहा, वही कह चुका था कि हाथ से मेरा यहा गाण्डीव—सदा का प्यारा गाण्डीव—खसका जा रहा है, 'गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्' (1।30)। ऐसी ही जानें कितनी बातें थीं जो अनहोनी थीं। अर्जुन के मन में जो ग्लानि थी, जो बेचैनी और घबराहट थी, सभी कामों में जो अनास्था हो गयी थी, जो भीषण वैराग्य था और इन सबों के चलते जिस दीनता ने उस पर काबू कर लिया था वह तो सचमुच ही 'न भूतो न भविष्यति' का दृश्य था।

गीता की चार बातें अलौकिक थीं—ऐसी बातें जिनका उल्लेख गीता में पाया जाता है। वास्तव में ये बातें न कभी हुई थीं और न आगे हो सकती थीं। इनमें पहली थी अर्जुन की यह दशा जिसका उल्लेख हमने अभी-अभी किया है और जिसका सजीव और नग्न चित्र गीता के पहले अध्याय के बीस (28-47) तथा दूसरे के शुरू के नौ (1-9) श्लोकों में पाया जाता है। जो लोग उसे यों ही पढ़ जाते हैं वह क्या समझ पायेंगे, जब तक अर्जुन की समूची जीवनी अपने आँखों के सामने वैसे ही न रख लें जैसे कृष्ण के सामने थी? यही कारण था कि कृष्ण परिस्थिति की भीषणता को समझ सके थे।

गीता की ऐसी ही दूसरी चीज थी इतना देखने-सुनने के बाद कृष्ण की भावभंगी, उनकी उस समय की दशा, उनका रुख और चेहरा-मोहरा, जिसकी तरफ 'तमुवाच हृषीकेशः' (2।10) श्लोक का 'प्रहसन्निव' इशारा करता है। जो लोग इस समूचे श्लोक को इस पूर्व परिस्थिति को मद्देनजर रख के गौर से पढ़ें और उस पर दिमाग लगाएँ उन्हें उसके शब्दों में कृष्ण की इस अनोखी भावभंगी की झाँकी मिल सकती है। इस पूरे श्लोक में बहुत खूबी है और इसके हरेक पद कुछ न कुछ अर्थ व्यक्त करते हैं, जो निरे शब्दार्थ से निराली चीज है और जिसे ही काव्य की जान कहते हैं। इसे पूर्णरूपेण समझने में जो दिक्कत है उसे हल करने के लिए गीता के अन्तिम श्लोक से पहले का "तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः। विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः" (18।77) श्लोक इसी के साथ पढ़ लेना चाहिए। गीतोपदेश के आरम्भ करने के ठीक पहले का वह और अन्त का यह—इन दोनों को—मिला के देखें कि सचमुच वह रूप अलौकिक था या नहीं, नायाब था या नहीं। संजय ने उसे 'अत्यद्भुतम्' कह दिया है। एक तो अद्भुत चीज ही निराली है। मगर

उसे इतने से ही सन्तोष न हुआ और उसके साथ 'अति' भी जोड़ दिया। हम उस श्लोक के अर्थ के ही समय विशेष बातें लिखेंगे। यहाँ तो केवल दोनों को एक साथ पढ़ के कृष्ण की अलौकिक भावभंगी का चित्र दिमाग में बैठाने की ही बात कहनी है। वह ऐसी थी कि संजय का मन मानता न था। फलतः बार-बार उसे भीतरी आँखों के सामने ला खड़ा करता था। यह भी 'संस्मृत्य संस्मृत्य' शब्दों ने साफ ही कह दिया है। केवल साधारण स्मृति न थी। किन्तु अलौकिक वस्तु की अलौकिक स्मृति थी, अनोखी याद थी। इसीलिए तो 'सम्' लगा के 'संस्मृत्य' कहना पड़ा। उसके साक्षात् देखने पर क्या दशा हुई होगी, जब कि याद करने मात्र से ही बार-बार रोएँ खड़े हो जाते थे, हर्षातिरेक बह चलता था, 'हृष्यामि च पुनः-पुनः।' इसीलिए संजय को भी मामूली नहीं, किन्तु महान् विस्मय, पीछे तक बना हुआ था—'विस्मयो मे महान्'! जैसी अलौकिक वस्तु देखी थी और बार-बार याद की थी उसी हिसाब से ही तो आश्चर्यचकित होना भी था।

गीता की तीसरी चीज थी भगवान् की विराट मूर्ति या विश्वरूप। वह भी वाकई में 'न भूतो न भविष्यति' ही था। इसमें भी स्वयं गीता के ही वचन प्रमाण हैं। वह रूप दिखा चुकने के बाद खुद कृष्ण ने दो बार कहा है कि "तुमसे पहले यह रूप किसी ने देखा ही नहीं, किसी ने देख पाया ही नहीं"—'यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्' (11।47), और 'तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई भी, सभी प्रकार के यज्ञ, दानादि के द्वारा यत्न करके भी, इसे आगे देख न सकेगा'—'एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रुष्टुं त्वदन्येन कुरु प्रवीर' (11।48)। इससे बढ़ के 'न भूतो न भविष्यति' की सफाई और क्या हो सकती है?

गीता की चौथी अलौकिक चीज है गीता धर्म या गीता के उपदेश। इसके बारे में हम काफी लिख चुके हैं। हमें विश्वास है कि यह बात निर्विवाद सिद्ध की जा चुकी है। इसीलिए अब यहाँ कुछ भी लिखने का प्रश्न हई नहीं।

हाँ, तो ऐसी नाजुक हालत में कृष्ण को भारी अन्देशा था कि कहीं इतने पर भी अर्जुन की वही हालत न हो और वह विचलित का विचलित ही न रह जाय। यही कारण है कि आगे की अन्तिम बात के कहने पर भी उन्हें विश्वास नहीं हो पाया था। फलतः उनने अर्जुन से पूछ ही तो दिया कि "अर्जुन, तुमने हमारी बातें ध्यान से सुनी तो हैं? और अगर हाँ, तो इससे तुम्हारी वह अज्ञानमूलक भूलभुलैयाँ मिटी क्या"? 'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा। कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनंजय' (18।72)। जब अर्जुन ने इसका स्पष्ट उत्तर दे दिया कि, "भगवन्, आपकी कृपा से अब मेरा वह मोह भाग गया, सभी बात की ठीक-ठीक स्मृति हो आयी, मेरे सभी शक काफूर हो गये और आपकी बातें मानूँगा"—"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव" (18।73), तब कहीं जा के उन्हें सन्तोष हुआ।

वही वजह है कि कृष्ण एक बार और भी उसे उपदेशों का निचोड़ कह देने को तैयार हो गये। ऐसी परिस्थिति न रहने पर भी प्रियजनों के सम्बन्ध में ऐसा होता ही है कि एक ही बात बार-बार कहते जाते हैं, खासकर ऐसे मौके पर जब उन्हें कुछ महत्त्वपूर्ण काम करना या कहीं दूर देश जाना हो। यह अधिक प्रेम की पहचान है। यह बात 'इष्टोसि मे दृढमिति' शब्दों से साफ हो भी गयी है। इसलिए लोग पुनरावृत्ति देख के ऊब न उठें।

एक बात और भी है। संन्यास के सम्बन्ध में अर्जुन के प्रश्न का पूरा उत्तर अभी तक दिया गया भी नहीं है। बेशक, यह कहा गया है जरूर कि कर्मों के स्वरूपतः त्याग से पूर्ण नैष्कर्म्य हो जाता है, जिसकी अनिवार्य आवश्यकता समाधि या पूर्ण ज्ञाननिष्ठा के लिए जरूरी है। उसके बाद उस पूर्ण ज्ञाननिष्ठा का निरूपण भी किया है। मगर यह तो कहीं नहीं कहा है कि कर्मों के स्वरूपतः त्याग के बिना काम चली नहीं सकता। अर्थतः यह बात सिद्ध जरूर हो गयी है, हो जाती है। फिर भी साफ शब्दों में कहे बिना काम चलता नहीं। लोग खींचतान शुरू जो करेंगे और जोई मानी चाहेंगे शब्दों को पिन्हा जो देंगे। इसीलिए साफ-साफ कह देना जरूरी था कि बिना स्वरूपतः कर्मों का संन्यास या त्याग किये आत्मनिष्ठा होई नहीं सकती। अन्त में ही इस बात का आ जाना भी सबसे अच्छा था। इसीलिए आगे के तीन श्लोकों में से पहले में तो पुनरपि यह बात कहने का कारण लिखा गया है, दूसरे में आत्मनिष्ठा का पूरा स्वरूप खड़ा कर दिया है और तीसरे में साफ कह दिया है कि बेफिक्र हो के सभी कर्मों के फन्दों को तोड़ डालो। तभी एकमेवाद्वितीय आत्मतत्त्व में पूर्णतया लग सकते हो और तभी सारे झमेले खत्म हो सकते हैं।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।64।।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।65।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।66।

सबों से अधिक गोपनीय मेरी यह आखिरी बात फिर सुन लो। तुम मेरे अत्यन्त प्यारे हो, इसी से तुम्हारे हित की बात कहे देता हूँ। मुझ आत्मा में ही मन लगाओ, मेरा ही भजन करो, मेरा ही यजन करो। (और) मुझी को नमस्कार करो। (परिणामस्वरूप) मुझी को पा जाओगे। यकीन रखो, मेरे प्रिय हो, तुमसे सच कहता हूँ। सभी धर्मों को छोड़ के एक मेरी ही शरण जाओ। मैं (आत्मा) तुम्हें सभी पापों से छुटकारा दिला दूँगा, अफसोस मत करो। 64।65।66।

यहाँ भी 'वक्ष्यामि' का कहूँगा यह अर्थ न हो के अभी-अभी कहे देता हूँ यही अर्थ है। इसका कारण पहले ही बताया जा चुका है। दूसरे श्लोक में 'माम्' 'मत्'

आदि शब्द 'अहं' के ही रूप हैं और 'अहं' का अर्थ आत्मा ही है यह सभी जानते हैं। इस पर बहुत कुछ कहा जा भी चुका है। 'सत्यं प्रतिजाने' का अर्थ है विश्वास करो, सच कहता हूँ। यहाँ 'प्रतिजाने' का सीधे 'प्रतिज्ञा करता हूँ' यह अर्थ कुछ बैठता सा नहीं है। 'सर्वधर्मान्' श्लोक की तो लम्बी-चौड़ी व्याख्या पहले ही की गयी है। वहाँ जाने कितनी ही शंकाओं का उत्तर दिया जा चुका है। इसलिए वे बातें यहाँ फिर लिखना बेकार है। मगर दो-एक अन्य बातें लिख देना जरूरी है।

जो लोग 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का यह अर्थ करते हैं कि धर्मों के फलों का त्याग करके शरण में आओ उन्हें यह खयाल करना भी तो चाहिए कि जब धर्मों को करते ही रहेंगे तो फिर पाप का प्रश्न उठेगा ही कैसे? पाप की बात तो तभी आती है जब नित्य, नैमित्तिक कर्मों को ही छोड़ दिया जाय। यही धर्मशास्त्रों का निश्चित मत है। लेकिन यदि पाप की बात न होती तो उत्तरार्ध में यह क्यों कहते कि तुम्हें सभी पापों से छुटकारा दिला दूँगा? जिस तरह 'धर्मान्' यह बहुवचन लिखा है, ठीक वैसे ही 'पापेभ्यः' यह भी बहुवचन ही आया है, यह भी बात है। इससे दोनों का सम्बन्ध बखूबी जुट जाता है और आशय सिद्ध होता है कि धर्मों के छोड़ने से ही जो पापों का खतरा पैदा हो गया था उसी से छुटकारा दिलाने की बात यहाँ कही गयी है।

इस पर ऐसा कहने का यत्न हो सकता है कि 'पापेभ्यः' का अर्थ है जन्म-मरण के सभी बन्धनों से छुटकारा दिलाना ही। इसीलिए तो 'मोक्षयिष्यामि' क्रिया में मोक्ष की बात लिखी गयी है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'मोक्षयिष्यामि' कह देने से ही उसका अर्थ ही यह होता है कि सभी बन्धनों से छुट्टी हो जायगी। मोक्ष शब्द का अन्य अर्थ हई नहीं। फिर 'पापेभ्यः' शब्द से बन्धन अर्थ लेना महज बेकार और निरर्थक है। इसके पहले इसी मोक्ष की बात 'परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्' (18। 62) तथा 'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्' (18। 56) आदि के द्वारा कह के भी वहाँ पाप या बन्धन से छुटकारे की बात नहीं लिखी है, हालाँकि मोक्ष शब्द न रहने से वहाँ ऐसा लिखने का मौका था भी। मगर यहाँ तो वह भी नहीं है। फिर 'पापेभ्यः' की क्या जरूरत थी? इससे तो मानना ही पड़ेगा कि अर्जुन को जो डर था कि कहीं नित्य-नैमित्तिक कर्मों के छोड़ देने से पाप न चढ़ बैठे, उसी के लिए उसे आश्वासन दिया गया है कि बेफिक्र रहो, ऐसा कुछ न होगा। 'मोचयिष्यामि' की जगह 'मोक्षयिष्यामि' कहने का साफ आशय यही है कि जैसे प्रायश्चित्तादि के द्वारा पापों से छुटकारा होता है वैसी बात यहाँ न हो के मुक्ति ही मिल जायगी और सदा के लिए पाप से पिण्ड ही छूट जायगा।

इस श्लोक में जो 'परित्यज्य' शब्द है उससे स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैत आत्मा की शरण जाने के पहले सभी धर्मों को सोलहों आना छोड़ना ही होगा। उसके बिना काम चलने का नहीं। इसका अभिप्राय यही है कि इससे पूर्व के श्लोक में जो आत्मतत्त्व

में ही मन को रमाना लिखा है और जिसे ही उसकी शरण जाना भी कहते हैं, उसके पहले ही सभी धर्मों को छोड़ना ही होगा। पहले उन्हें छोड़ लो, पीछे शरण जाने की बात सोचो, यही उसका निचोड़ है। पूर्वकालिक क्रिया का दूसरा मतलब नहीं है। जैसे कहा जाय कि सुनते ही विषाद में डूब गया 'श्रुत्वैव विषण्णो जातः', तो यहाँ जो पूर्वकालिक क्रिया 'श्रुत्वा' है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विषाद का कारण अप्रिय समाचार सुनना ही है। वैसे ही यहाँ भी शरण जाने का कारण सभी धर्मों का परित्याग है। त्याग न कह के परित्याग कहने का भी यही अभिप्राय है कि बखूबी त्याग करना होगा, न कि आधा-साझा करके 'आधा तीतर आधा बटेर' करना होगा। इसमें गुजर है नहीं। हाँ, एक बात और। कर्मों के स्वरूपतः त्याग के बाद जब ज्ञान निष्ठापूर्ण हो जाय तो उसके बाद क्या हो इस बारे में यहाँ कुछ नहीं कहा है। फलतः पूर्ववत् दोनों बातें हो सकती हैं। जब वृत्ति ऊपर चढ़ जाये तो सब छूट जायें, न चढ़े तो लोकसंग्रह चालू हो। यही बात 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्व्वाणः' (18 । 56) में कही गयी है। क्योंकि वहाँ जो 'अपि' शब्द है उससे यही अर्थ निकलता है कि सभी कर्म करते हुए भी शाश्वत पद पा जाता है। यह 'भी' साफ ही बताता है कि कर्मों के न करने वाले भी होते हैं और उन्हे बेखटके शाश्वत पद प्राप्त होता ही है मगर कर्म करने वाले भी उसे प्राप्त करते ही हैं। यह बात बहुत साफ है।

बस, गीतोपदेश पूरा हो गया और जहाँ तक गीताधर्म के बताने का ताल्लुक है कुछ भी कहना शेष रहा नहीं। हाँ, एक बात रह गयी जरूर। अर्जुन ने ही यह सुना है और स्वभावतः लोग कौतूहल से समय पा के उससे पूछेंगे ही कि कृष्ण ने आपसे क्या-क्या कहा, क्या-क्या उपदेश आपको दिया? और हो सकता है कि वह सबों से 'कुल धान साढ़े बाईस पंसेरी' के हिसाब से ये गोपनीय बातें कहने लग जाय। तब तो अनर्थ ही होगा। एक तो इनकी कीमत सब लोग कर सकते नहीं। हीरा-जवाहरात के जानकार और ग्राहक तो सभी होते नहीं। कहते हैं कि किसी नादान को कहीं हीरे के बड़े पत्थर की ठोकर लगी तो उसने उसे उठा के दूर गलीज में फेंक दिया, ताकि फिर ऐसी ठोकरें किसी को न लगें! यही बात गीताधर्म की भी हो जायगी। दूसरे, जानकार लोग भी हिचक जायेंगे कि हो न हो यह कोई ऐसी ही वैसी चीज है। तभी तो अर्जुन सबों से कहता फिरता है। फलतः यह गीताधर्म पनप सकेगा ही नहीं। इसीलिए आगे के पाँच (67-71) श्लोकों में इसी बात की चेतावनी देते हैं कि कैसे लोगों से ये बातें कही जायँ और कही जायँ या नहीं। क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि खुद जानने के बाद इसकी चर्चा ही न की जाय और न इसकी जरूरत ही महसूस की जाय। मगर कृष्ण को तो फिक्र थी कि समाजहित के लिए इसका प्रचार निहायत जरूरी है। उन्हें केवल अर्जुन की ही फिक्र न थी। इसीलिए उपदेश करने वाले की भरपूर प्रशंसा भी कर दी है और उसका सुन्दर फल सुना दिया है। निरन्तर पढ़ते-पढ़ाते और सुनते-सुनाते ही इसे हृदयंगम किया जा सकता

है, इसका प्रसार हो सकता है, इसीलिए उस पर भी जोर दिया गया है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।। 67।।
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।। 68।।
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।। 69।।
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।। 70।।
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम।। 71।।

यह (उपदेश) तुझे तपशून्य लोगों से कभी नहीं कहना होगा, जो न तो भक्त हों, न श्रद्धापूर्वक सुनने के लिए लालायित हों, (प्रत्युत) हमारी निन्दा करते हों। (विपरीत इसके) जो कोई ये बातें मेरे भक्तों को सुनाएगा वह मुझमें (ज्ञानरूप) पराभक्ति करके निस्सन्देह मुझे ही पायेगा। (इतना ही नहीं।) मनुष्यों में उससे बढ़ के मेरा प्रिय करने वाला और भूमण्डल में उससे बढ़कर मेरा प्रिय कोई होगा भी नहीं। साथ ही, जो कोई हम दोनों के इस धर्मयुक्त संवाद को पढ़ेगा वह ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरी पूजा ही करेगा, ऐसा मैं मानता हूँ। जो मनुष्य श्रद्धायुक्त हो तथा निन्दा की भावना छोड़ के इसे (केवल) सुनेगा भी वह भी मरने पर पुण्यकर्मा लोगों के शुभ लोकों या समाजों में जा पहुँचेगा। 67। 68। 69। 70। 71।

यहाँ 'अतपस्क' से मतलब है जिसमें पूर्वोक्त कायिक, वाचिक, मानसिक तपों में कुछ भी पायें न जायें। वे तीनों प्रकार के तप ऐसे हैं कि उनसे ज्ञान की योग्यता होती है और मनुष्य गीताधर्म समझने के योग्य बन जाता है। इसीलिए उनकी आवश्यकता है। यही कारण है कि जिनमें वे या कम से कम उनमें के मुख्य तप न पाये जायें उसे गीताधर्म सुनाना 'भैंस के आगे बीन बजाये, सो बैठी पगुराये' को ही चरितार्थ करना होगा। इन श्लोकों में 'मां' या 'मद्' शब्द भगवान् के वाचक न हो के आत्मा-परमात्मा के ही वाचक हैं, यह भूलने की बात नहीं है। भक्ति का अर्थ पहले श्लोक में अपराभक्ति या पूर्वोक्त चार भक्तियों में से जिज्ञासुवाली भक्ति ही है। इसीलिए चौथी या ज्ञानरूपा भक्ति आगे कही गयी है। दूसरे श्लोक में भी 'भक्तेषु' का अर्थ जिज्ञासु ही है। जिज्ञासु को ये बातें सुनाना ही ज्ञान का अभ्यास और मनन हो जाता है। फलतः ज्ञान की पूर्णता में जो कमी रहती है वह पूरी हो जाती है। किन्तु जिसका ज्ञान पूर्ण हो उसके सम्बन्ध में जब यह श्लोक लागू होगा तो 'भक्तिं मयि परां कृत्वा' पहले ही आयेगा और अर्थ यह होगा कि जो मुझमें पराभक्ति करके मेरे भक्तों को यह सुनायेगा उसे भी मुक्ति होगी ही। यह सुनाना उसमें बाधक

न होगा। यह कथन गीताधर्म के सम्प्रदाय के प्रचलित करने के ही खयाल से है।

इसके बाद के दो श्लोक गीता की प्रशंसा के लिए हैं। लोग इसमें प्रवृत्ति करें इसीलिए कह दिया है कि पठन-पाठन भी ज्ञानयज्ञ है, जिससे भगवान् या आत्मा की पूजा ही होती है। फलतः धीरे-धीरे मनुष्य प्रगति की ओर चलते हुए पूर्ण ज्ञानी बनता है। जो पढ़ भी न सके उसे दूसरे पढ़ने वालों के मुख से सुनना ही चाहिए। अगर श्रद्धापूर्वक भक्ति से कोई सुने, तो आगे चल के उसका भी कल्याण हो के ही रहेगा। यहाँ अन्तिम श्लोक में 'मुक्तः' शब्द का मुक्ति या मोक्ष अर्थ न होके प्रयाण, मरण या शरीर का त्याग ही अर्थ है। क्योंकि मुक्ति होने पर पुण्यकर्मियों के शुभ लोक में जाने का सवाल उठता ही नहीं। वह तो निर्वाणमुक्त हो जाता है। उसका आना-जाना कहीं होता नहीं। यह भी तो प्रश्न है कि केवल सुनने वाला मुक्त होगा भी कैसे? यह तो सबसे नीचे दर्जे का है न? लोक का अर्थ वह प्रगतिशील समाज ही है जहाँ ज्ञानचर्चा की अनुकूलता हो। स्वर्गादि लोकों की बात यहाँ उठाना गीताधर्म के अनुकूल नहीं है। गीता तो ज्ञानमार्ग की चीज है न? फिर भी यदि कोई लोक शब्द से स्वर्गादि भी समझ ले तो हमें उससे इनकार नहीं है। मगर केवल उसे ही न समझ प्रगतिशील समाज को भी लोक के अर्थ में लेना ही होगा।

इस तरह कृष्ण को जो कुछ कहना था कह दिया। गीताधर्म के उपदेश के बाद भविष्य में उसके प्रचार की व्यवस्था भी कर दी। इसे ही सम्प्रदाय कहते हैं और परम्परा भी, जैसी कि चौथे अध्याय के शुरू में ही विवस्वान्, मनु आदि की परम्परा कही गयी है। फिर भी वह परम्परा या सम्प्रदाय आज की तरह पेशा और दुकानदारी न बन जाये, इसीलिए पहले ही श्लोक में कह दिया है कि किन लोगों से ये बातें कहीं जायँ। बाद के श्लोकों में तो कौन कहे, कौन न कहे आदि बन्धन भी लगा दिये गये हैं।

अन्त में जैसा, कि पहले ही कह चुके हैं, कृष्ण ने यह मुनासिब समझा कि जरा पूछ तो देखें कि इन बातों का अर्जुन पर क्या असर हुआ है। क्योंकि इससे भविष्य के बारे में भी उन्हें निश्चिन्त हो जाने की बात थी। कम से कम यह तो समझ जाते जरूर ही कि हम एवं अर्जुन भी कितने गहरे पानी में हैं। इसीलिए उनने पूछा, और यह जान के उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा कि अर्जुन ने न सिर्फ गौर से उनके उपदेशों को सुना, बल्कि समझा भी पूरी तरह से और तैयार भी वह हो गया तदनुकूल ही। यही प्रश्न और उत्तर आगे के दो श्लोकों में क्रमशः आये हैं।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।। 72।।

हे पार्थ, भला कहो तो कि आया तुमने यह उपदेश एकाग्र चित्त से सुना है (और अगर हाँ, तो) आया तुम्हारा (वह) अज्ञान से उत्पन्न हृदय का अन्धकार मिटा है?। 72।

कच्चित् शब्द वहीं बोला जाता है जहाँ उत्तर के बारे में सन्देह हो और पूछनेवालों का मन खुद आगा-पीछा करता हो कि देखें क्या होता है। यहाँ 'अज्ञानसम्मोहः'' में सम्मोह वही है जिसका वर्णन 'क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः' (2। 63) में आया है। वहाँ सम्मोह का परिणाम लिखा है स्मृति-विभ्रम या स्मृति का गायब हो जाना। अर्जुन ने इसी स्मृति-विभ्रम के फेर में ही तो न लड़ने का निश्चय कर लिया था। हम इसका अर्थ वहीं अच्छी तरह बता चुके हैं। कृष्ण का खयाल था कि यदि अर्जुन ने ठीक-ठीक सुना और समझा होगा तो फौरन वह यही उत्तर देगा कि हमें स्मृति मिल गयी। सम्मोह कहने में कृष्ण का दूसरा मतलब था। साधारणतः दिल-दिमाग की सफाई की बात तो थी ही। मगर ऐसा भी तो हो सकता था कि अर्जुन उन्हें खुश करने के ही लिए कह देता कि हाँ, हमने सब कुछ समझ लिया। तब क्या होता? तब तो सब कुछ बेकार हो जाता। किन्तु इसकी पहचान कैसे हो कि उसने आया सचमुच ही समझा है और मान लिया है, या केवल शिष्टाचार की बातें करता है? इसीलिए सम्मोह पद दिया। क्योंकि इसका सम्बन्ध स्मृति-विभ्रम से है। फलतः अगर अर्जुन ने ध्यान दे के सुना और समझा है तो जरूर ही कह देगा कि स्मृति प्राप्त हो गयी। लेकिन यदि ऐसा न होगा तो कुछ और ही बोलेगा। और कृष्ण की प्रसन्नता का क्या ठिकाना रहा होगा जब उनने सुना कि अर्जुन ठीक वही 'स्मृतिर्लब्धा' ही बोल उठा? बस, उनने जान लिया कि अर्जुन ने यह उत्तर शिष्टाचार से न दे के सचमुच ही हृदय से दिया है और उसे हमने जो भी उपदेश दिया है उसका उस पर पूरा असर हुआ है। 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' तो आखिर उसी उपदेश का अमली और व्यावहारिक रूप ही था न?

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। 73।।

(इस पर चट) अर्जुन ने उत्तर दिया कि हे अच्युत, आपकी कृपा से (मेरा) मोह भाग गया, (वह) स्मृति (पुनरपि) जग उठी और मैं सन्देह-रहित—स्थितप्रज्ञ हो गया हूँ। (इसलिए) आपकी बात मानूँगा। 73।

इसमें 'स्मृतिर्लब्धा' की ही तरह 'स्थितः' शब्द भी मार्के का है। क्योंकि द्वितीय अध्याय में स्मृति और सम्मोह की बातें स्थितप्रज्ञ के ही प्रसंग में आयी हैं। इसलिए स्वाभाविक ही है कि सम्मोह हटने पर स्मृति फिर जग उठे और मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाय। फलतः अर्जुन ने जो उत्तर दिया उसमें स्थितप्रज्ञ का निर्देश भी जरूरी था और उसी के मानी में ही 'स्थितोऽस्मि' आया है। इसमें और स्थितप्रज्ञ कहने में जरा भी अर्थभेद या अन्तर नहीं है। हमने यही अर्थ लिखा भी है। स्थितप्रज्ञ की पहचान पहले ही बतायी गयी है। उसकी सबसे बड़ी खूबी यह होती है कि अपने लिए उसे कुछ करना रही नहीं जाता। फलतः जो कुछ भी वह करता है लोकसंग्रह की ही दृष्टि से। इसलिए अर्जुन ने यह कहने की अपेक्षा कि 'करिष्ये धर्ममात्मनः—'अपना

धर्म करूँगा', यही कहना उचित समझा कि 'आपकी बातें मानूँगा'—'आप जैसा कहते हैं वही करूँगा'—'करिष्ये वचनं तव'। इससे कृष्ण को और भी पूरा यकीन हो गया कि अर्जुन ने अच्छी तरह हमारा उपदेश सुना है, समझा है और काम भी तदनुसार ही करेगा।

इस तरह कृष्ण और अर्जुन के संवाद को संजय ने धृतराष्ट्र से ज्यों का त्यों सुना दिया। यहाँ लोगों को यह खयाल हो सकता है कि उसने मनगढ़न्त बातें ही कही होंगी। क्योंकि भीषण संग्राम की स्थली से बहुत ज्यादा दूर बैठे-बैठे सारी बातें आखिर उसे मालूम कैसे हुईं? वहाँ तो कोई टेलीफोन या तार भी न था और न बेतार का तार ही। और अगर होता भी तो इससे क्या? संजय के साथ उसके जरिए कृष्ण और अर्जुन तो बातें करते जाते न थे और न माइक्रोफोन पर बैठके ही बातें करते थे कि संजय भी सुन लेता। और अगर संजय सुनता तो धृतराष्ट्र भी जरूर सुनता। फिर इस प्रश्नोत्तर की जरूरत दोनों के बीच क्यों होती कि कुरुक्षेत्र में क्या हुआ, क्या नहीं? लोगों के अलावे खुद धृतराष्ट्र को ही शक हो सकता था कि संजय बातें तो नहीं बना रहा है? यह ठीक है कि व्यासजी ने उससे कह दिया था कि संजय सारी बातें बैठे-बिठाये जान जायगा। क्योंकि इसे मैं दिव्य दृष्टि (Television) दिये देता हूँ। इसीलिए दिन-रात में जब कभी धीरे या जोर से बातें होंगी या और भी जो काम होंगे, यहाँ तक कि लोगों के मन में भी जो कुछ बातें आयेंगी सभी इसकी आँखों के सामने नाचने लगेंगी। फलतः अथ से इति तक युद्ध का सारा वृत्तान्त तुम्हें ज्यों का त्यों सुना देगा,—"एष ते संजयो राजन् युद्धमेतद्वदिष्यति। एतस्य सर्वसंग्रामे न परोक्षं भविष्यति।। चक्षुषा संजयो राजन्दिव्येनैव समन्वितः। कथयिष्यति युद्धं च सर्वज्ञश्च भविष्यति।। प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा दिवा वा यदिवा निशि। मनसाचिंतित मपि सर्वं वेत्स्यति संजयः।।" (महा. भीष्म. 6।9-11)। लेकिन धृतराष्ट्र की बुद्धि तो उस समय मारी गयी थी। वह ठिकाने न थी। वही बुरी तरह परेशान भी था। व्यासजी से भी उसने साफ ही यह बात स्वीकार की थी। इसलिए उसके मन में ऐसा खयाल होना असम्भव न था। कुटिल तो था ही। और उसे चाहे भले ही शक हो, या न हो, किन्तु लोगों को तो हो सकता था ही। क्योंकि व्यास का यह प्रबन्ध सब लोग तो जानते न थे। गीता में कहीं पहले यह बात आयी भी नहीं है। महाभारत में लिखी होने पर भी गीता तो स्वतन्त्र सी चीज है न? फलतः केवल गीतापाठी को भी ऐसा खयाल न हो इसीलिए आगे के चार श्लोकों में से पहले दो में संजय ने खुद यही बात कही है कि व्यासजी की कृपा से ही मैंने यह सब कुछ सुना है। शेष दो में इस गीतोपदेश की अलौकिकता तथा कृष्ण की उस समय की अलौकिक भावभंगी का निरूपण किया है।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।74।।
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवाने तद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।75।।

संजय ने कहा (कि) इस तरह वासुदेव कृष्ण और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत (एवं) रोमांचकारी संवाद मैंने (खुद-ब-खुद) सुना था। व्यास की कृपा से यह अत्यन्त गोपनीय योग मैंने स्वयं योगेश्वर कृष्ण से साक्षात् कहते हुए ही सुना था। 74। 75।

पार्थ का जो विशेषण महात्मा दिया गया है उससे भी सिद्ध हो जाता है कि अर्जुन ने आत्मतत्त्व और तन्मूलक कर्म-अकर्म का पूर्ण रहस्य अच्छी तरह हृदयंगम कर लिया था।

संजय ने यह बात धृतराष्ट्र से तब कही थी जब भीष्म आहत हो चुके थे, न कि कृष्ण के उपदेश के ही समय। इसीलिए भूतकाल के सूचक 'अश्रौषम्' तथा 'श्रुतवान्' पद आये हैं।

यह संवाद निराला है यह भी कह दिया है। ठीक ही निराला था।

रोमहर्षण का मतलब है आनन्द के मारे ही रोंगटे खड़े कर देने वाला, न कि भय से। क्योंकि भय का कोई अवसर था नहीं।

गीताधर्म को भी योग कहा है। यों तो गीता के सारे विषय ही योग कहे गये हैं। इसीलिए कृष्ण योगेश्वर हैं। उनसे बढ़ के इस योग को और कौन जानता था?

सचमुच ऐसे योगेश्वर के मुख से ही सुनने में कितना आनन्द आया होगा, जब कि पीछे पढ़ने में इतना ज्यादा मन आकर्षित होता और मजा मिलता है। इसीलिए तो संजय की उस समय भी अजीब हालत थी। सुनना तो पहले ही हो चुका था उस समय तो उसी की स्मृति मात्र थी। फिर भी रह रह के वह गद्गद हो जाता है, यह खुद स्वीकार करता हुआ कहता है कि–

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।76।।

हे राजन्, केशव तथा अर्जुन के इस महान् संवाद को (इस समय भी) बार-बार याद करके रह-रह के गद्गद हो जाता हूँ।। 76।

यह संवाद ऐसा निराला है कि हमेशा ताजा ही मालूम पड़ता है। इसीलिए कुछ समय बीतने पर भी जब संजय उसे केवल याद कर पाता है, तो भी वह जैसे आँखों के सामने नाचता रहता है और ओझल नहीं होता। यही कारण है कि उसे 'तम्' न कह के 'इयम्' कहता है। 'तं' कहने से परोक्ष या ओझल जान पड़ता न? मगर सो तो है नहीं। यह ठीक है कि उसका वर्णन तो अभी-अभी हुआ है। इसीलिए

पहले भी 'तत्' की जगह 'एतत्' ही आया है। मगर यह बात इनकार नहीं की जा सकती कि वह दिमाग में नाचता जरूर था। नहीं तो साधारण चीज होने पर कभी 'तम्' भी जरूर कह देते। सारा वर्णन ही यही सूचित करता है। इतने पर भी वह संवाद अलौकिक होता ही नहीं यदि अर्जुन की उस समय की अलौकिक मनोवृत्ति के साथ ही गीता धर्म के उपदेशक एवं प्रथमाचार्य कृष्ण की भावभंगी भी दिव्य और अलौकिक न होती। दरअसल सारी खूबी और सारा मजा तो उपदेशक की भावभंगी और प्रतिपादन शैली में ही होता है। इसलिए संजय स्वयमेव कृष्ण की उस निराली, भावभंगी की ओर इशारा करता हुआ कहता है कि–

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः।।77।।

हे राजन्, हरि का–कृष्ण का–वह अत्यन्त अद्भुत रूप याद कर-करके मुझे महान् विस्मय हो रहा है और बार-बार गद्गद हो जाता हूँ।।77।।

इस श्लोक के सम्बन्ध में बहुत सी बातें थोड़ी देर पहले कही जा चुकी हैं। फिर भी कितनी ही कहने को शेष हैं। बहुतों की यह धारणा है कि संजय यहाँ भगवान् के उस विश्वरूप के ही बारे में कह रहा है जिसका वर्णन ग्यारहवें अध्याय में आया है। प्रायः सभी भाष्यकारों और टीकाकारों ने यही अर्थ किया है। दर हकीकत मेरी नजर के सामने एक भी टीका अब तक ऐसी नहीं गुजरी हैं, जिसमें वैसा अर्थ न किया गया हो। हरि के रूप के अति, अद्भुत आदि विशेषणों से ही और भी आसानी से इस अर्थ की ओर लोग झुक पड़े हैं। मगर हमने तो पहले लिखा है कि यह बात नहीं है। इसका कारण भी काफी दिया है। इतना ही नहीं, हमने तो यह भी चित्रित करने का यत्न किया है कि जिस रूप का यहाँ उल्लेख है वह वस्तुतः किस तरह का था। रथ पर अर्जुन और कृष्ण दोनों ही खड़े थे। युद्ध में ऐसा ही होता था। कृष्ण घोड़ों की बाग पकड़े खड़े थे। मगर जब अर्जुन ने अपना रोना-गाना एकाएक शुरू कर दिया तो जो कृष्ण घोड़ों की ओर मुँह किये खड़े थे वह अचानक यह सुनते ही पीछे मुड़ पड़े और अर्जुन की बातें गौर से सुनने लगे। जैसे-जैसे बातें सुनते जाते थे उनका चेहरा-मुहरा बदलता जाता था। ऐसा होते-होते 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' (2।11) शुरू करने के पहले तक उनकी जो अलौकिक भावभंगी हो चुकी थी हमने उसी का चित्र खींचने का यत्न किया है और उसी से यहाँ आशय है। भला विश्वरूप दर्शन से और गीतोपदेश से क्या ताल्लुक? वह तो गीतोपदेश के बीच की हजार बातों में केवल एक है। मगर यहाँ तो स्पष्ट ही गीता के समूचे संवाद का और योग का उल्लेख है। योग भी वह जिसे कृष्ण ने कहा था, जिसे वह कह रहे थे। क्योंकि साफ ही 'कथयतः' लिखा है। न कि जिसे दिखाया था। यह मार्के की बात है।

एक बात और भी है। विश्वरूप के बारे में ग्यारहवें अध्याय में स्पष्ट ही कहा

है कि अर्जुन के अलावे पहले किसी ने भी उसे नहीं देखा था और न आगे कोई देख ही सकता है। यह बात हमने ग्यारहवें अध्याय के उन श्लोकों को उद्धृत करके थोड़ी ही देर पहले सिद्ध की है। किन्तु यह बात झूठी हो जाती है यदि संजय उस विश्वरूप को याद करता है। क्योंकि स्मृति के पहले तो देखना जरूरी है न? बिना देखे स्मृति कैसी? अर्जुन या कृष्ण के मुख से जो कुछ वर्णन ग्यारहवें अध्याय में आया था केवल उसे वहाँ कह देना और बात हैं। वह जैसे का तैसा सुन के ही हो सकता था। मगर उसमें वह मजा स्वयं संजय को नहीं मिल सकता था जो देखने में मिलता। देखे हुए ही का प्रबलतम संस्कार होता है वही जग के उसे ला खड़ा करता है आँखों के सामने। सुने हुए के बारे में यह बात नहीं होती, नहीं हो सकती। संजय को दिव्यदृष्टि मिलने पर भी ग्यारहवें अध्याय वाले कृष्ण के वचनों से ही सिद्ध है कि वह विश्वरूप न तो पहले किसी ने देखा था और न आगे कोई देख सकेगा। तब संजय उसे देख सकता था कैसे? यह बात मानी कैसे जा सकती है? लेकिन इस श्लोक के पदों को पढ़ के कोई भी कह सकता है कि आँखों देखे स्वरूप का ही उल्लेख संजय करता है। फलतः उपदेश के आरम्भ वाले रूप से ही यहाँ तात्पर्य है।

इसके सम्बन्ध में इसी श्लोक में एक और भी प्रमाण मिल जाता है। हमने तो पहले ही कहा है कि विलक्षण और अलौकिक होने के नाते ही उस संवाद को आँखों के सामने बराबर नाचने वाला मान के उसे बार-बार 'एतत्' 'इमम्' कहा है। लेकिन कृष्ण का विश्वरूप तो और भी ज्यादा आँखों के सामने नाचने वाला था। फिर भी उसे इसी श्लोक में 'तच्च' कह दिया है। 'तत् च' में उसे 'तत्' या दूर का कहने के क्या मानी हो सकते हैं। यह तो उलटी सी बात मालूम होती है, दरअसल 'एतत्' तो उसी को कहना उचित था। हाँ, उसमें एक खतरा जरूर था। कृष्ण के उपदेश के समय के रूप के बाद विश्वदर्शन के समय विश्वरूप आया था। फलतः उससे निकट का यही पड़ता था। इसलिए एतत् कहने से स्वभावतः लोग इसे ही समझ सकते थे। क्योंकि पहला रूप अपेक्षाकृत इससे दूर पड़ जाता था। इसीलिए संजय ने 'तत्' कह दिया और सारा झमेला ही खत्म हो गया। क्योंकि अब तो मौका ही न रहा कि विश्वरूप का खयाल भी किया जाय। मगर जो लोग फिर भी विश्वरूप को ही मानते हैं उनके लिए तत् का औचित्य बताना कठिन है।

गीतोपदेश की बातों का उपसंहार करते हुए अन्त में संजय ने धृतराष्ट्र को धोखे में रखना उचित न समझ विजय तथा पराजय के सम्बन्ध में भी अपनी स्पष्ट राय दे दी कि कौन जीतेगा, कौन हारेगा। इसका कारण भी धीरे से बता दिया। जिस पक्ष में योगेश्वर कृष्ण हों जो सभी युक्तियों के आचार्य हैं और जहाँ पार्थ जैसा धनुर्धर हो उस पक्ष की जीत न होगी तो होगी किसकी? यह तो मोटी सी बात है। शायद धृतराष्ट्र के मन में कुछ आशा बँधी थी। क्योंकि एक तो वह अपने लड़कों

के मोह में बुरी तरह फँसा था। दूसरे लोभ और मोह के करते उसकी विवेक-शक्ति नष्ट हो चुकी थी। ऐसी दशा में गीतोपदेश का युद्ध पर क्या असर होगा यह बात वह शायद ही समझ सकता था।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।78।।

जहाँ—जिस पक्ष में—योगेश्वर कृष्ण हैं (और) पार्थ (जैसा) धनुर्धर है वहीं लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य और पक्की—अटल—नीति है, यही मेरा निश्चय है। 78।

अटल और पक्की नीति जहीं रहेगी वहीं विजय भी होगी और उसके बाद उसमें स्थिरता भी आयेगी। इसीलिए तो भारवि ने किरातार्जुनीय में कहा है कि जिस चीज को दुर्योधन ने जैसे-तैसे जीत लिया था वह उसी को नीति के बल से सदा के लिए जीत लेना—उस विजय को स्थायी कर लेना—चाहता है, 'दुरोदरक्षद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः' (1।7)। कहने का आशय यही है कि पाण्डवों की जीत भी होगी और वह स्थायी भी हो जायगी।

लक्ष्मी या सम्पत्ति और ऐश्वर्य में अन्तर है। ऐश्वर्य व्यापक चीज है। शासनादि भी इसमें आ जाते हैं। भूति का अर्थ विस्तार है, फैलाव है और हमने ऐश्वर्य इसी को कहा है ध्रुवा नीति कहने से कच्ची और बराबर बदलने वाली दुर्योधन की नीति घातक सिद्ध हो जाती है। चाहे जो हो। फिर भी नीति तो पक्की और स्थायी होनी चाहिए और गीता ने उसी पर जोर दिया है।

इस अध्याय का विषय मोक्षसंन्यासयोग लिखा है। इससे स्पष्ट है कि संन्यास से ही शुरू करके अन्त में भी संन्यास ही आया है और उसी के साथ मोक्ष भी। यों तो शुरू में गीता में दूसरे ढंग के भी संन्यास का वर्णन आया है और अठारहवें अध्याय के शुरू में भी उसी को सभी कर्मों के सदा त्याग के रूप में लिखा है। मगर उससे मोक्ष तो होता नहीं। इसीलिए वह इस अध्याय का और गीता का भी विषय कभी हो नहीं सकता। हाँ, अन्त के 66वें श्लोक में मोक्ष के साधन के रूप में जिस संन्यास का वर्णन किया है वही गीता को मान्य है और वही इस अध्याय का विषय है। चौथे अध्याय में भी संन्यास आया है। मगर एक तो वह ज्ञान के साथ आया है। दूसरे उस अध्याय का वही अकेला विषय नहीं है। हाँ, पाँचवें का विषय सिर्फ संन्यास ही है। फिर भी यहाँ उसी को स्पष्ट कर दिया है कि उससे केवल ज्ञान ही नहीं होता, किन्तु मोक्ष भी मिलता है। इस प्रकार तीन अध्याय इस संन्यास के प्रतिपादन में लगे हैं।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः।।18।।

श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादक योगशास्त्र में जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है उसका मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय

यही है।

कुछ लोगों ने 'इति' का अर्थ 'समाप्त हुआ' ऐसा किया है। मगर सच पूछिए तो उसका अर्थ है 'यह'। यह पहले कही गयी बात की ही ओर इशारा करके उसी को याद कराता है। 'इत्यहं वासुदेवस्य' (18।74) तथा 'इति ते ज्ञानमाख्यातम्' (18।63) आदि में सर्वत्र यही अर्थ इति शब्द का माना गया हे। हमने यही लिखा भी है। समाप्ति तो अर्थसिद्ध चीज है, न कि शब्दार्थ और वह भी कुछ जँचती नहीं है। इसी से हमने उसे छोड़ दिया है।

□□□

परिशिष्ट-I

ईश्वर की सत्ता

समस्त सृष्टि का संचालन नियमित रूप से करनेवाला कोई एक सर्वशक्ति सम्पन्न विशिष्ट चेतन है या नहीं, यह बहुत ही पुराना प्रश्न है और प्रारम्भ से ही इसका उत्तर दोनों ही रूप में अब तक दिया जाता है। इस सृष्टि के मूल में कोई ऐसा चेतन है, इस विषय में मतैक्य कभी नहीं हुआ। एक दल जहाँ ऐसे चेतन का पक्षी है जहाँ दूसरा उसका विपक्षी भी पाया जाता है। यह भी नहीं कि जिसे चार्वाक या लोकायतिक को नास्तिक-शब्द से स्पष्टतया सम्बोधित करते हैं, केवल वही ईश्वरीय सत्ता का विपक्षी है। हिन्दुओं के जिन मीमांसा और सांख्य-दर्शनों को साधारणतया आस्तिक ही समझा जाता है उन्होंने भी ईश्वर की सत्ता मानने से इनकार किया है। हिन्दुओं के छः दर्शनों में न्याय तथा वैशेषिक को पृथक् मानने के लिए कोई वैसा विशेष आधार नहीं है जैसा कि सांख्य, योगादि के लिए। उन दोनों में कोई मौलिक भेद (Fundamental difference) नहीं है। अतएव नवीन तार्किकों ने दोनों को एक ही मानकर या दोनों को मिलाकर ही अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इस तरह अब पाँच ही दर्शन स्पष्ट रूप से रह जाते हैं। इनमें जहाँ दो ईश्वर-सत्ता के विपक्षी हैं वहाँ दो ही (योग और न्याय) उसके स्पष्ट रूप से समर्थक हैं। क्योंकि वेदान्त-दर्शन की गति निराली है। उसका झुकाव दोनों ओर है। यों तो उस दर्शन में ईश्वर ओत-प्रोत पाया जाता है और उपनिषदों, व्याससूत्रों तथा गीता से लेकर आधुनिक ग्रन्थों तक में ईश्वर का निरूपण और उस सम्बन्ध में विपक्षियों के मत का, खण्डन पाया जाता है। अतएव उसे अनीश्वरवादी कह नहीं सकते। फिर भी वेदान्त की चरम गति जो जीवा-भिन्न या अद्वैत ब्रह्म है, उससे और साधारण ईश्वर-वाद से क्या सम्बन्ध है? जिस अभेद को वेदान्ती चरम लक्ष्य समझते हैं और जिसके सिवा शेष की वास्तविक सत्ता नहीं मानते, वह सर्वसाधारण दार्शनिक व्यवहार का न तो जीव ही है और न ईश्वर ही। इसी से वेदान्त को हमने बीच में माना है। इतना ही क्यों? नैयायिकों के ईश्वर को तो वेदान्ती भी अन्त में वैसे ही अस्वीकार करते हैं जैसे अन्य विपक्षी। इस तरह स्पष्ट है कि ईश्वरवाद के बारे में हिन्दू-दर्शनों की तराजू का पलड़ा दोनों ही ओर है।

एक बात और। ईश्वर-सत्ता के विपक्षियों को दो दलों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो वे हैं, जो एकदम किसी भी रूप में उसे मानने को तैयार नहीं, उसे अमान्य कहते हैं और इस श्रेणी में मीमांसक, चार्वाक तथा आजकल के हेकल और निअ्शे आदि को ले सकते हैं। लेकिन उनकी एक श्रेणी और भी है जिसका कहना है कि यदि ईश्वर हो भी तो उसके जानने का कोई साधन हमारे पास न होने के कारण हम इससे जान नहीं सकते—वह अज्ञेय है। सांख्य-सूत्रों के भाष्यकार विज्ञान भिक्षु के मत से सांख्य-दर्शन इसी कोटि का है जैसा कि उसके 'ईश्वरासिद्धः' आदि सूत्रों के भाष्य से सिद्ध है। हालाँकि दूसरे लोग सांख्य को भी प्रथम श्रेणी में ही मानते हैं। वर्तमान युग के हर्बर्ट स्पेन्सर और ह्यूम आदि का अज्ञेयवाद का सिद्धान्त भी उसी प्रकार का है। और यदि हम अपने—अतएव संसार भर के—प्राचीन ग्रन्थ—क्योंकि अब तो सभी मानते हैं कि दुनिया में ऋग्वेद से प्राचीन कोई ग्रन्थ नहीं है—ऋग्वेद को देखते हैं तो उसमें भी ईश्वर की इस अज्ञेयता का स्पष्ट आभास पाया जाता है। उसके 'नासदासीत्' इत्यादि नासदीय सूक्त के निम्नलिखित दो मन्त्रों के पढ़ने से यह बात ध्यान में आ जाती है। वे मन्त्र हैं—

को अद्धा वेद क इहं प्रेवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्वेदा अस्य विसर्जने-
नाथा को वेद यत आबभूव।।
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः मरमेव्योमन्
सो अंग यदि वा न वेद।।

इन दो मन्त्रों में पहले में कहा गया है कि इस सृष्टि के मूलतत्त्व उस विशिष्ट-चेतन (ईश्वर) के जानने का कोई साधन है ही नहीं। अतएव उसे कौन जान सकता है? दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि यद्यपि उसके जानने के साधन नहीं हैं तथापि वह स्वयमेव अपने को जान सकता है। अथवा नहीं भी जान सकता है। विस्तारभय से इन मन्त्रों के बारे में हम अधिक न लिख केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि इनमें जो ईश्वरीय सत्ता के मानने-न-मानने का विचार है वह आजकल की दार्शनिक रीति का है, अतएव अत्यन्त युक्तियुक्त है जैसा कि उसके 'अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन' तथा 'सो अंग यदि वा न वेद' से स्पष्ट है। अतएव आजकल अज्ञेयतावादी ह्यूम आदि तथा अमान्यतावादी हेकल आदि और उनके अनुयायियों की बाढ़ देखकर हमें चौकन्ना या बेचैन न होना चाहिए, क्योंकि यह कोई नई बात नहीं है।

यदि ईश्वर इन्द्रियग्राह्य होता तब शायद उसके बारे में ऐसा विवाद नहीं होता।

हालाँकि प्रत्यक्ष पदार्थों के बारे में भी विवाद होता ही है और यह प्रश्न होता है कि जब आँखों के दोष से श्वेत शंख भी पीला प्रतीत होता है तब हल्दी की पीतिमा भी क्या वस्तु सत्ता रखती है या वैसी ही है? फिर भी ये बहुत दूर की बातें हैं साधारणतः प्रत्यक्ष में विवाद नहीं होता। हाँ, अनुमेय पदार्थों में तो विवाद होता ही है। यही कारण है कि ईश्वरीय-सत्ता बहुत बड़े विवाद का विषय है। उसी विवाद का थोड़ा बहुत दिग्दर्शन हो जाने से इस विषय की गम्भीरता का पता लग सकता है। साधारणतया अनीश्वरवादियों को दो दलों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो दल ऐसों का है जो एकमात्र प्रत्यक्ष-प्रमाण के माननेवाले हैं इसीलिए वे ईश्वर को स्वभावतः स्वीकार नहीं कर सकते। दूसरे दल में ऐसे लोग हैं जो अनुमान को भी यद्यपि मानते और अनुमेय पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं, फिर भी ईश्वरीय सत्ता को मानने में असमर्थ हैं। पहले दल में अग्रणी चार्वाक है और दूसरे में सांख्य, मीमांसक और हेकल आदि। प्रत्यक्ष नहीं होने से उसकी सत्ता न मानने वालों के मत में सबसे बड़ा और स्थूल दोष यह है कि वे अपने वंश के मूलपुरुष या अपने से दस-पाँच पीढ़ी पूर्व के किसी पुरुष की सत्ता मान नहीं सकते। क्योंकि उस पुरुष को प्रत्यक्ष करने का कोई भी साधन नहीं। वह तो केवल अनुमानगम्य है परन्तु प्रत्यक्ष न होने से ही उस पुरुष की सत्ता का अपलाप नहीं हो सकता। यदि कोई मूल-पुरुष न था तो वे हजरत जन्मे कहाँ से? इस तरह जो अपने ही पूर्वजों की सत्ता नहीं मान सकता वह संसार के पूर्वज (ईश्वर) की सत्ता न माने तो आश्चर्य ही क्या?

लेकिन जो अनीश्वरवादी अनुमान-प्रमाण को भी मानते हैं, न कि केवल प्रत्यक्ष को ही, उनकी दलीलें अवश्य ही निस्सार नहीं होती हैं। फलतः ईश्वरवादियों की जबर्दस्त भिड़न्त उन्हीं के साथ होती है। सांख्यों ने पुरुष (जीव) और प्रकृति को अनुमानगम्य ही माना है और मीमांसकों का स्वर्ग, परलोक या अदृश्य भी अनुमेय ही है। इसी प्रकार वर्तमान विज्ञान के कट्टर भक्त हेकल प्रभृति के ईथर (Ether) और कललरस (Protoplasm) का वस्तुगम्या अनुमेय पदार्थ ही समझना चाहिए। चुम्बक की आकर्षण शक्ति दूरस्थ लोहे पर जब काम करती है तो चुम्बक से निकलकर लोहे में जाने के लिए बीच में उसका कोई आधार चाहिए, क्योंकि कोई शक्ति निराधार टिक नहीं सकती! बस, वही आधार-द्रव्य वैज्ञानिकों का ईथर है। एक पदार्थ से दूसरे में विद्युत्-शक्ति आदि के गमनागमन का आधार भी वही है। यद्यपि वैज्ञानिक उस ईथर को सर्वव्यापी, गति-शक्ति का अनन्त भण्डार और निष्क्रिय तथा अखण्ड मानते हैं, फिर भी उसका वास्तविक रूप क्या है यह बात अभी तक विवादग्रस्त ही है और उसकी सर्वव्यापिता आदि केवल अनुमान सिद्ध ही हैं। इसी प्रकार कललरस (Protoplasm) की भी बात है। वैज्ञानिक इतना ही कह सके हैं कि वह कारबन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के विलक्षण मेल से बना है जिसमें जल, गन्धक आदि का भी अंश है। मगर वह विलक्षण संयोग कैसा है इसका पता उन्हें नहीं है, नहीं

तो अपनी प्रयोगशाला में उसी विलक्षण सम्मिश्रण के द्वारा कललरस बनाकर वे लोग भी सजीव सृष्टि कर लेते। अतएव उनकी यह कल्पना भी केवल अनुमान मात्र ही है। इस प्रकार केवल अनुमान के ही बल पर लम्बी उड़ान भरनेवाले वैज्ञानिक भी ईश्वर की कल्पना से घबराकर भयभीत हो जाते हैं। यदि यह कहा जाये कि उनका अखण्ड एकरस ईथर (Ether) ईश्वर या ब्रह्म का ही नामान्तर है तो कोई अत्युक्ति नहीं। क्योंकि दोनों ही अनन्त शक्ति के भण्डार माने गए हैं और जिस प्रकार ब्रह्मवादी उसकी शक्ति या माया (प्रकृति) का ही परिणाम संसार को मानते हैं उसी प्रकार वैज्ञानिक भी उसी शक्ति का ही रूपान्तर-द्रव्य मानते हैं! ऐसी विलक्षण समता के रहते हुए भी उन्हें ईश्वर में विवाद है! इसी तरह जब बाल से तेल नहीं पैदा होता तो फिर निर्जीव से सृष्टि के आरम्भ में या कभी भी हेकल का सजीव पदार्थ कैसे उत्पन्न होगा? यदि दो परस्परविरोधी पदार्थों का उपादान-उपादेय (कार्य-कारण) भाव माना जाय तो नीम के बीज से आम की या सभी से सबकी उत्पत्ति क्यों न मानी जाय? ऐसी बे-सिर-पैर की कल्पना करने वाले वैज्ञानिक यदि जीवात्मा या ईश्वर के मानने में नाक-भौं सिकोड़ते हैं तो यह उनकी लीला ही ठहरी! अतएव निराधार (Protoplasm) आदि की कल्पना के लिए भी हारकर उन्हें यही मानना होगा कि चेतना इस जगत् के प्रत्येक अणु में व्याप्त या ओतप्रोत है और उन्हीं चेतनाविशिष्ट अणुओं के सम्मिश्रण से कललरस की प्रक्रिया द्वारा सजीव सृष्टि का विकास होता है। इस तरह सर्वत्र व्याप्त चेतन रूप ईश्वर (ब्रह्म) को तो उन्होंने स्वीकार कर ही लिया, चाहे इस बात को स्पष्टतया वे न कहें!

ईश्वरवादियों ने ईश्वर की कल्पना में बे-सिर-पैर की उड़ान से काम न लेकर बहुत ही युक्तियुक्त एवं वैज्ञानिक सरणी का अवलम्बन किया है। एक मकान, घड़ी या पुस्तक को देखते ही बिना आगा-पीछा के एकाएक यह निश्चय हो आता है कि हो-न-हो इन सभी पदार्थों के मूल में कोई बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला चतुर चेतन शिल्पी है। इसके विपरीत दूसरा भाव कभी भी किसी के भी मन में उदय नहीं होता। इसी प्रकार घड़ी की चाल (क्रिया) को देखकर भी यही खयाल होता है कि इस निर्जीव पदार्थ की क्रिया के मूल में भी चेतन शिल्पी का ही हाथ है। एक बहुत बड़े कारखाने में जहाँ सैकड़ों प्रकार के कल-पुर्जे अलग-अलग काम करते हैं, जाने पर पता लगता है कि या तो उन सभी को चलानेवाली कोई विद्युत्शक्ति है तो उस शक्ति के मूल में चेतन शिल्पी वर्तमान है। इसी तरह इस ब्रह्माण्ड रूपी भव्य भवन, बड़ी जबर्दस्त घड़ी या बड़े कारखाने को देखकर जिसकी रचना निराली है और ग्रह, तारे आदि की चाल (क्रिया) बराबर जारी है, सहसा यह ध्यान प्राचीनों को हो आया कि इसके मूल में कोई असाधारण चातुरी एवं सामर्थ्यवाला चेतन शिल्पी मौजूद है। बस, उसी शिल्पी का नाम उन्होंने ईश्वर रख दिया। जिस तरह धूम और अग्नि की व्याप्ति नियम (Law Inseparable Connexion) देखकर धूम से अग्नि का अनुमान होता

है, ठीक ऐसी ही व्याप्ति यहाँ भी है। अतएव यह अनुमान निर्दोष तथा बिल्कुल ही वैसा ही स्वाभाविक है जैसा कि धुएँ से आग का अनुमान।

इस व्याप्ति में बहुत-से अनीश्वरवादियों ने व्यभिचार या दोष (Fallacy) दिखाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि जब अग्नि-सम्पर्क से बारूद में भड़ाका होता है और वह एक तरह की क्रिया ही है और जब चुम्बक के संसर्ग से लोहे में क्रिया होती है—वह चलने लगता है, हालाँकि आग और बारूद तथा चुम्बक एवं लोहा सभी अचेतन ही हैं। तब यह कैसे माना जाये कि अचेतन की क्रिया का मूल कारण साक्षात् या परम्परा या चेतन ही होता है? लेकिन ऐसा कहनेवाले यह भूल जाते हैं कि बारूद या लोहे की क्रियाएँ अनियमित एवं आकस्मिक हैं। इसके विपरीत ईश्वरवादियों ने जिन क्रियाओं को व्याप्ति का आधार माना है वे नियमित और सदा होनेवाली हैं। यदि हम चाहें कि लोहे की क्रिया भी उसी तरह सदा होती रहे जिस प्रकार हमारे हाथ-पाँव या चन्द्र-तारे आदि तथा अणुओं की, तो यहाँ भी मध्यस्थ चेतन की आवश्यकता पड़ेगी, जो या तो बराबर लोहे को चुम्बक में सटने के बाद हटा दिया करे या दूसरी ओर एक दूसरा बड़ा चुम्बक लगा दिया करे या ऐसा ही कोई प्रबन्ध करे। बारूद के भड़ाके के बारे में भी बार-बार आग और बारूद के संयोग के लिए चेतन-प्राणी अपेक्षित होगा।

इतना ही नहीं, दो जड़ पदार्थों के संसर्ग जो क्रिया होती है वह एक ही प्रकार की होती है। जब चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है तो यह सम्भव नहीं कि ठीक उसी समय उसको अपनी ओर से अलग करे। यही नहीं, दूसरे समय भी वह अपने से उसे अलग नहीं कर सकता। मगर सृष्टि के पदार्थों की क्रिया में यह बात नहीं है। जो अणु आपस में अपनी ही क्रिया से मिलकर किसी द्रष्ट की रचना करते हैं वही कालान्तर में जुदा होकर उसका नाश भी करते हैं। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश का क्रम जारी है। यदि उनमें मिलने की शक्ति मानी जाये तो जुदाई की शक्ति न रहेगी और पृथक् होने की शक्ति मानने पर मेल की शक्ति असम्भव है। दो विरुद्ध शक्तियों का एक ही जड़-पदार्थ में बराबर रहना असम्भव है। समय-भेद से दोनों विरुद्ध शक्तियों का एक में समावेश हो नहीं सकता। क्योंकि जब एक शक्ति के अस्तित्व के समय दूसरी उसमें न थी तो पीछे आयी कहाँ से? क्योंकि जहाँ जो चीज सूक्ष्म या शक्ति रूप से भी नहीं रहती वहाँ वह कभी भी व्यक्त नहीं हो सकती जैसे बालू से तेल कभी नहीं निकलता। जड़-पदार्थों का काम तो अन्धे का-सा है। वह किसी नियम के सहारे चला करते हैं। उनमें दो विरोधी नियम स्वयं-सिद्ध रूप से रह नहीं सकते। मगर चेतन के लिए यह बात लागू नहीं है। वह तो इच्छा या उद्देश्य-शक्ति के बल से सब कुछ कर सकता है और जड़ों को भी चाहे जैसे नचा सकता है। अतएव जड़-सृष्टि की क्रिया के मूल में चेतना-विशिष्ट संचालक अपेक्षित है। नहीं तो समय-समय पर विरोधी क्रियाएँ उसमें हो नहीं सकतीं।

रचना के बारे में हेकल ने अपनी 'विश्वपहेली' (Riddle of the universe) नामक पुस्तक में लिखा है कि यदि यह सृष्टि किसी चेतन की रची होती तो वह बहुत-सी व्यर्थ की चीजें क्यों बनाता। दृष्टान्त के लिए पुरुषों के स्तन-चिह्न आदि को उसने लिखा है। उसके मत से जड़ प्रकृति के बारे में तो यह प्रश्न हो नहीं सकता। कारण, वह तो रचना के प्रयोजन का विचार नहीं कर सकता। परन्तु ऐसा लिखते समय शायद उसे याद नहीं रहा कि जड़ के तो सभी काम किसी व्यवस्थित नियम के ही अनुसार चलते हैं। उसमें जरा भी फेरफार होने से सारी क्रिया ही चौपट हो जाती है। रेल की पटरी छोड़ते ही इंजिन नीचे जा गिरता है। मगर चेतन का काम तो किसी नियम में बँधा नहीं है। अतएव इच्छा होने पर उसमें उलट-फेर भी हो सकता है। ऐसी दशा में तो जड़वादियों के लिए उन स्तनों आदि की उत्पत्ति का प्रयोजन बताना अपरिहार्य हो जाता है, न कि ईश्वरवादियों के लिए। यह तो एक बात हुई। वस्तुगत्या तो विज्ञान अभी शैशवावस्था में ही है और उसे अभी सृष्टि की बहुत-सी पहेलियाँ सुलझानी हैं। ऐसी दशा में जब वह प्रौढ़ होगा तो शायद पुरुषों के स्तनचिह्नों आदि का भी उपयोग मालूम हो जाये। अभी अधीर होने की कोई बात नहीं। उन स्तनों को व्यर्थ कहना वैसा ही है जैसा आत्म-तत्त्व-विवेक में उदयनाचार्य के भूताविष्ट मनुष्य का दूर से हाथी देखकर पहले उसके बारे में ऊल-जलूल तर्क करना और अन्त में यह कह देना कि यह कुछ नहीं है! सृष्टि के रहस्यों की अनभिज्ञता तो हेकल ने अपनी उक्त पुस्तक के अन्त में उपसंहार करते हुए स्वयं स्वीकार की है और एक प्रकार से ईश्वरवाद का समर्थन ही किया है। जैसा कि 'प्रकृति-परिज्ञान की उन्नति होने से इधर जगत्-सम्बन्धी बहुत-से गुप्त भेद खुल गए हैं अब केवल परमतत्त्व का भारी भेद रह गया है। वह सत्ता कैसी है जिसे वैज्ञानिक विश्व या प्रकृति कहते हैं, दार्शनिक परमतत्त्व कहते हैं और भक्तजन ईश्वर या कर्त्ता कहते हैं? क्या हम कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान की अपूर्व उन्नति से इस 'परमतत्त्व' का भेद खुल गया है, या कुछ खुलने वाला है? इस अन्तिम प्रश्न के विषय में यही कहना पड़ता है कि यह आज भी उसी प्रकार बना हुआ है जिस प्रकार ढाई हजार वर्ष पहले के तत्त्वज्ञों के सामने था। बल्कि यों कहना चाहिए कि इस परमतत्त्व के अनेकानेक व्यक्त रूपों का जितना ही अधिक ज्ञान हमें होता जाता है उसका रहस्य हमारे लिए उतना ही अभेद्य और अपार होता जाता है। इस नाम-रूपात्मक दृश्य-जगत् की ओट में वस्तुतः क्या है यह हम न जानते हैं और न जान सकते हैं। पर, इस 'वस्तुतः' के फेर में हम क्यों पड़ने जायँ जब कि हमारे पास उसके जानने का कोई साधन नहीं, जब कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व तक है या नहीं।'

ऊपर के उद्धरण से सिद्ध है कि अन्त में हेगल भी, जिसे अनीश्वरवादियों का आचार्य कहा जाता है, ईश्वर की अमान्यता को छोड़कर अज्ञेयता का ही पक्षपाती हो जाता है, उसे अपनी पहुँच के बाहर की वस्तु समझता है और इस सृष्टि के रहस्यों

के सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञान को अबोध बालक की ही तरह समझता है जिसका ज्ञान बहुत ही परिमित है। हमारे विचार से तो कोई भी वस्तुगत्या अनीश्वरवादी हो ही नहीं सकता जैसा कि हेकल-जैसे कट्टर जड़वादी कहे जानेवाले के उक्त कथन से पता लगता है। किसी भी पदार्थ को हम तीन ही दृष्टियों से देखते हैं—मित्रदृष्टि, शत्रुदृष्टि और उदासीनदृष्टि से। इनमें भी यद्यपि उदासीन पुरुष उस पदार्थ के अत्यन्त निकट नहीं पहुँचता तथापि यह नहीं कहा जाता कि एकदम पहुँचता ही नहीं। फिर भी मित्र और शत्रु तो उस पदार्थ के अत्यन्त निकट पहुँच ही जाते हैं। बल्कि यों कहना चाहिए कि पक्का प्रेमी या मित्र भी शायद उतना निकट नहीं पहुँचता जितना निकट पक्का या कट्टर शत्रु पहुँचता है। मित्र या प्रेमी तो शायद कभी भूल भी जाता है, मगर सच्चा शत्रु तो निद्रा काल में भी नहीं भूलता। इसीलिए मानना पड़ता है कि यदि आस्तिकजन भक्त के रूप में उसे याद करते हैं जपते हैं, नहीं भूलते हैं, तो नास्तिकजन शत्रु के रूप में इसे भक्तों की ही तरह, बल्कि उनसे भी ज्यादा याद करते, जपते और नहीं भूलते हैं और यह मानी हुई बात है कि ईश्वर तो उसी का निकटवर्ती है, उसे ही सद्गति देता है जो उसे निरन्तर याद करे, कभी न भूले। उसके दरबार में तो आस्तिक-नास्तिक का विभाग (Label) नहीं है। यह विभाग तो मनुष्यों का बनाया हुआ है। वह तो मन की प्रवणता, मनोवृत्ति, मनःप्रवाह या लगन को देखता है और वह लगन मन्दिर, मस्जिद आदि में जाने, कण्ठी-माला, गेरुआ पहनने, आँख-नाक मूँदने या आस्तिक कहाने में नहीं है। वह तो मन का धर्म है, हृदय का व्यापार है, न कि शरीर का धर्म। इसीलिए इतिहास-पुराणों के आख्यानों से पता लगता है कि यदि ध्रुव, प्रह्लादादि भक्तों को भगवान् ने सद्गति दी तो रावण, कंस, हिरण्यकशिपु आदि को दुर्गति न देकर परमलोक ही प्रदान किया। यदि भक्ति या भक्त के वही लक्षण होते जिन्हें हमने मान रखा है और यदि एकमात्र भक्तों को ही भगवान् सद्गति देते, तो फिर भगवद्विरोधियों (नास्तिकों के भी दादाओं) दानवों और राक्षसों का कल्याण कैसे हुआ रहता जिसका उल्लेख धर्म-ग्रन्थों में पाया जाता है? हमारे जानते उस उल्लेख का यही रहस्य है। अतएव हमारे विचार से ईश्वरवादियों को—सच्चे आस्तिकों को—सच्चे निरीश्वरवादियों से भयभीत होने का कोई कारण नहीं है, दोनों के मार्ग दो होने पर भी लक्ष्य और पहुँच एक ही है, जैसा कि 'यं शैवाः समुपासते शिव इति' इत्यादि वचनों से भी सिद्ध है और पुष्पदन्ताचार्य के 'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' का भी तात्पर्य है। हाँ, यदि भय का कोई कारण है तो केवल यही कि ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों सच्चे और पक्के न होकर बनावटी और दिखावटी हों। नामधारी आस्तिक और नामधारी नास्तिक दोनों ही समानरूप से भगवत्-द्रोही और धार्मिकों के लिए भय के कारण हैं? अतएव उन्हीं से बचना तथा सजग रहना चाहिए। इसीलिए ईश्वरवाद का अद्वितीय ग्रन्थ 'न्यायकुसुमाजंलि' लिखकर उसके अन्त में उपसंहार करते हुए उदयनाचार्य लिखते हैं कि—

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोमिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुत विप्रती पविधयोऽप्युच्चैर्मवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते मावनीया नराः।।

इसका भावार्थ यह है कि हे भगवन्! हमने आपके विरोधियों (नास्तिकों) के अत्यन्त मलिन हृदयों को धोने के लिए इस तरह के तर्क, युक्ति और आगम-प्रमाण-स्वरूप निर्मल सोते का जल यद्यपि तैयार किया है, तथापि इतने पर भी यदि उनके अत्यन्त मलिन हृदयों में पवित्रता तथा कोमलता न आकर आपके लिए स्थान नहीं मिलता, तो हम यही कहेंगे कि वे वज्रहृदय हैं। फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि वे नास्तिक लोग भी आपके प्रचण्ड शत्रु बनकर आपका चिन्तन (आपकी याद) बहुत अच्छी तरह करते ही हैं। साथ ही, आप ठहरे कृपालु। अतएव समय पाकर उन लोगों का भी उद्धार आपको कृपा करके करना ही होगा।

(सम्पादक—यह लेख अगस्त 1932 ई. में कल्याण के ईश्वर अंक में छपा था। इस समय तक स्वामी जी पर मार्क्सवाद का प्रभाव नहीं पड़ा था। और वे एक सच्चे धार्मिक की तरह प्रवंचना के ढोंग के, रूढ़ि के खिलाफ थे।)

मानव सेवा ही असली वेदान्त

लोगों का ख्याल है कि 'हम क्या हैं, संसार क्या है और हमारा इस संसार के साथ सम्बन्ध क्या है', इन्हीं तीन जिज्ञासाओं या प्रश्नों ने मूल दर्शनों (Philosophies) को जन्म दिया है और धर्म, मजहब या रिलिजन (Religion) विभिन्न दर्शनों के बाहरी या व्यावहारिक रूप हैं। आचार (आचरण, कर्म, क्रिया, अमल, प्रैक्टिस) विभाग को धर्म और विचार (सोचना, थिंकिंग) विभाग को अब दर्शन कहते हैं, हालाँकि आचार और विचार दोनों ही दर्शन के ही दो विभाग या अंग हैं। असल में जनसाधारण सोचने, विचारने, मेडिटेशन (Meditation) आदि से स्वभावतः दूर रहते हैं; कारण, उन्हें दैनिक जीवन के कामों और विचारों से अवकाश ही नहीं रहता कि लोक, परलोक और अध्यात्म के गहरे पानी में उतरें। फलतः दर्शन उनके लिए एक निराली और अपरिचित-सी चीज हो गयी है। वह उसे समझ नहीं सकते। अतएव धर्म के रूप में उन्हें जो ठोस और व्यावहारिक चीज दी जाती है उस पर थोड़ा या अधिक अमल करके सन्तोष कर लेते हैं। क्योंकि धर्म आत्मा की भूख की खुराक है और बिना खुराक के काम चलता नहीं। यही कारण है कि किसी-न-किसी धर्म की ओर सदा से जनता की प्रवृत्ति होती चली आयी है और धर्म के न मानने वालों को लोगों ने कभी भी आदर की दृष्टि से नहीं देखा है। असल में तो आत्मा की बुभुक्षा की शान्ति दार्शनिक विचारों से ही होती है और यही ठीक भी है; फलतः दर्शन ही उस खुराक के देने वाले हैं। लेकिन आम लोगों के लिए वे दुर्गम हैं। इसलिए दर्शनों के बाहरी रूप में प्रचलित धर्मों से ही काम चलाया जाता है। यही कारण है कि धर्मों की प्रवृत्ति का स्रोत मूल में चाहे दर्शन भले ही रहे हों, आगे चलकर वे विकृत, दिखावट और प्रवंचनामात्र रह जाते हैं। क्योंकि जनता उनके दार्शनिक आधारों से अनभिज्ञ होने के कारण धर्म-प्रचारक पुरोहितों, गुरुओं और साधु-फकीरों से न तो प्रश्नोत्तर ही कर सकती है और न उनका निरादर करने की ही हिम्मत रखती है। विभिन्न धर्मसम्प्रदायों का पारस्परिक कलह भी इसी से उत्पन्न होता है और असली बातों को छोड़ रूढ़ियों की उपासना भी इसीलिए चल पड़ती है, जो सभी अनर्थों की जननी है। विपरीत इसके यदि हम दार्शनिक विचारों को ही धर्मों के मूलाधार मान लें तो यह बला यों

ही खत्म हो जाये। क्योंकि तब तो धर्म के बारे में हम यही देखेंगे कि वह पूर्वोक्त तीन जिज्ञासाओं की पूर्त्ति के लिए सामग्री या मार्ग प्रभूत करता है या नहीं और ऐसा जो न होगा उसे स्वयं त्याग देंगे। यदि इस दृष्टि से देखा जाये तो पता चलेगा कि सभी धर्म सत्य, दया, मैत्री, अव्यभिचार, अस्तेय आदि दैवी सम्पत्तियों पर पूरा जोर देते हैं, जिससे पता चलता है कि वे किसी एक ही ध्येय की खोज में एक ही मार्ग से आ रहे हैं और सत्य, दया आदि उनका वह निर्विवाद मार्ग है। फिर धार्मिक झगड़ों के लिए स्थान है ही कहाँ? सत्य, दया आदि ऐसी चीज भी नहीं कि आत्मा-परमात्मा की तरह अदृश्य होने के कारण विवादास्पद हों। वह तो सर्व-जनानुभूत पदार्थ हैं। इसीलिए उनकी प्राप्ति में जो सहायक न हो वह आसानी से हेय हो सकता है। इसमें अधिक खोद-विनोद की गुंजाइश नहीं। यही वेदान्त है, सब ज्ञानों का अन्त या पर्यवसान है, निष्ठा है। वेद नाम है ज्ञान का। 'विद ज्ञाने' धातु से यह शब्द बना है। आज जो वेद के नाम से ऋक्, साम आदि प्रसिद्ध हैं वे भी इसीलिए कि उनमें ऋषियों (Thinkers) का ज्ञान भरा है, जिसे वे जनसाधारण तक पहुँचाते हैं। ये वेद दर्शन के स्थूल रूप—ककहरा—कर्मकाण्ड से शुरू करके अध्यात्म विचार में समाप्त होते हैं और जहाँ यह अध्यात्म विचार मिलता है उसे उपनिषद् कहते हैं। अच्छा, तो अब देखना है कि वेदान्त के अन्त शब्द से क्या अर्थ निकलता है। अन्त नाम है समाप्ति, पर्यवसान, निष्ठा या निष्कर्ष (Result) का। इस प्रकार वेद (ज्ञान, विवेक, विचार) का जो पर्यवसान या निष्कर्ष हो, या विचार और विवेक के बाद जिस परिणाम पर पहुँचते हैं उसे ही वेदान्त कहना ठीक है। सारांश, वेदान्त अक्ल और बुद्धि की बात को ही कहना उचित है। जो बात ऐसी हो उसमें कलह के लिए जगह भी नहीं है। वेदान्त की सब दर्शनों से ज्यादा प्रतिष्ठा का कारण भी यही है।

असल में एकता और मेल के बिना संसार का काम चल नहीं सकता। हम पद-पद पर इस ऐक्य की तलाश में है और इसके बिना अनेक कष्टों का अनुभव करते हैं, फिर वह संसार चाहे राजनीति का हो या धर्मनीति, समाजनीति, अर्थनीति का। यदि ऐक्य का लोप हो जाय तो प्रलय हो जाय। संसार के बनाने वाले परमाणुओं, गुणों, तत्वों (Atoms and elements) का एक दूसरे से अलग हो जाना ही तो प्रलय कहा जाता है; कारण, उस दशा में कोई चीज ठहर सकती ही नहीं। यही कारण है कि विवेकी लोग शुरू से ही ऐक्य की तलाश में पड़े हैं और वह अन्वेषण बराबर जारी है। अनेक ने स्थूल, पृथ्वी आदि को परमाणुओं से या तो किसी ने समस्त स्थूल जगत् को सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों से जोड़ दिया और कह दिया कि इनसे सम्यक् कोई चीज नहीं। सूक्ष्म जगत् में मन, बुद्धि को इन्हीं तीन गुणों में मिला दिया। ईश्वर और जीव के बारे में किसी ने सामीप्य और सान्निध्य का भाव कायम किया तो किसी ने ईश्वर को जीव में ही मिला दिया और उसकी सत्ता ही मिटा डाली। इस प्रकार परमाणुओं से आरम्भ कर प्रकृति (त्रिगुण) और पुरुष (जीव) इन

दो को ही माना और शेष संसार का पर्यवसान इन्हीं में कर दिया। अन्त में अद्वैतवाद का दर्शन आया जिसे वेदान्त दर्शन भी कहते हैं। उसने प्रकृति और जीव का भी भेद मिटा दिया और दोनों को ही एक करके ब्रह्म के साथ मिलाया। जब एकता का सूत्रपात हुआ तो उसका चरम पर्यवसान भी होना ही चाहिए। जब तक दो पदार्थ रह जाएँगे, दिक्कत बनी ही रहेगी। उपनिषदों ने जो कहा है कि–'द्वितीया द्वै भयं भवति' दो के रहने से ही सारी खुराफात होती है, या–

'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।'

जब सभी एक हो गए तो डर किसका?' उसका मतलब यही है। प्रतिद्वन्द्वी को कायम करके चैन? यदि आप संसार में प्रेम का पूरा प्रसार अबाध रूप से चाहते हैं तो मिलना ही होगा। क्योंकि अपने-आपसे जितना ही अंतर किसी वस्तु का होगा प्रेम में उतनी ही कमी होगी। परमात्मा में यदि परमप्रेमरूपा भक्ति चाहते हैं तो उसे भी अपने से अभिन्न करना ही होगा। नहीं तो स्वभावतः जितना प्रेम अपने-आप (आत्मा) में है उतना उसमें कदापि न होगा। इसीलिए तो कहा है–

आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति।

यदि निकट जाना है तो दूरी कम करो और वास्तविक सान्निध्य तभी होगा जब दूरी विलुप्त हो जाय। यही अद्वैतवाद का रहस्य है और यही वेदान्त है। आप 'वसुधैव कुटुम्बकम्' चाहते हैं और चाहते हैं मानवमात्र का कल्याण, जो वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीयता है। इसके लिए आवश्यक है कि–

'आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः'

–को चरितार्थ करें। जब तक गैरों के सुख-दुःख को आप स्वयं अनुभव नहीं करेंगे, उनके लिए मर मिटने को तैयार कैसे होंगे? लेकिन जब तक वे आप से भिन्न हैं तब तक हजार कोशिश करने पर भी उनकी व्यथा का अनुभव आप नहीं कर सकते, उसे जान लें भले ही। जानना और अनुभव (एहसास, Feeling) में अन्तर है और अनुभव के लिए उसके साथ–अन्य के साथ–आपको अपने तादात्म्य का ज्वलन्त और जीवन्त ज्ञान होना चाहिए। बिना इसके काम चल नहीं सकता। अन्तर्राष्ट्रीयता और मानव समाज के प्रति, नहीं-नहीं, समस्त संसार (Universe) के प्रति भ्रातृभाव और सद्भाव लाने का वास्तविक उपाय यही वेदान्तदर्शन है, वेदान्त है। वेदान्ती को जीवन्मुक्त कहने का यही अभिप्राय है। उसका तो आपा रह ही नहीं जाता। उसने तो अपने को समष्टि में विलीन कर दिया। अब समष्टि और व्यष्टि का भेद रह ही नहीं गया।

ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, छूत-अछूत, हिन्दू-मुस्लिम का भेद तब तक मिट नहीं सकता, जब तक इस अद्वैतवाद का, सच्चे वेदान्त का रहस्य प्रतीत न हो जाये। खूबी तो यह है कि यह वेदान्त बाहरी विभिन्नता और पार्थक्य (Diversity) को

मिटाने की राय नहीं देता। प्रत्युत उससे तो इसे विभिन्नता (Diversity) में ही ऐक्य (Unity) देखने में मजा आता है। आखिर छाया का आनन्द तो धूप के रहने से ही होता है अतएव वेदान्ती तो अपने विचारों की कीमिया या पारस के बल से विभिन्नता रूप लोहे को सोना बनाता है। उसकी दृष्टि में बाहरी भेद विलीन हो जाते हैं। कितना सुन्दर हो यदि यह वेदान्त आज प्रचलित हो जाय। हमारा देश ही नहीं, मानव समाज पारस्परिक कलहों से जर्जर हो रहा है और हम अहंमन्यता के मारे किसी को नीच, किसी को दलित, किसी को पतित बनाकर अपना नाश स्वयं कर रहे हैं, द्रुत गति से उस नाश की ओर जा रहे हैं, हालाँकि हमें अपने वेदान्तदर्शन का अभिमान है। कितनी मूर्खता और कैसा प्रचण्ड अज्ञान है! तत्त्व से हम कितनी दूर जा पड़े हैं। हमें कौन बतावे? कौन सिखावे? एक समय था जब हमने गिरिशिखरों से वेदान्त की पुकार मचायी थी।

'पण्डिताः समदर्शिनः'। 'निर्दोषं हि समं गता'
आत्मौपम्स्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।।

—इत्यादि। आज फिर उसी वेदान्त की आवश्यकता है। उसे कौन लावेगा? हमारा कृष्ण कौन होगा? नकली वेदान्त कौन हटावेगा, जिसे जानकर भी हम नामर्द बने पड़े हैं करोड़ों की संख्या में?

(कल्याण, वेदान्तांक, अगस्त 1936 से उद्धृत। सम्पादक—कुछ अंक में शीर्ष 'असली वेदान्त और नकली वेदान्त' है।)

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण-चरित्र

प्राचीन ग्रन्थों में श्रीकृष्ण-चरित्र का वर्णन प्रधानतया श्रीमद्भागवत में ही माना जाता है, यद्यपि अन्यान्य ग्रन्थों में थोड़ा-बहुत यह वर्णन मिलता है। उसमें भी दशम स्कन्ध मुख्य है और उसमें दूसरी बात है भी नहीं। दशम में भी जन्म से लेकर मथुरा अथवा द्वारका प्रस्थान तक जितनी बातें लिखी गयी हैं, उन सभी पर विचार करना हमारा लक्ष्य नहीं है। उन बातों के सम्बन्धों में अधिकतर विवाद भी नहीं है। किन्तु श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी में जो श्रीकृष्ण की रास-लीला का वर्णन पाया जाता है, वही इस लेख का विचारणीय विषय है। यद्यपि रासलीला का वर्णन गर्गसंहितादि अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है, तथापि वह भागवत से ही लिया हुआ जान पड़ता है। अतएव रास-लीला-वर्णन का मूलस्थान श्रीमद्भागवत ही है। लोग ऐसा ही मानते भी हैं। फलतः इस लेख में रास-लीला के रहस्य पर ही विचार किया जायेगा, हालाँकि शीर्षक व्यापक है। ऐसी दशा में यद्यपि वही शीर्षक देना उचित था, तथापि जैसा कि आगे विदित होगा, पर जिस प्रकार हम इस विषय का विवेचन करना चाहते हैं, उसको ध्यान में रखकर हमारा दिया शीर्षक ही हमें उचित प्रतीत हुआ। प्रतिपाद्य विषय को ध्यान में रख 'रास-लीला का रहस्य' शीर्षक हमें भ्रामक-सा भी प्रतीत हुआ। क्योंकि आजकल उसके समर्थन के लिए सैकड़ों प्रकार की दलीलें दी जाती हैं और लोग उसके लौकिक-अलौकिक बहुत-से अभिप्राय बताया करते हैं और वही अभिप्राय सम्प्रत्ति भावुक जनता की दृष्टि में 'रास-लीला के रहस्य' माने जाते हैं।

कहा जाता है कि श्रीराम आदि जितने भी अवतार भगवान् के हुए हैं, वे सभी पूर्ण नहीं, किन्तु भगवदंशमात्र ही हैं। परन्तु श्रीकृष्ण तो साक्षात् भगवान् के स्वरूप ही हैं—'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्।' यदि और बातों का विचार न भी करके केवल गीता की ओर ही दृष्टि की जाय तो उस अद्वितीय रत्न के प्रकाशकर्ता की हैसियत से ही उनकी पूर्णता सिद्ध हो जाती है। क्योंकि यह निर्विवाद है कि गीता इस संसार में अपना सानी नहीं रखती। यदि अध्यात्मरामायण की रामगीता की ओर दृष्टि करते हैं तो 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' का रहस्य सहज ही विदित हो जाता है। बिना पूर्ण पुरुष की पूर्ण ज्ञानशक्ति के योग के यह पूर्ण गीता कभी प्रकट

नहीं हो सकती थी। परन्तु जब उसी पूर्ण भगवान् का चरित्र रासपंचाध्यायी के रूप में श्रीमद्भागवत में देखते हैं तो व्यामोह हो जाता है और सहसा मुख से यह निकल पड़ता है कि क्या इस रासलीला के कृष्ण वही हैं जो श्री भगवद्गीता के? यद्यपि इसके समाधान के लिए शतशः युक्तियाँ दी जाती हैं और उन युक्तियों से हम अधिकांश से परिचित भी हैं, फिर भी अपरिपक्व बुद्धि वाले भावुकजन भले ही इन युक्तियों से सन्तुष्ट हो जाएँ, लेकिन विचारशीलों के हृदय में तो इस शंका से उथल-पुथल मची ही रह जाती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भावुकता भरे समाधानों से हम भक्तजनों एवं अन्धजनता को भले ही सन्तुष्ट कर लें, लेकिन जो अन्धविश्वासी नहीं हैं और जो धर्मान्तर के अनुयायी हैं, उन्हें क्या उत्तर दिया जाये? 'जिस धर्म के आवतारिक पुरुषों तक की यह दशा, उसका ठिकाना ही क्या?' विधर्मियों की इस युक्ति का समुचित उतर क्या होगा? जिस श्रीकृष्ण की गीता पर वे मुग्ध हैं, उन्हीं के जीवन-चरित्र का ऐसा वर्णन उनकी भी बुद्धि को डाँवाडोल किए बिना कैसे छोड़ेगा? हम तो भगवान् के अवतारों को मर्यादा-पुरुषोत्तम कहते हैं और मानते हैं कि धर्म की मर्यादा की रक्षा और दुष्टों का दमन एवं साधुओं की रक्षा ही अवतारों का एकमात्र प्रयोजन है। गीता में भी उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।' तो उस धर्म की मर्यादा क्या है और दुष्टों एवं साधुओं की परीक्षा की कसौटी क्या है? क्या दूसरों की बहू-बेटियों के साथ रात में अत्यन्त निर्जन स्थान में हास-विलास और तदनुकूल वार्तालाप ही धर्म की मर्यादा है, सो भी अपने पड़ोसियों एवं भाई-बन्धुओं की ही पुत्रियों एवं माता-बहिनों के साथ? यदि यही धर्म-मर्यादा मानी जाय तो फिर साधुओं एवं असाधुओं के लक्षण नए सिरे से करने होंगे तथा रावण-कंसादि को पापी कहते न बन पड़ेगा। स्थूल एवं सर्वमान्य धर्म का नाश करके सर्वसाधारण के लिए अज्ञात किसी सूक्ष्म धर्म की रक्षा यदि कोई हठ करके माने भी तो उससे क्या? अवतारों का प्रयोजन तो सर्वसाधारण का ही हित है, न कि पंडितों और महात्माओं का। इसलिए तो गीता में भगवान् ने कह दिया है कि जो लोग कर्म और उसके फल में आसक्ति रखकर ही कर्म करनेवाले तथा अज्ञानी हैं, उनकी बुद्धि को चक्कर में डालनेवाली बातें या काम करने; किन्तु स्वयं जानकार होता हुआ भी उन्हीं-जैसा कर्म उनके दिखाने के लिए करता हुआ उनकी धारणा और भी पक्की कर दे ताकि वे सभी कर्म करने लगें—'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्। जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।' तो क्या रासलीलावाला श्रीकृष्ण का काम उन्हीं की कसौटी पर खरा उतरता है? उस समय के लोगों को उनका यह चरित्र या तो पथ भ्रष्ट करनेवाला या उनमें घृणा एवं अनास्था करनेवाला क्यों नहीं माना जायेगा? उस चरित्र की आधुनिक या पीछेवाली व्याख्याएँ तो उस समय थी नहीं। तब लोग क्यों न पथभ्रष्ट होते? या नहीं तो उनमें अनास्था ही क्यों न करते?

वे स्वयं तो अर्जुन को उपदेश देते हैं कि जनता को सन्मार्ग दिखाने के लिए भी तो कर्म करना ही चाहिए—'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।' तो क्या यही सन्मार्ग दिखाने का कर्म माना जायेगा? इतना ही नहीं, वे अपना ही दृष्टान्त देकर गीता में कहते हैं कि 'हे अर्जुन! मुझे ही देख न, मुझे तो कर्म करके कुछ भी हासिल नहीं करना है, फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ। क्योंकि यदि मैं आलस्यरहित होकर कर्म न करूँ तो सभी लोग मेरे ही अनुयायी बन जाएँ। कारण, बड़े लोग जो कुछ भी करते हैं, जनसाधारण भी वही करते हैं और वे जिस बात को ठीक मानते हैं जनता भी उसी को मानती है।'

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वश।।
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

यदि अर्जुन श्रीकृष्ण के इस उपदेश की परीक्षा उन्हीं पर करता तो रासलीलावादियों के मत से उसकी क्या दशा होती? क्या उन्हें मिथ्यावादी मानकर चट यह नहीं कह बैठता कि 'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्?' और जो श्रीकृष्ण ने यह कह डाला है कि 'यदि मैं ही धर्माचरण न करूँ तो यह संसार ही चौपट हो जाय और इस प्रकार वर्णसंकर करने एवं जनता के सत्यानाश का भागी मैं ही हो जाऊँ'—'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।' उसकी क्या हालत होगी? रासलीला के मानने से तो वर्णसंकर का मार्ग ही प्रशस्त हो जाता है, क्योंकि इस प्रकार कुलस्त्रियों के दूषित और पथभ्रष्ट होने का रास्ता वही दिखा देते हैं और यही वर्णसंकर मार्ग है, जैसा कि गीता के प्रथमाध्याय में ही कहा गया है कि 'प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः। स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।' अतएव गीता के साथ रास-लीला को मिलाने पर प्रचण्ड व्यामोह होना अनिवार्य है और सहसा यही कहने को जी चाहता है कि आधुनिक उपदेशकों की तरह श्रीकृष्ण कभी भी अपने कथन के विपरीत आचरण नहीं कर सकते थे। फिर यह रास-लीला कैसी?

एक बात और। श्रीमद्भागवत के ही दशम-स्कन्ध के 74 वें अध्याय में युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ के प्रसंग से श्रीकृष्ण की सर्वप्रथम पूजा और उसी से शिशुपाल के रुष्ट होकर बेहिसाब झूठ-सत्य, अंट-संट बकने का वर्णन है। अन्यान्य ग्रन्थों में भी यह वर्णन मिलता है। शिशुपाल के प्रलाप से यह स्पष्ट है कि उसने श्रीकृष्ण को खूब ही बदनाम करना चाहा है और एतदर्थ मिथ्यारोप तक कर डाला है। उसने कहा है—'जो कहा जाता है कि काल बड़ा ही बली है, सो ठीक ही है। नहीं तो सहदेव-जैसे बच्चों की बात को वृद्ध लोग क्यों कर मान लेते! हे सभासदो! आप लोग पात्रापात्र के जानकारों में सर्वोपरि हैं, फिर कृष्ण की पूजा क्यों? आप लोग लड़के की बात

को न मानें! भला तप, विद्या, व्रतादि के पालकों और ज्ञान के बल से सभी पापों को दग्ध कर डालनेवाले ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मर्षियों को जिन्हें इन्द्रादि लोकपाल भी पूजते हैं, छोड़कर यह ग्वाला कैसे पूजा जा सकता है? क्या कौआ कभी देव-हवि का अधिकारी हो सकता है? यह तो वर्ण, आश्रम, कुल से रहित, सर्वधर्म-बहिष्कृत और गुणरहित स्वेच्छाचारी है। फिर इसकी पूजा कैसी? ययाति ने तो इसके कुल को ही शाप दिया है, भले लोगों ने इन लोगों का बहिष्कार किया है और ये यदुवंशी पियक्कड़ भी हैं। फिर भी पूजा? इसीलिए तो ब्रह्मर्षियों के देश को छोड़कर ये सब ब्रह्म-तेज-रहित देश में जाकर और समुद्र के भीतर किला बनाकर वहीं से प्रजा को लुटेरों की तरह सताया करते हैं।'

इससे स्पष्ट है कि शिशुपाल ने श्रीकृष्ण में मिथ्या दोषों के आरोप करने में कोई भी कसर नहीं की है। और जगह भी जो शिशुपाल के दोषारोपण का वर्णन है, वहाँ भी यही बात है। ऐसी दशा में यदि रास-लीलावाली बात सत्य होती तो उसे वह क्यों छोड़ देता? तब तो दुराचारी, व्यभिचारी आदि विशेषणों से उन्हें अलंकृत अवश्य करता? यह भी नहीं कि उस समय श्रीमद्भागवत, गर्गसंहिता आदि ग्रन्थ बन चुके थे, जिससे रासलीला की दूसरी व्याख्या हो चुकने के कारण वह यह बात कहने से हिचक जाता। ये ग्रन्थ तो उसके बाद ही बने हैं यह तो सभी को मानना ही होगा। और ग्रन्थ बनने ही से क्या? जब वह मिथ्यादोषारोपण करता था तो यह बात क्यों नहीं कह डालता? इससे सिद्ध है कि श्रीकृष्ण को किसी भी प्रकार व्यभिचारी कहने की उसकी हिम्मत नहीं थी, जिससे विदित होता है कि उस समय शत्रु से भी शत्रु के लिए श्रीकृष्ण का चरित्र इस दृष्टि से अत्यन्त स्वच्छ और बहुत उच्च था और रासलीलावाली बात उन दिनों सोलहों आने प्रचलित थी ही नहीं। उस समय कहीं इसकी चर्चा तक नहीं थी।

इससे भी बढ़कर एक बात है। मीमांसादर्शन के प्रथमाध्याय के तृतीय पाद के 'अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतियेरन्। 91।' सूत्र के ऊपर विचार करते हुए श्रीकुमारिल भट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक' नामक अपने ग्रन्थ में सदाचारों पर विचार किया है। क्योंकि स्मृतिकारों ने धर्म के सम्बन्ध में श्रुति, स्मृति की ही तरह सदाचारों को भी प्रमाण माना है। वे शंकारूप से लिखते हैं कि सत्पुरुषों के आचरण को ही सदाचार कहते हैं। लेकिन किसे सत्पुरुष कहें और उसके किस आचार को सदाचार कहें, क्योंकि बड़ी गड़बड़ी है। देखते हैं कि ब्रह्मा से लेकर व्यास, वसिष्ठ, विश्वामित्र, युधिष्ठिर, अर्जुन, श्रीकृष्ण तक ने तो गड़बड़ी ही की है और आजकल भी तो भारत के सभी प्रान्तों में ऐसा ही गड़बड़झाला है। अतएव शिष्टाचारों को धर्म के सम्बन्ध में प्रमाण नहीं मानना चाहिए। नहीं तो बड़ी उथल-पुथल हो जायेगी और लोग अनर्थ करने लग जाएँगे।

इसके बाद जब समाधान करने लगे हैं तो ब्रह्मा और इन्द्रादि का कहीं अर्थ

ही बदल दिया है और कहीं कुछ और ही कर दिया है जिससे हमें यहाँ मतलब नहीं है। हमें तो श्रीकृष्ण और अर्जुन-सम्बन्धी उनके आक्षेप और समाधान से मतलब है। क्योंकि एक तो दोनों को साक्षात् परमात्मा का—नर-नारायण का अवतार मानते हैं। दूसरे दोनों की ही बातें हमारे विषय से सम्बन्ध रखती हैं। यहाँ कई बातें विचारणीय हैं। पहले तो यह देखना चाहिए कि यदि भट्टपाद (कुमारिल भट्ट)—के समय में रासलीला की बात प्रचलित होती तो वह रुक्मिणी के विवाह का दृष्टान्त क्यों देते? यह तो स्पष्टतया शायद ही किसी को विदित है कि रुक्मिणी श्रीकृष्ण के मामा की लडक़ी थी, यद्यपि सुभद्रा की बात सभी जानते हैं। इसीलिए उस विवाह में विरोध भी हुआ था, मगर रुक्मिणी के विवाह के विरोध का कारण तो दूसरा ही था। फलतः बड़ी कठिनाई से ढूँढ़-ढाँढ़कर कहीं से साक्षात्परम्परा नाता जोड़ेंगे। तब कहीं रुक्मिणी मामा की लड़की सिद्ध होगी। परन्तु रासलीलावाली बात तो बहुत ही स्पष्ट थी। यदि यह बात सच हो तो यह तो अपने ही घर में दुष्कर्म माना जायेगा! मामा का—सो भी परम्परा-सम्बन्ध तो दूर का है और वह प्रचलित भी है। और जब सर्वविदित मामा की कन्या के विवाह की बात अर्जुन के बारे में कह दी तब तो श्रीकृष्ण के बारे में दूसरी बात कहना ही ठीक था और वह दूसरी बात यही रास-लीला ही हो सकती है। स्वभावतः सबसे पहले प्रसिद्ध बात की ओर ही दृष्टि जाती है और यह लीला तो जंगत्प्रसिद्ध हो रही है। फलतः इसे न कहकर अप्रसिद्ध बात रुक्मिणी-परिणय का उल्लेख यह सिद्ध कर देता है कि भट्टपाद कुमारिल के समय तक रास-लीला की बात प्रचलित न थी।

इतना ही नहीं, वे जब समाधान करने लगे हैं तो पहले अर्जुन-सुभद्रा-सम्बन्ध को ही लिया है और उसी का समाधान करके अन्त में कह दिया है कि 'इसी तरह रुक्मिणी विवाह का भी तात्पर्य बताया जा सकता है'—'एतेन रुक्मिणीपरिणयनं व्याख्यायतम्।' सुभद्रा-विवाह का जो व्याख्यान किया है उसमें बहुत यत्न और कल्पना करके यह सिद्ध किया है कि सुभद्रा श्रीकृष्ण की सगी बहन वसुदेव की पुत्री न थी, किन्तु या तो रोहिणी की बहन की कन्या की पुत्री थी या रोहिणी के पिता की बहन की कन्या की पुत्री, क्योंकि उसे भी लाट-देश में भगिनी ही कहते हैं।—**'मातृस्वस्त्री या वा सुभद्रा तस्य मातृपितृस्वस्त्रीयाया दुहिता वा।'** क्योंकि यदि यह बात न होती तो सब बातों और धर्ममर्यादा के जानकार श्रीकृष्णादि कभी उस विवाह की सम्मति नहीं देते—'इति परिणयनाभ्यनुज्ञानाद्विज्ञायते।' इस पर कोई ऐसा न कह बैठे कि केवल अर्जुन की मित्रता के ही लिहाज से श्रीकृष्ण ने धर्मविरुद्ध भी विवाह करवा दिया जैसा कि तन्त्रवार्तिक की टीका न्यायसुधा (राणक)—में सोमेश्वर भट्ट ने यही शंका की है—'ननु विरुद्धोऽप्ययमाचारो वासुदेवेनार्जुनप्रीत्या प्रवर्तित इत्यपि परिहारोपपत्तेरनुक्त-व्यवधानकल्पना न युक्ता।' ठीक ही है। यह तो कहीं भी नहीं लिखा है कि सुभद्रा रोहिणी की बहन की पुत्री या फूआ की कन्या थी। ऐसी दशा

में इस टेढ़ी-मेढ़ी निराधार कल्पना की अपेक्षा अर्जुन के प्रेम के कारण ही अनुचित विवाह की कल्पना ठीक प्रतीत होती है। इसीलिए भट्टपाद ने आगे अपनी कल्पना का आधार बताते हुए लिखा है कि 'हे अर्जुन! यदि मैं ही अनुचित कर्म करूँ तो सब लोग मेरा ही अनुकरण करने लगेंगे। कारण, बड़े लोग जो करते हैं, साधारणजन भी वही करने लगते हैं और बड़े जिस बात को ठीक मानते हैं दुनिया भी उसी को मानती है'—'येन ह्यन्यत्रैवमुक्तम् ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः। यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।' वही ठीक उसके विपरीत आचरण वो क्योंकर प्रश्रय दे सकते थे? यदि कोई हठधर्मी हठवश कह बैठे कि श्रीकृष्ण ने शील-संकोच से ही ऐसा कर लिया, अथवा उनको बड़ा मानता ही कौन है तो इसके समाधान के लिए कुमारिल स्वयं लिखते हैं कि 'समस्त लोगों के आदर्श और पथदर्शक होकर वही श्रीकृष्ण भला ऐसे विपरीत आचरण को क्यों कर प्रश्रय दे सकते थे?'—

'स कथं सर्वलोकादर्शभूतः सन् विरुद्धाचारं प्रवर्तयिष्यति?' इससे तो निस्सन्देह यह बात सिद्ध हो जाती है कि उस समय तक रासलीला की बात बिल्कुल ही प्रचलित न थी। भट्टपाद के कथनानुसार तो ऐसे धर्मविरुद्ध आचरण की कल्पना भी श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में नहीं की जा सकती। वे इतने बड़े और महान् थे कि धर्मविचार के समय शील-संकोच या दबाव आदि उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते थे। गोपियों के बारे में जो समाधान गर्गसंहिता आदि ग्रन्थों में किए जाते हैं यदि वे भी उस समय प्रचलित होते तो रुक्मिणी और सुभद्रा के बारे में भी वही समाधान भट्टपाद क्यों नहीं लिख देते? और क्यों यह सिद्ध करने का कष्ट उठाते कि सुभद्रा वसुदेव की कन्या न थी। क्योंकि अर्जुन भी तो भगवान् के अंशावतार ही माने जाते हैं और श्रीकृष्ण का तो कहना ही क्या? रुक्मिणी को लक्ष्मी का अंश भागवत में ही कहा है 'श्रियो मात्रां स्वयंवरे' (10/52/19)। सुभद्रा को भी ऐसा ही कहकर चट समाधान कर देते, जैसा कि द्रौपदी के सम्बन्ध में कहा है। मगर उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसी से पता लगता है कि एक तो ऐसे समाधानों को वे लचर मानते थे जैसा कि द्रौपदी के ही विषय के ऐसे समाधान को पहले कहकर पीछे दूसरे समाधान किए हैं। दूसरे ये कल्पनाएँ उस समय तक प्रचलित न थीं। द्रौपदी के प्रसंग में भी उन्होंने श्रीकृष्ण के बारे में कह दिया है कि 'इतरथा हि कथं प्रमाण भूतः सन्नेवंवदेत्' भला प्रामाणिक पुरुष होकर वे मिथ्या कैसे बोल सकते थे? तो फिर वही श्रीकृष्ण रासलीला कैसे कर सकते थे?

एक बात और भी द्रष्टव्य है। श्रीमद्भागवत के आरम्भ की जो कथा है उससे स्पष्ट है कि ऋषि के शाप से सात दिन में ही मृत्यु होने के समाचार से समस्त सांसारिक बन्धनों को छोड़ और अन्न-पानादि को भी न ग्रहण कर एकमात्र मोक्षकामना से ही गंगा के तट पर मंच बनवाकर महाराज परीक्षित जा बैठे थे। उन्हें पुत्र-कलत्रादि

की वार्ता से भी कुछ मतलब न था। वही भागवत के प्रधान श्रोता थे। उधर श्रीशुकदेवजी उसके वक्ता थे, जिनके बारे में महाभारत में यहाँ तक लिखा है कि स्त्री-पुरुष भेद तक नहीं जानते थे और जन्म से ही विरक्त थे। इसीलिए जब जन्म के ही समय भागे जा रहे थे तो मार्ग में देववधुओं ने उनसे कोई लज्जा न की, हालाँकि नग्न स्नान कर रही थीं। मगर व्यासजी से लज्जित हो गयीं। इन दोनों के अतिरिक्त महान् विरक्त तथा ज्ञानी महर्षियों का समाज वहाँ जुटा था जो आत्माराम थे और जिनके यहाँ रस-चर्चा की सम्भावना नहीं थी। भला, ऐसे समुदाय में कैसे रासलीला का वर्णन आ गया जो आधुनिक कवियों के शृंगाररस-वर्णन को भी मात करनेवाला है? व्यास जी ने ऐसे समाज में उस प्रकार के श्रोता से कैसे यह चर्चा करवायी और शुकदेव के मुख से वह बातें क्यों कर कहलवायीं, यह समझ में नहीं आता। इस बात की सम्भावना तो ठीक ऐसी ही है जैसी सूई के छिद्र से हाथी के निकल जाने की। यदि अन्यान्य श्रोता-वक्ता के द्वारा ग्रन्थान्तर में यह बात कहलायी जाती जो एक बात भी थी। मगर भागवत में शुकदेव के मुख से इस शृंगार-रसवर्णन की हिम्मत व्यासजी को कैसे हो सकती थी?

अन्त में एक बात और कहकर इस लेख को पूरा करेंगे। दशम-स्कन्ध के 29 से 33 अध्यायों तक को रासपंचाध्यायी कहते हैं। उससे पूर्व के 25-28 आदि अध्यायों में श्रीकृष्ण के गोवर्धन-धारण, वरुणलोक से नन्द को मोचन आदि अलौकिक कामों का वर्णन है। फिर 34 आदि अध्यायों में भी सुदर्शन नामक विद्याधर के उद्धार, शंखचूड़ के वध आदि ऐसे ही कर्मों का वर्णन है और उसी प्रसंग से बलराम और श्रीकृष्ण के साथ गोपी-बालिकाओं की लीलाओं का वर्णन भी है। इसके बीच में जो रासपंचाध्यायी आयी है वह असम्बद्ध-सी मालूम पड़ती है। न तो यहाँ उसका कोई प्रसंग है और न उसमें वर्णित रासलीला में कोई असाधारण अद्भुतता है। जितनी गोपियाँ उतने कृष्ण का वर्णन भी कृत्रिम-सा मालूम होता है और विदित होता है कि रासलीला को भी अलौकिक कर्म बलात् बनाने के लिए यह कवि की कल्पना है। उसमें श्रीकृष्ण के अन्यान्य कामों-जैसी स्वभावसिद्ध विचित्रता नहीं है। प्रत्युत श्रीकृष्ण-बलराम दोनों का एक साथ जो गोपियों के साथ खेलना है वह बाललीला प्रतीत होता है और उसमें जो शंखचूड़ का वध है वह स्वाभाविक अद्भुत कर्म प्रतीत होता है, इससे अनुमान होता है कि उसी लीला के आधार पर रासपंचाध्यायी को अपनी ओर से बनाकर किसी आधुनिक कवि ने पीछे से इधर आकर भागवत में डाल दिया है। कोई भी निष्पक्ष होकर यदि पूर्वापर का अनुशीलन करे तो हठात् इसी निश्चय पर पहुँचेगा। इसका इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि रासपंचाध्यायी के बनने के बाद भी किसी कवि को जब उसके शृंगार-वर्णन में न्यूनता मालूम हुई है तो 30 वें अध्याय के 31 वें श्लोक के बाद डेढ़ श्लोक उसने गढ़कर बहुत हाल में डाल दिया है। अतएव श्रीधरादि टीकाकारों की टीका में यह डेढ़ श्लोक-

नहीं मिलता और आजकल की छपी पुस्तकों में प्रक्षिप्त का चिह्न देकर छपा हुआ मिलता है। वह है 'इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम्। गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः।। अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना।' भागवत में ऐसे एकदम नूतन प्रक्षेप बहुत स्थानों में हैं जो इस अनुमान को पुष्ट करते हैं कि रासपंचाध्यायी भी आधुनिक और प्रक्षिप्त है। इसीलिए केवल रासपंचाध्यायी पर ही जो पुष्टिमार्गीय विद्वानों की बहुत-सी टीकाएँ मिलती हैं न कि समस्त भागवत पर, वह इस अनुमान को और भी पुष्ट बना देती हैं। क्योंकि उस सम्प्रदाय में रासलीला में विशेष आस्था देखी जाती है। इस सम्बन्ध में प्रसंगवश एक बात हम कह देना चाहते हैं। काशी में सरस्वती भवन नाम की जो लाइब्रेरी है उसके भूतपूर्व लाइब्रेरियन पं. विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी से एक बार लेखक की बातें इसी सम्बन्ध में हुई थीं। उस समय उन्होंने कहा था कि कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में रखी एक बहुत ही प्राचीन हस्तलिखित श्रीमद्भागवत की प्रति मिली है जिसमें रासपंचाध्यायी नहीं है और जो बोपदेव से बहुत पहले की है। हम कह नहीं सकते कि उनकी यह बात कहाँ तक ठीक है। कारण, इसके अनुसन्धान का मौका हमें नहीं मिला है। लिख इसलिए दिया है कि अनुसंधानप्रेमी श्रीकृष्णभक्त इसका अनुसंधान करें।

इस प्रकार श्रीकृष्ण-चरित्र-चन्द्र में हमें जो कलंक प्रतीत हुआ उसका यथाबुद्धि हमने मार्जन कर दिया है। उसके सारासार का विवेचन विज्ञ पाठक ही कर सकते हैं। क्योंकि श्रीकृष्णलीला अनन्त सागर है। उसका पार पाना या उसकी इयत्ता तथा स्वयंभूतता का निश्चय साधारण बुद्धि का कार्य नहीं है।*

---

* बात ठीक है, 'श्रीकृष्णलीलारूपी अनन्त सागर का पार पाना साधारण बुद्धि का कार्य नहीं है।' मेरी तुच्छ समझ से तो दीर्घ साधन से द्वारा जब अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है तभी श्रीकृष्ण कृपा से श्रीकृष्ण के दिव्य जन्म-कर्मों का कुछ रहस्य समझा जा सकता है। रासलीला का क्या रहस्य है, इस बात को वास्तव में श्रीभगवान् या महामुनि व्यास ही जानते हैं, अथवा वे महान् पुरुष जानते होंगे जो श्रीकृष्णकृपा के पात्र और उनके पवित्र चरण-रज के यथार्थ प्रेमी हैं। मुझ सरीखा मनुष्य तो इस विषय पर कुछ भी कहने का अधिकारी नहीं? हाँ, महात्मा पुरुषों द्वारा सुने हुए सदुपदेशों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनके मत के अनुसार श्रीमद्भागवत में रासलीला का प्रसंग प्रक्षिप्त नहीं है। यह वृन्दावन में होनेवाली श्रीमद्भगवान् की एक महान् उच्च और सत्य आध्यात्मिक लीला है। इसमें व्यभिचार या इन्द्रियचरितार्थता का लेश भी नहीं है। शिशुपाल को इस महान् अन्तरंग लीला का पता ही कैसे लगता जब कि रास में सम्मिलित होने वाली प्रातः स्मरणीया, भक्ति और वैराग्य की मूर्ति कृष्णप्रेममयी साध्वी गोपियों के पति-पुत्रों को ही यह ज्ञान रहा कि वे सब घर में सोई हुई हैं। श्रीमद्भागवत में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

द्रौपदी-प्रभृति पवित्र अन्तरंग भक्तों को इस लीला का पता था, इसी से तो द्रौपदी ने कौरव-सभा में लाज जाते समय लाज बचाने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण को 'गोपीजनप्रिय' कहकर पुकारा है।

रही भट्टपाद कुमारिली के वर्णन की, बात, सो उन लोगों के मन के इस लीला के आध्यात्मिक

रूप होने के सिवा दूसरी बात जँची ही नहीं थी तब वे इनका उल्लेख कैसे करते? कुमारिलजी के कुछ ही बाद होनेवाले भगवान् शंकराचार्य ने भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा गान करते हुए स्वयं कहा है—

एको भगवान् रेमे युगपद् गोपीष्वनेकासु।

तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उस समय यह कथा प्रचलित नहीं थी। काशी के सरस्वती-भवन में जो भागवत की पुरानी प्रति है, उसका चित्र इसमें अलग छापा जा रहा है, उसके सम्बन्ध में उसके वर्तमान लाइब्रेरियन डॉ. श्रीमंगलदेवजी शास्त्री एम.ए., पी-एच.डी. लिखते हैं कि (गवर्नमेण्ट संस्कृत-कालेज के प्रिंसिपल) श्रीगोपीनाथ जी कविराज ने पहले पता लगवाया था कि उसमें रासपंचाध्यायी तथा चीरहरणसम्बन्धी कथाएँ हैं या नहीं। उनका निश्चयपूर्वक कहना है कि ये दोनों कथाएँ उसमें वर्तमान हैं। रासपंचाध्यायी के विषय में प्रचलित प्रति से केवल इतना ही भेद है कि हमारी प्रति में प्रचलित दो अध्यायों को एक ही अध्याय माना है पर श्लोक-संख्या में भेद नहीं है। —कल्याण सम्पादक की टिप्पणी श्रीकृष्ण अंक

नोट सम्पादक ग्रन्थावली—इस टिप्पणी के बाद से ही स्वामी जी ने कल्याण को आगे लेख भेजने में संकोच करना शुरू कर दिया।

(श्रावण 1988 संवत् पृष्ठ 432 कृष्ण अंक कल्याण, मालवीय भवन, वाराणसी से उद्धृत)

शक्ति का सच्चा स्वरूप और उसका विकास

जिस पदार्थ, धर्म, गुण या विशेषता के सम्बन्ध से या होने से संसार के कोई भी पदार्थ वांछनीय या माननीय हो अथवा उनके रहने की आवश्यकता मानी जाय—महसूस हो—उसे ही शक्ति कहते हैं। इसी के नाम योग्यता, सामर्थ्य, पॉवर (power), एनर्जी (Energy) आदि भी हो सकते हैं। जो पदार्थ शक्ति या योग्यता से शून्य है, जिसमें कोई विशेषता या चमत्कार नहीं, उसके रहने की जरूरत ही क्या? सृष्टि की रचना करनेवाला, फिर वह चाहे कोई या कुछ भी क्यों न हो, व्यर्थ के पदार्थों की रचना कर नहीं सकता। जरूरत के ही पदार्थों की सृष्टि से जब उसे अवकाश नहीं तो फिर भारभूत बेकार चीजों को क्यों बनाने लगा? इसीलिए तो देखा जाता है कि ज्यों ही कोई वस्तु अशक्त या बेकार हुई कि रहने ही नहीं पाती। संसार में जो जीवन-स्पर्धा या जीवन-होड़ (Struggle for existence) चल रही है उसका भी यही रहस्य है और 'जीवो जीवस्य जीवनम्' ऐसा जो पुराने लोग कह गए हैं, उसका भी यही अभिप्राय है। प्रकृति या सृष्टि-कर्त्ता को यह कभी भी इष्ट नहीं कि दूषित, गलित या अशक्त पदार्थ जमा होकर उसकी कृति को चौपट करे। इसीलिए वह सतत इस प्रयत्न में है कि ऐसा पदार्थ जल्दी-से-जल्दी खत्म हो जाय, उसका रूपान्तर-उपयोगी रूप बन जाय। देखते ही हैं कि ज्यों ही कोई मरा कि सड़-गलकर खाद बना, पशु-पक्षियों का खाद्य बनकर उनका जीवनदाता हुआ और इस प्रकार उसकी व्यर्थता गयी और वह रूपान्तर से उपयोगी हो गया। यही कारण है कि जन्म लेते ही या उत्पन्न होते ही स्वभावतः प्रत्येक पदार्थ बिना किसी के कहे या दबाव दिए ही शक्ति-सम्पादन में प्रवृत्त हो जाता है। अंकुर निकलने के साथ ही बढ़ने और पत्र, पुष्प, फलादि सम्पादन की तैयारी में लग जाता है; बच्चा उत्पन्न होते ही हिलने-डोलने और खाने-पीने या रोने की ओर झुक जाता है। बच्चे का रोना यह सिद्ध करता है कि वह अपनी अशक्ति को दूर करना चाहता है। क्योंकि रोना तो अशक्ति का ही चिह्न है। इसीलिए यदि रोने से रोनेवाले की अशक्ति दूर न हो सकी तो वह खतम भी हो जाता है और मालूम होता है कि उसमें अब शक्ति-सम्पादन माद्दा रह ही नहीं गया जिससे सम्पादन-सामग्री को जुटाने और आकृष्ट करने में वह समर्थ हो जाता। कुम्हार ने ज्यों ही बर्तन गढ़कर

तैयार किया कि वह सूखने को गोया जोर मारने लगा, जिसका तात्पर्य यही है कि वह कुम्हार को शीघ्रातिशीघ्र उसे पकाने के लिए विवश करने पर कटिबद्ध है जिससे जलादि लाने के काम में आ सके। सारांश, शक्ति-सम्पादन की प्रक्रिया और प्रवृत्ति ईश्वरदत्त है, प्राकृतिक है, नैसर्गिक है, स्वाभाविक है और अकृत्रिम है जिससे प्रत्येक पदार्थ स्वयमेव उस ओर खिंच जाते हैं। अन्यथा वे रह ही नहीं सकते। यह भी नहीं कि वह शक्ति कहीं बाहर से लायी जाती है। शक्ति तो ऐसी वस्तु नहीं कि बाहर से आवे। वह तो स्वाभाविकी है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार उसके सम्पादन की प्रवृत्ति स्वाभाविकी है। वह तो हर पदार्थ में जन्म से ही अनुद्भूत रूप में रहा करती है जो अगोचर होती है और सम्पादन-प्रवृत्ति उसे गोचर या उद्भूत कर देती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि शक्ति का माद्दा हर वस्तु में स्वयं सिद्ध है और जिसमें वह माद्दा न रहे वह पदार्थ मृत या विनष्ट होता है। फलतः शक्ति-सम्पादन और कुछ नहीं है सिवा अन्तर्निहित प्रसुप्त शक्ति के उद्बोधन के, जिसे विकास कहते हैं। यही कारण है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् के षष्ठाध्याय में उसे स्वाभाविकी कहा है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च।। (9/8)

यद्यपि कहा जा सकता है कि उपनिषद् के उक्त वाक्य में केवल परमात्मा की शक्ति स्वाभाविकी कही गयी है, तथापि उसका अभिप्राय शक्ति मात्र की स्वाभाविकता के प्रतिपादन में ही है। इसीलिए उसी उपनिषद् के आरम्भ में ही—
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।। (1/3)

—देव और आत्मा (ईश्वर और आत्मा) दोनों की ही शक्ति के पता लगने का वर्णन है और आत्मा-शब्द तो 'स्व' को या अपने आपको कहता है। फलतः हर एक पदार्थ को ही 'स्व' शब्द से ले सकते हैं—सभी अपने आप हैं—कौन नहीं है? अतएव शक्ति की स्वाभाविकता में विवाद व्यर्थ है। रह गयी उसके वास्तविक स्वरूप और प्रकार की बात। बहुतों की यह धारणा है कि शक्तियाँ अनेक हैं, असंख्य हैं। दृष्टान्त के लिए उत्पादनशक्ति और संहार शक्ति को ले सकते हैं। दोनों एक हो नहीं सकतीं। उसी प्रकार पाशविक तथा आध्यात्मिक आदि शक्तियों की बात है। ये परस्परविरोधिनी होने के कारण अलग-अलग हैं। लेकिन हमारा विचार है कि शक्ति तो केवल एक ही है, जैसा कि उक्त उपनिषद्-वाक्य से स्पष्ट है। हाँ, उत्पादक, संहारक, पाशविक, आध्यात्मिक आदि उसी के विभिन्न आकार—Different phases of aspects हैं। शक्ति की उत्पादकता या संहारकता हमारी मनोवृत्ति पर ही अवलम्बित है। हम चाहें तो उसी से संहार कर दें या किसी को पैदा करें। एक ही विद्युत्शक्ति से पदार्थ बनाए भी जाते हैं और उनका नाश भी किया जाता है। रेल या ट्राम में लगी बिजली से रोशनी होती और गाड़ी दौड़ती है, जिससे लोगों को पढ़ने-देखने और आने-जाने में आराम होता है। लेकिन दुर्घटना होने से उसी के द्वारा गाड़ी दग्ध हो जाती,

वायुयान जल जाता और लोग मर जाते हैं। नीतिकारों ने जो यह कहा है कि–

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेत-
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

–उससे स्पष्ट ही एक ही विद्यादि वस्तु के दो विपरीत प्रयोजन मनुष्य की मनोवृत्ति के अनुसार बताए गए हैं और विशेष रूप से एक ही शक्ति के तो रक्षण और परपीड़न रूप दो विरोधी काम स्पष्ट ही कहे गए हैं तथा इस बात की विशद व्याख्या कर दी गयी है कि साधु एवं असाधु रूप आश्रय के भेद से एक ही शक्ति का कैसा विलक्षण रूप हो जाता है। इसीलिए उक्त श्वेताश्वतर के वचन में शक्ति को 'विविधा' कहा है, जिसका अर्थ है 'अनेक प्रकार की' न कि 'अनेक'। क्योंकि प्रकार तो कहते ही हैं एक ही वस्तु के विभिन्न रूपों को। हमारे धर्मशास्त्रकारों ने जो अर्थशास्त्र या राजनीति को धर्मशास्त्र या धर्मनीति से दुर्बल और धर्मनीति को प्रबल या प्रधान कहा है, जैसा कि याज्ञवल्क्य का–

–उसका भी यही अभिप्राय है कि बलवान् और शक्तिशाली होने पर लोग अन्धे होकर शक्ति का दुरुपयोग कर सकते हैं, जिससे उत्पीड़न बढ़ जायेगा। इसीलिए राजकीय या पाशविक शक्ति और भौतिक बल के सम्पादन के समय उसमें आध्यात्मिकता का (dose) देना उन्होंने आवश्यक बताया है, जिससे आजकल के पाश्चात्य या पौर्वत्य देशों की शक्ति-सचंय की अन्ध प्रतिस्पर्धा में अखिल संसार संहार के मार्ग की ओर जिस प्रकार अग्रसर हो रहा है, सो भी द्रुतगति से, ऐसा होने न पावे। उन्होंने अपने अनुभव और दूरदर्शिता से ऐसे अनर्थ की सम्भावना की कल्पना पहले ही कर ली थी। क्योंकि आध्यात्मिकता (Spiritualism) की लगाम के बिना निरंकुश भौतिकता (Materialism) अन्धी होती है और उसका चरम परिणाम संहार के सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता।

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि वांछनीयता या माननीयता ही शक्ति की परिभाषा हो, जिससे किसी पदार्थ की सत्ता की आवश्यकता ही उनकी शक्ति का परिचायक हो तो आसुरी शक्ति वाले पदार्थों की या लोगों की आवश्यकता कभी भी न होने से उन्हें एक क्षण के लिए भी यहाँ रहना न चाहिए। लेकिन हुआ है ठीक इसके विपरीत। आसुरी साम्राज्य तो सदा ही रहता है–पहले भी था, आज भी है। यह मानकर भी कि आसुरी शक्ति का काम केवल संहार करना ही है, लोग उसी ओर बेतहाशा दौड़ लगाते देखे जाते हैं। संसार में बिरले ही माई के लाल अध्यात्मवाद या धर्म की पिपासावाले मिलते हैं। यदि प्रकृति या सृष्टिकर्त्ता को ऐसा पसन्द नहीं है कि अनावश्यक प्रत्युत अनर्थकारी पदार्थों की सत्ता रहे तो फिर आसुरी शक्ति का संहार क्यों नहीं स्वयमेव हो जाता? निस्सन्देह यह शंका होती है और होनी ही चाहिए।

लेकिन जरा गम्भीरतापूर्वक विचार करने से इसका रहस्य विदित हो जायेगा। आखिर जो यह कहा और देखा जाता है कि अधिक शक्तिशाली के सामने न्यून शक्तिवाले असमर्थ, अशक्त हैं उसका क्या अर्थ है? क्या न्यून शक्तिवाले शक्ति शून्य हो जाते हैं? उनमें शक्ति तो रहती ही है। हाँ, उसकी मात्रा कम भले ही हो। एक बात और। गुण-दोष और भले-बुरे का लक्षण क्या है? यही न कि मात्रा का आधिक्य? यदि 'अतिरूपेण वै सीता, अतिदानाद्बलिर्बद्धः, अति सर्वत्र वर्जयेत्' का कुछ भी अर्थ है तो यही कि कोई चीज कितनी ही सुन्दर या भली क्यों न हो, ज्यों ही मात्रा से ज्यादा हुई कि बुरी हुई। नमक या मीठा किसी चीज का स्वाद बनाने के लिए दिया जाता है, खटाई और मिर्च का प्रयोग भी इसीलिए करते हैं। परन्तु जब इन चीजों की मात्रा ज्यादा हो जाती है तो उसी पदार्थ को स्वाद या अमृत कहने की जगह 'जहर हो गया', 'खराब हो गया', 'मुँह में न पड़ा', ऐसा कहने लगते हैं। भोजन जीवन-शक्ति का दाता और पोषक माना जाता है। लेकिन जब वही मात्रा में अधिक हो जाता है तो बीमारियों का कारण और नाशक हो जाता है। आभूषण शोभावर्धक माना जाता है। लेकिन जब बेहिसाब लाद दिया गया तो वही पदार्थ बुरा या भद्दा कहा जाता है। रोशनी देखने-पढ़ने के लिए उपकारी पदार्थ है लेकिन जब बहुत ज्यादा हो जाती है तो चकाचौंध पैदा करके उन्हीं कामों में बाधक और कभी-कभी दृष्टि-विनाशक सिद्ध होती है, हालाँकि वह दृष्टि की उपकारिका मानी जाती है। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि मात्रा या परिमाण में आधिक्य, या यों कहिये कि किसी वस्तु की नियमित मर्यादा का भंग ही, उसे सद्गुण की जगह दुर्गुण या भलाई की जगह बुराई में बदल देता है। इस प्रकार जब एक नियमित मर्यादा का उल्लंघन कर गयी तो वह शक्ति शक्ति रह ही नहीं गयी—उसे शक्ति कहना अनुचित होगा, संसार के नियम और व्यवहार का अपलाप होगा। यह भी तो देखा जाता है कि कोई काम बुरा या भला इसीलिए नहीं होता कि उसका स्वरूप ही ऐसा होता है। संसार में ऐसी बात या ऐसा काम कोई नहीं जिसके साथ बुराई-भलाई दोनों का ही साक्षात् सम्बन्ध न हो। अवतार, पैगम्बर, औलिया, नेता या सुधारक का जीना निहायत जरूरी है। तभी वह कोई अच्छा काम कर सकता है। लेकिन जीवन के लिए साँस लेने से लेकर भोजनादि जितनी क्रियाएँ हैं उनमें क्या अनन्त सूक्ष्म जीवों का जो वायु, जल आदि में व्याप्त हैं, संहार नहीं हो जाता? पलक मारते ही करोड़ों ऐसे जीव या कीटाणु मर जाते हैं—

पक्ष्मणोऽपि विपातेन येषां स्यात्पर्वसंक्षयः।

—ऐसा प्राचीनों ने कहा है। तो क्या इतने से ही सभी का जीवन बुरा ही माना जाये? क्या अवतारों और पैगम्बरों का होना बड़े-से-बड़े अहिंसावादियों का जन्म—बुरा समझा जाय? इसी प्रकार चोरी बुरा कर्म है। लेकिन चोरों और लुटेरों का होना क्या लोगों को सावधानी और सतर्कता की शिक्षा नहीं देता? तात्पर्य यह

कि संसार के सभी पदार्थ गुणदोषमय हैं—

जड़ चेतन गुन-दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।

फिर भी जिसके द्वारा लाभ या भलाई की अपेक्षा बुराई और हानि ज्यादा है वह बुरा है और जिससे लाभ या भलाई अधिक है वह अच्छा है। सोलहों आना अच्छा या बुरा तो कोई भी नहीं है। इस तरह देखने से आसुरी शक्ति को शक्ति की कोटि में ला नहीं सकते। क्योंकि वह तो संहारकारक है और यह संहार सृष्टि के नियमों के विपरीत है। यों तो सृष्टि के साथ भी नाश होता ही है, फिर भी सामूहिक या व्यापक संहार प्रलय के नियमान्तर्गत है न कि सृष्टि के, और आसुरी शक्ति यही करती है। फलतः सृष्टि-नियम के विपरीत होने से आसुरी शक्ति को शक्ति कहना नितान्त अनुचित है। इसीलिए वैसी शक्तिवालों का संहार परस्पर संघर्ष या दैवी शक्ति से हो जाया करता है और यही अवतारों का रहस्य है।

इतने विवेचन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि जिस चीज के रहने से तत्सम्बन्धी पदार्थों की वांछनीयता हो और मर्यादा का उल्लंघन न करके जो चीज या धर्म सृष्टि के नियमों के अनुकूल हो वही शक्ति है—वास्तविक और सच्ची शक्ति है। दूसरे यह कि वह शक्ति एक ही है यद्यपि उसके प्रकार या आकार (Aspects) अनेक हैं। पानी एक ही होता है, लेकिन नीम, आम, ऊख, मिर्च, इमली या नीबू की जड़ में देने से कड़वे, मीठे, तीते, खट्टे आदि उसके कई आकार-प्रकार हो जाते हैं, मूलतः उसमें भेद नहीं होता। ठीक उसी प्रकार शक्ति भी आश्रय या आधार के प्रभाव से ही, अथवा जिस भावना एवं मनोवृत्ति से यह सम्पादन की जाती है उसी के करते अनेक प्रकार की हो जाया करती है, न कि मूलतः वह कई प्रकार की होती है। यदि इन बातों पर दृष्टि रख के हम आगे बढ़ते हैं तो इससे हमारे सारे संकट एवं समस्त बुराइयाँ ही दूर हो जाती हैं। क्योंकि किसी प्रकार की शक्ति के सम्पादन या शक्ति-विकास से पूर्व हमें देखना होगा कि जब वह एक ही है और उसकी मर्यादा का उल्लंघन न होना चाहिए तो फिर उसकी मर्यादा ठीक रहे और उसके सम्पादन की मनोवृत्ति या भावना भी शुद्ध और पवित्र रहे। इसी जगह धर्म या आध्यात्मिकता की प्रधानता को जड़वाद या भौतिकता के ऊपर रखने की आवश्यकता प्रतीत होगी और इसी से शक्ति की मर्यादा बँध जायेगी और भावना भी पवित्र हो जायेगी। क्योंकि धर्म या आध्यात्मिकता की छाप लग जाने का अर्थ ही होगा कि अपने ही समान औरों के भी सुख-दुःखों को अनुक्षण अनुभव करना, महसूस करना, फील (Feel) करना, जैसा कि गीता ने कहा है कि—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परसो मतः।।(6/32)

कारण, धर्म का पर्यवसान इसी विचार में होता है, न कि किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता (Dogmatism) में। इसीलिए महाभारत के शान्ति पर्व में तुलाधार

ने जाजलि से धर्मज्ञान की कसौटी और उसका निचोड़ बताते हुए कहा है कि मनसा, वाचा, कर्मणा जो प्राणी सबका सुहृद् और सबकी भलाई में तत्पर हो वही धर्म के रहस्य को जानता है–

सर्वेषां च सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्म वेद जाजले।। (261/9)

यही कारण है कि हमारे धर्माचार्यों ने 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः' का डिंडिभनाद किया है। यदि पूर्वकाल की आसुरी शक्ति के विस्तार का पर्यवेक्षण किया जाय तो उससे भी यही सिद्ध होता है कि उसके सम्पादकों के साथ धर्म का सम्बन्ध छत्तीस का-सा ही था, उन्होंने धर्म को पाँव-तले रौंदकर धता बताया था। वर्तमान समय के महासमरों और उसकी तैयारियों की ओर यदि दृष्टि की जाय तो यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि आध्यात्मिकता और धर्म से विहीन वर्तमान सभ्यता ही इसका कारण है और जबतक इसका अन्त होकर सभी देशों, राष्ट्रों और उनके संचालकों के दृष्टिकोण में धर्ममूलक परिवर्तन नहीं होता तबतक बाहरी बातों और निरस्त्रीकरण के घपलों से इस संहारक मनोवृत्ति का अन्त न होगा और शक्ति के नाम पर यह वास्तविक अशक्ति अपना बलिदान लेकर ही रहेगी। कारण, इस आसुरी या पाशविक शक्ति का, जिसे शक्ति कहना 'शक्ति' शब्द का परिहास करना है और जिसे प्रवृत्ति भले ही कह सकते हैं नियन्त्रण हो ही नहीं सकता।

इस शक्ति को 'ज्ञानवलक्रिया च' कहा है, जिसका अभिप्राय है कि इसके ज्ञान, बल और क्रियात्मक तीन आकार हैं। ईश्वरकृष्ण के 'सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वरणकमेव तमः...' (सां. का. 13) तथा गीता के 'सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि', 'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते' (14/9/11) के अनुसार ज्ञान, बल और क्रिया का अभिप्राय है सत्व, तम और रज–इन तीन गुणों से। क्योंकि सत्त्व का स्वरूप और काम ही है ज्ञान, तथा रज का स्वरूप है क्रिया या हलचल। तम भारी माना जाता है जिससे वह दबाता है। अतएव बल का अभिप्राय तम से ही है। क्योंकि बल के ही प्रभाव से कोई वस्तु दबती है। इस प्रकार शक्ति त्रिगुणात्मिका सिद्ध होती है जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जिस शक्ति में ज्ञान क्रिया और बल। इन तीनों को या तीनों में किसी एक को भी स्थान नहीं है वह शक्ति कही जा सकती ही नहीं। इसलिए मनु ने कहा है कि 'विद्वत्सु कृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः।।' (1/97)। इसका तात्पर्य यह है कि कोरा ज्ञान, कोरी क्रिया या कोरा बल वांछनीय नहीं है, मनुष्य-जीवन का चरम ध्येय नहीं है, किन्तु तीनों का उचित सम्मिश्रण चाहिए। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय, उसके अनुसार कार्य करने का बल और साहस तथा निश्चयानुसारिणी क्रिया के साथ ब्रह्मज्ञान का होना जरूरी है। यह ब्रह्मज्ञान वही है जिसे 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' इत्यादि वचनों के द्वारा धर्म का पर्यवसान कहा है, अध्यात्मवाद का अन्तिम स्वरूप बताया है। अतएव इस संसार का वास्तविक कल्याण–सच्चा श्रेय

इसी बात में है कि शक्ति तथा अशक्ति का पूर्ण विवेचन करके उसके ज्ञान, क्रिया और बलात्मक तीनों रूपों का सम्पादन-विकास किया जाय और इस प्रकार उसमें धर्म का पुट देकर उसे मर्यादित किया जाय जिसमें विश्व का कल्याण हो। कोरा ज्ञान, कोरी क्रिया या कोरा बल एकाकी और विनाशकारी है। पूर्वाचार्यों ने जो हर बात के सम्पादन के समय अधिकारी की परख लगायी है और कहा है कि अनधिकारी को कोई बात बतायी न जाय और न वह ऐसा साहस ही करे कि कुछ सीखे-जाने, उसका भी यही रहस्य है। क्योंकि मनोवृत्ति और भावना पर नियन्त्रण हुए बिना ऐसे पुरुष को जो सामर्थ्य, योग्यता या शक्ति प्राप्त होगी उसका दुरुपयोग हो सकता है, वह विनाशकारिणी हो सकती है। उपनिषदों में ब्रह्मा के द्वारा बलि के ठुकराये जाने और उपदेश न देने का भी यही अभिप्राय है। इसीलिए निरुक्तकार ने 'असूयकायानृजवेऽयताय मा मा ब्रूयाः' कहा है और मनु ने भी इसी का अभिप्राय 'विद्या ब्राह्मणमेत्याह' इत्यादि के द्वारा व्यक्त किया है। यदि ऐसा न हो तो अपात्र या अनधिकारी के पास जाकर समस्त ज्ञान शैतान के हाथ में मसाल का काम करने लगे। इसका सबसे उत्तम दृष्टान्त मनुस्मृति के 8वें अध्याय का 168 वाँ श्लोक है जिसे नैषध के पढ़ने वाले जानते हैं। वह 'बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तम्' इत्यादि है, जिसका सरल अर्थ यही है कि जो काम अनिच्छापूर्वक जबरदस्ती कराया जाता है उसकी जवाबदेही करने वाले पर नहीं रहती। लेकिन उस श्लोक के पद ऐसे हैं जिससे यह अर्थ भी किया जा सकता है कि जबरदस्ती किए-कराए कामों की कोई गिनती नहीं होती, वे नहीं ही समझे जाते हैं। इसलिए चार्वाक ने उस वचन का यह अर्थ लगा लिया कि जबरदस्ती चोरी, सीना-जोरी, डकैती या दुराचार-व्यभिचार करने में कोई हर्ज नहीं है, क्योंकि ऐसी आज्ञा मनु ने दी है।

फलतः अधिकारी का विचार करने से वास्तविक मर्यादा का न तो उल्लंघन ही होगा और न दूषित मनोवृत्ति का प्रसार ही होगा। फिर तो ताण्डव नृत्य का अवसर आयेगा ही नहीं और समस्त शक्ति का विकास उचित रूप और मात्रा में होकर वह ज्ञान, क्रिया और साहस रूप अपने उक्त तीनों आकारों से सम्पन्न होगी और इस प्रकार उसके ऊपर अथ से इति तक धर्म का—वास्तविक और सच्चे धर्म का पुट होने से वह निसर्गतः कल्याणकारिणी ही होगी और इस प्रकार गीता के 'रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत' (14/10) के अनुसार विपरीतगामी और विरोधी भी रज एवं तम सत्त्व के अनुगुण और सहकारी बनकर क्रिया और साहस के द्वारा उसके पोषक होंगे और समय-समय पर उसे विश्राम देकर सदैव अक्षीणशक्ति बनाए रखेंगे। इस प्रकार सोने में सुगन्ध की तरह परस्पर विरोधी भी ये गुण विश्व को कल्याण की ओर अग्रसर करेंगे; क्योंकि अकेला ज्ञान, अकेली क्रिया या अकेला साहस बेकार होता है, जिससे परस्पर सहकारिता अपेक्षित है औरयही सृष्टि का नियम है।

[ई. 1934 भाद्रपद—कल्याण (शक्ति अंक)]

गीता का योग

यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो मानना होगा कि 'योग' एक पेचीदा पहेली है। जितने अर्थों में इस योग शब्द का प्रयोग अब तक हुआ है शायद ही किसी अन्य शब्द का उतने अर्थों में हुआ हो। यद्यपि कोषों में—

योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु।
वपुःस्थैर्यप्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे।।
विश्रब्धघातिनि द्रव्योपायसंनहनेष्वपि।
कार्मणेऽपि च योगः स्यात्...।

आदि वचनों के द्वारा नयी चीज की प्राप्ति, संगति, ध्यान, युक्ति, शरीर की दृढ़ता, प्रयोग, (ज्योतिषियों के) विष्कम्भ आदि, औषधि, विश्वासघाती, द्रव्य, उपाय, कवच, तन्त्र-मन्त्र क्रिया, कर्मठ इन चौदह अर्थों में इसे व्यवहृत किया है और धातु पाठ में युजिर् तथा युज् इन दो धातुओं के तीन अर्थ योग, समाधि तथा संयमन लिखे गये हैं; तथापि इससे यह नहीं मान लेना होगा कि योग शब्द के इतने ही अर्थ हैं। केवल श्रीमद्भगवद्गीता के ही अठारह अध्यायों में प्रत्येक के प्रतिपाद्य विषय को भी 'योग' ही नाम दिया गया है—अर्जुन विषाद योग, सांख्य योग, कर्म योग आदि। इससे यह तो सिद्ध ही है कि योग शब्दार्थ के भीतर कम-से-कम अठारह पदार्थ और भी आ गये। बेशक गीता के सांख्य योग, कर्म योग आदि शब्दों के साथ ही प्रत्येक अध्याय के अन्त में पठित समाप्ति सूचक संकल्पों में 'योगशास्त्रे' को देखकर बहुत लोगों ने 'योगशास्त्र' का 'कर्मयोगशास्त्र' अर्थ कर दिया है और नारायणीय धर्म के साथ, जिसका प्रतिपादन महाभारत के शान्ति पर्व में आया है, गीता प्रतिपादित विषय का मिलान करके गीता में भी नारायणीय धर्म का ही निरूपण माना है और इस निर्णय पर पहुँचने में उन्होंने 'भगवद्गीता' नाम से भी सहायता ली है। कारण, नारायणीय धर्म के वक्ता जहाँ नारायण हैं तहाँ गीता धर्म के वक्ता भी भगवान् या नारायण ही हैं और भगवद्गीता शब्द का यही अर्थ भी है। फिर भी हमारे जानते ऐसा करना खींच-तान की पराकाष्ठा एवं दूर की कौड़ी लाना है। आखिर 'अर्जुनविषादयोग' में, जो प्रथमाध्याय का प्रतिपाद्य विषय है, कौन-सा कर्मयोग है? केवल तीसरे अध्याय

के अन्त में संकल्प में 'कर्मयोग' आया है। बाकी में तो सांख्य योंग, ज्ञानकर्मसंन्यास योग, श्रद्धात्रयविभाग योग, दैवासुरसम्पद्विभागयोग आदि शब्द आये हैं। इनमें कहाँ कर्मयोग छिपा हुआ है? और अगर इन सभी का अर्थ प्रकारान्तर से कर्मयोग ही करने का हठ किया जाय, जो असम्भव है, तो फिर योग शब्द वही भानमती की पिटारी ही सिद्ध हो जाता है और इसके भीतर संसार भर के पदार्थों का समावेश हो ही जाता है। इससे अच्छा है कि गीता के प्रत्येक अध्याय के प्रतिपाद्य विषयों को ही योग नाम दे डालें और भगवद्गीता नाम उसका केवल इसीलिए मान लें कि उसमें सर्वत्र 'भगवानुवाच' यही लिखा है। न कि नारायणीय धर्म से इसका कोई भी सम्बन्ध है। इसीलिए 'भगवद्गीता' यह स्त्रीलिंग नाम भी ठीक हो जाता है। क्योंकि यह गीता तो शब्दान्तर से भगवान् के द्वारा गायी हुई (उपदिष्ट) उपनिषद् ही है और उपनिषद् शब्द के स्त्रीलिंग होने के कारण उसका विशेषण रूप गीता शब्द भी स्त्रीलिंग हो गया है। यदि नारायणीय धर्म की बात होती तो 'भगवानुवाच' की जगह 'नारायण उवाच' कहते और नाम भी नारायणगीता रखते। या नहीं तो धर्म शब्द का ख्याल करके पुंल्लिग या नपुंसकलिंग 'गीतः' 'गीतम्' रखते।

लेकिन इतने से ही योग के शब्दार्थ का निश्चय तो हो नहीं जाता और योग क्या है यह पहेली सुलझने के बजाय और भी उलझ जाती है। बहुत लोग यह समझते होंगे कि पतंजलि के योग दर्शन में शायद इसकी सुलझन हो। लेकिन उन्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि जहाँ गीता के अठारहों अध्यायों में सब मिलाकर योग, युक्त, युंजन् आदि अर्थात् उसी युज् धातु से बने शब्दों का प्रयोग प्रायः डेढ़ सौ बार आया है और यदि इसी में हर एक अध्याय के समाप्ति संकल्प में दो-दो बार लिखे योग शब्द को जोड़ दें तो एक सौ नब्बे से अधिक या प्रायः दो सौ बार आया है ऐसा कह सकते हैं, तहाँ योग दर्शन में कुल मिलाकर केवल नौ-दस ही बार इसका प्रयोग हुआ है और उसमें भी योग के अर्थ में केवल चार ही बार, जैसा कि पहले पाद के दूसरे, दूसरे के पहले और अट्ठाईसवें और चौथे के सातवें सूत्रों से स्पष्ट है। इसके विपरीत गीता के प्रायः सभी प्रयोग इसी अर्थ में हैं। अतः यह तो मानना ही होगा कि योग शब्द को किसी-न-किसी रूप में गीता में जितनी बार दुहराया गया है उतनी बार शायद ही किसी और पुस्तक में दुहराया है। एक बात और है। गीता में योग शब्द के अभ्यास के साथ ही उसका निर्वचन भी स्पष्ट रूप से दो श्लोकों में जरूर किया है और वे हैं द्वितीय अध्याय के 48 तथा 50 श्लोक जिनमें लिखा है कि 'कर्म और उसके फल में लिपटने के भाव (आसक्ति) को छोड़ और उद्देश्य पूरा होने-न-होने में बेफिक्र होकर योग-बुद्धि से कर्म करो, क्योंकि इसी अनासक्ति (आसक्ति त्याग) और पूरा होने-न-होने में बेफिक्री को—समता को योग कहते हैं।'—'कर्म के सम्बन्ध की विशेषता को—कौशल को—योग कहते हैं।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

(गीता 2।48)

'योगः कर्मसु कौशलम्' (गीता 2।50)

यद्यपि योग दर्शन में भी 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (1।2) तथा 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रिया योगः' (2।1) सूत्रों में योग शब्द की व्याख्या की गयी है। फिर भी वह दूसरे ढंग की है—संकुचित एवं एकदेशी है। वह व्याख्या केवल योग दर्शन वालों के ही काम की है और यह तो मानना ही होगा कि योग-दर्शन जनसाधारण की पहुँच के परे की चीज है—व्यावहारिक जीवन की चीज़ नहीं है। उससे केवल विरक्त या अध्यात्मवादी ही लाभ उठा सकते हैं जिनकी संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है, संसार तो दिन-रात कामों (कर्म) में लिप्त है, फँसा है, उसे चित्तवृत्ति निरोध से क्या काम? फलतः जिन कामों को वह कर रहा है उनसे उसे न हटाकर भी कोई ऐसी युक्ति (तरकीब) बतायी जाय जिससे अभीष्ट की सिद्धि और असिद्धि, हार-जीत, हानि-लाभ आदि की उसके दिल पर चोट न पहुँचे और हर हालत में वह एक-सा रहे—निर्द्वन्द्व रहे तथा जनक की तरह हिम्मत से कह सके कि समूची मिथिला जली सही, लेकिन मेरा क्या जला?

मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किञ्चन दह्यते।

—तो कितना सुन्दर हो, कितना अच्छा हो और इस बेहाल दुनिया को वह कितनी रुचे! इतना ही नहीं, काम करते-करते थक गये और नतीजा कुछ न हुआ तो फिर शुरू किया और इस तरह करते-करते थक गये, मरने की नौबत आ गयी, फिर भी यदि काम छूट जाने का मौका आया तो मारे चिन्ता के जलने लगे, यहाँ तक कि अन्त दम में भी उस काम की फिक्र से ही बेहाल हैं! ठीक वही हालत है कि बन्दरी का बच्चा तो मर गया, मगर वह उसे फिर भी छाती से चिपकाये फिरती है और छोड़ना नहीं चाहती। ऐसी मनोवृत्ति भी कैसी भयंकर और दुःखद है! यह कर्म की ममता भी कैसी भयावनी है! ठीक वैसी भी है, जैसी फल की। आसक्ति सभी बुरी है फिर वह चाहे फल की हो या कर्म की, वह समुद्र या नदी में तैरनेवाले के गले की चक्की है। फल जबतक कच्चा है, डाल में लगा रहता है और बलात् उसका तोड़ना ठीक नहीं है। साथ ही, पकने पर जब वह अनायास डाल (वृन्त) से छूट रहा तो हठात् वृन्त में ही उसे चिपकाये रखना या रखने की कोशिश कम बुरी नहीं है, ऐसा करना तो फल, वृन्त, डाल, वृक्ष सभी को बेकार बनाना है। ऐसी हालत में यदि इस मनोवृत्ति को हटाने का कोई उपाय हो तो कितना बढ़िया हो, रमणीय हो! यह उपाय, तरकीब या रास्ता योग दर्शन के अरण्य में मिलने का नहीं, इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है और ठीक ही कहा है कि योग में तो रोगों का खतरा है—'योगे रोगभयम्'। परिणाम यह होता है कि साधारण जनता की ज्ञानपिपासा और आकांक्षा

योग दर्शन के पढ़ने के बाद भी शान्त नहीं होती। वह या तो उसे समझ पाती ही नहीं या उसे अपने लिए बेकार समझती है। साथ ही सांसारिक झंझटों में लिप्त रहने के कारण कार्यों के फलाफल से होनेवाली वेदनाओं से समय-समय पर ऊबकर उनसे छुटकारा भी चाहती है जो सहज हो। क्योंकि समय-समय पर की यह ऊब तो केवल मसानियाँ वैराग्य है, स्वभावतः लोग कामों से तो अलग हो ही नहीं सकते, उन्हें कामों में ही मज़ा आता है। हाँ, कभी-कभी वह मज़ा किरकिरा हो जाया करता है और उसी किरकिरेपन से पिण्ड छुड़ाने की इच्छा लोगों को स्वभावतः रहती है और गीता के 'योग' निर्वचन की खूबी, इसी में है कि वह उस आकांक्षा की पूर्ति करता है, यद्यपि आज हमें यह बात विदित न हो और मतवाद एवं साम्प्रदायिक आग्रह में पड़कर हमने गीता के इस रहस्य को भुला दिया हो, तथापि गीता के सर्वाधिक लोकप्रिय बनने का प्रारम्भिक कारण यही है कि जन-साधारण के भावों को समझ उन्हीं के उपयुक्त साधनों के सम्पादन द्वारा उनकी पूर्ति का उपाय उसमें बताया गया है।

बहुत लोगों के मन में यह शंका होती है कि गीता में ही योग की दो परिभाषाएँ क्यों कर दी गयी हैं जो परस्पर मेल नहीं खाती हैं। एक में तो 'समत्व' का नाम योग रक्खा गया है और दूसरे में 'कौशल' का। समत्व कर्म तथा फल की अनासक्ति है जो निषेधात्मक है और कर्म में 'कौशल' विशेषज्ञता या विशेष रूप की जानकारी है जो भावात्मक है। कुशल या विशेषज्ञ (specialist) तो वही होता है जो उस वस्तु के रग-रेशे को रत्ती-रत्ती जाने। ऐसी हालत में तो यह विशेष ज्ञान विधानात्मक (positive) हुआ और पूर्वोक्त अनासक्ति निषेधात्मक (negative)। लेकिन यदि थोड़ा भी प्रवेशपूर्वक देखा जाये तो यह बात नहीं है। आखिर योग के उक्त दोनों निर्वचन गीता के द्वितीय अध्याय में ही नहीं, किन्तु पास-पास के ही श्लोकों में लिखे गये हैं। 48 और 50 के बीच में तो केवल 49 संख्या वाला श्लोक ही व्यवधायक है। बल्कि 49वें श्लोक में जो 'बुद्धियोग' शब्द आया है उसी का स्पष्टीकरण 50वें में है। फलतः व्यवधान भी नहीं है, किन्तु दोनों निर्वचन आगे-पीछे मिले ही हुए हैं। ऐसी दशा में पूर्वापर विरोध का अवसर ही कहाँ? जब साधारण मनुष्य भी एक साथ बोलने में एक समय पूर्वापर विरोध से बचता है तो फिर गीतोपदेशक श्रीकृष्ण या गीता के पदबद्धकर्त्ता व्यास का क्या कहना? असल में यह मानव स्वभाव है कि बुरा-भला जो कुछ किया जाता है उसका, उसके फल का तथा संसार में निरन्तर होनेवाली घटनाओं का प्रभाव दिल-दिमाग पर आत्मा पर—पड़ता ही है। यह असम्भव है कि आईने के सामने कोई पदार्थ लाया जाये और उसकी छाया उसमें न पड़े—प्रतिबिम्ब न दीखे। और घटना-चक्र का यही आत्मा पर पड़ने वाला प्रभाव हमारे सभी कष्टों एवं वेदनाओं का कारण है। जब तक दिल-दिमाग दुरुस्त हैं, काम करते हैं तब तक ये वेदनाएँ अनिवार्य हैं। गाड़ी नींद के बाद जब कोई हृष्ट-पुष्ट मनुष्य उठता है तो

उसके दिल-दिमाग शान्त और एकरस—सम मालूम होते हैं और इस दशा को हम दूसरे शब्दों में बैलेन्स्ड (balanced) कह सकते हैं। लेकिन उसके बाद घटनाचक्र के करते रसभंग शुरू होता है और मनुष्य कभी प्रसन्न और कभी खिन्न होता है, कभी रोता है तो कभी हँसता और कभी उदासीन बनता है। यही विषमता की (Unbalanced) अवस्था उसके दिल-दिमाग की है। यदि यह अवस्था न आवे तो जिन्दगी कितनी मजेदार हो, जीवन कितना सरस हो, जैसाकि अबोध बच्चों में प्रायः पाया जाता है। गाढ़ निद्रा और बेहोशी की हालत में भी इस विषमता का पता नहीं रहता, मानो आईना बन्द है और प्रतिबिम्ब नहीं पड़ते। मानव-हृदय और मानव-मस्तिष्क इतने भावग्राही हैं, भाव-व्यंजक हैं, संसर्गग्राही हैं, sensitive हैं कि प्रत्येक घटना का प्रभाव लिए बिना नहीं रहते, अवश्य प्रभावित हो जाते हैं। इधर हमारी हालत यह है कि अच्छे भावों और उनके परिणामों के साथ तो तन्मय होना हमें पसन्द है लेकिन असद्भावों और दुष्परिणामों से बचना चाहते हैं। यह परस्पर विरोधी बातें हैं। यह ऐसी ही हैं जैसी दिन को चाहकर रात को न चाहना। संसार तो परिणामी है, परिवर्तनशील है। फलतः अच्छे के बाद बुरे और बुरे के बाद अच्छे का आना अनिवार्य है। इसमें कोई अन्तर नहीं कि हम दुःख चाहें या सुख। इन दोनों को तो अयुत सिद्ध कहना चाहिए जिसके मानी हैं कि एक के बिना दूसरा रह ही नहीं सकता। अतएव बुद्धिमानी इसी में है कि हम एक को भी न चाहें। यह कोई असम्भव बात नहीं। हाँ, कठिन अवश्य है। और जब यह दशा प्राप्त हो गयी तो दिल-दिमाग एकरस (balanced) रहते हैं, सम रहते हैं। इसी दशा का नाम 'समत्व' है जिसका उल्लेख उक्त 48वें श्लोक में है।

कही चुके हैं कि कामों का प्रभाव दिल-दिमाग पर पड़ता ही है। बल्कि यों कहना चाहिए कि कर्मों के फल के रूप में जो हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःख आदि होते हैं उनका अनुभव दिल-दिमाग तभी करते हैं, उनसे प्रभावित तभी होते हैं, जब उन कर्मों से पहले प्रभावित हो लेते हैं। बीज में अंकुर उत्पादन की शक्ति होती है जो प्रतीत नहीं होती। लेकिन भाड़ में डाल देने पर वह शक्ति नष्ट हो जाती है यद्यपि बीज ज्यों-का-त्यों रहता है। ठीक यही दशा कामों की है। जो काम हमारे दिल-दिमाग को प्रभावित नहीं करते उनकी सुख-दुःखानुभावक शक्ति नष्ट हो जाती है। बेहोश आदमी को छुरी भोंकने की जानकारी न होने से उसके बाद होनेवाली पीड़ा का भी अनुभव नहीं होता।...अतएव बुरे-भले कर्मों के साथ यदि हमारी तन्मयता छूट जाये तो फिर उनके फलों से भी पिण्ड अनायास ही छूटे। इसके लिए यदि कोई हिकमत, उपाय या तदवीर हो तो क्या खूब! काम करने से तो पिण्ड छूट नहीं सकता। मजबूरन कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।

(गीता 3।5)

फिर कर्मों से बचने की निरर्थक कोशिश से क्या प्रयोजन और क्या प्रयोजन इस बेहूदा दुराग्रह से कि मैं अमुक कर्म करूँगा ही? एकमात्र उनकी आसक्ति से बचने की कोशिश में बुद्धिमानी है जिससे फल भोगने न पड़ें। इसी बुद्धिमानी को, चातुरी को, कौशल को 'योग' कहा है उक्त 50वें श्लोक में और यह कौशल वही अनासक्ति या समता या दिल-दिमाग का balance है। इस प्रकार देखने से दोनों में विरोध कहाँ है? बात असल यह है कि 48वें श्लोक में 'समत्व' नामक जिस योग का उल्लेख किया है उसी का विशदीकरण 49, 50, 51 आदि आगे के श्लोकों में किया है और कहा है कि कर्मों को करता हुआ भी ऐसी बुद्धिमत्ता का सम्पादन करे, ऐसे कौशल को प्राप्त करे जिससे सिद्धि, असिद्धि में हमेशा बेफिक्र रहे। क्योंकि बिना ऐसी बुद्धिमत्ता के सुकृत-दुष्कृत या भले-बुरे कर्मों तथा उनके फलों से छुटकारा नहीं हो सकता। इसके बाद के 51वें श्लोक 'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि' में फिर उसी बुद्धिमत्ता का विवेचन किया है और दिखलाया है कि किस प्रकार अनासक्ति या समत्वज्ञानरूपी बुद्धिमत्ता के प्राप्त होने पर जन्म-मरण से छुटकारा हो जाता है।

गीता के इस योग का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को किसी प्रकार का आग्रह कर्म के सम्बन्ध में नहीं होना चाहिए। प्राकृत नियमों के अनुसार प्रवाह पतित कर्मों से भागना भी ठीक नहीं और अगर संस्कारवश कर्म अपने-आप ही छूट जाएँ या एक छूटकर उसकी जगह दूसरा आ जाये तो हर हालत में महाभारतोक्त धर्मव्याध की तरह उसमें भला-बुरा नहीं मानना चाहिए। क्योंकि न तो कर्मों में ही कुछ रक्खा है और न उनके त्याग में ही। कर्मों के करने या उनके त्याग के सम्बन्ध में जो हमारी मनोवृत्ति है, भावना है वही असल चीज है और उसी के सम्पादन में हमारा ध्यान रहना चाहिए। यदि कर्मों में हमारी आसक्ति या ममता न हो तो वे हमसे छूट जाएँगे, यह धारणा भ्रान्त है। कर्म तो सृष्टि के नियमान्तर्गत हैं। फिर वे छूटेंगे कैसे? और अगर उन्हें छूटना ही है तो आसक्ति या ममता उन्हें रख नहीं सकती। प्रत्युत यह आसक्ति विचार को अन्धा और दुर्बल बना देती है। कारण, आसक्ति तो एक प्रकार का हठ है और हठ के साथ विवेक का सम्बन्ध ही क्या? आसक्ति में बहुत बड़ा दोष है कि वह मनुष्य को अधीर बना देती है, साहसहीन कर देती है और अधीरता की दशा में कोई भी काम ठीक-ठीक किया ही नहीं जा सकता। यह तो केवल कर्म की आसक्ति की बात है। फल की आसक्ति तो और भी बुरी है। वह मनुष्य के ध्यान को बाँट देती है और जब ध्यान बलात् फल की ओर चला जाता है तो पूरी शक्ति से कर्म का अनुष्ठान हो नहीं सकता। साथ ही, जिस पर आसक्ति होती है उसी पर अधिक दृष्टि होती है। फल यह होता है कि कर्म या

फल पर आसक्ति के करते उसी में दृष्टि बँध जाती है और कर्म के साधनों पर पूर्ण दृष्टि नहीं रहती। परिणाम यह होता है कि साधन-सम्पत्ति पूर्ण न होने से क्रिया (कर्म) ठीक नहीं होती, जिससे फल भी संदिग्ध रहता है। अतएव कर्म या उसके फल की ओर से दृष्टि हटाकर कर्म के साधनों पर रखनी चाहिए। एतदर्थ दोनों की आसक्ति त्याज्य है। बात भी है कि जब मनोयोगपूर्वक कर्म के साधन ठीक रहेंगे तो कर्म की पूर्ति और उसके द्वारा फल की सिद्धि को कोई रोक नहीं सकता, वह अनिवार्य है। ऐसी दशा में कर्म और फल दोनों की आसक्ति सर्वथा हेय है और जब वह रही ही नहीं तो दिल-दिमाग की समता (Balance) अवश्य ही रहेगी। गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (2 । 47), 'कृपणाः फलहेतवः' (2 । 49), आदि का यही भाव है।

हृदय तथा मस्तिष्क इस समता (balance) को पातंजल योग वाले भी अपने रास्ते से प्राप्त करना चाहते हैं। लेकिन यह मार्ग साधारण लोगों के लिए, जिनमें संसार से वैराग्य नहीं है, नहीं बताया गया है। क्योंकि 'अभ्यासवैराग्याभ्यां सन्निरोधः' (1 । 12) सूत्र के द्वारा योग की सिद्धि अभ्यास और वैराग्य दोनों की सहायता से बतायी गई है। इसीलिए इस योग को हम व्यावहारिक नहीं कहते। जीते जी मृतक बनने को कितने लोग तैयार हो सकते हैं? दूसरी ओर गीता का योग है। इसमें किसी भी काम की मनाही नहीं है। **प्रत्युत 'कर्मज्यायो ह्यकर्मणः' (गीता 3 । 8) के द्वारा नहीं करने की अपेक्षा कुछ भी करना अच्छा बताया गया है।** यह भी नहीं कि कर्म के फल से वंचित करने का यत्न किया गया हो। प्रत्युत जहाँ आसक्ति के करते फल संदिग्ध रहता है, तहाँ गीता ने अनासक्ति के द्वारा उसे और भी निश्चित कर दिया है, कारण, कर्मों के सुसम्पादन से उनके फल अवश्यम्भावी हैं। यह भी नहीं कि किन्हीं विशेष प्रकार के कर्मों में कोई महत्ता रक्खी गयी हो। वहाँ तो—

यत्करोपि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

(गीता 9 । 27)

—के द्वारा साधारण खान-पान से लेकर यज्ञ-हवनादि सभी के द्वारा समान रूप से कल्याण लिखा हुआ है। यम, नियमादि कठिन व्रतों का भी प्रश्न नहीं है और प्राणायाम, आसन आदि का भी नहीं। किन्तु सभी कुछ करते-कराते रहने पर भी या तो यह भाव रखना कि इन कर्मों के द्वारा हम भगवान् की पूजा करते हैं, या यह कि प्रकृति नियम के वश ये हमारे लिए कर्तव्य हैं, इसी से इन्हें करते हैं, अथवा जो कुछ करते हैं वह यज्ञ हो रहा है—

तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। **(गीता 9 । 27)**

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।

(गीता 18 । 9)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र। **(गीता 3 । 9)**

—बस, इन तीनों में से किसी भी भावना से, लेकिन कर्म के करने, न करने या उसकी फल की आसक्ति छोड़कर, जितने भी कर्म छोटे से बड़े तक (यहाँ तक कि मल-मूत्र त्याग से लेकर समाधि तक) किये जाते हैं, सभी कल्याणकारक होते हैं। इस प्रकार 'आम का आम और गुठली का दाम' चरितार्थ होता है। क्योंकि एक तो कोई विशेष परिश्रम या तैयारी नहीं करनी पड़ती, दूसरे कर्मों के सांसारिक फल भी मिलते ही हैं, तीसरे दिल-दिमाग की एकरसता (balance) बनी रहती है जिससे जीवन किरकिरा नहीं होता। चौथे परलोक में बन्धन नहीं होता और अन्त में कल्याण होता है। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में ये सभी बातें नहीं होती हैं किन्तु धीरे-धीरे एक के बाद दूसरी होती हैं। फिर भी इनका होना असम्भव नहीं। साथ ही यह मार्ग साधारण लोगों के लिए भी सुकर होने से सार्वभौम एवं व्यावहारिक है। यही गीता के योग की विशेषता है और इसी से इसे सार्वभौम धर्म कहते हैं। इसके अनुसार किसी भी हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान आदि सम्प्रदाय का मनुष्य समान रूप से कल्याण प्राप्त कर सकता है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

(गीता 18।47)

—का भी यही अभिप्राय है। यदि गीता का यह योग प्रचलित हो जाये तो धार्मिक कलह स्वयमेव विलीन हो जाएँ।

जैसाकि पहले कह चुके हैं गीता में योग शब्द का प्रयोग प्रायः दो सौ बार आया है—सभी अध्यायों में यह शब्द ओत-प्रोत है। केवल प्रथम और सत्रहवें अध्याय के श्लोकों में यह नहीं मिलता। यह भी बात है कि सर्वत्र योग शब्द का प्रयोग हमारे बताये अर्थ में ही नहीं हुआ है, किन्तु पातंजलयोग के अर्थ में तथा कोष में निर्दिष्ट अर्थों में भी हुआ है और प्रत्येक अध्याय के प्रतिपाद्य विषय की भी योग संज्ञा गीता में है। फिर भी यह गीता की कोई माननीय विशेषता नहीं है और इससे जनता का कोई विशेष लाभ नहीं। गीता ने मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की पारमार्थिक या पारलौकिक जीवन के साथ एकता करके उसे जो सर्वजनसाध्य व्यावहारिकता प्रदान की है यही उसकी विशेषता एवं उपादेयता का कारण है। चाहे घर में हो या जंगल में, हल जोतता हो या समाधिस्थ हो, नमाज पढ़ता हो, प्रार्थना करता हो या सन्ध्योपासन में लगा हो, हर हालत में वह समान रूप से कल्याण का अधिकारी हो सकता है, इसे गीता ने दार्शनिक रूप से बताया है। यह बात इस रूप में कहीं नहीं मिलती। यह गीता की देन है—उसकी अपनी वस्तु है और यही गीता का योग है।

पूर्वमीमांसा दर्शन

प्रत्येक प्राणी के चित्त में सर्वदा यह उत्कण्ठा बनी रहती है कि दुःख मुझे न हो किन्तु सुख ही सर्वदा बना रहे। अतएव सभी तदनुकूल ही यत्नक्षेत्र में पदार्पण भी करते हैं परन्तु पूर्णतया पदार्थज्ञान न होने से उचित उपायों का अनुसरण न कर अपने अभीष्ट का सम्यक् लाभ नहीं कर सकते, किन्तु आनन्दकण के ही भागी होते हैं और वह भी अचिरस्थायी तथा मधुमिश्रित-विषभक्षण-जन्य-सुख के सदृश होता है। दुःख-निवृत्ति का तो नाम भी नहीं, प्रत्युत सर्वत्र उनको दुःखों से ही सामना करना पड़ता है, फलतः वे अपना मनोरथ नहीं सिद्ध कर सकते। हाँ, केवल मनुष्य में यह शक्ति ईश्वर प्रदत्त है कि वह जो चाहे सो प्राप्त कर सकता है और इसीलिए उपरोक्त नियमानुसार वह भी उसी धुन में लगता है परन्तु यह वार्ता गुप्त नहीं कि प्रत्येक वस्तु के प्राप्त करने के उपाय होते हैं जिनसे ही वह वस्तु प्राप्त की जा सकती है। अतएव मनुष्यता के कारण कार्याकार्यी-विचारक्षम होने से वह भी उपायान्वेषण में दत्तचित्त होता है, परन्तु स्मरण रहे कि उपदेष्टा के बिना इष्टसिद्धि के उपाय जाने नहीं जाते। सब का ज्ञानभण्डार उत्पत्ति के साथ ही फूट नहीं पड़ता किन्तु अन्ततोगत्वा ताले में कुंजी तो लगानी ही पड़ती है। विश्वविद्यालय के बनाये नियमों के बिना बी. ए. की डिग्री प्राप्त करना तथा उससे फल प्राप्त करना सम्भव नहीं, इसके अलावे सदुपदेश न मिलने पर वंचक लोगों को तो उपदेश मिलेगा ही, जिसका परिणाम यह होगा कि लक्ष्यसिद्धि तो दूर रही उससे सैकड़ों कोस पड़ जाना होगा। जैसे कोई बालक शिक्षाकाल में उचित शिक्षा स्थानों में प्राप्त न हो दुष्टसंसर्ग से भ्रष्टसंस्कार होकर मनुष्यशरीर-साध्य-लक्ष्य से वंचित रह जाता है और उसका जीवन भविष्य में माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों का महान् अनर्थकारी हो जाता है तथा कितने ही भावी सपूतों की आशा पर उसके संसर्ग से पानी फिर जाता है। ठीक वही दशा मनुष्य की भी हो सकती है। इसीलिए दयालु महर्षिगणों द्वारा दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। जो सदुपदेश तथा असदुपदेश की शाण रूप हैं, इस बात को आगे प्रसंगवश स्पष्टतया तत्र यत्र प्रदर्शन करेंगे। उनका उद्देश्य केवल यही है कि उनसे ज्ञान लाभ कर पुरुष स्वार्थ तथा परार्थ को यथोचित रीति से सिद्ध कर सके। जैसा कि बालक सभी स्वकीय

एवं स्वसम्बन्धियों की इष्टसिद्धि में समर्थ हो सकता है जब शिक्षालय में प्राप्त होकर उचित शिक्षा क्रम से ग्रहण करे। कितनों का यह कथन है कि तो फिर दर्शनों का परस्पर विरोध क्यों ? एक-दूसरे का खण्डन-मण्डन क्यों करता है? द्वैत तथा अद्वैत दोनों तो सत्य हो ही नहीं सकते, पदार्थों की सात और चौबीस या पच्चीस संख्या तो हो ही नहीं सकती, एक ही बात सत्य होगी, इससे जाना जाता है कि दर्शनकर्त्ता भी पारंगत न थे। किन्तु जिसकी बुद्धि में जैसा आया वैसा ही लिख मारा। कितने लोग ऐसा भी कहते हैं कि जैसे जलवायु प्रभृति ईश्वरीय पदार्थ सबके लिए समान हैं वैसे ही ईश्वरप्राप्ति का मार्ग भी सबके लिए एक ही होना चाहिए अर्थात् एक ही धर्म व दर्शन चाहिए न कि नाना इत्यादि। इस सब कथनों का तत्त्व तथा समाधान उपरोक्त बालक दृष्टान्त से ठीक-ठीक समझ में आ जायेगा। दर्शन नाम ज्ञान का तथा जिस द्वारा ज्ञानप्राप्ति होती है उसका है। यद्यपि ज्ञान प्रद से सभी घट घटादि ज्ञानों का ग्रहण हो सकता है तथापि शास्त्रीय संकेत, प्रकरण और तात्पर्यादि वश से मोक्षोपयोगी आत्मज्ञान ही यहाँ पर लिया जाता है, अतएव जिससे उसकी प्राप्ति होगी वह भी उन्हीं पदार्थों का प्रतिपादक होना चाहिए जो उस ज्ञान के उपयोगी होवें, इस प्रकार से आत्मज्ञानोपयोगी पदार्थ प्रतिपादक वाक्यसमूह का ही नाम दर्शनशास्त्र हुआ। अब विचारना चाहिए कि क्या उस ज्ञानप्राप्ति के अधिकारी सब समान ही हैं जिससे सबके लिए एक प्रकार का ही उपदेश या दर्शन होना चाहिए ? क्या स्कूल या कॉलिजों में सब बालकों के लिए एक ही प्रकार के क्लास, किताबें या उपदेश होते हैं ? क्या प्राइमरी क्लास के बालकों के लिए बी. ए. इत्यादि क्लासों की शिक्षा विरोधिनी नहीं होती जिससे वे हटाकर नीचे दर्जों में भर्ती किये जाते हैं ? हाँ पढ़-लिख लेने पर कोई भी शिक्षा विरोधिनी नहीं हो सकती। ठीक वही दशा दर्शनों की भी समझनी चाहिए। ये भी बालकवत् अधिकारी के अनुरोध से प्रवृत्त हुए हैं और उसी दृष्टि से परस्पर विरुद्ध भी प्रतीत होते हैं परन्तु विचारदृष्टि से नहीं, इस विषय को आगे प्रत्येक दर्शन में प्रतिपाद्य विषयों के अधिकारी आदि निरूपण प्रसंग में विस्तार से दिखलावेंगे। इसीलिए इनको Six schools of Philosophy कहते हैं। स्कूल पद से उपरोक्त ही तात्पर्य का ग्रहण उचित है। वस्तुतः तो दर्शनों का परस्पर विरोध है ही नहीं किन्तु विचार बिना ही प्रतीत होता है इस बात को परस्पर संगति दिखलाते हुए प्रदर्शन करेंगे। अतः ऋषिगणों की पारंगतता में कोई संशय नहीं है। सबके लिए जल, वायु आदि समान हैं यह भी कहना असंगत ही है, प्रत्येक प्रदेशों की भूमि, जल, वायु आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, किसी की प्रकृति के अनुकूल ही जलादि दूसरे के प्रतिकूल हैं, शीत, प्रदेशवासियों के विरुद्ध गर्म देश हैं और इनके लिए गर्म देश विरुद्ध हैं, इत्यादि। और भी देखना चाहिए कि एक ही गृह में पिता पुत्रादि का धर्म जब समान नहीं होता तो सृष्टि मात्र का कैसे समान हो सकता है। क्या बड़े राजे-महाराजों के पास पण्डित, मूर्ख, ब्राह्मण और चाण्डाल की बराबर पहुँच

हो जाती है और उनकी वहाँ बराबर ही प्रतिष्ठा होती है ? इससे स्पष्ट है कि सबके लिए एक धर्म या दर्शन बनाना गोया सब स्कूल या कॉलिजों में बालकमात्र के लिए एक ही क्लास तथा उपदेशकादि बनाना है। इसलिए सब लोगों को सामान्यतः यह बात मान लेनी होगी कि आर्षदर्शनों की प्रवृत्ति के नियमानुकूल लोगों के बोध होने के लिए ही है। जैसे किसी ऊँचे मकान की छत पर पहुँचने के लिए सोपान होते हैं वैसे ही परमात्मा जो अति दुर्ज्ञेय होने के कारण ऊँची छत के तुल्य है उसकी प्राप्ति के लिए दर्शन सोपानवत् है। जैसे एक सोपान से दूसरे पर जाने से ही सकुशल ऊपर पहुँच सकता है, वैसे ही एक दर्शन ज्ञानोत्तर अन्य दर्शन ज्ञान से ही परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं यह वार्त्ता आगे स्पष्ट की जावेगी।

जो मनुष्य मद्यपान करके विचारहीन हो रहा है उससे किसी ने हँसी में कह दिया कि तुम्हारे मुख पर कालिमा-पूर्ण बिन्दु विद्यमान है, उसने विचार में अक्षम होने के कारण स्वयं विचार न करके दूसरों से पूछा तो किसी ने कहा कि 'नहीं' और दूसरे हास्यप्रिय ने उत्तर दिया कि 'हाँ'। बस, अब क्या था ? उसका लोगों के कथन पर विश्वास जाता रहा और वह अपने इस क्लेश के निवारण का यत्न सोचने लगा। इतने ही में किसी वृद्ध ने उसे यह सम्मति दी कि तुम्हारे गृह के अमुक भाग में एक दर्पण है, उसमें अपने मुख का अवलोकन कर स्वकीय संशय और तज्जन्य दुःख इन दोनों को हटा सकते हो। परन्तु स्मरण रहे कि वह दर्पण बाहर नहीं है किन्तु उसके ऊपर सूक्ष्म वस्त्र का आच्छादन लगा तदनन्तर काष्ठा के ढक्कन से ढक कर पृथ्वी के नीचे गाड़ दिया गया है, इसलिए प्रथम तुम्हें यही उचित है कि उसके ऊपर का मल (मिट्टी) हटाकर ढक्कन सहित उसे ऊपर करो, तदुपरान्त काष्ठा का पर्दा भी हटाना होगा और उसके बाद सूक्ष्म वस्त्र आवरण को दूर कर स्वच्छन्दतापूर्वक स्वमुख निरीक्षण कर सम्पूर्ण क्लेशों का निवारण कर सकते हो। इस उचित और परमोपयोगी उपदेश को सुनकर उस पुरुष ने क्रमशः तीनों कार्य करके निर्मल दर्पण को प्रकट किया और उसमें अपने स्वरूप का प्रतिबिम्ब सुस्पष्ट रूप से अवलोकन कर मुक्त क्लेश हुआ। यदि प्रथम ही वह मुख ही देखना चाहता और कुछ व्यापार (कर्म या क्रिया) नहीं करता अथवा वस्त्र रूप आवरण या काष्ठ को ही प्रथम हटाना चाहता तो क्या कभी भी उसके सफल मनोरथ होने की सम्भावना भी हो सकती थी या है ? अथवा क्या कभी भी विचार में यह बात आ सकती है कि जिस पुरुष ने उसे मुँह देखने के लिए प्रथमतः 'न' कहकर मल (मिट्टी) हटाने के ही लिए उसे उपदेश दिया उसका तात्पर्य दर्पण में मुख देखने में नहीं है ? उसमें मुख को देख लेना तो फल है, अतः उसके लिए उपदेश करना व्यर्थ है, साधनों के होने से वह अपने आप ही सिद्ध हो सकता है। जो मनुष्य किसी की बुभुक्षा (भूख) का निवारण करना चाहता है वह उसे 'भोजन करो' ऐसी आज्ञा वा उपदेश न देकर 'चावल, लकड़ी इत्यादि लाओ' इस प्रकार से भोजन के साधनों का ही उपदेश करता है। यह तो

हुई दृष्टान्त की बात। अब दार्ष्टान्त में आइये। मनुष्य का हृदय सत्य गुण का कार्य होने के कारण दर्पण से भी निर्मल है इसीलिए वही दर्पण स्थानापन्न है। जिसमें यह जीव...

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी।
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। वारि वीचि इव गावहिं वेदा।।

इस अपने वास्तव परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार करके विविध नामों से रहित होता है, जिस जीव के वास्तव स्वरूप के विषय में वेदों की ये घोषणाएँ हैं कि—"अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं, तत्त्वमेव त्वमेव तत्।।" गीता में भगवान् श्रीकृष्णजी ने भी यही कहा है कि 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गीता अ. 13) परन्तु उस अन्तःकरण (हृदय) रूप दर्पण के ऊपर पूर्वोक्त मिट्टी, काष्ठ और वस्त्र की तरह तीन आवरण (पर्दे) पड़े हैं जिन्हें क्रमशः मल, विक्षेम और आवरण कहते हैं। इसलिए जब तक ये तीनों पर्दे हटाये न जावें तब तक अन्तःकरण रूप दर्पण में महामोहमदन्मत्त जीवात्मा अपने वास्तव पूर्वोक्त स्वरूप को नहीं देखता है और जैसे पूर्वोक्त पुरुष कालिमा के संशय से दुःखी रहता है उसी प्रकार यह जीव भी भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न बातें सुनकर इस सन्देह में मग्न रहता है कि जीवात्मा ईश्वर से भिन्न है अथवा उसी का स्वरूप और इसी संशय अथवा विपरीत निश्चय से कि जीव ईश्वर से भिन्न ही हैं, अपने को दुःखी, सुखी कर्त्ता और भोक्ता इत्यादि माना करता है। मनुष्यों के हृदय में जो राग-द्वेष, मद, छल और कपट प्रभृति दुर्गुण भरे रहते हैं उनका ही नाम प्रथम (सबसे ऊपर) या मल का पर्दा है। और चित्त की प्रबल चंचलता—जिसे गीता में स्पष्ट ही कह दिया है कि—

चंचलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्।।

अर्थात् मन अत्यन्त चंचल है जिसका रोक सकना वायु को रोक रखने के समान है—का नाम विक्षेम अथवा दूसरा पर्दा है और अपने वास्तव स्वरूप की अप्रतीति वा अज्ञान तीसरा अथवा आवरण रूप पर्दा है। इन तीनों की निवृत्ति क्रमशः कर्म, उपासना और ज्ञान से होती है। क्योंकि यदि किसी के मकान में धूल पड़ी होवे तो वह क्रिया (झाड़ू देने) से ही हट सकती है न कि किसी का ध्यान या विचार करने से। इसी प्रकार विक्षेप रूप मन की चंचलता किसी इष्ट देव या वस्तु के ध्यान रूप उपासन्ना से ही हट सकती है क्योंकि अत्यन्त चंचल जन्तुओं के रोकने का उपाय यही होता है कि वे एक ही स्थान में बाँध दिए जाते हैं। तीसरा आवरण या अज्ञान रूप पर्दा ज्ञान से ही निवृत्ति हो सकता है क्योंकि ज्ञान ही अज्ञान का नाशक है। इसीलिए वेदों या गीता में तीन काण्ड पाये जाते हैं, कर्म, उपासना और ज्ञान, जिनके अनुसार ही सभी दर्शन तीन भागों में विभक्त हैं, या तो कर्म के प्रतिपादक हैं अथवा

उपासना या ज्ञान के।

उनमें से पूर्वमीमांसा दर्शन कर्म का ही प्रतिपादक है और उसी में उसका पर्यवसान है। न्याय, वैशेषिक और योग इन तीन दर्शनों का प्रधानतः प्रतिपाद्य विषय उपासना है। यद्यपि उनमें ज्ञान की भी झलक प्रतीत होती है तथापि वह उनका उद्देश्य या प्रधान विषय नहीं है किन्तु उपासना के अनुगुण होने से उपासना ही उनका मुख्य उद्देश्य और प्रतिपाद्य विषय है। इसकी सविस्तर मीमांसा आगे होगी। सांख्य और वेदान्त इन दोनों का मुख्य विषय अथवा उद्देश्य ज्ञान मात्र ही है। उनमें से भी सांख्य का ज्ञान आंशिक और वेदान्त का सर्वांगपूर्ण है। इस स्थान पर इतना और हृदयंगम कर लेना अच्छा होगा कि यद्यपि न्याय और वैशेषिक दर्शनों का पर्यवसान उपासना में ही है तथापि योगदर्शन उपासना के अतिरिक्त कुछ ज्ञानपक्ष की भी सहायता करता है और उससे कुछ ही अंशों में अधिक सहायता ज्ञान की सांख्य दर्शन करता है अतएव उसका मुख्य विषय ज्ञान ही माना गया है। तात्पर्य यह है कि वेदान्त दर्शन जिस ज्ञान का प्रतिपादन करता है वह वही है जैसा कि पूर्व कह चुके हैं कि 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा' इत्यादि। परन्तु उस वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान—जीव ब्रह्म से वास्तव में पृथक् नहीं है। ऐसे ज्ञान में ब्रह्म और जीव के वास्तव स्वरूपों के जानने की आवश्यकता है क्योंकि तभी यथार्थ ब्रह्मज्ञान हो सकता है। जब तक हम दो पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को न जानें तब तक यह क्योंकर जान सकते हैं कि एक पदार्थ दूसरे का स्वरूप ही है अथवा उससे पृथक् इसीलिए उस ब्रह्म के शुद्ध स्वरूपज्ञान में योग दर्शन साहाय्य प्रदान करता है और जीव के शुद्ध स्वरूपज्ञान में सांख्य दर्शन। इस विषय में जो विशेषता सांख्य दर्शन की योग दर्शन से है वह आगे विदित होगी। अब इन दोनों की सहायताओं को पा वेदान्त दर्शन उन द्वारा रही सही त्रुटियों को हटाकर विशुद्ध ब्रह्मज्ञान उत्पन्न कर देता है जिससे परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष की सिद्धि हो जाती है। जैसे न्याय योगादि दर्शन उपासना द्वारा ज्ञान के सहायक होते हैं वैसे ही पूवमीमांसा दर्शन उपासना की सहायता द्वारा ज्ञान में परम्परया उपयोगी होता है। सारांश यह है कि मीमांसा या विचार का प्रारम्भ पूर्वमीमांसा दर्शन से प्रारम्भ होता है। इसलिए इसे पूर्वमीमांसा कहते हैं और न्याय, वैशेषिक, योग और सांख्य दर्शनों द्वारा पुष्टि को प्राप्त होता हुआ वेदान्त दर्शन में समाप्त हो जाता है इसी से वेदान्त दर्शन को उत्तर मीमांसा दर्शन भी कहते हैं जिसका अर्थ यही है कि मीमांसा का अन्त या समाप्ति इस प्रकार सभी आर्ष (ऋषि प्रणीत) दर्शन एक ही विचार रूप सरणि या मार्ग में शृंखलाबद्ध हैं। अब देखना यह है कि पूर्वमीमांसा दर्शन इस विचारमार्ग में कहाँ तक और क्योंकर उपयोगी है। यह आस्तिक सिद्धान्त है कि पूर्वमीमांसा दर्शन विचारमार्ग का प्रथम सोपान है। यह बात इस दर्शन के सूत्रों और भाष्यों की रचना शैली ही प्रमाणित कर रही है। यद्यपि न्याय दर्शन प्रभृति के भी सूत्र भाष्यादि रचना में विलक्षण हैं तथापि इतनी सूक्ष्मता और कठिनतापूर्ण विचित्र

लेखनशैली किसी में भी नहीं पायी जाती है। इस तरह ज्यों-ज्यों जो-जो दर्शन सूत्र या उनके भाष्यों का निर्माण पीछे होता गया त्यों-त्यों वे सरल होते गये हैं, यहाँ तक कि वेदान्तदर्शन का भाष्य सबके अन्त में रचे जाने के कारण प्रायः आधुनिक लेखन प्रणाली से ही लिखा गया है और सांख्य दर्शन सूत्रों का भाष्य तो बहुत हाल में बना है अतः उसकी भाष्यशैली बिलकुल ही आधुनिक है। इसमें संशय नहीं है कि महर्षि पाणिनि कृत व्याकरणसूत्रों की अष्टाध्यायी और उसके भाष्य तो मीमांसा दर्शन से भी प्राचीन हैं इसीलिए उनकी रचनाशैली और भी विचित्र है। प्राचीन लोगों की यह रीति थी कि लेख को बहुत ही संक्षिप्त करते थे। अतएव पाणिनीय सूत्रों में बहुत ही संक्षेप पाया जाता है यहाँ तक कि दूसरे-दूसरे सूत्रों के ही पद अन्य सूत्रों में मिलकर उनके अर्थ में सहायक होते हैं। इससे बढ़कर संक्षेप क्या हो सकता है। अतएव वैयाकरणों का यह सिद्धान्त है कि–

"अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"

जिसका अभिप्राय यह है कि यदि सूत्रों के निर्माण में एक रीति को अवलम्बन करने से आधी मात्रा की भी बचत होवे तो वे लोग उतने ही से पुत्रजन्म के समान आनन्द मानते हैं। यह भी देखा जाता है कि मीमांसादर्शन भाष्य में बहुत जगह पाणिनीय सूत्रों अथवा उनके अंशों को ज्यों का त्यों लिखा है। अतः पाणिनिसूत्र और उनका भाष्य सभी दर्शनों से प्राचीन है, इसीलिए जैसे व्याकरण महाभाष्य में जिन गावी, गोणी, गोता और गोपोतलिका शब्दों का संकीर्त्तन है उन्हीं का मीमांसा दर्शन में भी परन्तु उस भाष्य में इसकी रचना शैली कुछ सुगम अवश्य है, अतः वह भी इससे प्राचीन ही है। अस्तु, चूँकि पूर्वमीमांसा दर्शन विचार का प्रथम सोपान या सीढ़ी है, और मोक्षमार्ग के लिए यत्न करने में सबसे प्रथम कर्मों की ही आवश्यकता पड़ती है जैसा कि पूर्व में ही कहा जा चुका है, इसीलिए पूर्वमीमांसा दर्शन ने कर्मों पर ही विशेष रूप से दबाव डाला। इस दर्शन के कर्त्ता महर्षि प्रवर जैमिनि जी का यह दृढ़ विचार था कि मनुष्य को सबसे पहले कर्मवीर होना चाहिए उसके बाद सभी सिद्धियाँ अथवा सभी वस्तुएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं। इसी से उन्होंने कर्मवीर बनाना ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझा है। ठीक भी है, क्योंकि हृदयदर्पण के ऊपर जो सबसे मोटा आवरण या पर्दा राग द्वेषादिरूप मलों का पड़ा हुआ है तो उस दर्पण से दूसरा काम कैसे हो सकता है ? उस बुद्धि से दूसरे सूक्ष्म विचार कैसे हो सकते हैं। इसीलिए पूर्वमीमांसा दर्शन कर्मकाण्ड कहलाता है। परन्तु चूँकि जब तक मनुष्य को यह न विदित हो जावे कि जो वस्तु हम चाहते हैं उसकी प्राप्ति के लिए अमुक (फलाँ) साधन ही ठीक है न कि दूसरे भी उपाय हैं तब तक वह निःसंशयरूप से उस यत्न में नहीं लगता। क्योंकि उसे यह संशय लगा रहता है कि हमारा उपाय झूठा तो नहीं है, दूसरे उपाय हमारे साधन की अपेक्षा सहज तो नहीं हैं ? अथवा उनसे शीघ्र फल की प्राप्ति तो न हो जायगी ? और जब तक संशय बना हुआ है तब तक उचित

यत्न किसी भी वस्तु की प्राप्ति के लिए कैसे हो सकता है ? अतएव भगवान् श्रीकृष्ण जी ने भी यही कहा है :

नायंलोकोऽस्तिन परो, न सुखं संशयात्मनः (गीता)।

अर्थात् जिसके चित्त में सन्देह को स्थान मिल गया है उसके न तो ऐहिक ही कार्य सिद्ध हो सकते हैं और न परलौकिक ही क्योंकि संशयाक्रान्त हो जाने से सभी कार्य छूट सकते हैं। और चूँकि सभी विवेकियों को मोक्ष की ही आन्तरिक अभिलाषा रहती है, इसलिए जैमिनि भगवान् ने अपने मीमांसा दर्शन में यही दिखलाया कि मोक्ष के साधन यदि कोई हैं तो वे कर्म ही हैं। इस प्रकार से उन्होंने कर्मों पर इतना जोर दिया जिसको कह नहीं सकते। इसलिए उन्होंने उपासना और ज्ञान दोनों की निन्दा की जिसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि लोग निस्सन्देह कर्मों में प्रवृत्त हों, न कि उनका वास्तव में निन्दा में ही तात्पर्य है। अतएव पूर्वमीमांसा भाष्यकार शंबर स्वामी ने कई जगह लिखा है कि 'नहिं निन्दा निन्द्यं निन्दयितुं प्रवर्त्तते, किन्तु निन्द्यादितरत्प्रशंसयितुम्' अर्थात् किसी की निन्दा इसलिए नहीं कि जाती या की गयी है कि वास्तव में वह वस्तु ऐसी ही है, बल्कि उस निन्दा का अभिप्राय उस निन्दित पदार्थ से भिन्न अपने अभीष्ट वस्तु की प्रशंसा में ही होता है। उन्होंने यह समझा कि चाहे जैसे हो अधिकारी पुरुष को कर्म में प्रवृत्त कर दो। जब कर्मों के करने से उसका हृदयदर्पण निर्मल हो जायगा तो उसमें उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ वस्तुएँ आप ही भान होने लगेंगी—उस पुरुष को यह बिना कहे ही विदित हो जायगा कि मोक्ष क्या वस्तु है और उसके साधन ज्ञान अथवा उपासना हैं वा नहीं।

चार्वाक आदि नास्तिकों ने देह अथवा इन्द्रियादि को ही आत्मा मानकर स्मरण को ही मुक्ति, सांसारिक विषय सुख को ही स्वर्ग, दुःख को ही नर्क और राजा को ही ईश्वर माना था, या अब तक भी वे मानते ही हैं, अतएव उनके मत में धर्माधर्म कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि उसके फल सुख और दुःखों को स्वर्ग, यमलोक या जन्मान्तर में भोगनेवाला कोई जीव मरणान्तर रही नहीं जाता, जिसे उसका भय अथवा उसी की प्राप्ति की अभिलाषा हो। इसी से उन्होंने ये सिद्धानत निकाला कि—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः।।"

अर्थात् "जब तक शरीर रहे तब तक आनन्द से रहे और ऋण लाकर भी अच्छी तरह घी, दूध, खावे, क्योंकि मरणोत्तर जब शरीरात्मा का दाह हो जायगा तो फिर संसार में आना थोड़े ही है जिससे सुख-दुःख का भय हो।" इसलिए पूर्वमीमांसा दर्शन ने कर्मवाद चलाया और यह युक्तियों से सिद्ध किया कि धर्म का ही फल सुख और अधर्म का फल दुःख है, जिसे अवश्य ही परलोक या जन्मान्तर में भोगना पड़ता है। अतःएव शरीरादि से भिन्न ही आत्मा को मानना पड़ेगा, नहीं तो इस शरीर से किये गये धर्माधर्म के फलों को पीछे कौन भोगेगा ? यदि कर्ममूलक यह सृष्टि

न मान कर अकस्मात् ही मान ली जावे तो इसकी विचित्रता भंग हो जावेगी, क्योंकि बिना विचित्र कारणों के विचित्र कार्य नहीं होते, यह भी नहीं देखा गया कि केवल रक्त या श्वेत तन्तुओं से चित्र रंग का वस्त्र तैयार होता है अथवा बिना भोजन किए ही तृप्ति होती है। यदि पुनर्जन्म न माना जावे तो कृतहानि और अकृताभ्यांगम रूप दोष भी होगा। तात्पर्य यह है कि इस शरीर से मरणोपर्यंत जो कुछ किया है उसका बिना भोग के ही नाश, और बाल्यावस्था से लेकर ही इस शरीर के सुख-दुःखों की प्राप्ति बिना कुछ किए ही होगी, क्योंकि भोगने वाला शरीर तो प्रथम था ही नहीं, तो अच्छे या बुरे कर्म किसने किए ? परन्तु ऐसा इस संसार में नहीं देखा जाता है कि जो चोरी न करे उसकी सजा हो और चोर जान बूझकर छोड़ दिया जावे। यदि सोने के बाद जागना और जागने के बाद सोना यह संसार का अटल नियम है और मृत्यु भी एक प्रकार की गहरी निद्रा ही है तो उसके बाद फिर पुनर्जन्म रूप जागरण क्यों न होगा ? जो बालक थोड़ा पढ़ता है उसका ज्ञान अल्प होता है अधिक पढ़ने वाले का अधिक। अर्थात् जिसने जितना ही अधिक अर्जन किया है उसका ज्ञान उतना ही अधिक होता है, परन्तु जो जन्म के थोड़े दिन बाद ही बिना पढ़े-लिखे ही विशेष ज्ञानवान होता है उसने इस शरीर से तो ज्ञानार्जन किया है नहीं, इसलिए मानना ही पड़ेगा कि दूसरे शरीर में ही उसने यह कमाया था। जन्म के साथ ही मनुष्य बालक जंगल के पशु या कीड़े जो माता के स्तन पीने लग जाते और यदि उन्हें कोई मारने चले तो भागने लग जाते हैं इत्यादि, इससे सिद्ध है कि वे जीवन अदृष्ट (धर्माधर्म) के प्रभाव से जन्मान्तरीय स्तनपान के सुख और मारने के दुःख को स्मरण करके ही ऐसा करते हैं, क्योंकि इस जन्म में तो अब तक उनहोंने ऐसे सुख या दुःख का अनुभव किया ही नहीं, और बिना अनुभव के स्मरण हो नहीं सकता, क्योंकि बिना जानी बात को याद कौन कर सकता है ? यदि ऐसा कहा जावे कि जिस माता-पिता से बालक की उत्पत्ति हुई है उसी के हाथ, पाँव और मुखादि जैसे बालक के भी हाथ, पाँव आदि जिस तरह होते हैं न कि, जन्मान्तर जैसे, उसी तरह माता-पिता के स्तनपान प्रभृति धर्म भी बालक में प्राकृतिक नियमानुसार आ जाते हैं, न कि इनके लिए जन्मान्तर की आवश्यकता है, तो फिर यह प्रश्न किया जा सकता है कि फिर पण्डितों के बच्चे मूर्ख और मूर्खों के पण्डित क्यों हुआ करते हैं? पिता का पाण्डित्य पुत्र में वैसे ही क्यों नहीं चला आता? काले पिता के गोरे पुत्र और गोरे के काले क्यों हुआ करते हैं ? और अन्धों और बहिरों के बच्चे आँख और कान वाले क्यों हुआ करते हैं ? जिन लोगों का यह कहना है कि कोई बुद्धिमान और कोई निर्बुद्धि कोई धनी और कोई निर्धन, कोई मनुष्य और कोई पशु इत्यादि सृष्टि की विचित्रता इसलिए नहीं हुई कि उन्होंने पूर्वजन्म में विचित्र कर्म (धर्माधर्म) किए थे, किन्तु पृथ्वी, जल और वायु आदि के परमाणुओं के विलक्षण-विलक्षण रासायनिक संयोग से विलक्षण-विलक्षण वस्तुओं की उत्पत्ति हुई। जो रासायनिक संयोग

से उत्तम या उससे उत्तम वस्तु बनी, एवं मध्यम से मध्यम इत्यादि। अतः उसके लिए धर्माधर्मों के मानने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी तरह शरीर से पृथक् जीवात्मा भी कोई वस्तु नहीं है, किन्तु जैसे कत्था, पान और सुपारी आदि के मेल या रासायनिक संयोग से रक्तिमा उत्पन्न हो जाती, है, जो प्रत्येक में नहीं होती। अथवा जैसे महुआ और गुड़ के मेल से मादकता (नशा) कोयला और कबूतर के पर इत्यादि के संयोग से विद्युत (बिजली) पैदा हो जाती है इत्यादि, जो प्रत्येक वस्तुओं में नहीं रहती। उसी प्रकार इन्हीं पूर्वोक्त पृथिवी आदि के परमाणुओं के रासायनिक संयोग से ही चेतना पैदा हो जाती है जिसे जीवात्मा कहते हैं और उन्हीं परमाणुओं के उस रासायनिक संयोग के बिगड़ जाने से चेतनता नष्ट हो जाती है जिसे मृत्यु कहते हैं।

यदि किसी का यह प्रश्न उन नास्तिकों (चार्वाक आदि) के प्रति होवे तो फिर जिस विलक्षण संयोग (रासायनिक संयोग) से विलक्षण वे पदार्थ बने वह रासायनिक संयोग विलक्षण-विलक्षण क्यों हुआ ? सभी संयोग एक ही प्रकार के क्यों न हो गये ? इससे उसी विलक्षण के लिए अदृष्ट (धर्माधर्म) रूप कोई कारण अवश्य मानना होगा। तो इस समस्या को वे लोग इस प्रकार हल करने का यत्न करते हैं कि यह तो स्वभाव (Nature) है जिससे सभी रासायनिक संयोग एक प्रकार के नहीं होते, और इस स्वभाव के विषय में प्रश्न किया जा नहीं सकता, क्योंकि अग्नि उष्ण क्यों हुई और जल शीतल क्यों हुआ ? ऐसे प्रश्न हो ही नहीं सकते। इन्हीं बातों को उन्होंने यों कहा है—

अत्र चत्वारि भूतानि, भूमि वार्यनलानिताः।
चतुर्श्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपाजायते।।1।।
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो, द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति समानाधिकरण्यतः।।2।।
देहः स्थोल्यादियोगाच्च स एवात्मा नवापरः।
मम देहोऽय मित्युक्तिः सम्भववेदौपचारिकी।।3।।
नित्यसत्त्वा भवन्त्येके, नित्यसत्त्वाश्च केचन।
विचित्राः केचिदित्यत्र, तत्स्वभावो नियामकः।।4।।
अग्निरुष्णो जलं शीतं, समस्पर्श स्तकाऽनिलः।
केनेदं रचितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थतिः।।5।।

इसका तात्पर्य वही है जैसा कह चुके हैं, केवल इतना ही अधिक इसमें है कि उन्होंने देह को ही आत्मा मानने से यह भी युक्ति दिखलाई है कि जब 'हम स्थूल हैं, कृश हैं' ऐसी प्रतीति हो रही है तो देह से भिन्न आत्मा की सत्ता हो कैसे सकती है ? क्योंकि स्थूलता प्रभृति तो शरीर के ही धर्म हैं। 'मेरा शरीर है' ऐसी प्रतीति जब कहीं भी होती है तो उससे यह न समझ लेना चाहिए कि जैसे 'मेरा घर है,' ऐसा कहने वाला घर से पृथक् है, वैसे ही 'मेरा शरीर' कहने वाला जीव

शरीर से भिन्न है, क्योंकि वह तो प्रतीति ऐसी ही है जैसी राहु का सिर यह प्रतीति। क्योंकि राहु तो सिर का नाम है ही, फिर उसका कौन सा सिर हो सकता है ? परन्तु फिर भी ऐसा व्यवहार होता रहता है, उसी प्रकार आत्मा तो शरीर रूप ही है, फिर भी 'शरीरात्मा का शरीर' यह व्यवहार होता रहता है, इससे यह स्पष्ट है कि आत्मा शरीर से अलग कोई वस्तु नहीं है, किन्तु पूर्वोक्त रीति से चेतना उत्पन्न होने पर उसे ही अथवा वह चेतन शरीर ही जीवात्मा है।

यहाँ पर नास्तिकों से यह पूछना चाहिए कि जिन विलक्षण विलक्षण रासायनिक संयोगों से वस्तुओं की विचित्रता हुई वे संयोग बिना कारण ही विचित्र-विचित्र क्यों हो गये ? यदि इस प्रश्न को वे लोग स्वभाववाद का अवलम्बन कर टालने का यत्न करें, तो उन्हें यह कह कर रोकना चाहिए कि यदि आपको आगे चल कर निरुत्तर होने पर स्वभाववाद का ही आश्रयण करना था तो रासायनिक संयोग तक क्यों गये ? चेतनता और विचित्रता को ही स्वाभाविकी क्यों न मान लिया ? यदि इस चेतनता आदि का आप कारण ढूँढ़ते और मानते हैं, तो फिर इसी प्रकार आपको इसके कारण विलक्षण रासायनिक संयोग का भी कारण बलात् मानना ही पड़ेगा। यदि प्रथम से ही अथवा आगे चलकर ही आपके इस स्वभाव रूप समाधान को मानें तो भी उसका तात्पर्य यही हो सकता है कि आप यथावत् उत्तर नहीं दे सकते। अर्थात् 'हम नहीं जानते' इसी बात को 'स्वभाव से ही' इस शब्दान्तर से कहते हैं। क्योंकि यदि आपका स्वभाववाद रूप निर्मूल समाधान (उत्तर) सत्य और उचित मान लिया जावे तो बड़ी-बड़ी लीलाएँ दृष्टिगोचर होंगी, क्योंकि जो बात आप कहते हैं उससे विरुद्ध पक्ष को ही यदि कोई आस्तिक सिद्ध करना चाहेगा तो कुछ देर तक आपका उत्तर देता रहेगा और जहाँ पर उसे उत्तर न आवेगा वहीं 'स्वभाव से ही' ऐसा कह बैठेगा, जिससे आपको पराजय मानना ही होगा। साथ ही इस प्रकार का स्वभाववाद लेकर इस संसार में सभी बातें सत्य ही सिद्ध की जा सकती हैं। इसलिए आपको स्वयं ही अवश्य स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार 'स्वभाव से ही' यह उत्तर उचित नहीं है किन्तु इसका तात्पर्य यही है कि 'हम नहीं जानते।'

जो अग्नि और जल का दृष्टान्त देकर आप स्वभाववाद का अवलम्बन करते हैं वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैसे ही दृष्टान्त आपसे विपरीतवादी को भी मिल सकते हैं। दूसरी और सत्य बात तो यह है कि स्वभाव उसका नाम है जिसे सभी लोग प्रत्यक्ष प्रमाण से जानते हों और जिसमें किसी को विवाद न हो, जैसे जल की शीतता अथवा अग्नि की उष्णता को सभी लोग प्रत्यक्ष ही जानते हैं और इनमें किसी को भी विवाद नहीं है। अतः ये उष्णता आदि स्वभाव कहे जाते हैं। परन्तु भूतों या परमाणुओं (Atoms) की चेतनता और रासायनिक संयोग की विलक्षणता में तो विवाद भी है और वे प्रत्यक्ष भी नहीं हैं, क्योंकि चेतनता मात्र का प्रत्यक्ष है न कि वह चेतनता परमाणुओं में ही है, ऐसा भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो अग्नि

की उष्णता की तरह उसमें विवाद ही नहीं होता। और जैसे सभी अग्नि उष्ण ही देखी जाती है वैसे सब परमाणु चेतन नहीं देखे जाते, क्योंकि मिट्टी का ढेला जड़ ही होता है इत्यादि, इसी से उसमें विवाद है। और रासायनिक संयोग तो बिलकुल ही अप्रत्यक्ष है, इसीलिए उसके स्वरूप और कारणता दोनों में ही विवाद है, ऐसी दशा में अग्नि के औष्ण्य की तरह वहाँ भी स्वभाव मान कर समाधान नहीं किया जा सकता, प्रत्युत ऐसा नितान्त भ्रम है।

और जो दृष्टान्त मदिरा की मादकता अथवा पान की रक्तिमा का दिया गया है वह प्रकृत में असंगत है, क्योंकि वहाँ तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि रासायनिक संयोग से ही मादकता उत्पन्न होती है और रक्तिमा भी वैसे ही देखी जाती है। परन्तु चेतनता भी परमाणु संयोग से ही उत्पन्न होती है यह बात तो कहीं भी प्रत्यक्ष नहीं है। अतः कहना पड़ेगा कि उसी मदिरादि के दृष्टान्त से यह अनुमान किया जाता है कि चेतनता भी रासायनिक संयोग से ही उत्पन्न होती है, परन्तु यह वार्ता भी असंगत है, क्योंकि दृष्टान्त मात्र से ही अनुमान नहीं होता, अन्यथा संसार में सभी वस्तुओं का अनुमान सुगमता से हो सकता है, क्योंकि दृष्टान्त मात्र सर्वत्र ही सुलभ है।

इसीलिए भगवान् कात्यायन ने न्याय दर्शन भाष्य में कहा है कि–

"नहिं दृष्टान्तमात्रमप्रतिसंहितंकिञ्चित्करं।
दृष्टान्तवत्प्रतिदृष्टान्तस्यापि संभवात्।।"

अर्थात् बिना किसी विशेष हेतु के कोई वस्तु दृष्टान्त मात्र से सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उस दृष्टानत के विपरीत भी दृष्टान्त मिल सकते हैं जिनसे उस वस्तु का उलटा भी सिद्ध किया जा सकता है। अतः आपको विलक्षण रासायनिक संयोग से चेतनता की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए कोई विशेष हेतु देना होगा, जिसमें पूर्वोक्त मदिरा वाली बात दृष्टान्त बनेगी। परन्तु स्मरण रहे कि अनुमान करने के लिए जो हेतु कहा जाता है उसका और जो वस्तु सिद्ध की जावेगी इन दोनों की व्याप्ति होती है, जिसे अंग्रेजी वाले नियम 'ला' (Law) कहते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि जब कहीं दूर से केवल धुएँ को देखकर वहाँ अग्नि का अनुमान करते हैं तो उस अनुमान से प्रथम ही यह निर्णात रहता है कि जहाँ धुआँ रहता है वहाँ अग्नि भी अवश्य रहती है, जैसा कि रसोई के घर वगैरह में देखा जाता है। इसी नियम को व्याप्ति कहते हैं, जिसमें रसोई का घर दृष्टान्त है; इसीलिए धुआँ रूप हेतु उस जगह अग्नि का ठीक-ठीक अनुमान करवा सकता है। इसी तरह प्रकृत में भी रासायनिक संयोग से होनेवाली चेतनता और उस हेतु की व्याप्ति होनी चाहिए जिसका प्रयोग उस चेतनता का अनुमान करवाने के लिए किया जावेगा। परन्तु स्मरण रहे कि यह नियम (Law) वा व्याप्ति दो प्रकार की होती है, जिनमें से किसी के भी रहने से साधनीय वस्तु की सिद्धि उस हेतु से हो सकती है, अन्यथा नहीं।

एक तो व्याप्ति ऐसी होती है कि जिस वस्तु को हमें सिद्ध करना है उसी

के साथ हेतु की व्याप्ति अन्यत्र निर्णीत हो। जैसे जिस धूम से हमें कहीं अग्नि सिद्ध करनी है उसी अग्नि के साथ उस धूम की व्याप्ति (Law) अन्यत्र पाकशाला आदि में निश्चित रहती है। परन्तु इस प्रकार की व्याप्ति प्रकृत में नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे अग्नि अन्यत्र प्रत्यक्ष ही निर्विवाद देखी जाती है और वही व्याप्ति का निश्चय होता है, वैसे विलक्षण रासायनिक संयोग से चेतनता की उत्पत्ति कहीं भी प्रत्यक्ष देखी नहीं जाती जहाँ हेतु के साथ उसकी व्याप्ति का निश्चय हो। क्योंकि यदि ऐसा होता तो फिर विवाद ही नहीं होता और सभी लोग चेतनता को रासायनिक संयोगों से ही उत्पन्न करने लग जाते, जिससे इस संसार से यमराज या मृत्यु का काम ही उठ जाता और मृत्युलोक भी देवलोकवत् अमरलोक हो जाता।

दूसरी व्याप्ति यह है कि यद्यपि जिस वस्तु को हमें कहीं सिद्ध करना है उसका प्रत्यक्ष कहीं न भी हुआ हो तथापि उसी ढंग की अन्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष होने से हेतु के साथ व्याप्ति निर्णीत हो जाने पर भी प्रकृत में उसी हेतु से साध्य पदार्थ की सिद्धि हो जाती है। जैसे यद्यपि चक्षुरादि इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण से किसी ने भी नहीं देखा है, क्योंकि इन्द्रियों के स्थान (गोलक) आँखों दीखते हैं वे तो इन्द्रिय स्वरूप हैं नहीं, अन्यथा उनके बने रहने पर भी जो कभी-कभी उन-उन इन्द्रियों से किसी-किसी मनुष्य को विषयों का ज्ञान नहीं होता है वह क्योंकर हो सकता है ? और इन्द्रियों एवं विषय का सम्बोधन होने पर ही ज्ञान होता है, नहीं तो दीवार के पीछेवाले पदार्थ भी आँखों दीखते। परन्तु वे इन्द्रियों के स्थान वा गोलक तो अपनी जगह से हट सकते नहीं और न दूर के पदार्थ ही पास में चले आते हैं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि उन गोलकों से इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं, जो सूर्य की किरणों की तरह दूर-दूर के पदार्थों तक भी शीघ्र ही पहुँच जाती हैं। इसलिए यह बात सत्य है कि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाणों से देखी नहीं जातीं। तथापि यह देखा जाता है कि जितनी क्रियाएँ होती हैं वे किसी न किसी कारण से अवश्य ही उत्पन्न होती हैं, क्योंकि कारण का स्वरूप ही ऐसा है जैसा कि भर्तृहरि जी ने अपनी व्याकरण महाभाष्य की कारिकाओं में लिखा है कि–

"क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र, करणं तत्तदा मतम्।।"

अर्थात् जिस वस्तु के व्यापार के अनन्तर ही क्रिया की उत्पत्ति होती है उसे ही करण कहते हैं। यह बात छेदन आदि क्रियाओं में प्रत्यक्ष ही है कि जब तक लोहार अपना बसूला नहीं चलाता, तब तक छेदन क्रिया नहीं होती, परन्तु जभी उसका बसूला छूटता है तभी छेदन हो जाता है। इसलिए बसूला रूप करण से ही छेदन क्रिया की उत्पत्ति होती है, इसी तरह अन्य क्रियाओं में भी कोई न कोई करण अवश्य ही उनका उत्पादक रहा करता है। इस प्रकार करण के साथ क्रिया की व्याप्ति निश्चित कर, चूँकि ज्ञान भी एक प्रकार की क्रिया ही है, अतः उसके भी करण अवश्य होने

चाहिए और चूँकि बसूला वगैरह बाहरी करणों का तो वहाँ सम्भव नहीं है, इसलिए आन्तरिक करण ही सिद्ध होते हैं, जिन्हें इन्द्रिय कहा करते हैं। इसी तरह प्रकृत में भी यद्यपि जहाँ-जहाँ चेतनता उत्पन्न होती वह सभी विलक्षण रासायनिक संयोग से ही होती है यह व्याप्ति (Law) निश्चित नहीं है, तथापि इस प्रकार की व्याप्ति हो सकती है कि इस संसार में जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं उनके कारण अवश्य ही हुआ करते हैं जैसे घट का कारण कुलाल (कुम्हार), मदिरा की मादकता का रासायनिक संयोग या वृक्ष का बीज। और चूँकि चेतनता भी उत्पन्न होने वाली वस्तु है, इसलिए उसका भी कोई कारण अवश्य होगा। परन्तु चूँकि दूसरे बाहरी तो वहाँ हो नहीं सकते, इसलिए जैसा मदिरा की मादकता का कारण रासायनिक संयोग है, वैसा ही प्रकृत में भी चेतनता का कारण रासायनिक संयोग ही होगा। इस तरह से विलक्षण रासायनिक संयोग सिद्ध करने के लिए अनुमान का स्वरूप खड़ा किया जा सकता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि बाहरी कारण वहाँ नहीं है तथापि धर्माधर्म या अन्य कारणों को जो वहाँ ही विद्यमान हैं, न मानकर आपके संयोग को ही क्यों कारण मानेंगे ? इसमें कोई विशेषता तो है ही नहीं जिससे अन्यों का अनादर किया जावे।

दूसरी बात यह है कि जब व्याप्ति वा नियम (Law) ठीक रहता है तभी अनुमान भी ठीक होता है। जैसे जहाँ धुआँ रहता है वहाँ अग्नि भी अवश्य रहती है यह नियम सत्य है, इसी से कहीं दूर से भी धुएँ को देख अग्नि का अनुमान करना ठीक होता है। परन्तु जहाँ अग्नि रहती है वहाँ धुआँ अवश्य रहता है यह विपरीत नियम ठीक नहीं है, क्योंकि अंगार में अग्नि रहते हुए भी धुआँ नहीं रहता। इसीलिए अग्नि को कहीं देखकर उसमें धुएँ का अनुमान करना ठीक नहीं हो सकता। उसी तरह यदि प्रकृत में यह नियम होता कि जितने कार्य होते हैं वे रासायनिक संयोग से ही बनते हैं, तो चेतनता का कारण भी रासायनिक संयोग ही माना जाता। परन्तु यह बात तो है नहीं, क्योंकि घट, पट वगैरह कार्यों की उत्पत्ति तो रासायनिक संयोग से होती ही नहीं, ऐसी दशा में आपका नियम कहाँ ठीक ठहरा ? यदि थोड़ी देर के लिए यह स्वीकार भी कर लें कि जितने घट, पट आदि कार्य उत्पन्न होते हैं वे रासायनिक संयोग से ही होते हैं, हाँ वे संयोग विलक्षण-विलक्षण हैं यह दूसरी बात है। तो हम आपसे पूछते हैं कि आपको कुछ न कुछ केवल मूल पदार्थ भी तो मानने पड़ेंगे जिनके मेल या संयोग से रासायनिक पदार्थों की उत्पत्ति, जैसे जब गुड़ और महुआ मूल पदार्थ हैं तभी तो उनके मेल से मादकता (नशा) पैदा होती हैं। इसीलिए यद्यपि काले या हरे इत्यादि रंग रासायनिक संयोग से बनते हैं तथापि उनके कारण स्वरूप लाल या पीले वगैरह दो एक रंग तो वैज्ञानिकों द्वारा अवश्य ही ऐसे माने गये हैं जो किसी के मेल या रासायनिक संयोग से न बनकर स्वयमेव अपने लाल या पीले कारणों से ही बनते हैं। और यदि आप मूल (Original) पदार्थ कोई मानेंगे ही नहीं तो उसके

बिना आपका रसायन भी कैसे सिद्ध होगा। अतः रासायनिक संयोग के कारण स्वरूप पदार्थ तो आपको ऐसे मानने ही पड़ेंगे जो रासायनिक संयोग से नहीं बनते। ऐसी दशा में आपका यह नियम व्याप्ति (Law) कहाँ रहा कि सभी पदार्थ रासायनिक संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। और जब नियम ही न रहा तो चेतनता का कारण रासायनिक संयोग सिद्ध क्योंकर हो सकता है ? क्या अग्नि देखकर भी धुआँ सिद्ध किया जाता है ?

यदि रासायनिक संयोगों से ही पदार्थों की विलक्षणता और चेतनता की उत्पत्ति होती रहती तो फिर, जिस तरह पान, सुपारी और कत्था वगैरह सभी के मेल से जो रक्तिमा उत्पन्न होती है वह उनमें से किसी एक के भी न रहने से नहीं होती। अथवा महुआ और गुड़ दोनों में से एक के न रहने से जैसे, मादकता की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी तरह जिस प्राणी के हाथ-पाँव आदि अंगों में से एक भी टूटे या कट जाय उसे तत्काल चेतनताहीन अर्थात् मृतक हो जाना चाहिए।

यदि वे लोग इस कठिन समस्या के हल करने का साहस यों करें कि, यद्यपि रासायनिक वस्तुओं के कारण जितने पदार्थ हैं उनमें से किसी की भी कमी होने से उस रासायनिक पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती या उसका नाश हो जाता है, तथापि उन सभी पदार्थों को रासायनिक रीति से संयुक्त करके उस वस्तु की उत्पत्ति होने के पश्चात् उन सम्मिलित पदार्थों के कुछ संयुक्त अंश के हटा देने पर भी जिस प्रकार रासायनिक पदार्थ बना रहता है। क्योंकि चार बीड़ा पान के साथ सभी चूना और कत्था प्रभृति को मिलाने पर जब उसमें रक्तिमा पैदा हो जाती है तो पुनः एक बीड़ा पान और उसी के अनुगुण चूना वगैरह इन सभी मिश्रित पदार्थों यानी सम्पूर्ण पदार्थ के चतुर्थांश को विभक्त करने पर भी अवशिष्ट तीन अंशों में लालिमा बनी ही रहती है। वैसे ही यदि किसी प्राणी का कोई अंग कट जाता है तो उससे रासायनिक संयोग के आधार किसी एक ही वस्तु की कमी न होकर सम्मिलित द्रव्यों (वस्तुओं) की ही न्यूनता हो जाती है। इसी से चेतनता पूर्ववत् ही बनी रह जाती है।

तो इस पर उन लोगों से यह कहा जा सकता है कि तो फिर गला वगैरह अंगों के कट जाने पर मनुष्य को चेतन या जीता ही रहना चाहिए। अथवा जैसे रासायनिक संयोग के आधार सम्मिलित द्रव्यों का जो अंश पृथक् किया जाता है उसमें भी रक्तिमा आदि रासायनिक पदार्थ रहते हैं उसी तरह धड़ से अलग हो जाने वाले हाथ, पाँव और मस्तक में भी अवश्य ही चेतनता रहनी चाहिए और कटे हुए सिर को भी बोलना चाहिए।

साथ ही उन लोगों को यह भी विचारना चाहिए कि जब रासायनिक संयोग के आधार स्वरूप सम्मिलित वस्तुओं में से कुछ अंश विभक्त कर देते हैं तो सम्पूर्ण मिश्रित द्रव्यों के रहने से जितना परिमाण उस रासायनिक पदार्थ का रहता है उतना नहीं रह जाता है, किन्तु यदि चतुर्थांश द्रव्य अलग कर दिया जावेगा तो रासायनिक

वस्तु भी चतुर्थांश जाती रहेगी। इसी तरह आधा निकाल देने से आधी इत्यादि। यदि चेतनता भी रासायनिक संयोगों से ही बनी रहती तो हाथ, पाँव आदि दो चार अंगों के कट जाने पर जीवों में वह आधी ही अथवा उसी हिसाब से ही रह जाती। परन्तु देखा जाता है कि ऐसे-ऐसे पंगु वगैरह हैं जिनकी दोनों जाँघें वगैरह काट दी गयी हैं, लेकिन यदि जीते हैं तो उनकी चेतनता प्रथम से कुछ भी न्यून नहीं हुई है।

एक बात यह भी है कि जिन पदार्थों के सम्मिश्रण से रासायनिक द्रव्यों की उत्पत्ति होती है वे जब एक दूसरे से बिलकुल ही अलग कर दिये जावें तभी उस द्रव्य का नाश होता है न कि उनके कुछ अंशों के मिले और कुछ के अलग रहने से। जैसे आक्सिजन और हाइड्रोजन (Hydrozon) स्वरूप जिन दो वायुओं के मेल से जल उत्पन्न होता है उनको सर्वात्मना एक-दूसरे से पृथक् कर देने पर ही उस जल का नाश हो जाता है न कि उनके कुछ अंश मिले भी रहते हैं। इसी तरह अन्य रासायनिक वस्तुओं में देखा जाता है। तद्वत् प्रकृत में मरणकाल में सर्वशरीरव्यापिनी चेतना का कारण जो सर्वांगवर्त्ती रासायनिक संयोग है उसका नाशक कौन है ? गला काट लेने या एक वाण के किसी अंग में लग जाने से जो प्राणी ज्ञानशून्य हो जाता है उसके सम्पूर्ण अंग प्रत्यंगों से चेतनता का वियोग कराने वाली कौन सी वस्तु है इसको वे लोग क्योंकर बतला सकते हैं ? इत्यादि सहस्रों दूषण इस रासायनिक संयोगवाद में दिये जा सकते हैं।

इससे निर्विवाद रूप से यह स्वीकार करना होगा कि रासायनिक संयोग से चेतनता की उत्पत्ति और वस्तुओं की विलक्षणता नहीं होती या हो सकती है, किन्तु चेतन जीवात्मा नित्य है और मनुष्य शरीर से धर्माधर्म का अर्जन करता हुआ ज्ञान आदि का भी संग्रह करता है। जिन धर्माधर्मों के होने से ही सृष्टि की विचित्रता होती है। अर्थात् कोई निर्धन कोई धनी एवं सुखी, दुःखी बुद्धिमान् और मूर्ख हुआ करते हैं।

इसी तरह आर्हत (जैन) मतानुयायियों ने जो सिद्धान्त स्थिर किया है कि यद्यपि रासायनिक संयोग से जीवात्मा अथवा चेतना की उत्पत्ति नहीं है, तथापि जैसा मीमांसकों ने जीव को विभु (व्यापक) और भगवान् रामानुज या बौधायन प्रभृति के अनुयायियों ने परमाणु स्वरूप माना है, वैसा वह नहीं है, किन्तु जिस शरीर में वह रहता है उतना ही बड़ा होता है। अर्थात् चींटी के शरीर में चींटी जैसा और हाथी के शरीर में उसी जैसा। इसी को मध्यम परिमाण वाला भी कहते हैं। क्योंकि यदि उसे व्यापक मान लेवें तो शरीर से बाहर भी दीवार वगैरह में सभी जीवों को सुख-दुःख का अनुभव होना चाहिए। और देवदत्त आदि सभी की आत्माएँ व्यापक हैं तो एक ही शरीर में सबके विद्यमान रहने से एक के दुःख, सुखादि को सभी अनुभव क्यों नहीं करते ? इस दूषण के उद्धार के लिए यदि जीवात्मा को परमाणु स्वरूप मान लेवें तो फिर शरीर में सिर प्रभृति किसी एक स्थान में चन्दन लगाने या चोट लगने से सम्पूर्ण शरीर में शैत्य अथवा व्यथा का अनुभव न होना चाहिए, क्योंकि अनुभव करनेवाला

तो शरीर के किसी एक ही कोने में रहेगा। हाँ, यदि उसे शरीर जितना ही बड़ा मान लेवें तो पूर्वोक्त कोई भी दूषणों का अवकाश नहीं है। यदि यह कहा जावे कि जब शरीर के बराबर वह है तो फिर हाथी के मरने पर वह जीव यदि चींटी का शरीर पावे तो उसमें क्योंकर समा सकता है ? अथवा चींटी के शरीर से हाथी के शरीर में जाने पर क्योंकर उतना बड़ा हो सकता है ? तो वे लोग कहते हैं कि जैसे दीपक छोटे स्थान में रहने से उतनी ही दूर में प्रकाश करता और बड़े स्थान में फैल जाता है ठीक वही दशा जीवात्मा की है। वह भी प्रकाशस्वरूप होने से स्थानानुसार संकोच और विकासशील होती है।

परन्तु उन लोगों का यह सिद्धान्त भी उचित नहीं है। यदि आत्मा को संकोच और विकासशील अथवा मध्यम परिमाण वाला मानेंगे तो फिर वह विनाशी हो जायगा। क्योंकि संसार में जितने भी ऐसे पदार्थ दीपक या घट, पट आदि हैं सभी विनाशशील ही देखे जाते हैं। और जब उसे आप आगमापायी स्वीकार कर लेंगे तो फिर वही पूर्व वाले कृतहान और अकृताभ्यागम, एवं सृष्टि वैचित्र्य-भंग आदि रूप सहस्रों दोष होंगे। साथ ही जिसका नाश होता है उसकी उत्पत्ति भी इस जगत् में देखी जाती है। अतः आपको भी उसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। परन्तु उत्पत्ति मानने में तो पूर्वोक्त रासायनिक संयोगवाद वाले सभी दूषण आपके मत्थे पड़ेंगे।

यदि आप वह कहें कि हम तो किसी भी वस्तु का अत्यन्त नाश नहीं मानते, किन्तु संसार के सभी पदार्थ केवल परिणामी हैं। अर्थात् जैसे घड़े का सर्वात्मना नाश न होकर उसका कपाल या चूर्ण रूप रूपान्तर ही हो जाता है। एवं कपड़े का तन्तु रूप इत्यादि, इसी तरह जीवात्मा का भी यदि नाश होगा तो सर्वात्मना (अत्यन्त) न होकर केवल उसका भी रूपान्तर हो जायगा। एतावता पूर्वोक्त कोई भी दूषण नहीं लग सकते, क्योंकि हम यदि उसका अत्यन्त अभाव व नाश मानते तो पुनः उसकी उत्पत्ति आदि की आवश्यकता होती।

परन्तु यह भी कथन निस्सार है, क्योंकि रूपान्तर मान लेने से भी आपका काम न चल सकेगा और पूर्वोक्त दूषण सहस्र आपके सिर पड़ेंगे ही। कारण कि जिस कपड़े या घड़े का रूपान्तर हो जाता है उसी की उत्पत्ति देखी जाती है, तो फिर इस तरह आत्मा की उत्पत्ति को आप क्योंकर हटा सकेंगे ? दूसरी बात यह है कि जब वस्त्र या घट का रूपान्तर उसके नाश होने पर हो जाता है तो जो काम उससे प्रथम पहनना या पानी लाना वगैरह होते थे वे अब नहीं हो सकते। इसीलिए उन कामों के लिए दूसरे घड़ों वा कपड़ों की आवश्यकता होती है। अथवा उस घट में जो पदार्थ रहता है उसके फूल जाने या रूपान्तर हो जाने पर वह उसमें नहीं रह सकता। सारांश यह कि प्रथम के होने वाले कोई भी काम उससे अब नहीं हो सकते। उसी तरह जब जीवात्मा का नाश या रूपान्तर हो जावेगा तो फिर वह शरीर वा इन्द्रियों का प्रकाश नहीं कर सकता। अर्थात् उसके रहने से शरीर में जो चेतनता रहती थी

अथवा सुख-दुःखादि के ज्ञान होते थे वे अब न हो सकेंगे और उनके लिए दूसरे जीवात्मा की आवश्यकता अनिवार्य होगी। और उसमें जो प्रथम ज्ञानों के संस्कार या धर्माधर्मादि थे वे भी न रह सकेंगे और न वे अपने काम ही कर सकेंगे। क्योंकि जब जल का हाइड्रोजन और ऑक्सिजन स्वरूप रूपान्तर हो जाता है तो उससे कपड़े गीले नहीं हो सकते। फल इसका यह होगा कि पूर्व देखी, सुनी वस्तुओं के स्मरण न हो सकेंगे और न सृष्टि की विचित्रता ही हो सकेगी और पूर्व के कृतहान आदि भी गले में मढ़ दिये जावेंगे।

एक बात और भी विचारने की है कि यदि आप जीवात्मा को दीपक के प्रकाश की तरह संकोच और विकासशाली मानेंगे तो वहाँ कुछ विपरीत ही बात होगी। क्योंकि यह देखा जाता है कि यदि दीपक का प्रकाश अधिक स्थान में फैल जाता है तो वह सम्पूर्ण स्थान में एक सा न होकर कहीं अधिक, कहीं मन्द प्रतीत होता है। इसी तरह यदि आत्मा भी दीपक के प्रकाश सदृश ही माना जावे तो यदि वह हाथी के शरीर में रहे तो उसके सर्वांगों में उतनी चेतनता प्रतीत नहीं होनी चाहिए किन्तु अल्प ही। परन्तु जब वही चींटी के शरीर में प्रवेश करता है तो उस शरीर में चेतनता वा ज्ञान हाथी के शरीर की अपेक्षा लाख या करोड़ गुना होने चाहिए। परन्तु यहाँ तो विपरीत ही देखा जाता है कि चींटी की अपेक्षा हाथी या मनुष्य शरीर में ही अधिक चेतना ज्ञान वा विवेक होता है।

यह भी स्मरण रहे कि यदि आत्मा को घट घटादि की तरह मध्यम परिणाम वाला मानेंगे तो उसे बलात् सावयव (अवयव वाला) स्वीकार करना होगा। क्योंकि जो ही वस्तु मध्यम परिणाम वाली होती है वही सावयव होती है। यदि वे लोग इसे भी मान लेवें तो फिर यह प्रश्न होगा कि जब वह सावयव है तो उसके प्रत्येक अवयवों में भिन्न-भिन्न चेतनता होती है अथवा अवयवों के समुदाय में ही? प्रथम पक्ष में जितने अवयव होंगे उतने ही चेतन वा जीवात्माएँ उस शरीर में होंगी। फल यह होगा कि जब दो एक की सम्मति सर्वदा एक सी नहीं रहती, किन्तु कभी-कभी झगड़े या विवाद होकर वे मनमाना काम करने लग जाते हैं, तो फिर सहस्रों रहेंगे वहाँ कब एक सी सम्मति होने की ? परिणाम यह होगा कि किसी भी कार्य में एक यदि शरीर को पूर्व की ओर खींचेगा तो दूसरा पश्चिम, तीसरा उत्तर और चौथा दक्षिण की ओर। और जैसे दो पत्नी वाला पति दोनों तरफ खींचा जाकर बीच में उसी जगह मर जाता है उसी तरह शरीर की भी किसी ओर प्रवृत्ति न होगी और एक ही जगह उसकी धज्जियाँ उड़ जावेंगी। यदि इस दोष की निवृत्ति के लिए अवयवों के समुदाय में ही केवल एक ही चेतनता मानी जावे तो फिर कर चरणादि किसी भी अंग के कट जाने पर उतने दूर के जीव के अवयवों के नष्ट हो जाने से वह पूर्व वाला अवयव समुदाय न रह गया, इससे लूले या लंगड़े मनुष्य को मर जाना चाहिए। क्योंकि जिस समुदाय में चेतनता रह सकती है वह तो समुदाय है ही नहीं। निराश्रय वस्तु क्योंकर

रह सकती है ? इत्यादि अनेकों दूषण आर्हत (जैन) मतानुयायियों के भी मत में हैं।

अतः निर्भ्रान्त सिद्ध हो गया कि जीवात्मा शरीर परिमाण वाला नहीं है, किन्तु व्यापक ही है। तो भी जिस आत्मा का मन जहाँ रहता है वहीं उसको सुख-दुःख का अनुभव होता है और वह मन प्रत्येक जीव के अपने-अपने शरीर में ही रहता है। इसलिए आत्मा के व्यापक होने पर भी शरीर से बाहर अथवा अन्य के सुख-दुःखों का अनुभव अन्य को नहीं हो सकता।

इसलिए मीमांसकों ने यही निश्चय किया कि व्यापक और अनादि जीवात्मा ही धर्माधर्म का आश्रय है और उन्हीं धर्माधर्मों के बल से सृष्टि प्रलय और विचित्रताएँ हुआ करती हैं और चूँकि वह जीव अनादि है इसलिए उसके आश्रित होकर रहने वाले धर्माधर्म भी अनादि हैं। इससे यह शंका भी निर्मूल हो गयी कि यद्यपि जगत् के कारण धर्माधर्म हैं, तथापि सृष्टि के प्रारम्भ में तो वे थे ही नहीं तो उस समय जैसे स्वभाव से ही विचित्र सृष्टि हुई, वैसे ही आजकल भी हो सकती है। क्योंकि जब हम धर्माधर्म के प्रवाह को और साथ ही सृष्टि प्रवाह को भी अनादि मानते हैं तो किसी भी सृष्टि का आदि काल कोई हो ही नहीं सकता। जो सृष्टि हुई उसके कारण उससे प्रथम सृष्टि के धर्माधर्म और उसके भी उससे पूर्व के इत्यादि रूप ही सृष्टि परम्परा और धर्माधर्म का प्रवाह वैसी ही है जैसी वृक्ष और बीज की परम्परा या प्रवाह। क्योंकि वहाँ भी यह प्रश्न नहीं हो सकता कि प्रथम बीज था या वृक्ष, अथवा सबसे प्रथम वृक्ष कैसे हुआ ? क्योंकि वहाँ बीज था ही नहीं। इसी बात को भगवान् व्यास जी ने वेदान्तदर्शन में स्पष्ट रूप से कह दिया है कि–

"वैषम्य नैघृण्ये इति चेन्न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति।
न कर्माविभागादिति चेन्नादित्वात्।। शा.211। 35-35।।

इन दोनों सूत्रों का तात्पर्य वही है जैसा कि अभी दिखलाया गया है। हाँ पूर्व सूत्र के अर्थ में कुछ पूर्वोक्त विषय से अधिक भी है, जिसका मर्म यह है।

जिन ईसाइयों, मुसलमानों, या अन्यमतवादियों ने यह माना है कि यह वर्तमान सृष्टि ही सबसे प्रथम और अन्त की भी है। न तो इससे पूर्व कोई भी सृष्टि थी, और न आगे (प्रलयानन्तर) दूसरी होगी भी। अकस्मात् ही ईश्वर ने अपने ही मन से एक बार ऐसी रचना कर दी है जिसमें लोग उसकी पूजा किया करें। किसी को निर्धन तो किसी को धनसम्पन्न एवं मूर्ख और बुद्धिमान्, मनुष्य, पशु, कुत्ते, शूकर इत्यादि जीव योनियों को विचित्र विचित्र बनाने में केवल उसकी इच्छा ही कारण है। वह सर्वशक्तिमान है, अतः उसने जैसा चाहा बना दिया। साथ ही बिना भिन्न-भिन्न प्रकार की सृष्टि के उसका काम भी नहीं चल सकता। सभी अमीर हो जावें तो उनकी सेवा कौन करेगा ? इत्यादि।

उन लोगों का यह सिद्धान्त अफीमची की पिनक सा है। क्योंकि यह बात सविस्तार सिद्ध की जा चुकी है कि बिना कारण अकस्मात् कोई भी वस्तु बन नहीं

सकती। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर ने अपनी पूजा के ही लिए सृष्टि रची है, वह भी अपनी इच्छा के ही अनुसार, तो कहना होगा कि वह आपका ईश्वर, ईश्वर नहीं, किन्तु कोई हम लोगों जैसा साधारण, लोभी, प्रमादी, अन्यायी, निर्दयी और स्वेच्छाचारी मनुष्य है, क्योंकि ईश्वर शब्द का वास्तविक और पवित्र अर्थ है आप्तकाम, न्यायकर्त्ता और सृष्टि का संरक्षण एवं शासन कर्त्ता। परन्तु यदि उसे अपनी ही पूजा की चिन्ता रहती है और देखा करता है कि कौन मेरी पूजा करता है ? तो क्या वह स्वार्थी और घूसखोर न हुआ ? यदि उसने मनमाने किसी को धनी, किसी को निर्धन और किसी को बकरा और दूसरे को उसका निर्दयी भक्षक अकारण ही बना दिया तो क्या वह प्रमादी, स्वेच्छाचारी अन्यायी और निर्दयी इत्यादि विशेषणों से विभूषित नहीं किया जावेगा ? यदि हम लोगों की ही तरह उसे भी अपनी पूजा की पड़ी है तो आप्तकाम क्योंकर कहा जा सकता है ? हाँ, ऐसा कह सकते हैं कि वह भी कोई हम लोगों जैसा जीव ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि वह कुछ ऐसे भी काम कर सकता है जिन्हें साधारण जीव नहीं कर सकते। जैसा कि बड़े-बड़े आविष्कार केवल वैज्ञानिक लोग ही कर सकते हैं न कि दूसरे भी।

इसीलिए कर्मवादियों ने यही स्थिर किया है कि यह सृष्टिप्रवाह अनादि है, साथ ही उसका कर्म प्रवाह भी तदनुसार ही सृष्टि में हुआ करता है और हुआ करेगा। ईश्वर तो केवल जड़ कर्मों का सृष्टिनिर्माण में सहायक होकर निमित्त मात्र है। इसी से उसमें निर्दय अथवा अन्याय आदि की शंका भी नहीं हो सकती और न स्वार्थ ही। क्योंकि कर्मवादियों का यह अटल सिद्धान्त है कि यह सृष्टि किसी की पूजा आदि विशेष उद्देश्य से न होकर केवल जीवों का अपने-अपने कर्मों के फल भोगने और संसार से छुटकारा (मुक्ति) प्राप्ति के ही लिए है। चाहे वह ईश्वर की पूजा के या किसी दूसरे ही उपाय से क्यों न हो, यह दूसरी बात है। और इस तरह यदि ईश्वर के नाम कीर्त्तन या पूजन प्रभृति से किसी के पापों का विनाश हो अथवा उसका दण्ड उसे न मिले, तो ईश्वर इससे स्वार्थी अथवा घूसखोर नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा उसका स्वरूप वा स्वभाव है कि इस तरह वह चाहता न कुछ है न करता है। जैसे अग्नि में तृण। यदि वह भस्मीभूत हो जाता है तो उससे अग्नि में कुछ लगता या यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वह स्वार्थी है इसी तात्पर्य को लेकर पूर्वोक्त प्रथम सूत्र की रचना हुई है। कुमारिलं स्वामी ने भी मीमांसादर्शन वार्तिक के चतुर्थ व्याख्यानावसर में कहा है जिसका तात्पर्य पूर्वोक्त ही है वह यों है—

नन्वार्थापत्तिरेवं स्याद् जगद्वैचित्र्यदर्शनात्।
सुखिदुःख्यादिभेदो हि नादृष्टात्कारणादृते।। 101।।
दृष्टस्य व्यभिचारित्वात् तदभावेऽपि संभवात्।
सेवाध्ययनतुल्यत्वे दृष्टा च फलभिन्नता।। 102।। इत्यादि।

अस्तु, अब यहाँ पर यह विचार उत्पन्न होता है कि इस प्रकार जगत् अथवा

उसके वैचित्र्य का कारण स्वरूप अदृष्ट (धर्माधर्म) सामान्यतः यद्यपि सिद्ध हो गया। तथापि उससे क्या ? इतने मात्र से लोगों की प्रवृत्ति क्योंकर हो सकती है ? लोग किस वस्तु को धर्म समझकर कर सकते और अधर्म समझ उससे अलग रह सकते हैं ? क्योंकि सामान्य ज्ञान तो केवल विशेष ज्ञान में उपयोगी होता है न कि उससे किसी प्रकार की प्रवृत्ति भी हो सकती है। आम्र भी एक वस्तु या फल है, इस इतने ज्ञान से कोई भी उसके तोड़ने में प्रवृत्त नहीं हो सकता, जब तक उसे विशेष रूप से यह न बतला दिया जावे कि इसे आम्र कहते हैं। इसलिए कुमारिल स्वामी ने भी पूर्व प्रसंग में ही कहा है कि–

अधर्मे धर्मरूपे वा ह्यविभक्ते फलं प्रति।
किमप्यस्तीतिविज्ञानं नराणां क्वोपयुज्यते।। 105।।

इसका अर्थ यही है कि 'अमुक धर्म का अमुक फल है और अमुक अधर्म का अमुक, जब तक यह विशेष ज्ञान न हो जावे तब तक धर्माधर्म भी कोई वस्तु है यह सामान्य ज्ञान किस काम का है ?' यदि यह कहा जावे कि यज्ञ, दान और हवन आदि ही विशेष धर्म हैं तो यह कहना पड़ता है कि, एक तो इस बात के मानने में प्रमाण ही क्या है ? दूसरे तो फिर बौद्धों के चैत्यवन्दन–(बुद्ध भगवान् की अस्थि को ताम्र आदि के पात्र में रख कर उसके ऊपर कुछ स्तूप या ऊँचे टीले वगैरह बनाये जाते थे उन्हें ही चैत्य कहते हैं, क्योंकि उसके नीचे अस्थि का चयन वा चिति होती है, और उसके ही वन्दन को चैत्यवन्दन कहते हैं)–और ईसाई, मुसलमानों के बपतिस्मा और सुन्नत एवं बाइबिल तथा कुरान पढ़ने आदि को भी धर्म क्यों न मानें ? अथवा विपरीत ही क्यों न हो ? या हिंसा को ही धर्म और अहिंसा को आर्म मानने में कौन सा बाधक है ? इस बात को भट्टाचार्य जी ने उसी प्रसंग में कहा है। जैसा कि–

किन्नुयागादितो दुःखं हिंसादेः किं सुखोद्भवः।
स्वर्गपुत्रादिभेदश्च कीदृशात्कर्मभेदतः।। 106।।
इति यावदविज्ञानं तावन्नैव प्रवर्त्तते।।इत्यादि।।

इसका समाधान मीमांसक लोग इस तरह करते हैं कि हम यह नहीं कहते कि अमुक पुरुष की कही बात को सत्य मान कर उसे ही धर्म मानिए, अन्य को नहीं। क्योंकि बिना शरीरादि के उपेदश होता ही नहीं और यदि होगा भी तो उसमें यह विश्वास नहीं हो सकता कि किसी अदृश्य व्यक्ति का उपदेश सत्य है वा मिथ्या अथवा इसका कहनेवाला कोई सज्जन है या प्रतारक (ठग) बिना शरीर का ही उपदेशक मानने से यह भी कल्पना हो सकती है कि धर्माधर्म की व्यवस्था मनमानी होगी। क्योंकि जैसी बातें इस संसार में देखी जावें वैसी बातों की कल्पना ऐसी ही है जैसी कि पानी को देखकर अग्नि की कल्पना। यदि उपदेष्टा का शरीर मानेंगे तो जो शरीरी होता है उससे भ्रम या प्रमाद प्रभृति भी हुआ ही करते हैं। अतः उसका ठिकाना ही क्या है, क्योंकि यदि उसकी चार बातें सत्य हों तो दो मिथ्या भी हो सकती हैं।

इसीलिए किसी भी पुरुष की बात मानी नहीं जा सकती। किसी पुरुष को सर्वज्ञ मानकर उसके ही उपदेशों को स्वीकार करना भी मनुष्य की बुद्धि वा अनुमान से बाहर है। क्योंकि जब आजकल कोई सर्वज्ञ नहीं दीखता तो कालान्तर में था, यह अनुमान भी क्योंकर हो सकता या यह बात बुद्धि में आ सकती है ? इन्हीं बातों को वार्तिककार कुमारिल स्वामी ने भी द्वितीय सूत्र पर कहा है। जैसा कि–

सर्वज्ञोदृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना।। 117।।
कुड्यादिनिसृतत्वत्र्यनाश्वासो देशनासुनः।। 348।।
किन्नुबुद्ध प्रणीताः स्यु किमुकैश्चिहद्दरात्मभिः।।
भदृश्यैर्विप्रलम्भार्थं पिशाचादिभिरीरिताः।। 140।।
एवं यैः केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
सुक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्।। 141।।
दृष्टान्तोऽपि न तस्यान्यो नृषुकश्चित्प्रवर्तते।। 142।।
सर्वदा चापि पुरुषाः प्रायेणानृत वादिनः।
यथाऽद्यत्वे न विस्रम्भस्तथाऽतीतार्थकीर्त्तने।। 144।।इत्यादि

इन सब श्लोकों का तात्पर्य वही है जो ऊपर दिखलाया जा चुका है न कि कुछ दूसरा।

किन्तु प्राकृतिक पदार्थों से जैसे अन्य उपदेश लिए जाते हैं उसी तरह धर्माधर्म के भी विषय में समझना चाहिए। जिस प्रकार चन्द्र-सूर्यादि के उदय और अस्त एवं कालादि के परिवर्त्तन से यह उपदेश मिलता है कि सांसारिक पदार्थों की एक सी दशा नहीं रह सकती। सभी आगमापायी वा क्षणभंगुर हैं, अथवा जैसे न्यूटन को सेब के फल के भूमि पर पतन से आकर्षण शक्ति के विषय में उपदेश मिला था। उसी तरह के उपदेशों से धर्माधर्म का निश्चय करना चाहिए न कि बनावटी उपदेशों से। क्योंकि उनके मिथ्या होने का भय या सम्भावना नहीं है। इस पर जब यह जिज्ञासा हुई कि वह कौन सा प्राकृतिक पदार्थ अकृत्रिम है जिससे धर्मज्ञान हो सकता है, तो मीमांसकों ने उत्तर दिया कि 'वेद' अथवा तन्मूलक स्मृति आदि। इस पर जब प्रश्नोत्तर होने लगे तो उन्होंने यही सिद्ध किया कि वेद किसी का रचा हुआ नहीं है। इसलिए वे लोग वेद को अपौरुषेय कहते हैं। जिसका अर्थ यह है कि जो किसी पुरुष द्वारा रचा न गया हो। क्योंकि यदि उसकी रचना पुरुष द्वारा हुई होती तो महाभारतादि की तरह उसके कर्त्ता का भी नाम लिखा रहता, अथवा न भी लिखे रहने पर बराबर लोग कहते चले आते कि अमुक पुरुष का बनाया हुआ है। मंत्रभाग तो नहीं, पर ब्राह्मण भाग जो कहीं-कहीं पुरुषों के नाम से प्रतीत होते हैं, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन पुरुषों ने उन भागों की रचना की है। किन्तु जिसने जिस शाखा का विशेष अध्यापन वा प्रचार किया उसी के नाम से वह शाखा प्रसिद्ध हो गयी। जैसा कि

आजकल भी गानविद्या वा युद्धविद्या के प्राचीन होने पर भी जिसने उसमें विशेष कुशलता दिखलायी, उसके सम्बन्ध में उसका नाम हो गया अथवा होता है, जैसा कि तानसेन या मास्टर मदन प्रभृति का। अथवा वे नाम इन उन शास्त्रों के ही हैं। परन्तु जो उसमें विशेष संलग्न या प्रवीण हुए उनका भी वही नाम हो गया। जैसी प्रथा आजकल भी है और वेदों में भी ऐसे-ऐसे आख्यान आते रहते हैं। जैसा कि प्राणों की उपासना करने वाले एक ब्रह्मचारी का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में है। जो अपने को प्राणस्वरूप समझता और वैसा ही व्यवहार करता था, इत्यादि रीति से मीमांसा दर्शन के आख्या प्रवचनात्। 1। 1। 30। इत्यादि सूत्रों के भाष्य और वार्त्तिकादि ग्रन्थों में यह बात विस्तार पूर्वक दिखलाई गयी है।

इन पूर्वोक्त बातों का खण्डन-मण्डन करके जिन लोगों का यह आग्रह होता है कि वेद पौरुषय ही हैं वे लोग मीमांसकों के अभिप्राय को नहीं समझते। यदि यह वार्त्ता वस्तुतः न भी हो यही बात मान ली जावे तो भी मीमांसकों के मत का खण्डन नहीं होता। क्योंकि वेद को अपौरुषेय बतलाने से उनका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि उसमें कहे गये उपदेश निर्दोष होने के कारण सर्वदा ग्राह्य हैं। यदि ईश्वर ने ही वेदों को बनाया हो और वे निर्दोष हों तो भी उनका मत सिद्ध हो ही जाता है, क्योंकि उनका अभिप्राय केवल वेदों का निर्दोष मानने में है। अतः आधुनिक नैयायिकादि मतवादियों का एतद्विषयक दुराग्रह अश्रद्धेय है। मीमांसकों ने तो वेदकर्त्ता ईश्वर या अन्य का खण्डन केवल इसीलिए किया कि ऐसा मानने से बहुत सी कुकल्पनाएँ होने लग जाती हैं, जैसा कि दिखला चुके हैं। परन्तु उन कुकल्पनाओं के वारण करने में कोई समर्थ हो तो भले ही ईश्वरनिर्मित या अन्यरचित ही वेदों को मानें। इसमें उनको कोई आग्रह नहीं है इसीलिए वार्त्तिककार ने भी यही अभिप्राय झलकाया है जैसा कि–

कर्त्तृमत्त्वे तु वेदस्य सम्यङ्मिथ्यात्व वादिगिः।
कर्त्ता गुणाश्च दोषाश्च महाजनपरिग्रहः।।
एवमादि विनायुक्त्या कल्प्यं मीमांसकैः पुनः।
इदानीमिव सर्वत्र दृष्टान्नाधिकमिप्यते।।

अर्थात् वेदों का कर्त्ता मानने पर उनके मानने वाले ईश्वर में मानेंगे और बुद्धादि में दोष। एवं बौद्ध लोग इसके विपरीत। इसी तरह वेदवादी लोग कहेंगे कि यदि वेदोक्त बातें मिथ्या होतीं तो महाजन वा विवेकी लोग उनको स्वीकार करते बहुत दिनों से क्यों चले आते ? यह बात बौद्धादि के धर्मग्रन्थों में नहीं है, इत्यादि बातें बिना युक्ति या प्रमाण के माननी होंगी और विपरीतवादी लोग इससे विरुद्ध ही मानेंगे। परन्तु मीमांसकों को तो इस समय की तरह ही कुछ भी कभी भी अधिक कल्पना करनी नहीं पड़ती है। जैसे नेत्रादि प्रमाण प्राकृतिक हैं वैसे ही वेद को भी वे लोग मानते हैं।

वेदों की अपौरुषेयता के सम्बन्ध में एक यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि उनमें उनके रचयिता का नाम नहीं लिखा है तथा उनका निर्माणकर्त्ता कोई पुरुष उसी दशा में माना जा सकता है जब कि उसका उचित रीति से अनुमान किया जा सके। तात्पर्य यह कि वेदों की लेखशैली और संस्कृत-वाक्यावली जैसी है उस ढंग का यदि कोई भी ग्रन्थ मनुष्यरचित कहीं भी समुपलब्ध हो जाता तो उसी आधार पर उनका रचनाकाल और रचयिता पुरुष दोनों ही विदित हो जाते। पर यह बात आज तक सम्भव न हो सकी, वेदों की लेखप्रणाली अलौकिक और अद्वितीय ही है। इसीलिए जिन लोगों के तर्क इस प्रकार के होते हैं कि यदि हम एक पत्र लिखकर अपने घर में बिना नाम का ही रख देवें और थोड़े या अधिक दिनों बाद कोई भी इसे देख यह कहने लग जावे कि यह पत्र तो अपौरुषेय है। कारण कि इस परं इसके लेखक का नाम है ही नहीं। तो क्या उसकी बात मानी जा सकती है ? बस, यही हाल वेदों की अपौरुषेयता का है। वे लोग अपौरुषेयतावादी मीमांसकों के पूर्वोक्त अभिप्राय को न हृदयंगम करके ही ऐसा करते हैं। क्योंकि पत्र की रचनाशैली से ही सामान्यतः किसी न किसी लेखक का अनुमान किया जा सकता है। इसी तरह महाभारतादि ग्रन्थों या आधुनिक पुस्तकों के दृष्टान्तों से भी जो लोग वेदकर्त्ता पुरुष का अनुमान करते हैं वे लोग भी लेखशैली वाले अभिप्राय से अनभिज्ञ हैं। अतएव उनके वे अनुमान भी अकिंचित्कर ही हैं।

अतः अगत्या यही मानना पड़ता है कि जैसे पृथ्वी, जल, वृक्ष और पशु प्रभृति पर उनके रचयिता ईश्वर का नाम नहीं लिखा हुआ है और वे ईश्वरकृत ही माने जाते हैं साथ ही उनकी रचना भी अद्वितीय है, उसी तरह वेदों को भी पौरुषेय (पुरुष वा मनुष्य कृत) न मानकर ईश्वरकृत ही मानना उचित और युक्तिसंगत है। यही अपौरुषेयतावादी मीमांसकों का वास्तविक अभिप्राय है, न कि वे लोग ईश्वर का सर्वथा ही अपलाप करते हैं। अतएव मीमांसावार्त्तिककार कुमारिल स्वामी ने श्लोकवार्त्तिक के प्रारम्भ में ही महर्षि वेदव्यास के श्लोक द्वारा ही मंगलाचरण करते हुए ईश्वर की सत्ता झलकाई है। वह श्लोक यों है–

"विशुद्धज्ञान देहायत्रिवेदी दिव्यचक्षुषे।
श्रयाःप्राप्ति निमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे।।"

इसका अर्थ यह है कि विशुद्ध ज्ञान स्वरूप, तीन वेद स्वरूप, तीन दिव्य नेत्र वाले, कल्याणप्राप्ति के निमित्त और अर्द्धचन्द्र (द्वितीया के चन्द्र) को धारण करनेवाले परमात्मा शिव को नमस्कार है। यही अर्थ इसका लोक उचित और सर्वविद्वज्जन एवं मीमांसा सम्मत है। अतएव केवल कर्म को प्राधान्य देने वाले–कर्म ही सब कुछ है और वही सुख-दुःखादि का देनेवाला है न कि दूसरा कोई ऐसा कहनेवाले मीमांसकों का अभिप्राय केवल यही है कि लोग उसी को सर्वप्रधान मान उसके लिए सजग और सन्नद्ध हो कर्मवीर वा सच्चे कर्मयोगी बन जावें और विशेष रूप से उनका ध्यान

कर्मों पर ही आकृष्ट हो। इस प्रकार जब लोग कर्मों को श्रद्धा से करेंगे तो आगे चलकर उनके फलों की प्राप्ति में कौन सी अड़चन है ? ईश्वर की कृपा से वे मिल ही जावेंगे। न कि उनका यह तात्पर्य है कि ईश्वर है ही नहीं अस्तु, जब हम वेदों को अपौरुषेय मानते हैं तो यह हमारा अभिप्राय कदापि नहीं कि उनके प्रादुर्भाव से मनुष्य का कुछ भी सम्बन्ध है ही नहीं, जैसा कि पृथ्वी, जल आदि का प्रादुर्भाव बिना मनुष्यों की सहायता के स्वतन्त्र रूप से ही हुआ है। क्योंकि पृथ्वी, जल प्रभृति तो ज्ञान की तरह सर्वदा परतन्त्रक स्वरूप नहीं हैं। अतएव वे बिना किसी मनुष्य, जीव वा शरीर की सहायता के भी हो सकते हैं, जैसा कि देखा ही जाता है। परन्तु वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान और वास्तव में सबसे प्रथम होने वा कहने वाले ईश्वरीय ज्ञान स्वरूप ही वेद हैं भी। इससे वे बिना शरीर वा पुरुष के प्रकट हो सकते नहीं। अतएव इस विषय में आस्तिक सिद्धान्त यही है कि वेदों के मन्त्र समाधिस्थ महर्षियों के अन्तःकरणों में व्यक्त हुए थे। अतएव लोक में जो यह व्यवहार है कि अमुक मन्त्र का ऋषि अमुक है उसका तात्पर्य यही है कि ईश्वरीय कृपा से समाधिस्थ उस ऋषि के अन्तःकरण में वह मन्त्र प्रथम व्यक्त हुआ था। इसी से लोगों को यह भ्रम होने लगा कि वह मन्त्र उसी ऋषि का बनाया हुआ है। इसी तरह अमुक मन्त्र का देवता अमुक है, इसका भी अर्थ यही है कि उसी देवता का प्रतिपादन वा स्तुति उस मन्त्र में है। अस्तु–

इस प्रकार सामान्यतः कर्म की सत्ता सिद्ध करने के उपरान्त मीमांसकों ने उसे भिन्न-भिन्न फलों के लिए भिन्न स्वरूपों में विभक्त किया है। जैसे स्वर्ग प्राप्ति के लिए अग्निहोत्र और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ, वृष्टि के लिए कारीरी याग, पुत्र के लिए पुत्रेष्टि, पितरों की तुष्टि के लिए पितृयज्ञ (श्राद्ध तर्पणादि देवों के लिए देव यज्ञ बलि वैश्वदेवादि) प्रभृति को समझना चाहिए। इस जगह पर कर्मों के फल के सम्बन्ध में मीमांसकों का एक निश्चित और अवश्यज्ञेय सिद्धान्त यह है कि वे यह नहीं मानते कि कर्मों के फल उनके कर्त्ता को ही प्राप्त होते हैं। जो यह नियम है कि शास्त्रफलं प्रयोक्तरि अर्थात् कर्म के फल कर्त्ता को ही मिलते हैं, वह सामान्यतः है न कि सभी जगह लगता है। क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जावे तो पूर्व वन्तोऽविधानार्थाः है (मी. अ. 1 सू. 17) इस वैश्वानरेष्टि वा जातेष्टि नामक यज्ञ के प्रकरण में जो यह लिखा गया है कि वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते...यस्मिन्आत एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियाघो पशुमान् भवति। अर्थात् पुत्र के उत्पन्न होते ही जातेष्टि वा वैश्वानर यज्ञ पिता करे। उससे पुत्र तेजस्वी अन्न से सम्पन्न हृष्ट पुष्ट इन्द्रिय वाला और पशु वाला होता है, वह मिथ्या...क्योंकि नास्तिक लोग तो पारलौकिक अपने या दूसरे के किये हुए कर्मों के फलों को मानते ही नहीं। अतः वे तो चाहें कह सकते हैं। परन्तु आधुनिक वैदिक कहलाने वाले जो कर्मों के पारलौकिक फलों को मानते हैं, क्योंकर ऐसा कह सकते हैं ? अतएव उनका यह कथन केवल पूर्वप्रदर्शित

मीमांसासिद्धान्त को न जानकर ही है। क्योंकि पितादिकों के लिए श्राद्ध, दानादि करने वाले पुत्र प्रभृति तो एक प्रकार ऋत्विक की तरह हैं। अतः उनका किया हुआ पितादिकों को क्यों न मिलेगा ? साथ ही वह पितादिकों के ही उद्देश्य से किया भी जाता है।

यदि इस पूर्वोक्त अभिप्राय को हृदयंगम न क्रर सकने के कारण वे लोग यह कहने का साहस करें कि पुत्र प्रभृति द्वारा किये गये श्राद्धादि मृत पितादि को प्राप्त हो जाते हैं इसमें प्रमाण ही क्या है ? कारण वे अन्यत्र और हम अन्य जगह रहते हैं। जिस प्रकार इस संसार में विदेशवासी पुरुष के पास उसके सम्बन्धियों के भेजे हुए द्रव्य वगैरह डाक द्वारा पहुँच जाते हैं उसी प्रकार मृतकों के पास श्राद्धादि की वस्तुएँ पहुँचाने वाली कौन सी डाक है ? साथ ही यहाँ तो उसके पास पहुँचने की रसीद मिला करती है, जिसके न मिलने पर प्रवासी के पास प्रेषित वस्तु के पहुँचने में संशय रहता है, अथवा वह नहीं ही पहुँचती है, पर वहाँ कौन सी रसीद मिलती है जिससे पहुँचना सत्य प्रमाणित हो ? और रसीद न मिलने की दशा में यह क्यों न कल्पना की जाये कि बीच के ही बेईमान लोगों ने उस पदार्थ को हड़प लिया, जैसा कि देखा जाता है कि तीर्थ के पण्डे, महाब्राह्मण व पुरोहित आदि ही उस पदार्थ को भोगते हैं ? एक बात और भी ध्यान योग्य है, वह यह कि मृत्यु के अनन्तर सर्वदा ही सभी लोग किसी पितृादि लोक विशेष में ही रहा करते हैं यह वार्त्ता तो मानी जा सकती नहीं, क्योंकि ऐसी दशा में नयी सृष्टि रुक जावेगी और हमारा वैदिक सिद्धान्त भी ईसाई अथवा मुसलमानों के सिद्धानत सा ही हो जावेगा, जो युक्तियुक्त नहीं है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि मृत्यु के अनन्तर पुनर्जन्म भी होता ही है। ऐसा मानने में पुनर्जन्मवाद वाली सभी युक्तियाँ सहायक होंगी। ऐसी दशा में यदि मृतक पिता प्रभृति पशु, कीट, पक्षी अथवा राक्षसादि योनि में उत्पन्न हो गये—क्योंकि वह अमुक योनि में जन्म लेंगे यह तो निर्धारित है ही नहीं—तो उनके लिए जौ के कच्चे आटे के पिण्ड या तिल वगैरह किस काम के ? उनके लिए तो उस उस योनि के सेव्य पदार्थ घास प्रभृति मिलने चाहिए। तो क्या घास वगैरह के भी पिण्ड दिये जावेंगे ? यह भी तो देखा जाता है कि हम लोग जितने यहाँ दीखते हैं सभी ने मृत्यु के बाद ही जन्म लिया है। पर किसी को भी कभी भी पिण्ड वा तिलों की प्राप्ति स्वप्न में भी नहीं हो रही है। क्या इससे पूर्व जन्म के हमारे सम्बन्धी लोग हमारे वास्ते श्राद्ध न करते होंगे ? तो फिर वह क्या हुआ ?

एक बात यह भी विचारणीय है कि जब मृत्यु के बाद तुरन्त ही जन्म का होना सिद्ध है, जैसा कि भगवद्गीता में भी कहा है कि—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।"

अर्थात् जिस तरह मनुष्य पुराने कपड़े को छोड़ते ही नये वस्त्र को पहन लेता

है, वैसे ही जीवात्मा पुराने (प्रथम) शरीर को छोड़ते ही नया शरीर धारण करता है, तो फिर किसके लिए श्राद्धादि किये जावें ? एवं वैतरणी प्रभृति यमपुरी के मार्ग में रहनेवाले स्थानों के लिए गोदान वगैरह कर्म किये जावें ? क्योंकि यमपुरी या स्वर्गादि में तो जाने का अवकाश जीवों को है ही नहीं। अतएव यमपुरी और यमदूत आदि एवं विविध नरकों को मानना केवल कमाने का रास्ता और पॉपलीला मात्र है। इतने पर भी यदि यह दुराग्रह बना ही रहे कि पुत्रादि द्वारा किये गये श्राद्ध प्रभृति मृत पितरों को मिलते ही हैं, तो इसकी जाँच इस प्रकार करके सन्तोष करना होगा। अर्थात् प्रथमतः जीवित पिता को ही कोठे पर बिठा कर उसके नीचे वाले मकान में पिता के ही निमित्त ब्रह्मभोज वा श्राद्धादि करके यह देख लेना चाहिए कि वे पदार्थ कोठे पर ही स्थित पिता को मिलते हैं वा नहीं। यदि इतनी ही दूर रहनेवाले को नहीं मिल सके तो लोकान्तर वा शरीरान्तर में रहनेवाले मृत जीवों को क्योंकर मिल सकेंगे ? यह विषय विश्वास से बाहर है। यदि यह बात होती कि जिस किसी के नाम से जो ही कुछ जहाँ ही कहीं कोई भी दे देवे, वह उसे, जहाँ रहेगा वहाँ ही मिल जावेगा, तो फिर परदेश करनेवाले को चोर वा डाकुओं के भय से बचने के लिए रुपये वगैरह सामान साथ ले जाने की क्या आवश्यकता है ? घर पर ही उतनी वस्तुएँ उनके नाम से ब्राह्मण वगैरह को दे दी जानी चाहिए, बस इतने ही से प्रवासी लोग जहाँ रहेंगे वहाँ ही से चीजें उन्हें मिल जाया करेंगी।

यदि विचारदृष्टि से देखा जाय तो सभी कुतर्क और बातें निस्सार विदित होंगी। कारण, धार्मिक कारणों में साधारण डाक और रसीद की आवश्यकता ही नहीं है। इस संसार के ऐहलौकिक कार्यों में रसीद वगैरह की आवश्यकता तो इसलिए पड़ा करती है कि न तो भेजनेवाला ही सर्वज्ञ और भूत-भविष्य का वेत्ता है और न सरकार ही, जिसके प्रबन्ध से विदेश में रुपये आदि भेजे जाते हैं। साथ ही डाक के कर्मचारी और प्रबन्धकर्त्ता मनुष्य ही हैं और भेजनेवाला भी वही। ऐसी दशा में भेजने वाला कर्मचारियों और प्रबन्धकर्त्ताओं का विश्वास क्योंकर कर सकता है ? कारण कि भूल और बेईमानी आदि मनुष्यों के साधारण धर्म हैं। अतः वह उन्हें भी अपने ही सदृश समझता है चाहे वे सत्पुरुष ही क्यों न हों। उसकी यह धारणा उचित भी है। क्योंकि जिनको हम अच्छी तरह जानते हैं और जो हमारे पूर्ण परिचित हैं जब उनमें भी भूल और बेईमानी देखी जाती है तो जिनसे हम बिल्कुल ही अपरिचित हैं उनका विश्वास क्योंकर करें ? परन्तु यह बात ईश्वरीय राज्य और प्रबन्ध में सम्भव नहीं। वह तो सर्वज्ञ, दयालु, न्यायकर्त्ता एवं भूत-भविष्यादि सभी का जानने वाला है। वह अपने प्रबन्ध को अपनी आँखों देखता रहता है, कारण वह सर्वत्र ही विद्यमान है। अतः उसकी साक्षिता में—क्योंकि वह व्यापक है और अग्नि आदि भी उसी के स्वरूप हैं—जो कुछ भी दिया वा किया जावेगा वह जिसके निमित्त होगा उसी को निस्सन्देह प्राप्त होगा, चाहे वह कहीं भी हो। अतएव यदि अपने लिए भी किया जायेगा तो अपने

आपको भी, जहाँ रहेंगे, अवश्य ही प्राप्त होगा। वहाँ भूल अथवा बेईमानी की जगह कहाँ ? ऐसी दशा में रसीद की आवश्यकता ही न रह गयी, वरन् उसके लिए प्रश्न करना ईश्वर की ईश्वरता और न्याशीलता में बट्टा लगाना और परम नास्तिकता है। इसी से चार्वाकादि नास्तिकों को ही यह मत मान्य हो सकता है न कि वैदिक नामधारियों को भी और उन्हें भी वही मार्ग रुचा तो उनको प्रच्छन्न नास्तिक समझना चाहिए।

यदि यह बात न मानी जावे तो अपने लिए जो कुछ भी पारलौकिक कार्य किये जाते हैं वे भी न किये जा सकेंगे। कारण परलोक अथवा जन्मान्तर में हमारे कर्मों का फल हम मिलेगा इसमें प्रमाण ही क्या है ? जो कुछ भी हमने किया है उसकी रसीद हमारे पास है ही क्या जिससे उसके मिलने का विश्वास करें। इसीलिए कोठे वाला अथवा विदेशयात्रा करने वाले का दृष्टान्त भी विषम और असंगत है। क्योंकि यदि कोठे के नीचे रहनेवाले को खिलाया हुआ कोठे पर वाले को न मिलने और यहाँ खिला या दे देने से परदेश वाले को न मिलने से यह मान लिया जावे कि अन्य का (पुत्रादि का) किया वा दिया अन्न (मृत पितादि) को नहीं मिलता तो उसी दृष्टान्त से यह भी मानने को विवश होना होगा कि अपना किया भी पारलौकिक कर्म अपने को फलदायक नहीं होता। कारण अपने लिए भी खिला वा देकर कोठे पर अथवा विदेश में उसे नहीं पाते। फिर उसमें भी क्योंकर विश्वास हो ? इसलिए यही हार कर कहना और मानना होगा कि मनुष्य कर्म करने में ही स्वतन्त्र है न कि उसके फल पाने में। जैसा कि भगवान् ने कहा है कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन गीता 02। 47 अतएव चाहे तभी उसके कर्मों का फल उसे नहीं मिल सकता। किन्तु उसका समय आने पर ही मिलेगा। इसी से यदि कोई आम्र वृक्ष लगाकर शीघ्र ही अथवा कुछ ही दिन बाद इसका फल खाना चाहे तो नहीं खा सकता है, किन्तु उसका समय आने पर ही। अतः अपने लिए भी जो कार्य वा कर्म करेंगे उसका फल हमारी इच्छा के अनुसार ही कोठे पर अथवा परदेश में नहीं मिल सकता, वरन् अपने समय पर ही नियम के अनुसार ही मिलेगा, चाहे कभी मिले। बस, ठीक-ठीक यही हाल दूसरे (पुत्रादि) के किये हुए को दूसरे (मृत पितादि) को मिलने के विषय में भी समझ लेना चाहिए। अतः रसीद और कोठे आदि परीक्षा की कसौटी वाली बात धर्माधर्म के विषय में केवल अनभिज्ञता मूलक कर्म योग के रहस्य को न जानकर ही है।

रह गयी डाकवाली बात। सो तो है ही। ईश्वरीय राज्य और प्रबन्ध में तो ऐसी विलक्षण डाक बनी और लगी हुई है जिसे सभी मानते जानते हैं। उसका प्रबन्ध ऐसा जँचा जँचाया और पक्का है कि कोई चूँ तक नहीं कर सकता। चन्द्र और सूर्य का ठीक समय पर ही उदय एवं अस्त होना, ऋतुओं का अपने-अपने पर ही अवश्य प्रादुर्भाव और उनके फल फूलादि का अपने-अपने जँचे जँचाये ही समय पर उत्पन्न होना, बहुत दिनों तक पृथिवी में पड़े हुए बीजों से भी अपने ऋतु वा समय पर ही अंकुर निकलना तथा उनसे अन्नादि की प्राप्ति और संसार के अन्यान्य जीवनाधीन

कार्यों का उचित समय पर ही होना इत्यादि बातें क्या ईश्वर के दृढ़ और कभी न विचलने वाले प्रबन्ध की पोषक नहीं हैं ? यदि किसी को इन बातों से भी सन्तोष न हो तो वह ईश्वर को मानता ही क्यों है ? क्योंकि यदि उसे स्वीकार करेगा तो उसे मानना ही पड़ेगा कि कर्मों के उचित और विभागयुक्त फल प्रदान के अतिरिक्त कोई काम है ही नहीं जिसके लिए वह माना जावे। क्योंकि सृष्टि स्थिति और प्रलयादि भी तो जीवों के कर्मों के फल ही हैं। पूर्वोक्त ईश्वरीय नियम अथवा प्रबन्ध को अस्वीकार करने वालों से यह प्रश्न हो सकता है या होगा कि, जिस जगह जितने जीव मरते हैं वे उसी जगह तो जन्म लेते हैं नहीं। कारण उन्हें कर्मानुसार सभी भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेना होता है और सभी योनियों के जीव एक जगह मिल सकते नहीं। व्याघ्र जंगल में ही रहता है तो भेड़ बकरियाँ ग्रामों में ही और कस्तूरीमृग बर्फानी जगहों में ही इत्यादि। साथ ही यदि ऐसा मान लिया जावे तो किसी स्थान को भी उच्छिन्न हो जाना वा डीह पड़ जाना न चाहिए। ऐसी दशा में सौ दो सौ अथवा सहस्रों कोसों पर उन उन योनि वाले स्थानों में मृत्यु के अनन्तर उन जीवों को पहुँचाने वाली कौन सी डाक, रेल अथवा तार है ? यदि थोड़ी देर के लिए स्वीकार भी कर लें कि जो जीव जहाँ मरते वहीं जन्म भी ग्रहण करते हैं तो भी यह प्रश्न अनिवार्य है कि किस डाक, रेल व तार ने उन्हें एक शरीर से अलग कर अन्य पिता के शरीर और माता की देह में पहुँचाया है अथवा कौन पहुँचाया करता है। क्योंकि यदि पिता और माता के शरीर में भागशः उन्हें पहुँचना अथवा केवल पिता के ही शरीर में उनको पहुँचना न स्वीकार करें तो पिता के संयोग बिना ही पुत्र जन्म होना चाहिए। यदि ऐसा भी मानने को कोई निर्लज्ज होकर सन्नद्ध हो तो भी यह प्रश्न नहीं हट सकता। क्योंकि जब माता के गर्भाशय से ही पुत्रोत्पत्ति होती है तो उस गर्भाशय में पहुँचाने वाली कोई डाक अथवा अन्य साधन मानना ही पड़ेगा। बस, जो ही डाक वा अन्य साधन पहुँचाने के इस कार्य को करते हैं, वे ही पुत्रादि द्वारा किये गये श्राद्धादि कर्मों के फलों को मृत पितादि को जहाँ कहीं भी वे हों, पहुँचाते हैं और वे ही हमारे निज के पारलौकिक कर्मों के फलों को भी हमें, मरणान्तर जहाँ कहीं भी सहस्रों कोसों पर हम जावें पहुँचाते हैं। नहीं तो हमें अपने किये कर्मों के फल जन्मान्तर में हमें डाक के न होने से न मिलने चाहिए। परन्तु आस्तिक समाज और वैदिक नामधारी इसे मानने को तैयार नहीं।

इस डाक या पहुँचाने के ईश्वरीय साधन को हम केवल तर्कों और युक्तियों से ही सिद्ध नहीं कर रहे हैं किन्तु सामवेदीय छान्दोग्योपनिषत् के पंचम प्रपाठक के द्वितीय से लेकर नवम खण्ड तक के आठ खण्डों अग्नि, विद्या, प्रकरण में यही बात दिखलायी गयी है और वहाँ पहले इसी विषय के पाँच उपस्थित हुए हैं, जो युक्त द्वितीय ही 'वेत्थ यदितोऽधि' इत्यादि वाक्यों द्वारा दिखलाये गये हैं, यों का सारांश यही है कि इस संसार में लोगों का आवागमन कार होता है, देवयान और पितृयान

मानों द्वारा लोग कैसे देवयान वाले कैसे मुक्त हो जाते हैं लोगों की माता के गर्भ में यदि क्योंकर होती है और देवयान एवं पितृयान मार्गों का कैसा है इत्यादि। यही बात बृहदारण्यकोपनिषद् अष्टम अध्याय ब्राह्मण में भी ज्यों की त्यों लिखी गयी है।

"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सन्यगादित्यमुपतिष्टते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।"—मनु. 3। 73
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यः यज्ञःकर्म समुद्भवः।।"—गीता 3। 14

अर्थात् अग्नि में जो आहुति दी जाती है वह सूर्य के पास जाती है, वृष्टि से जीवों की उत्पत्ति होती है इत्यादि मनुस्मृति और भगवद्गीता के वाक्यों से भी यही बात सिद्ध होती है।

जब इस प्रकार ईश्वरीय प्रबन्ध या डाक अपने लिए किये गये स्वकीय अथवा परकीय कर्मों के फलों एवं जीवों की देहान्तर तथा जन्मान्तर में अविवाद रूप से पहुँचाने के लिए सिद्ध हो गयी—सर्वमान्य हो गयी तो घास इत्यादि के पिण्डवाली शंकाएँ और समस्याएँ आप ही आप हल हो जाती हैं। कारण देखा जाता है कि इस संसार के एकदेशी छोटे-बड़े राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में रुपए पैसे आदि पहुँचाने का सुव्यवस्थित नियम बना लिया है जिसमें कभी भी अन्यथा भाव की सम्भावना नहीं है। तो फिर ऐसा मानने के लिए कोई भी समुचित कारण प्रतीत नहीं होता कि यही न्याय ईश्वरीय प्रबन्ध में क्यों न लागू हो और ऐसी ही सुव्यवस्था वहाँ भी क्यों न मानी जाय। क्योंकि प्रथम कहा जा चुका है और आगे भी प्रसंगवश कहा जावेगा कि इन्हीं लौकिक छोटे-बड़े राज्यों और उनके प्रबन्धों को देखकर तदनुरूप ही अलौकिक (अप्रत्यक्ष) ईश्वरीय राज्य और प्रबन्ध का अनुमान किया जाता है। हम देखते हैं कि किसी का कोई सम्बन्धी एक राज्य से दूसरे सुदूर वा निकट के राज्य में चला जाता है और वह अपने सम्बन्धियों को अथवा उसके सम्बन्धी उसकी आवश्यकतानुसार कुछ रुपया आदि भेजना चाहते हैं। साथ ही उन दोनों या उनके मध्यवर्ती राष्ट्रों के सिक्के वा रुपये भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। तो इसी दशा में वे जिस राज्य में रहते हैं उसी के सिक्के भेजने को बाध्य होते हैं, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय नियम के अनुसार पानेवाले को वे सिक्के न मिलकर जिस राज्य में वह रहता है उसी के सिक्के मिला करते हैं। विचित्र बात है कि जो रुपये मिलें वे न भेजे जायँ और जो न मिल सकें वे ही भेजे जायँ। एक दूसरा ही भेजने को बाध्य है, दूसरा ही पाने को। यह मनुष्यकृत अन्तर्राष्ट्रीय सुशृंखला नियम का प्रभाव है। वास्तव में यदि विवेकबुद्धि से देखा जाये तो पानेवाले को यदि भेजनेवाले के ही सिक्के ज्यों के त्यों अविकल रूप से मिल जायँ तो उसके किस काम के ? पर वे भेजे तो जाते हैं काम के ही लिए अतः ऐसा नियम बना लिया गया है कि भेजे हुए सिक्के उसको उसी रूप में मिलते हैं जिसकी उस राज्य में चलन होती है। औरों को वहाँ कोई पूछ ही नहीं

सकता। बस इसी दृष्टान्त और न्याय को सर्वतोभाव से ईश्वरीय प्रबन्ध में लगा लेना चाहिए। मृत पितर चाहे पितृलोक में हों, देवलोक में हों नरक में हों अथवा मनुष्य, पशु, पक्षी एवं कीट आदि योनियों में हों, उनके पूर्व जन्मवाले सम्बन्धी लोग जौ के कच्चे आटे, तिल अथवा तण्डुलादि निश्चित वस्तुओं को ही पिण्ड रूप में प्रदान करेंगे। तथापि उन पितरों को वे वस्तुएँ अमृत, अन्न, वस्त्र व घास आदि उन्हीं वस्तुओं के रूप में मिलेंगी व मिलती हैं जिनसे उनको उन स्थानों और योनियों में लाभ पहुँच सकता है, न कि सर्वत्र अविकल रूप से **और के पिण्ड और तिल प्रभृति वे वस्तुएँ ही मिला करती हैं**। यहाँ पर यह प्रश्न भी नहीं किया जा सकता कि तिलादि के ही पिण्ड क्यों दिये जायँगे और दूसरी वस्तुओं के नहीं। कारण यह नहीं कह सकते कि पृथ्वी के सभी राष्ट्र एक ही प्रकार के सिक्के क्यों नहीं रखते ? प्रस्तुत यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः अर्थात् मनुष्य जो खाता है वही अपने देवता पितरों को भी समर्पण करे—इसके अनुसार फलादि के भी पिण्ड दिये जा सकते हैं। जैसा कि वाल्मीकि रामायणादि से स्पष्ट है और देखा भी जाता है कि मनुष्य की मृत्यु के अनन्तर दशाहादि के समय मृतक के सुख के लिए सभी प्रकार की वस्तुएँ दी जाती हैं और समय पर सुख की जो वस्तुएँ नहीं मिल सकतीं इनके स्थान पर द्रव्यादि पदार्थान्तर ही दे दिये जाते हैं। तथापि नित्य के व्यवहारों में कुछ ऐसे नियम निश्चित रूप से बना देने की आवश्यकता होती है जिनके अनुसार सभी लोग प्रतिदिन ठीक-ठीक व्यवहार किया करते हैं और मनमाना घरजाना होकर किसी बात में गड़बड़ नहीं होने पाता। बस इसी तथा ऐसे ही अन्यान्य विचारों को मन में रखकर महर्षियों ने कुछ अवसरों के लिए श्राद्धादि की आटा, तिल एवं तण्डुलादि वस्तुएँ निर्दिष्ट कर दी हैं।

प्रथम जो पूर्वपक्ष में यह कहा गया है कि मृत्यु के अनन्तर ही झटपट शरीरांतर मिल जाता है। मृतक को स्वर्ग, नरक, मृतलोक वा यमपुरी आदि में नहीं जाना पड़ता है और इसी की पुष्टि में वासांसि जीर्णानि इत्यादि गीता के वाक्य भी दिखलाये गये हैं। इस पर सिद्धान्त पक्ष का वक्तव्य यह है कि यह कल्पना निराधार व प्राणशून्य है क्योंकि मरणोत्तर दस महीने तक तो माता के गर्भाशय में अवश्य ही रहना पड़ता है। साथ ही गर्भाशय में पहुँचाने में जो ईश्वरीय डाक है उससे स्पष्ट है कि वही पहुँचने से प्रथम किरण, वायु और मेघादि में क्रमशः प्रवेश द्वारा अन्न में प्रवेश करा देता है जैसा कि पूर्वोक्त छान्दोग्य और बृहदारण्यक आदि के पंचाग्निविद्या प्रकरण से स्पष्ट है। इससे क्यों कर कहा जा सकता है कि मरणोपरान्त तुरन्त ही शरीर मिल जाता है ?

एक बात यह भी विचारणीय है कि जब पारलौकिक व्यवहार अनुमानगम्य है और पृथ्वी के छोटे-छोटे राज्यों को देखकर तदनुसार ही ईश्वरीय राज्य और ईश्वर का अनुमान किया जाता है तो उसकी अन्यान्य बातों की कल्पना भी प्रत्यक्षानुसारिणी ही होनी चाहिए। बस इसी नियम के अनुसार स्वर्ग, नरक, यमपुरी, और यमदूत आदि

की कल्पना की गयी है। कारण, देखा जाता है कि यहाँ के छोटे-छोटे राजे अपने-अपने राज्य में प्रतिष्ठा की पदवियाँ एवं स्थान सत् कार्यों के लिए रखते हैं। उसी प्रकार असत् कार्यों, अपराधों के लिए अप्रतिष्ठा सूचक स्थान कारागारादि रखते व अपराध आदि के निर्णय के लिए छोटे बड़े न्यायालय क्रमशः बनाने उनमें विभिन्न पदाधिकारी कार्यानुसार रखते, दण्डनीय व्यक्तियों के पकड़ने के लिए वैसे कर्मचारी रखते एवं सत्कार्यों की सूचना के लिए कार्यकर्त्ता रखते हैं। ठीक इसी तरह पारलौकिक व्यवहार में सत्कार्यों के लिए स्वर्गादि तथा असत् कार्यों के लिए नरक, वैतरणी आदि की कल्पना की गयी है। यमराज को न्यायकर्त्ता समझना चाहिए क्योंकि यम का अर्थ है दण्ड देने वाला। इसी तरह यमदूतादिक और स्वर्गीय दूतों को भी समझना चाहिए। इससे विपरीत जो कोई भी कल्पना होगी वह प्रत्यक्षानुसारिणी न होने के कारण श्रद्धेय नहीं हो सकती। फिर यह बात कहाँ रह गयी कि यमपुरी आदि में जीव नहीं जाते ? फिर श्राद्ध किनके लिए किया जाय। मरणोपरान्त शीघ्र जन्म के विषय में जो गीता का वाक्य कहा गया है वह भी इसके भाव को हृदयंगम न कर सकने के कारण ही। क्योंकि वहाँ कपड़े का दृष्टान्त केवल इसी अंश में दिया गया है कि एक शरीर से दूसरे में जाने में आत्मा ज्यों का त्यों बना रहता है जैसा कि कपड़ा पहिनने वाला एक को छोड़ने व दूसरे को पहिनने में। दृष्टान्त को सब अंशों में नहीं घटाना चाहिए क्योंकि ऐसा कहीं नहीं किया जाता। नहीं तो यह भी स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ेगा जैसे कपड़ा पहनने वाला नये कपड़े पहनकर पश्चात् पुराने को उतारता है वैसे ही जीव भी नये शरीरों को प्राप्त कर लेने पर पीछे से पुराने शरीर को छोड़ता है।

यदि यमपुरी आदि को न मानकर भी तुरन्त ही शरीरान्तर का स्वीकार थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय तो भी शरीरान्तर में रहने वाले ही जीव के लिए श्राद्धादि का किया जाना अपरिहार्य होगा। इस विषय में ध्यान रखना चाहिए कि यदि श्राद्धादि के विषय में पूर्वोक्त अन्तर्राष्ट्रीय नियम के सदृश ईश्वरीय प्रबन्ध में नियम न माने जायें तो जन्मान्तर की अपनी दी या की हुई वस्तुएँ अपने को मिलती हैं इसमें कोई प्रमाण न मिल सकेगा। कारण यदि हमने पूर्व जन्म में केवल घास में देकर वही वस्तुएँ अपने लिए दूसरे को दी हों अथवा परोपकारादि दूसरे ही धर्मकार्य किये हों और मरणोत्तर हमें हंस या पशु का शरीर मिल जाय तो वहाँ केवल मोती अथवा घास क्योंकर मिल सकेंगे। और अन्य पदार्थ तो मिलते देखे जाते नहीं। अतः यह नियम नहीं माना जा सकता कि अन्य के अथवा अपने लिए जो ही पदार्थ दिये अथवा किये जाते हैं शरीरान्त या परलोक में वही अविकल रूप से मिला करते हैं।

इसी तरह जो लोग यह शंकाएँ किया करते हैं कि यद्यपि जो कर्म दृष्टार्थक हैं अर्थात् जिनका फल इसी जगह मिलने वाला है, जैसे वृष्टि के लिए किया गया कारीरी याग, उनके विषय में सन्देह नहीं हो सकता, कारण उनके फल प्रत्यक्ष प्रमाण

गोचर हैं। तथापि स्वर्गादि अदृष्ट फलार्थक जो कर्म हैं प्रमाण हैं ? इत्यादि उनके लिए मीमांसकप्रवरों की यह युक्ति है कि वेदों या महर्षियों के उपेदशों के एक अंश को प्रामाणिक देखकर परोक्षांश में भी प्रत्यक्षांशवत् ही सप्रमाणता का अनुमान कर लेना चाहिए। क्योंकि जब इस बात में कोई भी प्रमाण नहीं है कि वे लोग स्वार्थी अथवा अकारण परोपकारी थे—कारण, जंगलों में सर्वसुख-परित्याग पूर्वक तप आदि सत्कर्मों में ही अहोरात्र दत्तचित्त रहा करते थे एवं प्राप्त संपदाओं तथा प्रतिष्ठाओं की अवहेलना कर कणभक्षण में ही अपने को कृत्कृत्य और वल्कलवस्त्रधारण से ही सन्तुष्ट समझते थे। हाँ, उनकी सत्यता में क्या परहितार्थ शरीरत्याग तक कर डालते थे जिसके शतशः दृष्टान्त महर्षि दधीचि प्रभृति पड़े हैं—तो फिर क्योंकर कहा जा सकता है कि उन लोगों ने जनता के प्रतारणार्थ ही यह उपदेशाडम्बर रचा था। यह भी देखा जाता है कि तब उन्हीं के बनाये हुए आयुर्वेद एवं ज्योतिषशास्त्र अक्षरशः प्रामाणिक सिद्ध हो रहे हैं और तुलसी पत्र, गोमूत्र एवं गोमय तथा निम्ब के वृक्षों की जो महिमा उन्होंने भर पेट गायी है उसे आधुनिक वैज्ञानिक मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं तो फिर पारलौकिक कर्मों के सम्बन्ध में उनके उपदेश क्योंकर प्रमाण नहीं माने जावेंगे ? इसी तात्पर्य से न्याय दर्शन में कहा गया है कि मंत्रायुर्वेद प्रामाण्यवद्यतत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् (2।1।69) इसका तात्पर्य वही है जो ऊपर दिखलाया जा चुका है। महर्षिवात्स्यायन ने भी कहा है स ने मन्येत दृष्टार्थ एवाप्तो देशः प्रमाणमर्थस्यावधारणादिति, अदृष्टार्थोऽपि प्रमाणमर्थस्यानुमानादिति। (1।1।8)। अर्थात् ऐसा न समझना चाहिए कि दृष्टार्थक कर्म ही प्रामाणिक हैं, क्योंकि उनका फल प्रत्यक्ष है वरन् अदृष्टार्थक कर्मों के भी फलों का इन्हीं द्वारा अनुमान करके उन्हें भी तुल्य रूप ही प्रामाणिकता मिलनी उचित है।

जिन युक्तियों का ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है ऐसी ही दार्शनिक रीतियों से मीमांसकानुयायी पंडितों ने दृष्टार्थक एवं अदृष्टार्थक द्विविध कर्मों की प्रामाणिकता अक्षुण्ण रूप से स्थापित की है। यद्यपि लोग कहा करते हैं कि पूर्वोक्त यमपुरी आदि की कल्पनाएँ पौराणिक है क्योंकि दार्शनिक ग्रन्थों में उनका उल्लेख नहीं है। तथापि यह बात ठीक नहीं है। कारण न्यायवार्त्तिक में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। ऐसा न भी मानें तो भी इन पौराणिक कल्पनाओं की प्रामाणिकता बिना पूर्वोक्त मीमांसकों की दार्शनिक युक्तियों को छोड़ अन्यथा सिद्ध नहीं हो सकती है। अतएव इन कल्पनाओं की मीमांसा दर्शन का ही प्रपंच (विस्तार) मानना युक्तियुक्त और विद्वत्सम्मत है।

न्यायवार्त्तिककार भगवान् उद्योतकराचार्य ने अपने वार्त्तिक में इस प्रकार स्पष्ट रूप से वैतरणी नदी का वर्णन विज्ञानवादी बौद्ध के मतखण्डन प्रसंग में किया है—

'अथ मन्यसे यथा तुल्यकर्मविपाकोत्पन्नाः प्रेताः पूयपूर्णां नदीं पश्यन्ति। न तन्न नद्यस्ति, न पूयं, न ह्येकं वस्त्वनेकाकारं भवितुमर्हति। दृष्टाश्च विज्ञानभेदः के चित्तामेव जलपूर्णां पश्यन्ति, केचित् रुधिरपूर्णामिति।' (न्याय. वा. अ. 4, अ.2 सू. 34)

यदि विज्ञानवादी की यह शंका हो कि जिस प्रकार मरणोत्तर यमपुरी के मार्ग में एक ही प्रकार के दुष्कर्म से यातना (शास्ति) शरीर पानेवाले मृतक पीव आदि से पूर्ण नदी (वैतरणी) का अनुभव करते हैं और वहाँ वस्तुतः वैसी नदी है। साथ ही दूसरे प्रकार के मृतक (प्रेत) उसी नदी को जलपूर्ण देखते हैं और यह सम्भव नहीं कि एक ही वस्तु (नदी) अनेक विरुद्ध प्रकारों की हो जावे। इससे मानना होगा कि वहाँ पूय (पीव) पूर्ण नदी न होने पर भी किसी दोषवश उन्हें प्रतीत होती है। ठीक यही दशा संसार की भी है। यद्यपि यहाँ भी पदार्थ वस्तुतः नहीं हैं, तथापि दोष वश ही प्रतीत भर होते हैं। इत्यादि। इससे निर्विवाद सिद्ध है कि यह यमपुरी आदि की कल्पना दार्शनिकों को भी मान्य है।

यहाँ इस बात को भी विस्मृत न होने देना चाहिए कि सामग्री के रहने पर ही कार्य हुआ करता है, न कि एकाध कारण मात्र के रह जाने से। सकल कारण—कारणसमूह वा साकल्य—को ही सामग्री कहते हैं। यह कभी नहीं देखा जाता कि केवल अग्नि, स्थाली वा काष्ठादि अथवा इनमें से दो या तीन के भी होने से पाक (रसोई) कभी भी निष्पन्न हो जावे। इस कथन का प्रकृत में यह उपयोग है कि जिसके उद्देश्य से वा जिसके लिए श्राद्धादि किये जाते हैं उसे वे उसी दशा में प्राप्त हो सकेंगे जबकि उनकी प्राप्ति की सामग्री विद्यमान हो। उन वस्तुओं को मृत पितादि के पास पहुँचाने के लिए जिन-जिन कारणों की आवश्यकता होती है उनमें अज्ञान वा सांसारिकता भी एक है, तात्पर्य यह कि जब तक वह मृतक मुक्त न हो जावेगा तभी तक वे पदार्थ उसे मिल सकेंगे। या यों कहिए कि जब तक उसे उनकी आवश्यकता बनी रहे, योग्यता बनी रहे और उसे उनका इनकार या उनकी कामना का परित्याग न हो गया हो। कारण, मुक्त की सभी वासनाएँ विलीन हो जाती हैं, और वह मुक्ति से प्रथम ही ब्रह्मलोक पर्यन्त को तृणवत् समझता है। लोक में भी देखा जाता है कि जिसके पास कोई पदार्थ डाक द्वारा भेजा जावे पर उसमें किसी प्रकार की अयोग्यता ऐसी आ पड़े जिससे वह न पा सकता हो तो कभी भी नहीं पाता और इनकार वा अस्वीकार की भी दशा में वह प्रेरित पदार्थ प्रेरक को ही प्राप्त हो जाता है। अतः मुक्त पुरुषों के लिए जो श्राद्धादि होते हैं—क्योंकि करनेवाले को क्या मालूम कि उसके मृत पितादि मुक्त हो गये हैं—वे न तो मुक्त पुरुष को ही मिलते और न व्यर्थ ही हो जाते हैं, वरन् उनका फल कर्त्ता को ही मिलता है। या यों कहिये कि वे कर्त्ता के पास लौट आते हैं और उसे इस जन्म या जन्मान्तर में मिलते हैं, क्योंकि पारलौकिक पुण्य-पापों के भी फल कभी-कभी पर बहुत ही कम, इस जन्म में भी प्राप्त हो जाया करते हैं। जैसा कि अभियुक्त पुरुषों का वचन है कि—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते।।

—अत्यन्त उत्कट पुण्य-पापों के फल इसी जन्म में उनको योग्यता के अनुसार

तीन वर्षों, तीन महीनों, तीन पक्षों वा तीन दिनों में ही मिल जाया करते हैं। इससे दैवात् मुक्त पितादि पर ध्यान देकर श्राद्धादि के वैयर्थ्य की जो शंका हो सकती या हुआ करती है वह भी नहीं हो सकती। अतएव अब इस बात के स्वीकार में आनाकानी नहीं की जा सकती कि जिन कर्मों को हम पौराणिक कह माना करते हैं और वैदिक नाम से किया करते हैं वे सभी पूर्व मीमांसा दर्शन के ही विषय हैं। अतः उन्हें केवल पौराणिक नहीं कह सकते। अथवा यदि किसी को उन्हें ऐसे ही मानने का आग्रह वा अभिनिवेश हो तो भले ही रहे, तथापि उन्हें प्रामाणिक सिद्ध करना मीमांसा दर्शन का ही काम है जैसा कि प्रथम कहा गया है। इसी बात को भट्ट कुमारिल स्वामी ने अपने मीमांसावार्त्तिक में एक स्थान पर यों कहा है :

धर्मे प्रमीयमाणे हि येदेन करणात्मना।
कृतिकर्तव्यता भांग जीवांचा पूरयिष्यति।।

—जिस प्रकार काष्ठच्छेदन क्रिया में परशु करण (साधन) होता है और उसका उद्यमन निपातन इतिकर्त्तव्यता वा क्रियानिष्पादन का प्रकार। क्योंकि परशु से क्योंकर काष्ठच्छेदन किया जावे ऐसी जिज्ञासा होने पर यही कहा जाता है कि उसे ऊपर उठा एवं काष्ठ पर गिरा कर। ठीक इसी प्रकार जब धर्म के स्वरूप अथवा उसकी प्रामाणिकता का निर्णय किया जाता है तो उस निर्णय क्रिया में वेद (क्योंकि स्मृतियाँ, पुराणों और सदाचारों को भी वेदमूलक होने से ही मीमांसक लोग धर्म में प्रमाण माना करते हैं) करण होते हैं और मीमांसा ही इतिकर्त्तव्यता हुआ करती है। अर्थात् जैसे उद्यमन निपातन बिना काष्ठच्छेदन नहीं हो सकता, वैसे ही मीमांसा दर्शन की युक्तियों एवं प्रमाणों के बिना धर्म के स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता। अतएव भगवान् मनु ने कहा है कि—

आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्रे स धर्मं वेद नेसरः।। (म. अ. 12, श्लोक 106)

'जो वेदों एवं स्मृत्यादि के धर्मोपदेशों का विचार तदगुण मीमांसा दर्शन की युक्तियों (न्यायों वा तर्कों) द्वारा करता है वही धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानता है न कि अन्य भी।' पूर्वोक्त कुमारिल स्वामी के वार्त्तिक में केवल धर्म शब्द आया न कि कोई विशेष शब्द और मीमांसक लोग वेदमूलक होने से पुराणादि को भी उसी तरह प्रामाणिक मानते हैं, तथा मनुजी का पूर्वोक्त वाक्य भी इसी बात का पोषक है। ऐसी दशा में सभी सनातन धर्म स्वरूप प्रासादों को मीमांसा दर्शन की युक्ति स्वरूप भित्तियों पर अवलम्बित मानना ही युक्तिसंगत है। अस्तु।

जिन युक्ति-प्रमाणों का अबतक दिग्दर्शन कराया गया है, अथवा यों कहिये कि जिन प्रमाणों के आधार पर मीमांसक लोग धर्माधर्म के गहन तत्त्वों का निर्णय करामलकवत् करते और विरुद्ध मतवादियों के मतों का यौगिक निराकरण करते हैं, उन्हें उन लोगों ने छः भागों में विभक्त किया है। उनके नाम प्रत्यक्ष अनुमान, आगम

(शब्द) उपमान, अर्थ तथा अनुपलब्धि हैं। यद्यपि धर्म के स्वरूप निर्णय में केवल आगम (शब्द) प्रमाण ही अपेक्षित है और सच पूछा जावे तो उसी की वहाँ गति है, जैसा कि प्रथम सविस्तर दिखलाया जा चुका है और महर्षि जैमिनि को भी अभिमत है। कारण वे खिलते हैं कि–

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यान प्रेक्षत्वात्। **(मी. अ.1, पा.1, सू. 5)**

वेदादिवाक्य रूप आगम ही धर्म में प्रमाण है क्योंकि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है और उससे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसका कभी भी बाध नहीं होता तथा उसे किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। अतएव वह प्रकारान्तर से अविदित अर्थ का ही बोधक होता है। यह बात बादरायणाचार्य भी मानते हैं। मीमांसा दर्शन भाष्य में भी इस स्थल पर ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है। तथापि वैदिक धर्म की प्रतिद्वन्द्विनी जितनी शंकाएँ और उसके विरोधी जितने मतवाद हैं उनका खण्डन सप्रमाण किये बिना धर्मस्वरूप का निर्णय सर्वथा असम्भव है। साथ ही पूर्वापर सन्दर्भ-निर्णय बिना प्रत्यक्ष और अनुमानादि के हो सकता नहीं। इसीलिए शब्द से भिन्न भी पाँच प्रमाणों का अवलम्बन मीमांसा धुरीणों ने किया है। यद्यपि मीमांसा दर्शन के अनन्तर होनेवाले न्यायदर्शन में चार ही प्रमाण माने गये हैं और अन्त के दो त्याग दिये गये हैं, तदुपरान्त वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही माने गये हैं पुनः सांख्य और योग ने प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द तीन ही माने हैं। तथापि उन लोगों ने उन्हीं से अन्य प्रमाणों के काम चलाकर उनमें उनका अन्तर्भाव कर दिया है। अतः इस विषय में विवाद किसी दर्शन को भी नहीं है, केवल नाम और प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि ये दर्शन सभी लोगों को ऊहापोहकुशल बनाते हुए परमात्मा तक पहुँचा देने के ही लिए प्रवृत्त हुए हैं। परन्तु मीमांसकों की दृष्टि संकुचित नहीं है। अतएव कुछ ही प्रमाण नाम के लिए स्वीकार कर उन्हीं से इतर प्रमाणों का भी काम चलाना उन्होंने गुरुतर तथा क्लेशजनक समझ त्याग दिया है और व्यापक दृष्टि का अवलम्बन कर उन्होंने छः प्रमाण स्वीकृत किये हैं। यह तो हुई पूर्वमीमांसा दर्शन की बात। ठीक यही दशा उत्तरमीमांसा या वेदान्त दर्शन की भी है। उसने भी छः ही प्रमाण माने हैं। कारण उसकी दृष्टि तो और भी व्यापक और उदार है। इस प्रकार प्रमाणों की उतरती और चढ़ती सीढ़ी छः प्रमाणों से प्रारम्भ होकर छः ही पर विश्राम लेती है।

इनमें से प्रत्यक्ष प्रमाण से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे भी प्रत्यक्ष ही कहते हैं। एवं अनुमान से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति शब्द से शाब्दबोध, उपमान से उपमिति, अर्थापत्ति से अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान को अभावनिश्चय कहा करते हैं।

इन्द्रियों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। परन्तु यह धारणा साधारण है। किसी-किसी के मत में इन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता

है। परन्तु इससे भी आगे बढ़कर बहुतेरे लोग उससे उत्पन्न ज्ञान को ही 'प्रत्यक्ष माना करते हैं। इसी प्रकार अनुमिति शब्द प्रभृति के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। अतएव भट्टाचार्य ने मीमांसावार्त्तिक में लिखा है कि–

प्रमाणं चापि शब्दो वा तज्ज्ञानं वा निरूप्यते।

पदार्थ स्तन्मतिर्वास्याद् वाक्यार्थाधिगमोऽथवा।। 10।।(अ.1, पा.1, सू. 2)

प्रमाण शब्द को भी कहते हैं और उसके ज्ञान, पदार्थ, पदार्थज्ञान अथवा वाक्यार्थबोध को भी। शब्द प्रमाण का प्रकरण था, इससे उन्होंने केवल शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में होने वाले ही मतभेदों का वहाँ उल्लेख किया है। यही बात तुल्य न्याय से अन्य प्रमाणों के विषय में भी उन्हें इष्ट है। अतएव भाष्यकार शबरस्वामी चतुर्थ सूत्र के भाष्य में स्पष्ट ही लिखते हैं कि–बुद्धिर्वा, जन्मवा, सन्निकर्षो वा नैषां कस्यचिदवधारणार्थं सूत्रम्।

–चतुर्थ सूत्र इस निर्णय के लिए नहीं बना है कि इन्द्रिय सन्निकर्ष, बुद्धि, जन्म अथवा बुद्धि में से किसी अमुक को ही प्रमाण मानना चाहिए। इसी प्रकार प्रमिति (प्रमा) वा फल के विषय में भी समझ लेना होगा कि इन्द्रिय अथवा सन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानने पर विषयज्ञान वा वाक्यार्थ बोध ही फल (प्रमा) कहलाता है पर, जब उसे ही प्रमाण मान लेते हैं तो हानि, उपादान वा उपेक्षा अथवा प्रवृत्ति, निवृत्ति या उदासीनता के ही ज्ञान को फल मानते हैं। कारण, ज्ञानोत्तर इष्ट वस्तु द्रव्यादि की बुद्धि स्वभाविक होती है। एवं अनिष्ट सर्पादि में निवृत्ति भिन्न मार्ग पतित तृणादि में उपेक्षा बुद्धि का हो जाना अनिलिये पूर्व प्रसंग में ही वार्त्तिककार ने भी कहा है कि हेतु प्रमाणत्वे फलताऽन्तस्य गम्यते। दे को प्रमाण मानने में वाक्यार्थ बोधादि ही फल कहलाते हैं। मिश्र भी यही बात कहते हैं, शब्दादीनां प्रामाण्ये मः फलं तत्प्रामाण्येहानादि बुद्धिः फलमिति, इसका अर्थ में प्रवृत्ति करने की बुद्धि स्वाभाविक होती है। एवं अनिष्ट सपादि में निवृत्ति तथा दोनों से भिन्न मार्ग पतित तृणादि में उपेक्षा बुद्धि का हो जाना अनिवार्य है। इसीलिए पूर्व प्रसंग में ही वार्त्तिककार ने भी कहा है कि–

'पूर्वेषांतु प्रमाणात्वे फलताऽन्तस्य गस्यते।'

शब्दादि को प्रमाण मानने में वाक्यार्थ बोधादि ही फल कहलाते हैं। श्री पार्थ सारथि मिश्र भी यही बात वहाँ कहते हैं, शब्दादीनां प्रामाण्ये वाक्यार्थाधिगमः फलं तत्प्रामाण्येहानादि बुद्धिः फलमिति, इसका अर्थ पूर्वोक्त ही है।

●●●

राघव शरण शर्मा

जन्म 1942–सोनडीहा–गया। पेशे से खोजी, घुमक्कड़, बहुप्रतिष्ठित इंजीनियर हैं। इन्हें बिहार के दहकते खेत–खलिहानों के किसान संघर्षों में सक्रिय शिरकत के दरम्यान समाज की पाठशाला में व्यावहारिक और विश्लेषणात्मक अध्ययन की दृष्टि प्राप्त हुई। गंडक योजना के पायलट प्रोजेक्ट तैयार करने पर प्रशस्ति प्रदान किया गया। इन्होंने, किसान आन्दोलन का विकास, भारत–चीन प्रतिद्वंद्विता–हिमालय के पार, भारत की जल सम्पदा–समस्या और समाधान, कादम्बरी नाट्य रूपांतरण, सहजानन्द और चारू की वसीयत, ब्रह्मर्षि वंश अनुशीलन, अयोध्याकांड का शास्त्रीय अनुशीलन इत्यादि पुस्तकों की रचना की है साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सामयिक वार्ता, जनमत जैसी पत्रिकाओं में लिखते रहे हैं। कई स्मारिकाओं का सम्पादन किया है। सम्प्रति वाराणसी मे स्वामी सहजानन्द अध्ययन एवं शोध संस्थान के अध्यक्ष हैं और रईन खेत (रणक्षेत्र) पत्रिका का सम्पादन कर रहे हैं। किसान साहित्य और किसान हलचल से गहरा लगाव है।